ओं अर्हम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके संदेशका पत्र

नीति-विज्ञान-दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और समाजशास्त्रके प्रौढ विचारोंसे परिपूर्ण

सचित्र-मासिक

सम्पादक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' (समन्तभद्राश्रम)

सरसावा जि० सहारनपुर

चतुर्थ वर्ष

[फाल्गुन से माघ, वीर नि० सं० २४६७–६८]

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री

वीरसेवामन्दिर, सरसावा जि० सहारनपुर

वार्षिक मूल्य तीन रुपये	जनवरी सन १९४२	एक किरणका मूल्य पाँच आने

अनेकान्तके चतुर्थवर्षकी विषय-सूची

विषय और लेखक — पृष्ठ

श्वेता० में श्री भगवान स्वामी के अविवाहित होने की मान्यता [परमानन्द जैन ५७१

Registered. No. A-731.

विषय-सूची

मूल्य

वार्षिक ३) रु०   एक किरणका ।-)

इस विशेषाङ्कका ।।।)

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	फरवरी
किरण १	फाल्गुन, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९७	१९४१

सत्साधु-वन्दन

जियभय-जियउवसग्गे जियइंदिय-परिसहे जियकसाए ।
जियराय-दोस-मोहे जियसुह-दुक्खे णमंसामि ॥

— योगिभक्ति

जिन्होंने भयोंको जीत लिया—जो इस लोक, परलोक तथा आकस्मिकादि किसी भी प्रकारके भयके वशवर्ती होकर अपने पदसे, कर्तव्यसे, व्रतोंसे, न्याय्य नियमोंसे च्युत नहीं होते, न अन्याय-अत्याचार तथा परपीड़नमें प्रवृत्त होते हैं और न किसी तरहकी दीनता ही प्रदर्शित करते हैं—; जिन्होंने उपसर्गोंको जीत लिया—जो चेतन-अचेतन-कृत उपसर्गों-उपद्रवोंके उपस्थित होनेपर समताभाव धारण करते हैं, अपने चित्तको कलुषित अथवा शत्रुतादिके भावरूप परिणत नहीं होने देते—; जिन्होंने इन्द्रियोंको जीत लिया—जो स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय-विषयोंके वशीभूत (गुलाम) न होकर उन्हें स्वाधीन किए हुए हैं— जिन्होंने परीषहोंको जीत लिया—भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, विष-कण्टक, वध-बन्धन, अलाभ और रोगादिककी परीषहों—बाधाओंको समभावसे सह लिया है—; जिन्होंने कषायोंको जीत लिया—जो क्रोध, मान माया, लोभ तथा हास्य, शोक और कामादिकसे अभिभूत होकर कोई काम नहीं करते—; जिन्होंने राग, द्वेष और मोहपर विजय प्राप्त किया है—उनकी अधीनता छोड़कर जो स्वाधीन बने हैं— और जिन्होंने सुख-दुःख को भी जीत लिया है—सुखके उपस्थित होनेपर जो हर्ष नहीं मनाते और न दुःखके उपस्थित होनेपर चित्तमें किसी प्रकारका उद्वेग, संक्लेश अथवा विकार ही लाते हैं, उन सभी सत्साधुओंको मैं नमस्कार करता हूँ—उनकी वन्दना-उपासना-आराधना करता हूँ; फिर वे चाहे कोई भी, कहीं भी और किसी नामसे भी क्यों न हों।

चित्रमय जैनी नीति

अनेकान्तके मुखपृष्ठपर पाठक जिस चित्रका अवलोकन कर रहे हैं वह 'जैनीनीति' का भव्य चित्र है। जिनेन्द्रदेवकी अथवा जैनधर्मकी जो मुख्य नीति है और जिस पर जिनेन्द्र देवके उपासकों, जैनधर्मके अनुयायियों तथा अपना हित चाहनेवाले सभी सज्जनोंको चलना चाहिये, उसे 'जैनी नीति' कहते हैं। वह जैनीनीति क्या है अथवा उसका क्या स्वरूप और व्यवहार है, इस बातको कुशल चित्रकारने दो प्राचीन पद्योंके आधार पर चित्रित किया है और उन्हे चित्रमें ऊपर नीचे अंकित भी कर दिया है। उनमेंसे पहला पद्य श्रीअमृतचन्द्राचार्यकी और दूसरा स्वामी समन्तभद्रकी पुण्यकृति है।

पहले पद्य 'एकेनाकर्षन्ती' में, जैनी नीतिको दूध-दही बिलोने वाली गोपी (ग्वालिनी) की उपमा देते हुए बतलाया है कि—जिस प्रकार ग्वालिनी बिलोते समय मथानीकी रस्सी को दोनों हाथोंमे पकड़कर एक सिरे (अन्त) को एक हाथसे अपनी ओर खींचती और दूसरे हाथमें पकड़े हुए सिरेको ढीला करती जाती है; एकको खींचने पर दूसरेको बिलकुल छोड़ नहीं देती किन्तु पकड़े रहती है; और इस तरह बिलोने की क्रियाका ठीक सम्पादन करके मक्खन निकालनेरूप अपना कार्य सिद्ध कर लेती है। ठीक उसी प्रकार जैनीनीति का व्यवहार है। वह जिस समय अनेकान्तात्मक वस्तुके द्रव्य-पर्याय या सामान्य-विशेषादिरूप एक अन्तको—धर्म या अंशको—अपनी ओर खींचती है—अपनाती है—उसी समय उसके दूसरे अन्त (धर्म या अंश) को ढीला कर देती है—अर्थात्, उसके विषयमें उपेक्षाभाव धारण कर लेती है। फिर दूसरे समय उस उपेक्षित अन्तको अपनाती और पहलेसे अपनाए हुए अन्तके साथ उपेक्षाका व्यवहार करती है—एकको अपनाते हुए दूसरेका सर्वथा त्याग नहीं करती, उसे भी प्रकारान्तरसे ग्रहण किये रहती है। और इस तरह मुख्य-गौणकी व्यवस्थारूप निर्णय-क्रियाको सम्यक् संचालित करके वस्तु-तत्वको निकाल लेती है—उसे प्राप्त कर लेती है। किसी एक ही अन्त पर उसका एकान्त आग्रह अथवा कदाग्रह नहीं रहता—वैसा होने पर वस्तुकी स्वरूपसिद्धि ही नहीं बनती। वह वस्तुके प्रधान-अप्रधान सब अन्तों पर समान दृष्टि रखती है—उनकी पारस्परिक अपेक्षाको जानती है—और इसलिये उसे पूर्णरूपमें पहचानती है तथा उसके साथ पूरा न्याय करती है। उसकी दृष्टिमे एक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षासे यद नित्य है तो पर्यायकी अपेक्षासे वही अनित्य भी है, एक गुणके कारण जो वस्तु बुरी है दूसरे गुणके कारण वह वस्तु अच्छी भी है, एक वक्तमें जो वस्तु लाभदायक है दूसरे वक्तमें वही हानिकारक भी है, एक स्थान पर जो वस्तु शुभरूप है दूसरे स्थान पर वही अशुभरूप भी है और एकके लिये जो हेय है दूसरेके लिये वही उपादेय भी है। वह विषको मारने वाला ही नहीं किन्तु जीवनप्रद भी जानती है, और इस लिये उसे सर्वथा हेय नहीं समझती।

दूसरे पद्य 'विधेयं वार्यं' मे उस अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्वका निर्देश है जो जैनी नीतिरूप गोपीके मन्थनका विषय है। वह तत्त्व अनेक नयोंकी विवक्षा-अविवक्षाके वशसे विधेय, निषेध्य, उभय, अनुभय, विधेयाऽनुभय, निषेध्याऽनुभय और उभयाऽनुभयके भेदसे सात भंगरूप है और ये सातों भंग सदा ही एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये रहते हैं। प्रत्येक वस्तुतत्त्व इन्हीं सात भेदोंमे विभक्त है, अथवा यों कहिये कि वस्तु अनेकान्तात्मक होनेसे उसमें अपरिमित धर्म अथवा विशेष संभव हैं और वे सब धर्म अथवा विशेष उस वस्तुके वस्तुतत्त्व हैं। ऐसे प्रत्येक वस्तुतत्त्वके 'विधेय' आदि

के भेदसे सात भेद हैं। इन सातसे अधिक उसके और भेद नहीं बन सकते और इस लिये ये विशेष (त्रिकालधर्म) सात की संख्याके नियमको लिये हुए हैं। इन तत्त्वविशेषोका मन्थन करते समय जैनी नीतिरूप गोपीकी दृष्टि जिस समय जिस तत्त्वको निकालनेकी होती है उस समय वह उसी रूपसे परिणत और उसी नामसे उल्लिखित होती है, इसीसे चित्रमें विधिदृष्टि, निषेधदृष्टि आदि सात नामोंके साथ उसके सात रूप दिये हैं और उसे 'सप्तभंगरूपा' लिखा है। साथ ही उसके दधिपात्र पर 'विधेय' आदि रूपसे वह तत्त्वविशेष अंकित कर दिया है जिसे वह निकालना चाहती है और जिस मध्यस्थित बड़े पात्रमेंसे वह तत्त्व आरहा है उसपर 'अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व' दर्ज किया है तथा जिस नलके द्वारा वह आरहा है उसपर 'स्यात्' शब्द लिखा है; क्योंकि स्वामी समन्तभद्रके "त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्द-नेयाः सकलेऽर्थभेदे" इस वाक्यके अनुसार संपूर्ण वस्तुभेदोंमें 'स्यात्' शब्द ही इन सातों भंगों अथवा तत्त्वविशेषोंका नेता है, और इसीसे वह सातों नलों पर अंकित किया गया है। 'स्यात्' शब्द कथंचित् अर्थका वाचक, सर्वथा-नियमका त्यागी और यथादृष्टकी अपेक्षा रखने वाला है।

इसके सिवाय, गोपीके 'उभयदृष्टि' तथा 'अनुभयदृष्टि' नामोंके साथमें क्रमशः 'क्रमार्पिता' और 'सहार्पिता' विशेषण लगाकर यह सूचित किया गया है कि उभयदृष्टि विधि-निषेध रूप दोनों तत्त्वोंको मुख्य-गौण करके क्रमशः अपनाती है; और अनुभयदृष्टि 'सहार्पिता' होनेसे किसीको भी मुख्य गौण नहीं करती और वचनमें विधि-निषेधको युगपत् प्रतिपादन करनेकी शक्ति नहीं, इससे वह किसीको भी नहीं अपनाती—मथानीकी रस्सीके दोनों सिरोंको समानरूपसे दोनों हाथोंमें थामे हुए संचालन-क्रियासे रहित होकर स्थित है—और इसलिये उसका विषय 'अवक्तव्य' रूप है। आगेके तीनों संयोगी (मिश्र) भंगोंमें भी 'उभय' और 'अनुभय' का यही आशय संनिहित है। विधेयतत्त्व स्वरूपादि चतुष्टयकी—स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी और निषेध्यतत्त्व पररूपादि चतुष्टयकी—परद्रव्य- क्षेत्र - काल - भावकी—अपेक्षाको लिये हुए है।

चित्रमें गोपीका दाहिना हाथ 'विधि' का और बायाँ हाथ 'निषेध' का निदर्शक है। साथ ही, मथानीकी रस्सीको खींचनेवाला हाथ 'मुख्य' और ढीला करनेवाला हाथ 'गौण' है। और इससे यह भी स्पष्ट है कि विधिका निषेधके साथ और निषेधका विधिके साथ तथा मुख्यका गौणके साथ और गौणका मुख्यके साथ अविनाभाव सम्बन्ध है—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता। जिस प्रकार सम तुलाका एक पल्ला ऊँचा होनेपर दूसरा पल्ला स्वयमेव नीचा होजाता है—ऊँचा पल्ला नीचेके बिना और नीचा पल्ला ऊँचे के बिना बन नहीं सकता और न कहला सकता है, उसी प्रकार विधि-निषेधकी और मुख्य-गौणकी यह सारी व्यवस्था सापेक्ष है—सापेक्षनयवादका विषय है। और इसलिये जो निरपेक्षनयवादका आश्रय लेती है और वस्तुतत्त्वका सर्वथा एकरूपसे प्रतिपादन करती है वह जैनी नीति अथवा सम्यक् नीति न होकर मिथ्या नीति है। उसके द्वारा वस्तुतत्त्वका सम्यग्ग्रहण और प्रतिपादन नहीं हो सकता। अस्तु।

जैनी नीतिका ऐसा स्वरूप होनेसे चित्रमें उसके लिये जो अनेकान्तात्मिका, गुण-मुख्यकल्पा, स्याद्वादरूपिणी, सापेक्षवादिनी, विविधनयापेक्षा, सप्तभंगरूपा, सम्यग्वस्तुग्राहिका और यथातत्त्वप्ररूपिका ऐसे आठ विशेषण दिये गये हैं वे सब बिल्कुल सार्थक और उसके स्वरूपके संद्योतक हैं। इनमेंसे पिछले दो विशेषण इस बातको प्रकट करते हैं कि वस्तु अथवा वस्तुतत्त्वका सम्यग्ग्रहण और प्रतिपादन इसी नीतिके द्वारा होता है। इस नीतिका विशेष विकसित स्वरूप पाठकोंको 'समन्तभद्र-विचारमाला' के लेखोंमें देखनेको मिलेगा, जो इसी विशेषाङ्कसे प्रारम्भ की गई है।

इस प्रकार जैनी नीतिके इस चित्रमें जैनधर्मकी सारी फिलोसोफीका मूलाधार चित्रित है। जैनी नीतिका ही दूसरा नाम 'अनेकान्तनीति' है और उसे 'स्याद्वादनीति' भी कहते हैं। यह नीति अपने स्वरूपसे ही सौम्य, उदार, शान्तिप्रिय, विरोधका मथन करने वाली वस्तुतत्त्वकी प्रकाशक और सिद्धिकी दाता है। खेद है, जैनियोंने अपने इस आराध्य देवताको बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्त नीतिके अनन्य उपासक बने हुए हैं! उसीका परिणाम उनका मौजूदा सर्वतोमुखी पतन है, जिसने उनकी सारी विशेषताओंपर पानी फेरकर उन्हें नगण्य बना दिया है!! जैनियोंको फिरसे अपने इस आराध्य देवताका स्मरण कराते हुए उनके जीवनमें इस सन्नीतिकी प्राणप्रतिष्ठा कराने और संसारको भी इस नीतिका परिचय देने तथा इसकी उपयोगिता बतलानेके लिये ही इस बार अनेकान्त पत्रने अपने मुखपृष्ठ पर 'जैनी नीति' का यह सुन्दर भावपूर्ण चित्र धारण किया है। लोकको इससे सत्प्रेरणा मिले और यह उसके हितसाधन में सहायक होवे, ऐसी शुभ भावना है।

सम्पादक

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिकरूपसे समाजसेवामें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं:—

१२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
१०१) बा० अजितप्रसादजी जैन, एडवोकेट, लखनऊ।
१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
१००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
१००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
१००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
१००) बा० जयभगवानजी वकील और उनकी मार्फत, पानीपत।
५०) ला० दलीपसिंहजी कागजी और उनकी मार्फत, देहली।
२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई।
२५) ला० रूड़ामलजी जैन, शामियाने वाले सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक-स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा

समन्तभद्र-विचारमाला

[सम्पादकीय]

श्रीवर्द्धमानमभिनम्य समन्तभद्रं
सद्बोध-चारुचरिताऽनघवाक्स्वरूपम् ।
तच्छास्त्रवाक्यगतभद्रविचारमालां
व्याख्यामि लोक-हित-शान्ति-विवेकवृद्ध्यै ॥ १ ॥

इस मंगलपद्यके साथ मैंने जिस लेखमालाका प्रारम्भ किया है वह उन स्वामी समन्तभद्रके विचारोंकी—उन्हींके शास्त्रोंपरसे लिये हुए उनके सिद्धान्तसूत्रों, सूक्तों अथवा अभिमतोंकी—व्याख्या होगी जो सद्बोधकी मूर्ति थे—जिनके अन्तःकरणमें देदीप्यमान किरणोंके साथ निर्मल ज्ञान-सूर्य स्फुरायमान था—, सुन्दर सदाचार अथवा सच्चारित्र ही जिनका एक भूषण था, और जिनका वचनकलाप सदा ही निष्पाप तथा बाधारहित था; और इसीलिये जो लोकमें श्रीवर्द्धमान थे—बाह्याभ्यन्तर लक्ष्मीसे वृद्धिको प्राप्त थे—और आज भी जिनके वचनोंका सिक्का बड़े बड़े विद्वानोंके हृदयोंपर अंकित है *।

वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रकी जो कुछ भी वचन प्रवृत्ति होती थी वह सब लोककी हितकामना—लोकमें विवेककी जाग्रति, शान्तिकी स्थापना और सुख-वृद्धिकी शुभभावनाको लिये हुए होती थी । यह व्याख्या भी उसी उद्देश्यको लेकर—लोकमें हितकी, विवेककी और सुखशान्तिकी एकमात्र वृद्धिके लिये—लिखी जाती है । अथवा यों कहिये कि जगतको स्वामीजीके विचारोंका परिचय कराने और उनसे यथेष्ट लाभ उठानेका अवसर देनेके लिये ही यह सब कुछ प्रयत्न किया जाता है । मैं इस प्रयत्नमें कहाँतक सफल हो सकूँगा, यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता । स्वामीजी का पवित्र ध्यान, चिन्तन और आराधन ही मेरे लिये एक आधार होगा—प्रायः वे ही इस विषय में मेरे मुख्यसहायक—मददगार अथवा पथप्रदर्शक होंगे ।

यह मैं जानता हूँ कि भगवान समन्तभद्रस्वामी के वचनोंका पूरा रहस्य समझने और उनके विचारोंका पूरा माहात्म्य प्रकट करनेके लिये व्यक्तित्व रूपसे मैं असमर्थ हूं, फिर भी "अशेष माहात्म्यमनीरयन्नपि शिवाय संस्पर्शमिवामृताम्बुधेः"— 'अमृत समुद्रके अशेषमाहात्म्यको न जानते और न कथन करते हुए भी उसका संस्पर्श कल्याणकारक होता है' स्वामीजीकी इस सूक्तिके अनुसार ही मैंने यह सब प्रयत्न किया है । आशा है मेरी यह व्याख्या आचार्य महोदयके विचारों और उनके वचनोंके पूरे माहात्म्य को प्रकट न करती हुई भी लोकके लिये कल्याणरूप होगी और इसे स्वामीजीके विचाररूप-अमृतसमुद्रका केवल संस्पर्श ही समझा जायगा ।

मेरे लिये यह बड़ी ही प्रसन्नताका विषय होगा,

* स्वामी समन्तभद्रका विशेष परिचय पानेके लिये देखो, लेखकका लिखा हुआ 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहास ।

यदि व्याख्यामें होने वाली किसी भी त्रुटि अथवा भूलका स्पष्टीकरण करते हुए विद्वान भाई मुझे सद्भाव-पूर्वक उससे सूचित करनेकी कृपा करेंगे। इससे भूल का संशोधन हो सकेगा और क्रम देकर पुस्तकाकार छपानेके समय यह लेखमाला और भी अधिक उपयोगी बनाई जा सकेगी। साथ ही, जो विद्वान् महानुभाव स्वामीजीके किसी भी विचारपर कोई अच्छी व्याख्या लिखकर भेजनेकी कृपा करेंगे उसे भी, उन्हींके नामसे, इस लेखमालामें सहर्ष स्थान दिया जा सकेगा।

१

स्व-पर-वैरी कौन ?

स्व-पर-वैरी—अपना और दूसरोंका शत्रु—कौन ? इस प्रश्नका उत्तर संसारमें अनेक प्रकारसे दिया जाता है और दिया जा सकता है। उदाहरणके लिये—

१ स्वपरवैरी वह है जो अपने बालकोंको शिक्षा नहीं देता, जिससे उनका जीवन खराब होता है, और उनके जीवनकी खराबीसे उसको भी दुःख-कष्ट उठाना पड़ता है, अपमान-तिरस्कार भोगना पड़ता है और सत्संततिके लाभोंसे भी वंचित रहना होता है।

२ स्वपरवैरी वह है जो अपने बच्चोंकी छोटी उम्र में शादी करता है, जिससे उनकी शिक्षामें बाधा पड़ती है और वे सदा ही दुर्बल, रोगी तथा पुरुषार्थहीन—उत्साहविहीन बने रहते हैं अथवा अकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं। और उनकी इन अवस्थाओंसे उसको भी बराबर दुःख-कष्ट भोगना पड़ता है।

३ स्वपरवैरी वह है जो धनका ठीक साधन पासमें न होनेपर भी प्रमादादिके वशीभूत हुआ रोजगार-धंधा छोड़ बैठता है—कुटुम्बके प्रति अपनी जिम्मेदारीको भुलाकर आजीविकाके लिये कोई पुरुषार्थ नहीं करता; और इस तरह अपनेको चिन्ताओंमें डालकर दुःखित रखता है और अपने आश्रितजनों-बालबच्चों आदिको भी, उनकी आवश्यकताएँ पूरी न न करके, कष्ट पहुँचाता है।

४ स्वपरवैरी वह है जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादि दुष्कर्म करता है; क्योंकि ऐसे आचरणोंके द्वारा वह दूसरोंको ही कष्ट तथा हानि नहीं पहुँचाता बल्कि अपने आत्माको भी पतित करता है और पापोंसे बाँधता है, जिनका दुखदाई अशुभ फल उसे इसी जन्म अथवा अगले जन्ममें भोगना पड़ता है।

इसी तरहके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु स्वामी समन्तभद्र इस प्रश्नपर एक दूसरे ही ढंगसे विचार करते हैं और वह ऐसा व्यापक विचार है जिसमें दूसरे सब विचार समा जाते हैं। आपकी दृष्टिमें वे सभी जन स्व-पर-वैरी हैं जो 'एकान्तग्रहरक्त' हैं (एकान्तग्रहरक्ताः स्वपरवैरिणः)। अर्थात् जो लोग एकान्तके ग्रहणमें आसक्त हैं—सर्वथा एकान्तपक्षके पक्षपाती अथवा उपासक हैं—और अनेकान्तको नहीं मानते—वस्तुमें अनेक गुण-धर्मोंके होते हुए भी उसे एक ही गुणधर्मरूप अंगीकार करते हैं वे अपने और परके वैरी हैं। आपका यह विचार देवागमकी निम्नकारिकाके '<u>एकान्तग्रहरक्तेषु</u>' '<u>स्वपरवैरिषु</u>' इन दो पदोंपरसे उपलब्ध होता है—

> कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित्।
> एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥८॥

इस कारिकामें इतना और भी बतलाया गया है कि ऐसी एकान्त मान्यतावाले व्यक्तियोंमेंसे किसीके यहां भी—किसीकेभी मतमें—शुभअशुभकर्मकी,

अन्य जन्मकी और 'चकार' से इस जन्मकी, कर्मफल की तथा बन्ध-मोक्षादिककी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। और यह सब इसकारिकाका सामान्य अर्थ है। विशेष अर्थकी दृष्टिसे इसमें सांकेतिकरूपसे यह भी संनिहित है कि ऐसे एकान्त—पक्षपातीजन स्वपर-वैरी कैसे हैं और क्योंकर उनके शुभाशुभकर्मों, लोक-परलोक तथा बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था नहीं बन सकती। इस अर्थको अष्टसहस्री—जैसे टीका ग्रन्थोमे कुछ विस्तारके साथ खोला गया है। बाकी एकान्त-वादियोंकी मुख्य मुख्य कोटयोंका वर्णन करते हुए उनके सिद्धान्तोको दूषित ठहराकर उन्हें स्वपरवैरी सिद्ध करने और अनेकान्तको स्वपर हितकारी सम्यक् सिद्धान्तके रूपमे प्रतिष्ठित करनेका कार्य स्वयं स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थकी अगली कारिकाओंमे सूत्ररूपमे किया है। ग्रन्थकी कुल कारिकाएँ (श्लोक) ११४ हैं, जिनपर श्री अकलंकदेवने "अष्टशती' नामकी आठसौ श्लोक-जितनी वृत्ति लिखी है, जो बहुत ही गूढ़ सूत्रोंमें है; और फिर इस वृत्तिको साथमे लेकर श्री विद्या-नन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है, जो आठ हजार श्लोक—परिमाण है और जिसमे मूलग्रन्थके आशयको खोलनेका भारी प्रयत्न किया गया है। यह अष्टसहस्री भी बहुत कठिन है, इसके कठिन पदोंको समझनेके लिये इसपर आठ हजार श्लोक जितना एक संस्कृत टिप्पण भी बना हुआ है; फिर भी अपने विषयको पूरी तौरसे समझनेके लिये यह अभीतक 'कष्टसहस्री' ही बनी हुई है। और शायद यही वजह है कि इसका अबतक हिन्दी अनुवाद नहीं हो सका। ऐसी हालतमें पाठक समझ सकते हैं कि स्वामी समन्तभद्रका मूल 'देवागम' ग्रन्थ कितना अधिक अर्थगौरवको लिये हुए है। अकलंकदेवने तो इसे 'सम्पूर्ण पदार्थतत्वोको अपना विषय करने वाला स्याद्वादरूपी पुण्योदधितीर्थ' लिखा है। इस लिये मेरे जैसे अल्पज्ञोद्वारा समन्तभद्रके विचारोंकी व्याख्या उनको स्पर्श करनेके सिवाय और क्या हो सकती है? इसीसे मेरा यह प्रयत्न भी साधारण पाठकोके लिये है—विशेषज्ञोके लिये नहीं। अस्तु; इस प्रासंगिक निवेदनके बाद अब मै पुनः प्रकृत विषयपर आता हूँ और उसको संक्षेपमे ही साधारण जनताके लिये कुछ स्पष्ट करदेना चाहता हूं।

वास्तवमे प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें अनेक अन्त-धर्म-गुण-स्वभाव-अंग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तुको एक तरफसे देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभाव पर दृष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्द्रष्टा (उसे ठीक तौर से देखने—पहिचानने वाला) नहीं कहला सकता। सम्यग्द्रष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तों, अंगों-धर्मों अथवा स्वभावोपर नज़र डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करने वाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पड़ा देखकर वह सिक्का नहीं समझता और इस लिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्तदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है ❀।

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त-अंग धर्म अथवा गुणस्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नहीं करता—और इस तरह अपनी एकान्त धारणा बना लेता है और

❀ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः॥
—स्वयम्भूस्तोत्र, समन्तभद्रः।

अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है ? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिसप्रकार गुणपर्यायकी और वृक्षके अभावमें शीशीम, जामन, नीम आम्रादिकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती उसी प्रकार अनेकान्त के अभावमें क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रिया-का निषेध हो जाता है; क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है। और अर्थक्रियाके अभाव में कर्मादिक नहीं बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रिया के साथ व्याप्ति है। जब शुभ-अशुभकर्म ही नहीं बन सकते तब उनका फल सुख-दुख, फलभोगका क्षेत्र जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोंसे बँधने तथा छूटनेकी बात तो कैसे बन सकती है ? सारांश यह कि अनेकान्तके आश्रय बिना ये सब शुभाशुभ कर्मादिक निराश्रित होजाते हैं, और इसलिये सर्वथा नित्यादि एकान्तवादियोंके मतमें इनकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं बन सकती। वे यदि इन्हें मानते हैं और तपश्चरणादि अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोंका अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इस इष्टको अनेकान्त का विरोध करके बाधा पहुँचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व-पर-वैरी सिद्ध करते हैं।

वस्तुतः अनेकान्त, भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोंके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यग्व्यवस्था करने वाला है; इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—बिना अनेकान्तका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक बनता ही नहीं, और न परस्परका वैर-विरोध ही मिट सकता है। इसीलिये अनेकान्तको परमागमका बीज और लोक का अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सबोंके लिये सन्मार्ग प्रदर्शक है *। जैनी नीतिका भी वही मूला-धार है। जो लोग अनेकान्तका आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नहीं होते, उनसे पाप नहीं बनते, उन्हें आपदाएँ नहीं सताती, और वे लोकमें सदा ही उन्नत, उदार तथा जयशील बने रहते हैं।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ५।११।९४१

* नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक्।
परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

आवश्यकता

वीरसेवामन्दिरको 'जैनलक्षणावली' के हिन्दीसार तथा अनुवाद और प्रेसकापी आदि कार्योंके लिये दो-एक ऐसे विद्वानोंकी शीघ्र आवश्यकता है जो सेवाभावी हों और अपने कार्यको मुस्तैदी तथा प्रामाणिकताके साथ करने वाले हों। वेतन योग्यतानुसार दीजाएगी। जो सज्जन आना चाहें वे अपनी योग्यता और कृतकार्यके परिचयादि-सहित नीचे लिखे पते पर शीघ्र पत्रव्यवहार करें, और साथ ही यह स्पष्ट लिखनेकी कृपा करें कि वे कमसे कम किस वेतन पर आसकेंगे, जिससे चुनावमें सुविधा रहे और अधिक पत्रव्यवहारकी नौबत न आए।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' सरसावा जि० सहारनपुर

स्व० श्रीमती मगाबाई जैन

(धर्मपत्नी बा० छोटेलाल जैन कलकत्ता)

एक आदर्श जैन महिलाका वियोग !

[सम्पादकीय]

पाठक जिस महिला-रत्नका सौम्य चित्र अपने सामने अवलोकन कर रहे हैं वह आज अपने इस भौतिक शरीरमें विद्यमान नहीं है—कई महीने हुए वह इस नश्वर शरीरको जीर्ण-शीर्ण होता देखकर बड़े ही निर्ममलभावसे छोड़गई है—छोड़नेके बाद इसका कहीं पता भी नहीं रहा ! कोई भी स्नेही इसे रख नहीं सका !! और यह अन्तको सबोंके देखते देखते शून्यमें विलीन होगया !!! हां, विलीन होते समय मोही जीवोंको इतना पाठ जरूर पढा गया कि जिस शरीरको आत्मा समझा जाता है, अपना जानकर तथा स्थिर मानकर जिस पर अनुराग किया जाता है वह अपना नहीं पर है, स्थिर नहीं नश्वर है, आत्मा नहीं मिट्टीका पुतला है—पानीका बुलबुला है, बिजलीकी चमक है, तीव्र पवनसे प्रताडित हुआ मेघपटल है अथवा पर्वतके शिखरपर झंझावातके समक्ष स्थित दीपकके समान है, अपना उसपर कोई विशेष अधिकार नहीं; और इस लिये वह अनुरागका पात्र नहीं, प्रेमकी वस्तु नहीं; उसे आत्मा समझना, अपना जानना तथा स्थिर मानना भ्रम था मोहका विलास था और कोरा बहिरात्मत्व था। उसका निधन प्रकृतिके नियमानुसार अथवा 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' इस धर्मघोषणाके अनुसार हुआ है। अतः शोक व्यर्थ है। अस्तु; यह देवी हमसे वियुक्त होकर इस समय अपने यशः शरीरमें स्थित है और हमारे पास इसकी केवल स्मृति स्मृति ही अवशिष्ट है। यों तो संसारमें अनेक प्राणी जन्म लेते हैं और मर जाते हैं—कोई जानता भी नहीं; परन्तु जन्म लेना उन्हीं का सफल है, वे ही जीवित रहते हैं और वे ही स्मरण किये जाते हैं, जो कोई चिरस्मरणीय कार्य कर जाते हैं। यह देवी भी ऐसी ही कुछ स्मृति छोड़ गई है और मर कर भी अपने को अमर कर गई है; इसीसे अनेकान्तके कालमोंमें आज इसकी चर्चा है।

चित्र परसे पाठकोंको इतना जाननेमें तो देर नहीं लगेगी कि इस देवीका नाम श्रीमती 'मूँगाबाई' था और यह कलकत्ताके सुप्रसिद्ध धनिक व्यापारी बाबू छोटेलालजी जैनकी धर्मपत्नी थी—ये दोनों ही बातें चित्रके नीचे अंकित हैं। साथ ही, देवीजीके चेहरेकी सारल्य-सूचक रेखाओं और शरीर के वेष-भूषा परसे कुछ अंशोंमें यह भी समझ सकेंगे कि यह देवी सरल स्वभावकी, निष्कपट व्यवहारकी एवं भोली-भाली प्रकृतिकी महिला थी और इसे बहुत कुछ सादा जीवन पसंद था। इससे अधिकके लिये चित्र एकदम मौन है—जीवनकी विशेष घटनाओं तथा व्यक्तिके गुणविशेषोंका उससे कोई परिचय नहीं मिलता और इसलिये स्वभावसे ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि देवीजीका विशेष परिचय क्या है ? उनका जीवन कैसे व्यतीत हुआ ? उसमें उन्होंने क्या क्या आदर्श उपस्थित किया ? और अन्तको वे ऐसा कौनसा स्मरणीय कार्य कर गई हैं जिस से मरकर भी अमर होगई हैं ? इन सब बातोंका उत्तर पाठकों को देवीजीकी निम्न जीवनीसे मिलेगा जो विश्वस्तसूत्रसे प्राप्त हुई घटनाओं तथा मुद्दोंके आधार पर संक्षेपमें संकलित की गई है :—

पितृगृह और श्वशुरगृह

श्रीमती मूँगाबाईका जन्म अग्रवाल वंशमें, विहार प्रान्त के बढ़ैया नामके नगरमें हुआ था। आपके पिता सेठ रूपसी दासजी अग्रवाल (कलकत्ताकी सुप्रसिद्ध फर्म 'सेठ तोपचन्द मंगनीराम' के मालिक) वहांके अग्रगण्य व्यवसायी और ज़मींदार थे, जिनका परिवार बहुत बड़ा था—इस समय भी उसकी जनसंख्या सवासौ या डेढसौसे कम नहीं है। भाई

बहनोंमें आप सबसे छोटी और माताकी लाड़ली पुत्री थीं। बाल्यावस्थासे ही सीधे, सरल और कोमल स्वभावकी होनेके कारण सभी परिजन आपसे बड़ा स्नेह रखते थे और आपको बड़ी आदरकी दृष्टिसे देखते थे। पितृगृहमें आपको सब सुख-सामग्री सुलभ थी--कोई बातकी कमी नहीं थी--और आप अच्छे लाड़प्यारसे पली थीं।

आपका विवाह संस्कार कलकत्ता दिगम्बर जैन-समाजके सुप्रसिद्ध सेठ रामजीवनदास सरावगीके पांचवें पुत्र बाबू छोटेलालजी के साथ हुआ था। ससुरालका परिवार भी आपको बहुत बड़ा प्राप्त हुआ। यहां भी आपको अपने गुणों के कारण यथेष्ट आदर-सत्कार मिला और किसी बातकी कोई कमी नहीं रही। यद्यपि आपके कोई संतान नहीं हुई, फिर भी आप सासकी सब बहुओंमें लाड़ली बहू बनी हुई थीं--सासको आपसे इतना अधिक प्रेम था कि उसे अपने मनकी दो बात इस बहूसे कहे विना कभी चैन ही नहीं पड़ती थी। आपने संतानके अभाव पर कभी भी दुःख अथवा खेद प्रकट नहीं किया और आपका हृदय इतना उदार एवं विशाल था कि उसमें अदेखसकाभावका नाम नहीं था। आप जेठ-देवरोंकी संतानको अपनी ही संतान समझती थीं और उसी दृष्टिसे उनके बालकोंका लालन-पोषण तथा प्रेमालिंगन किया करती थीं। इसीसे वे बालक भी आपसे बहुत अधिक संतुष्ट रहते और प्रेम रखते थे। परिवारके सभी जन आपसे खुश थे।

धर्मसंस्कार और आचार-विचार

बाल्यावस्थामें आपके धर्मसंस्कार कुछ ही क्यों न रहे हों, परन्तु श्वशुरगृह (ससुराल) में आते ही जैनधर्मके प्रति आपका गाढ़ अनुराग होगया, यहांके धार्मिक वातावरणसे आप बहुत प्रभावित हुईं और पूर्णरूपसे जैनधर्मका पालन करने लगीं। नित्य श्रीजैनमन्दिरको जाना, वहां जिनप्रतिमाके सम्मुख स्थिर होकर भक्तिभावसे स्तुतिपाठ पढ़ना--दर्शन पूजन करना, शास्त्र सुनना, दोनों वक्त सामायिक करना, तत्त्वार्थसूत्र तथा भक्तामरादि अनेक स्तोत्रोंका पाठ करते रहना यह सब आपका दैनिक कार्य था। अष्टमी, चतुर्दशीको उपवास रखना, पर्युषणादि दूसरे पर्वदिनोंमें एकाशन करना, रात्रिमें भोजन नहीं करना और तीर्थवन्दना आदि धार्मिक क्रियाओंका अनुष्ठान आप बड़े प्रेमके साथ करती थीं। कई बड़े बड़े व्रतोंका अनुष्ठान भी आपने किया, जो अनेक वर्षोंमें पूरे हुए; व्रतोंकी पूर्तिपर उनका उद्यापन भी किया। उद्यापन के समय गिनतीके कुछ उपकरणोंको ज़रूरत न होनेपर भी रूढिके तौरपर मन्दिरोंमें चढ़ाना आपको इष्ट नहीं था, इस लिये आप अपने संकल्पितद्रव्यको आवश्यक कार्योंमें लगा देती थीं और जहां उपकरणोंका अभाव देखती थीं वहां ही उन्हें देती थीं। आपकी यह मनःपरिणति उपयोगितावादको दृष्टिमें रखने वाले विवेकको सूचित करती थी।

आपका आचार-विचार, आहार-विहार और रहन-सहन अन्य महिलाओंसे बहुत कुछ भिन्न था। खानपान, वस्त्राभूषण राग-रंग आदि किसी भी इन्द्रियविषयमें आपकी लालसा नहीं थी। समयपर जैसा भोजन मिल जाता उसीमें सन्तोष मानती, वस्त्राभूषणके लिये कोई खास आग्रह करते हुए कभी किसीने नहीं देखा, विलासितासे आप कोसों दूर रहती थीं। बाग़-बगीचों, खेल-तमाशों, सिनेमा-थियेटरोंमें जाना भी आप को पसन्द नहीं था—पसन्द था आपको सादगीके साथ जीवन व्यतीत करना और अपने धार्मिकादि कर्तव्योंके पालन की ओर सदा सावधान रहना। इसीसे आप प्रायः घरपर रहकर ही सन्तुष्ट रहती और आनन्द मानती थी। आपका हृदय बड़ा ही सरल, दयालु, नम्र और उदार था। छल-कपट, मिथ्याभाषण और विश्वासघात जैसे पाप आपके पास तक नहीं फटकते थे। क्रोध करना, कठोर वचन बोलना और दूसरोंको दोष देना, यह सब आपकी प्रकृतिमें ही नहीं था। जिसका पालन-पोषण विशेष लाड-प्यारमें हुआ हो उसके लिये थोड़ेसे भी अप्रिय शब्द क्रोध उत्पन्न कर सकते हैं, परन्तु हृदयमें घाव कर देने वाले कठोरसे कठोर शब्दोंको

सुनकर भी आप कभी किसी पर क्रोध नहीं करती थीं। सदा ही हँसमुख तथा प्रसन्नवदन रहती थीं, और इससे आपकी चित्तशुद्धि एवं हृदयकी विशालता स्पष्ट जान पड़ती थी।

यद्यपि आप पढ़ी लिखी बहुत कम थीं; परन्तु विवेककी आपमें कोई कमी नहीं थी। और यह इस विवेकका ही परिणाम है जो इतने बड़े कुटुम्बके छोटे बड़े सभी जन आप पर प्रसन्न थे—२४ वर्षके गृहस्थ जीवनमें आपका अपनी दस देवरानियों-जिठानियों और दो ननदोंके साथ कभी कोई मन-मुटाव या लड़ाई–झगड़ा नहीं हुआ। कुटुम्बी जनोंमें परस्पर किसी भी प्रकारका कोई कलह, विसंवाद या मन–मुटाव न होजाय, इसके लिये आप अपने पतिको भी सदा सावधान रखती थीं। और आपके इस विवेकका सबसे बड़ा परिचायक तो आपका धर्माचरण एवं सदाचार है जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और अन्तमें अपनी चरम सीमाको पहुँच गया।

पतिभक्ति और आज्ञापालन

पतिभक्ति आपमें कूट कूटकर भरी हुई थी। हिन्दूधर्मकी आख्याओंके अनुसार आप पतिव्रतधर्मका पूरी तरहसे पालन कर्त्ता थीं—पतिको हर्षित देखकर हर्षित रहतीं, दुःखितमन देखकर दुःख मानतीं और यदि वे कुपित होते तो आप मृदुभाषिणी बनजातीं तथा बेकसूर होते हुए भी क्षमा-याचना कर लेतीं। पतिकी आज्ञा आपके लिये सर्वोपरि थी, आप बड़े ही प्रेम तथा आदरके साथ उसका पालन करती थीं और पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके कोई भी काम करना नहीं चाहती थीं। आज्ञापालन आपके जीवनका प्रधान लक्ष्य था और पतिपर आपका अगाध प्रेम तथा विश्वास था। इसीसे आप दिन–रात पतिकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती थीं और इस बातका बड़ा ध्यान रखती थीं कि कोई ऐसी बात न की जाय और न कही जाय जिससे पतिको कष्ट पहुँचे। आप स्वयं कष्टमें रहना पसन्द करतीं परन्तु पतिको कष्ट देना नहीं चाहती थीं।

गृहकार्योंमें योगदान और अतिथिसेवा

पतिकी सेवा-शुश्रूषाके अतिरिक्त गृहशोधन, रन्धन और अतिथिसंवादि–जैसे गृहकार्योंमें भी आप सदा ही पूरा योगदान करती थीं। श्रीमानकी पुत्री और श्रीमान्से विवाहित हूं, इस अभिमानसे आपने कभी भी इन गृहस्थोचित सांसारिक कार्योंको तुच्छ नहीं समझा। अतिथि-सेवामें आप बहुत दक्ष थीं और उसे करके बड़ा आनन्द मानती थीं। आपके पति बाबू छोटेलालजीका प्रेम भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंके अनेक जैन अजैन बन्धुओंसे होनेके कारण आपके घर पर अतिथियोंकी—मेहमानोंकी—कोई कमी नहीं रहती थी, बारहों महीने कुछ न कुछ अतिथि बने ही रहते थे, और उनके आतिथ्य-सम्बन्धी कुल इन्तज़ामका भार आप पर ही रहता था। जिन लोगोंने आपका आतिथ्य स्वीकार किया है वे आपके सत्कार और आत्मीयताके भावोंसे भले प्रकार परिचित हैं।

जीवनकी इन सब बातों, आचार-विचारों एवं प्रवृत्तियोंसे स्पष्ट है कि आप एक महिलारत्न ही नहीं, किन्तु आदर्श जैनमहिला थीं। अब आपके अन्तिम जीवनकी भी दो बातें लीजिये।

रुग्णावस्था, परिचर्या और समाधिपूर्वक जीवन-लीलाकी समाप्ति

यों तो कुछ अर्सेसे आपका स्वास्थ्य कुछ-न-कुछ खराब रहने लगा था पर दिसम्बर सन् १६३६ से वह कुछ विशेष खराब हो गया था। चूँकि पतिका स्वास्थ्य कई वर्षसे संतोषप्रद नहीं था, इससे अपनी तकलीफ़को आप मामूली बताती रहतीं और मामूली ही उपचार करती रहती थीं।

अप्रेल सन् १९४० में एक दिन पतिने कहा—'तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक मालूम नहीं होता, जान पड़ता है तुम भले प्रकार इलाज नहीं करवाती, क्या बात है ? तब आपने उत्तर दिया कि—'वैद्यकी दवाई तो लेती ही हूं पर लाभ नहीं होरहा है।' इस पर पतिने कहा—'तो मुझसे कहा क्यों नहीं ?' तब आप कहने लगीं कि—'आपकी तबीयत ठीक नहीं रहती है, आप का चित्त यों ही किसी परिजनकी बीमारीसे उद्विग्न हो उठता है और विशेष चिन्तित हो जाता है, ऐसी हालतमें मैं आप को विशेष कष्ट कैसे देती ? मुझे तो ज्वर बना ही रहता है। इतना कहना था कि बाबू छोटेलालजी का मन घबरा उठा। दूसरे ही दिन डाक्टरी परीक्षा हुई और एक्सरेमें यक्ष्मा (थाइसिस) की आशंका होनेपर कलेजेमें गैस भरनेका इलाज चालू किया गया। क्योंकि डाक्टरी दवाईका आपने त्याग कर रक्खा था, उसे खाती नहीं थीं। डाक्टरीके बाद हकीमी, फिर कविराजी और पुनः डाक्टरी (इनजेकशन) का इलाज होता रहा, पर रोग काबूमें नहीं आया।

एक दिन आप पतिसे कहने लगीं कि—'मैं अच्छी तो होनेकी नहीं व्यर्थ ही आपको कष्ट उठाना पड़ रहा है, इससे तो शीघ्र अन्त होजाय तो अच्छा हो।' यह कहते हुए उसके अभ्यन्तरका दर्द दोनों नेत्रों से दीप्त हो उठा। पतिने कहा—'देखो, तुमने कभी भी मेरेसे कोई सेवा नहीं ली और जिस दिनसे तुम मेरे पास आई हो मेरे लिये कष्ट ही कष्ट सहती रही हो और अब भी जहां तक बनता है मुझसे किसी प्रकार की सेवा नहीं लेती हो, तुम्हारी यह धारणा कि "भारतीय स्त्रियोंका जन्म ही इसलिये होता है कि वे जीवनपर्यंत पतिकी सेवा करती रहें और कष्ट होनेपर भी उनसे किसी प्रकारकी सेवा न करावें, पतिसे सेवा लेनेका अधिकार स्त्रियोंको नहीं है" आज इतने कष्ट और असमर्थताके समयमें भी जागृत है, यह देखकर आश्चर्य होता है ! मैंने कितनी बार तुम्हें समझाया है कि पति-पत्नी दोनोंका परस्पर समअधिकार है—एक दूसरेसे अधिक अधिकार नहीं रखता। स्वयं ज्वरपीड़ित अवस्था तकमें तुम मेरी सेवा करती रही हो—मैं तुम्हारे ऋण से किस प्रकार उऋण होऊंगा।' इस पर वह अपनी तुच्छता प्रकट करती हुई अपने जीवनकी कई बातोंको दुहराते हुए कहने लगी कि—"मैंने तो आपका कुछ किया नहीं और न अपने कर्तव्य तक को ही पूरा किया है, उसपर भी अब आप से सेवा करवाकर क्या 'पापन' बनूं ?"

बीमारीमें जितना कष्ट आपको था उतना कष्ट यदि और किसीको होता तो न जाने परिजनोंकी कितनी आफ़त होती, पर आप बड़े ही धैर्य, संतोष एवं सहिष्णुताके साथ उसे सहन करती रहती थीं और कभी भी किसी पर क्रोध प्रकट नहीं करती थीं। पलंगपर पड़ी पड़ी भी नित्य भगवत भक्ति में लीन रहती थीं। मृत्युसे प्रायः १४।१५ दिन पहले आपने समाधिमरण सुननेकी इच्छा प्रकट की। उसी दिनसे अन्त तक नित्य दोनों समय समाधिमरणका पाठ सुनती रहीं और उसके प्रत्येक वाक्यका अर्थ समझती रहीं।

पतिको यह विश्वास होचुका था कि रोग असाध्य है, इससे आपके धार्मिक भावोंको बनाये रखनेका पूर्ण प्रयत्न होता रहा और धीरे धीरे आपकी इच्छानुसार सब परिग्रहका त्याग और चार प्रकारके दानोंका करवाना बड़ी सावधानीसे तथा मृत्युके अनेक दिन पूर्व ही प्रारम्भ होचुका था।

आप पतिसे एक दिन कहने लगीं कि—'मुझे और किसी बातकी चिन्ता नहीं है किन्तु आपकी तबियत अच्छी नहीं रहती है और मैं सेवासे वंचित हूं, आपकी सेवा कौन करेगा ?' पतिने कहा—'भगवान तुम्हारी रक्षा करें, मुझे अब तुमसे कोई सेवा नहीं चाहिये। मेरी मनोकामना यही है कि तुम भले ही पूर्ण अच्छी न होवो पर तुम किसी भी प्रकार जीती रहो—मुझे इसीमें संतोष है। आजसे हम दोनों मित्रताका—भाई बहनका—सम्बन्ध रक्खेंगे; भगवान तुम्हें

शीघ्र आरोग्य करें ।' पर-दुःखकातर, स्नेह-कोमल-नारीचित्त पतिके मनोभावको समझ गया—मुंहपर अंचल दबाकर उच्छ्वसित रुलाईको रोकने लगी, पर रोक न सकी और रोपड़ी! तथा अत्यन्त अधीर भावसे अपने अश्रुक्लान्त मुख-मण्डलको घूंघटसे छिपाकर चुप होगई !!

मृत्युके पहले दिन आपने पतिसे कह दिया था कि—'मैं कल संध्या तक खतम होजाऊंगी।'

मृत्युके दिन बाबू छोटेलालजी से आपने बड़ी नम्रता और अनुनय-विनयके साथ कहा—"देखिये जी, अब मुझे आप और औषध और पथ्य न देवें, मुझे तो केवल अब पानी ही देते रहें और केवल यह दो साड़ियां और एक सलूकाको छोड़कर अवशिष्ट परिग्रह का त्याग करवा देवें।" बा० छोटेलालजी ने कहा—'तुम्हारी जैसी इच्छा हो वही करो पर इतना कहना मेरा मानलो कि तीन साड़ियां दो सलूके और दो गमछे रखलो, बाकी सब परिग्रहका त्याग करदो; कारण वर्षातका समय है यदि कपड़ा न सूखा तो तुम नंगी पड़ी रहोगी।' आपने स्वीकृति दे दी और औषधादि बन्द कर दिये गये।

मृत्युके एक घण्टा पहले ब्र० प्यारेलालजी (भगतजी) वहां आगये थे (आप बीमारीमें कई बार आ आकर धर्मचर्चा आदि श्रवण कराते रहते थे और आपसे ही बीमारीमें समाधिमरण सुननेका प्रथम प्रस्ताव श्रीमतीजी ने किया था)। उन्होंने पहले भजन सुनाया फिर बड़ा समाधिमरण। आपने भगतजी से कई धार्मिक प्रश्न किये। उस दिन आपने जितनी बातें कीं और कहीं वे बड़ी ही मार्मिक थीं—आपके उस दिनके शब्द पवित्र और उज्ज्वलहृदयके अन्तस्तलके वाक्य थे। आपको यह पूर्णविश्वास होगया था कि अब मेरा अन्त होनेवाला है। भगतजीसे पूछा कि "मुनि लोग किस प्रकार रहते हैं?" भगतजीने कहा 'वे नग्न रहते हैं और ज़मीन पर सोते हैं।' फिर पूछा 'तो स्त्रियां?' उत्तर—'स्त्रियां तो नग्न नहीं रह सकतीं।' इन प्रश्नोंसे आपका तात्पर्य यह था कि समाधिमरण की और सब बातें तो होचुकीं, ये दो बातें और बाकी हैं सो भी किसी प्रकार पूरी हो जायँ। यह पहले ही बताया जाचुका है कि आप बिना आज्ञाके कुछ न करती थीं—अस्तु, आप चाहती थीं कि यदि भगतजी कह देवें तो बा० छोटेलाल स्वीकार कर लेवेंगे।

ता० १६ अगस्त सोमवार सन् १६४० को यद्यपि आप की सर्वप्रकारकी वेदनाएँ बढ़ी हुई थीं और श्वांस भी बढ़ रहा था तो भी आप विचलित न हुईं और न मनको दुःखित किया। इसीसे घरवालोंको यह विश्वास न हुआ कि आप आज ही सिधार जायँगी। भगतजी बैठे हुए थे तब बा० छोटेलाल चन्द मिनटोंके लिये दूसरे कमरेमें चले गये थे, लौटने पर उनसे कहा कि—"अब आप मेरे पास बैठे रहें।" इन शब्दोंसे बा० छोटेलालका हृदय कुछ विचलित हुआ पर उन्होंने अपनेको सम्हाल लिया। भगतजी चले गये थे; क्योंकि यह किसीको विश्वास नहीं था कि अब आप अपनी जीवनलीला समाप्त करना चाहती हैं। बस आपका श्वांस बढ़ा और दो तीन मिनटके अन्दर ही 'अरहंत-सिद्ध'का उच्चारण करते तथा 'णमोकार' मंत्र सुनते हुए संध्या ६।४० पर—ठीक उसी समय जिसकी पिछले दिन भविष्यवाणी की थी—आप स्वर्ग सिधार गईं !! और परिजनोंको शोकसागरमें निमग्न करगईं !!!

सर्वसम्पत्तिका दान

स्वर्ग सिधारनेसे पहिले आप अपनी सर्वसम्पत्तिको औषध, शास्त्र, अभय और आहार, इन चार प्रकारके दानोंमें अर्पण कर गई हैं। इस दानका संकल्प तो मृत्युके कोई एक मास पूर्व ही होगया था, पर मृत्युके चार दिन पूर्वसे दृढ होता और बढ़ता हुआ मृत्युके दिन पूरी सावधानीके साथ पूर्ण

हुआ। दानका परिमाण करीब २५ हज़ार रुपये का है, जिस में दस हज़ार रुपये नक़द और पंद्रह हज़ारकी मालियतका आपका ज़ेवर शामिल है। पतिके तथा विशाल कुटुम्बके मौजूद होते हुए अपने सारे स्त्रीधनको इस तरहसे दान कर जाना स्वर्गीया श्रीमतीकी भारी वीरता और गहरी धार्मिक भावनाका द्योतक है, और इसके द्वारा आपने एक अच्छा आदर्श स्थापित किया है।

बाबू छोटेलालजीने इस रक़मके लिये जिस प्रकार स्वर्गीया श्रीमतीजीसे परामर्श कर लिया था उसके अनुसार ही वे उसका व्यय कर रहे हैं, जिन संस्थाओंको जो देना था वह दे दिया गया है—कुछको भेजा जाचुका है और कुछको भेजा जारहा है।

उपसंहार

ऐसी सुशीला, धर्मप्राण, सेवापरायण और आज्ञावशवर्तिनी धर्मपत्नीके इस दुःसह वियोगसे सुहृद्वर बाबू छोटेलालजीके हृदयको जो गहरी चोट लगी है और जो अपार दुःख तथा कष्ट पहुँचा है उसका वर्णन कौन कर सकता है? निःसन्देह आपके जीवनका एक ज़बर्दस्त सहारा ही टूट गया है और इसीसे आपको संसार-यात्राके इस दुर्गम पथमें इस समय अपना कोई सहायक तथा सहयोगी नज़र नहीं आता। इस अवसर पर सद्विवेक ही आपको धैर्य बँधा सकता है और वही आपको मार्ग दिखा सकता है। हार्दिक भावना है कि वह सद्विवेक जो दुःख-संतापकी अचूक औषध है आपके आत्मामें शीघ्र जागृत हो और आप उसके बलपर अपने आत्माको उत्तरोत्तर अधिक उन्नत बनाने और उसका पूर्ण उत्थान करनेमें समर्थ होवें।

जिस विवेकका परिचय आपने श्रीमतीजीकी धार्मिक भावनाओंको बनाये रखने और उनके समाधिमरण एवं दानकार्य में सब तरहसे सहायक होनेमें दिया उससे भी अधिक विवेक की आवश्यकता आपको इस समय अपनेको संभालने और अपने आत्माका उत्थान करनेके लिये है, और वह विवेक वस्तु-स्वरूपके गंभीरचिन्तन तथा सत्संगतिके प्रतापसे सहज ही सिद्ध हो सकता है। आशा है वह आपको ज़रूर प्राप्त होगा।

श्रीमतीजीके दान-द्रव्यमेंसे आपने वीरसेवामन्दिरको, उस की ग्रन्थमालाके लिये, जो पाँच हज़ारकी रकम प्रदान की है, इसके लिये मैं और यह संस्था दोनों ही आपके बहुत आभारी हैं। आपकी इस सहायतासे 'जैनलक्षणावली' का काम जो कुछ समयसे सहयोगके अभावमें बन्द पडा था वह अब तेज़ी से चलाया जायगा, और आपकी इच्छानुसार लक्षणावलीमें लक्षणोंका हिन्दी सार अथवा अनुवाद भी लगाया जाकर उसे शीघ्र प्रकाशित किया जायगा।

अन्तमें सद्गत आत्माके लिये श्रद्धांजलि अर्पण करता हुआ मैं यह दृढ भावना करता हूं कि श्रीमतीजीका सद्धर्म खूब फले और उन्हें परलोकमें यथेष्ट सुख-शान्तिकी प्राप्ति होवे।

जुगलकिशोर मुख़्तार

तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

तत्त्वार्थसूत्र जैनसमाजका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें थोड़े थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ समान रूपसे माना जाता है। इसके कर्त्ता आचार्य उमास्वाति अपने समयके एक बहुत ही बड़े विद्वान् हो गये हैं, जिन्हें कुछ शिलालेखोंमें 'तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी' और 'श्रुतकेवलिदेशीय' तक लिखा है। दिग० सम्प्रदायमें आप 'उमास्वामी' और 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामोंसे भी प्रसिद्ध हैं। तत्त्वार्थसूत्रकी अधिकांश प्रतियोंमें कर्ताविषयक जो एक प्रशस्ति-पद्य लिखा मिलता है उसमें उमास्वातिको 'गृद्धपिच्छोपलक्षित' लिखा है †। 'गृद्धपिच्छ' आपका उपनाम था, जो किसी समय गृद्ध के पँखोंकी पीछी धारण करनेके कारण प्रसिद्ध हुआ था। गृद्धपिच्छाचार्य नामका उल्लेख श्रीविद्यानंद आचार्यने अपने 'श्लोकवार्तिक' में और श्री वीरसेनाचार्यने अपनी 'धवला' टीकामें किया है ❀। इनके अतिरिक्त श्रवण बेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें उमास्वाति नामके साथ गृद्धपिच्छाचार्य नामका भी स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है और एक शिलालेखमें उनके इस नामका उक्त कारण भी बतलाया है ‡। इन शिलालेखोंमें उमास्वातिको 'तदन्वये' और 'तदीये वंशे' जैसे पदोंके द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्यका वंशज सूचित किया है और नन्दी संघकी पट्टावलिमें उन्हें कुन्दकुन्दका पट्टशिष्य लिखा है ❀। इससे प्रकट रूपमें उमास्वाति दिगम्बर आचार्य जान पड़ते हैं। दिगम्बर समाजमें आपके तत्त्वार्थसूत्र का प्रचार भी सबसे अधिक है और सबसे अधिक टीकाएँ भी इसपर दिगम्बर विद्वानों द्वारा ही लिखी गई हैं।

लेखक

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उमास्वाति

---

† तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृध्रपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामि(ति)मुनीश्वरम्॥

❀ एतेन गृध्रपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ताप्रकृतसूत्रे। —श्लोकवार्तिक

तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्ते वि—"वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य" इदि दव्वकालो परूविदो। —धवला, जीवट्ठाण, अनु० ४

‡ श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा
ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्य-
च्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः॥

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोमावाचार्य्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी॥
—शिलालेख नं० ४०,४२,४३,४७,५०

बभूव यबन्तर्म्मणिवन्मुनीन्द्रस्मकोण्डकुन्दोदित-चण्डदण्डः।१०
अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन॥११॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृध्रपक्षान्।
तदाप्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्य्यशब्दोत्तरगृध्रपिच्छं॥१२॥
—शिलालेख नं० १०८

❀ देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर, प्रथमभाग, किरण ३-४, पृ० ७८

को श्वेताम्बराचार्य माना जाता है और तत्त्वार्थसूत्र पर पाये जाने वाले एक भाष्यको उन्हींका स्वोपज्ञ भाष्य बतलाया जाता है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध माननीय विद्वान् पं० सुखलालजी, भाष्यको स्वोपज्ञ मानते हुए भी, तत्त्वार्थसूत्रके अपने गुजराती अनुवादको प्रकाशित करनेके समय तक और उसके बाद भी कुछ अर्से तक उमास्वातिको दिगम्बर या श्वेताम्बर सम्प्रदायी न मानकर जैनसमाजका एक तटस्थ विद्वान् मानते थे और उनकी इस तटस्थताके कारण ही दोनों सम्प्रदायों द्वारा उनकी कृतिका अपनाया जाना बतलाते थे। लेकिन हालमें उन्होंने उक्त सूत्रका जो अपना हिन्दी-विवेचन प्रकाशित कराया है उसके साथके वक्तव्यमें, यह सूचना करते हुए कि—"पहले के कुछ विचार जो बादमें विशेष आधार वाले नहीं जान पड़े उन्हें निकालकर उनके स्थानमें नये प्रमाणों और नये अध्ययनके आधार पर खास महत्वकी बातें लिखदी हैं।" स्पष्ट घोषणा की है कि—"उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे (दिगम्बरके नहीं) और उनका सभाष्यतत्त्वार्थ (सूत्र) सचेल पक्षके श्रुतके आधार पर ही बना है।" पं० जीके इस विचार-परिवर्तनका प्रधान कारण स्थानकवासी मुनि उपाध्याय आत्माराम जीकी लिखी हुई 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागमसमन्वय' नाम की पुस्तक जान पड़ती है, जिसमें श्वेताम्बर और स्थानकवासी दोनों सम्प्रदायोंके द्वारा मान्य ३२ आगम-ग्रन्थों परसे तत्त्वार्थसूत्रकी तुलना करके यह सूचित किया गया है कि 'इन ग्रन्थों परसे आवश्यक विषयोंका संग्रह करके तत्त्वार्थसूत्र बनाया गया है', और जिसे देखकर पं० सुखलालजी 'हर्षोत्फुल्ल' हो उठे हैं और उन्होंने उसमें तत्त्वार्थसूत्रकी प्राचीन आधार-विषयक अपनी विचारणाका मूर्तरूपमें दर्शन होना लिखा है। अस्तु; तुलना कैसी की गई, यह विचार यहां अप्रस्तुत है और वह एक स्वतन्त्र लेख का ही विषय है। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूं कि जिन श्वेताम्बर आगमोंपरसे उक्त 'समन्वय' में तुलना की गई है वे अपने वर्तमानरूप के लिये श्रीदेवर्द्धिगणी क्षमाश्रमणके आभारी हैं—देवर्द्धिगणीने ही उनका इधर उधर से संकलन और संशोधनादिक करके उन्हें वर्तमानरूप दिया है। और देवर्द्धिगणीका यह कार्य वीर-निर्वाण सं० ९८० (वि० सं० ५१०) का माना जाता है। तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता उनसे पहले हो गये हैं, जिनका समय पं० सुखलालजीने भी "प्राचीनसे प्राचीन विक्रमकी पहली शताब्दी और अर्वाचीनसे अर्वाचीन समय तीसरी-चौथी शताब्दी" माना है। ऐसी हालतमें श्वेताम्बर आगम-ग्रंथों पर तत्त्वार्थसूत्रकी छायाका पड़ना बहुत कुछ स्वाभाविक तथा संभाव्य है, और यह हो सकता है कि तत्त्वार्थसूत्रकी कुछ बातोंको बादमें बनाये जाने वाले इन आगम-ग्रंथोंमें शामिल कर लिया गया हो; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि तत्त्वार्थसूत्रके मूलाधार वर्तमानके श्वेताम्बरीय आगम-ग्रंथ हैं अथवा तत्त्वार्थसूत्र उन्हींके आधार पर बना है। हाँ, उक्त तुलनात्मक समन्वय परसे इतना नतीजा ज़रूर निकाला जा सकता है कि तत्त्वार्थसूत्रके अधिकांश विषयोंकी संगति वर्तमानमें उपलब्ध होने वाले श्वेताम्बरीय आगमोंके साथ भी ठीक बैठती है, और इसलिये जो आगमोंसे प्रेम रखते हैं उन्हें तत्त्वार्थसूत्र को भी उसी प्रेमकी दृष्टिसे देखना चाहिये।

जहाँ तक मैं समझता हूँ पं० सुखलालजीका उक्त मन्तव्य अभी एकांगी है—अन्तिम निर्णय नहीं है—निर्णयके समय उनके सामने दूसरा प्राचीन साहित्य

उपस्थित नहीं था, जो साहित्य उपस्थित था उसीपर से वे अपना उक्त मन्तव्य स्थिर करनेके लिये बाध्य हुए जान पड़ते हैं। और इसीसे आप अपने हिन्दी-विवेचन-सहित तत्त्वार्थसूत्रकी 'परिचय' नामक प्रस्तावनामें लिखते हैं—"वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए दिगम्बरमें नहीं ऐसा खुद मेरा भी मन्तव्य अधिक वाचन-चिन्तनके बाद आज पर्यंत स्थिर हुआ है।" साथ ही, अपनी यह अभिलाषा भी व्यक्त करते हैं कि "दिगम्बर परम्परामें विद्यमान और सर्वत्र आदरप्राप्त जो प्राचीन प्राकृत-संस्कृत शास्त्र हैं उनके साथ भी तत्त्वार्थ (सूत्र) का समन्वय दिखाया जाय।" ऐसी हालतमें यदि आपके सामने दूसरा प्राचीन साहित्य आए तो आपका उक्त मन्तव्य बदल भी सकता है।

तत्त्वार्थसूत्रके मूल आधारको मालूम करनेके लिये उन बीजोंको खोजनेकी खास जरूरत है जिनसे इस तत्त्वार्थशास्त्रके सूत्रोंका शब्द अथवा अर्थरूपमें उद्भव संभव हो और जिनका अस्तित्व इस सूत्रग्रंथकी उत्पत्तिसे पहले पाया जाता हो। ऐसे बीजोंकी खोजके लिये दिगम्बर सम्प्रदायके कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत आगमग्रंथों और श्री भूतबल्यादि-आचार्य-विरचित 'षट्खण्डागम' जैसे प्राचीन ग्रंथ बहुत ही उपयुक्त हैं; क्योंकि ये सब ग्रंथ तत्त्वार्थसूत्रसे पहलेके बने हुए हैं। मेरी इच्छा बहुत दिनोंसे इन ग्रंथोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेकी थी; परन्तु अवसर नहीं मिल रहा था और इधर षट्खण्डागमादिको लिये हुए धवलादि ग्रंथोंकी प्राप्तिका अपने पास कोई साधन भी नहीं था। इससे इच्छा पूर्ण नहीं होरही थी। हालमें पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार (सम्पादक 'अनेकान्त') 'जैनलक्षणावली' आदि कार्योंके लिये देहली आदिसे धवलादिकी प्रतियाँ प्राप्त करनेमें सफल होसके हैं, और जब यह निश्चय होगया कि 'अनेकान्त' को अब वीर-सेवा-मन्दिर से ही निकाला जायगा तब आपका यह अनुरोध हुआ कि तत्त्वार्थ-सूत्रके बीजोंकी खोज अब जरूर होनी चाहिये और वह अनेकान्तके इसी विशेषाङ्कमें जानी चाहिये। यद्यपि समय बहुत कम रह गया था, फिर भी मैंने दिनरात परिश्रम करके श्री कुन्दकुन्दाचार्यके उपलब्ध ग्रंथों और 'धवला' टीकामें पाए जाने वाले षट्खण्डागमपर एक सरसरी नजर डाल कर तत्त्वार्थ-सूत्रके बीजोंकी जो खोजकी है उसे मैं आज इस लेखके साथ अनेकान्तके पाठकोंके सामने रख रहा हूं। खोजके समय मेरी दृष्टि शुरू शुरूमें शब्दशः बीजोंके संग्रहकी ओर रही और बादमें वह अर्थशः बीजोंके संग्रहकी ओर भी प्रवृत्त हुई; इस दृष्टिभेद, सरसरी नजर और शीघ्रताके कारण कुछ बीजोंका छूट जाना संभव है, जिन्हें पुनः अवलोकनके अवसरपर संग्रह करके प्रकट किया जायगा। इसके सिवाय, 'महाबन्ध' नामका जो विस्तृत छठा खण्ड है और जो षट्खण्डागमके पहले पाँच खण्डोंसे पंचगुना बड़ा है वह अद्यावधिपर्यंत मुझे देखनेको नहीं मिला—उसकी प्रति अभी तक मूडबिद्रीके भण्डारसे बाहर ही नहीं आई है। उसमें तत्त्वार्थसूत्रके बहुतसे बीजोंकी भारी संभावना है। यह ग्रंथ जब प्राप्त होगा तभी उसपरसे शेष बीजोंकी खोज की जायगी। क्या ही अच्छा हो, यदि कोई उदार महानुभाव मूडबिद्रीसे उसकी शीघ्र कापी कराकर उसे वीरसेवामन्दिरको भिजवा देवें। ऐसा होनेपर खोजका यह काम जल्दी ही सम्पन्न तथा पूर्ण हो सकेगा। अस्तु।

वर्तमानमें जो खोज पाठकोंके सामने रक्खी जाती है उससे यह बिल्कुल स्पष्ट है और विद्वानोंको विशेष बतलानेकी जरूरत नहीं रहती कि तत्त्वार्थ-सूत्रके बीज प्राचीन दिगम्बर-साहित्यमें प्रचुरताके साथ पाए जाते हैं, और वे सब इस बातको सूचित करते हैं कि तत्त्वार्थसूत्रका मूल आधार दिगम्बरीय आगम-साहित्य है, और इसलिये वह एक दिगम्बर ग्रंथ है, जैसी कि दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है। यह खोज ऐतिहासिकों तथा संशोधकोंके लिये बहुत ही उपयोगी तथा कामकी चीज होगी और वे इसे साथमें लेकर तत्त्वार्थसूत्रके मूलस्रोतका अथवा

आधारका ठीक पता लगानेमें सफलमनोरथ हो सकेंगे, ऐसी दृढ़ आशा है। साथ ही यह भी आशा है कि जो विद्वान् उपाध्याय आत्मारामजीके 'तत्त्वार्थ-सूत्र-जैनागमसमन्वय' को लेकर यह एकांगी (एक तरफा) विचार स्थिर कर चुके हैं कि 'तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर ही बना है' अथवा 'उसके सूत्रोंकी आधारशिला श्वेताम्बर परम्परामें उपलब्ध जैनागम ही हैं' उन्हें अपने उस विचारको क़ायम रखनेके लिये अब बहुत ही ज्यादा सोचना तथा विचारना पड़ेगा।

खोजको सामने रखनेसे पहले एक बात और भी प्रकट कर देने की है और वह यह कि, दिगम्बरीय श्रुत 'मूलाचार' में तत्त्वार्थसूत्रोंके बहुतसे बीज पाये जाते हैं; परन्तु मूलाचारका विषय चूँकि अभी विवादापन्न है— उसके समय तथा कर्तृत्व-विषयका ठीक निर्णय नहीं हुआ—इस लिये खोजमें उसपरसे बीजोंका संग्रह नहीं किया गया। मूलाचारकी कुछ पुरानी प्रतियोंमें उसे कुन्दकुन्दाचार्यका बनाया हुआ लिखा है *। कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रंथोंके साथ उसके साहित्यादिका मेल भी बहुत कुछ है, और धवला टीकामें 'तहा आयारंगे वि वुत्तं' जैसे वाक्यके साथ जिस गाथाको उद्धृत किया गया है वह उसमें पाई जाती है— श्वेताम्बरीय आचाराङ्गमें नहीं। नाम भी उसका वास्तवमें 'आचार' शास्त्र ही जान पड़ता है। इसीसे टीकाको 'आचार-वृत्ति' लिखा है। आचारके पूर्व 'मूल' शब्द बादको जोड़ा हुआ मालूम होता है— मूलग्रंथ परसे उसकी कोई उपलब्धि नहीं होती। जिस प्रकार भगवती आराधनाकी टीका लिखते समय पं० आशाधरजीने अपनी टीकाको 'मूलाराधनादर्पण' नाम देकर ग्रंथके नामके साथ 'मूल' विशेषण जोड़ा है उसी प्रकार किसीटीकाकार के द्वारा 'आचार' नामके साथ यह 'मूल' विशेषण जोड़ा गया जान पड़ता है। बाकी 'आचार' यह नाम द्वादशांगवाणीके प्रथम अंग (आचाराङ्ग) का है ही। अतः धवला द्वारा 'आचाराङ्ग' नामसे इसका उल्लेख इस ग्रंथके अतिप्राचीन होनेको सूचित करता है। कुछ भी हो, इस विषयमें प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय आजकल विशेष खोज कर रहे हैं और अपनी भी खोज जारी है। यदि खोजसे 'मूलाचार' ग्रन्थ कुन्द-कुन्दकृत सिद्ध हो गया अथवा यह स्पष्ट हो गया कि इस ग्रन्थका निर्माण तत्त्वार्थसूत्रसे पहले हुआ है तो इस ग्रन्थ परसे भी तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंका वह संग्रह किया जायगा जो इस समय छोड़ दिया गया है।

* ऐसी एक प्रति 'ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवन' बम्बईमें भी मौजूद है।

अब तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज अध्यायक्रम और सूत्रक्रमसे नीचे दी जाती है। जिन सूत्रोंके बीज अभी तक उपलब्ध नहीं हुए उन्हें छोड़ दिया गया है। तत्त्वार्थके सूत्रोंको मोटे टाइपमें ऊपर रक्खा गया है और नीचे उनके बीजसूत्रोंको दूसरे टाइपमें दे दिया गया है। षट्खण्डागमके सिवाय और जितने ग्रन्थोंके नाम बीज सूत्रोंके साथमें, उनका स्थान निर्देश करनेके लिये, उल्लिखित हैं वे सब श्रीकुन्दकुन्दाचार्य के ग्रंथ हैं। षट्खण्डागममें एक एक विषयके अनेक बीजसूत्र भी पाये जाते हैं, जिनमेंसे कुछको लेख बढ़ जानेके भयसे छोड़ दिया है और कुछको ले लिया गया है। उदाहरणके तौरपर कर्मप्रकृतियोंका विषय जीवस्थान (प्रथमखण्ड) की 'प्रकृतिसमुत्कीर्तन' नाम की प्रथमचूलिकामें आया है और चौथे खण्डमें प्रारम्भ होनेवाले 'कदि' आदि २४ अनुयोगद्वारोंमेंसे ५ वें पयडि (प्रकृति) नामके अनुयोगद्वारमें भी पाया जाता है; यहां 'पयडि' अनुयोगद्वारसे ही उस विषय के बीजसूत्रोंका संग्रह किया गया है। अनेक बीजसूत्र ऐसे भी हैं जिनमें विवक्षित तत्त्वार्थसूत्रका एक एक अंश ही पाया जाता है और वे इस बातको सूचित करते हैं कि वह तत्त्वार्थसूत्र अनेक बीजसूत्रों का आशय लेकर बनाया गया है, उनमेंसे जिनजिन अंशोंके बीजसूत्र मिले हैं उन्हें साथमें प्रकट कर दिया गया है और शेषके लिये खोज जारी है :—

पहला अध्याय

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि ।

—पंचास्तिकाय १६४

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥

—पंचास्तिकाय १०६

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादी परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥

—समयसार १५५

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं ॥२॥

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं ।

—दर्शनपाहुड २०

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं........ ....॥

—पंचास्तिकाय १०७

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणिया पुरिसा ।
अंतरहेयो भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥

—नियमसार १५३

**जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरा-
मोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥**

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाइं सत्ततच्चाइं ।

—भावप्राभृत ६५

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवर णिज्जर बंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ॥

—पंचास्तिकाय १०८

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः ॥५॥

चउव्विहो पयडिणिक्खेवो णामपयडी, ठवण-पयडी, दव्वपयडी भावपयडी चेदि ❀ । ३ ।

—षट्खंडागम

**सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्प-
बहुत्वैश्च ॥८॥**

संतपरूवणा, दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो, फोसणाणुगमो, कालाणुगमो अंतराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ।

—षट्खंडागम, जीवट्ठाण ७

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।९।

आभिणिसुदोहिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि ।

—पंचास्तिकाय ४१

आभिणि सुदोहि मणकेवलं..................॥

—समयसार २०४

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

प्रत्यक्षमन्यत ॥१२॥

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥
जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥

—प्रवचनसार १-५७, ५८

आभिणिबोहिय सुदओहिणाणिमणणाणि सव्वणाणी य ।
वंदे जगप्पदीवे पच्चक्खपरोक्खणाणी य ॥१९॥

—योगिभक्ति १६

❀ षट्खण्डागमके इस सूत्रमें जिसप्रकार निक्षेपके चारभेदोंका पयडी (प्रकृति) के साथ उल्लेख किया गया है उसी प्रकार अन्य अनेक स्थानोंपर 'वेयणा' (वेदना) आदिके साथ भी उल्लेख किया है। इससे सूत्रकथित निक्षेपके ये चारों भेद षट्खण्डागमसम्मत हैं।

मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध-इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

सण्णा सदि मदि चिंता चेदि ॥
आभिणिबोहियणाणी……॥

—षट्खंडागम

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

चउव्विहं ताव ओग्गहावरणीयं, ईहावरणीयं, अवायावरणीयं, धारणावरणीयं चेदि । २२ ।

—षट्खण्डागम,

उग्गहईहावायाधारणगुणसंपदेहि संजुत्ता ॥

—आचार्यभक्ति ३

अर्थस्य ॥ १७ ॥

चक्खिंदिय अत्थोग्गहावरणीयं, सोदिंदिय अत्थोग्गहावरणीयं, घाणिंदिय अत्थोग्गहावरणीयं जिब्भिंदिय अत्थोग्गहावरणीयं, फासिंदिय अत्थोग्गहा-वरणीयं, णोइंदिय अत्थोग्गहावरणीयं. तं सव्वं अत्थो-ग्गहावरणीयं णामकम्मं ॥ २७ ॥

—षट्खंडागम

व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

जं तं वंजणोग्गहावरणीयं णामकम्मं तं चउव्विहं सोदिंदिय—वंजणोग्गहावरणीयं, घाणिंदिय-वंजणो-ग्गहावरणीयं, जिब्भिंदिय वंजणोग्गहावरणीयं, फासिं-दियवंजणोग्गहावरणीयं चेव ॥ २५ ॥

—षट्खण्डागम

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदं ॥२०॥

आयारं सुद्दयडं ठाणं समवाय विहायपण्णत्ती ।
णायाधम्मकहाओ उववासयाणं च अज्झयणं ॥
वंदे अंतयडदसं अणुत्तरदसं च पण्हवायरणं ।
एयारसमं…… विवायसुत्तं णमंसामि ॥
परियम्मसुत्तपढमाणुओयपुव्वगयचूलिया चेव ।
पवरवर दिट्ठिवादं तं पंचविहं पणिवदामि ॥

—श्रुतभक्ति २, ३, ४

भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां ॥२१॥

जं तं भवपच्चइयं तं देवणेरइयाणं ॥५१॥

—षट्खण्डागम

क्षयोपशमनिमित्तःषड्विकल्पःशेषाणाम् ।२२

जं तं गुणपच्चइयं तं तिरिक्खमणुस्साणं ॥५१॥

तं च अणेयविहं—देसोहि परमोहि सव्वोहि, हीयमाणं, वड्ढमाणगं, अवट्ठिदं, अणवट्ठिदं, अणु-गामि, अणणुगामि सप्पडिवादि अप्पडिवादि एय-क्खेत्तमणेयक्खेत्तं ॥५२॥

—षट्खण्डागम

ऋजुविपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥

विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२४॥

मणपज्जवणाणावरणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ उजुमदिमणपज्जवणाणावरणीयं चेव, विउलमदि-मणपज्जवणाणावरणीयं चेव ॥५७॥ जं तं उजुमदि मणपज्जवणाणावरणीयं णामकम्मं तं तिविहं उजुगमणोगदं जाणदि, उजुगं वचिगदं जाणदि उजुगं कायगदं जाणदि ॥५८॥ मणेण माणसं पडि-विंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि मदिचिंता जीविदमरणं लाहालाहं सुहदुक्खं णगरविणासं देसविणासं कव्वडविणासं मडंबविणासं पट्टणविणासं दोण-मुहविणासं अइवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभि-क्खं दुब्भिक्खं खेमाखेमभयरोगकालसंजुत्ते अत्थे-विजाणादि ॥५९॥ किंचि भूओ अप्पणो परेसिं च वत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि ण अवत्तमाणाणं

जीवाणं जाणदि ॥६०॥ कालदो जहण्णेण दो तिण्णि भवग्गहणाणि ॥६१॥ उक्कस्सेण सत्तट्ठभवग्गहणाणि ॥६२॥ जीवाणं गदिमागदिं पदुप्पादेदि ॥६३॥ खेत्तादो ताव जहण्णेण गाउवपुधत्तं उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भंतरदो णो बहिद्धा ॥६४॥ तं सव्वं उज्जुमदि मणपज्जवणाणावरणीयं णामकम्मं ॥६५॥

जं तं विउलमदि मणपज्जवणाणावरणीयं णामकम्मं तं छव्विहं — उजुगमणुज्जुगंमणोगदं जाणदि उजुगमणुज्जगंवचिगदं जाणदि उजुगमणुज्जगं कायगदं जाणदि ॥६६॥ मणेणमाणसं पडिविदंइत्ता ॥६७॥ परेसिं सण्णा सदिमदिचिंता जीविदमरणं लाहालाहं सुहदुक्खं णयरविणासं देसविणासं जणवयविणासं खेत्तविणासं कव्वडविणासं मडंबविणासं पट्टणविणासं दोणामुहविणासं अदिवुट्ठि अणावुट्ठि सवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेम-भयरोगकालसंजुत्ते अत्थे जाणदि ॥६८॥ किंचि-भूओ अप्पणोपरेसिं च वत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि-अवत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि ॥६९॥ कालदो तावजहण्णेण सत्तट्ठभवग्गहणाणि उक्कस्सेण असंखेज्जाणि भवग्गहणाणि ॥७०॥ जीवाणं गदिमागदिंपदुप्पादेदि ॥७१॥ खेत्तादो तावजहण्णेण जोयणपुधत्तं ॥७२॥ उक्कस्सेण माणुसुत्तर-सेलस्स अब्भंतरादो णो बहिद्धा ॥७३॥ तं सव्वं विउलमणपज्जव णाणावरणीयं णामकम्मं ॥७४॥

—षट्खण्डागम, पयडिअणुयोगद्दार

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥

तं च केवलणाणं सगलं संपुण्णं असवत्तं ॥७७॥ सइंभयवं उप्पण्णणाणदरिसी स देवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिंठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कंकलं माणेमाणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति । षट्खण्डागम ॥७८॥

मतिश्रुतावधयोविपर्ययश्च ॥३१॥

···मदि अण्णाणी सुदअण्णाणी विभंगणाणी···।

—षट्खण्डागम, सत्प्ररूपणा ११५

कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहि संजुत्ते ।

—पंचास्तिकाय, ४१

नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः नयाः ॥३३॥

णेगमववहारसंगहा सव्वाओ ॥४॥ उजुसुदो-ट्ठवणं णेच्छदि ॥५॥ सद्दणओ णामवेयणं भाववेयणं च इच्छदि किमिदि दव्वं णेच्छदि ॥६॥

—षट्खण्डागम

दूसरा अध्याय

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥१॥

चदुण्हमुवसमगोत्ति को भावो उवसमिओ भावो ॥ ॥ चदुण्हं खवा सजोगिकेवली अजोगिकेवलित्ति को-भावो खइओभावो ॥८॥ सम्मामिच्छादिट्ठित्ति को-भावो खओवसमओभावो ॥४॥ ओदइएण भावा-पुणो असंजदो ॥६॥ सासणसम्मादिट्ठित्ति को भावो पारिणामिओभावो ॥३॥

—षट्खण्डागम, जीवट्ठाण, भावाणुयोगद्दार

उदएण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सदेहिं परिणामे ।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसुयअत्थेसु विच्छिण्णा ॥

—पंचास्तिकाय, ५७

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम्।२

[इस सूत्रमें पंचभावोंके उत्तरभेदोंकी जिस संख्याका क्रमशः निर्देश किया है वह षट्खण्डागम में भावोंके उत्तरभेदोंके कथनसे प्रायः उपलब्ध हो जाती है अथवा ग्रहण की जासकती है ।]

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

······उवसमियं सम्मत्तं उवसमियं चारित्तं जे चामण्णे एवमादिया उवसमियभावा······॥१६॥

—षट्खण्डागम

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोग-वीर्याणि च ॥ ४ ॥

····· खइयसम्मत्तं, खइयचारित्तं, खइयादाणलद्धी, खइयालाहलद्धी, खइयाभोगलद्धी, खइया परिभोगलद्धी, खइयावीरियलद्धी, केवलणाणं, केवल दंसणं, सिद्धे, बुद्धे, परिणिव्वुदे सव्वदुक्खाणमंतयडे त्ति जे चामण्णे एवमादिया खइया भावा······॥१५॥

—षट्खण्डागम

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्च-भेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमाऽसंय-माश्च ॥५॥

······खओवसमियं मदिअण्णाणित्ति वा, खओवसमियं सुअण्णाणित्ति वा, खओवसमियं विभंगणाणित्ति वा, खओवसमियं आभिणिबोहियणाणित्ति वा, खओवसमियं सुदणाणित्ति वा, खओवसमियं ओहिणाणित्ति वा, खओवसमियं मणपज्जवणाणित्ति वा, खओवसमियं चक्खुदंसणित्ति वा, खओवसमियमचक्खुदंसणित्ति वा, खओवसमियं ओहिदंसणित्ति वा, खओवसमियं सम्मामिच्छत्तिलद्धित्ति वा, खओवसमियं सम्मत्तलद्धित्ति वा, खओवसमियं संजमासंजमलद्धित्ति वा, खओवसमियं संजमलद्धित्ति वा, खओवसमियं दाणलद्धित्ति वा, खओवसमियं लाहलद्धित्ति वा, खओवसमियं भोगलद्धित्ति वा, खओवसमियं परिभोगलद्धित्ति वा, खओवसमियं वीरियलद्धित्ति वा·········॥१८॥ —षट्खण्डागम

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

······देवेत्ति वा, मणुस्सेत्ति वा, तिरिक्खेत्ति वा, णेरइएत्ति वा, इत्थिवेदेत्ति वा, पुरिसवेदेत्ति वा, णवुंसयवेदेत्ति वा, कोहवेदेत्ति वा, माणवेदेत्ति वा, मायावेदेत्ति वा, लोहवेदेत्ति वा, रागवेदेत्ति वा, दोसवेदेत्ति वा, मोहवेदेत्ति वा, किण्हलेस्सेत्ति वा, णीललेस्सेत्ति वा काउलेस्सेत्ति वा, तेउलेस्सेत्ति वा, पम्मलेस्सेत्ति वा, सुक्कलेस्सेत्ति वा, असंजदेत्ति वा, अविरदेत्ति वा, अण्णाणेत्ति वा, मिच्छादिट्ठित्ति वा, जे चामण्णे एवमादिया कम्मोदयपच्चइया विवागणिप्फण्णा भावा सो सव्वो विवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम । ॥ १४ ॥

—षट्खण्डागम

जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

भवियाणुवादेण भवसिद्धिओणाम कधं भवदि ॥ ६३ ॥ पारिणामिएण भावेण ॥ ६४ ॥

—षट्खण्डागम

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

जीवो उवओगलक्खणो णिच्चो

समयसार गा० २४

स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

णाणाणुवादेण अत्थि मदिअण्णाणि, सुद-

अण्णाणी, विभंगणाणी, आभिणिबोहियणाणी, सुद-णाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी, केवलणाणी चेदि। —षट्खण्डागम १, १, ११५

दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी, अचक्खु-दंसणी, ओहिदंसणी, केवलदंसणी चेदि। —षट्खण्डागम १, १, १३१

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि॥
आभिणिसुदोहिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि।
कुमदिसुदविभंगाणिय तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते॥
दंसणमविचक्खुजुदं अचक्खुजुदमवियओहिणा सहियं।
अणिधणमणंतविषयं केवलियं चावि पण्णत्तं॥
—पंचास्तिकाय ४०, ४१, ४२।

उवओगो णाणदंसणं भणिदो. —प्रवचनसार २, ६३

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा। —पंचास्तिकाय १०९

समनस्काऽमनस्काः ॥११॥

सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी। —षट्खण्डागम १, १, १७२

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥

द्वीन्द्रियादयस्त्रसाः ॥१४॥

कायाणुवादेण अत्थि पुढविकाइया, आउकाइया, तेउ-काइया, वाउकाइया, तसकाइया, वणप्फइकाइया, अकाइयाचेदि।३९।

तसकाइया, बीइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।४४।
—षट्खण्डागम १, १, ३९, ४४

पुढवी यउदगमगणीवाउवणप्फदिजीवसंसिदा काया —पंचास्तिकाय, ११०

पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि ॥१९॥

स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥

इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया, बीइंदिया, तीइंदिया, चदुरिंदिया, पंचिंदिया, अणिंदिया चेदि। —षट्खण्डागम, १, १, ३३

[इंद्रियविषयोंके नामोंके लिये देखो आगे उद्धृत पंचास्तिकायकी गाथा नं० ११६, ११७]

वनस्पत्यन्तानामेकं ॥ २२ ॥

एदे जीवणिकाया पंचविहा पुढविकाइयादीया।
मणपरिणामविरहिया जीवा एगेंदिया भणिया॥
—पंचास्तिकाय ॥११२॥

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३ ॥

संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा॥
जूगा गुंभी मक्कणपिपीलियाविच्छियादिया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा॥
उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरापतंगमादीया।
रूपं रसं च गंधं फासं पुण तेवि जाणंति॥
सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू।
जलचर थलचर खचरा वलिया पंचेंदिया जीवा॥
—पंचास्तिकाय, ११४, ११५, ११६, ११७

अनुश्रेणिः गतिः ॥ २६ ॥

....विदिसावज्जं गदिं जंति —पंचास्तिकाय ७३

विग्रहगतौ कर्मयोगः॥ २५ ॥

अविग्रहाजीवस्य ॥२७॥ विग्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

एकसमयोऽविग्रहा ॥ २९ ॥

एकंद्वौ त्रीन्वानाहारकः ॥ ३० ॥

कम्मइकायजोगी केवचिरं कालादो होंदि, ११० ॥

जहण्णेण एकसमयो ॥ १११ ॥

उक्कस्सेण तिण्णिसमया ॥ ११२ ॥

अणाहारा केवचिरं कालादो होंति ॥ २१२ ॥

उक्कस्सेण तिण्णिसमया ॥ २१३ ॥

—षट्खण्डागम

औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसका-र्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥

जं तं सरीरणामं तं पंचविहं—ओरालियसरीरणामं, वेउव्वियसरीरणामं, आहारसरीरणामं, तेजइयसरीरणामं कम्मइयसरीरणामं चेदि ॥९९॥

—षट्खण्डागम, पयडि अणुयोगद्दार

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ।

आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥

—प्रवचनसार, २, ७९

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात् ॥३८॥

अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥

अनादिसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥

जहण्णुक्कस्सपदेण ओरालियवेउव्विय आहारसरीरस्स जहण्णओ गुणगारो सेढीए असंखेज्जदिभागो उक्कस्सओ गुणगारो पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो ॥

तेजाकम्मइयसरीरस्स जहण्णओ गुणगारो अभवसिद्धिएहिं अणंतगुणो सिद्धाणमणंतभागो ॥

तस्सेव उक्कस्सओ गुणगारो पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो ॥

जो सो अणादिसरीरबंधो णाम ॥ ६२ ॥

—षट्खण्डागम

नारकसम्मूर्छिनो नपुंसकानि ॥५०॥

न देवाः ॥ ५१ ॥

शेषास्त्रिवेदाः ॥५२॥

णेरइया चदुसु ठाणेसु सुद्धणवुंसयवेदा ॥१०५॥

तिरिक्खा सुद्धणवुंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदियात्ति ॥१०६॥

तिरिक्खा तिवेदा········॥१०७॥

देवा चदुसुठाणेसु दुवेदा इत्थिवेदा पुरिसवेदा॥११०॥

—षट्खण्ड गम

तीसरा अध्याय

रत्नशर्कराबालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ॥८१॥

विदियादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया ॥८२॥

—षट्खण्डागम १, १, ८१, ८२

सत्तविहा णेरइया णादव्वा पुढविभेएण ।

—नियमसार १६

तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ।६।

उक्कस्सेण सागरोवमं तिण्णि सत्तादस सत्तारस बावीसं तेत्तीसं सागरोवमाणि ॥४२॥ —षट्खण्डागम

नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ।३८।

तिर्यग्योनिजानां च ॥३९॥

मणुसा मणुसपज्जत्ता मणुसिणी केवचिरं कालादो होंति ॥१८॥ जहण्णेण खुद्दाभवग्गहणमंतोमुहुत्तं ॥१९॥ उक्कस्सेण तिण्णिपलिदोवमाणि पुव्वकोडिपुधत्तेणब्भहियाणि ॥२०॥ पंचिंदियतिरिक्ख पंचिंदियतिरिक्खपज्जत्त पंचिंदियतिरिक्खजोणिणी केवचिरं कालादो होंति ॥१३॥ जहण्णेण खुद्दाभवग्गहणं अंतोमुहुत्तं ॥१४॥ उक्कस्सेण तिण्णिपलिदोवमाणि पुव्वकोडिपुधत्तेणब्भहियाणि ॥१५॥ —षट्खण्डागम

तिरिक्खाउ-मणुसाउअस्स उक्कस्सओ ठिदिबंधो-पलिदोवमाणि ॥१४८॥

तिरिक्खउअ स मणुसाउअस्स जहण्णओ ठिदि-बंधो खुद्दाभवग्गहणं ॥१६०॥

उक्कस्सेण तिण्णिपलिदोवमाणि ॥६३॥ एगजीवं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं ॥

—षट्खण्डागम, जीवट्ठाण, कालाणुगमाणुओगद्दार।

चौथा अध्याय

देवाश्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥

देवा चउण्णिकाया... —पंचास्तिकाय ११८

वैमानिकाः ॥१६॥ कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्च ॥ १७ ॥ उपर्युपरि ॥ १८ ॥

सौधर्मैशानसानत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्म-ब्रह्मोत्तरलांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयंतजयंतापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १६ ॥

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

सोधम्मीसाणप्पहुडि जाव उवरिमउवरिमगेविज्जविमाणवासियदेवा············॥ १७० ॥

अणुदिस - अणुत्तर - विजय - वइजयंत - जयंतापराजिदसव्वट्ठसिद्धिविमाणवासियदेवा··· ॥१७१॥

—षट्खण्डागम १, १, १७०, १७१

भवणवासियवाणवेंतरजोदिसिय सोधम्मीसाणकप्पवासियदेवा देवगदिभंगो ॥ १३ ॥ सणक्कुमारमाहिंदाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥१४॥ बम्हबम्हुत्तरलांतवकाविट्ठकप्पवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥१७॥ सुक्कमहासुक्कसदारसहस्सार कप्पवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥ १२० ॥ आणदपाणदआरणमच्चुदकप्पवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥ २६ ॥ अणुदिसजावअवराइदविमाणवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥ २७ ॥ सव्वट्ठसिद्धिविमाणवासियदेवाणमंतरं केवचिरं कालादो होदि ॥ ३२ ॥ —षट्खण्डागम

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके॥२६॥ सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिरधिकानि तु ॥३१॥ आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥

सोहम्मीसाणपहुडि जाव सदारसहस्सारकप्पवासियदेवा केवचिरं कालादो होंति ॥३०॥ उक्कस्सेण बे-सत्त-दस - चोद्दस - सोलस - अट्ठारस-सागरोवमाणि सादिरेयाणि ॥ ३२ ॥ आणदप्पहुडि जाव अवराइदविमाणवासियदेवा केवचिरं कालादो होंति ॥ ३३ ॥ उक्कस्सेण वीसं-बावीसं-तेवीसं-चउवीसं-पणुवीसं-छव्वीसं-सत्तावीसं-अट्ठावीसं एगुणत्तीसं-तीसं-एकत्तीसं बत्तीसं-तेत्तीसं सागरोवमाणि ॥३५॥ —षट्खण्डागम

अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनंतरा ॥३४॥

जहण्णेण पलिदोवमं बे-सत्त-दस-चोद्दस-सोलस सागरोवमाणि सादिरेयाणि ॥३१॥ जहण्णेण अट्ठारस-वीसं - बावीसं - तेवीसं - चउवीसं - पणुवीसं- छव्वीसं-सत्तावीसं-अट्ठावीसं-एगुणतीसं-तीसं-एक्कत्तीसं-बत्तीसं सागरोवमाणि सादिरेयाणि ॥ ३४ ॥ —षट्खण्डागम

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ३५ ॥

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

पढमाए पुढवीए णेरइया केवचिरं कालादो होंति ॥४॥

जहण्णेण दसवाससहस्साणि ॥ ५ ॥ बिदियाए जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया केविचिरं कालादो होंति ॥ ७ ॥ जहण्णेण एक्कतिण्णिसत्त-दस-सत्तारस बावीस सागरोवमाणि ॥ ६ ॥ —षट्खण्डागम

भवनेषु च ॥ ३७ ॥

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

परापल्योपममधिकम् ॥ ३६ ॥

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

तदष्टभागोऽपरा ॥ ४१ ॥

भवणवासियवाणवेंतरजोदिसियदेवा केविचिरं कालादो होंति ॥ २७ ॥

जहण्णेण दसवाससहस्साणि पलिदोवमस्स अट्ठमभागो ॥ २८ ॥

उक्कस्सेण सागरोवमं सादिरेयं पलिदोवमं सादिरेयं ॥ २९ ॥ —षट्खण्डागम

पांचवां अध्याय

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं ।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥४॥

आगासकालपुग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा ।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ॥ १२४ ॥

—पंचास्तिकाय ४, १२४

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥

—नियमसार ९

एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति ।
णिद्दिट्ठा जिणसमये काया हु बहुप्पदेसत्तं ॥

—नियमसार ३४

चेदणभावो जीओ चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥

—नियमसार, ३७

द्रव्याणि ॥ २ ॥

जीवाश्च ॥ ३ ॥

(कालश्च) ॥ ३९ ॥

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं ।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥

—पंचास्तिकाय ६

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥४॥

रूपिणः पुद्गला ॥ ५ ॥

ते चेव अत्थिकाया तेकालियभावपरिणदा णिच्चा ।
गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता ॥६॥

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा ।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु ॥९७॥

—पंचास्तिकाय ६, ९७

पुग्गलदव्वं मोत्तं मुत्ति विरहिया हवंति सेसाणि ।

—नियमसार ३७

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिणामा ।
पुधगुवलद्धिविसेसा करंति एगत्तमण्णत्तं ॥

—पंचास्तिकाय ९६

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

जीवा पुग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पुग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणादु ॥

—पंचास्तिकाय ९८

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥८॥

धम्माधम्मस्स पुणो जीवस्स असंखदेसा हु ।

—नियमसार ३५ उत्तरार्ध

आकाशस्याऽनन्ताः ॥९॥

लोयायासे ताव इदरस्स अणंतयं हवे देहो (सा) ।

—नियमसार ३६ पूर्वार्ध

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स ।

—नियमसार ३५ पूर्वार्ध

नाणोः ॥ ११ ॥

णिच्चो णाणवकासो ण सावकासो पदेसदो भेत्ता ।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ॥

—पंचास्तिकाय ८०

अपदेसो परमाणू ।

—प्रवचनसार २, ७१

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च ।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥९०॥
जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी ।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥८६

—पंचास्तिकाय ९०, ८७

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

ओगाढगाढणिचिओ पुग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविहेहिं ॥

पंचास्तिकाय ६४

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः॥१७॥

धम्मदव्वस्स गमणहेदुत्तं.................।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥

—प्रवचनसार २, ४१

गमणणिमित्तं धम्मं अधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च ।

—नियमसार ३०

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥
जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधम्मक्खं ।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीय ॥

—पंचास्तिकाय ८५, ८६

आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

आगासस्सवगाहो...... । —प्रवचनसार २, ४१

अवगहणं आयासं जीवादी सव्वदव्वाणं ।

—नियमसार ३०

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तहय पुग्गलाणं च ।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ।

—पंचास्तिकाय ९०

शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्१९

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा ।

—प्रवचनसार २, ६९

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

जं वा पुग्गलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा ।
काले विजुज्जिमाणा सुखदुक्खं दिंति भुंजंति ॥

—पंचास्तिकाय ६७

वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य ।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति ॥

—पंचास्तिकाय २४

स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।

—प्रवचनसार १, ५६

शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतम - श्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

संठाणा संघादा वण्णरसफासगंधसद्दा य ।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ॥

—पंचास्तिकाय १२६

अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥

अणुखंधवियप्पेण दु पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं।

—नियमसार २०

भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

भेदादणुः ॥२७॥ भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः २८

वग्गणणिरूवणदाए इमा एयपदेसियपरमाणु पोग्गलदव्ववग्गणा णाम किं भेदेण किं संघादेण किं भेदसंघादेण ॥ १ ॥

उवरिल्लीणं दव्वाणं भेदेण ॥ २ ॥

इमा दुपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम किं भेदेण किं संघादेण किं भेदसंघादेण ॥ ३ ॥

उवरिल्लीणं दव्वाणं भेदेण हेट्ठिमल्लीणं दव्वाणं संघादेण सत्थाणेण भेदसंघादेण ॥ ४ ॥

तिपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा चदु पंच छ सत्त अट्ठ णव दस संखेज्ज असंखेज्ज परित्त अपरित्त अणंत अणंताणंत पदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम किं भेदेण किं संघादेण किं भेदसंघादेण ॥ ५ ॥ —षट्खण्डागम

(इस विषयका कितना ही विस्तृत विवेचन षट्खण्डागममें किया गया है)।

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥

—पंचास्तिकाय ७७

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥३०॥ गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ३८

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥

—पंचास्तिकाय १०

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥

—प्रवचनसार २, ३

तद्भावाऽव्ययं नित्यम् ॥ ३१ ॥

तेकालियभावपरिणदो णिच्चो ॥ —पंचास्तिकाय ६।

अर्पिताऽनर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥

—पंचास्तिकाय १०

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः॥३३॥न जघन्यगुणानाम् ॥३४॥ गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥३५॥ द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥३६॥ बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥

जो सो थप्पो सादियविस्ससा बंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो वेमादा णिद्धदा वेमादा लुक्खदा बंधो ।३२।

समणिद्धदा समलुक्खदा भेदो ॥ ३३ ॥

णिद्धा णिद्धा ण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥३४॥

वेमादा णिद्धदा वेमादा लुक्खदा बंधो ॥ ३५ ॥

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥ ३६ ॥ —षट्खण्डागम

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदि परिहीणा ॥
णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥

—प्रवचनसार २, ७३, ७४

कालश्च ॥३९॥ सोऽनन्तसमयः ॥ ४० ॥

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं।

—नियमसार ९

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासो दु अयण संवच्छरोत्ति कालो परायत्तो ॥

—पंचास्तिकाय २४

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥

—पंचास्तिकाय, १३

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ॥

—प्रवचनसार २, १२

छठा अध्याय

कायवाङ्मनः कर्मयोगः ॥१॥ स आस्रवः ॥२॥

जोगणिमित्तं गहणं, जोगो मणवयणकायसंभूदो।

—पंचास्तिकाय १४८

शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य ॥३॥

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥१३५॥
चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥१३९॥

—पंचास्तिकाय १३५, १३९

सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥४॥

तं छदुमत्थवीयरायाणं सजोगिकेवलीणं तं सव्वमीरियावहकम्मं णाम।

—षट्खण्डागम

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए पवयणभत्तीए वच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणणाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहिं सोलसेहिं कारणेहिं जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति ॥४१॥

—षट्खंडागम

सातवाँ अध्याय

हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥ देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

थूलेतसकायवहे थूले मोसे तितिक्खथूले य।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२३॥
हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य।
तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥२९

—चारित्रपाहुड २३, २९

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥

[इस सूत्रके विषयकी उपलब्धि अगले सूत्रोंकी तुलनामें बीजरूपसे उद्धृत चारित्रपाहुडकी गाथाओंसे होजाती है, जो भावनाओंकी पांच पांच संख्याको लिये हुए है।]

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥४॥

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाएऽहिंसाए भावणा होंति ॥३१॥

—चारित्रप्राभृत ३१

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ॥ ५ ॥

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव।
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥ ३२ ॥

—चारित्रप्राभृत ३२

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माऽविसंवादाः पञ्च ॥६॥

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं परोधं च।

एसणसुद्धिसउंछं साहम्मीसं विसंवादं ॥ ३३ ॥

—चारित्रप्राभृत, ३३

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षण पूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ॥७॥

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहि ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥३४॥

—चारित्रप्राभृत ३४

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयराग-द्वेषवर्जनानि पञ्च ॥८॥

अपरिग्गहसमणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंधेसु ।
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥ ३५ ॥

—चारित्रप्राभृत ३५

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु ॥११॥

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि ।

—नियमसार १०४

जीवेसु साणुकंपा, प्रवचनसार २, ६५

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं··············॥

—प्रवचनसार २, ६७

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

मोत्तूण सल्लभावं णिस्सल्लो जो दु साहु परिणमदि ॥

—नियमसार ८७

तिसल्लपरिसुद्धे । —योगिभक्ति ३

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं ।

—चारित्रप्राभृत, २०

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावयचत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥ २२ ॥

—चारित्रप्राभृत २२

दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥२१॥

दिसिविदिसिमाणपढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं विदियं।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २४ ॥
सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं ।
तइयं अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥ २५ ॥

—चारित्रप्राभृत २४, २५

मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः ॥१॥

सामण्णपच्चयाखलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा ॥

—समयसार १०९

आठवां अध्याय

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंधः ॥२॥

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहि ।
कम्मरजेहि सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥

— प्रवचनसार २, ९६

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः ॥३॥

जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो, ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि । —षट्खण्डागम

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहि·········।

—पंचास्तिकाय ७३

आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ॥४॥

जा सा थप्पा कम्मपयडी णाम सा अट्ठविहा—णाणा-

वरणीयकम्मपयडी एवं दंसणावरणीय-वेयणीय-मोहणीय-आउअ-णाम-गोद-अंतराइय-कम्मपयडी चेदि ।१८।

—षट्खण्डागम ।

पंचनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।।५।।

[इस सूत्रके विषयकी उपलब्धि अगले सूत्रोंकी तुलनामें बीजरूपसे उद्धृत षट्खण्डागमके सूत्रोंसे हो जाती है ।]

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानाम् ।।६।।

णाणावरणीयस्स कम्मस्स पंचपयडीओ-आभिणिबोहियणाणावरणीयं सुदणाणावरणीयं ओहिणाणावरणीयं मणपज्जवणाणावरणीयं केवलणाणावरणीयं चेदि ।।२०।।

—षट्खण्डागम

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च ।।७।।

दंसणावरणीयस्स कम्मस्स णवपयडीओ—णिद्दाणिद्दा पयलापयला थीणगिद्धि णिद्दा य पयला य चक्खुदंसणावरणीयं अचक्खुदंसणावरणीयं ओहिदंसणावरणीयं केवलदंसणावरणीयं चेदि ।।८०।।

—षट्खण्डागम

सदसद्वेद्ये ।। ८ ।।

वेदणीयकम्मस्स दुवे पयडीओ—सादावेदणीयं चेव असादावेदणीयं चेव एवडियाओ पयडीओ ।।८३।।

— षट्खण्डागम

दर्शनचारित्रमोहनीयाकषायकषायवेदनीयाख्यास्त्रिद्विनवषोडशभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यकषायकषायौ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा स्त्रीपुन्नपुंसकवेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वलनविकल्पाश्चैकशः क्रोधमानमायालोभाः ।।९।।

जं तं मोहणीयं कम्मं तं दुविहं—दंसणमोहणीयं चेव चारित्तमोहणीयं चेव ।। ८६ ।। जं तं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधादो एयविहं ।। ८७ ।। तस्स संतकम्मं पुण तिविहं—सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं ।। ८८ ।। जं तं चारित्तमोहणीयं कम्मं तं दुविहं—कसायवेदणीयं णोकसायवेदणीयं चेव ।। ८९ ।। जं तं कसायवेदणीयं कम्मं तं सोलसविहं—अणंताणुबंधीकोहमाणमायालोहं, अपच्चक्खाणावरणीयकोहमाणमायालोहं, पच्चक्खाणावरणीयकोहमाणमायालोहं, संजलणकोहमाणमायालोहं चेदि ।।९०।। जं तं णोकसायवेदणीयं कम्मं तं णवविहं—इत्थीवेद—पुरिसवेद—णवुंसयवेद—हस्स—रदि—अरदि—सोग—भय—दुगुंछा चेदि ।।९१।।

—षट्खण्डागम

नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि ।। १० ।।

आउअस्सकम्मस्स चत्तारि पयडीओ—णिरयाउअं, तिरिक्खाउअं, मणुसाउअं, देवाउअं चेदि ।।९४।।

—षट्खण्डागम

गति जाति शरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ।।११।।

णामस्सकम्मस्स बादालीसं पिंड पयडिणामाणि—गदीणाम, जादिणाम, सरीरणाम, सरीरबंधणणाम, सरीरसंघादणाम, सरीरसंठाणणाम, सरीरअंगोवंगणाम, सरीरसंघडणणाम, वण्णणाम, गंधणाम, रसणाम, फासणाम, आणुपुव्वीणाम, अगुरुलहुगणाम, उवघाद- परघादणाम, उस्सासणाम, आदाव, उज्जोव, विहायगदि, तस—थावर—सुहुम—पज्जत्त—अपज्जत्त—पत्तेय—साहारणसरीर — थिराथिर—सुहासुह—सुभग — दुभग—सुस्सर—दुस्सर—आदेज्जअणादेज्ज—जसकित्ति—अजसकित्ति—णिमिणतित्थयरणामं चेदि ।।२८।।

—षट्खण्डागम

उच्चैर्नीचैश्च ।। १२ ।।

गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ—उच्चागोदं चेव, णीचा-

गोदंचेव ॥१२६॥ —षट्खण्डागम

दानलाभभोगोपभोगवीर्याणाम् ॥१३॥

अंतराइयस्स कम्मस्स पंचपयडीओ—दाणंतराइयं, लाहंतराइयं,भोगंतराइयं,परिभोगंतराइयं,वीरियंतराइयं चेदि एवदियाओ पयडीओ ॥१३०॥ —षट्खण्डागम

आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः परास्थितिः ॥१४॥

पंचण्हं णाणावरणीयं णवण्हं दंसणावरणीयाणं असादावेदणीयं पंचण्हमंतराइयाणमुक्कस्सओ ठिदिबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ ॥१२२॥

—षट्खण्डागम, जीवस्थानान्तर्गतचूलिका ६

सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥ १५ ॥

मिच्छत्तस्स उक्कस्सओ ठिदिबंधो सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ ॥१२२॥ —षट्खण्डागम

सोलसण्हं कसायाणं उक्कस्सो ठिदिबंधो चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ ॥१३१॥ —षट्खण्डागम

विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ १६ ॥

णवुंसयवेद अरदि सोग भयदुगुंछा णिरयगदी - तिरिक्खगदी एइंदिय पंचिंदिय जादि ओरालिय वेउव्विय तेजाकम्मइयसरीर हुंडसंठाण ओरालिय वेउव्वियसरीर अंगोवंग असंपत्तसेवट्टसंघडण वण्ण गंध रसफास णिरयगदि तिरिक्खगदि पाओग्गाणुपुव्वी अगुरुलहुअ उवघाद परघाद उस्सास आदावुज्जोव अप्प - सत्थविहायगदि तस थावर बादर पज्जत्त पत्तेयसरीर- अथिर असुभ दुभग दुस्सर अणादेज्ज अजसकित्ति- णिमिण णीचागोदाणं उक्कस्सगो ट्ठिदिबंधो वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ ॥१३७॥ —षट्खण्डागम

पुरिस वेद हस्स रदि देवगदि समचउरससंठाण- वज्जरिसहसंघडण देवगदिपाओग्गाणुपुव्वी पसत्थ- विहायगदि थिर सुभ सुभग सुस्सर आदेज्ज जसकित्ति- उच्चागोदाणं उक्कस्सगो ठिदिबंधो दस सागरोवम कोडाकोडीओ ॥ १३४ ॥ —षट्खण्डागम

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥ १७ ॥

णिरआउ देवाउअस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो तेत्तीसं सागरोवमाणि ॥ १४० ॥

तिरिक्खाउ मणुसाउअस्स उक्कस्सओ ट्ठिदिबंधो तिण्णि पलिदोवमाणि ॥ १४८ ॥ —षट्खण्डागम

अपरा द्वादशमूहूर्त्ता वेदनीयस्य ॥१८॥

सादावेदणीयस्स जहण्णओ ट्ठिदिबंधो बारस मुहुत्ताणि ॥ १६९ ॥

पंच दंसणावरणीय असादावेदणीयाणं जहण्णगो ट्ठिदिबंधो सागरोवमस्स तिण्णिसत्तभागा, पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागे ऊणया ॥ १६६ ॥

नामगोत्रयोरष्टौ ॥ १९ ॥

जसकित्ति उच्चागोदाणं जहण्णगो ट्ठिदिबंधो अट्ठ- मुहुत्ताणि ॥ २०१ ॥

शेषाणामन्तर्मुहूर्ताः ॥ २० ॥

पंचण्हं णाणावरणीयाणं चदुण्हं दंसणावरणीयाणं लोभसंजुलणस्स पंचण्हमंतराइयाणं जहण्णओ ट्ठिदिबंधो अंतो मुहुत्तं ॥१६३॥ —षट्खण्डागम

नववां अध्याय

आश्रवनिरोधः संवरः ॥१॥

आसवणिरोहो (संवरो) —समयसार १६६

तपसा निर्जरा च ॥३॥

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं ।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥

—पंचास्तिकाय १४४

सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

कालुस्समोहसण्णारागद्दोसाइअसुहभावाणं ।
परिहारो मणगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥
थीराजचोरभत्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वचगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥६७॥
बंधण-छेदण-मारण-आंकुचण तह पसारणादीया ।
कायकिरियाणियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति ॥६८॥

—नियमसार ६६, ६७, ६८

ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि ।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥६१॥
पेसुण्णहासककसपरणिदप्पसंसियं वयणं ।
परिचत्ता सपरहिदं भासासमिदी वदंतस्स ॥६२॥
कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च ।
दिण्णं परेण भत्तं समभुत्ती एसणासमिदी ॥६३॥
पोथइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवणसमिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा ॥६४॥
पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण ।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स ॥६५ ॥

—नियमसार ६१, ६२, ६३, ६४, ६५

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

उत्तम खम मद्दवज्जव सच्चसउच्चं च संजमं चेव ।
तव चागम किंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥७०॥

—बारसअणुवेक्खा ७०

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं ।
आसव संवर णिज्जर धम्मं बोहिं च चिंतेज्जो ॥२॥

—बारसअणुवेक्खा ॥ २ ॥

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याःपरिषहाः॥८

जे बावीस परीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता ।
ते होंति वंदणीया कम्मक्खवणिज्जरा साहू ॥१२॥

—सूत्रप्राभृत १२

सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति चारित्रम् १८

संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइयच्छेदोवट्ठावसुद्धिसंजदा परिहारसुद्धिसंजदा जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा, असंजदा चेदि ॥ १२३ ॥

—षट्खण्डागम १, १, १२३

सामाइयं तु चारित्तं छेदोवट्ठावणं तहा ।
तं परिहारविसुद्धिं च संजमं सुहुमं पुणो ॥
जहाखादं तु चारित्तं,.........। —चारित्रभक्ति ३,४

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥ १९ ॥ प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥ २० ॥

जं तं तवोकम्मं णाम ॥२४॥
तं सब्भंतरबाहिरं बारसविहं तं सव्वं तवोकम्मंणाम॥२५॥

—षट्खण्डागम

ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः ॥ २३ ॥

विणयं पंचपयारं, —भावप्राभृत १०२
दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकाल पसत्था ।

—दर्शनप्राभृत २३

आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञानां ॥ २४ ॥

विज्जावच्चं दसवियप्पं। —भावप्राभृत १०३
वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंददा वा सुहोवजुदा॥
—प्रवचनसार ३, ५३

वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः २५

जा तत्थवायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेहणा वा थयथुइधम्मकहा वा जेचामण्णेण एवमादिया॥१२॥ —षट्खण्डागम

आर्त्तरौद्रधर्मशुक्लानि॥ २८॥

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टं रुद्दं च झाणमुत्तूणं।
—भावप्राभृत ११९

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ४५

संजदासंजदस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो॥२१८॥ अधापवत्तसंजदस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो॥२१९॥ अणंताणुबंधिविसंजोइयंतस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो॥२२०॥ दंसणमोहक्खवगस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो॥२२१॥ कसायउवसामगस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो॥२२२॥ उवसंतकसाय वीदरागछदुमत्थस्स गुणसेडिगुणो असंखेज्जगुणो॥२२३॥ कसायखवगस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो॥२२४॥ खीणकसाय वीदरायछदुमत्थस्स गुणसेढिगुणो असंखेज्जगुणो॥२२५॥ —षट्खण्डागम

दशवां अध्याय

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। १॥

संपुण्णं पुण चारित्तं पडिवज्जंतो तदो चत्तारि कम्माणि अंतोमुहुत्तट्ठिदं ट्ठवेदि णाणावरणीयं दंसणावरणीयं मोहणीयमंतराइयं चेदि॥२७५॥ —षट्खण्डागम

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः॥ २॥

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवंतेण सो मोक्खो॥
—पंचास्तिकाय १५३

आउस्स खयेण पुणो णिण्णासो होइ सेसपयडीणं।
पच्छा पावइ सिग्घं लोयग्गं समयमेत्तेण॥१७५॥
—नियमसार १८१

अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः। ४॥

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे।
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अचिरेण॥
—दर्शनप्राभृत ६

विज्जदि केवलणाणं केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं अत्थित्तं सप्पदेसत्तं॥१८१॥
—नियमसार १८१

तदनंतरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्॥५॥

कम्मविमुक्को अप्पा गच्छइ लोयग्गपज्जंतं।
—नियमसार १८२

धर्मास्तिकायाभावात्॥ ८॥

धम्मत्थिकायभावो तत्तो परदो ण गच्छंति॥
—नियमसार १८३

क्षेत्रकालगतिलिंगतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः॥ ९॥

तित्थयरेदरसिद्धे जलथलआयासणिव्वुदे सिद्धे।
अंतयडेदरसिद्धे उक्कस्स जहण्णमज्झिमोगाहे॥२॥
उड्ढमह तिरियलोए छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे।
उवसग्गणिरुवसग्गे दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि॥३॥
पच्छायडे य सिद्धे दुगतिगचदुणाण पंचचदुरजमे।

परिवडिदा परिवडिदे संजमसम्मत्तणाणमादीहिं ॥४॥
साहरणा साहरणे सम्मुग्घादेदरे य णिव्वादे ।
छिदेपलियंकणिसगणे विगय मले परमणाणगे वंदे ॥५॥
पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण वि तहा ज्झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ॥६॥
पत्तेयसयं बुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा ।
पत्तेयं पत्तेयं समयं समयं पणिवदामि ॥ ७ ॥

—सिद्धभक्ति २, ३, ४, ५, ६, ७

आभार और निवेदन

इस लेखके तय्यार करनेमें मुझे मुख्तार साहब (अधिष्ठाता वीरसेवामंदिर) से जो सहाय एवं सहयोग प्राप्त हुआ है और खोजके समय उनकी 'धवलादिश्रुत-परिचय' नामक हज़ार पेजवाली नोटसबुकसे जो सहायता मिली है उस सबके लिये मैं आपका अतीव आभारी एवं कृतज्ञ हूँ।

अन्तमें विद्वानोंसे मेरा यह सानुरोध निवेदन है कि वे इस लेखपर गम्भीरताके साथ विचारकर अपना मत स्थिर तथा व्यक्त करें। और जिन विद्वानों की दृष्टिमें प्राचीन दिगम्बर साहित्यको देखते हुए दूसरे बीजसूत्र भी आए हों वे उन्हें शीघ्र ही यहाँ भेजने अथवा प्रकट करने की कृपा करें। 'महाबन्ध' परसे बीजसूत्रोंका संग्रह बहुत ही आवश्यक है, अतः उसकी प्रति कराकर वीरसेवामंदिरको भिजवानेका श्रेय या तो किसी महानुभावको लेना चाहिये और या मूडबिद्रीमें ही किसी योग्य विद्वानके द्वारा उसपर से बीजसूत्रोंका संग्रह कराकर तुलनाके साथ प्रकट करना चाहिये। साथ ही, लोकविभागादि-विषयक दूसरे ऐसे प्राचीन ग्रंथोंकी भी खोज होनी चाहिये जिनका निर्माण तत्त्वार्थसूत्रसे पहले हुआ हो। त्रिलोक-प्रज्ञप्तिमें 'लोकविनिश्चय' जैसे कई प्राचीन ग्रंथोंका उल्लेख मिलता है, उन्हें खोजकर जरूर देखना चाहिये। ऐसा होनेपर तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज मुकम्मल हो सकेगी।

वीरसेवामंदिर, सरसावा, ता० २०-१-१९४१

साहित्यपरिचय और समालोचन

१ कविकुल किरीट-सूरिशेखर—लेखक, क्रमाठी। प्रकाशक, चन्दूलाल जमनादास शाह, छाणी (बडोदा)। पृष्ठ संख्या, ४५०। मूल्य, सजिल्दका आठआना।

यह लब्धिसूरीश्वर ग्रन्थमालाका ९ वाँ ग्रन्थ है, जो गुजराती भाषामें विजयलब्धिसूरिके जीवन-चरित्रको लिये हुए है। जीवनचरित्र बहुत कुछ खोजके साथ लिखा गया जान पड़ता है और उसमें सूरि-जीका जीवनवृत्त उनके कार्यों तथा विहारोंके परिचय-सहित वर्णित है। चित्र भी दीक्षाकालसे लेकर अनेक अवस्थाओंके दिये हैं। पुस्तकमें सब मिलाकर चित्र दो दर्जनके करीब हैं, जिनमें गुरु श्रीकमलविजय, और श्रीमद्विजयानन्दसूरि आदिके चित्र भी शामिल हैं। पुस्तककी भाषा अच्छी प्रौढ और लेखनशैली सुन्दर है। छपाई-सफाई और गेट-अप सब आकर्षक हैं। इतनी बड़ी तथा चित्रों वाली पुस्तकका मूल्य आठ आना बहुत कम है और वह गुरुभक्तिको लिये हुए प्रचारकी दृष्टिसे जान पड़ता है। परन्तु पुस्तकमें विषयसूचीका न होना बहुत खटकता है। पुस्तक पढ़ने तथा संग्रह करनेके योग्य है।

२ सागारधर्मामृत सटीक—मूललेखक, पं० प्रवर आशाधर। अनुवादक, व्याख्यानवचस्पति पं० देवकीनन्दन जैनशास्त्री कारंजा। प्रकाशक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत। पृष्ठसंख्या ३६४, बड़ा साइज़। मूल्य, सजिल्द प्रतिका ३)

इस ग्रंथका विषय अपने नाममें ही स्पष्ट है। पं० आशाधर जी विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके बहुश्रुत प्रतिभाशाली विद्वान होगये हैं। अपने पूर्वाचार्योंके श्रावकाचार-विषयक ग्रंथोंका अच्छा मनन और परिशीलन करके इस ग्रंथकी रचना की है। ग्रंथमें गृहस्थोंकी क्रियाओंका और उनके कर्तव्य दिका विस्तृत विवेचन है। ग्रंथकर्ताने इस पर स्वयं एक टीका भी लिखी है जो इस ग्रंथके साथ माणिकचन्द्र ग्रंथमालामें प्रकाशित होचुकी है। इस टीकामें मूलग्रन्थके पद्योंका विस्तृत एवं उपयोगी विवेचन किया है। श्रावकाचारविषयक ग्रन्थोंमें यह अपनी जोड़का एक ही ग्रन्थ है।

ग्रंथके प्रारंभमें अनुवादक जी ने ग्रंथके प्रत्येक अध्यायका संक्षिप्त परिचय 'विषय प्रवेश' शीर्षकके नीचे हिन्दी भाषामें लगा दिया है, जिससे ग्रंथके प्रतिपाद्य विषयका संक्षिप्त परिचय पाठकोंको सरलतासे हो जाता है। इसके पश्चात् ढाई फार्मकी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण प्रस्तावना है, जो जैन समाजके प्रसिद्ध साहित्यसेवी विद्वान पं० नाथूराम जी प्रेमी बम्बईकी लिखी हुई है। इसमें ऐतिहासिक दृष्टिसे पं० आशाधरजीके विषयमें बड़े परिश्रमसे महत्वपूर्ण सामग्रीका संकलन किया गया है। इससे जिज्ञासुओंको पं० आशाधरजीका बहुत कुछ परिचय मिल जाता है। आपकी उक्त स्वोपज्ञ टीकाके अनुसार पं० देवकीनन्दन जी शास्त्रीने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। यद्यपि अनुवादमें कहीं कहीं टीकाके कितने ही स्थल छोड़ दिये गये हैं और कितने ही स्थलोंपर अनुवाद करनेमें संकोच भी किया गया है। उदाहरणके लिये पृष्ठ २४७ पर दिये हुए ३४ वें श्लोककी स्वोपज्ञटीकाका 'गृहत्यागविधि' वाला कितना ही उपयोगी अंश छोड़ दिया गया है। भाषा-साहित्यको कुछ और भी परिमार्जित करनेकी आवश्यकता थी। अस्तु; आपका यह उद्योग सराहनीय है। अच्छा होता यदि ऐसे ग्रंथके अनुवादके साथमें अन्य आचार-विषयक ग्रन्थोंके कथनका तुलनात्मक टिप्पण भी लगा दिया जाता और प्रतिमा आदिविषयक कुछ कथनोंके विवेचनात्मक परिशिष्ट भी लगा दिये जाते। इसके सिवाय, संस्कृत टीकामें प्रयुक्त हुए अथवा 'उक्तं च' आदि रूपसे उद्धृत प्राचीन पद्योंकी अकारादि क्रमसे एक सूची भी साथमें लगाई जानी चाहिये थी। इन सबके होनेपर प्रस्तुत संस्करणकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ जाती। फिर भी यह संस्करण अपने पिछले संस्करणकी अपेक्षा बहुत कुछ उपयोगी है। छपाई साधारण और कहीं कहींपर अनेक अशुद्धियोंको लिये हुए है। आशा है कापड़िया जी अगले संस्करणमें इन सब त्रुटियोंकी पूर्ति करके उसे और भी उपयोगीबनानेका प्रयत्न करेंगे।

—परमानन्द शास्त्री

अनेकान्तके प्रेमियोंसे आवश्यक निवेदन

—*******************—

जो सज्जन 'अनेकान्त' से प्रेम रखते हैं, उसकी ठोस सेवाओंसे कुछ परिचित हैं—यह समझते हैं कि उसके द्वारा क्या कुछ सेवाकार्य होरहा है—हो सकता है,—और साथ ही यह चाहते हैं कि यह पत्र अधिक ऊँचा उठे, घाटेकी चिंतासे मुक्त रहकर स्वावलम्बी बने, इसके द्वारा इतिहास तथा साहित्यके कार्योंको प्रोत्तेजन मिले—अनेक विद्वान उन कार्योंके करनेमें प्रवृत्त हों—, नई नई खोजें और नया नया साहित्य सामने आए, प्राचीन साहित्यका उद्धार हो, सच्चे इतिहासका निर्माण हो, धार्मिक सिद्धान्त की गुत्थियां सुलझें, समाजकी उन्नतिका मार्ग प्रशस्तरूप धारण करे; और इस प्रकार यह पत्र जैनसमाजका एक आदर्शपत्र बने, समाज इस पर उचित गर्व कर सके और समाजके लिये यह गौरवकी तथा दूसरोंके लिये स्पृहाकी वस्तु बने, तो इसके लिये उन्हें इस पत्रके सहयोगमें अपनी शक्तिको केन्द्रित करना चाहिये। संयुक्त शक्तिके बलपर सब कुछ हो सकता है, अकेले सम्पादक अथवा प्रकाशकसे कोई काम नहीं बन सकता, और न खाली मनोरथ मनोरथसे ही कोई काम बन पाता है; मनोरथके साथमें जब यथेष्ट पुरुषार्थ मिलता है तभी कार्यकी ठीक सिद्धि होती है। पुरुषार्थ बड़ी चीज़ है। अतः इस दिशा में अनेकान्तके प्रेमियोंका पुरुषार्थ खास तौरसे अपेक्षित है—उनका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे पुरुषार्थ करके इस पत्रको समाजका अधिकसे अधिक सहयोग प्राप्त कराएँ और इसके संचालकोंके हाथोंको मज़बूत बनाएँ, जिससे वे अभिमतरूप से इस पत्रको ऊँचा उठाने तथा लोकप्रिय बनानेमें समर्थ हो सकें।

इसके लिये अनेकान्तके प्रचार, विद्वत्सहयोग और आर्थिक सहयोगकी बड़ी ज़रूरत है। इनमें भी आर्थिक सहयोग प्रधान है, उसके बलपर दूसरी आवश्यकताओंकी भी बहुत कुछ पूर्ति की जासकती है। धनका अभाव निःसन्देह एक बहुत ही खटकने वाली चीज़ है। धनाभावके कारण संसारका कोई भी कार्य ठीक नहीं बनता, इसीसे दरिद्रियोंके मनोरथ उत्पन्न हो होकर हृदयमें ही विलीन होते रहते हैं और वे कोई बड़ा काम नहीं कर पाते। 'चार जनोंकी लाकड़ी और एक जनेका बोझ' अथवा 'बूँद-बूँदसे घट भरे' की कहावतके अनुसार छोटी छोटी सहायताएँ मिलकर एक बहुत बड़ी सहायता हो जाती है और उससे बड़े बड़े काम निकल जाते हैं, तथा किसी एक व्यक्ति पर अधिक भार भी नहीं पड़ता। समाजके अधिकांश कार्य इसी संयुक्त शक्तिके आधारपर चला करते हैं। अनेकान्तको ऊँचा उठाने और उसे अपने मिशनमें सफल बनानेके लिये मैंने इस समय अनेकांत की सहायताके निम्न चार मार्ग स्थिर किये हैं। इनमेंसे जो सज्जन जिस मार्गसे जितनी सहायता करना चाहें और कर सकें उन्हें उस मार्गसे उतनी सहायता ज़रूर करनी चाहिये तथा दूसरोंसे भी करानी चाहिये, ऐसा मेरा सानुरोध निवेदन है। आशा है अनेकान्तके प्रेमी सज्जन इसपर ज़रूर ध्यान देंगे और इस तरह मेरे हाथोंको मज़बूत बनाकर मुझे विशेष रूपसे सेवा करनेके लिये समर्थ बनाएँगे। सहायताके वे चार मार्ग इस प्रकार हैं:—

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओं को अनेकान्त पत्र फ्री (बिना मूल्य) या अर्ध मूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सातिशय प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देनेवालों

की ओरसे दस रुपयेकी सहायता पीछे अनेकान्त चारको फ्री और आठको अर्ध मूल्यमें भेजा जाएगा।)

(३) उत्सव–विवाहादि दानके अवसरों पर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रन्थोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दे सके। स्वतः अपनी ओरसे उपहार ग्रन्थोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकांत के लिये अच्छे अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना और कराना।

सम्पादक 'अनेकान्त'

अनेकान्तके नये ग्राहकोंको भेंट

पिछले वर्ष अनेकान्तके ग्राहकोंको पोस्टेज-पैकिंग खर्चके लिये चार आने अधिक भेजनेपर महत्व के अध्यात्मग्रन्थ 'समाधितंत्र' की कापियां भेंटमें दीगई थीं। इस वर्ष जो नये ग्राहक बनेंगे उन्हें भी मूल्य के साथ अथवा बादको चार आने अधिक भेजनेपर उक्त ग्रन्थ भेंट स्वरूप दिया जायगा। साथ ही पं० जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादक 'अनेकान्त' की लिखी हुई ४८ पृष्ठकी उपयोगी पुस्तक 'सिद्धिसोपान' की एक एक प्रति भी दीजायगी। सूचनार्थ निवेदन है।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल

[सम्पादकीय]

श्री अकलंकदेव, विद्यानंद और जिनसेन-जैसे महान् आचार्यों तथा दूसरे भी अनेक प्रसिद्ध मुनियों और विद्वानों द्वारा किये गये जिनके उदार स्मरणों एवं प्रभावशाली स्तवनों-संकीर्तनोंको अनेकान्तके पाठक दूसरे वर्षकी सभी किरणोंके शुरू में आनंदके साथ पढ़ चुके हैं और उनपरसे जिन आचार्य महोदयकी असाधारण विद्वत्ता, योग्यता, लोकसेवा और प्रतिष्ठादिका कितना ही परिचय प्राप्त कर चुके हैं, उन स्वामी समंतभद्रके बाधारहित और शांत मुनिजीवनमें एक बार कठिन विपत्तिकी भी एक बड़ी भारी लहर आई है, जिसे आपका 'आपत्काल' कहते हैं। वह विपत्ति क्या थी और समंतभद्रने उसे कैसे पार किया, यह सब एक बड़ा ही हृदय-द्रावक विषय है। नीचे उसीका, उनके मुनि-जीवनकी झाँकी सहित, कुछ परिचय और विचार पाठकोंके सामने उपस्थित किया जाता है।

मुनि-जीवन

समंतभद्र, अपनी मुनिचर्याके अनुसार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामके पंचमहाव्रतोंका यथेष्ट रीतिसे पालन करते थे; ईर्या-भाषा-एषणादि पंचसमितियोंके परिपालनद्वारा उन्हें निरंतर पुष्ट बनाते थे, पांचों इंद्रियोंके निग्रहमें सदा तत्पर, मनोगुप्ति आदि तीनों गुप्तियोंके पालनमें धीर और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओंके अनुष्ठानमें सदा सावधान रहते थे। वे पूर्ण अहिंसाव्रतका पालन करते हुए, कषायभावको लेकर किसी भी जीवको अपने मन, वचन या कायसे पीड़ा पहुँचाना नहीं चाहते थे। इस बातका सदा यत्न रखते थे कि किसी प्राणीको उनके प्रमादवश बाधा न पहुँच जाय, इसीलिये वे दिनमें मार्ग शोधकर चलते थे, चलते समय दृष्टिको इधर उधर नहीं भ्रमाते थे, रात्रिको गमनागमन नहीं करते थे, और इतने साधनसंपन्न थे कि सोते समय एकासनसे रहते थे—यह नहीं होता था कि निद्राऽवस्थामें एक करवटसे दूसरी करवट बदल जाय और उसके द्वारा किसी जीवजंतुको बाधा पहुँच जाय; वे पीछी पुस्तकादिक किसी भी वस्तुको देख भाल कर उठाते-धरते थे और मलमूत्रादिक भी प्रासुक भूमि तथा बाधारहित एकांत स्थानमें क्षेपण करते थे। इस के सिवाय, उनपर यदि कोई प्रहार करता तो वे उसे नहीं रोकते थे, उसके प्रति दुर्भाव भी नहीं रखते थे; जंगलमें यदि हिंस्र जंतु भी उन्हें सताते अथवा डंस-मशकादिक उनके शरीरका रक्त पीते थे तो वे बलपूर्वक उनका निवारण नहीं करते थे, और न ध्यानावस्थामें अपने शरीरपर होने वाले चींटी आदि जंतुओंके स्वच्छंद विहारको ही रोकते थे। वे इन सब अथवा इसी प्रकारके और भी कितने ही उपसर्गों तथा परीषहोंको साम्यभावसे सहन करते थे और अपने ही कर्मविपाकका चिंतन कर सदा धैर्य धारण करते थे—दूसरोंको उसमें ज़रा भी दोष नहीं देते थे।

समंतभद्र सत्यके बड़े प्रेमी थे, वे सदा यथार्थ

भाषण करते थे, इतना ही नहीं बल्कि, प्रमत्तयोगसे प्रेरित होकर कभी दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला सावद्य वचन भी मुँहसे नहीं निकालते थे; और कितनी ही बार मौन धारण करना भी श्रेष्ठ समझते थे। स्त्रियोंके प्रति आपका अनादरभाव न होते हुए भी आप कभी उन्हें रागभावसे नहीं देखते थे; बल्कि माता, बहिन और सुताकी तरहसे ही पहिचानते थे; साथ ही, मैथुनकर्मसे, घृणात्मक † दृष्टिके साथ, आपकी पूर्ण विरक्ति रहती थी, और आप उसमें द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकारकी हिंसाका सद्भाव मानते थे। इसके सिवाय, प्राणियोंकी अहिंसाको आप 'परमब्रह्म' समझते थे * और जिस आश्रमविधिमें अणुमात्र भी आरंभ न होता हो उसीके द्वारा उस अहिंसाकी पूर्णसिद्धि मानते थे। उसी पूर्ण अहिंसा और उसी परमब्रह्मकी सिद्धिके लिए आपने अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग किया था और नैर्ग्रन्थ्य-आश्रममें प्रविष्ट होकर अपना प्राकृतिक दिगम्बर वेष धारण किया था। इसीलिये आप अपने पास कोई कौडी पैसा नहीं रखते थे, बल्कि कौड़ी पैसेसे सम्बंध रखना भी अपने मुनिपदके विरुद्ध समझते थे। आपके पास शौचोपकरण (कमंडल), संयमोपकरण (पीछी) और ज्ञानोपकरण (पुस्तकादिक) के रूपमें जो कुछ थोड़ीसी उपधि थी उससे भी आपका ममत्व नहीं था—भले ही उसे कोई उठा ले जाय, आपको इसकी ज़रा भी चिन्ता नहीं थी। आप सदा भूमिपर शयन करते थे और अपने शरीरको कभी संस्कारित अथवा मंडित नहीं करते थे; यदि पसीना आकर उसपर मैल जम जाता था तो उसे स्वयं अपने हाथसे धोकर दूसरोंको अपना उजलारूप दिखानेकी भी कभी कोई चेष्टा नहीं करते थे; बल्कि उस मलजनित परीषहको साम्यभावसे जीतकर कर्ममलको धोनेका यत्न करते थे, और इसी प्रकार नग्न रहते तथा दूसरी सरदी गरमी आदिकी परीषहोंको भी खुशीखुशीसे सहन करते थे। इसीसे आपने अपने एक परिचय † में गौरवके साथ अपने आपको 'नग्नाटक' और 'मलमलिनतनु' भी प्रकट किया है।

समंतभद्र दिनमें सिर्फ एक बार भोजन करते थे, रात्रिको कभी भोजन नहीं करते थे, और भोजन भी आगमोदित विधिके अनुसार शुद्ध, प्रासुक तथा निर्दोष ही लेते थे। वे अपने उस भोजनके लिये किसीका निमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे, किसीको किसी रूपमें भी अपना भोजन करने करानेके लिये प्रेरित नहीं करते थे, और यदि उन्हें यह मालूम हो जाता था कि किसीने उनके उद्देश्यसे कोई भोजन तय्यार किया है अथवा किसी दूसरे अतिथि (मेहमान) के लिये तय्यार किया हुआ भोजन उन्हें दिया जाता है तो वे उस भोजनको नहीं लेते थे। उन्हें उसके लेनेमें सावद्यकर्मके भागी होनेका दोष मालूम पड़ता था और सावद्यकर्मसे वे सदा अपने आपको मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदनद्वारा दूर

† आपकी इस घृणात्मक दृष्टिका भाव 'ब्रह्मचारी' के निम्न लक्षणमें भी पाया जाता है, जिसे आपने 'रत्नकरंडक' में दिया है—

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगंधि बीभत्सं।
पश्यन्नंगमनंगाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ॥१४३॥

* अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारंभोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रंथमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥११९॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

† 'कांच्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुः' इत्यादि पद्यमें।

रखना चाहते थे। वे उसी शुद्ध भोजनको अपने लिये कल्पित और शास्त्रानुमोदित समझते थे जिसे दातारने स्वयं अपने अथवा अपने कुटुम्बके लिये तय्यार किया हो, जो देनेके स्थान पर उनके आनेसे पहले ही मौजूद हो और जिसमेंसे दातार कुछ अंश उन्हें भक्तिपूर्वक भेंट करके शेषमें स्वयं संतुष्ट रहना चाहता हो—उसे अपने भोजनके लिये फिर दोबारा आरंभ करनेकी कोई जरूरत न हो। आप भ्रामरी वृत्तिसे, दातारको कुछ भी बाधा न पहुँचाते हुए, भोजन लिया करते थे। भोजनके समय यदि आगमकथित दोषोंमेंसे उन्हें कोई भी दोष मालूम पड़ जाता था अथवा कोई अन्तराय सामने उपस्थित हो जाता था तो वे खुशीसे उसी दम भोजनको छोड़ देते थे और इस अलाभके कारण चित्तपर जरा भी मैल नहीं लाते थे। इसके सिवाय, आपका भोजन परिमित और सकारण होता था। आगममें मुनियोंके लिये ३२ ग्रास तक भोजनकी आज्ञा है परंतु आप उसमें अक्सर दो चार दस ग्रास कम ही भोजन लेते थे, और जब यह देखते थे कि बिना भोजन किये भी चल सकता है—नित्यनियमोंके पालन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके सम्पादनमें कोई विशेष बाधा नहीं आती तो कई कई दिनके लिए आहारका त्याग करके उपवास भी धारण कर लेते थे; अपनी शक्तिको जाँचने और उसे बढ़ानेके लिये भी आप अक्सर उपवास किया करते थे, ऊनोदर रखते थे, अनेक रसोंका त्याग कर देते थे और कभी कभी ऐसे कठिन तथा गुप्त नियम भी ले लेते थे जिनकी स्वाभाविक पूर्तिपर ही आपका भोजन अवलम्बित रहता था। वास्तवमें, समंतभद्र भोजनको इस जीवनयात्राका एक साधन मात्र समझते थे। उसे अपने ज्ञान, ध्यान और संयमादिकी सिद्धि, वृद्धि तथा स्थितिका सहायक मात्र मानते थे—और इसी दृष्टिसे उसको ग्रहण करते थे। किसी शारीरिक बलको बढ़ाना, शरीरको पुष्ट बनाना अथवा तेजोवृद्धि करना उन्हें उसके द्वारा इष्ट नहीं था; वे स्वादके लिये भी भोजन नहीं करते थे, यही वजह है कि आप भोजनके ग्रासको प्रायः बिना चबाये ही—बिना उसका रसास्वादन किये ही—निगल जाते थे। आप समझते थे कि जो भोजन केवल देहस्थितिको क़ायम रखनेके उद्देशसे किया जाय उसके लिये रसास्वादनकी जरूरत ही नहीं है, उसे तो उदरस्थ कर लेने मात्रकी जरूरत है। साथ ही, उनका यह विश्वास था कि रसास्वादन करनेसे इंद्रियविषय पुष्ट होता है, इंद्रियविषयोंके सेवनसे कभी सच्ची शांति नहीं मिलती, उल्टी तृष्णा बढ़ जाती है, तृष्णाकी वृद्धि निरंतर ताप उत्पन्न करती है और उस ताप अथवा दाहके कारण यह जीव संसारमें अनेक प्रकारकी दुःख-परम्परासे पीड़ित होता है ‡; इसलिये वे क्षणिक सुखके लिये कभी इन्द्रियविषयोंको पुष्ट नहीं करते थे—क्षणिक सुखोंकी अभिलाषा करना ही वे परीक्षावानोंके लिये एक कलंक और अधर्मकी बात समझते थे। आपकी यह खास धारणा थी कि, आत्यन्तिक स्वास्थ्य—अविनाशी स्वात्मस्थिति अथवा कर्मविमुक्त अनंतज्ञानादि अवस्थाकी प्राप्ति-ही पुरुषोंका—इस जीवात्माका—स्वार्थ है—स्व-प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोग—क्षणस्थायी विषयसुखानुभवन—उनका स्वार्थ नहीं है; क्योंकि तृषानुषंगसे—भोगोंकी उत्तरोत्तर आकांक्षा बढ़नेसे—शारीरिक और मान-

‡ शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं,
तृष्णामयाप्यायनमात्रहेतुः।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपत्यजस्रं,
तापस्तदायासयतीत्यवादीः॥ १३॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

मिक दुःखोंकी कभी शांति नहीं होती। वे समझते थे कि, यह शरीर 'अजंगम' है—बुद्धिपूर्वक परिस्पंदव्यापाररहित है—और एक यंत्रकी तरह चैतन्य पुरुषके द्वारा स्वव्यापारमें प्रवृत्त किया जाता है; साथ ही, 'मलबीज' है—मलसे उत्पन्न हुआ है; मलयोनि है—मलकी उत्पत्तिका स्थान है; 'गलन्मल' है—मल ही इसमेंसे झरता है; 'पूति' है—दुर्गंधियुक्त है; 'बीभत्स' है—घृणात्मक है; 'क्षयि' है—नाशवान है—और 'तापक' है—आत्माके दुःखोंका कारण है। इस लिये वे इस शरीरसे स्नेह रखने तथा अनुराग बढ़ानेको अच्छा नहीं समझते थे, उसे व्यर्थ मानते थे, और इस प्रकारकी मान्यता तथा परिणतिको ही आत्महित स्वीकार करते थे *। अपनी ऐसी ही विचार-परिणतिके कारण समंतभद्र शरीरसे बड़े ही निस्पृह और निर्ममत्व रहते थे—उन्हें भोगोंसे जरा भी रुचि अथवा प्रीति नहीं थी—; वे इस शरीरसे अपना कुछ पारमार्थिक काम निकालनेके लिये ही उसे थोड़ासा शुद्ध भोजन देते थे और इस बातकी कोई पर्वाह नहीं करते थे कि वह भोजन रूखा-चिकना, ठंडा-गरम, हल्का-भारी, कडुआ-कषायला आदि कैसा है।

इस लघु भोजनके बदलेमें समन्तभद्र अपने शरीरसे यथाशक्ति खूब काम लेते थे घंटों तक कायोत्सर्गमें स्थित होजाते थे, आतापनादि योग धारण करते थे, और आध्यात्मिक तप ‡ की वृद्धिके लिये, अपनी शक्तिको न छिपाकर, दूसरे भी कितने ही अनशनादि उग्र उग्र बाह्य तपश्चरणोंका अनुष्ठान किया करते थे। इसके सिवाय, नित्य ही आपका बहुतसा समय सामायिक, स्तुतिपाठ, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, समाधि-भावना, धर्मोपदेश, ग्रन्थरचना और परहितप्रतिपादनादि कितने ही धर्मकार्योंमें खर्च होता था। आप अपने समयको ज़रा भी धर्मसाधनारहित व्यर्थ नहीं जाने देते थे।

आपत्काल

इस तरहपर, बड़े ही प्रेमके साथ मुनिधर्मका पालन करते हुए, स्वामी समन्तभद्र जब 'मणुवकहल्ली' † ग्राममें धर्मध्यानसहित आनंदपूर्वक अपना मुनिजीवन व्यतीत कर रहे थे और अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंके द्वारा आत्मोन्नतिके पथमें अग्रेसर हो रहे थे तब एकाएक पूर्वसंचित असातावेदनीय कर्मके तीव्र उदयसे आपके शरीरमें 'भस्मक' नामका एक महारोग उत्पन्न हो गया *। इस रोगकी उत्पत्तिसे यह स्पष्ट है

---

* स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां,
स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद्भगवान्सुपार्श्वः ॥३१॥
अजंगमं जंगमनेययंत्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरं।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं
त्वमाख्यः ॥३२॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

"मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सं।
पश्यन्नंगम्······"
—रत्नकरंडक।

‡ बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व
माध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ॥८३॥
—स्वयंभूस्तोत्र।

† ग्रामका यह नाम 'राजावलीकथे' में दिया है। यह 'कांची' के आसपासका कोई गांव जान पड़ता है।

* ब्रह्मनेमिदत्त भी अपने 'आराधनाकथाकोष' में ऐसा ही सूचित करते हैं। यथा—
दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान्।
यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद्दुःखदायकः।
तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ॥
—समन्तभद्रकथा, पद्य नं० ४, ५

कि समंतभद्रके शरीरमें उस समय कफ क्षीण होगया था और वायु तथा पित्त दोनों बढ़ गये थे; क्योंकि कफके क्षीण होने पर जब पित्त, वायुके साथ बढ़कर कुपित हो जाता है तब वह अपनी गरमी और तेजी से जठराग्निको अत्यंत प्रदीप्त, बलाढ्य और तीक्ष्ण कर देता है और वह अग्नि अपनी तीक्ष्णतासे विरूक्ष शरीरमें पड़े हुए भोजनका तिरस्कार करती हुई, उसे क्षणमात्रमें भस्म कर देती है। जठराग्निकी इस अत्यंत तीक्ष्णावस्था को ही 'भस्मक' रोग कहते हैं। यह रोग उपेक्षा किये जाने पर—अर्थात्, गुरु, स्निग्ध शीतल, मधुर और श्लेष्मल अन्नपानका यथेष्ट परिमाणमें अथवा तृप्तिपर्यंत सेवन न करने पर—शरीरके रक्तमांसादि धातुओंको भी भस्म कर देता है, महादौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तृषा, स्वेद, दाह तथा मूर्च्छादिक अनेक उपद्रव खड़े कर देता है और अंतमें रोगीको मृत्युमुखमें ही स्थापित करके छोड़ता है +। इस रोगके आक्रमण पर समंतभद्रने शुरूशुरूमें उसकी कुछ पर्वाह नहीं की। वे स्वेच्छा-पूर्वक धारण किये हुए उपवासों तथा अनशनादि तपोंके अवसरपर जिस प्रकार क्षुधापरीषहको सहा करते थे उसी प्रकार उन्होंने इस अवसर पर भी, पूर्व अभ्यासकेबलपर, उसे सह लिया। परन्तु इस क्षुधा और उस क्षुधामें बड़ा अन्तर था; वे इस बढ़ती हुई क्षुधा के कारण, कुछ ही दिन बाद, असह्य वेदनाका अनुभव करने लगे; पहले भोजनसे घंटोंके बाद नियत समय पर भूखका कुछ उदय होता था और उस समय उपयोग के दूसरी ओर लगे रहने आदिके कारण यदि भोजन नहीं किया जाता था तो वह भूख मर जाती थी और फिर घंटों तक उसका पता नहीं रहता था; परन्तु अब भोजनको किये हुए देर नहीं होती थी कि क्षुधा फिरसे आ धमकती थी और भोजनके न मिलनेपर जठराग्नि अपने आसपासके रक्त मांसको ही खींच खींचकर भस्म करना प्रारम्भ कर देती थी। समंतभद्रको इससे बड़ी वेदना होती थी, क्षुधाकी समान दूसरी शरीरवेदना है भी नहीं; कहा भी गया है—

"क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना।"

इस तीव्र क्षुधावेदनाके अवसरपर किसीसे भोजनकी याचना करना, दोबारा भोजन करना अथवा रोगोपशांतिके लिये किसीको अपने वास्ते अच्छे स्निग्ध, मधुर, शीतल गरिष्ठ और कफकारी भोजनोंके तय्यार करनेकी प्रेरणा करना, यह सब उनके मुनिधर्मके विरुद्ध था। इस लिये समंतभद्र, वस्तुस्थितिका विचार करते हुए उस समय अनेक उत्तमोत्तम भावनाओंका चिन्तवन करते थे और अपने आत्माको सम्बोधन करके कहते थे—"हे आत्मन, तूने अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण

+ कट्वादिरूक्षान्नभुजां नराणां
क्षीणे कफे मारुतपित्तवृद्धौ।
अतिप्रवृद्धः पवनान्वितोऽग्नि-
र्भुक्तं क्षणाद्भस्मकरोति यस्मात्।
तस्मादसौ भस्मकसंज्ञकोऽभू-
दुपेक्षितोऽयं पचते च धातून्।
—इति भावप्रकाशः।

"नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्।
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति॥
तथा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः।
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः॥
पक्वान्नं सततं धातून् शोणितादीन्पचत्यपि।
ततो दौर्बल्यमातंकान मृत्युं चोपनयेन्नरं॥
भुक्तेऽन्ने लभते शांतिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति।
तृट्स्वेददाहमूर्च्छाः स्युर्व्याधयोऽत्यग्निसंभवाः॥"
"तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतमधुरविज्वलैः।
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः॥"
—इति चरकः।

करते हुए अनेक बार नरक-पशु आदि गतियों में दुःसह क्षुधावेदनाको सहा है, उसके आगे तो यह तेरी क्षुधा कुछ भी नहीं है। तुझे इतनी तीव्र क्षुधा रह चुकी है जो तीन लोकका अन्न खाजाने पर भी उपशम न हो, परन्तु एक कण खानेको नहीं मिला। ये सब कष्ट तूने पराधीन होकर सहे हैं और इसलिये उनसे कोई लाभ नहीं होसका, अब तू स्वाधीन होकर इस वेदनाको सहन कर। यह सब तेरे ही पूर्व कर्म का दुर्विपाक है। साम्यभावसे वेदनाको सह लेनेपर कर्मकी निर्जरा हो जायगी, नवीन कर्म नहीं बँधेगा और न आगेको फिर कभी ऐसे दुःखोंको उठानेका अवसर ही प्राप्त होगा।" इस तरह पर समंतभद्र अपने साम्यभावको दृढ़ रखते थे और कषायादि दुर्भावोंको उत्पन्न होनेका अवसर नहीं देते थे। इसके सिवाय, वे इस शरीरको कुछ अधिक भोजन प्राप्त कराने तथा शारीरिक शक्तिको विशेष क्षीण न होने देनेके लिये जो कुछ कर सकते थे वह इतना ही था कि जिन अनशनादि बाह्य तथा घोर तपश्चरणोंको वे कर रहे थे और जिनका अनुष्ठान उनकी नित्यकी इच्छा तथा शक्तिपर निर्भर था—मूलगुणोंकी तरह लाज़मी नहीं था—उन्हें वे ढीला अथवा स्थगित करदें। उन्होंने वैसा ही किया भी—वे अब उपवास नहीं रखते थे, अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग और कायक्लेश नामके बाह्य तपोंके अनुष्ठानको उन्होंने, कुछ कालके लिये, एकदम स्थगित कर दिया था, भोजनके भी वे अब पूरे ३२ ग्रास लेते थे; इसके सिवाय रोगी मुनिके लिये जो कुछ भी रिआयतें मिल सकती थीं वे भी प्रायः सभी उन्होंने प्राप्त कर ली थीं। परंतु यह सब कुछ होते हुए भी, आपकी क्षुधाको ज़राभी शांति नहीं मिली, वह दिनपर दिन बढ़ती और तीव्रसे तीव्रतर होती जाती थी; जठरानलकी ज्वालाओं तथा पित्तकी तीक्ष्ण ऊष्मासे शरीरका रस-रक्तादि दग्ध हुआ जाता था, ज्वालाएँ शरीरके अंगोंपर दूर दूर तक धावा कर रही थीं, और नित्यका स्वल्प भोजन उनके लिये ज़रा भी पर्याप्त नहीं होता था—वह एक जाज्वल्यमान अग्निपर थोड़ेसे जलके छींटेका ही काम देता था। इसके सिवाय, यदि किसी दिन भोजनका अन्तराय हो जाता था तो और भी ज्यादा ग़ज़ब हो जाता था—क्षुधा राक्षसी उस दिन और भी ज्यादा उग्र तथा निर्दय रूप धारण कर लेती थी। इस तरहपर समंतभद्र जिस महावेदनाका अनुभव कर रहे थे उसका पाठक अनुमान भी नहीं कर सकते। ऐसी हालतमें अच्छे अच्छे धीरवीरोंका धैर्य छूट जाता है, श्रद्धान भ्रष्ट हो जाता है और ज्ञानगुण डगमगा जाता है। परंतु समंतभद्र महामना थे, महात्मा थे, आत्म-देहान्तरज्ञानी थे, संपत्ति—विपत्तिमें समचित्त थे, निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक थे और उनका ज्ञान अदुःखभावित नहीं था जो दुःखोंके आनेपर क्षीण होजाय *, उन्होंने यथाशक्ति उग्र उग्र तपश्चरणोंके द्वारा कष्ट सहनका अच्छा अभ्यास किया था, वे आनंदपूर्वक कष्टोंको सहन किया करते थे—उन्हें सहते हुए खेद नहीं मानते थे †

* अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥
—समाधितंत्र।

† जो आत्मा और देहके भेद विज्ञानी होते हैं वे ऐसे कष्टोंको सहते हुए खेद नहीं माना करते, कहा भी है—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुंजानोऽपि न खिद्यते॥
—समाधितंत्र।

और इसलिये, इस संकटके अवसरपर वे जरा भी विचलित तथा धैर्यच्युत नहीं हो सके।

समंतभद्रने जब यह देखा कि रोग शांत नहीं होता, शरीरकी दुर्बलता बढ़ती जारही है, और उस दुर्बलताके कारण नित्यकी आवश्यक क्रियाओंमें भी कुछ बाधा पड़ने लगी है; साथ ही, प्यास आदिकके भी कुछ उपद्रव शुरू हो गये हैं, तब आपको बड़ी ही चिन्ता पैदा हुई। आप सोचने लगे—"इस मुनिअवस्थामें, जहाँ आगमोदित विधिके अनुसार उद्गम-उत्पादनादि छयालीस दोषों, चौदह मलदोषों और बत्तीस अन्तरायोंको टालकर, प्रासुक तथा परिमित भोजन लिया जाता है वहाँ, इस भयंकर रोगकी शांतिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती ‡। मुनिपदको क़ायम रखते हुए, यह रोग प्रायः असाध्य अथवा निःप्रतीकार जान पड़ता है; इसलिये या तो मुझे अपने मुनिपदको छोड़ देना चाहिये और या 'सल्लेखना' व्रत धारण करके इस शरीरको धर्मार्थ त्यागनेके लिये तय्यार हो जाना चाहिये; परंतु मुनिपद कैसे छोड़ा जा सकता है ? जिस मुनिधर्मके लिये मैं अपना सर्वस्व अर्पण कर चुका हूँ, जिस मुनिधर्मको मैं बड़े प्रेमके साथ अब तक पालता आ रहा हूँ और जो मुनिधर्म मेरे ध्येयका एक मात्र आधार बना हुआ है उसे क्या मैं छोड़ दूं ? क्या क्षुधाकी वेदनासे घबराकर अथवा उससे बचनेके लिये छोड़ दूं ? क्या इंद्रियविषयजनित स्वल्प सुखके लिये उसे बलि दे दूं ? यह नहीं हो सकता। क्या क्षुधादि दुःखोंके इस प्रतिकारसे अथवा इंद्रियविषयजनित स्वल्प सुखके अनुभवनसे इस देहकी स्थिति सदा एकसी और सुखरूप बनी रहेगी ? क्या फिर इस देहमें क्षुधादि दुःखोंका उदय नहीं होगा ? क्या मृत्यु नहीं आएगी ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर इन क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकार आदिमें गुण ही क्या है ? उनसे इस देह अथवा देहीका उपकार ही क्या बन सकता है ? + मैं दुःखोंसे बचनेके लिये कदापि मुनिधर्मको नहीं छोड़ूँगा; भले ही यह देह नष्ट हो जाय, मुझे उसकी चिन्ता नहीं है; मेरा आत्मा अमर है, उसे कोई नाश नहीं कर सकता; मैंने दुःखोंका स्वागत करनेके लिये मुनिधर्म धारण किया था, न कि उनसे घबराने और बचनेके लिए; मेरी परीक्षाका यही समय है, मैं मुनिधर्मको नहीं छोड़ूँगा।" इतनेमें ही अंतःकरणके भीतरसे एक दूसरी आवाज़ आई—"समंतभद्र ! तू अनेक प्रकारसे जैन शासनका उद्धार करने और उसे प्रचार देनेमें समर्थ है, तेरी बदौलत बहुतसे जीवोंका अज्ञानभाव तथा मिथ्यात्व नष्ट होगा और वे सन्मार्गमें लगेंगे;

‡ जो लोग आगममें इन उद्गमादि दोषों तथा अन्तरायोंका स्वरूप जानते हैं और जिन्हें पिण्ड-शुद्धिका अच्छा ज्ञान है उन्हें यह बतलानेकी ज़रूरत नहीं है कि सच्चे जैन साधुओंको भोजनके लिये कैसे ही कितनी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयोंका कारण दातारोंकी कोई कमी नहीं है; बल्कि भोजनविधि और निर्दोष भोजनकी जटिलता ही उसका प्रायः एक कारण है—फिर 'भस्मक' जैसे रोगकी शांतिके लिये उपयुक्त और पर्याप्त भोजनकी तो बात ही दूर है।

+ क्षुधादि दुःखोंके प्रतिकारादिविषयक आपका यह भाव 'स्वयंभूस्तोत्र'के निम्न पद्यसे भी प्रकट होता है—

'क्षुदादिदुःखप्रतिकारतः स्थिति-
र्न चेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः।
ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनो-
रितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत्' ॥ १८ ॥

यह शासनोद्धार और लोकहितका काम क्या कुछ कम धर्म है ? यदि इस शासनोद्धार और लोकहितकी दृष्टिसे हो तू कुछ समयके लिये मुनिपदको छोड़दे और अपने भोजनकी योग्य व्यवस्था द्वारा रोगको शान्त करके फिरसे मुनिपद धारण कर लेवे तो इसमें कौनसी हानि है ? तेरे ज्ञान, श्रद्धान, और चारित्रके भावको तो इससे ज़रा भी क्षति नहीं पहुँच सकती, वह तो हरदम तेरे साथ ही रहेगा; तू द्रव्यलिंगकी अपेक्षा अथवा बाह्यमें भले ही मुनि न रहे, परंतु भावोंकी अपेक्षा तो तेरी अवस्था मुनि-जैसी ही होगी, फिर इसमें अधिक सोचने विचारनेकी बात ही क्या है ? इसे आपद्धर्मके तौरपर ही स्वीकार कर; तेरी परिणति तो हमेशा लोकहितकी तरफ रही है, अब उसे गौण क्यों किये देता है ? दूसरोंके हितके लिये ही यदि तू अपने स्वार्थकी थोड़ीसी बलि देकर—अल्प कालके लिये मुनिपदको छोड़कर—बहुतोंका भला कर सके तो इसमें तेरे चरित्रपर ज़रा भी कलंक नहीं आ सकता, वह तो उलटा और भी ज्यादा देदीप्यमान होगा; अतः तू कुछ दिनोंके लिये इस मुनिपदका मोह छोड़कर और मानापमानकी ज़रा भी पर्वाह न करते हुए अपने रोगको शांत करनेका यत्न कर, वह निःप्रतीकार नहीं है; इस रोगसे मुक्त होने पर, स्वस्थावस्थामें, तू और भी अधिक उत्तम रीतिसे मुनिधर्मका पालन कर सकेगा; अब विलम्ब करनेकी ज़रूरत नहीं है, विलम्बसे हानि होगी।"

इस तरहपर समंतभद्रके हृदयमें कितनी ही देरतक विचारोंका उत्थान और पतन होता रहा। अन्तको आपने यही स्थिर किया कि "क्षुदादिदुःखोंसे घबराकर उनके प्रतिकारके लिये अपने न्याय्य नियमोंको तोड़ना उचित नहीं है; लोकका हित वास्तवमें लोकके आश्रित है और मेरा हित मेरे आश्रित है; यह ठीक है कि लोककी जितनी सेवा मैं करना चाहता था उसे मैं नहीं कर सका; परन्तु उस सेवाका भाव मेरे आत्मामें मौजूद है और मैं उसे अगले जन्ममें पूरा करूँगा; इस समय लोकहितकी आशापर आत्महितको बिगाड़ना मुनासिब नहीं है; इसलिये मुझे अब 'सल्लेखना' का व्रत ज़रूर ले लेना चाहिये और मृत्युकी प्रतीक्षामें बैठकर शांतिके साथ इस देहका धर्मार्थ त्याग कर देना चाहिये।" इस निश्चयको लेकर समंतभद्र सल्लेखनाव्रतकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने वयोवृद्ध, तपोवृद्ध और अनेक सद्गुणालंकृत पूज्य गुरुदेव† के पास पहुँचे और उनसे अपने रोगका सारा हाल निवेदन किया। साथ ही, उनपर यह प्रकट करते हुए कि मेरा रोग निःप्रतीकार जान पड़ता है और रोगकी निःप्रतीकारावस्थामें 'सल्लेखना' का शरण लेना ही श्रेष्ठ कहा गया है*, यह विनम्र प्रार्थना की कि—"अब आप कृपाकर मुझे सल्लेखना धारण करनेकी आज्ञा प्रदान करें और यह आशीर्वाद देवें कि मैं साहसपूर्वक और सहर्ष उसका निर्वाह करनेमें समर्थ हो सकूँ।"

समंतभद्रकी इस विज्ञापना और प्रार्थनाको सुन कर गुरुजी कुछ देरके लिये मौन रहे, उन्होंने समंतभद्रके मुखमंडल (चेहरे) पर एक गंभीर दृष्टि डाली

† 'राजावलीकथे' से यह तो पता चलता है कि समन्तभद्रके गुरुदेव उस समय मौजूद थे और समन्तभद्र सल्लेखनाकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये उनके पास गये थे, परंतु यह मालूम नहीं होसका कि उनका क्या नाम था।

* उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥१२२॥
—रत्नकरंडक।

और फिर अपने योगबलसे मालूम किया कि समंतभद्र अल्पायु नहीं है, उसके द्वारा धर्म तथा शासनके उद्धारका महान कार्य होनेको है, इस दृष्टिसे वह सल्लेखनाका पात्र नहीं; यदि उसे सल्लेखनाकी इजाजत दीगई तो वह अकाल हीमें कालके गालमें चला जायगा और उससे श्री वीरभगवानके शासन-कार्यको बहुत बड़ी हानि पहुँचेगी; साथ ही, लोकका भी बड़ा अहित होगा। यह सब सोचकर गुरुजीने, समंतभद्रकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए, उन्हें बड़े ही प्रेमके साथ समझाकर कहा—"वत्स, अभी तुम्हारी सल्लेखनाका समय नहीं आया, तुम्हारे द्वारा शासन-कार्यके उद्धारकी मुझे बड़ी आशा है, निश्चय ही तुम धर्मका उद्धार और प्रचार करोगे, ऐसा मेरा अन्तःकरण कहता है; लोकको भी इस समय तुम्हारी बड़ी जरूरत है; इसलिये मेरी यह खास इच्छा है और यही मेरी आज्ञा है कि तुम जहाँपर और जिस वेश में रहकर रोगोपशमनके योग्य तृप्तिपर्यंत भोजन प्राप्त कर सको वहींपर खुशीसे चले जाओ और उसी वेषको धारण करलो, रोगके उपशान्त होनेपर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना और अपने सब कामों को सँभाल लेना। मुझे तुम्हारी श्रद्धा और गुणज्ञतापर पूरा विश्वास है, इसी लिये मुझे यह कहनेमें ज़रा भी संकोच नहीं होता कि तुम चाहे जहाँ जा सकते हो और चाहे जिस वेषको धारण कर सकते हो; मैं खुशीसे तुम्हें ऐसा करनेकी इजाजत देता हूँ।"

गुरुजीके इन मधुर तथा सारगर्भित वचनोंको सुनकर और अपने अन्तःकरणकी उस आवाजको स्मरण करके समंतभद्रको यह निश्चय होगया कि इसीमें ज़रूर कुछ हित है, इसलिये आपने अपने सल्लेखनाके विचारको छोड़ दिया और गुरुजी की आज्ञाको शिरोधारण कर आप उनके पाससे चल दिये।

अब समंतभद्रको यह चिंता हुई कि दिगम्बर मुनिवेषको यदि छोड़ा जाय तो फिर कौनसा वेष धारण किया जाय, और वह वेष जैन हो या अजैन। अपने मुनिवेषको छोड़ने का खयाल आते ही उन्हें फिर दुःख होने लगा और वे सोचने लगे—"जिस दूसरे वेषको मैं आज तक विकृत † और अप्राकृतिक वेष समझता आरहा हूँ उसे मैं कैसे धारण करूँ! क्या उसीको अब मुझे धारण करना होगा? क्या गुरुजीकी ऐसी ही आज्ञा है?—हाँ, ऐसी ही आज्ञा है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'यही मेरी आज्ञा है, —चाहे जिस वेषको धारण करलो, रोगके उपशांत होनेपर फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण कर लेना। तब तो इसे अलंघ्य-शक्ति भवितव्यता कहना चाहिये—यह ठीक है कि मैं वेष (लिंग) को ही सब कुछ नहीं समझता—उसीको मुक्तिका एक मात्र कारण नहीं जानता,— वह देहाश्रित है और देह ही इस आत्मा का संसार है; इसलिये मुझ मुमुक्षुका—संसार बंधनोंसे छूटनेके इच्छुकका—किसी वेषमें एकान्त आग्रह नहीं हो सकता *; फिर भी मैं वेषके विकृत और अविकृत

† ···ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥
—स्वयंभूस्तोत्र

* श्रीपूज्यपादके समाधितंत्रमें भी वेषविषयमें ऐसा ही भाव प्रतिपादित किया गया है। यथा—

लिंगं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिंगकृताग्रहाः॥८७॥

अर्थात्—लिंग (जटाधारण नग्नत्वादि) देहाश्रित है और देह ही आत्माका संसार है, इस लिये जो लोग लिंग (वेष) का ही एकान्त आग्रह रखते हैं—उसीको मुक्तिका कारण समझते हैं—वे संसारबंधनसे नहीं छूटते।

ऐसे दो भेद जरूर मानता हूँ, और अपने लिये अविकृत वेषमें रहना ही अधिक अच्छा समझता हूँ। इसीसे, यद्यपि, उस दूसरे वेषमें मेरी कोई रुचि नहीं हो सकती, मेरे लिये वह एक प्रकारका उपसर्ग ही होगा और मेरी अवस्था उस समय अधिकतर चेलोपसृष्ट मुनि जैसी ही होगी; परन्तु फिर भी उस उपसर्गका कर्ता तो मैं खुद ही हूंगा न? मुझे ही स्वयं उस वेषको धारण करना पड़ेगा! यही मेरे लिये कुछ कष्टकर प्रतीत होता है। अच्छा, अन्य वेष न धारण करूँ तो फिर उपाय भी अब क्या है? मुनिवेषको क़ायम रखता हुआ यदि भोजनादिके विषयमें स्वेच्छाचारसे प्रवृत्ति करूँ तो उससे अपना मुनिवेष लज्जित और कलंकित होता है, और यह मुझसे नहीं हो सकता; मैं खुशीसे प्राण दे सकता हूँ परन्तु ऐसा कोई काम नहीं कर सकता जिससे मेरे कारण मुनिवेष अथवा मुनिपदको लज्जित और कलंकित होना पड़े। मुझसे यह नहीं बन सकता कि जैनमुनिकेरूपमें उस पदके विरुद्ध कोई ही नाचरण करूँ; और इसलिये मुझे अब लाचारीसे अपने मुनिपदको छोड़ना ही होगा। मुनिपदको छोड़कर मैं 'क्षुल्लक' हो सकता था, परन्तु वह लिंग भी उपयुक्त भोजनकी प्राप्तिके योग्य नहीं है—उस पदधारीके लिए भी उद्दिष्ट भोजनके त्याग आदिका कितना ही ऐसा विधान है, जिससे उस पदकी मर्यादाको पालन करते हुए रोगोपशांतिके लिये यथेष्ट भोजन नहीं मिल सकता, और मर्यादाका उलंघन मुझसे नहीं बन सकता—इसलिये मैं उस वेषको भी नहीं धारण करूँगा। बिल्कुल गृहस्थ बन जाना अथवा यों ही किसीके आश्रयमें जाकर रहना भी मुझे इष्ट नहीं है। इसके सिवाय, मेरी चिरकालकी प्रवृत्ति मुझे इस बातकी इजाज़त नहीं देती कि मैं अपने भोजनके लिये किसी व्यक्ति-विशेषको कष्ट दूं; मैं अपने भोजनके लिए ऐसे ही किसी निर्दोष मार्गका अवलम्बन लेना चाहता हूं जिसमें खास मेरे लिए किसीको भी भोजनका कोई प्रबन्ध न करना पड़े और भोजन भी पर्याप्त रूपमें उपलब्ध होता रहे।"

यही सब सोचकर अथवा इसी प्रकारके बहुतसे ऊहापोहके बाद, आपने अपने दिगम्बर मुनिवेषका आदरके साथ त्याग किया और साथ ही, उदासीन भावसे, अपने शरीरको पवित्र भस्मसे आच्छादित करना आरंभ कर दिया। उस समयका दृश्य बड़ा ही करुणाजनक था। देहसे भस्मको मलते हुए आपकी आँखें कुछ आर्द्र हो आई थीं। जो आँखें भस्मक व्याधिकी तीव्र वेदनासे भी कभी आर्द्र नहीं हुई थीं उनका इस समय कुछ आर्द्र हो जाना साधारण बात न थी। संघके मुनिजनोंका हृदय भी आपको देखकर भर आया था और वे सभी भावीकी अलंघ्य शक्ति तथा कर्मके दुर्विपाकका ही चिंतन कर रहे थे। समंतभद्र जब अपने देहपर भस्मका लेप कर चुके तो उनके बहिरंगमें भस्म और अंतरङ्गमें सम्यग्दर्शनादि निर्मल गुणोंके दिव्य प्रकाशको देखकर ऐसा मालूम होता था कि एक महाकांतिमान रत्न कर्दमसे लिप्त होरहा है और वह कर्दम उस रत्नमें प्रविष्ट न हो सकनेसे उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता*। अथवा ऐसा जान पड़ता था कि समंतभद्रने अपनी भस्मकाग्निको भस्म करने—उसे शांत बनाने—के लिये यह 'भस्म' का दिव्य प्रयोग किया है। अस्तु।

---

* अन्तःस्फुरितसम्यक्त्वे बहिर्व्याप्तकुलिंगकः।
शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा॥
—आराधना कथाकोश।

संघको अभिवादन करके अब समंतभद्र एक वीर योद्धाकी तरह, कार्यसिद्धिके लिये, 'मणुवकहल्ली'से चल दिये।

'राजावलिकथे' के अनुसार, समंतभद्र मणुवकहल्लीसे चलकर 'कांची' पहुँचे और वहाँ 'शिवकोटि' राजाके पास, संभवतः उसके 'भीमलिंग' नामक शिवालयमें ही, जाकर उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया। राजा उनकी भद्राकृति आदिको देखकर विस्मित हुआ और उसने उन्हें 'शिव' समझकर प्रणाम किया। धर्मकृत्योंका हाल पूछे जानेपर राजाने अपनी शिव-भक्ति, शिवाचार, मंदिरनिर्माण और भीमलिंगके मंदिरमें प्रतिदिन बारह खंडुग † परिमाण तंडुलान्न विनियोग करनेका हाल उनसे निवेदन किया। इसपर समंतभद्रने, यह कहकर कि 'मैं तुम्हारे इस नैवद्यको शिवार्पण ‡ करूँगा,' उस भोजनके साथ मंदिरमें अपना आसन ग्रहण किया, और किवाड़ बंद करके सबको चले जानेकी आज्ञा की। सब लोगोंके चले जानेपर समंतभद्रने शिवार्थ जठराग्निमें उस भोजनकी आहुतियाँ देनी आरम्भ की और आहुतियाँ देते देते उस भोजनमेंसे जब एक कण भी अवशिष्ट नहीं रहा तब आपने पूर्ण तृप्ति लाभ करके, दरवाजा खोल दिया। संपूर्ण भोजनकी समाप्तिको देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। अगले दिन उसने और भी अधिक भक्तिके साथ उत्तम भोजन भेंट किया; परंतु पहले दिन प्रचुरपरिमाणमें तृप्तिपर्यंत भोजन कर लेनेके कारण जठराग्निके कुछ उपशांत होनेसे, उस दिन एक चौथाई भोजन बच गया, और तीसरे दिन आधा भोजन शेष रह गया। समंतभद्रने साधारणतया इस शेषान्नको देवप्रसाद बतलाया; परंतु राजाको उससे संतोष नहीं हुआ। चौथे दिन जब और भी अधिक परिमाणमें भोजन बच गया तब राजाका संदेह बढ़ गया और उसने पाँचवें दिन मन्दिरको, उस अवसर पर, अपनी सेनासे घिरवाकर दरवाजे को खोल डालनेकी आज्ञा दी।

दरवाजेको खोलनेके लिए बहुतसा कलकल शब्द होनेपर समंतभद्रने उपसर्गका अनुभव किया और उपसर्गकी निवृत्तिपर्यंत समस्त आहार पानका त्याग करके तथा शरीरसे बिल्कुल ही ममत्व छोड़कर, आपने बड़ी ही भक्तिके साथ एकाग्र चित्तसे श्रीवृषभादि चतुर्विंशति तीर्थकरोंकी स्तुति * करना आरंभ किया। स्तुति करते हुये, समन्तभद्रने जब आठवें तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभ स्वामीकी भले प्रकार स्तुति करके भीमलिंगकी ओर दृष्टि की, तो उन्हें उस स्थानपर किसी दिव्य शक्तिके प्रतापसे, चंद्रलांछनयुक्त अर्हंत भगवानका एक जाज्वल्यमान सुवर्णमय विशाल बिम्ब विभूतिसहित, प्रकट होता हुआ दिखलाई दिया। यह देखकर समंतभद्रने दरवाजा खोल दिया और आप शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति करनेमें तल्लीन होगये।

दरवाजा खुलते ही इस महात्म्यको देखकर शिवकोटि राजा बहुत ही आश्चर्यचकित हुआ और अपने

---

† 'खंडुग' कितने सेरका होता है, इस विषयमें वर्णी नेमिसागरजीने, पं० शांतिराजजी शास्त्री मैसूरके पत्राधारपर, यह सूचित किया है कि बेंगलोर प्रांतमें २०० सेरका, मैसूर प्रांतमें १८० सेरका, हेगडदेवन कोटमें ८० सेरका और शिमोगा डिस्ट्रिक्टमें ६० सेरका खंडुग प्रचलित है, और सेरका परिमाण सर्वत्र ८० तोलेका है। मालूम नहीं उस समय खास कांचीमें कितने सेरका खंडुग प्रचलित था। संभवतः वह ४० सेरसे तो कम न रहा होगा।

‡ 'शिवार्पण'में कितना ही गूढ अर्थ संनिहित है।

* इसी स्तुतिको 'स्वयंभूस्तोत्र' कहते हैं।

छोटे भाई 'शिवायन' सहित, योगिराज श्रीसमंतभद्र को उद्दंड नमस्कार करता हुआ उनके चरणोंमें गिर पड़ा। समंतभद्रने, श्रीवर्द्धमान महावीरपर्यंत स्तुति कर चुकनेपर, हाथ उठाकर दोनोंको आशीर्वाद दिया। इसके बाद धर्मका विस्तृत स्वरूप सुनकर राजा संसार-देह-भोगोंसे विरक्त होगया और उसने अपने पुत्र 'श्रीकंठ' को राज्य देकर 'शिवायन' सहित उन मुनिमहाराजके समीप जिनदीक्षा धारण की। और भी कितने ही लोगोंकी श्रद्धा इस माहात्म्यसे पलट गई और वे अणुव्रतादिकके धारक होगये *।

इस तरह समंतभद्र थोड़े ही दिनोंमें अपने 'भस्मक' रोगको भस्म करनेमें समर्थ हुए, उनका आपत्काल समाप्त हुआ, और देहके प्रकृतिस्थ होजाने पर उन्होंने फिरसे जैनमुनिदीक्षा धारण करली।

* देखो 'राजावलिकथे' का वह मूल पाठ, जिसे मिस्टर लेविस राइस साहबने अपनी Inscriptions at Sravanabelgola नामक पुस्तककी प्रस्तावना के पृष्ठ ९२ पर उद्धृत किया है। इस पाठका अनुवाद मुझे वर्णी नेमिसागरकी कृपासे प्राप्त हुआ, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

श्रवणबेल्गोलके एक शिलालेख ‡ में भी, जो आजसे आठसौ वर्षसे भी अधिक पहलेका लिखा हुआ है, समन्तभद्रके 'भस्मक' रोगकी शान्ति, एक दिव्यशक्तिके द्वारा उन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति और योगसामर्थ्य अथवा वचन-बलसे उनके द्वारा 'चंद्रप्रभ' (बिम्ब) की आकृष्टि आदि कितनी ही बातोंका उल्लेख पाया जाता है। यथा—

> वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावती देवता—
> दत्तोदात्तपद-स्वमंत्रवचनव्याहूतचंद्रप्रभः।
> आचार्यस्स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
> जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि जो अपने 'भस्मक' रोगको भस्मसात करनेमें चतुर हैं, 'पद्मावती' नामकी दिव्य शक्तिके द्वारा जिन्हें उदात्त पदकी प्राप्ति हुई, जिन्होंने अपने मंत्रवचनोंसे (बिम्बरूपमें) 'चंद्रप्रभ' को बुला लिया और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग (धर्म) इस कलिकालमें सब ओरसे भद्ररूप हुआ, वे गणनायक आचार्य समंतभद्र पुनः पुनः वन्दना किये जानेके योग्य हैं।

‡ इस शिलालेखका पुराना नंबर ५४ तथा नया नं० ६७ है; इसे 'मल्लिषेणप्रशस्ति' भी कहते हैं, और यह शक सम्वत् १०५० का लिखा हुआ है।

"सुखकर वही है, जिससे इच्छा घटे और तृप्ति बढ़े। जिससे इच्छा और अतृप्तता बढ़ती जाय वह सुखकर कभी नहीं हो सकता है।"

"सुखाभिलाषा होनेपर उसी सुखकी कामना चाहिये, जिसका कभी ह्रास न हो और जिसमें दुःख की कालिमा न लगी हो।"

"जो हमारे स्वाधीन है और विपत्तिमें हमसे जुदा न हो, वही आनन्द है—सच्चा सुख है।"

"अपनी इच्छाओंको सीमाबद्ध करनेमें सुखको खोजो, नकि उन्हें पूर्ण करनेमें।"

"उच्च आकांक्षाका तो कहीं अन्त ही नहीं है। आवश्यकताएँ जहाँ तक हो, संक्षिप्त करलो। देखें फिर सुख कैसे नहीं आता है।"

—विचारपुष्पोद्यान

जैनसाहित्यके प्रचारकी आवश्यकता

[लेखक—श्री सुरेन्द्र]

भारतकी अन्य जातियां अपने उत्थानके लिए सतत प्रयत्न कर रही हैं। धर्मप्रचारके हेतु न जाने कितने प्रयत्न किए जा रहे हैं। उनके अपने दल स्थापित हो रहे हैं। नवयुवकोंमें जीवन-प्रदान करनेके लिए धर्म-प्रेम और देश-प्रेमके भावोंको कूट-कूट कर भरा जा रहा है। उनकी संख्यामें भी यथेष्ट अभिवृद्धि हो रही है। पर जैन जातिके युवकगण और वृद्धगण अपने उसी सांचेमें ढले हुए हैं। उनमें वह जोश नहीं है जो अन्य जातियोंके जनसमूह की नस नसमें विद्यमान है। दुनिया उन्नतिके मार्ग पर चल पड़ी है, पर हमारी जैन जाति अभी अपने घरसे भी नहीं निकली है। कुछ युवकगण उस पथ पर आना चाहते हैं, अपनी जातिके मुखको धवलित करना चाहते हैं, पर उनके पास ऐसे साधन नहीं हैं। वे समाजके अनुचित बन्धनमें जकड़े हुए हैं। समाजके अप्रगतिशील मनुष्य इन युवकों के लघु अंश जोश को एक खेल समझते हैं और उनको निठल्ला सम्बोधित करते हैं। किसी भी प्रकार की प्रगति चाहे वह सामाजिक हो या सामयिक समाजके इन कर्णधारों द्वारा ठुकरा दी जाती है। युवकगण हतोत्साह हो जाते हैं और उनका मन गिर जाता है।

किसी भी जातिका अभ्युत्थान नवयुवकोंपर निर्भर है। वे सब कुछ कर सकते हैं। सब कुछ करनेके लिए उनमें काम करनेकी लगन और आशाका संचार होना चाहिए, जिसके लिए एक योग्य नेताकी आवश्यकता है, जो समय समय पर उनकी उठती हुई निराशाको आशामें परिवर्तित कर सके, जो उन नवयुवकोंका अपना कर्णधार बन सके, एक मित्र बन सके और मित्रके रूपमें एक सहायक भी हो सके। साथ ही शरीरबल, बुद्धिबल और आत्मबल की भी परम आवश्यकता है। जब तक उपर्युक्त बातोंका समावेश हरएक नवयुवकमें यथेष्ट मात्रामें न होगा, तब तक वह जात्युत्थानके कार्यमें सफलीभूत नहीं हो सकता। अपने बुद्धिबलसे ही वह अपनी जातिके मुखको उज्ज्वल कर सकेगा। इस बुद्धिबलको प्राप्त करनेके लिए प्रथम ही शरीरबल और आत्मबलकी परम आवश्यकता है। हरएक मानवको धर्मका वास्तविक अधिकारी होनेके लिए बुद्धिकी शरण लेनी पड़ती है। धर्मकी शिक्षा ही, जो उसे अन्तर्जगत में प्रविष्ट करा सके और उच्च अध्यात्मवादके पथपर आरूढ़ करा सके, उसकी आदर्श कर्णधार बनेगी। उसका धर्मका अध्ययन तत्त्वोंपर आश्रित हो, न कि ऊल-जलूल बाह्य विषयों पर। आजका ज़माना शान्तिकी कामना करता है। उसे आज ऐसे वास्तविक धर्मकी आवश्यकता है जो अखिलविश्वको एक प्रेमसूत्रमें बांध सके। प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें नृत्य करती हुई अशान्तिको शान्त कर सके। जब तक नवयुवक इन सब बातोंमें सुसम्पन्न नहीं हो जाता, तब तक वह एक 'जैन नवयुवक' कहलानेका वास्तविक अधिकारी नहीं है। धर्मकी ओर जितनी ही उसकी प्रवृत्ति होगी, उतना ही वह जातिका मुख उज्ज्वल कर सकता है। धर्म तथा साहित्यका पारदर्शी एक नवयुवक ही लुप्त प्राय जैन साहित्यकी खोज कर सकता है। जैनधर्मका वास्तविक अध्ययन करने वाला मनुष्य ही जैनधर्मके उच्चतम तत्त्वों का प्रकाश अन्य जातिके लोगोंके सामने रख सकता है, इतना ही नहीं उनके हृदयको जैनदर्शनके सिद्धान्तों और उसके साहित्यकी ओर आकृष्ट भी कर सकता है। हमारी

भारतमाताको ऐसे ही नवयुवकोंकी आवश्यकता है जो उसकी इस निराश्रित आत्माको शान्ति दे सकें। स्वामी विवेकानन्दका कथन है कि विदेशमें धर्मप्रचारके द्वारा ही हमारी संकीर्णता दूर हो सकती है। जैनसमाज और जैनधर्मकी संकीर्णताका एकमात्र कारण अपने धर्मका प्रचार न करना है। स्वामीजी भारतकी संकीर्णताको विदेश में धर्म--प्रचार द्वारा ही दूर करनेका उपदेश दे गये हैं। बिलकुल उसी ढंगसे हम कह सकते हैं कि जैनजाति और जैनधर्मकी संकीर्णताको देशमें धर्म-प्रचार-द्वारा ही निवारण कर सकते हैं।

धर्म-प्रचारकी व्याख्या करते हुए स्वामी विवेकानन्दजी ने अपने एक भाषणमें कहा था कि—"भारतके पतन और दुःख-दरिद्रताका मुख्य कारण यह है कि उसने अपने कार्यक्षेत्रको संकुचित कर लिया था। वह शामुककी तरह दरवाजा बन्द करके बैठ गया था। उसने सत्यकी इच्छा रखनेवाली आर्येतर दूसरी जातियोंके लिए अपने रत्नोंके भण्डारको—जीवन-प्रद सत्य रत्नोंके भण्डारको—खोला नहीं।" हम लोगोंके पतनका भी सबसे मुख्य कारण यही है कि हम लोगोंने अपने घरसे बाहर जाकर अन्य जातियों के सामने अपने साहित्यरत्नोंको तुलनादिके लिए नहीं रक्खा। अतः जैन-साहित्यको और खासकर लुप्तप्राय जैनसाहित्य को खोजकर प्रकाशित करने तथा प्रचार करनेकी अत्यंत आवश्यकता है। आज हमारा अगणित जैनसाहित्य मन्दिरोंकी कालकोठरियोंमें पड़ा पड़ा गल सड़ रहा है और दीमकों आदिके द्वारा नष्ट-भ्रष्ट किया जारहा है! जातिके कर्णधार कहलाने वाले और शास्त्रोंके अधिकारी उसे आजन्म बन्दीके समान बन्द किए हुए हैं! उनकी कृपासे आज हमारे जैनधर्मका दरवाजा दूसरोंके लिए प्रायः बन्द है! जब तक नगर नगरमें प्रचारक संस्थायें और लुप्तप्राय जैन साहित्यकी उद्धारक संस्थायें न होंगी और जातिके प्रचारक तथा रिसर्च-स्कालर्स (Research scholars) तन-मन-धन से साहित्यके अनुसंधान तथा प्रचारके कार्यको न करेंगे, तब तक यह जैनजाति कभी भी अपनी संकीर्णता को दूर कर अपनेको भारतकी उन्नतिशील जातियोंके समकक्ष खड़ा करनेमें समर्थ नहीं हो सकती और न अपनी तथा अपने धर्मकी कोई प्रगति ही कर सकती है।

बुझता दीपक

(१)
धाँय धाँय कर अन्तस्तल में
भभक रही है ज्वाला,
खण्ड खण्ड हो टूट गई है
चिर-संचित - मणिमाला!

(२)
उमड़ पड़ा पाखंड शाकिनी-
रूप हुई सुरबाला,
बिखर पड़ा है प्यार, उलटकर
प्रेम - सुधा का प्याला!

(३)
जग बदला, कलिका मुरझाई,
उजड़ गया नव - उपवन,
उसमें पनप रहा मुस्काकर
मुझ दुखिनी का यौवन!

(४)
पर सँभलो यह मुस्काना है
उस दीपक की ज्वाला,
जो बुझने पर ज्योतिर्मय हो
करदे श्याम - उजाला।

(श्री कल्याणकुमार जैन 'शशि')

भक्तियोग-रहस्य

[सम्पादकीय]

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा परस्पर समान हैं—कोई भेद नहीं—, सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है। प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्त दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख और अनन्त वीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है—पिण्ड है। परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एकसौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं। इस कर्म-मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नज़र आते हैं। अनेक अवस्थाओंको लिये हुए संसारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीवजगत भेदरूप है; और जीवकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं। जबतक किसी जीवकी यह विभाव-परिणति बनी रहती है, तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है; जब योग्य साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त। इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके 'संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं; अथवा अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बाँटा जा सकता है। और इस लिये जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं, जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्मगुणोंका विकास सबके लिये इष्ट है।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव-परिणतिको छोड़कर स्वभावमें स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करें। इसके लिये आत्म-गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमें वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अननुरागी अथवा अभक्त-हृदय गुणग्रहणका पात्र ही नहीं, बिना परिचयके अनुराग बढ़ाया नहीं जा सकता और बिना विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती। और इस लिये अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये—उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिये और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नक़शे क़दमपर

चलना चाहिये अथवा उनकी शिक्षाओंपर अमल करना चाहिये, जिनमें आत्माके गुणोंका अधिकाधिक रूपमें अथवा पूर्णरूपसे विकास हुआ हो; यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है। वास्तवमें ऐसे महान् आत्माओंके विकसित आत्मस्वरूपका भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिये अपने आत्माका अनुभवन और मनन है; हम 'सोऽहं' की भावनाद्वारा उसे अपने जीवनमें उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उनकी कुछ भी गरज नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिये की जाती है। इसीसे सिद्धिके साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे 'भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्तिद्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा 'भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्तनको अथवा उनके प्रति गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति-पूजा-वन्दनादि रूपसे इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्ववर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, शुभोपयोगि चारित्र' लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदनका अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी—कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है, जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल-क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोंका उदय होता है, जिससे आत्माका विकास सधता है। इससे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्माकी स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है और अपने तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी इसीको निर्दिष्ट किया है, और इसी लिये स्तुति-वंदनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओं-में ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्तर्दृष्टिपुरुषों (मुनियों तथा श्रावकों) के द्वारा आत्मगुणोंके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती हैं। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रूढि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना संचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिसका सम्बन्ध विवेकसे है। विना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती, और न बिना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

———

आत्म-बोध

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

'वे सब बातें कीजिए। जिन्हें आत्मोन्नतिके इच्छुक काममें लाया करते हैं। दिन-रात ईश्वराराधन, आत्म-चिन्तवन और कठिन व्रतोपवास करते रहिए। लेकिन तब तक वह 'सब-कुछ' नहीं माना जा सकता, जब तक कि 'आत्म-बोध' प्राप्त न हो जाए! हाँ, आत्म-बोध' ऐसी ही चीज़ है, उसे पाकर 'इच्छा' मिट जाती है; क्योंकि वह सर्वोपरि है!'

(१)

मनमें सन्तोष रहता है कि अमुक चीज़ हमने अमुकको दे दी। लेकिन वैसी हालतमें दिलपर काबू करना सख्त मुश्किल मालूम होता है, जब कोई चीज़ असावधानीसे खो जाए! इससे बहस नहीं चीज़ घटिया रहे या क़ीमती! 'खो जाने' की जहाँसे हद शुरू होती है, वहींसे मनकी शान्ति, प्रायः दूर भागने लगती है!···

सूर्यमित्रको अगर चरमदुःख है, तो कुछ बे-जा नहीं! हो सकता है—'गतं न शोच्यं' के मानने वाले कोई धीमान् उन्हें बज्र-मूर्ख कहनेपर उतारू हों। पर यह उतना ही अन्याय-पूर्ण रहेगा, जितना वासना-त्यागी, परम शान्त, दिगम्बर-साधुको दरिद्री कहना! ···घरका कोना-कोना खोज डाला गया! नगर-वीथियां, राजपथ—जहाँ जहाँ उन्होंने गमन किया है—सब, सतर्क-दृष्टि द्वारा देखे जाचुके हैं। लेकिन अँगूठी का कहीं पता नहीं! कोई जगह ऐसी नहीं बाकी रही जहां उसे न ढूँढा-ढकोरा गया हो! बहुत याद करने पर भी सूर्यमित्रको इसका जवाब नहीं मिल रहा कि अँगूठी कब तक उँगलीमें रही, और कब, किस जगह उँगलीसे निकल कर खो गई?'

चीज़का खोजाना ही जहाँ दुःखका कारण है, वहाँ सूर्यमित्रको उससे भी कुछ ज्यादह वजूहात हैं! पहली बात तो यह, कि अँगूठी बेश-क़ीमती है! अलावः इसके बड़े रंज और घबराहटकी गुञ्जायश यों है कि अँगूठी अपनी नहीं, वरन् एककी—थोड़े ही समयके लिए रखने-भरकी अमानत थी! अमानत ऐसेकी है जिसे डाट-डपट कर संतुष्ट नहीं किया जा सकता, बहाना बनाकर पिण्ड नहीं छुड़ाया जा सकता।··· वह हैं राजगृहीके प्रतापशाली महाराज!

बात यों हुई।—महाराज सूर्यमित्रको मानते-चीनते हैं, राजका उठना-बैठना, करीब-करीब बे-तकुल्लुफ़ी का-सा व्यवहार! मगर सिर्फ महाराजकी ओरसे ही! क्योंकि सूर्यमित्रको तो राज्य सम्मान करना जैसे आवश्यक ही है!

कुछ कारण विशेष होनेपर महाराजने अँगूठीको उँगलीसे उतारा। सूर्यमित्र पास ही थे, दे दी ज़रा रखनेके लिये। मिनिट, दो मिनिट तो सूर्यमित्र

अँगूठीको मुट्ठीमें दबाये रहे। फिर देखा तो महाराज को भी अँगूठी वापस लेनेमें देर थी। अहतियातन सूर्यमित्रने अँगूठीको उँगलीमें डाल लिया।······

और बातोंहीबातोंमें घर लौट आए! न इन्हें अँगूठी वापस करनेकी याद रही, न महाराजको माँग लेनेकी। घर आकर निगाह गई तो अँगूठी उँगलीमें! सोचा—'भूल होगई। कल दर्बारमें हाज़िर कर देंगे। और क्षमा-याचना भी, अपनी असावधानी की!'

अँगूठी उँगली में ही पड़ी रही!

सुबह जब दर्बारमें चलनेका वक्त हुआ तो उँगली पर निगाह गई—सूनी उँगली!!!

सूर्यमित्रके दम खुश्क! शरीरकी रक्तप्रवाहिनी नालियाँ जैसे रुकने लगीं। आंखोंके आगे काले-बादलों जैसे उड़ने लगे। वह सिर थाम कर वहीं बैठ गए। सिर जो चकरा रहा था। माथेपर पसीने की बूंदें झलक आईं!

'अँगूठी कहाँ गई?—'

हृदयके भीतरी कोनेसे आवाज उठी और शरीर के रोम-रोममें समा गई!··· लेकिन उत्तर था कहाँ?—देता कौन? स्वयं सूर्यमित्रका हृदय ही मौन था।

सारा परिवार दुःखित, भृत्यदल चिंतित और सारे परिचित व्यथित। घरमें अनायास जैसे भूकम्प का हमला हुआ हो!···

सूर्यमित्रका मन दुश्चिन्ताओंमें जकड़ रहा है। जैसे मरी-मक्खीको चींटियाँ पकड़ रखती हैं। तन-बदनकी सुध उन्हें नहीं है। आज दर्बारमें जाना स्थगित कर दिया है। खाने-पीनेको ही नहीं, बल्कि भूख तकको भूले बैठे हैं!

सोचना ही जैसे जरूरी काम है उनका आज! सोच रहे हैं—'महाराजको क्या जवाब दिया जायगा? दर्बारमें जाने तककी हिम्मत नहीं पड़ रही, फिर मुँह किस तरह दिखायें? अगर इसी दरम्यान उनकी बुलावट आजाये? ठीक उसी तरहकी अँगूठी बन सकेगी? नमूना बताया कैसे जायगा? और फिर··· कितनी रक़म चाहिए—उसके लिए? कुछ शुमार है! यह मैं कर कैसे सकता हूं? काश! अँगूठी कहीं मिल जाए? ··क्या होगा अब? यह कौन बताए? ज्योतिष-विद्या-कोविद भी तो ठीक-ठीक नहीं बतला पा रहे। घोर संकट है। कैसी कडुवी समस्या है?···'

दुपहरी ढलने लगी।

सूर्यमित्रकी दशामें कोई अन्तर नहीं। मुँह सूख रहा है। मन काँप रहा है। शरीर तापमानकी गर्मीसे झुलसा जारहा है। घरमें चूल्हा नहीं सुलगा। मरघट उदासी का शासन व्यवस्थितरूपसे चल रहा है।—किसीकी आँखें बरस रही हैं, कोई हिचकियाँ ले रहा है। घातककल्पना, या अज्ञात-भय आँखोंमें, हृदयमें ठस रहा है—'महाराजका क्रोध जीवित छोड़ेगा या नहीं?'

सूर्यमित्र छतपर चहल-क़दमी कर रहे थे, इस आशासे कि मनकी व्यथा शायद कुछ घटे, कि अनायास सड़कपर जाते हुए एक उल्लसित-जत्थेपर उनकी नजर पड़ी! जत्थेमें बूढ़े थे, अधेड़ थे, जवान थे और खुशीमें ललकते हुए बालक! कुछ स्त्रियाँ भी थीं, जिनके ओठोंपर पवित्र-मुस्कान-सी हिलोरें लहरा रही थीं।···विश्व-वैचित्र्यके इस ज्वलन्तउदाहरणने सूर्यमित्रके दुखते हुए मनमें एक चमकसी पैदा की! मन मचल पड़ा—'ये लोग कहाँ जा रहे हैं?'

दर्याफ्त कराया गया।—'वासनाहीन, परम-शान्त, तपोधन, दिगम्बर-साधु महाराज 'सुधर्माचार्य' नगर-निवासियोंके भाग्योदयसे प्रेरित होकर, समीपके उद्यानमें पधारे हैं। सुखाभिलाषी, धर्म-प्रेमीजन उनके दर्शन-वन्दन द्वारा महत्पुण्योपार्जनके लिए जारहे हैं।

सूर्यमित्रका स्वार्थ करवट बदलने लगा। अकारण ही, ऋषिआगमनमें उन्हें अपनी चिन्ता-निवृत्तिका आभास दिखलाई देने लगा। विचार आया—'सम्भव है ये साधु अपने तपोबल, या विद्याबल द्वारा अंगूठीके बारेमें कुछ बतला सकें! लेकिन······।'

उसी वक्त विचारोंके मार्ग में रुकावट आ खड़ी हुई।—'लेकिन मेरा एक जैन-ऋषिके पास जाना, कहाँ तक ठीक रहेगा? प्रजाकी दृष्टिमें··?—अगर महाराजने सुन पाया···?···मैं···? मैं एक राज्य-कर्मचारी होकर एक साधुके पास. दीनताके भाव लेकर जाऊँ?—नहीं, यह हर्गिज़ उचित नहीं। अँगूठीके लोभमें पद-मर्यादाको भूलजाना मूर्खता होगी।'

अन्तर्द्वन्द !!!—

'पर, अँगूठीकी समस्याका हल होना तो जरूरी है। बग़ैर वैसा हुए मेरा पद खतरेसे खाली है, यह कौन कह सकता है? अँगूठी साधारण नहीं, मूल्य-वान् है। मेरा भविष्य उसके साथ खोया जा रहा है। उसके अन्वेषणका मार्ग निश्चित होना ही चाहिए।'

दुविधा! असमंजस !!—

क्या करना चाहिए? आशापर सब-कुछ किया जाता है। फिर अपना स्वार्थ भी तो है। अगर अँगूठी मिलनेका उपाय मिल गया तब? साधुओंके पास बड़ी-बड़ी विद्याएँ होती है, कौन जानें उन्हींमेंसे ये हों! तो······? शामको ज़रा अबेरी चलना ठीक रहेगा। ज्यादह लोग देख भी न सकेंगे, और मतलब भी पूरा हो जायेगा।'

अब सूर्यमित्रके मुँहपर बदहवासीकी कुछ कम रेखाएँ थीं। भीतर आशा जो उठ—बैठ रही थी।

× × × ×

[२]

मन ललकारता, पैर पीछे हटते। आशा उत्तेजित करती, पदमर्यादा मुर्दा बनाती। स्वार्थ आगे धकेलता, संकोच पीछे खदेड़नेको तुल जाता! बड़ी देर तक यही होता रहा। सूर्यमित्र आचार्यप्रवरके समीप तक न पहुंचकर, दूर ही दूर चक्कर काटते रहे। कभी सोचते—'लौट चलें।' कभी—'आए हैं तो पूछना चाहिए।'

ज्ञान सिन्धु आचार्य—महाराजने देखा—'निकट-भव्य है—आत्मबोध प्राप्त कर सकता है।'

उधर सूर्यमित्र सोच रहे हैं—'इतने नागरिकोंके बीच, मैं कैसे पूछ सकूँगा कि मेरी अंगूठी कहाँ गई? मिलेगी या नहीं? मिलेगी तो कब, कहाँ?'···

···कि साधुशिरोमणि स्वयं कह उठते हैं—'सूर्य-मित्र! अपने महाराजकी अँगूठी खोकर अब चिन्ता-वान् बन रहे हो? वह सान्ध्यतर्पण करते समय, उँगलीसे निकल कर—तालाबके कमलमें जा गिरी है। सुबह कमल खुलनेपर मिल जायेगी, चिन्ता क्या है!'

सूर्यमित्रके जलते हुए हृदयपर जैसे मेघ-वृष्टि हुई। कम अचम्भित हुए हों, यह भी नहीं। काश! साधु-शब्द सच निकलें!'—के साथ २ यह भी सोचने लगे कि—'है जरूर कोई-न-कोई विद्या, इनके पास! नहीं, मेरा नाम लेकर सम्बोधन कैसे किया? अँगूठी

राजाकी थी यह इन्हें कैसे मालूम ? इसका तो किसी को भी पता नहीं है—अब तक।'

और वह लौट पड़े उसी दम ! बग़ैर कुछ कहे-सुने, चुप ! हल्की प्रसन्नता और झीना-सन्देह दोनों उनके साथ थे।

× × × ×

रात, कैसी विह्वलता कैसी असमंजसता और कैसी धूप-छायासी आशा-निराशाके साथ बीती। यह कहनेसे अधिक अनुमान लगानेकी बात है।

सुबह हुआ ! सूर्य चढ़ा ! सूर्यमित्र-कमल-विकसित हुए। तभी दो अत्यंत लालायित आँखोंने देखा—रत्नालंकृत, नेत्र-वल्लभ, सुन्दर अँगूठी, विशाल पंखुरियों वाले मनोहर कमलकी गोदमें पड़ी मुस्करा रही है।

हर्षमें डूबे हुए शरीरके दोनों हाथोंने शीघ्रता पूर्वक उसे प्राप्त कर लिया, और इसके दूसरे ही क्षण अँगूठी सूर्यमित्र की उँगलीमें पड़ी, अपने सौभाग्य पर जैसे हँस रही थी।···

सूर्यमित्र दर्बार गए—मनमें न संकोच था, न भय। हमेशाकी तरह प्रसन्न, गंभीर, गुरुत्वपूर्ण।

बैठे ! अपनी भूलकी समालोचना करते हुए अँगूठी महाराजको सौंपी। उन्होंने मामूली तवज्जहके साथ अँगूठी हाथमें ली और उँगलीमें पहिन ली।

एक छोटी, संक्षेप सी मुस्कराहट उनके ओठों पर दिखलाई दी।

फिर दैनिक राजकार्य।

× × × ×

[३]

इन दिनों सूर्यमित्रका जीवन जाने कैसा बन रहा है ? पिछली रात भी विह्वलता, भूखसी, चावसा, अधूरापनसा नींद नहीं लेने देता था। आज भी वही सब कुछ है। फर्क है तो इतना कि आज उस तकलीफ़की किस्ममें तब्दीली होगई है।···

रात बीतती जारही है। पर सूर्यमित्रका ध्यान उसकी ओर क़तई नहीं है। वह सोच रहे हैं—'कितनी उपयोगी, कितनी अमूल्य, कितनी कल्याणकारी विद्या है ? ऐसी विद्या पाने पर संसारमें क्या नहीं किया जासकता ? जरूर लेनी चाहिए—यह विद्या ! फिर ब्रह्म बालकका तो विद्यापर पूर्णाधिकार है। जो विद्या ले वह थोड़ी।'

विद्या प्राप्त होनेपर वह क्या २ कर सकते हैं ? कौनसा विद्वान् तब उनके मुक़ाबिलेका गिना जा सकेगा ? भविष्यके गर्भमें क्या है, क्या अतीतकी गोद में समा चुका है ? जब यह वह बताएँगे, तब कितना यश, कितना नाम उन्हें संसारमें मिलेगा ? महाराजके हृदयमें तब उनके लिए कितनी जगह बन जायेगी ? आदि मधुर-कल्पनाएँ, चलचित्रकी तरह आँखोंके आगे सजीव बन कर आने लगीं।

और···?—इसी अतृप्त-लालसाके सुनहरे-स्वप्नों में रातकी रात बीत गई। लेकिन सुबह, प्रभातके नए सूरजके साथ-साथ सूर्यमित्रके हृदयमें भी एक नवीनताने जन्म लिया। वह थी—विद्याप्राप्तिकी अटूटचेष्टा···। विद्या मनमें चुभ जो गई थी। मनमें चुभीका उपाय है—दृढ़संकल्प। रातभर जो कोरीआँखों उधेड़बुन होती रही है, उसने सूर्यमित्रको इसी नतीजेपर पहुँचाया है। अब उन्हें रुकावटें, पथभ्रष्ट नहीं कर सकतीं। बाधाएँ चित्तवृत्तिको डुला नहीं सकतीं। जो लहर उठी है, वह विद्या प्राप्त होने तक अब उनका साथ देगी।

यह है अन्तरात्माकी पुकार ! आत्म—विश्वासका खुला रूप !!!

× × × ×

[४]

बग़ैर इस बातका विचार किए कि हम राज्य-मान्य पुरोहित हैं। पद-मर्यादा भी कोई चीज़ है। जिन्हें सिर नवा रहे हैं, वह अपने मान्य-संन्यासी नहीं, वरन् दिगम्बरत्वके हामी, एक महर्षि हैं।—सूर्यमित्रने विनयपूर्वक तपोधन सुधर्माचार्यको प्रणाम किया।

आज उनके हृदयमें संकोच नहीं है। घबराहट भी नहीं, कि कोई देखलेगा। मुँहपर सन्तोष है, आँखोंमें विनय।

महाराजने 'धर्मवृद्धि' दी। कहा—'आत्मबन्धु ! अँगूठी मिल गई, अब क्या चिन्ता है ?'

'महाराज !···' सूर्यमित्रने कहना चाहा, लेकिन कह न सके। सोचने लगे किन शब्दोंमें कहा जाए ? बातकी शुरूआत कहाँसे हो ? सवाल 'माँगने'का है। 'माँगना' वह काम है जो दुनियाके सारे कामोंसे मुश्किल—कठिन—होता है।

क्षणोंके अन्तरालके बाद—महाराज बोले—'कहो सूर्यमित्र ! क्या कहना चाहते हो ?'

सूर्यमित्रका मन खुलसा गया। महाराजके वचन-माधुर्यमें उन्हें वह आत्मीयता मिली, जो अब तक उनसे दूर थी। आडम्बर—रहित शब्दोंमें, चरणोंमें सिर नवाते हुए बोले—'योगीश्वर ! हमें वह विद्या दो, जिसके द्वारा तुम अन्तरकी बात जान लेते हो, खोई—वस्तुका भेद समझ पाते हो।'

महाराज मुस्कराये।

शायद सोचने लगे—'कितना भोला है—यह मानव ! विद्या-लोभने इसे पराजित कर रक्खा है, भूल रहा है कि—'वह विद्या कोई अलग वस्तु नहीं।' बल्कि इसीकी अपनी चीज़ है। केवल 'अनसमझ'के अन्तरने उसे 'पर' बना दिया है। चाहे तो तत्काल उसे पा सकता है, है ही उसकी इस लिए।'

फिर बोले—'तो उस विद्याकी ही केवल इच्छा रखते हो—सूर्यमित्र ?

जिसे वह 'महान्' समझकर माँग रहे हैं, गुरुदेव के लिए वह साधारणसे अधिक नहीं। उसके लिये 'केवल' शब्द इस्तैमाल कर रहे हैं। इस उदार रहस्य ने उन्हें चौंका दिया। जागरित लालसामें बल-संचार हुआ। विचार आया—'होनहो ऋषिके पास इससे भी मूल्यवान् और भी विद्याएँ हैं। तभी यह बात है। लेकिन एक साथ ज्यादहके लिए मुँह फैलाना शायद ठीक न रहेगा। मुमकिन है—तपस्वी जी नाराज़ होजाएँ। 'राजा, योगी, अग्नि, जल इनकी उल्टी रीति।'—मशहूर ही तो है। फिर अपनका इतनेसे फिलहाल काम चल सकता है। बाक़ी फिर···।

अधिक से अधिक स्वरमें मिठास लानेका प्रयत्न करते हुए सूर्यमित्रने उत्तर दिया—'हाँ ! महाराज ! वह विद्या मुझे मिलनी चाहिए। बड़ी कृपा होगी, आजन्म एहसान मानूँगा।'

'विद्या देनेमें तो मुझे उज्र नहीं। लेकिन मुश्किल तो तुम्हारे लिए यह है कि विद्या, बिना मेरा जैसा वेष धारण किये आती ही नहीं। सोचो, इसकेलिए मैं क्या कर सकता हूँ ?'—

—महाराजने गंभीर स्वरमें, वस्तुस्थितिके साथ साथ अपनी विवशता सामने रक्खी।

सूर्यमित्र उत्सुक नेत्रोंसे ताकते रहे, बोले कुछ नहीं। सम्भव है, बोलनेके लिए उन्हें शब्द ही न मिले हों—मनमाफ़िक।

चुप उठकर चले आए।

× × × ×

(५)

घर आकर सूर्यमित्रने मशवरा किया। विद्याकी महत्ता मनमें घुल जो चुकी थी। सहज ही वह विद्या लोभको छोड़ कैसे सकते थे ?···

कहने लगे—'दिगम्बर साधु बनकर भी अगर वह विद्या मुझे मिलती है, तो मेरा खयाल है—इतने में भी मँहगी नहीं। दिगम्बर साधु बनना अपनी मान्यताके खिलाफ़ जरूर है. लेकिन मैं जो बन रहा हूँ वह भक्तके रूपमें नहीं. वरन् विद्याप्राप्तिके, साधन के तरीकेपर। वह भी हमेशा-हमेशाके लिए नहीं, सिर्फ विद्याको 'अपनी' बना लेने तक ही। अब विचार करो क्या हर्ज है ?···मेरा तो यही मत है कि दिगम्बर साधु बनना उतना बुरा नहीं, जितनी गहरी भूल इस सुयोगको छोड़ देनेसे होगी।

ब्राह्मणपरिवारके आगे विषम समस्या है। घुटी के लाभ जहाँ पीनेके लिये प्रेरित करते हैं, बदज़ायका उतना ही रोक देनेकी हिम्मत दिखाता है।···बात कुछ देर 'नाहीं-नुकर' की घाटीमें पड़ी रही। लेकिन सूर्यमित्र की 'लगन' में काफ़ी मजबूती थी, बल था। आखिर सब लोगोंको स्वीकारोक्ति द्वारा उनका मार्ग अबाधित करना ही पड़ा।

आगे बढ़े !

स्त्रीने आकर रास्ता रोक लिया। रुँधे हुए गलेसे जैसे बड़ी देर रो लेनेके बाद अब बोलनेका मौक़ा मिला हो, बोली—'कहाँ चले ? बच्चोंकी, मेरी, किसी की कुछ चिंता नहीं, विद्या ही सब कुछ तुम्हारी बन रही है ?···संन्यासी बनोगे ? मैं कैसे घरमें रह सकूँगी ?'

वह रोदी !

उसे जैसे रोना जरूरी था।

पर सूर्यमित्रने समझा उसे बाधा। बोले—घबराओ नहीं। मैं संन्यासी जरूर बन रहा हूँ, लेकिन यह मत समझो, कि तुम्हें या बच्चोंको भूल जाऊँगा। मुझे किसीकी चिन्ता न रहेगी। नहीं, सब तरह ऐसा ही रहूँगा। सिर्फ़ दिगम्बर-साधुका रूप रखना होगा। विद्या जो बिना वैसा किए नहीं आती। मजबूरी है न ?—इसी लिए !'

'तो कब तक लौट सकोगे ?'—स्त्रीने हारकर, आधीनस्थ-स्वरमें पूछा।

'वापस ? विद्या मिली नहीं कि लौटे नहीं। साधु बननेका शौक़ थोड़ा है ?—बहुत लगा—महीना भर।'—और वह जैसे पिण्ड छुड़ाकर भागे !

× × × ×

[६]

दूसरा दिन है।—

सूर्यमित्र दिगम्बर-साधुके भव्य वन्दनीय वेषमें, तपोनिधि सुधर्माचार्यके समीप विराजे हैं। भक्त-गण आते हैं, श्रद्धा-पूर्वक अभिवादनकर, पुण्य-लाभ लेते हैं, और चले जाते हैं।

अवसर पाकर सूर्यमित्र बोले—'प्रभो। आज्ञा-नुकूल मैंने साधुता स्वीकार करली। अब मुझे विद्या मिल जानी चाहिए।'

'जरूर !'—वात्सल्यमयी स्वरमें महाराज ने उत्तर दिया—'लेकिन जरा धैर्यसे काम लो। मेरी तरह क्रियाएँ करो, आत्मविश्वास रखो; और शास्त्र-अध्ययनमें दिन बिताओ। अवश्य तुम्हें विद्याएँ प्राप्त होंगी। एक वही नहीं, और भी साथ-साथ।'

सूर्यमित्रने बातें सुनी ही नहीं, हृदयमें धरलीं। तदनुकूल आचरण भी किया—अटूट लगन, और श्रद्धाके साथ !

कई दिन आए और चले गए।

हृदयमें कुछ ज्ञान-संचार होने लगा। लगने लगा जैसे आँखोंके आगेसे परदासा उठता जा रहा है।

पूछने लगे—'स्वामी! शास्त्रस्वाध्यायमें आनन्द तो खूब आता है, पर अभी वह विद्या मुझे नहीं मिल सकी।'

'मिलेगी! जिस दिन विद्याकी लालसा मनसे दूर हो जायेगी, उसी दिन विद्या तुम्हारे चरणोंमें लोटेगी।'—महाराजने गंभीर वाणीमें व्यक्त किया।

सूर्यमित्रका मन धुलता जारहा है। वासनाएँ क्षीण होरही हैं। ज्ञान जागरित होरहा है।

बहुत दिन बीत गए।

शास्त्र-अध्ययन करते २ वह सोचने लगे—एक दिन!···'ओफ़! विद्याके लोभमें मैंने इतने दिन निकाल दिये। कपूर देकर कंकड़ लेना चाहता था? वज्र-मूर्खता! महान् ऐश्वर्यका स्वामी यह आत्मा; आज कितना हीन बन रहा है। क्या नहीं है—इसके पास? लेकिन सांसारिकता इसका पीछा छोड़े तब?'

इसी समय गुरुदेव बोले—'कहो सूर्यमित्र! अब विद्याकी लालसा बाक़ी है क्या?···चाहिये?'

सूर्यमित्रने तत्काल उत्तर दिया—'नहीं, प्रभो! अब मुझे विद्याकी जरूरत नहीं। अब मुझे उससे कहीं मूल्यवान् वस्तु—आत्मबोध मिल चुका है। उसे पा लेनेपर किसीकी इच्छा नहीं रहती!'

× × × ×

(७)

सूर्यमित्र !!!—

आज महान् तपस्वी ही नहीं, महान् आचार्य हैं। अनेकों विद्याएँ उन्हें सिद्ध हैं। लेकिन वे उन्हें जानते तक नहीं। उन्हें उनसे क्या प्रयोजन? क्या वास्ता? अब उन्हें वह वस्तु मिल चुकी है जो अत्यंत दुर्लभ, अमूल्य और महासौख्यप्रदाता है, विद्याओं की उसके आगे क्या वकअत? वह वस्तु है—

आत्म-बोध !!!

अहिंसा-तत्त्व

(लेखक—श्री ब्र० शीतलप्रसाद)

[इस लेखके लेखक ब्र० शीतलप्रसाद जी अर्सेसे बीमार हैं—कम्पवातसे पीड़ित हैं, फिर भी आपने अनेकान्तके विशेषाङ्कके लिए यह छोटासा सुन्दर तथा उपयोगी लेख लिखकर भेजनेकी कृपा की है, इसके लिए मैं आपका बहुत आभारी हूँ। कामकी—कर्तव्य पालनकी लगन इसको कहते हैं! और यह है अनुकरणीय सेवाभाव !! —सम्पादक]

श्री समन्तभद्राचार्यने स्वरचित स्वयंभूस्तोत्रमें कहा है कि अहिंसा परमब्रह्मस्वरूप है। जैसे परम-ब्रह्म परमात्मामें कोई विकार नहीं है, रागद्वेष नहीं है, इच्छा-मोह नहीं है, न कोई हिंसात्मक भाव है; वैसे ही अहिंसातत्त्वमें कोई राग-द्वेष-मोह-भाव नहीं है, न द्रव्यहिंसा है, न भावहिंसा है, न संकल्पी हिंसा है, न आरम्भी हिंसा है। जहाँ मन-वचन-कायकी रागादि क्रिया न होकर आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें स्थित रहता है वहीं अहिंसातत्त्व है।

जैन तीर्थंकरोंने ऐसी अहिंसाको ही आदर्श अहिंसा कहा है। इसमें जो कुछ भी कमी है वह हिंसा में गर्भित है। रागद्वेष-मोहादि विभावोंसे आत्माके वीतरागतादि भाव प्राणोंकी हिंसा होती है। द्रव्य-प्राणोंके घातको द्रव्यहिंसा कहते हैं; परन्तु वह भाव-हिंसाके विना हिंसा नाम नहीं पाती है। जैसे कोई साधु भूमि देख कर चलता है, उसके परिणामोंमें जीवरक्षाका भाव है—जीवहिंसाका भाव नहीं है; ऐसी दशामें यदि अचानक किसी क्षुद्रजन्तुका घात हाथ या पग द्वारा हो जावे, तो वह मुनि उस द्रव्य-हिंसाका भागी न होगा। क्योंकि उसके भावमें हिंसा नहीं है, इसलिए वास्तवमें भावहिंसा ही हिंसा है; द्रव्यहिंसा भावहिंसाका प्रकट कार्य है, इसलिये द्रव्य-हिंसाको भी हिंसा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जैन तीर्थंकरोंने अहिंसाको ही धर्म माना है। जगतमें व्यवहार करते हुए व्यवहारी जीवोंसे सर्वथा अहिंसा का पालन हो नहीं सकता। तब जितने अंशमें अहिंसातत्वमें कमी रहेगी, उतने अंशमें वे हिंसाके भागी होंगे। अगर एक साधु भी हो, और वह शुभ राग-वश शुभ क्रिया करता हो, तो उस समय अहिंसा के तत्वसे बाहर है क्योंकि शुभरागमें मंद कषायका मल है। जितना कषायका मल है उतना ही हिंसाका दोष है। शुद्ध भावमें कषायरहित रमण करना अहिंसा होगा।

गृहस्थोंका भी यही आदर्श होना चाहिये—वीतरागभावको ही अहिंसा मानना चाहिये। जब शुभ राग भी हिंसा है तब अशुभ राग से किया हुआ गृहस्थीका आरम्भ हिंसात्मक क्यों न हो? यह बात दूसरी है कि साधारण गृहस्थ संकल्पी हिंसाका त्याग तो कर देता है, अर्थात् हिंसाके अभि-प्रायसे हिंसात्मक कार्य नहीं करता। परन्तु आरम्भी हिंसाको भी हिंसा ही समझना चाहिये, क्योंकि उस में कारण भावहिंसामयी कषायभाव है, इसलिए जितना भी शक्य हो आरम्भी हिंसासे बचना चाहिये। आरम्भी हिंसाके तीन भेद हैं—उद्योगी, गृहारम्भी और विरोधी। इनमेंसे यदि कोई प्रकारकी हिंसा गृहस्थीसे बन जाय तो वह उसे हिंसा ही समझे। हिंसाको अहिंसा धर्म मानना मिथ्या होगा। जितनी कम हिंसासे काम होसके उतना उद्यम करना गृहस्थका कर्तव्य है। हिंसात्मक युद्धोंकी अपेक्षा यदि शान्तिमयी प्रयोगोंसे परस्परके मनमुटाव मिट सकें तो अहिंसा धर्मके माननेवाले गृहस्थका ऐसा ही कर्त-व्य ठीक होगा। परस्पर विरोध होनेपर अन्ध होकर एक दूसरेको निर्दयतासे हानि पहुँचाना घोर हिंसा है। मानवीय कर्तव्यसे बाहर है।

यदि कोई धार्मिक कार्यके लिये आरम्भ करता है और उसमें हिंसा होती है, तो भी उस हिंसाको धर्म नहीं कहा जा सकता। चूंकि आरम्भी हिंसाके मुक़ाबलेमें धार्मिक लाभ अधिक होगा, इस लिये उपचारसे उस आरम्भी हिंसाको भी धर्ममें गर्भित कर देते हैं। प्रयोजन यह है कि अहिंसा सदा अहिंसा ही रहेगी, और वह वीतरागभावमय है या परब्रह्मस्वरूप है। इसमें जितने अंशोंमें जो कुछ कमी है वह सब उतने अंशोंमें हिंसा है। जैन सिद्धान्तका यही आशय है। इस ही पर निश्चय लाकर हरएक व्यक्तिको अहिंसाके शिखरपर पहुँचनेका उद्यम शीघ्रतासे या शनैः शनैः करना चाहिये।

जैनधर्म और अहिंसा

(लेखक—श्री अजितप्रसाद जैन, एम० ए०, एडवोकेट)

—❀❀❀❀❀❀❀❀❀—

जैनधर्म अहिंसा-प्रधान धर्म है। "अहिंसा परमो धर्मः" महाभारतका भी वाक्य है; परन्तु यह जैनधर्म का खास झण्डा है। जैनधर्मका नाम ही अहिंसाधर्म है।

जैनाचार्योंने चारित्रकी व्यवस्था और मीमांसा अहिंसाके आधारपर की है। इन्द्रिय-दमन, त्यागावलम्बन, व्रतोंका अनुष्ठान, सामायिकका सेवन, चित्त की एकाग्रताका सम्पादन, चिन्ता-निरोध, धर्मध्यान, शुक्लध्यान, सब कुछ अहिंसाधर्मका ही पालन है। आर्तध्यान-रौद्रध्यानादिरूप सावद्य चित्तवृत्तिसे तथा योगों की—मन-वचन-कायकी असावधान प्रवृत्तिसे द्रव्य प्राणोंका व्यपरोपण न होते हुए भी आत्माके स्वच्छ निजभावका नाश होता है, और ऐसा होना हिंसा है-आत्मस्वभावका घात है।

श्री अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें बड़े जोरके साथ यह उपदेश दिया है कि सब पाप हिंसामें और सब पुण्य अहिंसामें गर्भित हैं। हिंसा-अहिंसा की व्यापकताको बतलाने वाले आपके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवसरति ॥९९॥
अर्था नाम य एते, प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान्, यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९॥
हिंसा पर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ॥११९॥
एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥
इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७॥
इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०॥
इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥
हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥
नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९॥

अहिंसाका अटल श्रद्धान सम्यक्दर्शनकी पहिली निशानी है और उसका व्यवहार (अमल) सम्यक् चारित्रका मार्ग है। व्रती श्रावक अहिंसाव्रतको एक-देश धारण करता है। वह हिंसाको सावद्ययोग तथा अशुभकर्मास्रव-कारण पाप मानता है। यदि वह एकदेश हिंसा करता है तो उसको क्षम्य, वाजिबी, ठीक, अनिवार्य, धर्मानुकूल, धर्मादेशानुसार नहीं मानता। वह उसका प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण तथा

प्रायश्चित्त करता है और हिंसा बन जाने से आत्म-निन्दा व अफ़सोस किया करता है। व्रती श्रावकके लिये आरम्भी, उद्योगी, विरोधी हिंसाकी इजाज़त, अनुज्ञा, अनुमति, आदेश जैनाचार्योंने कहीं कभी नहीं दिया है। हिंसा हर हालतमें हिंसा है—अहिंसा नहीं हो सकती। हिंसामें कषायभावों के कारण जिस प्रकारकी तीव्रता या मंदता होगी उसके कारणसे होने वाले कर्मबन्धमें भी उसी प्रकारकी तीव्रता या मंदता आएगी और फल भी उसका तद्रूप ही होगा। इसमें किसीकी भी कोई रू-रिआयत नहीं चल सकती।

व्रती श्रावकके लिये हिंसा अनिवार्य भी नहीं है। महात्मा गांधीने तो मनुष्यमात्रके लिये यह स्पष्ट शब्दों और विशद युक्तियोंसे घोषित कर दिया है कि अहिंसाव्रत बड़ी हद तक प्रत्येक नागरिक धारण कर सकता है—दैनिक सामाजिक व्यवहारमें लासकता है। राष्ट्रीय स्वराज्य-प्राप्तिमें और तत्पश्चात् राज्य-प्रबन्धमें, नागरिक जीवनमें, हिंसासे बचे रहना मुश्किल नहीं है।

महात्माजीसे प्रश्न किया गया कि कांग्रेस—वालण्टीयर-दलको भाले, तलवार, लाठी आदि शस्त्र चलानेकी शिक्षा दी जाती और अभ्यास कराया जाता है, यह कहां तक ठीक है और इसका आशय क्या है? उन्होंने जवाबमें लिखा है कि—फ़ौजमें भरती होने वाले सिपाहीके लिये तो केवल शारीरिक मजबूतीकी परीक्षा की जाती है; औरतें, बुड्ढे, बच्चे, जवान और रोगी भरती नहीं किये जाते; लेकिन कांग्रेसकी अहिंसात्मक पलटनमें तो मानसिक योग्यता की परीक्षा ही प्रधान है और औरतें, बुड्ढे, बच्चे जवान, लंगड़े, अन्धे और कोढ़ी भी भर्तीके लायक़ हो सकते हैं। कांग्रेसके अहिंसात्मक शान्त सैनिकको दूसरेके वध करनेकी लियाक़त नहीं चाहिये; उसमें अपने प्राण समर्पण की हिम्मत होनेकी ज़रूरत है। हमने देखा है कि दस-बारह वर्षके बच्चे पूर्ण सत्याग्रह करनेमें सफल हुए हैं। कांग्रेस-वालण्टीयरको तलवार, भाले, लाठीकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। जनताकी सेवा-परिचर्या, चौकीदारी, दुर्जनको दुर्व्यवहारसे रोकना और दुर्जनके आक्रमणसे अपनी जान देकर भी सज्जनको बचाना उसका कर्तव्य होगा। कांग्रेस वालण्टीयरकी वर्दी भड़कीली न होगी बल्कि सादी और ग़रीबोंकीसी रहेगी। कांग्रेस-वालण्टीयर प्राणी-मात्र का मित्र होगा; वह किसीको शत्रु नहीं मानेगा; और जिसको लोग शत्रु समझें उसके वास्ते भी कांग्रेस वालण्टीयरके हृदयमें दयाभाव होगा। कांग्रेस—वालण्टीयरका यह अटल श्रद्धान है कि कोई मनुष्य स्वभावसे दुर्जन नहीं है और प्रत्येक मनुष्यको भले, बुरेमें विवेक करनेकी शक्ति है। शरीरको शक्ति-मान् रखनेके लिये वह हठयोग—व्यायामका प्रयोग करेगा। ऐसे वालण्टीयरमें यह शक्ति होगी कि वह रात—दिन एक जगह जम कर पहरा देगा; गर्मी, सर्दी, वर्षा सह लेगा और बीमार नहीं पड़ेगा; ख़तरे की जगह निडर पहुँचेगा; आग बुझानेके लिये भाग पड़ेगा; सुनसान जंगलों और भयानक स्थानोंमें अकेला पहुँचेगा, मार-पीट, भूख प्यास, अन्य यातना सह सकेगा, लाठी चलाते हुये बलवाइयोंकी भीड़में घुस पड़ेगा, चढ़ी हुई नदी और गहरे कुएँमें जनताको बचानेके लिये फाँद पड़ेगा, उसका शस्त्र और अस्त्र आत्मबल और परमात्म-विश्वास है।

व्रती जैन श्रावकके भी प्रायः ये ही लक्षण हैं जो ऊपर कहे गए हैं। हर ऐसा श्रावक अहिंसक, सत्य-वक्ता, निर्लोभी, सरल स्वभावी, ब्रह्मचारी, निडर,

शरीरको नश्वर और आत्माको अमर समझने वाला होता है। अपने व्रतकी मर्यादाका उल्लंघन कर वह अपनी शक्तिभर हिंसाका भाव—हिंसाका विचार अपने मनमें आने ही नहीं देता।

'शठेन शाठ्यम्' की नीति, गालीका जवाब गाली, थप्पड़का जवाब थप्पड़, लाठीका जवाबलाठी—यहजैन धर्मकी शिक्षा या जैनाचार्योंका सिद्धान्त कभी नहीं रहा है। जैनाचार्योंने किसी हालतमें भी हिंसाकी इजाजत, परवानगी, छूट, आदेश या आज्ञा नहीं दी है। जो व्यक्ति जिस हालतमें जैसे परिणामोंसे हिंसा करेगा, वह हिंसाके फलका भागी अवश्य होगा। हिंसा-कर्म किसी दशामें भी क्षम्य, ठीक, वाजिबी, उचित या धर्मानुकूल नहीं समझा जा सकता।

अजिताश्रम, लखनऊ। ता० १९—१०—४०

जग चिड़िया रैन बसेरा है

ओ ग़ाफ़िल ! सोच ज़रा मनमें, जग चिड़िया-रैन बसेरा है।

मानव ! तूने देखा, तन यह, मिट्टीका एक खिलौना है।
तू विहँस रहा है देख जिसे, कल देख उसे ही रोना है॥
उठ जाग, बाँध अपनी गठरी, होता जा रहा सवेरा है।
ओ ग़ाफ़िल ! सोच ज़रा मनमें, जग चिड़िया-रैन-बसेरा है॥

जब आयेगा तूफ़ान प्रबल, झड़ जायेंगे वैभव सारे।
कुछ फ़िक्र करो निज जीवनकी, क्यों बनते जाते मतवाले॥
सुनले, कुछ सोच समझ भी ले, इस जगमें कोइ न तेरा है।
ओ ग़ाफ़िल ! सोच ज़रा मनमें, जग चिड़िया-रैन-बसेरा है॥

मानव मानवको चूस रहा, जग चिल्लाता दाना दाना।
यह भरा उदर वह कृशितकाय, अन्तर इसका क्या पहिचाना ?
सारी दुनिया मतलबकी अब, जो कुछ करले वह तेरा है।
ओ ग़ाफ़िल ! सोच ज़रा मनमें, जग चिड़िया-रैन-बसेरा है॥

तेरे सब साथी चले गये, क्या सोच रहा अपने मनमें ?
आना जाना है लगा सदा, कोई रह नहीं सका जगमें॥
तू भी अब जल्द सम्हल जा रे ! यह अल्प समयका डेरा है।
ओ ग़ाफ़िल ! सोच ज़रा मनमें, जग चिड़िया-रैन बसेरा है॥

जो चला गया वह आवेगा, जो आया है वह जाना है।
ओ भोले मानव ! सोच समझ, जग एक मुसाफ़िरखाना है॥
सुन ! देख देख मगमें पग रख, सारा जग यही लुटेरा है।
ओ ग़ाफ़िल ! सोच ज़रा मनमें, जग चिड़िया-रैन-बसेरा है॥

यात्रा तेरी है महाकठिन, कण्टकाकीर्ण पथरीला मग।
बाधायें, सिरपर नाच रहीं, मत डरो—बढ़ाते जाना पग॥
आँधी आई तूफ़ान प्रबल, होता जा रहा अँधेरा है।
ओ ग़ाफ़िल ! सोच ज़रा मनमें, जग चिड़िया-रैन-बसेरा है॥

(लेखक—हरीन्द्रभूषण जैन)

विवाह और हमारा समाज

(लेखिका—श्री ललिताकुमारी पाटणी 'विदुषी', प्रभाकर)

['अनेकान्त' के पाठक श्रीमती ललिताकुमारीजीसे कुछ परिचित जरूर हैं—आपके लेखोंको अनेकान्तमें पढ़ चुके हैं। आप श्रीमान् दारोगा मोतीलालजी पाटणी, जयपुरकी सुपौत्री हैं और शिक्षा तथा समाजसुधारके कामोंसे विशेष प्रेम रखती हैं। हालमें आपने अपने विवाहसे कुछ दिन पूर्व, अपनी भावज सुशीला देवीके अनुरोधपर "विवाह और हमारा समाज" नामकी एक छोटीसी पुस्तक लिखी है, जिसमें पाँच प्रकरण हैं—१ विवाह क्या है ?, २ विवाहका उद्देश्य, ३ विवाह कब किया जाय ?, ४ बेजोड़ विवाह और ५ वैवाहिक कठिनाइयाँ। यह पुस्तक उक्त सुशीला देवीने अपने 'प्रकाशकीय' वक्तव्यके साथ छपाकर मँगसिर मासमें विवाहके शुभ अवसरपर भेंटरूपमें वितरण की है और अपनेको समालोचनार्थ प्राप्त हुई है। पुस्तक सुन्दर ढंगसे लिखी गई है; विचारोंकी प्रौढता, हृदय की उदारता और कथनकी निर्भीकताको लिये हुए है, खूब उपयोगी है और प्रचार किये जानेके योग्य है। विवाह–विषयमें स्त्रीसमाजकी ओरसे यह प्रयत्न निःसन्देह प्रशंसनीय है। ऐसी पुस्तकोंका विवाह जैसे अवसरोंपर उपहारस्वरूप वितरण किया जाना समाजमें अच्छा वातावरण पैदा करेगा। अस्तु; यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये पुस्तकके शुरूके दो अंश नमूनेके तौरपर नीचे दिये जाते हैं।

—सम्पादक]

विवाह क्या है ?

विवाहके सम्बन्धमें कलम उठानेके पहले स्वभावतः यह सवाल उठता है कि विवाह है क्या वस्तु ? विवाह का जो शाब्दिक अर्थ निकलता है वह है—विशेष रूपसे वहन करना यानी ढोना। कौन किसका वहन करे ? उत्तर होगा—स्त्रीका पुरुषको वहन करना और पुरुषका स्त्रीको वहन करना। अर्थात्—स्त्री और पुरुष दोनोंके अभिन्न होकर एक दूसरेको वहन करनेकी प्रक्रियाका प्रारम्भ होना विवाह है। इस प्रक्रियामें स्त्री और पुरुष दोनों ही अपने सांसारिक जीवनको अभिन्न होकर वहन करते हैं। यहां सांसारिक जीवन से सामाजिक, कौटुम्बिक, लौकिक और गृहस्थ-जीवन से ही तात्पर्य नहीं है, किन्तु सांसारिक जीवनमें राजनैतिक और धार्मिक जीवन भी सम्मिलित है। जिस तरह विवाह स्त्री पुरुषोंके सामाजिक-कौटुम्बिक आदि जीवनको परस्पर मिला देता है, उसी तरह विवाह उनके धार्मिक और राजनैतिक जीवनका भी एकीकरण करता है। अर्थ यह हुआ कि विवाहके पहले जो स्त्री-पुरुष अपने हरएक आचरणमें स्वतन्त्र थे, वृत्तियोंमें स्वच्छन्द थे और जीवनचर्यामें स्वाधीन थे, वे ही स्त्री-पुरुष विवाहके बाद अपने हरएक कार्य-कलापमें एक दूसरेका सहयोग प्राप्तकर उसे पूर्ण करते हैं। इसीलिये विद्वान् समाज-वेत्ताओं की सम्मतिमें विवाह एक धार्मिक और सामाजिक पवित्र बन्धन है, जिसमें परिबद्ध होकर स्त्री और पुरुष दोनों गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वको आपसमें बांट लेते हैं। यह बन्धन जीवन-पर्यन्त अटूट और अमिट बना रहता है। वह

दो स्त्री-पुरुषोंके भावो जीवनके कार्य-क्रम, कर्त्तव्य, अनुष्ठान व आचरणको इस तरह एक दूसरेके जीवनसे बाँध देता है कि एकके अलग रहनेपर उनमें से एकका भी कार्य-क्रम, कर्त्तव्य, अनुष्ठान व आचरण भली प्रकार सम्पन्न नहीं हो सकता। इसलिए विवाहकी व्याख्या करनेमें उसका साधारण और सरल स्वरूप यही स्थित होता है कि विवाह दो स्त्री-पुरुषोंके जीवनको बाँधने वाला एक पवित्र, धार्मिक और सामाजिक बन्धन है, जो समाजमें अनिश्चित कालसे एक विशेष संस्कारके रूपमें चला आरहा है।

समाज-विज्ञानके कुछ आधुनिक विद्यार्थियोंका कहना है कि विवाहके मूलमें स्त्री और पुरुषोंकी केवल एक ही भावना काम करती है, जिसे वे अपने शब्दोंमें लैङ्गिक (Sexual) भावना कहते हैं। इसलिए उसीके आधारपर विवाहकी स्थिति होनी चाहिये। उसे सामाजिक और धार्मिक बन्धनके साथ जकड़नेकी जरूरत नहीं। एक अंग्रेज प्रोफेसरके मतमें भी विवाह हरएक प्राणीमें पाई जाने वाली एक इच्छापर ही स्थित है जिसे वे अंग्रेजीमें Erotic tendency कहते हैं। विद्वान् लोग हिन्दीमें इसका अनुवाद करेंगे—प्रणय-सम्बन्धी इच्छा। यह हरएक प्राणीको एक दूसरेके प्रति आकर्षित करती है और उनमें सम्बंध स्थापित कराती है। यही सम्बंध विवाहका रूप होना चाहिये। उसमें धार्मिक और सामाजिक बंधनके पुटकी आवश्यकता नहीं है। इस मतपर भारतीय समाजवेत्ता अपनी यह सम्मति प्रकट करते हैं कि विवाहकी सत्तामें सेक्स सम्बंधी भावना और प्रणय सम्बंधी इच्छाका अस्तित्व आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है, किंतु विवाहकी सम्पूर्ण स्थिति तन्मूलक ही नहीं होनी चाहिए। सेक्स सम्बंधी इच्छा जमीनपर चलने वाले चौपाये जानवरों और आसमानमें उड़ने वाले पक्षियोंमें भी पाई जाती है, किंतु उनके समाजमें एक संस्कार विशेष न हो सकनेके कारण विवाहकी स्थिति बिल्कुल अव्यवहार्य है। यह माना जासकता है कि अगर प्राणियोंमें प्रणय-सम्बंधी भावना और इच्छाका कदाचित् उदय ही नहीं होता तो शायद विवाहकी पद्धति भी प्रचलित नहीं होती, किंतु कोरी प्रणयसम्बंधी इच्छाको ही विवाहका रूप मान लेना सामाजिक-संगठनकी दृष्टि में बिल्कुल असंगत है। पशु-पक्षियोंकी बात जाने दीजिये। मनुष्योंमें भी हम देखते हैं—प्रणयसम्बंधी इच्छा होजानेपर भी दो स्त्री पुरुषोंका जब तक एक सामाजिक और धार्मिक सम्बंध स्थापित नहीं होजाता तब तक वे विवाहका ध्येय प्राप्त करनेमें कभी सफल नहीं होसकते। जिस देश और समाजमें ऐसी प्रथा का प्रचार है कि जहां प्रणयसम्बंधी इच्छाका उदय हुआ वहां तत्क्षण ही दाम्पत्य-सम्बंधकी स्थिति भी कायम होगई, तो वह विवाह, विवाहके उद्देश्य की सिद्धिमें कदाचित् ही सफल होसकेगा। इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि जिसे हम विवाह कहते हैं वह हमारे समाजमें प्रचलित सामाजिक और धार्मिक संस्कारसे ही परिपूर्ण होता है। केवल प्रणय-सम्बंधी भावनाएँ दो आत्माओंका एकीकरण अवश्य करा देतीं है किंतु उसके स्थाई और आजीवन बने रहने की गारण्टी नहीं कर सकती। जब तक उसके साथ सामाजिक बन्धनका समन्वय न होगा, वह एकीकरण अस्थायी और ढीला ही रहेगा। विवाहके उद्देश्यकी सिद्धिमें तो वह शायद ही सफल हो। एक बात और है, जहाँ प्रणय अथवा स्त्री पुरुषसम्बंधी प्रेम के आकर्षणसे ही विवाहकी स्थिति मानली जाती है,

वहाँ विवाहसे स्त्री-पुरुषोंके गृहस्थ जीवनकी घनिष्ठता के उद्देश्यको क़तई भुला दिया जाता है। विवाहका उद्देश्य स्वच्छन्द प्रेम नहीं है किंतु कुछ और भी महान् है, जिसपर आगेके परिच्छेदमें विचार किया जायगा। जब तक इस उद्देश्यकी प्राप्ति नहीं होजाती है, ऐसी किसी भी उच्छृङ्खल पद्धतिको विवाहका रूप नहीं दिया जासकता।

पाठक-पाठिकाओंके सामने मराठीके सुप्रसिद्ध लेखक श्री वामन मल्हार जोसीके विवाह-सम्बंधी लेखका अंश नीचे दिया जाता है, जिसमें आधुनिक युवक-युवतियों के उच्छृङ्खल विचारोंकी अच्छी विवेचना कीगई है—

"विवाह संस्थापर प्रहार करने वाले लेखक कहते हैं कि विवाह-सम्बंधके कारण आज समाजमें विषमता और कष्टमय स्थिति दिखाई पड़ती है। परन्तु प्रश्न यह है—क्या विवाहसम्बंध बंद कर दिया जाय तो यह स्थिति नहीं रहेगी? उससे तो उल्टे अनाचारकी और वृद्धि ही नहीं होगी ? लेकिन इस बारेमें तो कोई विचार ही नहीं करता। हम पुस्तकालय में पढ़ने जाँय, या नाट्य सिनेमा देखने जाँय, तो वहाँ स्त्री-पुरुष सभी मिलते हैं। अगर सम्बंधका अस्तित्व न हो तो पुस्तकालय और नाट्यगृहमें आये हुये अनेक पुरुष किसी न किसी स्त्रीकी ओर और अनेक स्त्रियाँ किसी न किसी पुरुषकी ओर प्रेमाकर्षण से प्रेरित होंगे, यह तय है, और इससे बहुत से व्यक्तियोंकी स्थिति कष्टमय होजानेकी सम्भावना है। भला ऐसा कोई प्रेमसम्बंध स्थायी या दृढ़ होसकता है, जिसमें किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न हो? ऐसे प्रणयी युगलमें से तो पुरुषको कोई अधिक सुन्दर स्त्री दिखाई पड़ी कि वह पहली स्त्रीको छोड़ नईसे मीठी-मीठी प्रेमवार्ता करने लगेगा। और स्त्रियोंका क्या होगा? वे भी जहाँ और अच्छे या सुन्दर पुरुष के सहवासमें आईं कि झटसे उनके प्रेमपाशमें पड़ जायेंगी। और ऐसा करें भी क्यों नहीं? जब विवाह-सम्बंध ही न हो तो फिर स्त्री-पुरुष दोनोंके लिए प्रेम का बाजार सदाके लिये खुला हुआ ही है।

ऐसा स्वेच्छाचार यदि समाजमें चलने दिया जाय तो सर्वत्र अनर्थ ही मच जाय। मतलब यह है कि जब तक विवाह संस्था है तभी तक समाजमें स्थिरता है—हरएक व्यवहार सरलतासे होता है। जो लेखक यह कहते हैं कि विवाह संस्थाकी जरूरत नहीं, उनका खुद का व्यवहार कैसा होता है? उनकी स्त्री यदि दूसरे पुरुषसे प्रेम करे तो यह उन्हें पसंद होगा? यदि नहीं, तो फिर यह कहनेसे क्या लाभ कि विवाह संस्थाकी कोई जरूरत नहीं?" फलतः विवाह क्या है? इसका एक मात्र उत्तर यही हो सकता है कि विवाह एक ऐसा धार्मिक और सामाजिक संस्कार है जो दो स्त्री-पुरुषोंको उनके सांसारिक जीवनके प्रत्येक पहलू और भागमें अभिन्न होकर चलानेकी शुरुआत प्रदान करता है।

विवाह का उद्देश्य

जो लोग यह समझते हैं कि विवाहका उद्देश्य वाहियात विलास राग-रंग और मौज है, वे बहुत बड़ी ग़लती पर हैं और जो इसी प्रलोभनसे विवाह जैसे महान् उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्यमें हाथ डाल बैठते हैं वे बहुधा धोखा खाते हैं। विवाहके चन्दरोज़ बाद ही वे देखते हैं कि विवाहके पहले वे जिन सुख और आनन्दोंकी कल्पना करते थे वे अकस्मात् हवा होकर उड़ गये। उस स्थितिमें उनको अपना अमूल्य जीवन बड़ा कष्टकर और दुखप्रद मालूम होने लगता है। वे

समझते हैं जैसे उनके जीवनकी सारभूत चीज़ कोई चुराकर लेगया और उसके अभावमें वे निर्धन होगये। यह सारभूत चीज़ जो वास्तवमें सारभूत नहीं है और कुछ नहीं, बेसमझ दम्पतियोंमें पाये जानेवाला महज वासनाका आकर्षण है। यह आकर्षण तांबेपर चढ़े हुए सोनेके मुलम्मेकी तरह कुछ दिन तो चमकता है किन्तु ज्यों-ज्यों समय गुजरता है त्यों-त्यों वह खुली डिबियामें पड़े हुए कपूरकी तरह उड़ने लगता है। ऐसे स्त्री-पुरुष समझते हैं कि कुछ साधनोंकी कमी होजानेसे उनका यह आकर्षण ढीला पड़ गया, इस लिए वे इसमें खिंचाव लानेकेलिए तरह-तरहके साधन जुटाते हैं और व्यर्थ समय, शक्ति और धनका व्यय करते हैं किंतु वे जितना ही सुखोपभोग और आनन्द-विलासकी ओर जानेका प्रयत्न करते हैं उनके जीवनमें मृगतृष्णासे व्यथित और निराश प्राणियोंकी तरह उतनी ही एक मानसिक अन्तर्वेदना और निराशा बढ़ती हुई चली जाती है। इसलिए जो लोग विवाह जैसी ज़िम्मेवारीमें हाथ डालें पहले यह समझलें कि विवाह क्यों किया जारहा है और वे किस उद्देश्य से प्रेरित होकर विवाह कर रहे हैं। अगर उनका उद्देश्य राग-रंग और मौज ही हो तो वे तुरन्त ही विवाहकी जिम्मेवारीसे दूर भाग खड़े हों और उसका नाम भी न लें। विश्वास रक्खें कि उनका राग-रंग और भोग-विलास विवाह जैसे पवित्र कार्यमें कतई निहित नहीं है। विवाह उनके राग-रंग और भोग-विलासको बहुत ही तिरस्कार और घृणाकी दृष्टिसे देख रहा है। अगर वे इसके सामने अपने इस निकृष्ट ध्येयको लेकर खड़े हुए तो कोई आश्चर्य नहीं वह उनको अपनी प्रबल तेजस्वितासे भस्म कर बैठे।

जो लोग सामान्य बुद्धिको साथ लेकर विवाहका उद्देश्य समझने और निर्धारित करने चले उन्होंने यह निश्चित किया कि विवाहका उद्देश्य सन्ततिक्रमको बराबर चलाते रहना है। आम लोग ऐसा ही समझते हैं और ऐसा समझना कुछ अंशोंमें ठीक भी है। मोटे तौर पर विचार करनेपर सर्वसाधारणके सामने यही उद्देश्य निश्चितसा होरहा है। सच तो यह है कि साधारण लोग इसके अतिरिक्त विवाहके उद्देश्यको सोचने और समझनेकी कोशिश भी नहीं करते। हम लोगोंमें अगर कभी विवाहका सवाल उठता है तो उसकी आवश्यकता यही कहकर बतलाई जाती है कि पीछेसे कोई घर सँभालने वाला भी चाहिये। अगर विवाह न किया जाय तो हमारे कुलका नाम ही न रहे। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' आदि स्मृतिके सूत्रोंसे भी लोगोंके दिलोंपर यह विश्वास जमा हुआ है कि जिसके सन्तान न हो उसका परलोक बिगड़ जाता है। इस तरह एक अनिश्चित कालसे सर्व-साधारणके सन्मुख यह कथन एक सत्यके रूपमें चला आरहा है कि विवाहका उद्देश्य सन्ततिक्रमको बराबर चलाते रहना है और इसी उद्देश्यसे इस कर्मकी आयोजना की गई है।

जिन विद्वान् लोगोंने विवाह और उसके उद्देश्य पर गंभीर विचार किया वे इस परिणामपर पहुँचे कि सन्ततिक्रमको बनाये रखना विवाहका मुख्य उद्देश्य नहीं उसका एक फल है। जिस तरह पढ़ लिखकर विद्वान् होनेका उद्देश्य धन कमाना नहीं हो सकता, अलबत्ता यदि कोई विद्वान् अपनी विद्यासे आजी-विका चलानेका भी काम करता हो तो उसका फल जरूर हो सकता है, उसी तरह विवाहके बहुतसे फलों में सन्ततिका उत्पादन भी एक फल है। यह जरूर है कि यह फल और सब फलोंसे जो विवाह करनेसे

मिलते हों अधिक महत्वपूर्ण और समाजोपयोगी है। एक प्रश्न उठता है—पढ़ लिखकर मनुष्य क्या करे ? छोटी समझ वाले लोग भी यदि इस प्रश्नका विद्वत्ता-पूर्ण समाधान नहीं करेंगे तो कदाचित् यह उत्तर नहीं देंगे कि पढ़ लिखकर मनुष्य रुपया कमाने पर पिल पड़े। बुद्धिमान् मनुष्योंके पास इस प्रश्नका यही उत्तर होगा कि पढ़ लिखकर मनुष्य सर्व प्रथम अपने आत्मामें ज्ञानका प्रकाश करे फिर दूसरोंका अज्ञान नष्ट करे। बुराईसे बचे और भलाईको अपनाये। अपने स्वार्थको छोड़े और दूसरोंका उपकार करे। इसी तरह विवाहके सम्बन्धमें भी सवाल खड़ा हो सकता है। वह यह कि विवाह करके मनुष्य क्या करे ? विचार पूर्ण विद्वानोंसे तुरन्तही इसका जवाब हम आसानीसे यह शायद ही सुनें कि शादी करके मनुष्य सन्तान उत्पादनके कार्यमें लग जाय। यह उत्तर साधारण समझ वालोंके गले भी सरलताके साथ नहीं उतर सकता। एक बात है । सन्ततिक्रम पशु-पक्षियोंमें भी अनादि कालसे अविच्छिन्न रूपमें चला आरहा है । किंतु उनमें विवाहकी प्रथा नहीं है। मनुष्य समाजमें भी कुछ ऐसे वर्ग हैं जिनमें आचरण-सम्बन्धी पूर्ण स्वच्छन्दता है और विवाहका प्रतिबन्ध नहीं है, उनमें भी सन्ततिक्रम विद्यमान है। फिर ऐसी कौनसी वजह है जो सन्ततिक्रमके लिये विवाह-बन्धनकी ही आवश्यकता हुई, जब कि विवाहके बिना भी वह जारी रह सकता है। लोग कहेंगे, पशु-पक्षियों और जंगली जातियोंमें जो संतति-क्रम जारी है उसकी तहमें, दुराचार, अनीति, स्वछन्द-आचरण, अनियम और अव्यवस्था विद्यमान है। वह संततिक्रम पाशविक और असभ्यतापूर्ण है। वह मानुषिक और लोकहित-पूर्ण नहीं है। वह बेरोकटोक और निर्बन्ध है । उसमें स्वार्थ और वासनाके अतिरिक्त और किसीकी प्रेरणा नहीं है। ठीक है। तो फिर यही क्यों न समझिये कि विवाहका उद्देश्य सामाजिक दृष्टिसे समाजमें सदाचारकी वृद्धि करना, दुराचारका नाश करना, शिथिलाचारका मिटाना और सुन्दर आचरणका स्थापित करना है। व्यवस्था और नियमका बनाए रखना है। पाश-विकताका मूलोच्छेद और मनुष्यताका निर्माण करना है। नैयक्तिक दृष्टिसे विवाहका उद्देश्य है त्याग और तपस्या। सेवा और उपकार। अपने स्वार्थोंको भुला कर दूसरोंके लिए बलिदान करना। विवाह करनेके पहिले जहाँ मनुष्य अपने ही निजके हितोंकी रक्षामें चिन्ता में रहता है, विवाह करनेके बाद वह दूसरों के हितोंकी रक्षामें निमग्न रहता है। विवाह करनेसे पहिले वह दूसरोंसे कुछ लेनेकी अभिलाषा रखता है किन्तु विवाह करनेके बाद वह दूसरोंको कुछ देनेकी सीख ग्रहण करता है। विवाहके पहले उसके जीवन का क्षेत्र उसका अपना ही जीवन है किन्तु विवाहके बाद वह विस्तृत होजाता है। विवाहके पहले वह अपने ही अपने क्षुद्र स्वार्थोंमें लगा रहता है, किन्तु विवाहके बाद वह दूसरेके अर्थ अपने आपको बिछा देता है।

कुछ लोगों का कहना है कि विवाहका उद्देश्य प्रेम है। प्रेम जैसी सुन्दर वस्तुको प्राप्त करनेके लिए ही मनुष्य विवाह करता है। प्रेम ही एक ऐसा आकर्षण है जो दो भिन्न भिन्न आत्माओंको मिला देता है। जो लोग ऐसा कहते हैं उनसे यह पूछा जासकता है कि यह प्रेम है क्या वस्तु ? अगर उनका प्रेम त्याग और बलिदानके रूपमें है तो विवाहका उद्देश्य प्रेम उचित ही है किन्तु यदि केवल वासनाका आकर्षण है

तो वह जघन्य है और विवाह जैसे पवित्र कार्य का उद्देश्य अथवा ध्येय कभी नहीं होसकता। इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि विवाहका मुख्य उद्देश्य समाजमें आचरण-सम्बन्धी मर्यादा स्थापित करना तथा त्याग और बलिदानका क्रियात्मक पाठ पढ़ाना है और गौणरूपसे उद्देश्य कहिये अथवा उसका फल कहिये सन्तानोत्पत्ति अथवा सन्ततिक्रमको बराबर चलाये रखना है।

पिंजरे की चिड़िया

मूल लेखक—नोबेल पुरस्कार-विजेता, जॉन गॉल्सवर्दी (इंगलैण्ड)
(अनुवादक— महावीरप्रसाद जैन, बी० ए०, सरधना)

"पहाड़ी मैना—यहाँ कहाँ?" मेरे मित्रने आश्चर्य से पूछा।

मैंने उंगलीसे संकेत कर पिंजरा दिखा दिया। लोहेकी तीलियोंसे चोंच लड़ा कर मैना एक बार फिर बोल उठी।

यकायक मेरे मित्रके मुखपर वेदनाके चिन्ह स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगे। ऐसा जान पड़ने लगा मानो उनका हृदय किसी दुःखपूर्ण स्मृतिसे शोकाकुल हो उठा है। थोड़ी देर बाद धीरे २ हाथ मलते हुए उन्होंने कहना प्रारम्भ किया—

"कई वर्ष बीत जानेपर भी वह दृश्य मेरी स्मृतिमें ज्योंका त्यों ताजा बना हुआ है। मैं अपने एक मित्र के साथ बन्दीगृह देखने गया था। हमें उस भयानक स्थानके सब भाग दिखा चुकनेपर जेलरने अन्तमें कहा—आओ, अब तुम्हे एक आजन्म कारावास पाये हुए बन्दीको दिखाऊँ।

जब हम उसकी कोठरीमें घुसे तो वह स्थिर दृष्टिसे चुपचाप अपने हाथमें कागजकी ओर देख रहा था। युवक होनेपर भी वह वृद्ध जान पड़ता था। एक झुका हुआ.. काँपतासा...निरकंकाल, मैलीसी चादरमें लिपटा हुआ। अपनी पहली स्वतन्त्र अवस्था का कितना दारुण भग्नावशेष था...वह बंदी !!

हमारे पैरोंकी आहट सुनकर उसने अपनी आँखें ऊपरको उठाईं। आह! मैं उस समय उसके भावको भली भाँति न समझ सका। परन्तु बादमें समझा। उसकी आँखें··· अपने आखिरी साँस तक मैं उनको न भूल सकूंगा। वह दारुण दुखकी प्रतिमूर्तियाँ! और एकान्त-वासके लम्बे युग जिन्हें वह काट चुका था, और जो उसे अभी बंदीगृहके बाहर वाले कब्रस्तान में दबाये जानेसे पहले, काटने शेष थे, अपनी समस्त वेदना लिए उन आँखोंसे झाँक रहे थे। विश्व भरके सारे स्वतन्त्र मनुष्योंकी सम्पूर्ण वेदना मिलकर भी उस निरीह पीड़ाके बराबर न होती......उसकी पीड़ा मुझे असह्य हो उठी। मैं कोठरीमें एक ओर लकड़ीके टुकड़ेको उठाकर देखने लगा। उसपर बन्दी ने एक चित्र बना रक्खा था।

चित्रमें एक सुन्दर युवती हाथमें फूलोंका गुच्छा लिए पुष्पोद्यानके बीचोंबीच बैठी पार्श्व में एक घूम कर बहता हुआ स्रोत, किनारे पर हरी २ दूब, और एक अजीब-सी चिड़िया, और युवतीके ऊपर एक बहुत बड़ा सघन वृक्ष, पत्तोंमें बड़े बड़े फल लिए हुए। सारा चित्र, मुझे ऐसा ज्ञात हुआ, क्या बताऊं? जैसे एक प्रकारके कुतूहलसे परिपूर्ण हो।

मेरे साथीने पूछा—जेल आनेसे पहले चित्र बनाना जानता था?

'ना-ना', उसने हाथ हिलाकर कहा, 'जेलर साहब जानते हैं। यह किसीका चित्र नहीं। 'केवल कल्पना है।' यह कहकर वह किस प्रकार मुस्कराया उससे हृदय-हीन पिशाच भी रो पड़ता। उस चित्रमें उसने, सुंदर युवती, हरा-भरा फूलोंसे लदा पेड़, पौदे, स्वतंत्र पक्षी गरज़ अपने हृदयकी समस्त सुन्दर भावनाएँ निकाल कर रखदी थीं। अट्ठारह सालसे वह उसे बना रहा था। बनाकर बिगाड़ देता और फिर बनाता। कईसौ बार बिगाड़ कर उसने यह चित्र बनाया था।

हां, सत्ताईस वर्षसे वह वहाँ बंदी था। जीवित होनेपर भी मुर्दा। किसी प्राकृतिक वस्तुके स्पर्श, गंध, वर्णसे दूर। उनकी स्मृति भी मिटसी चली थी। अपनी तृषित आत्मासे सींचकर उसने यह युवती वृक्ष और पक्षी निकाले थे। मानुषिक कलाकी यह उच्चतम महाकाष्ठा है और हृदयकी कभी न मिटने वाली भावनाओंका सच्चा दिग्दर्शन।

उस समय मैंने मूक परीषह की पवित्रताका अनुभव। किया क्रॉसपर चढ़ाए इस जीवित क्राइस्टके सम्मुख मेरा माथा आपसे आप झुक गया। उसने चाहे जो अपराध किया हो उसकी मुझे पर्वा नहीं। परन्तु मैं कह सकता हूं कि हमारे समाजने उस निरीह भटके हुए प्राणीके साथ अक्षमनीय अपराध किया है।

जब कभी मैं किसी पक्षीको पिंजरेमें बन्द देखता हूं तो मेरी आंखोंके सामने उस अकथनीय व्यथाका दृश्य खिंच जाता है जो मैंने उस बन्दीकी आँखोंमें देखी थी।"

मेरे मित्रने बोलना बन्द कर दिया और थोड़ी देर बाद हमसे बिदा माँगकर चला गया।

भामाशाह
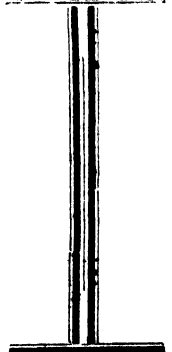
देशभक्त! तेरा अनुपम था, वह स्वदेश अनुराग!
प्रमुदित होकर किया देश-हित धन-वैभवका त्याग!!
जिस समृद्धिकेलिये विश्व यह रहता है उद्भ्रान्त!
निर्दय हो भाई कर देता भाईका प्राणान्त!!
उसी प्राण—से प्रिय स्वकोषको दे स्वदेश रक्षार्थ!
एक नागरिकका चरित्रमय-चित्र किया चरितार्थ!!

दानवीर! तेरे प्रतापसे ले प्रतापने जोश!
फ़तह किए बहु दुर्ग, भुलाया शत्रु—वर्गका होश!!
जैन-वीर! तू था बिभूति वह, उपमा-दुर्लभ अन्य!
भारत-माँ जन तुझे मानती है अपनेको धन्य!!
भामाशाह! गा रहा तेरी कीर्ति—कथा इतिहास!
जीवित तुझे रखेगी, जब तक है धरती—आकाश!!

श्री 'भगवत्' जैन

एकान्त और अनेकान्त

ले० पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त' साहित्याचार्य

वड़वानलसे मैं हूं अदाह्य
मैं अस्त्र-शस्त्रसे हूं अभेद्य,
मैं प्रबल पवनसे हूँ अशोष्य
मैं जलप्रवाहसे हूं अक्लेद्य।
ज्यों जीर्ण वस्त्रको छोड़ मनुज
नूतन अम्बर गह लेता है,
त्यों जीर्ण देहको छोड़ जीव
नूतन शरीर पा लेता है।
यह जीव न मरता है कदापि
पैदा भी होता है न कभी,
यह है शाश्वत,—तन नशने पर
इसका विनाश होता न कभी।

इस भाँति आपको नित्य मान
कितने ही जगके जीव आज,
करते घातक पातक महान्
मनमें किंचित् लाते न लाज।
जब जीव न मरते मारेसे
तब हिंसामें भी पाप कहाँ?
एकान्त—गर्तमें पड़कर यों
दुख पाते हैं बहु जीव यहाँ।

× × ×

जो उषा-कालमें प्राचीसे
लेकर वैभव था उदित हुआ,
वह दिव्य दिवाकर भी आखिर
दिखता है सब को अस्त हुआ।
हरि — हर — ब्रह्मादिक देवोंपर
जब चक्र कालका चल जाता,
तब कौन विश्वमें शाश्वत हो—
कर, नर रहनेको है आता?
जो जीव जन्म लेता जगमें
वह मृत्यु अवश ही पाता है,
यह सकल विश्व है क्षणभङ्गुर
थिर कोइ न रहने पाता है।
इस भाँति आपको अथिर मान
बेचैन हुए कितने फिरते!
कितने सुख समता पानेको
दिन रात तड़पते हैं फिरते।
एकान्तवादका कुटिल चक्र
वस्तु—स्वरूपको चूरचूर,
कर मार्गभ्रष्ट मानव समाज-
को, करता निज सुखसे विदूर।

× × ×

सज्ज्ञान—प्रभाकर ही मैं हूँ
सच्चिदानन्द, सुखसागर हूँ,
मैं हूँ विशुद्ध, बल—वीर्य—विपुल,
बहु दिव्य गुणोंका आगर हूँ।
कितने ही ऐसा सोच साच,
कर्तव्य—विमुख होजाते हैं,
एकान्तवादकी मदिरासे
उन्मत्त चित्त बन जाते हैं।

× × ×

मैं अज्ञ, दुःखका आकर हूँ
बलहीन, अशुचिताका घर हूँ,
मैं हूँ दोषोंका वर निकेत
मैं एक तुच्छ पापी नर हूँ।
यह सोच मनुज कितने जगमें
कायर हो दुःख उठाते हैं,

कितने ही निजको भूल यहाँ
अति परासक्त हो जाते हैं।
एकान्तवादकी रजनीमें—
नर निजपरको है भूल रहा
निज लक्ष्य-बिन्दुसे हो सुदूर,
परको ही अपना मान रहा।

× × ×

उल्लिखित विरोधी भावोंमें—
एकान्त-निशाके अञ्चलमें
दिनकर हो आता अनेकान्त,
आलोक लिये अन्तस्तलमें

है अनेकान्त मञ्जुल प्रभात
सुख-शान्तिगेह, समता-निकेत
सब वैर-तापको कर विदूर
बन जाता सबका सौख्य-हेत।
सत् नित्य, अनित्य, अनेक, एक
अज्ञान-ज्ञान-सुख-दुःखरूप
शुचि, अशुचि, अशुभ, शुभ, शत्रु, मित्र
नय-वश होजाता सकलरूप।
यह अनेकान्तका मूल मन्त्र
बनकर उदार जपना सीखो,
हैं सकल वस्तु निज-निज स्वरूप
समभावोंसे रहना सीखो।

विवाहका उद्देश्य

(लेखक—श्री एम० के० ओसवाल)

संध्याका समय है। सूर्य भगवान अपनी अन्तिम किरणोंके सुनहरे प्रकाशसे जगको देदीप्यमान कर रहे हैं। लेकिन यह प्रकाश अब थोड़ी ही देरके लिये है। सामने एक आलीशान मकानके चबूतरेपर एक बारह बरसका बालक बड़ी ही सज-धजके साथ दूल्हेके रूपमें बैठा हुआ है। मकान गाँवके एक सुप्रसिद्ध नामदार सेठजीका है, जिनकी लड़कीका शुभ लग्न आज इस छोटी उम्रके दूल्हेके साथ होने वाला है।

सूर्यकी वही अंतिम किरणें इस कोमल बालकके चेहरेकी प्राकृतिक शोभाको और भी उच्चकोटिकी बना रही हैं। उसका मुँह हृष्ट-पुष्ट है। शरीर भी खूब सुडौल है। इतनेपर भी उसके शरीरपर लगे हुए जवाहिरात और ज़रीके कपड़े तो उसमें इन्द्रकी-सी शोभा लारहे हैं। पर हमें डर है कि प्रकृति ऐसे सुंदर बालकको सुरक्षित रखेगी, जिसका कि विवाह एक अठारह बरसकी कुमारीके साथ होरहा है।

क्या हम इस बालकको जाकर समझावें कि वह यह सब क्या कर रहा है? लेकिन नहीं, वह अपने पिताकी कठपुतली है। वह खुद भी तो इतना अज्ञान है कि इन बातोंको समझना उसके बूतेकी बात नहीं। साधारण पांचवीं क्लासका लड़का क्या समझे कि विवाह किस उद्देश्य को सामने रखकर किया जाता है? उसके पिताको घरमें बहू लेजानेसे मतलब है, ताकि वह जल्दी ही पितामहके पदको प्राप्त होवे, और परदादा बननेपर तो उसे स्वर्गमें ऊँचा स्थान प्राप्त होगा और मरते समय उसके नामपर सोनेकी सीढ़ी दान देनेका हक मिलेगा।

❀ ❀ ❀ ❀

पांच दिन बाद बारात घर पहुँची। बड़ी ही खुशी और धूम-धामसे बधाई हुई। लड़केके पिता अक़लचंद सेठ तो फूले नहीं समाते थे। पांचसौ रुपये टीकेके मिले, दस हजारका माल दहेजमें आया और लड़केकी बहू भी सुन्दर, सयानी, घरका काम-काज देखनेमें होशियार थी।

लेकिन उस कोमल बालकके हृदयपर, जिसे युवावस्था तो दूर रही, अभी किशोरावस्थाको भी पार करनेमें बहुतसे वर्षोंका समय बाकी था, इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। वह पूर्वकी तरह स्कूल जाने लगा। लेकिन आज जब वह स्कूलसे लौटा तो उसका मुंह कुछ उदासीन था। कारण क्या हो सकता था? यही कि आज लड़कोंने मिलकर बचपनमें शादी करनेके लिए उसकी खूब हँसी उड़ाई थी। खैर, बात पुरानी होगई और वह भी इन बातों का अब बुरा नहीं मानता था।

रमेश तो अपने दिन स्कूलमें काटता था, लेकिन उसकी नववधू लीलाकी क्या हालत थी? क्या उसके पिताने उसे रमेशको ब्याहा था या उस घरको जो कि उस का ससुराल था। दिन भर वह घरके काम-काज देखा करती, न कभी बाहर जाना और न किसीसे मिलना। खाने-पीने, पहनने-ओढ़नेको घरमें काफ़ी था। शारीरिक थकावट लाने वाला काम भी उसके लिए कोई नहीं था। घरमें नौकर चाकर काफ़ी थे। फिर भी वह दुखी थी। वह जवान थी। उसका यौवन वहाँ धूलमें मिल रहा था। वह भी समझती थी कि उसके जीवन का वहाँ नाश होरहा है। लेकिन वह कर ही क्या सकती थी? अपने दिलमें उमड़ी हुई बात लोहूके घूंटकी तरह वह नीचे उतार लेती थी। उसे समाजमें अपने कुलकी शान रखना था, यह मर्यादाके बाहर नहीं जाना चाहती थी; लेकिन साथ ही उसे उसका यौवन सता रहा था।

रमेश की परीक्षा नजदीक आई हुई थी। वह भरसक प्रयत्न कर परीक्षामें शानके साथ उत्तीर्ण होना चाहता था। वह अपने कमरेमें बैठा रातको बारह बजे तक अभ्यास किया करता, बादमें शयन-गृहमें जा सोता और सुबह पांच बजे ही उठ खड़ा होता। उसे यह खयाल ही नहीं आता कि वह विवाहित है। उसने अभी तक 'अर्धाङ्गिनी' शब्दकी परिभाषाको भी पूरी तौरपर नहीं समझ पाया था। उसे प्रेमका व्यावहारिक अर्थ भी मालूम नहीं था। वह समझता था कि स्त्रियोंको घरका काम काज करने के लिये ही पर घरसे शादी कर वधूके रूपमें लाया जाता है। लीला विचारी अपना दुख अपने आप ही को सुनानेके सिवाय और कर ही क्या सकती थी!!

❀ ❀ ❀ ❀

एक दिन लीलाने नींद न ली। रमेश जब सोने केलिए कमरेमें आया तो वह उसका हाथ पकड़कर नम्र शब्दोंमें बोली, "आप तो सारे दिन अपनी पढ़ाई में ही लीन रहते हो, कभी मुझ अभागिनीकी भी खबर लेनेका विचार दिलमें लाते हो या नहीं।"

रमेशके लिए यह सब नई बातें थीं, वह नहीं समझ पाया कि लीलाके कहनेका क्या अभिप्राय है। वह बोल उठा, "तुम्हें क्या चाहिए सो अम्माजीसे माँगलो। मुझे बातें करनेको समय नहीं है। मुझे नींद लेने दो, सुबह जल्दी उठना है।" लीलाके हृदयको धक्कासा लगा, वह चुपचाप सोगई। लेकिन उसके हृदयमें जो आशाकी बेल उगी हुई थी, वह इन शब्दोंसे कैसे मुरझा सकती थी।

लीला पढ़ी लिखी भी तो कहाँ थी। उसे न

साहित्यका ज्ञान और न किताबोंकी पहिचान। उसे क्या मालूम कि एक जवान पुरुष और एक बच्चेमें क्या फरक है, उसे तो अपनी आशा और इच्छा पूर्ण करनेसे मतलब। वह महाजन वंश और जैन धर्म में पली हुई नारी थी, लेकिन साथ ही अंधविश्वास ने उस अज्ञान बालाके मस्तिष्कमें पूरी तौरसे स्थान जमा लिया था। हम कहते हैं आशा अमर होती है। लीलाकी भी यही गति थी। उसे भी आशा थी कि उसके पतिदेव एक दिन उसके दुःखका समझेंगे और उसके अंतर की भूखको दूर करेंगे।

❀ ❀ ❀ ❀

परीक्षा समाप्त होगई, रमेशके इम्तिहान का नतीजा आया। वह अपनी क्लासमें सर्वप्रथम और फर्स्ट डिवीजनमें पास हुआ था, जिसके लिए हेडमास्टर ने बहुत खुशी प्रकट की और उसे स्कूल बोर्डसे मिलने वाला इनाम भी जाहिर कर दिया। उन्होंने यह भी आशा प्रकट की कि अगले साल होने वाले बोर्डके मिडिल इम्तिहानमें वह गाँव और स्कूलको काफी यश प्राप्त कराएगा।

अब रमेशकी गर्मीकी छुट्टियाँ हैं, कोई विशेष काम नहीं। दिनको वह मित्रोंके साथ खेलने, नहाने तैरने, वगैरहकेलिये जाता है। अभी उसे अभ्यास करनेकी कोई जरूरत नहीं। शामको जल्दीसे सो जाता है। न इधर उधरके विचार, न किसी बातकी कोई चिंता।

परन्तु इधर लीलाको उसका दुःख उसे सता रहा था। आज उसने रमेशसे कुछ बोलनेकी ठानी। रात को ज्योंही वह कमरे आया उसने रमेशको पलङ्गपर बिठाकर कहा "गरीबपरवर, अब तो आपकी परीक्षा समाप्त होचुकी है, सुबह जल्दी उटना नहीं, अब आप मुझ गरीबकी इच्छाओंको पूर्ण क्यों नहीं करते? क्या आपको मालूम नहीं मैं कितनी दुःखी हूँ? मैं आपसे कितना कहूँ।"

रमेश कुछ नहीं समझा। वह बोल उठा "तुम्हारे माफिक भी कोई मनुष्य होगा; घरमें खाने खरचने को बहुत, काम करनेको नौकर-चाकर, फिर भी तुम्हें क्या दुःख है। फिजूल मेरे पीछे क्यों पड़ती हो।

वह रमेशके गले लिपट गई, और गद्गद् कण्ठ-से कहने लगी: "तुम्हारा और मेरा सम्मिलन और पाणिग्रहण होनेका उद्देश्य क्या आप यही समझते हैं! लेकिन, मेरी आंतरिक भूख, मेरी सन्तानकी अभिलाषाको कौन पूरी करेगा, पतिदेव?"

रमेशके सिरमें बिजली-सी दौड़ गई! वह सन्न होगया! वह अब कुछ कुछ समझने लगा कि उसकी पत्नी उससे क्या चाहती है। उसका मन अब गृहस्था-वस्थाको समझने लग गया था। अब वह स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी स्वाभाविक प्रेरणा (Sexual instinct) से बिल्कुल अनभिज्ञ न था। लेकिन साथ ही वह इस विषयपर गहरा विचार करने लायक भी न था। उसने अपनी दुःखिता पत्नी पर दया करना चाहा, और उस दयाका रूप क्या था उसे पाठक स्वयं विचारलें।

रमेश खुद भी अब इसमें अपना दिलबहलाव समझने लगा।

❀ ❀ ❀ ❀

पंद्रह दिन बाद—

रमेश, दिनके दो बजे, अपने कमरेमें बैठा हुआ था। उसका एक मित्र उससे मिलने आया था, जो उसके सामने कुर्सीपर बैठा हुआ कुछ बोल रहा था। रमेशके चेहरेपर अब वह सौंदर्य नहीं था, वह तेज

नहीं था, वह प्रसन्नता भी नहीं थी जो कि महीनाभर पहले थी।

"यार! तुम तो अब बहुत सूखते चले जारहे हो, खेलने भी कभी नहीं आते, ऐसी तुम्हें कौनसी चिन्ताने आ घेरा? कुछ मैं भी तो समझ पाऊँ।" मित्रने उत्सुकतासे पूछा।

"कुछ नहीं मोहन, जरा दिल ही कम होगया है।"

"हाँ मैं समझ गया, शायद अपनी नव-वधूसे छुटकारा नहीं मिलता होगा, और तो हो ही क्या सकता है?" मोहन बीचमें ही बोल उठा।

रमेश सटपटा गया, शरमके मारे कुछ बोल नहीं सका।

❀ ❀ ❀

महीनाभर बाद रमेशका स्कूल खुला। उसकी क्लासके सभी लड़के वहाँ हाजिर थे, लेकिन रमेश ही नहीं दीख रहा था।

मास्टर साहबने पूछा—"मोहन, तुम्हारा मित्र रमेश आज स्कूल क्यों नहीं आया? क्या उसे आज मिलने वाले पुरस्कारपर कोई खुशी नहीं है?"

"नहीं जनाब, वह बीमार है। उसके पिता उसे डिस्ट्रिक्ट बोर्ड अस्पतालमें इलाज कराने लेगये हैं। लेकिन उसकी स्थिति चिंताजनक है।" मोहनने दुःख प्रकट करते हुए कहा।

मास्टर साहब अवाक् रह गये। उनके दर्जेका प्रथम आने वाला लड़का चिंताजनक स्थितिमें है, यह जानकर उनके होश उड़ गये। उसी रोज शामको वे अस्पताल पहुँचे। डाक्टरने बतलाया कि उसे सूजाक होगया है, और टी० बी० (Tuberculosis) ने काफी जोर पकड़ लिया है। "अब केवल ईश्वरपर ही भरोसा रक्खे बैठे हैं, उसकी नसें बहुत कमजोर होगई हैं।" आखिरमें डाक्टरने कहा।

मास्टर का मुंह सूख गया। वे रमेशके कमरेमें गये। उसका मुँह पीला था, उसके गालोंमें खड्डे पड़ गये थे, शरीर हाड-पंजर ही रह गया था। खटियाके नजदीक जाकर बोले—"रमेश!" उसने आंखें खोलीं। मास्टरको देखते ही उसका गला भर आया, आंखें आंसुओंसे भर गईं। वह बोलनेका प्रयत्न करने लगा।

मास्टरने उसे शान्त करते हुए कहा—"रमेश, तुमने भूल की!"

"हां गुरुजी!" रमेशको बोलनेमें बड़ी मुश्किल पड़ रही थी। फिर भी वह बोलनेका साहस कर रहा था। "मैं अपने किये पापका फल भोग रहा हूं, यह इस जन्ममें ही किया हुआ अपराध है। अब मैं नहीं बच सकता, मेरी आशाका ताँता टूट गया है।" बोलते—बोलते उसका गला भर आया। मास्टरने उसको शान्त होनेको कहा, लेकिन वह कह रहा था—"गुरुजी···मेरा यह संदेश, कृपया मेरे सहपाठियोंको कह दीजियेगा। मैं तो···म···र जाऊंगा। लेकिन वे इस की हुई भूलसे पाठ लें, उन्हें ऐसा मौका न आवे। यह सब मेरी बचपनमें शादी हो जानेका परिणाम है। अब मेरी पत्नी सदाकेलिये विधवा हो जायेगी। उसकी इच्छाको कौन पूरी करेगा? उसकी ···सं···ता···न···की भूख···अब···कैसे······"

रमेशकी आंखोंसे आंसू टपकने लगे। उसे उस दिन की याद आगई जब कि उसकी पत्नी लीलाने उसके गले लिपट कर कहा था कि उसे संतानकी भूख सता रही है। वह और कुछ कहनेका प्रयास कर रहा था, लेकिन मुंह खोलते ही पिचक जाता था। मास्टरने उसे धीरज देना चाहा। उन्होंने रमेशका हाथ अपने हाथमें लिया, वह एक दम ठंडा था।

देखते ही देखते रमेशका सांस चढ़ने लगा।

मास्टर साहब उसका हाथ मसलने लगे, ताकि उसमें कुछ गरमी आजाय, परन्तु यह सब व्यर्थ था। उसकी घड़ी आगई थी। अक़लचन्द सेठ अन्दर आये, उनका मुँह सूखा हुआ था। रमेशकी सांस चढ़ी हुई देखकर तो उनकी हड्डी हड्डी पानी होगई, वे बहुत ही अधीर थे। मास्टर साहबने कहा, "सेठजी! अब आपको बहुत दुःख होरहा है, लेकिन अब काम बिगड़ गया है। अपने हाथोंसे अपनेही पैरोंमें कुल्हाड़ी मारी है, आपने! लेकिन उस समय आप अपनी धुनमें थे। तुम्हें दादा और परदादा बननेकी इच्छाने अपने इकलौते पुत्रसे हाथ धुलवा दिये! वह अब संसारमें नहीं रह सकता, उसका अन्तिम समय आ पहुंचा है!!" सेठकी छाती बैठ गई!!

"हाय! यह क्या कह रहे हो? क्या मेरा बेटा अब...न...हीं...बच...स...क...ता!" यह कहते कहते उनकी आँखें भर आईं। वे चारपाईके नजदीक आये। रमेशका मुंह खुला था, उसका अन्तिम साँस निकल गया था। देखते ही उनकी आशाएँ हवा होगईं, उनका सिर चकराने लगा। "हाय!" कहते हुए वे धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़े! मास्टर साहब भी बहुत दुःखित हुए, पर सब व्यर्थ था।

❀ ❀ ❀ ❀

सुबहके छः बजे हैं, सूर्य भगवान अपनी सुनहरी किरणोंको पहाड़के पीछे छिपाए हुए हैं, वे कुछ किरणें आकाशमें बादलोंकी तरफ छोड़ रहे थे, पर भूतलपर दृष्टि डालनेके पहले वे कुछ सोच रहे थे। मानों, उन्हें यह दुःख था कि किसी दिन उन्होंने अस्ताचलको जाते वक्त अपनी सुनहरी किरणोंसे जिस रमेशकी इन्द्र की-सी शोभाको बढ़ानेमें आनन्द प्रकट किया था, उसी रमेशके शवकी अन्तिम क्रिया के वक्त आज उन्हें उदयाचल से निकलते ही श्मशान भूमिकी भयानकताका दृश्य देखना पड़ेगा। शायद वे ही सुनहरी किरणें उस भयानक भूमिको और भी ज्यादा भयानक कर देवें।

चिता जल रही थी। अकलचंद सेठ रुदन कर रहे थे। लोग बैठे बातें कर रहे थे। कोई कहता था "लड़का होशियार, तन्दुरुस्त था, पर न जाने उसे एकाकी क्या होगया।" दूसरा कहता था—"अजी लड़की ही बड़ी चुड़ैल है. उसीने इस भोले-भाले लड़केका सर्वनाश किया।" एक महाशय कह रहे थे—लड़कीने शादी करके घर आये उसी दिनसे अपना पैर बाहर छोड़ रक्खा था, और इसी कारणसे लड़का चिन्तित था, दिन ब दिन कमजोर हो रहा था।"

इतनेमें एक आदमी गाँवकी ओरसे भागता हुआ आया। सब उसकी ओर देखने लगे। वह नजदीक आकर कहने लगा, "लीलाका कुछ पता नहीं है। अभी तक उसका चूड़ा भी नहीं फोड़ा गया। न मालूम वह कहाँ भाग गई!" बस फिर क्या था। पहले ही उसकी बात चली हुई थी, अब तो और भी बढ़ गई। हजारों गालियाँ उसके नामपर बरसने लगीं. न जाने कितने विशेषण—चुड़ैल, हरामजादी, कुलटा, कुलक्षिणी, वगैरह उसके नामपर लगाये जाने लगे!

अन्तिम क्रिया करके गांवमें लौटे, इधर उधर खूब आदमी दौड़ाये गए, पुलिसको भी खबर दीगई पर लीलाका कहीं पता न था। शामको उठामणे पे लोग उसके नामपर चर्चा चला रहे थे। सब उसके बारेमें बुरी आशंकाएँ करते थे।

पर आखिर वह गई भी तो कहां गई?

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरे दिन चरवाहा गांवमें खबर लाया कि उसने

नजदीकके जंगलमें तालाबके पास एक लाश पड़ी पाई है। उसके गलेमें एक रस्सी है और महाजन घर की खोसी मालूम पड़ती है। जान पड़ता है उसने आत्महत्या ही करली है।

जाँच करने पर मालूम हुआ कि वह लीला ही थी।

❋ ❋ ❋ ❋

आत्महत्या! और किसलिये यह महापाप?

पाठक खुद ही इसका निर्णय करलें।

एक उमड़ता हुआ फूल बीच ही में तोड़ डाला गया।

एक जवान बालाको जीवन असह्य हो जानेके भयसे और अपनी इच्छाओंकी पूर्ति न होने रूप घोर निराशासे संसार छोड़ देना पड़ा!!

सेठजी अकलचन्दकी अक्ल अब ठिकाने आई, जबकि वे अपने इकलौते पुत्रसे हाथ धो बैठे थे।

मास्टर साहबको अब समझ पड़ा कि रमेशके विवाहका उद्देश्य क्या था।

[बच्चोंकी हाईकोर्ट]

(१)

बड़े भैया एक स्लेट-पेंसिल लाये, चार टुकड़े बराबरके किए, चारों बच्चोंको देने लगे, चारों मचल पड़े,—यह तो छोटी है, हम नहीं लेते!

(२)

पिताजी आये—अच्छा हम इन्हें बड़ी करदें। मुट्ठीमे दबाई, पीछे मुट्ठी खोली—लो, बड़ी बन गई! सबके सब—नहीं बनी।

(३)

हाई कोर्टमें मामला पेश हुआ। पिताजीने जो प्रयोग किया था वही यहाँ किया गया। सबके सब —हाँ, अब बनगई! एक एक टुकड़ा सबने ले लिया।

(४)

हाईकोर्ट ? ☛ "माँ"

\+ \+ \+ \+

जिस प्रकार ज्ञानीजनोंको 'स्याद्वाद' मान्य है उसी प्रकार बच्चों को 'मातृवाद' मान्य है।

—दौलतराम मित्र

श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र

(लेखक—श्री पं० नाथूराम प्रेमी)

ये दो ग्रंथकर्त्ता लगभग एक ही समयमें, एक ही स्थानपर हुए हैं और दोनोंने ही महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणपर टिप्पण लिखे हैं, इस लिए कुछ विद्वानोंका यह खयाल हो गया है ❀ कि प्रभाचन्द्र और श्रीचन्द्र एक ही हैं, लिपिकर्त्ताओंकी ग़ल्तीसे कहीं कहीं जो श्रीचंद्रकृत लिखा मिलता है, सो वास्तवमें प्रभाचन्द्रकृत ही होना चाहिए। परन्तु यह खयाल ही खयाल है, वास्तवमें श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र दो स्वतंत्र ग्रन्थकर्त्ता हैं। नीचे लिखे प्रमाणोंसे यह बात सुस्पष्ट हो जायगी—

बम्बईके सरस्वती भवनमें (नं० ४६३) में रविषेणाचार्यकृत पद्मचरितका श्रीचन्द्रकृत टिप्पण है + । उसका प्रारंभ और अन्तका अंश देखिए—

प्रारंभ—

शंकरं वरदातारं जिनं नत्वा स्तुतं सुरैः।
कुर्वे पद्मचरितस्य टिप्पणं गुरुदेशनात्॥

सिद्धं जगत्प्रसिद्धं कृतकृत्यं वा समाप्तं निष्ठितमिति यावत् । सम्पूर्णभव्यार्थसिद्धि (द्धेः) कारणं समम्रो धर्मार्थकाममोक्षः स चासौ भव्यार्थश्च भव्यप्रयोजनं तस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः स्वरूपलब्धिर्वा तस्याः कारणं हेतुः। किं विशिष्टं हेतुमुत्तमं दोषरहितं······

अन्त—

‡ लाद़ (ड) बागड़ि (ड) श्रीप्रवचनसेन (?) पंडितात्पद्मचरितस्सकर्ण्यो (तमाकर्ण्य ?) बलात्कारगणश्रीश्रीनन्द्याचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना श्रीमद्विक्रमादित्यसंवत्सरे सप्ताशीत्यधिकवर्षसहस्र(स्रे) श्रीमद्धारायां श्रीमतो राजे (ज्ये) भोजदेवस्य······

एवमिद (दं) पद्मचरितटिप्पितं श्रीचंद्रमुनिकृतसमाप्तमिति।

स्व० सेठ माणिकचन्द्रजीके चौपाटीके मन्दिरमें (नं० १९७) इन्हीं श्रीचन्द्रमुनिका एक और ग्रन्थ 'पुराणसार' है। उसका प्रारंभ और अंत इस प्रकार है—

प्रारंभ -

नत्वादितः सकल (तीर्थ) कृत (तां) कृतार्थान्
सर्वोपकारनिरतांस्त्रिविधेन नित्यम्।
वक्ष्ये तदीय - गुणगर्भमहापुराणं
संक्षेपतोऽथनिकरं शृणुत प्रयत्नात्॥

अन्त—

धारायां पुरि भोजदेवनृपते राज्ये जयात्युच्चकैः
श्रीमत्सागरसेनतो यतिपतेर्ज्ञात्वा पुराणं महत्।
मुक्त्यर्थं भवभीतिभीतजगता श्रीनन्दिशिष्यो बुधः
कुर्वे चारु पुराणसारममलं श्रीचंद्रनामा मुनिः॥

❀ देखो डा०पी०एल० वैद्य सम्पादित महापुराण की अंगरेजी भूमिका।

+ भवनके रजिस्टरमें इसका नाम, 'पद्मनन्दिचरित्र' लिखा हुआ है। यह प्रति हालकी लिखाई हुई और बहुत ही अशुद्ध है।

‡ लाड़बागड़ नामका संघ काफ़ी पुराना है। दुबकुंडके जैनमन्दिरमें एक शिलालेख वि० सं० ११४५ का है, जिसमें इस संघके तीन सेनान्त आचार्योंका उल्लेख है।

लाड या लाट गुजरातका प्राचीन नाम है और बांसवाड़ाके आसपासके प्रदेशको अब भी बागड़ कहते हैं।

श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे यत्तपूत्य (अशीत्य ?) धिकवर्षसहस्रे पुराणसाराभिधानं समाप्तं। शुभं भवतु। लेखकपाठकयोः कल्याणम्।

पद्मचरितके टिप्पणकार और पुराणसारके कर्त्ता इन्हीं श्रीचन्द्रमुनिका बनाया हुआ महापुराण (पुष्पदन्तकृत) का एक टिप्पण है, जिसका दूसरा भाग अर्थात् उत्तरपुराण-टिप्पण उपलब्ध है ❀। उसके अन्तमें लिखा है—

श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराण-विषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तात् परिज्ञाय मूलटिप्पणिकां चालोक्य कृतमिदं समुच्चय-टिप्पणं अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला (त्का) रगणश्री-संघा (नंद्या)चार्यसत्कविशिष्येण श्रीचंद्रमुनिना निज-दौर्दंडाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य। १०२।

इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचंद्राचार्य † विरचितं समाप्तम्।

अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्दः संवत् १५७५ वर्षे भादवा सुदी ५ बुद्धदिने कुरु-जांगलदेशे सुलतानसिकंदरपुत्र सुलतान इब्राहिम-राज्यप्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्रीगुणभद्रसूरिदेवाः तदाम्नाये जैसवाल चौ० टोडरमल्लु। चौ० जगसीपुत्र इदं उत्तरपुराण टीका लिखापितं। शुभं भवतु। मांगल्यं दधति लेखक-पाठकयोः।

उक्त तीनों ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंसे यह बात स्पष्ट होती है कि इन तीनोंके कर्त्ता श्रीचन्द्रमुनि हैं, जो बलात्कारगणके श्रीनन्दि सत्कविके शिष्य थे और उन्होंने धारा नगरीमें परमारवंशीय सुप्रसिद्ध राजा भोजदेवके समयमें वि० सं० १०८७ और १०८० में उक्त ग्रंथोंकी रचना की है।

अब श्रीप्रभाचंद्राचार्यके ग्रंथोंको देखिए और पहले आदिपुराण टिप्पणको लीजिये—

प्रारंभ—

प्रणम्य वीरं विबुधेन्द्रसंस्तुतं
निरस्तदोषं वृषभं महोदयम्।
पदार्थसंदिग्धजनप्रबोधकं
महापुराणस्य करोमि टिप्पणम्॥

अन्त—

समस्तसन्देहहरं मनोहरं
प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेश्वरम्।
कृतं पुराणे प्रथमे सुटिप्पणं
सुखावबोधं निखिलार्थदर्पणम्॥

इति श्रीप्रभाचंद्रविरचितमादिपुराणटिप्पणकं पंचासश्लोकहीनं सहस्रद्वयपरिमाणं परिसमाप्ता (प्तं)। शुभं भवतु। ×

पुष्पदन्तके महापुराणके दो भाग हैं एक आदि-पुराण और दूसरा उत्तरपुराण। इन भागों की प्रतियाँ अलग अलग भी मिलती हैं और समग्र ग्रंथकी एक प्रति भी मिलती है। श्रीचन्द्रने और प्रभाचन्द्र ने दोनों भागों पर टिप्पण लिखे हैं। श्रीचन्द्रका आदिपुराण का टिप्पण तो अभी तक हमें नहीं मिला परंतु प्रभाचन्द्र के दोनों भागों के टिप्पण उपलब्ध

❀ यह ग्रन्थ जयपुरके पाटोदीके मन्दिरके भंडारमें (गठरी नं० १३ ग्रन्थ तीसरा पत्र ५७ श्लो० १७००) है। इसकी प्रशस्ति स्व० पं०पन्नालालजी बाकलीवालने आश्विन-सुदी ५ वीर सं० २४४७ के जैनमित्रमें प्रकाशित कराई थी और मेरे पास भी उन्होंने इसकी नकल भेजी थी। इसी सम्बन्धमें उन्होंने अपने ता० १६—६—२३ के पत्रमें लिखा था कि "उत्तर पुराणकी टिप्पणी मँगाई सो वह गठरी नहीं मिली थी—आज ढूँढकर निकाली है। उसके आदि अंतके पाठकी भी नकल है। 'श्रीचंद्रमुनिना' में 'प्रभा' शब्द छूट गया मालूम होता है। परंतु श्लोक संख्यामें फ़र्क होनेसे शायद श्रीचंद्रमुनि दूसरा भी हो सकता है।"

† यहाँ निश्चयसे श्रीचन्द्राचार्यकी जगह प्रभा-चन्द्राचार्य लिखा गया है। यह लिपिकर्ताकी भूल मालूम होती है।

× भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट की प्रति नं० ५१३ (आफ़ १८७६-७७)

हैं। उनमें से आदिपुराण-टिप्पणका मंगलाचरण और प्रशस्ति ऊपर दी जाचुकी है। अब उत्तरपुराण के टिप्पण को लीजिये—

अन्तिम अंश—

इत्याचार्यप्रभाचंद्रदेवविरचितं उत्तरपुराणटिप्पणकं द्वयधिकशततमः सन्धिः।

नित्यं तत्र तवप्रसन्नमनसा यत्पुण्यमत्यद्भुतं
यातस्तेन समस्तवस्तुविषयं चेतश्चमत्कारकः।
व्याख्यातं हि तदा पुराणममलं स्व (सु)स्पष्टमिष्टाक्षरैः
भूयाच्चेतसि धीमतामतितरां चन्द्रार्कतारावधिः ॥१॥
तत्त्वाधारमहापुराणगम(ग)नद्यो(ज्ज्यो)ती जनानन्दनः।
सर्वप्राणिमनःप्रभेदपटुता प्रस्पष्टवाक्यैः करैः।
भव्याब्जप्रतिबोधकः समुदितो भूभृत्प्रभाचंद्रतो
जीयाट्टिप्पणकः प्रचंडतरणिः सर्वार्थमग्नद्युतिः ॥२॥

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीप्रभाचंद्रपंडितेन महापुराणटिप्पणकं शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति। *

इससे मालूम होता है कि यह टिप्पण धारानिवासी पं० प्रभाचन्द्रने जयसिंहदेव (परमारनरेश भोजदेवके उत्तराधिकारी)के राज्यमें रचा है। आदिपुराणके टिप्पणमें यद्यपि धारानिवासी और जयसिंहदेव राज्यका उल्लेख नहीं है; और इसका कारण यह है कि आदिपुराण स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, महापुराणका ही अंश है परन्तु वह है इन्हीं प्रभाचंद्रका।

इसी उत्तरपुराण टिप्पणकी एक प्रति आगरेके मोतीकटरेके मंदिरमें है जो साहित्यसन्देशके सम्पादक श्रीमहेन्द्रजीके द्वारा हमें देखनेको मिली थी। उसकी पत्रसंख्या ३३ है और उसका दूसरा और ३२ वां पत्र नष्ट होगया है। उसमें ३३ वें पत्रका प्रारंभ इस तरह होता है—

निषः ॥ ९ साइवए स्थाति स्थाने ॥१० अणिद्धरू अनुक्तस्वरूपः। वसुसमगुणसरीरु सम्यक्त्वाद्यष्टगुणस्वरूपः। हयतिउ हतार्तिः ॥११ पढेविपाठं गृहं समइए। करिवइस। नामेवा वासा प्रवाहेण ॥

इसके आगे वह श्लोक और प्रशस्ति है जो ऊपर दी जाचुकी है। यह उत्तरपुराण-टिप्पण श्रीचन्द्रके उत्तरपुराणसे भिन्न है। क्योंकि उसके अंतके टिप्पण प्रभाचंद्र के टिप्पणोंसे नहीं मिलते। प्रभाचंद्र के टिप्पणका अंश ऊपर दिया गया है। श्रीचंद्रके टिप्पण का अंतिम अंश यह है—

देसे सारए इतिसम्बन्धः। पढम ज्येष्ठा निरंगु कामः मुई मूकी। जलमंथणु अतिमकल्किनामेदं। विरसेसइगजिष्यति। पढेवि पाठग्रहणनामेदं।

इसके आगे ही 'श्रीविक्रमादित्य संवत्सरे' आदि प्रशस्ति है।

श्रीचंद्रके उत्तरपुराण टिप्पणकी श्लोकसंख्या १७०० है जब कि प्रभाचंद्रके टिप्पणकी १३५०। क्योंकि सम्पूर्ण महापुराण-टिप्पणकी श्लोकसंख्या ३३०० बतलाई गई है और आदिपुराणकी १९५०। ३३०० मेंसे आ० पु० टि० १९५० संख्या बाद देनेसे १३५० संख्या रह जाती है।

जिस तरह श्रीचंद्रके बनाये हुए कई ग्रन्थ हैं जिनमेंसे तीनका परिचय ऊपर दिया जा चुका है उसी तरह प्रभाचंद्रके भी अनेक स्वतंत्र ग्रंथ और टीकाटिप्पण ग्रंथ हैं और उनमेंसे कईमें उन्होंने धारानिवासी और जयसिंहदेवके राज्यका उल्लेख किया है जैसे कि आराधना कथाकोश (गद्य)में लिखा है—

श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपंचपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचंद्रपंडितेन आराधनासत्कथाप्रबंधः कृतः।

* यह ग्रंथ जयपुरके पाटोदीके मंदिरके भंडारमें (ग्रंथ नं० २३३) है।

उन्होंने कई ग्रंथ जयसिंहदेवसे पहले भोजदेवके समयमें भी बनाये हैं× और उनमें अपने लिये लगभग यही विशेषण दिये हैं।

इन सब बातोंसे स्पष्ट हो गया है कि ये दोनों ग्रंथकर्ता भिन्न भिन्न हैं, दोनोंको एक समझना भ्रम है। ऐसा मालूम होता है कि जयपुरके लिपिकर्त्ताने पहले प्रभाचन्द्रके टिप्पणकी नकल की होगी और तब उसकी यह धारणा बन गई होगी कि टिप्पणके कर्ता प्रभाचंद्र हैं और उसके बाद जब उससे श्रीचंद्र के टिप्पणकी भी नकल कराई होगी तब उसने उसी धारणाके अनुसार श्रीचन्द्रको ग़लत समझकर 'प्रभाचंद्राचार्यविरचितं' लिख दिया होगा।

बम्बई, १४-११-४०

×जैसे प्रमेयकमलमार्तण्डके अन्तमें—"श्रीभोजदेव राज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणा-मार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्री-मत्प्रभाचंद्रपंडितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योत-परीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।

गाँधी-अभिनन्दन

भारतकी बलिवेदी पर,
निज स्वार्थोंकी बलि देकर।
स्वातंत्र्य-प्रेम-मतवाला,
वाणीमें समता भरकर।
ले साम्यवादका झण्डा,
जगमें परिवर्तन लाकर।
भारतका लाल निराला,
बलिदानोंका बल पाकर।
सोतेसे विश्व-हृदयमें,
जागृतिका गीत सुना कर।
दीनों-हीनों-निबलोंको,
पथभ्रष्टोंको अपना कर।

ले विश्व-प्रेमकी वीणा,
गा सत्य-अहिंसा-गायन।
जगको आदर्श दिखाने,
आया गाँधी मनभावन।
वैभव-विलाससे निस्पृह,
सादा जीवन अपना कर।
सच्चा सेवक दुनियाका,
है आया जगतीतल पर।
चिर-पराधीनता-पीड़ित,
भारत माँका सुन क्रन्दन।
स्वाधीन उसे करनेको,
आया गांधी, अभिनन्दन।

पं० रविचन्द्र जैन 'शशि'

प्रो० जगदीशचन्द्रके उत्तर-लेखपर सयुक्तिक सम्मति

(ले०—श्री पं० रामप्रसाद जैन शास्त्री)

श्रीमान् प्रोफेसर जगदीशचंद्रजी जैन एम० ए० ने 'तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक' नामका अपना लेख नं० ३ * भेजकर मुझे उसपर सम्मति देनेकी प्रेरणा की है। तदनुसार मैं उसपर अपनी सम्मति नीचे प्रकट करता हूं। साथ ही, यह भी प्रकट किये देता हूँ कि उक्त लेख नं० ३ से पूर्वके दो लेख मेरे देखनेमें नहीं आये. अतः इस तृतीय लेखांकपर जो सम्मति है वह उस मूलक ही है और उसीकी विचारणा पर मेरी निम्न लिखित धारणा है।

(१) अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय

इस प्रकरणको लेकर पं० जुगलकिशोरजीका जो राजवार्तिक-मूलक कथन है वह निर्भ्रान्तमूलक इस लिये प्रतीत होता है कि—जिस ग्रंथपर राजवार्तिक टीका लिखी जारही है उसी ग्रंथके ऊपर किये गये आक्षेपका उत्तर उसी ग्रंथद्वारा नहीं किया जाता, उसके लिये उस ग्रंथके पूर्ववर्ती ग्रंथके प्रमाणकी आवश्यकता होती है। अतः पं० जुगलकिशोरजीने नं० १ के सम्बन्धमें जो समाधान किया है वह जैनेतर (अन्यधर्मी) के आक्षेप-विषयक राजवार्तिकमूलक शंका-समाधानके विषयको लिये हुए उत्तर है। उसमें 'गुणाभावादयुक्तिः' इस वाक्यद्वारा जिस शंकाका निर्देश किया गया है उसीका समाधान 'इतिचेन्न' इत्यादि वाक्यसे किया गया है। दूसरी शंका यह उठाई गई थी कि यदि गुण है तो उसके लिये तीसरी गुणार्थिक नय होनी चाहिये—उसका भी शास्त्रीय प्रमाण 'गुण इतिदव्वविधानं' इत्यादि गाथा-द्वारा दिया गया है—अर्थात् कहा गया है कि गुण और द्रव्य अभेदविवक्षासे एक ही पदार्थ हैं, इस लिये तीसरे नयके माननेकी जरूरत नहीं है। इस प्रकरणमें 'अर्हत्प्रवचन' या 'अर्हत्प्रवचहृदय' कौनसा शास्त्र है? बाबू जगदीशचंद्रजीका मत तो इस विषयमें ऐसा है कि—सूत्रपाठ और उसपर जो श्वेताम्बर-मान्य भाष्य है, ये दोनों ही उन शब्दोंसे लिये जाते हैं। परन्तु पं० जुगलकिशोरजीकी मान्यता यह है कि दोनोंमेंसे एकको भी 'अर्हत्प्रवचन' या 'अर्हत्प्रवचन-हृदय' नामसे उल्लेखित नहीं किया गया है। विचारपूर्वक देखा जाय तो इन दोनों पक्षोंमें बाबू जुगलकिशोरजीका मानना ही ठीक प्रतीत होता है। कारण कि राजवार्तिकमें जो गुणको लेकर शंका उठाई गई है वह 'आर्हतमतमें गुण नहीं है' ऐसे शब्दोंसे उठाई गई है, उसका समाधान जिस सूत्रके द्वारा दिया गया है वह कोई प्राचीन ग्रंथका ही संभावित होता है। क्योंकि परपक्षवादीके लिये जिस ग्रंथके सूत्रपर आक्षेप है उसी ग्रंथके सूत्रसे उसका समाधान युक्तिसंगत मालूम नहीं होता। तत्वार्थसूत्रके नामसे तो दोनों सम्प्रदायके ग्रंथ एक ही हैं—पाठभेद भले ही हो, पर नामसे तथा पाठबाहुल्यसे तो समानता ही

---

* यह लेख 'प्रो० जगदीशचन्द्र और उनकी समीक्षा' नामक सम्पादकीय लेखके उत्तरमें लिखा गया है, और इसे, 'अनेकान्त' में प्रकाशनार्थ न भेजकर श्वेताम्बर पत्र 'जैनसत्यप्रकाश' में प्रकाशित कराया गया है। —सम्पादक

है। दूसरे कदाचित श्वेताम्बरीय तत्वार्थ भाष्यका भी तुष्यतु दुर्जन न्यायसे प्रमाण देते भी तो फिर—प्रश्नकर्त्ताका यह प्रश्नतो बाकी ही रहता कि श्वेताम्बर ग्रंथकी तो यह बात हुई परन्तु दिगम्बर ग्रंथोंमें गुण सद्भावका क्या उत्तर है ? तो उस विषयमें अकलंकदेव क्या समाधान करते ? यह बात अवश्य ही विचारणीय है। इस सब बातके विचारसे ही मालूम होता है कि श्रीअकलंकदेवने उस तरहका समाधान दिया है कि जिसमें शंका करनेका मौका ही न लगे। इस लिये ऐसा समाधान—'अर्हत्प्रवचन' के नामसे दिया है। और अर्हत् प्रवचनके प्रमाणका सूचक 'द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः' यह सूत्र है, इसमें यह निष्कर्ष साफ निकल आता है कि यह सूत्र खास उमास्वाति (मि) की संपत्ति नहीं है किंतु किसी प्राचीन ग्रन्थका यह सूत्र है। इस सर्व पूर्वप्रतिपादित कथनसे पं० जुगलकिशोरजीके मतकी स्पष्ट पुष्टि होती है। इसी सर्व विषयको लक्ष्यमें रखकर—पं० जुगलकिशोरजीने जो अपने (नं० १ के) वक्तव्यमें लिखा है कि—'अर्हत्प्रवचन' और 'अर्हत्प्रवचनहृदय' तत्वार्थभाष्यके तो क्या मूलसूत्रके भी उल्लेख नहीं हैं, यह लिखना उनका बिलकुल सुसंगत है। इसमें क्यों क्या आदि शंकाको जरा भी अवकाश नहीं है। दूसरे कदाचित् थोड़ी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि—'अर्हत्प्रवचन' वह ग्रन्थ भी हो सकता है जिसपर कि राजवार्तिक आदि टीकायें हैं, क्योंकि इस ग्रंथमें 'अर्हत्प्रवचन' ही तो हैं तो फिर कहना होगा कि अकलंककी दृष्टिमें तत्वार्थ सूत्र ही अर्हत्प्रवचन था न कि श्वेताम्बरमान्य भाष्य आदि। कारण कि अकलंकदेवने अर्हत् प्रवचन शास्त्रके प्रमाणमें 'द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणाः' यह सूत्र ही प्रमाणत्वसे उपन्यस्त किया है, न कि कोई भाष्यका अंश या उसका कोई पाठ। अतः स्पष्ट मालूम होता है कि अकलंकके सामने श्वेताम्बरीय भाष्य आदि कोई भी ग्रंथ नहीं था किंतु—सर्वार्थसिद्धि आदि दिगम्बरीय ग्रंथ ही थे, जिनके आधारसे उनका भाष्य दिगम्बर संमत है।

(२) अर्हत्प्रवचन और तत्वार्थाधिगम

इस वक्तव्यमें पं० जुगलकिशोरजीका जो आशय है उससे मेरा निम्नलिखित आशय दूसरी तरहका है। पं० जुगलकिशोरजीने 'इति अर्हत्प्रवचने तत्वार्थाधिगमे उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये भाष्यानुसारिण्यां टीकायां सिद्धसेनगणिविरचितायां अनागारागारिधर्मप्ररूपकः सप्तमोध्यायः' इस टीकावाक्यमें जो 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये', यह पद सप्तम्यन्त माना है सो ठीक नहीं है, यह पद वास्तवमें प्रथमा का द्विवचन है। क्योंकि 'भाष्य, शब्द नित्य नपुंसक है। इसलिये इस वाक्यका यह अर्थ होता है कि—अर्हत्प्रवचन तत्वार्थधिगममें उमास्वातिप्रतिपादित सूत्र और भाष्य हैं, उसमें सिद्धसेनगणिविरचित भाष्यानुसारी टीका है, उसमें मुनिगृहस्थधर्मप्ररूपक यह सातवाँ अध्याय है। यहाँ पर 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' यह पद जो सप्तम्यन्त माना है, वह भ्रमसे माना है। कारण कि यदि ग्रन्थकर्त्ताको सप्तम्यन्त पद ही देना था तो सप्तमीका द्विवचनान्त देना ही ठीक प्रतीत होता। परंतु सो तो दिया नहीं—इससे स्पष्ट है कि यह पद प्रथमाका द्विवचनान्त है। कदाचित् हमारे मित्र प्रोफेसर साहबके हिसाबकी यह दलील हो कि लाघवके लिये एक वचनान्त ही दिया है तो यह दलील यहाँ पर ठीक नहीं है; कारण कि लाघवका विचार सूत्रोंमें होता है, यह पंक्ति सूत्र

नहीं है, अतः यह दलील यहाँ ठहर नहीं सकती। दूसरी दलील यह है कि सूत्र और भाष्यको एकत्व दिखानेके लिये सप्तमीका एक वचन है सो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि एकता जो दिखलाई जा सकती है वह एक कर्तृत्वकी दिखलाई जा सकती है। सो ऐसी संदिग्ध अवस्थामें वह बात बन नहीं सकती; क्योंकि द्वंद्व-समासमें सर्वपद स्वतंत्र रहते हैं, पूर्वपदके साथ जो विशेषण है वह उत्तरपदके साथ हो ही हो, यह नियम नहीं है। दूसरे टीकाकर्त्ताको यदि भाष्य 'स्वोपज्ञ' ही बतलाना था तो स्पष्ट भाष्यके साथ भी 'स्वोपज्ञ' या 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' ऐसा कोई विशेषण लगा देना था, सो कुछ किया नहीं। अतः इस सप्तमाध्यायके अंतसूचक वाक्यसे तो यह सूचित होता नहीं कि श्वेताम्बरीयभाष्य 'स्वोपज्ञ' है। तथा इस लेखांक ३ में आपने ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं दिया है कि अमुक अमुक प्रमाणसे, इन-इन आचार्योंके मतसे, इस (श्वेताम्बरीय) भाष्यकी स्वोपज्ञता सिद्ध है।

दूसरे एक बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि, सिद्धसेनगणि जिन उमास्वातिको 'सूत्रानभिज्ञ' कहते हैं और उनके कथनको 'प्रमत्तगीत' बतलाते हैं फिर उस भाष्यको स्वोपज्ञ तथा प्रमाण मानकर उसपर टीका लिखते हैं! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि—इस ग्रन्थकी स्वोपज्ञताके विषयमें सिद्धसेन, हरिभद्र आदि विद्वानोंने धोखा खाया है। कारण कि, भाष्यके कर्ताने उस ग्रन्थकी महत्ता दिखलानेके लिये कहीं स्वोपज्ञतासूचक संकेत किया दीखता है, इसीसे तथा कुछ श्वेताम्बरीय कथन की सम्मततासे ज्यादा विचार न करके पीछेके विद्वानोंने उस ग्रन्थको स्वोपज्ञ मान लिया दीखता है। प्रो० साहबके कथन से दिगम्बरी विद्वानोंने उस ग्रंथकी स्वोपज्ञता का निषेध नहीं किया है तो कहीं उसकी स्वोपज्ञताका विधान भी तो नहीं किया है। वास्तवमें दिगम्बर अकलंक आदिके सामने वह ग्रंथ तथा उसकी ऐसी मान्यता होती तो वे उस विषयके निषेध तथा विधान के विषयमें कुछ लिखते; परंतु वह ग्रन्थ जब उनके सामने ही नहीं था तो फिर प्रोफेसर साहबका यह लिखना कहां तक संगत है कि इस ग्रंथकी स्वोपज्ञता का निषेध पं० जुगलकिशोर जीको छोड़कर किसी दिगम्बरी विद्वानने नहीं किया? पहले आप यह सिद्ध कीजिये कि—अमुक पूज्यपाद, अकलंक आदिके सामने यह ग्रंथ था। जब यह बात सिद्ध होजायगी तब पीछे आपकी यह बात भी मान्य की जा सकेगी। आपने इस 'लेखांक ३' में जो प्रमाण दिये हैं वे कोई भी ऐसे प्रमाण नहीं हैं जिनसे यह बात सिद्ध होजाय कि श्वेताम्बरभाष्य अकलंकदेवके सामने था। आपने अपने मतकी पुष्टिमें जिन नवीन विद्वानोंका दाखिला दिया है उन सबमें आप सरीखा ही बहुत कुछ सादृश्य है, अतः उनकी मान्यता इस विषयक प्रमाणकोटिकी मानी जाय, ऐसी बात नहीं है। यहाँ पर युक्तिवादका विषय है, युक्तिसे आपके कथनकी प्रमाणीकता सिद्ध हो जायगी तो फिर उनकी भी वैसी मान्यता स्वयं सिद्ध ही है। फिर सहयोगके लिये एक की जगह दो तीनकी मान्यता अवश्य ही पौष्टिकता की सूचक हो सकती है।

(३) वृत्ति

'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' इत्यादि राजवार्तिकके विषय को लेकर पं० जुगलकिशोरजीने जो विषय प्रतिपादन किया है वह भी बिलकुल संगत है। संगतिका कारण यह है कि पं० जुगलकिशोर जीने, राजवार्तिक और श्वेताम्बरीय भाष्यके पाठमें पाये जाने वाले भेदके

विधानसे और 'कालश्च' इस दिगम्बरीय सूत्रके उल्लेख से, प्रोफेसर साहबका जो मत है कि भाष्य राजवार्तिकारके समक्ष था उसका निरसन (खंडन) भले प्रकार किया है।

प्रोफेसरजीने जो यह लिखा है कि भाष्यका नाम 'वृत्ति' भी था सो उसका निषेध तो पं० जुगलकिशोर जीने भी नहीं किया है, अतः उस विषयके उल्लेखकी विशेष आवश्यकता नहीं थी। परंतु आपने पं० जुगलकिशोरजी द्वारा उपस्थित किये हुए शिलालेख प्रमाणकी 'वृत्ति' को जो अनुपलब्ध बतलाकर अपने मतकी पुष्टि करनी चाही है वह कुछ समीचीन प्रतीत नहीं होती; क्योंकि उसमें १३२० शकके शिलालेखको नवीन बतलाकर जो अपना मत समर्थन किया है वह निर्मूलक है। शिलालेखके लेखक तो जिस शताब्दीमें उत्पन्न होंगे उसी शताब्दीका उल्लेख करेंगे; जिनने पुरानी बातका उल्लेख किया है उनका कथन अयुक्त क्यों? क्या परम्परासे पूर्वकी बातको जानने वाले और अपने समयमें उस पूर्वकी बातका उल्लेख करने वाले झूठे ही होते हैं? यदि प्रो० साहब का ऐसा सिद्धान्त है तो फिर कहना होगा कि आप इतिहासज्ञता से कोसों दूर हैं। क्या १३२० शताब्दी के लेखकको उस लेखनसे कोई स्वार्थिक वासना थी? इसी नाचीज युक्तिको लेकर आपने गंधहस्ति भाष्यके अस्तित्वको मिटानेकी जो कोशिश की है वह भी निर्मूल और नितान्त भ्रामक है, जबकि अष्टसहस्रीके टिप्पण और हस्तिमल्ल आदि कवियोंके उल्लेखसे उस का भी अस्तित्व होना स्पष्ट ही है। बहुतसे आचार्य ऐसे होते हैं कि अपने पूर्वकी कृतिका उल्लेख करते हैं और बहुतसे ऐसे हैं जो नहीं भी करते हैं—उन्हींमेंसे निरपेक्ष पूज्यपाद आदि आचार्य हैं। जिनने उल्लेख किया है वे शिलालेखक और हस्तिमल सरीखे विद्वान् हैं। उल्लेखका १५वीं शताब्दीसे पूर्व न मिलकर १५वीं शताब्दीमें मिलना किसीकी विशेषविज्ञतामें आश्चर्यसूचक तो नहीं है। आप सरीखे यदि विद्वान् आश्चर्य मानें तो दूसरी बात है।

प्रो० साहबने जो यह लिखा है कि—'कालश्च' इस सूत्रके होनेपर तो पांच द्रव्यकी शंका हो ही नहीं सकती किंतु 'कालश्चेत्येके' ऐसा सूत्र होनेपर शंका हो सकती है सो यह लिखना भी आपका असंगत प्रतीत होता है, क्योंकि जिस जगहकी व्याख्या करते समय पंचत्वकी शंका की गई है वहाँ तक सौत्रीय पद्धतिमें कालका कोई भी उल्लेख नहीं आया है। इसलिये पंचत्वविषयक शंका करना तथा 'कालश्च' इस सूत्र द्वारा शंकाका समाधान बिलकुल जायज है। जैसे *इसी 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रकी दूसरी वार्तिकके प्रमाणमें 'तद्भावाव्ययं नित्यं' सूत्रको उपन्यस्त किया है। इसी तरह और भी बहुतसे स्थल हैं जो कि पूर्वकथित सिद्धिमें आगेके सूत्र उपन्यस्त हैं, जिसको कि आपने भी 'तदभावेति' और 'भेदादणुः' सूत्रोंके उल्लेखसे स्वीकार किया है।

यदि राजवार्तिककारको भाष्यपर की गई शंकाका ही निरसन करना अभीष्ट था तो भाष्यगत सूत्रके उल्लेखसे ही उसका निरसन करते। और जब उस विषयमें सूत्रगत—'एके' शब्दको लेकर शंका उठती तो फिर उसका समाधान करते कि नहीं? —भाष्यकारके मतसे काल द्रव्य भी है, जो कि 'वर्तना परिणाम' इत्यादि सूत्रसे स्पष्ट है। सो यह कुछ राजवार्तिकारने किया नहीं, इससे स्पष्ट है कि राजवार्तिकारका अभिप्रेत भाष्यविषयक समाधानका नहीं है। यह एक बड़ी विचित्र बात है कि भाष्यगत शंकाका

समाधान, अकलंक सरीखे विद्वान् भाष्यगत सूत्रसे न करके दिगम्बरगत सूत्रसे करें! क्या शंका करने वाला यह नहीं कह सकता था कि—'कालश्च' यह सूत्र भाष्यमें कहाँ है ?—यह सूत्र तो दिगम्बराम्नाय का है। ऐसी बात उपस्थित होनेपर अकलंकजी क्या समाधान करते, सो प्रो० साहब ही जानें!

वास्तवमें इस विषयको हल करनेके लिये पं० जुगलकिशोरजीने जिस वृत्तिका शिलालेखगत उल्लेख किया है वह ही वृत्ति इस प्रकरणकी होनी चाहिये या कोई दूसरी † ही हो; परंतु वह होगी अवश्य दिगम्बर वृत्ति ही, क्योंकि 'कालश्च' सूत्रका दाखिला ही स्वयमेव इस बातका सूचक है।

मेरी समझसे इस प्रकरणमें एक दूसरी बात प्रतीत होती है, जो कि विद्वत् दृष्टिमें बड़े ही महत्वकी वस्तु हो सकती है। वह बात यह कि—'वृत्ति' शब्दके बहुतसे अर्थ हैं, उनमेंसे एक अर्थ वृत्तिका 'रचनाभेद' यानी रचनाविशेष होता है। यहां रचनाविशेषका आशय सूत्ररचनाविशेष होना है, क्योंकि प्रकरण यहां उसी विषयका है। जैसे कि 'आ आकाशादेकद्रव्याणि' इस सूत्रमें सौत्रीरचनाका कथन है।

यहांपर भी सौत्री रचनामें 'जीवाश्च' सूत्र तक या आगे भी बहुत दूर तक 'काल' द्रव्यका सूत्रोल्लेखसे वर्णन नहीं आया है, और 'जीवाश्च' इस सूत्रके बाद ही 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्रगत 'अवस्थित' शब्दकी व्याख्या की गई है, और व्याख्यामें धर्मादिषट्त्वका कथन है। इसी दशामें पंचद्रव्यकी शंका होना और उसका समाधान होना बिलकुल ही उपयुक्त है। यहाँपर 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' इत्यादि वार्तिकका अभिप्राय यह होता है कि—'वृत्तौ'—रचनायां (सूत्र रचनायां) सूत्र रचनामें 'पंच'—पांच द्रव्य हैं, 'तु'—पुनः या अर्थात्, 'अवचनात्'—छहका कथन न होनेसे, 'षट्द्रव्योपदेशव्याघातः'—षट्द्रव्यका उपदेश नहीं बन सकता। ऐसा शंकाका समाधान 'इतिचेन्न' शब्दसे किया है, सो स्पष्ट ही है। इस वार्तिकका जो भाष्य है उसका अभिप्राय भी यही होता है—वृत्ति—सूत्ररचनामें धर्मादिक द्रव्य अवस्थित हैं वे कभी पंचत्वसे व्यभिचरित नहीं हो सकते, इसलिये षट्द्रव्यका उपदेश नहीं बनता। उसका उत्तर—अकलंकदेवने—'कालश्च' सूत्रसे देकर अपने कथनकी पुष्टि की है।

खंडन मंडनके शास्त्रोंमें 'नहि कदाचित्' आदिशब्द प्रायः आ ही जाते हैं, इसलिये ये शब्द भाष्यमें हैं और ये ही शब्द राजवार्तिकमें भी हैं। इसलिये राजवार्तिकके सामने भाष्य था, ऐसा मान लेना विद्वत् दृष्टिमें हृदयग्राहकताका सूचक नहीं है।

(४) भाष्य

पं० जुगलकिशोरजीने 'कालस्योपसंख्यानं' इत्यादि वार्तिकके राजवार्तिकभाष्यमें आये हुए 'बहुकृत्वः' शब्दको लेकर जो यह सूचित किया है कि—अकलंकदेवके समक्ष कोई प्राचीन दि० जैन भाष्य था या उन्हींका भाष्य जो राजवार्तिकमें है, वह भी हो सकता है। पंडितजीकी ये दोनों कोटियां उपयुक्त हैं; क्योंकि राजवार्तिककारके सामने उनसे प्राचीन भाष्य 'सर्वार्थसिद्धि' था, जिसके कि आधारपर राजवार्तिक और उसका भाष्य है। सर्वार्थसिद्धि

† 'वृत्ति' विवरणको भी कहते हैं, इसलिये राजवार्तिकमें 'आकाशग्रहणमादौ' इत्यादि वार्तिकके विवरण-प्रकरणमें 'धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां' ऐसा उल्लेख है और इसलिये कहा जा सकता है कि 'वृत्ति' शब्दसे उनने अपने राजवार्तिकका ग्रहण किया हो।—पंचमाध्याय प्रथमसूत्र वार्तिक नं० ३४।

भाष्य क्यों है ? इसका उत्तर—स्वमत-स्थापन और परमतनिराकरणरूप भाष्यका अर्थ होता है तथा वृत्ति और भाष्य एक अर्थवाचक भी होते हैं, दूसरे सर्वार्थसिद्धिकी लेखनशैली पातंजल भाष्य-सरीखी भी है। इन सभी कारणोंसे सर्वार्थसिद्धि भाष्य ही है। इसलिये पं० जुगलकिशोरकी मान्यता, अन्य भाष्योंको इस वक्त अनुपलब्धिमें, शायद थोड़ी देरके लिये नहीं भी मानी जाय, परंतु सर्वार्थसिद्धिकी तो वर्तमानमें उपलब्धि है और उसमें 'षड्द्रव्याणि' के उल्लेख २-३ जगह दीख ही रहे हैं। इसी तरह राजवार्तिकमें भी कई जगह उल्लेख हैं। अतः इस विषयमें पंडितजीकी प्राचीन भाष्यसंबंधी तथा राजवार्तिक-संबंधी जो मान्यता है वह बिलकुल सत्य और अनुभवगम्य है।

इस प्रकरणमें पं० जुगलकिशोरजीने प्रोफेसर साहब जीके लिये जो यह लिखा है कि भाष्यमें 'बहुकृत्वः' शब्द है उसका अर्थ 'बहुत बार' होता है उस शब्दार्थको लेकर 'षड्द्रव्याणि, ऐसा पाठ भाष्य में बहुत बारको छोड़कर एक बार तो बतलाना चाहिये, इस उपर्युक्त पंडितजीके कथनके प्रतिवादके लिये प्रोफेसर साहबने कोशिश तो बहुत की है परंतु 'षड्-द्रव्याणि' इस प्रकारके शब्दोंके पाठको वे नहीं बता सके हैं। यह उनके इस विषयके अधीर प्रवृत्तिके लम्बे-चौड़े लेखसे स्पष्ट है। यद्यपि इस विषयमें उनने 'सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्' इस पं०जुगलकिशोरजी प्रदर्शित भाष्य वाक्यसे तथा प्रशमरतिकी गाथाकी 'जीवाजीवौ द्रव्यमिति षड्विधं भवतीति' छायासे बहुत कोशिश की है परंतु केवल उससे 'षट्त्वं' 'षड्विधं', ये वाक्य ही सिद्ध हो सके हैं किन्तु 'षड्द्रव्याणि' यह वाक्य उमास्वातिने तथा भाष्यकारने कहीं भी स्पष्ट रूपसे उल्लिखित नहीं किया है। उत्तर वह देना चाहिये जो प्रश्नकर्ता पूछता हो, परन्तु आपके इतने लम्बे-चौड़े व्याख्यानमें वैसा उत्तर नहीं है। अतः स्पष्ट है कि राजवार्तिकमें 'यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं' इन शब्दोंसे जिस भाष्यका उल्लेख है वह सर्वार्थसिद्धि या उससे भी पुराने किसी भाष्यका और राजवार्तिक-भाष्यका उल्लेख है—श्वेताम्बर भाष्यका उल्लेख किसी भी दशामें न है और न हो सकता है। क्योंकि उपलब्ध दिगम्बर भाष्योंमें वैसे उल्लेख स्पष्ट हैं, तो फिर दूसरे भाष्यकी कल्पना केवल कल्पना ही है अर्थात् बिलकुल ही निर्मूलक है।

इसी प्रकरणमें प्रोफेसर साहबने जो लिखा है कि 'पंचत्व' शब्दका अकलंकने जो ऊपर पंचास्तिकाय अर्थ किया है वही ठीक बैठता है। मेरी समझमें यह आपका लिखना बिल्कुल ही असंगत है। क्योंकि अकलंकदेवने अपनी राजवार्तिकमें कहीं भी 'पंचत्व' का अर्थ पंचास्तिकाय नहीं किया है। दूसरे तो क्या 'अवस्थितानि' पदका अर्थ भी उनने 'पंचत्व' नहीं किया है किंतु 'षड्इयत्ता' किया है। आप शायद पंचमाध्यायके पहले सूत्रकी १३वीं और १५वीं वार्तिक के भाष्यका उल्लेखकर यह कहें कि वहाँपर 'पंचत्व' का अर्थ 'पंचास्तिकाय' ही किया है सो यह आपकी संस्कृत भाषाकी अजानकारीका ही परिणाम है; क्योंकि वहाँ प्रथम तो 'पंचत्व' शब्द ही नहीं है, दूसरे है भी तो 'पंच' शब्द है और वह पंच शब्द अस्तिकायके पूर्व जुड़ा होनेसे अस्तिकायके विशेषणरूप से निवक्षित है। जो विशेषण होता है वह विशेष्य का अर्थ नहीं होता किंतु विशेष्यकी विशेषता बतलाता है। राजवार्तिककारने कहीं भी 'पंचत्व' का अर्थ 'पंचास्तिकाय' नहीं किया है। अतः उपयुक्त रूपसे

जो आपने यह लिखा है कि राजवार्तिककारने 'पंचत्व' का अर्थ पंचास्तिकाय किया है यह बिलकुल ही अनुचित है। राजवार्तिककार 'पंचत्व' का वह अर्थ कर भी कैसे सकते थे; क्योंकि 'पंचत्व' का न तो शब्दमर्यादासे वह अर्थ होता है और न प्रकरणवश ही—ऐंचातानीसे ही होता, क्योंकि सूत्रमें 'काय' शब्द का विधान है, जो कि अस्तिकायका सूचक है। सूत्रस्थ 'काय' शब्दके होते हुए भी 'पंचत्व' का अर्थ 'अस्तिकाय' होता है यह एक विचित्र नयी सूझ है! आपके द्वारा ऐसी विचित्र नयी सूझके होनेपर भी भाष्यगत यह अभिप्रेत तो नहीं सिद्ध हुआ जो कि प्रश्नकर्ताको अभीष्ट है। यह बात यहाँ ऐसी होगई कि पूछा खेत को उत्तर मिला खलियान का।

इसी प्रकरणमें प्रोफेसर साहबने जो यह लिखा है कि—"यदि यहाँ भाष्यपद का वाच्य राजवार्तिक-भाष्य होता तो 'भाष्ये' न लिखकर अकलंकदेवको 'पूर्वत्र' आदि कोई शब्द लिखना चाहिये था"; मेरी समझसे यह लिखना भी आपका अनुचित प्रतीत होता है, कारण कि सर्वत्र लेखक की एकसी ही शैली होनी चाहिये ऐसी प्रतिज्ञा करके लेखक नहीं लिखते किंतु उनको जिस लेखनशैलीमें स्वपरको सुभीता होता है वही शैली अंगीकार कर अपनी कृतिमें लाते हैं, 'पूर्वत्र' शब्द देनेसे संदेह हो सकता था कि—वार्तिक में या भाष्यमें? वैसी शंका किसीको भी न हो इस लिये स्पष्ट उनने 'भाष्ये' यह पद लिखा है। क्योंकि राजवार्तिकके पंचम अध्यायके पहले सूत्रकी 'आर्षविरोध' इत्यादि ३५वीं वार्तिकके भाष्यमें 'षण्णामपि द्रव्याणां', 'आकाशदीनां षण्णां' ये शब्द आये हैं, तथा अन्यत्र भी इसी प्रकार राजवार्तिक भाष्यमें शब्द हैं। राजवार्तिक भाष्यमें यह षट् द्रव्यका विषय स्पष्टरूप होनेसे पं० जुगलकिशोरजीने यह लिख दिया है कि "और वह उन्हींका अपना राजवार्तिक भाष्य भी हो सकता है" यह लिखना अनुचित नहीं है।

प्रो० साहबके इस लेखमें नम्बर ४ तकके लेखका विषय पं० जुगलकिशोरजीका तो यह रहा है कि श्वे० भाष्य राजवार्तिककारके सन्मुख (समक्ष) नहीं था, और प्रोफेसर साहब जगदीशचंद्रजीका विषय यह रहा है कि श्वे० भाष्य राजवार्तिककारके समक्ष था। इन दोनोंके उपर्युक्त कथनकी विवेचनासे यह स्पष्ट होगया है कि श्वे० भाष्य राजवार्तिककारके समक्ष नहीं था।

जबकि राजवार्तिककारके समक्ष श्वेताम्बर भाष्य था ही नहीं तो फिर शब्दादि-साम्यविषयक नं० ५ का प्रोफेसर साहबका कथन कुछ भी क़ीमत नहीं रखता। शब्दसाम्य, सूत्रसाम्य, विषयसाम्य तो बहुत शास्त्रोंके बहुतसे शास्त्रोंसे मिल सकते हैं तथा मिलते हैं, अतः नं० ५ का जो प्रोफेसर साहबका वक्तव्य है वह बिलकुल ही नाजायज है। हाँ, उन चारों नंबरों के अलावा यदि कोई खास ऐसा प्रमाण हो कि जिससे अकलंकदेव भाष्यकारके पीछे सिद्ध होजाँय तो यह नं० पांचका उल्लेख जायज हो सकता है। अकलंकदेवने अपने ग्रन्थमें कहीं भी श्वे० भाष्यको उमास्वाति का बनाया हुआ नहीं लिखा है तथा न आज तक ऐसी कोई युक्ति ही देखनेमें आई कि जिसके बलसे यह सिद्ध होजाय कि राजवार्तिककारके समक्ष यह भाष्य था। जब ऐसी दशा स्पष्ट है तो फिर कहना ही होगा कि हमारे इन नवयुवक पंडितोंका इस विषयका कथन कथनाभास होनेसे केवल भ्रान्तिजनक है तथा भ्रमात्मक ही है। अलमिति।

श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन
सरस्वती-भवन, बम्बई

अतिशय क्षेत्र इलोराकी गुफाएँ

[ले०—श्री० बाबू कामताप्रसाद जैन]

निजाम हैदराबादकी रियासतमें भारतके प्राचीन गौरवको प्रकट करनेवाली अनेक कीर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। वे कीर्तियां जैनों, बौद्धों और वैष्णवोंकी सम्पत्ति ही नहीं, बल्कि साम्प्रदायिकताको भुलानेवाला त्रिवेणी-संगमरूप ही हैं। गतवर्ष श्री गोम्मटेश्वरके महामस्तकाभिषेकोत्सवसे लौटते हुये हमको यहाँके पुण्यमई स्थान इलोराके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

ईस्वी ९ वीं—१० वीं शताब्दिमें इलोरा संभवतः ऐलापुर अथवा इलापुर कहलाता था और तब वह राष्ट्रकूटसाम्राज्यका प्रमुख नगर था। एक समय वह राष्ट्रकूट राजधानी भी रहा अनुमान किया जाता है। तब उसका वैभव अपार था अब तो उसकी प्रतिछाया ही शेष है। परन्तु यह छाया भी इतनी विशाल, इतनी मनोहर और इतनी सुन्दर है कि उसको देखते ही दर्शकके मुखसे बेमाख्ता निकल जाता है: 'ओह! कैसा सुन्दर है यह!' सच देखिये तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का सिद्धान्त इलोराकी निःशेष विभूति—उन कलापूर्णगुफाओंमें जीवित चमत्कार दर्शा रहा है। अब सोचिये यौवन-रससे चुहचुहाते इलापुरका सौभाग्य—सौंदर्य्य! आज कालकरालने उसे निष्प्रभ बनानेमें कुछ उठा नहीं रक्खा, परन्तु फिर भी उसे वह निष्प्रभ नहीं बना सका! उसका नाम और काम भुवनविख्यात् है!

'हरिवंशपुराण' में श्री जिनसेनाचार्यजीने एक इलावर्द्धन नगरका उल्लेख किया है। श्री जिनसेनाचार्यजीके समय इलोरा अपनी जवानीपर था, क्योंकि उनका समय राष्ट्रकूट साम्राज्यकालके अंतर्गत पड़ता है। अतएव यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने जिस इलावर्द्धन नगरका उल्लेख किया है वह इलोरा होगा। उन्होंने लिखा है कि 'कौशलदेशकी रानी 'इला' अपने पुत्र 'ऐलेय' को साथ लेकर दुर्गदेशमें पहुँची और वहाँपर इलावर्द्धन नगर बसाकर अपने पुत्रको उसका राजा बनाया। (सर्ग १७ श्लो० १७—१९) हो सकता है कि इस प्राचीन नगरको ही राष्ट्रकूट राजाओंने समृद्धिशाली बनाया हो! और इसके पार्श्ववर्ती पर्वतमें दर्शनीय मन्दिर निर्माण कराये हों!

गत फाल्गुणी अमावस्याको हम लोग मनमाड जंकशन (G. I. P. R.) से लारियोंमें बैठकर इलोराके दर्शन करनेके लिये गये। जमीन पथरीली है—चारों ओर पहाड़ ही पहाड़ नजर आते हैं। जब हम इलोराके पास पहुँचे तो बड़ा-सा पहाड़ हमारे सम्मुख आ खड़ा हुआ। पहले ही एलोर गाँव पड़ा। यह एक छोटासा आधुनिक गाँव है। उस रोज यहां पर वार्षिक मेला था। चारों ओरसे ग्रामीण जनता वहाँ इकट्ठी हुई थी। गाँवके पास बहती हुई पहाड़ी नदीमें उसने स्नान किया था और पवित्रगात होकरके कैलाशमंदिरमें शिवजीपर जल चढ़ाया था। हजारों स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकायें इस लोकमूढ़तामें आनन्दविभोर हो रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि शिवजीकी यह मूर्ति सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप (परमात्म-

स्वरूप) का समलंकृत प्रतीक है। शिव अमरत्वका ही संकेत है। जो अमर होना चाहे वह संसार-विष (रागद्वेषादि) को पीकर हज़्म कर डाले—उसको नाम निःशेष करदे—वही शिव है! परन्तु उन भोले ग्रामीणोंको इस रहस्यका क्या पता? वह तो कुल-परंपरासे उस मूढ़तामें बहे आरहे थे। 'धर्मप्रभावना ऐसे मेलोंमें सद्ज्ञानका प्रचार करनेमें ही हो सकती है।'—यह सत्य वह मर्मज्ञजनोंको बता रही थी। हमारी लॉरी उस भीड़को चीरती हुई चली। ग्रामीणों की आकांक्षाओं और अभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिये तरह-तरहकी साधारण दुकानें भी लगी हुई थीं। ज्यों-त्यों करके हमारी लॉरी मेलेको पार कर गई। दोनों ओर हरियाली और पथरीले भरके नज़र पड़ रहे थे। वह पहाड़ी नदी भी इन्हींमें घूम-फिर कर आँखमिचौनी खेल रही थी। हमने उसे पार किया और पहाड़ीपर चढ़ने लगे। थोड़ा चलकर लॉरी रुकी—हम लोग नीचे उतरे। देखा सामने उत्तुंग पर्वत फैला हुआ है। उसको देखकर हृदयको ठेस-सी लगती है। सुदृढ़-अटल और गंभीर योद्धासा वह दीखता है। कलामय सरसता उसमें कहाँ? यह भ्रम होता है। दिन काफी चढ़ गया था—बच्चे भी साथ में थे। गरमी अपना मज़ा दिखला रही थी। चाहा कि भोजन नहीं तो जलपान ही कर लिया जाय। परंतु 'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' की चाह-दाहने शारीरिकदाहको भुला दिया। सब लोग इलोरा देखनेके लिये बढ़े। कैलाशमंदिरके द्वारपर ही पर्वतस्रोतसे झरा हुआ जल छोटेसे कुण्डमें जमा था—उसने शीतलता दी। क्षेत्रका प्रभाव ही मानों मूर्तिमान होकर आगे आ खड़ा हुआ। भीतर घुसे और देखा दिव्यलोकमें आगये। पर्वत काटकर पोला कर दिया गया है। अंधेरी गुफायें वहाँ नहीं हैं। पर्वतके छोटेसे दरवाज़ेके भीतर आलीशान महल और मंदिर बने हुये हैं। उनमें शिल्प और चित्रण-कलाके असाधारण नमूने देखते ही बनते हैं। आश्चर्य है कि एक खंभेपर हज़ारों-लाखों मनोंवाला वह पाषाणमयी पर्वत खड़ा हुआ है! उसकी प्रशंसा शब्दोंमें करना अन्याय है—इतना ही बस है कि मनुष्यके लिए संभव हो तो उसको अवश्य देखना चाहिए। कलाका वह आगार है। इस कैलाशभवन 'शिवमंदिर' को राष्ट्रकूट राजा कृष्णराज प्रथमने बनवाया था।

इस मंदिरको देखनेके साथ ही हमको इलोराकी जैन गुफाओंको देखनेकी उत्कण्ठा हुई। सब लोग लॉरीमें बैठकर वहाँसे दो मीलके लगभग शायद उत्तरकी ओर चले और वहाँसे हनुमानगुफा आदिको देखते हुये जैनगुफाओंके पास पहुँचे। नं० ३० से नं० ३४ तककी गुफायें जैनियोंकी हैं। हमने नं० २९ B के गुफामंदिरको भी देखा। उसमें भीतर ऐसा कोई चिन्ह नहीं मिला जिससे उसे किसी सम्प्रदाय विशेष-का अनुमान करते; परंतु उसके बाहरी बरांडामें जैन-मूर्तियाँ ही अवशेषरूपमें रक्खी दीखतीं हैं। इससे हमारा तो यह अनुमान है कि यह गुफा भी जैनियोंकी है। ये गुफायें भी बहुत बड़ी हैं और इनमें मनोज्ञ दिग० जैन प्रतिमायें बनी हुई हैं। इनके तोरणद्वार—स्थंभ—महराब—छतें बड़ी ही सुंदर कारीगरी की बनी हुई हैं। हज़ारों आदमियोंके बैठनेका स्थान है। राष्ट्रकूट-राज्यकालमें जैनधर्मका प्राबल्य था। अमोघ-वर्ष आदि कई राष्ट्रकूटनरेश जैनधर्मानुयायी थे। उनके सामन्त आदि भी जैन थे। वे जैन गुरुओंकी वंदना-भक्ति करते थे। इन गुफा-मंदिरोंको देखकर

वह भव्य-समय याद आ गया—दृष्टिके सामने जैनाचार्योंकी धर्मदेशनाका सुअवसर और सुदृश्य नृत्य करने लगा—इन्हीं गुफाओंमें आचार्य महाराज बैठते थे और राजा तथा रंक सभीको धर्मरसपान कराते थे ! धन्य था वह समय !

जैनगुफाओंमें इन्द्रसभा नामकी गुफा विशेष उल्लेखनीय है। इसका निर्माण कैलाशभवनके रूपमें किया गया है। इसके इर्द-गिर्द छोटी २ गुफायें हैं। बीचमें दो खनकी बड़ी गुफा बनी हुई है। यह बड़ी गुफा बड़ा भारी मंदिर है, जो पर्वतको काटकर बनाया गया है। इसकी कारीगरी देखते ही बनती है। इसमें घुसते ही एक छोटीसी गुफाकी छतमें रंगविरंगी चित्रकलाकी छायामात्र अवशेष थी—वह बड़ी मनोहर और सूक्ष्म रेखाओंको लिये हुये थी। किंतु दुर्भाग्यवश वहाँपर बर्रोंने छत्ता बना लिया और शायद उसीको उड़ानेके लिये आग जलाकर यह रंगीन चित्रकारी काली कर दीगई थी। यह दृश्य पीड़ोत्पादक था—जैनत्वके पतनका प्रत्यक्ष उदाहरण था। कहाँ आजके जैनी जो अपने पूर्वजोंके कीर्तिचिन्होंको भी नहीं जानते। और कितना बढ़ा चढ़ा उनके पूर्वजोंका गौरव ! भावुकहृदय मन मसोसकर ही रह जायगा। कहते हैं कि निज़ामसरकारका पुरातत्वविभाग इसपर सफेद रंग करा रहा है। इसका अर्थ है, इलोरामें जैनचित्रकारीका सर्वथा लोप ! क्या यह रोका नहीं जा सकता ? और क्या पुरातन चित्रकारीका ही उद्धार नहीं हो सकता ? हो सकता सब कुछ है, परंतु उद्योग किया जाय तब ही कुछ हो।

इन्द्रसभा वाली इस गुफाका नं० ३३ है। यह दो भागोंमें विभक्त है। एक इन्द्रगुफा कहलाती है और दूसरी जगन्नाथ गुफा। इन्द्रगुफाका विशाल मण्डप चार बड़े २ स्तंभोंपर टिका हुआ है। इस सभाकी उत्तरीय दीवारमें छोरपर भ० पार्श्वनाथकी विशालमूर्त्ति विराजमान है—वह दिगम्बर मुद्रामें है और सात फणोंका मुकट उनके शीशपर शोभता है। नागफण मंडल-मंडित संभवतः पद्मावती देवी भगवानके ऊपर छत्र लगाये हुए दीखती है। अन्य पूजकादि भी बने हुए हैं। इसी गुफामें दक्षिणपार्श्वपर श्री गोम्मटेश्वर बाहुवलिकी प्रतिमा ध्यानमग्न बनी हुई है। लतायें उनके शरीरपर चढ़ रही हैं, मानो उनके ध्यानके गांभीर्यको ही प्रकट कर रही हैं। यह भी दिगम्बर मुद्रामें खड्गासन है। भक्तजन इनकी पूजा कर रहे हैं।

यहीं अन्यत्र कमरेके भीतर वेदीपर चारों दिशाओंमें भ० महावीरकी प्रतिमा उकेरी हुई है। दूसरे कमरेमें भ० महावीर स्वामी सिंहासन पर विराजमान मिलते हैं। उनके सामने धर्मचक्र बना हुआ है। मानों इस मन्दिरका निर्माता दर्शकोंको यह उपदेश दे रहा है कि जिनेन्द्र महावीरका शासन ही त्राणदाता है, अतएव उनका प्रवर्ताया हुआ धर्मचक्र चलाते ही रहो। परंतु कितने हैं, जो इस भावनाको मूर्त्तिमान् बनाते हैं ! इसीमें पिछली दीवारके सहारे एक मूर्त्ति बनी हुई है जो 'इन्द्र' की कहलाती है। मूर्त्तिमें एक वृक्षपर तोते बैठे हुए हैं और उसके नीचे हाथीपर बैठे हुए इंद्र बने हैं। उनके आसपास दो अंगरक्षक हैं। इस मूर्त्तिसे पश्चिमकी ओर इंद्राणीकी मूर्त्ति बनी हुई है। इन्द्राणी सिंहासनपर बैठी हैं और सुन्दर आभूषणादि पहने अङ्कित है। इसी स्थानसे आसपासके छोटे २ कमरोंमें जाना होता है, जिनमें भी तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

इस गुफामें अहातेके भीतर एक बड़ासा हाथी बना हुआ है और वहीं पर एक मानस्तंभ खड़ा है

जों २७ फीट ऊँचा होगा। कहते हैं, पहले इसके शिखरपर एक चतुर्मुख प्रतिमा विराजमान थी; किंतु वह उस दिनसे एक रोज पहले धराशायी होगई जिस दिन लॉर्ड नॉर्थब्रुक सा० इन गुफाओंको देखने आये थे।

इस गुफामें मूर्तियोंके दिव्य दर्शन करके कुछ जैन लोगोंने अक्षतादि चढ़ाये थे; यह देख कर पुरातत्व विभागके कर्मचारीने उनको रोक दिया। इस घटनासे हमारे हृदयको आघात पहुँचा—परितापका स्थल है कि हमारे ही पूर्वजोंकी और हमारे ही धर्मकी कीर्त्तियोंकी विनय और भक्ति भी हम नहीं कर सकते ! जो स्वयं अपना व्यक्तित्व सुरक्षित नहीं रखता, उसके लिये परिताप करना भी व्यर्थ है ! जैनी पुरातन वस्तुओंकी सार-सँभाल करना नहीं जानते ! इसलिये यदी दूसरे लोग उनकी वस्तुओंकी सार-सँभाल करते हैं और छूने नहीं देते तो बेजा भी क्या है ?

इन गुफाओंमें दूसरी बड़ी गुफा जगन्नाथगुफा है। यह इन्द्रसभा गुफाके पास ही है; परंतु उतनी अच्छी दशामें नहीं है। इसकी रचना प्रायः नष्ट हो गई है। इसमें भी भ० पार्श्वनाथ, भ० महावीर और गोम्मट स्वामीकी प्रतिमायें हैं। सोलहवें तीर्थंकर भ० शान्तिनाथकी एक मूर्तिपर इन गुफाओंमे ८ वीं–९ वीं शताब्दिके अक्षरोंमें एक लेख लिखा हुआ है, जिसे बर्जेस सा० ने निम्न प्रकार पढ़ा था :—

"श्री सोहिल ब्रह्मचारिणा शांति-भट्टारक प्रतिमेयार"

अर्थात्—"श्री सोहिल ब्रह्मचारी द्वारा यह शांतिनाथकी प्रतिमा निर्मापी गई।'

एक अन्य मूर्ति 'श्रीनागवर्मकृत प्रतिमा' लिखी गई है। जगन्नाथ गुफामें पुरानी कनड़ी भाषाके भी कई लेख हैं, जो ईसाकी ८ वीं–९ वीं शताब्दिके हैं। इन लेखोंको पढ़कर यहाँका विशेष इतिहास प्रकट किया जाना चाहिये।

अवशेष गुफायें ज्यादा बड़ी नहीं हैं, परन्तु उनमें भी तीर्थंकर प्रतिमायें दर्शनीय हैं। इनका विशेष वर्णन 'ए गाइड टु इलोरा' नामक पुस्तकमें देखना चाहिये। इस लेखमें तो उनकी एक झाँकी मात्र लिखी है। इलोराकी सब गुफायें लगभग १०—१२ मीलमें फैली हुई हैं और इनकी कारीगरी देखनेकी चीज़ है। उनको देखनेमें हमारे संघके लोग भूख-प्यास भी भूल गये। दोपहरका सूर्य गरमी लिये चमक रहा था, लेकिन फिर भी लोग गुफाओंके ऊपर पर्वतपर चढ़कर जिनमंदिरके दर्शन करनेके लिये उतावले हो गए। बर्सातके पानीका बना हुआ ऊबड़-खूबड़ रास्ता था—वह वैसे ही दुर्गम था—उसपर कड़ी धूप ! परंतु जिनवन्दनाकी धुनमे पगे हुये बच्चे भी उसे चावसे पार कर रहे थे। करीब १॥—२ फर्लांग ऊपर चढ़नेपर वह चैत्यालय मिला। उसमे जिनेन्द्र पार्श्वनाथके दर्शन करके चित्त प्रसन्न हो गया—अपने श्रमको सब भूल गये और भाग्यको सराहने लगे। इस चैत्यालयको बने, कहते हैं, ज्यादा समय नहीं हुआ है। औरंगाबादके किन्हीं सेठजीने इसे गत शताब्दिमें बनवाया है। मालूम होता है, वह यहाँ दर्शन करते हुये आये होंगे और जिनेन्द्रपार्श्वके गुफामंदिरको अथवा कहिये शैल-मंदिरको भग्नावशेष देखकर यह चैत्यालय बनवाया होगा। परंतु आज फिर उसकी सार सँभाल करनेवाला कोई नहीं है। निज़ामका पुरातत्वविभाग भी उसकी ओरसे विमुख है। शायद इसी लिये कि वह जैनियोंकी अपनी चीज़ है। उसमें भ० पार्श्वकी पद्मासन विशालकाय प्रतिमा अखंडित और पूज्य है। यहाँ ही सब यात्रियोंने

जिनेन्द्रका साभिषेक पूजन किया। क्या ही अच्छा हो, यदि यहाँपर नियमित रूपमें पूजा-प्रक्षाल हुआ करे। औरंगाबादके जैनियोंको यदि उत्साहित किया जाय तो यह आवश्यक कार्य सुगम है। ऐसा प्रबंध होनेपर यह अतिशयक्षेत्र प्रसिद्ध हो जावेगा और तब बहुतसे जैनीयात्री यहाँ निरन्तर आते रहेंगे। क्या तीर्थक्षेत्र कमेटी इसपर ध्यान देगी ?

हाँ, तो यह पूज्य प्रतिमा भ० पार्श्वनाथकी पद्मासन और पाषाणकी है। यह ९ फीट चौड़ी और १६ फीट ऊँची है। इसके सिंहासनमें धर्मचक्र बना है और एक लेख भी है, जिसको डा० बुल्हरने पढ़ा था। उसका भावार्थ निम्नप्रकार है:—

'स्वस्ति शक सं० ११५६ फाल्गुण सु० ३ बुधवासरे श्री वर्द्धमानपुरमें रेणुगीका जन्म हुआ था··· उनका पुत्र गेलुगी हुआ, जिनकी पत्नी लोकप्रिय स्वर्णा थी। इन दम्पत्तिके चक्रेश्वर आदि चार पुत्र हुये। चक्रेश्वर सद्गुणोंका आगार और दातार था। उसने चारणोंसे निवस्तित इस पर्वतपर पार्श्वनाथ भगवानकी प्रतिमा स्थापित कराई और अपने इस दानधर्मके प्रभावसे अपने कर्मोंको धोया। परमपूज्य जिन भगवानकी अनेक विशाल प्रतिमायें निर्मापी गई हैं, जिनसे यह चारणाद्रि पर्वत वैसे ही पवित्र तीर्थ होगया है, जैसे कि भरत म० ने कैलाश पर्वतको तीर्थ बना दिया था। अनुपम-सम्यक्त्व-मूर्तिवत्, दयालु, स्वदारसंतोषी, कल्पवृक्षतुल्य चक्रेश्वर पवित्र धर्मके संरक्षक मानो पंचम वासुदेव ही हुये!'

इस लेखसे स्पष्ट है कि यह स्थान पूर्वकालसे ही अतिशय तीर्थ माना गया है। अतः इसका उद्धार होना अत्यन्तावश्यक है। वहाँ से लौटते हुए हृदयमें इसके उद्धारकी भावनाएँ ही हिलोरें ले रही थीं। शायद निकटभविष्यमें कोई दानवीर चक्रेश्वर उनको फलवती बनादें। इस लेखसे तत्कालीन श्रावकाचार का भी आभास मिलता है। दान देना और पूजा करना ही श्रावकोंका मुख्य कर्तव्य दीखता है—शीलधर्मपरायण रहना पुरुषोंके लिए भी आवश्यक था।

इलापुर अथवा इलाराका यह संक्षिप्त वृतान्त है—'अनेकान्त' के पाठकोंको इसके पाठसे वहाँ के परोक्ष दर्शन होंगे। शायद उन्हें वह प्रत्यक्ष दर्शन करनेके लिए भी लालायित करदें।

अलीगंज ॥ इति शम् ॥
ता० ७।१।४१

"क्यों अखिल ब्रह्माण्ड छानते फिरते हो, अपने आपमें क्यों नहीं देखते, तुम जो चाहते हो सो और कहीं नहीं, अपने आपमें है।"

"दूसरोंके लिये दुःख स्वीकार करना क्या सुख नहीं है?"

"जिसकी महानताकी जड़ भलाई में नहीं है, उसका अवश्य ही पतन होगा।"

"जो सुख इन्द्रियोंसे मिलता है वह अपने और परको बाधा पहुँचाने वाला, हमेशा न ठहरने वाला, बीच बीचमें नष्ट होजाने वाला, कर्मबन्धनका कारण तथा विषम होता है, इसलिये वह दुःख ही है।"

"जब हम मरें तो दुनियाँको अपने जन्मके समय से अधिक शुद्ध करके छोड़ जायँ, यह हमारे जीवनका उद्देश्य होना चाहिये।"

"कमसे कम ऐसा काम तो करो कि जिससे तुम्हारा भी नुक़सान न हो और दूसरोंका भी भला हो जाय।"

—विचारपुष्पोद्यान

उठती है उरमें एक लहर !

[१]

इस नियति-नियमकी बेलामें-
युग–परिवर्तन हो जावेगा,
प्राणी ! भवके निगमागममें–
यों कब तक आए-जाएगा ?
जगके भीषण कोलाहलमें–
श्वासोंके स्वर जाएँ न बिखर !
उठती है उरमें एक लहर !!

[२]

जीवनके मौन–रहस्योंकी–
गाथा उलझी रह जाएगी।
यह त्याग-तपस्याकी मेरी-
दुनिया सूनी हो जाएगी !
मानवताकी अभिलाषाएँ–
पाएँगी पीड़ा आठ पहर !
उठती है उरमें एक लहर !!

[३]

ममताकी यह काली-बदली–
आहोंसे भरकर दीवानी;
अम्बरको ढक उच्छ्वासोंसे–
बरसाएगी खारा पानी।
भारी मनको हलका करने–
करुणा रोएगी सिहर-सिहर !
उठती है उरमें एक लहर !!

[४]

यौवनकी पीड़ा तपसीकी–
क्रीड़ाओंमें घुल जानेको;
उमड़ी लेकर तपका निखार–
निश्चल-निधिमें धुल जानेको।
उत्तुंग तरंगोंसे बहती-
मनमें गंगा करलूँ हर-हर !
उठती है उरमें एक लहर !!

[५]

मेरे बीहड़ वन-उपवनमें–
बल्लरियाँ क्या खिल पाएँगी ?
हुलसित मनकी चंचल हिलोर–
थिर होगीं क्या, मिट जाएँगी !
आत्माका सच्चित्-शिवस्वरूप–
अन्तस्तलमें देखूँ झुककर।
उठती है उरमें एक लहर !!

[६]

वाणी वीणामें वीतरागका–
मञ्जुल स्वर भर जाएगा;
हृत्तंत्रीकी झंकारोंसे—
झंकृत जीवन हो जाएगा।
आँखोंसे झरकर चिरविषाद–
आँसू बन जाएँगे निर्झर !
उठती हैं उरमें एक लहर !!

[७]

नैराश्य-निशा अँधियारीमें–
क्या कुमुद हास छिटकाएगा ?
आध्यात्मिक तत्वोंका प्रदीप–
अन्तर आलोक दिखाएगा ?
नन्दन-वनका मादक-पराग–
बिखरेगा क्या इस भूतलपर ?
उठती है उरमें एक लहर !!

[८]

मायाके मोहक–पिंजरेसे–
मन-पंछी जब उड़ जाएगा;
जिनवरके वह वैरागभरे–
पद अम्बरमें चढ़ गाएगा।
जिस परिधि-परामें सिहरणकर–
प्राणी हो जाता मुक्त-अमर !
उठती है उरमें एक लहर !!

पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

समाज-सुधारका मूल स्रोत

(ले०—पं० श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री)

—::::::::::::::::—

आज समाज-सुधारकी दुन्दुभि चारों ओर बज रही है। हर एक कोनेसे उसकी आवाज आ रही है। हर एकके दिमाग़में रह रहकर यह समस्या उलझन पैदा कर रही है। पर असली समस्याका हल नहीं। हो भी क्योंकर? जब निदान ही ठीक नहीं तो फिर चिकित्सा बिचारीका अपराध ही क्या? समाज किसी व्यक्तिविशेषका नाम नहीं, वह तो व्यक्तियोंका समुदाय है। समुदायका नाम ही समाज है। व्यक्तियोंसे रहित समाजका कहीं अस्तित्व ही नहीं। इसलिये व्यक्तिका सुधार समाजका सुधार है। जबतक व्यक्तिगत जीवन प्रगतिकी ओर प्रवाहित न हो तब तक समाजसुधार की आशा रखना कोरी विडम्बना है। अतः व्यक्तिगत जीवन किस प्रकार सुधार की ओर अग्रसर हो यह सोचने के लिये बाध्य होना ही पड़ेगा और इसके लिये व्यक्तिका मूलजीवन अर्थात् उसका शिशुजीवन देखना होगा।

आइये! ज़रा शिशु-जीवनकी भी झांकी देखें। हमारे देशमें शिशु प्रायः माता-पिताके मनोरञ्जनका एक साधनमात्र है और उसका पालन-पोषण भी उसी दृष्टिकोणसे किया जाता है। जबकि आज पाश्चात्य देशोंमें—संयुक्त राज्य अमरीका, इंगलैण्ड, रूस, जापान, फ्रांस और जर्मनी आदिमें यह बात नहीं है। वहां शिशुओंके पालन-पोषण और शिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उन देशोंमें शिशुओंके सामाजिक जीवनमें एक महत्वपूर्ण स्थान है, वे समाज के एक आवश्यक अङ्ग माने जाते हैं और उसी मान्यता के आधार पर उनके जीवन-विकासके लिये उन्हें मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञोंकी देखरेखमें रखकर उनके सर्वमुखी विकासकी व्यवस्था की जाती है। सचमुचमें मानव-जीवन और सामाजिक-जीवनमें शिशुका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। शिशु ही राष्ट्र की सम्पत्ति हैं, यह एक प्रसिद्ध बात है। पर उनकी भारतवर्षमें कैसी शोचनीय स्थिति है, शिशु-जीवनकी किस तरह भयङ्कर उपेक्षा की जाती है, उनका जीवन किस तरह पैरों तले रौंदा जाता है, उनके अमूल्य जीवनको किस तरह मिट्टी में मिलाया जाता है यह किसीसे भी छिपा नहीं है। इसका एक प्रधान कारण यद्यपि देशकी दरिद्रता अवश्य है, पर साथ ही माता-पिताकी अज्ञानताका भी इसमें मुख्य हाथ है; क्योंकि हम कितने ही वैभव-सम्पन्न परिवारोंमें भी बालकोंके स्वास्थ्यका पतन तथा उनकी अकाल मृत्युकी घटनाएँ अधिक देखते रहते हैं। ऐसी हालतमें यह कहना होगा कि शिशु-पोषणका वैज्ञानिक ज्ञान माता-पिताओंके लिये परमावश्यक है। वस्तुतः शिशु ही मानव समाज का निर्माता है। उसके सुधार पर सबका अथवा सारे समाजका सुधार निर्भर है।

पर खेद है कि हमारे देशमें बाल-जीवनकी समस्या पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता! बालकों का पालन-पोषण भी समुचित और वैज्ञानिक ढंगसे नहीं किया जाता। ६-७ वर्षकी आयु तक तो बाल-शिक्षणकी कोई खास व्यवस्था भी नहीं की जाती। उन्हें ६ या ७ वर्षकी अवस्थामें बाल-पाठशालाओंमें प्राथमिक शिक्षा-प्राप्तिके लिये भेज दिया जाता है, जबकि इससे पूर्वके ५-६ वर्षोंमें बालक माता-पिता

के पास रहकर कोई जीवनोपयोगी शिक्षा प्राप्त नहीं करते। उनका समय प्रायः बुरी आदतें सीखने, अनुचित खेलों और माताके लाड़-प्यारमें ही बीतता है। शैशव जीवनके इस अमूल्य समयमें वे समुचित-शिक्षणसे वञ्चित रह जाते हैं।

शिशु अपना चरित्र-निर्माण गर्भावस्थामें ही प्रारम्भ कर देता है, यह कोरी कल्पना नहीं किंतु नग्न सत्य है। वीर अभिमन्यु तथा शिवाजीके जीवन-चरित्र हमें इसी ओर संकेत कर रहे हैं। इस समय बालकका मन एक प्रकारसे दर्पणके समान होता है, उस पर जैसी छाया या संस्कार पड़ता है, वैसा ही वह देख पड़ता है। गर्भ-कालमें ही बालकके जीवनपर माता पिताके विचारों, व्यवहारों व भावोंकी छाप पड़ती है। पर इस देशमें तो शिशु माता-पिताके मनोरञ्जनका एक साधनमात्र हैं। अतएव उनकी भयङ्कर उपेक्षा तथा लाड़-प्यार दोनों ही बच्चोंकी मृत्यु या उनके नितान्त गन्दे जीवनके प्रमुख कारण होते हैं। ऐसे बालक समाजपर बोझ होनेके सिवा अपनी कोई उपयोगिता नहीं रखते। समाजका सुधार तथा राष्ट्रका उद्धार ऐसे बालकोंसे नितान्त असम्भव है। वह तो तभी सम्भव है जब उसके नागरिक विद्वान्, वीर, साहसी, निःस्वार्थसेवी, सदाचारी, ब्रह्मचारी, स्वस्थ, दयालु और मानव-मात्रसे बन्धु-भाव तथा स्नेहका व्यवहार करने वाले हों। और यह स्पष्ट ही है कि उत्तम नागरिक उत्तम माता-पिता ही पैदा कर सकते हैं, और ऐसे ही नागरिकोंका समुदाय एक समुन्नत और समुज्ज्वल समाज हो सकता है, औरोंका नहीं। बाल-जीवनके सुधारमें ही समाज-सुधार और राष्ट्रउद्धारके बीज संनिहित हैं। आशा है समाजके शुभचिन्तक इस दिशामें क़दम बढ़ाकर राष्ट्रहितका मार्ग साफ़ करेंगे।

किसका, कैसा गर्व ?

(लेखक—पं० राजेन्द्रकुमार जैन 'कुमरेश')

नव-सौन्दर्य सुमन सौरभ-सा—
पा जीवन मतवाला।
इठलाता-सा झूम रहा है,
पी यौवन की हाला !!

वैभवका यह नशा, रूप—
की, यह कैसी नादानी !
हाय ! भूल क्यों रहा, मौत—
की करुणाजनक कहानी !!

तनिक देख ! उस नील गगनमें—
तारों का मुस्काना !
दिनमें या घनघोर घटामें—
चुपके से छिप जाना !!

लता-गोदमें झूल, तनिक—
पाकर पराग इतराया !
कल जो खिला आज वह ही—
है रो रो कर मुरझाया !!

किसका, कैसा गर्व ? अरे !
जब जीवन ही सपना है !
सर्वनाश के इस निवास में—
कौन, कहाँ, अपना है !!

जुड़ा रहेगा सदा नहीं—
यह दीवानों का मेला !
एक एक का नाश करेगा
सहसा काल अकेला !!

देखेगा वह नहीं कौन है—
गोरा अथवा काला !
धू धू करके धधक उठेगी—
अरे ! चिता की ज्वाला !!

यह तेरा अभिमान करेगा—
उस की ही अगवानी !
समय रेन पर उतर गया है—
बड़ों बड़ों का पानी !!

ऐतिहासिक जैनसम्राट् चन्द्रगुप्त

(लेखक—न्यायतीर्थ पं० ईश्वरलाल जैन स्नातक)
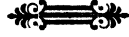
भगवान् महावीरके निर्वाण-पश्चात् भारतको अपनी उन्नत अवस्थासे पतित करने वाला एक क्षयरोग अपना विस्तार करने लगा—भारत देश अनेक छोटे बड़े राज्योंमें विभक्त होगया। छोटेसे छोटा राज्य भी अपनेको सर्वोच्च समझकर अभिमानमें लिप्त एवं सन्तुष्ट था। वे छोटे बड़े राज्य एक दूसरेको हड़पजाने की इच्छा से परस्पर ईर्ष्या और द्वेषकी अग्नि जलाते, फूटके बीज बोते, लड़ते झगड़ते और रह जाते। सैन्यबल और शक्ति तो परिमित थी ही, परन्तु उन्हें संगठित होनेकी आवश्यकता प्रतीत न हुई। यदि एक भी शक्ति शाली राष्ट्र उस समय उनपर आक्रमण करता तो सबको ही आसानीसे हड़प कर सकता था। कोशल आदि राज्योंने यद्यपि अपनी कुछ उन्नतिकी थी, परन्तु वे भी कोई विशाल राष्ट्र न बना सके।

इस अवसरसे लाभ उठानेके लिये सिकन्दरने ईस्वी सन् ३२७ पूर्व, भारत पर आक्रमण किया और वह छोटे बड़े अनेक राजाओंसे लड़ता झगड़ता पंजाब तक ही पहुंच पाया था कि छोटे-छोटे राजाओं ने भी उससे डटकर मुकाबला किया, इसी कारण मार्गके कई अनुभवोंने उसे हताश कर दिया। आगे न मालूम कितनोंसे युद्ध करना पड़ेगा, इस घबराहट के कारण वह पंजाबसे ही वापस चला गया। भारतीय राजाओंकी आंखें खोलने और उन्हें शिक्षा देनेके लिये इतनी ही ठोकर पर्याप्त थी, उन्हें अपनी छिन्न भिन्न अवस्था खटकने लगी और अन्तमें एक वीर मैदानमें आया और उसे एक शक्तिशाली राष्ट्र निर्माण करनेमें सफलता प्राप्त हुई। वह ऐतिहासिक वीर था सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य।

इतिहासलेखकोंने चन्द्रगुप्तके विषयमें एक मत होकर यह लिखा है कि भारतीय इतिहासमें यही सर्व-प्रथम सम्राट है, जिसने व्यवस्थित और शक्तिशाली राष्ट्र कायम ही नहीं किया, बल्कि उसका धीरता, वीरता, न्याय और नीतिसे प्रजाको रंजित करते हुए व्यवस्थापूर्वक संचालन किया है। यह सर्वप्रथम ऐतिहासिक एवं अमर सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्मा-वलम्बी ही था, इस पर प्रकाश डालनेसे पूर्व उसकी संक्षिप्त जीवनीका दिग्दर्शन करा देना अनुचित न होगा।

अनेक ऐतिहासिकोंका मन्तव्य है कि चन्द्रगुप्त, राजा नन्दके मयूर पालकोंके सरदारकी 'मुरा' नामक लड़की का पुत्र था, इस 'मुरा' शब्दसे 'मौर्य' प्रसिद्ध हुआ।

उसी समयकी बात है—अर्थात् ३४७ ई० सन् पूर्व राजा नन्दसे अपमानित होनेके कारण नीति निपुण 'चाणक्य' उसके समूल नाश करनेकी प्रतिज्ञा करके जब पाटलीपुत्रको छोड़कर जा रहा था तो मार्ग में मयूरपालकोंके सरदारकी गर्भवती लड़की 'मुरा' के चन्द्रपानके दोहलेको चाणक्यने इस शर्त पर पूर्ण किया, कि उससे होने वाला बालक मुझे दे दिया जाय। ३४७ ई० सन् पूर्व बालकका जन्म

हुआ ❋। गर्भके समय चन्द्रपानकी इच्छा हुई थी, इस लिये उसका नाम 'चन्द्रगुप्त' रखा गया। वह होनहार बालक दूजके चाँदकी तरह दिन-प्रति-दिन बढ़ता हुआ कुमार अवस्थाको प्राप्त हुआ।

'होनहार विरवानके होत चीकने पात' की कहावतके अनुसार कहा जाता है कि चन्द्रगुप्त बचपन में ही राजाओं जैसे कार्य करता था। कभी साथियों से कोई खेल खेलता तो ऐसा ही, जिसमें स्वयं राजा बनकर साथियोंको अपनी प्रजा बनाकर आज्ञा करता, न्याय करता और दण्ड देता। चन्द्रगुप्त लगभग आठ वर्षका हुआ तब चाणक्यकी दृष्टि उस बालक पर पड़ी और अपने पूर्व वचनके अनुसार चन्द्रगुप्तको असली राज्यका लोभ देकर साथ लिया और उसे राजाओंके योग्य उचित विद्याभ्यास कराया और नन्दके समूल नाशकी तैयारी प्रारम्भ कर दी।

प्रारम्भमें तो चन्द्रगुप्तने चाणक्यकी नीति और अपने बलसे कुछ भूमि अधिकारमें कर छोटासा राज्य बना लिया और फिर अपनी शक्तिको संगठित करना प्रारम्भ किया।

भारतसे वापस चले जाने पर विश्वविजयी सिकन्दरका बैबिलोनमें ई० सन् ३२३ पूर्व देहान्त होगया। पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा पंजाबमें यूनानी राज्य कायम रखनेके लिये जिनको सिकन्दर छोड़ गया था, उनपर चन्द्रगुप्तने अपनी प्रबल और संगठित शक्तिसे आक्रमण किया और सब प्रान्त अपने आधीन कर लिये, एवं अन्तमें चाणक्यकी नीतिसे राजा 'नन्द' पर विजय प्राप्त करनेमें चन्द्रगुप्तको सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार नन्दके मगधदेश पर अधिकार करके चन्द्रगुप्त मगधपति होगया। 'परिशिष्टपर्व' में लिखा है कि चंद्रगुप्तकी विजयके अनन्तर नन्दकी युवती कन्याकी दृष्टि चन्द्रगुप्त पर पड़ी और वह उस पर आसक्त होगई और नन्दने भी प्रसन्नतापूर्वक चन्द्रगुप्त के पास चले जानेकी अनुमति दे दी। प्राचीन भारतवर्ष (गुजराती) में डा० त्रिभुवनदास लहेरचंद शाहने भी इस घटना पर अपने विचार प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि जो इतिहासज्ञ चन्द्रगुप्तको नन्दका पुत्र लिखते हैं, उनकी यह बड़ी भूल है, चन्द्रगुप्त नन्दका पुत्र नहीं प्रत्युत दामाद था।

इस प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्तकी वीरतासे मौर्य सत्ताकी स्थापना हुई। लाला लाजपतरायजीके शब्दोंमें—"भारतके राजनैतिक रंगमञ्चपर एक ऐसा प्रतिष्ठित नाम आता है जो संसारके सम्राटोंकी प्रथम श्रेणीमें लिखने योग्य है, जिसने अपनी वीरता, योग्यता और व्यवस्थासे समस्त उत्तरीय भारतको विजय करके एक विशाल केन्द्रीय राज्यके आधीन किया।" ❋

सेल्युकस द्वारा भेजे गये राजदूत मेगास्थनीजने चन्द्रगुप्तके राज्य पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है, उसके वर्णनसे यह बात स्पष्ट झलकती है कि वीर चूड़ामणि चन्द्रगुप्तने न्याय, शान्ति और व्यवस्था-पूर्वक शासन करते हुए प्रजाको सर्व प्रकारेण सुखी

❋ चन्द्रगुप्तके जन्म समयके सम्बन्धमें कुछ मतभेद प्रतीत होता है—प्राचीन भारतवर्ष (गुज०) के लेखक डा० त्रिभुवनदास लहेरचन्द शाह, चन्द्रगुप्तका जन्म वीर निर्वाण सं० १५५ तथा ईस्वी सन् ३७२ वर्ष पूर्व लिखते हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'परिशिष्टपर्व' से भी इसीकी पुष्टि होती है।

❋ भारतवर्षका इतिहास—लाला लाजपतराय

एवं सन्तुष्ट किया। अपने साम्राज्यको अलग अलग प्रान्तोंमें विभाजित किया। वहांपर नगरशासक मण्डल—म्युनिस्पलिटियाँ और जनपद—डिस्ट्रिक्टबोर्ड भी क़ायम किये। सेनाकी सर्वोत्तम व्यवस्था की, दूसरे देशोंसे सम्बन्धके लिये सड़कोंका निर्माण कराया, शिक्षाके लिये विश्वविद्यालय, उपचारके लिये चिकित्सालय आदिका प्रबन्ध किया। डाककी भी उचित व्यवस्था की। चन्द्रगुप्तके राज्यमें बाल, वृद्ध, व्याधिपीड़ित, आपत्तिग्रस्त व्यक्तियोंका पालन-पोषण राज्यकी ओरसे होता था। इस प्रकार प्रजाको संतुष्ट रखनेके लिये चन्द्रगुप्तने कोई कमी नहीं रक्खी थी। और इस प्रकार उसका राष्ट्र सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था।

सम्राट् चन्द्रगुप्तके विषयमें इतिहासलेखक कुछ भ्रमपूर्ण विचार रखते हैं। कोई लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त शूद्राका लड़का था। रायसाहब पं० रघुवर प्रसादजीने अपने 'भारत इतिहास' में चन्द्रगुप्तको 'मुरा' नामक नाइनका लड़का लिख डाला है और डाक्टर हूपरने तो चन्द्रगुप्त और चाणक्यको ईरानी लिखनेकी भी भारी भूल की है, जिसे इतिहासज्ञ विद्वान् प्रामाणिक नहीं मानते। प्रो० वेदव्यासजी अपने 'प्राचीन भारत' में लिखते हैं कि विश्वसनीय साक्षियोंके आधार पर यह सिद्ध होगया है कि चन्द्रगुप्त एक क्षत्रिय कुलका कुमार था। बौद्धसाहित्यके सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'महावंश' के अनुसार चन्द्रगुप्तका जन्म मोरियजातिमें हुआ था। श्रीसत्यकेतु विद्यालङ्कारने भी अपने 'मौर्य साम्राज्यका इतिहास' में इस सम्मतिको महत्व दिया है। 'राजपुताना गजेटियर, में' मोरी वंश' को एक राजपूत वंश गिना है। अस्तु; जो हो, अधिकांश इतिहासलेखक इस निर्णय पर पहुँच गये हैं कि वह शूद्राका पुत्र नहीं था।

हाँ, धर्मकी आड़में चन्द्रगुप्तको शूद्राका पुत्र कहनेका साहस किया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि चन्द्रगुप्त जैन था, ब्राह्मणोंको जैन धर्मसे द्वेष था, वह इसकी समुन्नति सहन नहीं कर सकते थे। चन्द्रगुप्तने क़न्धार, अर्बिस्तान, ग्रीस, मिश्र आदिमें जैनधर्मका प्रचार किया, इस लिये ब्राह्मणोंका जैन प्रचारकको शूद्र कहना कोई अनहोनी बात न थी। तत्कालीन ब्राह्मणोंने कलिङ्ग देशके निवासियोंको 'वेदधर्म-विनाशक' तो कहा ही है, साथ ही उस प्रदेशको अनार्यभूमि भी कहकर हृदयको सन्तुष्ट किया है। उनकी कृपासे चन्द्रगुप्तको शूद्रका पुत्र कहा जाना आश्चर्योत्पादक नहीं।

'राजा नन्द' के विषयमें भी ऐसा ही विवाद उपस्थित होता है। कई इतिहासज्ञोंने उसे नीच जातिका लिख डाला है, परन्तु कुछ इतिहासज्ञ अब इस निर्णयपर पहुँच गये हैं कि वह जैन था। मुनि ज्ञानसुन्दरजी महाराजने 'जैनजातिमहोदय' में सिद्ध किया है कि नन्दवंशी सभी राजा जैन थे।

Smith's Early History of India Page 114 में और डाक्टर शेषागिरिराव ए० ए० आदिने मगधके नन्द राजाओंको जैन लिखा है, क्यों कि जैनधर्मी होनेके कारण वे आदीश्वर भगवानकी मूर्तिको कलिङ्गसे अपनी राजधानी मगधमें ले गये। देखिये South India Jainism Vol II Page 82। इससे प्रतीत होता है कि पूजन और दर्शनके लिये ही जैन मूर्ति ले जाकर मंदिर बनवाते होंगे। महाराजा खारवेलके शिलालेखसे स्पष्ट प्रकट होता है, कि नन्दवंशीय नृप जैन थे।

सम्राट् चन्द्रगुप्तके विषयमें भी इतिहासज्ञोंने कुछ

समय तक उसे जैन स्वीकृत नहीं किया। परन्तु खोज करनेपर ऐसे प्रबल ऐतिहासिक प्रमाण मिले जिससे उन्हें अब निर्विवाद चन्द्रगुप्तको जैन स्वीकृत करना पड़ा। परन्तु श्री सत्यकेतुजी विद्यालङ्कारने 'मौर्य-साम्राज्यका इकिहास'में चन्द्रगुप्तको यह सिद्ध करनेका असफल प्रयत्न किया है कि वह जैन नहीं था। परन्तु चन्द्रगुप्तकी जैन मुनियोंके प्रति श्रद्धा, जैन-मन्दिरोंकी सेवा एवं वैराग्यमें रञ्जित हो राज्यका त्यागदेना और अन्तमें अनशनव्रत ग्रहण कर समाधिमरण प्राप्त करना उसके जैन होनेके प्रबल प्रमाण हैं।

विक्रमीय दूसरी तीसरी शताब्दीके जैन ग्रन्थ और सातवीं आठवीं शताब्दीके शिलालेख चन्द्रगुप्तको जैन प्रमाणित करते हैं।

रायबहादुर डॉ० नरसिंहाचार्यने अपनी 'श्रवण-बेलगोल' नामक इंग्लिश पुस्तकमें चन्द्रगुप्तके जैनी होनेके विशद प्रमाण दिये हैं। डाक्टर हर्तिलने Indian Antiquary XXI 59-60 में तथा डाक्टर टामस साहबने अपनी पुस्तक Jainism the Early Faith of Asoka Page 23. में लिखा है कि चन्द्रगुप्त जैन समाजका एक योग्य व्यक्ति था। डाक्टर टामसगवने एक और जगह यहांतक सिद्ध किया है कि—चन्द्रगुप्तके पुत्र और पौत्र बिन्दुमार और अशोक भी जैन धर्मावलम्बी ही थे। इस बातको पुष्ट करनेके लिये जगह जगह मुद्राराक्षस, राजतरंगिणी और आइना-ए-अकबरीके प्रमाण दिये हैं।

हिन्दू इतिहास, के सम्बन्धमें श्री बी० ए० स्मिथका निर्णय प्रामाणिक माना जाता है। उन्होंने भी सम्राट चन्द्रगुप्तको जैन ही स्वीकृत किया है। डाक्टर स्मिथ अपनी OXFORD History of India मे लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त जैन था, इस मान्यताके असत्य समझनेके लिये उपयुक्त कारण नहीं हैं।

मैगस्थनीज़ (जो चन्द्रगुप्तकी सभामें विदेशी दूत था) के कथनोंसे भी यह बात झलकती है कि चन्द्रगुप्त ब्राह्मणोंके सिद्धान्तोंके विपक्षमें श्रमणों (जैन मुनियों) के धर्मोपदेशको स्वीकार करता था।

मि० ई० थामसका कहना है कि चन्द्रगुप्तके जैन होनेमें शंकोपशंका करना व्यर्थ है; क्योंकि इस बातका साक्ष्य कई प्राचीन प्रमाणपत्रोंमें मिलता है, और वे शिलालेख निस्संशय अत्यन्त प्राचीन है।

मि० जार्ज० सी० एम० वर्डवुड लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ये दोनों जैनधर्मावलम्बी थे। चंद्रगुप्तके पौत्र अशोकने जैनधर्मको छोड़कर बौद्धधर्म स्वीकार किया था। एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन' में लिखा है कि ई० स० २९७ पूर्वमें संसारसे विरक्त होकर चंद्रगुप्तने मैसूर प्रांतस्थ श्रवणबेलगोलमें बारह वर्ष तक जैनदीक्षासे दीक्षित होकर तपस्या की, और अन्तमें वे तप करते हुए स्वर्गधामको सिधारे।

मि० बी० लुइसराइस साहब कहते हैं कि चंद्र-गुप्तके जैन होनेमें संदेह नहीं। श्रीयुत काशीप्रसादजी जायसवाल महोदय समस्त उपलब्ध साधनोंपरसे अपना मत स्थिर करके लिखते हैं—"ईसाकी पांचवीं शताब्दी तकके प्राचीन जैन ग्रन्थ व पीछेके शिलालेख चंद्रगुप्तको जैन राजमुनि प्रमाणित करते हैं, मेरे अध्ययनोंने मुझे जैन ग्रंथोंके ऐतिहासिक वृतान्तोंका आदर करनेके लिये बाध्य किया है। कोई कारण नहीं है कि हम जैनियोंके इस कथनको- कि चंद्रगुप्त अपने राज्यके अन्तिम भागमें जिनदीक्षा लेकर

मरणको प्राप्त हुआ—न मानें। मैं पहिला ही व्यक्ति यह माननेवाला नहीं हूं, मि० राइसने भी जिन्होंने 'श्रवणबेलगोलके शिलालेखोंका अध्ययन किया है, पूर्णरूपसे अपनी राय इसी पक्षमें दी है और मि० वी० स्मिथ भी अंतमें इस ओर झुके हैं।"

सांचीस्तूपके सम्बन्धमें इतिहासकारोंका मत है कि यह अशोक द्वारा निर्माण हुआ है और इसका सम्बन्ध बौद्धोंसे है, परन्तु प्राचीन भारतवर्ष (गुज०) में डा० त्रिभुवनदास लहेरचन्द शाहने उसपर नवीन प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि सांचीस्तूपका सम्बन्ध जैनधर्म और चन्द्रगुप्त से है*। वे कहते हैं कि मौर्य-सत्ताकी स्थापनाके बाद सम्राट् चन्द्रगुप्तने सांचीपुरमें राजमहल बनवाकर वर्षमें कुछ समयके लिये रहना निश्चय किया था।

चन्द्रगुप्तने राजत्यागकर दीक्षा लेनेसे पूर्व वहाँके अनेक स्तूपोंमेंसे, जो आज भी विद्यमान हैं, सबसे बड़े स्तूपके घुमटके चारों ओर गोलाकार दीपक रखनेके लिये जो रचना हुई है उसके निर्वाहके लिये लगभग २५ हजार दीनारका (२॥ लाख रु०का) वार्षिक दान दिया था, यह बात सर कनिंगहाम जैसे तटस्थ और प्रामाणिक विद्वान्ने 'भिल्सास्तूप' नामक पुस्तकमें प्रकट की है। यह घटना सिद्ध करती है कि उस स्तूपका तथा अन्य स्तूपोंका चन्द्रगुप्त और उसके जैनधर्मसे ही गाढ़ सम्बन्ध था अथवा होना चाहिये, यह निर्विवाद कह सकते हैं।

सम्राट् चन्द्रगुप्तने २४ वर्ष तक राज्यशासन चलाया और ई० स० २९७ पूर्व ५० वर्षकी आयुमें नश्वर शरीरका त्याग किया। जैन मान्यतानुसार बारह वर्ष का भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़नेपर चन्द्रगुप्त राज्य त्यागकर आचार्य श्री भद्रबाहुजीका शिष्य बन मैसूर की ओर गया और श्रवणबेलगोलमें उसने तपस्या एवं अनशन व्रत द्वारा समाधिमरण प्राप्त किया।

* अधिकाँश इतिहासज्ञ विद्वान अभी इस बातको स्वीकार नहीं करते क्योंकि इस निर्णयको स्वीकार करनेके लिये अधिक प्रबल प्रमाणोंकी आवश्यकता है।

"यह संसार काम करनेके लिये है, काम करो। कायर लोग दूसरोंके कष्ट भूलकर केवल अपने ही कष्टसे व्याकुल रहते हैं।"

"मुसीबतोंका अनुभव करना ही मनुष्यका प्रकृत स्वभाव नहीं है, किन्तु कर्तव्य यह है कि योद्धाओंकी तरह दुःखका सामना करो, दुःखको चेलेंज दो।"

"अपनी इच्छासे दुःख-दरिद्रता स्वीकार करनेमें, अभिमान और आनन्द होता है।"

"जो मृत्युकी उपेक्षा करते हैं, पृथ्वीका सारा सुख उन्हींका है। जो जीवनकेसुखको तुच्छ समझते हैं, मुक्तिका आनन्द उन्हींको मिलता है।"

"उच्च आदर्शका सुख वही कहा जा सकता है जो क्षणिक या अन्यका अनिष्ट करनेवाला न हो, और उच्च आदर्शकी भोग्य वस्तु वही कही जा सकती है, जो उस उच्च आदर्शके सुखका कारण हो और जिसे प्राप्त करनेमें पराई प्रत्याशा या अन्यका अनिष्ट न करना पड़े।"

"यह एक बिलकुल सीधी और सच बात है कि सुख मनसे सम्बन्ध रखता है, आयोजन या आडम्बरसे नहीं।"

—विचारपुष्पोद्यान

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[मूल लेखक—प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ए० आई० ई० एस०]

(अनुवादक—सुमेरचन्द जैन दिवाकर, न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी० ए० एल एल० बी०)

[१२ वीं किरणसे आगे]

चेरके राजकुमारकी प्रशंसा उसके मादलन् नामक ब्राह्मण मित्रने मंदिरोंकी पूजामें 'पोप्पली' नामक विशेष पवित्र विधिको दाखिल करने वालेके रूपमें की है। प्रसंगवश हम एक और मनोरंजक बातका उल्लेख करते हैं। आदि तामिलसाहित्यमें 'अंडणन्' और 'पार्प्पान्' ये दो शब्द पाए जाते हैं, इनमेंसे प्रत्येकके पीछे एक कथा है। साधारणतया इन दोनों शब्दोंको पर्यायवाची समझा जाता है। कुछ स्थलोंपर इनका प्रयोग पर्यायवाचीकी भाँति हुआ है। जब एक ही ग्रंथमें ये दोनों शब्द कुछ भिन्न भावोंमें ग्रहण किए गए हैं, तब उनको भिन्न ही समझना चाहिये। 'चरणभूषण' नामक प्रस्तुत महाकाव्यमें 'अंडणन्' शब्दका अर्थ टीकाकारने श्रावक अर्थका वाचक जैन गृहस्थ किया है। यह सूचना बड़ी मनोरंजक है। ये दोनों शब्द प्रख्यात कुरल काव्यमें भी आए हैं जहां 'पार्प्पान्' का अर्थ वेदाध्ययन करने वाला व्यक्ति किया गया है, और 'अंडणन्' का दूसरे अर्थमें प्रयोग हुआ है। उसका भाव है ऐसा व्यक्ति जो प्रेमपूर्ण हो और जीवमात्रके प्रति करुणावान् हो। यह स्पष्ट है कि आदि तामिल ग्रंथकारोंने 'अंडणन्' शब्दका व्यवहार जन्मकी अपेक्षा न करते हुए अहिंसाके आराधकोंके लिये किया है। 'पार्प्पान्' शब्द ब्राह्मण जातिको द्योतित करनेके लिये निश्चित किया गया था। आदि तामिलोंके सामाजिक पुनर्गठनके विषयमें रुचि रखने वाले विद्वानोंकी खोजके लिये यह सूचना उपयोगी है।

जीवकचिन्तामणि—यह ग्रंथ, जो कि पंचमहाकाव्योंमें सबसे बड़ा है, निःसन्देह विद्यमान तामिल साहित्यमें सर्वोत्कृष्ट है। यह कल्पनाकी महत्ता, साहित्यिक शैलीकी सुन्दरता एवं प्रकृतिके सौंदर्य वर्णनमें तामिल साहित्यमें बेजोड़ है। पिछले तामिल ग्रंथकारोंके लिये यह केवल एक अनुकरणीय उदाहरण ही नहीं रहा है, किन्तु एक स्पृहणीय आदर्श भी रहा है। महान् तामिल 'रामायण' के रचयिता 'कम्बन्' के विषयमें यह कहा जाता है कि जब उसने अपनी 'रामायण' को विद्वानोंकी परिषद्‌में पेश किया, और जब कुछ विद्वानोंने कहा कि उसमें 'चिन्तामणि' के चिन्ह पाये जाते हैं तब बौद्धिक साहस एवं सत्यके धारक कम्बन् ने इन शब्दोंमें अपना आभार व्यक्त किया :—

"हां, मैंने 'चिन्तामणि' से एक घूंट अमृतका पान किया है। इससे यह बात सूचित होती है कि तामिल विद्वानोंमें उस महान् ग्रंथका कितना सम्मान था। यह अतीव अद्भुत महाकाव्य, जो कि तामिल भाषाका 'इलियड' तथा 'ओडेस्सी' है, तिरुतक्कदेव नामक कविके यौवनकालके प्रारंभमें रचा गया कहा जाता है। ग्रंथकारके सम्बंधमें उसके नाम और इस बातके सिवाय कि उसका जन्म मद्रासप्रांतके उपनगर 'म्यलपुर' नामक स्थानमें हुआ था, जहाँ कि कुरलके रचयिता भी रहते थे, और कुछ भी ज्ञात नहीं है। तरुण कविने अपने गुरुके साथ मदुराको प्रस्थान किया था, जो पांड्य राज्यकी बड़ी राजधानी एवं धार्मिक कार्योंका केन्द्रस्थल था। अपने गुरु

की आज्ञानुसार तरुण साधु कविने मदुराकी तामिल विद्वत्परिषद् अथवा संगमके सदस्योंसे परिचय प्राप्त किया। उस परिषद्के कतिपय सदस्योंने सामाजिक चर्चाके समय उसे तामिल भाषामें शृङ्गाररसके ग्रंथ की रचना करनेकी अयोग्यताके लिये दोष दिया। इसके उत्तरमें कविने कहा कि शृङ्गारसकी कविता करनेका प्रयत्न कुछ थोड़ेसे ही जैनी करते हैं। अन्य लोगोंके समान वे भी शृंगाररसकी बहुत अच्छी कविता कर सकते हैं, किंतु ऐसा न करनेका कारण यह है, कि ऐसे इंद्रियपोषक विषयोंके प्रति उनके अन्तःकरणमें अरुचि है, न कि साहित्यिक अयोग्यता। किंतु जब उसके मित्रोंने ताना देते हुए पूछा कि क्या वह एकाध ऐसा ग्रंथ बना सकता है, तब उसने उस चुनौतीको स्वीकार कर लिया। आश्रममें लौट कर उसने सब बातें गुरुके समक्ष निवेदन कीं। जब वह और उसके गुरु बैठे थे, तब उनके सामनेसे एक शृगाल दौड़ा हुआ गया। गुरुने उस ओर शिष्यका ध्यान आकर्षित करते हुए उसे शृगालके विषयमें कुछ पद्य बनानेको कहा। तत्काल ही शिष्य तिरुतक्कदेवने शृगालके सम्बन्धमें पद्य बना डाले, इससे उस रचनाको 'नरिविरुत्तम्' कहते हैं; उसमें शरीरकी अस्थिरता, संपत्तिकी नश्वरता और ऐसे ही अन्य विषयोंका वर्णन किया गया था। अपने शिष्य की असाधारण कवित्वशक्तिको देखकर गुरुजी प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे जीवकके चरित्रका वर्णन करने वाले एक श्रेष्ठ ग्रंथके रचनेकी आज्ञा प्रदान की। इस चरित्रमें प्रेम तथा सौंदर्यके विविध रूपोंका समावेश है। अपनी सम्मति सूचित करनेके लिये गुरुजी ने अपने शिष्यके भावी ग्रंथमें प्रथम पद्यके तौरपर रक्खे जानेके लिये एक मंगलपद्यका निर्माण किया। इसके अनंतर उनके शिष्य तिरुतक्कदेवने सिद्धों की स्तुतिमें दूसरा पद्य बनाया, जिसे गुरुजीने अपने श्लोकसे भी सुंदर स्वीकार किया और उसे प्रथम पद्यके रूपमें रखनेको कहा, और गुरुद्वारा रचित पद्यने दूसरा स्थान प्राप्त किया। इस प्रकार सिद्ध नमस्कारको लिये हुए 'मूवामुदला' शब्दसे प्रारंभ होनेवाला पद्य जीवकचिन्तामणिमें प्रथम पद्य है और अर्हन् नमस्कारवाला गुरुजी रचित पद्य, जो 'शेंपोणवरेमेल' शब्दसे प्रारंभ होता है, ग्रंथमें दूसरे नंबर पर है। इस तरह मदुरा-संगमके एक मित्र कविकी चुनौतीके फलस्वरूप तिरुतक्कदेवने 'जीवकचिंतामणि' की रचना यह सिद्ध करनेको की, कि एक जैनग्रंथकार शृंगाररसमें भी काव्य रचना कर सकता है। इसे सभीने स्वीकर किया कि कविने आश्चर्यप्रद सफलता प्राप्त की। वह रचना जब विद्वत्परिषद्के समक्ष उपस्थित की गई, तब कहते हैं कि कविसे उसके मित्रोंने पूछा कि, तुमतो अपने बाल्यकालसे पवित्रता एवं ब्रह्मचर्यके धारक थे, तब ऐसी रचना कैसे की, जिसमें वैषयिक सुखोंके साथ असाधारण परिचय प्रदर्शित होता है। कहते हैं इस संदेहके निवारणार्थ उसने एक लोहेका गर्म लाल गोला लिया और यह शब्द कहे "यदि मैं अशुद्ध हूं तो यह मुझे भस्म करदे" किन्तु कहते हैं कि उस परीक्षामें वह निर्दोष उत्तीर्ण हुआ और उसके मित्रोंने उसके आचरणकी पवित्रताके विषयमें संदेह करनेके लिये उससे क्षमा मांगी।

जिस प्रकार पूर्वके ग्रंथ 'शिलप्पदिकारम्' में ग्रंथकारके जीवनकालमें होने वाली ऐतिहासिक घटनाओंका वर्णन किया गया है उस प्रकार इस ग्रंथमें नहीं किया गया है, बल्कि इसमें जीवककी

पौराणिक कथाका वर्णन है। जीवककी कथा संस्कृत साहित्यमें बहुलतासे पाई जाती है। जिनसेनके महापुराणका जो उत्तर भाग है और जिसे उनके शिष्य गुणभद्रने बनाया था, उसके एक अध्यायमें जीवक की कथा वर्णित है। यह कथा बादको श्रीपुराणमें भी पाई जाती है, जो कि मणिप्रवाल रीतिमें लिखा हुआ एक गद्य ग्रंथ है और प्रायः इस महापुराणका अनुवाद है। क्षत्रचूड़ामणि, गद्यचिंतामणि और जीवंधरचम्पूमें भी यही कथा वर्णित है। इस विषयमें हम निश्चयके साथ कुछ भी नहीं कह सकते हैं कि इस तामिल ग्रंथकर्त्ताको अपने ग्रंथकी रचनाके लिये इन संस्कृतग्रंथोंमेंसे कोई ग्रंथ आधारस्वरूप रहा है या कि नहीं।

इन सब संस्कृत ग्रंथोंमें महापुराण निःसंदेह सबसे प्राचीन है और यह निश्चित है कि यह महापुराण ईसाकी ८ वीं सदीकी रचना है, क्योंकि यह राष्ट्रकूट वंशीय अमोघवर्षके धर्मगुरु जिनसेनाचार्यके द्वारा रचा गया था। किंतु जिनसेन स्वयं पहलेके अनेक ग्रंथोंका उल्लेख करते हैं, जिनके आधारपर उन्होंने अपना ग्रंथ बनाया है। कुछ भी हो, इस बातपर विद्वान् लोग आमतौरपर सहमत हैं कि यह तामिल ग्रंथ 'जीवकचिंतामणि' ईसाकी प्रायः ८ वीं शताब्दीके बादकी कृति है। फिलहाल हम इस निर्णयको स्वीकार करते हैं। इस ग्रंथमें ३० इलम्बक या अध्याय हैं। पहलेमें कथानायकका जन्म एवं शिक्षण वर्णित है और अंतिम अध्याय उनके निर्वाणके वर्णनके साथ समाप्त होता है।

नामगलइलम्बगम्—इस कथा का प्रारम्भ भरतखण्डके हेमांगद देशके वर्णनसे होता है। राजमापुरम हेमांगद देशकी राजधानी थी। इसके राजा कुरुवंशीय महाराज सच्चंदन् थे। उन्होंने अपने मामा 'श्रीदत्तन्' की कन्यासे, जिसे 'विजया' कहते थे, विवाह किया था। यह 'श्रीदत्तन' विदेह देशपर शासन करता था। राजा सच्चंदन्का अपनी अतीव रूपवती महारानी पर महान् अनुराग था, इससे वह राज्य कार्योंकी उपेक्षा करके अपना सारा समय प्रायः अंतःपुरमें ही व्यतीत करता था। उसने अपने एक मंत्री 'कत्तियंगारन्' के ऊपर राज्यशासनका भार छोड़ रखा था। जब एकबार इस 'कत्तियंगारन्' ने राजत्वकी प्रभुता और अधिकारका रसास्वाद किया, तब उसकी इच्छा उसको हड़पनेकी होगई। राजाने अपने उस मंत्रीकी कुटिल नीतिको कुछ अधिक देरमें समझा, जिसको उसने मूर्खतावश राज्यका अधिकार दे रखा था। इसी बीच में महारानीने तीन अधिक असुहावने दुःस्वप्न देखे। जब उसने राजासे उनका फल पूछा, तब उसने उसे यह कह कर सांत्वना दी, कि तुम स्वप्नोंके विषयमें चिंता मत करो। कहते हैं कि उसने अपने कृतघ्न मंत्रीके द्वारा उत्पातकी आशंकासे मयूरकी आकृतिका एक विमान, जो आजकलके वायुयानके समान था, बनवाया। यह मयूरयंत्र राजप्रासादमें गुप्तरूपसे बनवाया गया था, उसमें दो व्यक्ति आकाशमें जा सकते थे। उसने अपनी महारानीको भी यह यंत्र चलाना सिखा दिया था। जब महारानीका गर्भ प्रसव के निकट हुआ, तब कृतघ्न कत्तियंगारनने राज्यको हड़प लेनेकी अपनी कामनाको पूर्ण करनेका प्रयत्न किया और इस तरह राजप्रासादको घेर लिया। चूंकि उस मयूरयंत्रमें केवल दो व्यक्तियोंका ही वजन खींचा जा सकता था और चूंकि रानीका गर्भ प्रसवके निकट था, इसलिये राजाने यंत्रको महारानीके अधिकारमें सौंप देना उचित समझा और स्वयं वहाँ रह गया। जब यंत्र रानीको लेकर उड़ा, तब राजा नंगी तलवार

हाथमें लेकर आक्रमणकारीका मुकाबला करनेके लिये निकल पड़ा। इस युद्धमें लड़ते हुए राजाका प्राणान्त होगया और दुष्ट कट्टियंगारन् ने अपनेको राजमापुरम् का शासक घोषित कर दिया। अभी महारानी नगर के बाहर पहुँची ही थी, कि उसने यह राज्यघोषणा सुनी कि उसके पतिदेव (राजा) की मृत्यु होगई, इस से वह त्रयंका नियंत्रण करनेमें असमर्थ होगई, जिससे वह यंत्र नीचे उतरा और इस नगर के बाहर श्मशान भूमिमें आ ठहरा। उस करुण वातावरण एवं अंधेरी रात्रिमें महारानी ने एक पुत्रको जन्म दिया। महारानीकी सहायता करने वाला उस समय कोई नहीं था, और वह असहाय शिशु उस श्मशान की निविड़ निशामें आक्रन्दन कर रहा था। कहते हैं कि एक देवताने रानीकी दशापर दयार्द्र होकर महल की एक सेविकाका रूप धारण किया और उसकी परिचर्या की। उसी समय उस नगरका एक व्यापारी सेठ अपने मृत शिशुको लेकर उसका अन्तिम संस्कार करनेके लिये वहां पहुँचा। वहाँ उसने सुन्दर शिशु जीवकको देखा, जिसे देवताके परामर्शानुसार उसकी माताने अकेला छोड़ दिया था। 'कन्दुक्कडन्' नामक वह सेठ राजपुत्रको देखकर अत्यन्त आनंदित हुआ शिशुकी अंगुलीमें स्थित मुद्रिकासे उसने उसे पहचान लिया। उसने जीवित राजपुत्रको ले लिया और घर लौटकर अपनी पत्नीको यह कहते हुए सौंप दिया कि तेरा बालक मरा नहीं था। उसकी पत्नीने इस उपहारको अपने पतिसे सानन्द ले लिया और उसने अपना ही पुत्र समझकर उसका पालन-पोषण किया। यह बालक इस कथाका चरित्र नायक 'जीवक' था।

देवताके साथमें विजया महारानी दंडकारण्य पहुँची और वहाँ रानीने एक साध्वीका वेष धारण कर तापस-आश्रममें निवास किया। अपने अनेक बन्धुओं के साथ जीवकका सेठके गृहमें संवर्धन हुआ। उस बालकको आचार्य 'अच्चणंदि'ने युवककी तरह शिक्षित किया। उसने धनुर्विद्या एवं राजकुमारके योग्य अन्य कलाओंका भी परिज्ञान किया। अपने शिष्यकी योग्यतासे आकर्षित होकर गुरुमहाराजने एक दिन उसके समक्ष उसके राज्य-परिवारकी करुण-कथा सुनाई और युवक राजकुमारसे यह वचन ले लिया कि वह एक वर्ष पर्यन्त अपनी राज्यप्राप्ति एवं प्रतिशोधके लिये दौड़ धूप नहीं करेगा। इस प्रकारका वचन प्राप्त करके आचार्यने राजकुमारको आशीर्वाद देते हुए कहा कि एक वर्षके अनन्तर तुम अपने राज्यको प्राप्त करोगे और उसको अपना असली परिचय दिया। इसके अनन्तर उसको छोड़कर आचार्यश्री चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीरके चरणोंकी आराधना करके निर्वाण प्राप्तिके लिये तप करने चले गये। इस प्रकार राजकुमार जीवकके अध्ययनका वर्णन करनेवाला प्रथम अध्याय, जिसे 'नामगलइलंबगम्' भी कहते हैं पूर्ण होता है। नामगलका अर्थ वाणीकी अधिष्ठात्री सरस्वती है।

२ गोविन्दैय्यार इलम्बगम्—जिस समय राजकुमार जीवक अपने चचेरे बन्धुओंके साथ कंदुक्कडन्के परिवारमें अपना काल व्यतीत कर रहा था उसवक्त सीमावर्ती पहाड़ी लोगोंने राजाके पशुओंका अपहरण कर लिया। गोरक्षक ग्वालोंने गायोंकी रक्षामें समर्थ न होने पर राजासे सहायताकी मांग की। राजाने अपने शतपुत्रोंको तुरन्त जाकर व्याधोंसे युद्ध करके गायोंको पुनः प्राप्त करनेके लिये आज्ञा दी। परन्तु वे सब उन पहाड़ी जातिवालोंके द्वारा परास्त हुए। राजा

को यह न जान पड़ा कि अब क्या किया जाय। किन्तु ग्वालोंके अधिनायकने शहरमें यह घोषणा करादी कि जो कोई भी राजाकी गायोंको वापिस लावेगा, उससे मैं अपनी कन्या 'गोविन्दा' का विवाह कर दूँगा। जीवकने यह घोषणा सुनी, वह इन 'बेदरों' की तलाशमें निकल गया और सब गायोंको वापिस ले आया। एक क्षत्रियका एक ग्वाल-कन्या के साथ विवाह करना अयोग्य होगा, इस लिये उसने नन्दकोन नामक ग्वाल सरदारकी सम्मतिसे अपने एक मित्र वं साथी 'यदुमुहन' के साथ उस गोविन्दा का विवाह करा दिया। इस प्रकार गोविन्दाके विवाह का वर्णन करता हुआ दूसरा अध्याय समाप्त होता है।

३ गन्धर्वदत्तैय्यार इलम्बगम्—गन्धर्वदत्ता विद्याधराधीश कलुषवेगकी कन्या थी। एक ज्योतिषीसे यह जानकर कि उसकी कन्या राजमहापुरमें किसीके साथ विवाह करेगी, वह अपनी कन्याको उस नगरमें भेजना चाहता था। जब वह इस अवसरकी प्रतीक्षा कर रहा था, तब राजमहापुरका एक सेठ, जिसका नाम श्रीदत्त था अपने जहाजमें समुद्री व्यापारके फलस्वरूप प्राप्त हुए सुवर्णको रखकर अपने घर लौट रहा था। जिस प्रकार शैक्सपियरके 'टेम्पैस्ट' नाटकमें जादूसे प्रोसपेरोके द्वारा जहाज नष्ट किया गया है, उसी प्रकार इस विद्याधरने चमत्कारिक रूपसे जहाजका विनाश प्रदर्शित किया और श्रीदत्त सेठको अपने दरबारमें आनेको बाध्य किया। वहाँ उसे यह बात बताई गई कि उसे विद्याधर राजधानीमें किस निमित्त लाया गया है। विद्याधरोंके नरेशने उससे कहा कि तुम राजकुमारी 'गन्धर्वदत्ता' को अपने साथ लेजाओ और जो उसे वीणा-वादनमें पराजित करदे उसीके साथ इसका विवाह कर देना। श्रीदत्तने गन्धर्वदत्ता राजकुमारीके साथ अपनी राजधानीमें पहुँचकर घोषणाके द्वारा वीणा-स्वयम्वरकी शर्तोंको नागरिकोंपर प्रकट कर दिया और साथ ही यह भी प्रकट कर दिया कि जो कोई वीणा बजानेकी प्रतियोगितामें राजकन्याको हरादेगा उसे वह विद्याधर-कन्या प्रदान की जायगी। यह प्रतियोगिता तत्कालीन शासक कत्तियंगारन्‌की अनुमति पूर्वक कराई गई थी। आदिके तीन वर्णोंके व्यक्ति उस प्रतिद्वन्द्विताके लिए आमन्त्रित किए गए थे। इस राजकुमारी गन्धर्वदत्ताने प्रत्येकको पराजित कर दिया। इस प्रकार छह दिन बीत गए। सातवें दिन जीवकने, जिसे पुरवासी वणिकपुत्र ही समझे हुए थे, उस संगीतकी प्रतियोगितामें अपने भाग्यकी परीक्षा करनी चाही। जब उस प्रतिद्वन्द्वितामें जीवकने अपना संगीत-कौशल दिखाया तब विद्याधर कन्याने उसे विजेता स्वीकारकर अपना पति अंगीकार किया। कुछ राजकुमार जो वहाँ एकत्रित थे उन्होंने ईर्षावश राजकुमार 'जीवक' से झगड़ा करना चाहा, किन्तु वे सब पराजित हुए और अन्तमें जीवकने गन्धर्वदत्ताको अपने प्रासादमें लाकर विधिवत् विवाहक्रिया की। इस प्रकार यह तीसरा अध्याय समाप्त होता है, जो गन्धर्वदत्ताके विवाहविषयको लिये हुए है।

४ गुणमालैयार इलम्बगम्—एकबार वसन्तोत्सवमें नगरके युवक नरनारी विनोद और आनन्दोत्सव मनानेके लिये समीपवर्ती उपवनमें गये थे। इनमें सुरमंजरी और गुणमाला नामकी दो युवतियाँ भी थीं। उनमें स्नानके लिये उपयोगमें लाए जाने वाले चूर्णकी सुगन्धकी विशेषताके सम्बन्धमें विवाद उत्पन्न होगया। वे अपने अपने चूर्णको अच्छा बताती थीं। यह विषय बुद्धिमान् युवक जीवक (जीवन्धर)

के समक्ष उपस्थित किया गया, जिसने गुणमालाके पक्षमें निर्णय देदिया। इस निर्णयसे सुरमंजरी अत्यन्त खिन्न हुई और उसने अपने आपको कन्यामाद (कन्यागृह) में बन्द करनेका निश्चय किया और यह नियम लिया कि वह तबतक किसी भी पुरुषका मुख नहीं देखेगी, जब तक कि यह जीवक उसके पास जाकर विवाहके लिए प्रार्थना नहीं करेगा। जब कि सुरमंजरीने इस वसन्तोत्सवमें भाग नहीं लिया, तब अपने पक्षमें प्राप्त निर्णयसे उत्साहित होकर गुणमाला उत्सव मनानेको गई। मार्गमें जाते हुए जीवकने देखा कि कुछ ब्राह्मणोंने एक कुत्तेको इसलिए मार डाला है कि उनका भोजन इस कुत्तेने छूलिया था। जब उसने कुत्तेको मरते हुए देखा, तब उसने उस दीन पशुको सहायता पहुँचानेका प्रयत्न किया और उसके कानमें पंचनमस्कार मंत्र सुनाया, ताकि उस पशुका आगामी जीवन विशेष उज्ज्वल हो। तदनुसार वह श्वान मरकर देवलोकमें सुदञ्जण नामका देव हुआ। वह सुदञ्जणदेव तत्काल ही जीवकके पास अपनी कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिये आया और उसकी सेवा करनेके लिये अपनी इच्छा व्यक्त की। किन्तु जीवकने यह कहकर उसे लौटा दिया कि जब मुझे आवश्यकता होगी, तब मैं तुम्हें बुलालूंगा। ज्योंही उसने देवको विदा किया, उसे एक भयंकर दृश्य दिखाई पड़ा। राजाका हाथी अपने स्थानसे भाग निकला और वसन्तोत्सव मनाकर उद्यानसे अपने अपने घरोंको वापिस जाते हुए लोगोंकी ओर दौड़ा। इतनेमें ही उसने अपनी सेविकाओं सहित गुणमालाको घरकी तरफ जाते हुए देखा। उस उन्मत्त गजको देखकर वे सबकी सब घबरा गई थीं। जीवक उनकी सहायताको दौड़ पड़ा और उसने राजाके हाथीको वशमें कर लिया और उसे उसके स्थानपर शान्तिके साथ पहुँचवा दिया। इस प्रकार उसने गुणमाला और उसकी सखियोंके लिए मार्ग साफ़ कर दिया। जब गुणमालाने सुन्दर कुमारको देखा, तब वह उसपर आसक्त हो गई। यह बात उसके माता पिताको विदित हुई, उन्होंने जीवकके साथ गुणमालाके विवाहका निश्चय किया और वह सविधि सम्पन्न हुआ। किन्तु कत्तियंगारन् नरेशको जब राजकीय हाथीको दण्डित करनेकी बात विदित हुई, तब उसने अपने साले मदनन्के साथ अपने पुत्रोंको इस श्रेष्ठिपुत्र जीवकको लानेके लिये भेजा। कुछ सैनिकोंके साथ वे कंदुक्कदन्के भवनके समीप पहुँचे और उन्होंने उसे घेर लिया। यद्यपि जीवक उनसे युद्ध करना चाहता था, किंतु उसे गुरुको दिया गया अपना वचन स्मरण हो आया कि वह एक वर्ष पर्यन्त चुप रहेगा और इससे वह आत्मरक्षा करनेमें असमर्थ रहा। इस प्रकारके संकटमें उसने अपने मित्र सुदञ्जणदेवको स्मरण किया, जिसने तत्काल ही आँधी और वर्षा द्वारा उसके शत्रुओंमें गड़बड़ी पैदा करदी। इस गड़बड़ीकी अवस्थामें सुदञ्जणदेव उसे उठाकर अपने स्थानपर लेगया। अपनी घबराहटमें जीवकको न पाकर राजकर्मचारियोंने किसी दूसरेके प्राण ले लिए और यह बात राजाको बताई कि वे जीवकको जीवित नहीं ला सके, कारण तूफ़ानके द्वारा बहुत गड़बड़ी मच गई थी, अतएव उन्हें उसको मार डालना पड़ा। इस परिणामको ज्ञातकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें खूब पुरस्कार प्रदान किया।

महात्मा गाँधीके धर्मसम्बन्धी विचार

(सं० क०—डा० भैयालाल जैन)

मेरा विश्वास है कि बिना धर्मका जीवन, बिना सिद्धान्त का जीवन है; और बिना सिद्धान्तका जीवन वैसा ही है जैसा कि बिना पतवारका जहाज़। जिस तरह बिना पतवारका जहाज़ इधरसे उधर मारा-मारा फिरेगा और कभी उद्दिष्ट स्थान तक नहीं पहुँचेगा, उसी प्रकार धर्महीन मनुष्य भी संसार-सागरमें इधरसे उधर मारा-मारा फिरेगा और कभी अपने उद्दिष्ट स्थान तक नहीं पहुँचेगा।

मैंने जीवनका एक सिद्धान्त निश्चित किया है। वह सिद्धान्त यह है कि किसी मनुष्यका, चाहे वह कितना ही महान् क्यों न हो, कोई काम तब तक कभी सफल और लाफदायक नहीं होगा जब तक उस कामको किसी प्रकारका धार्मिक आश्रय न होगा।

जहाँ धर्म्म नहीं वहाँ विद्या नहीं, लक्ष्मी नहीं और आरोग्य भी नहीं। धर्मरहित स्थितिमें पूरी शुष्कता है, सर्वथैव शून्यता है। इस धर्म-शिक्षाको हम खो बैठे हैं। हमारी शिक्षा-पद्धतिमें उसका स्थान ही नहीं है। यह बात वैसी ही है जैसी बिना वरकी बरात। धर्मको जाने बिना विद्यार्थी किस प्रकार निर्दोष आनन्द प्राप्त कर सकते हैं? यह आनन्द पानेके लिए, शास्त्रका अध्ययन उसका मनन अथवा विचार और अनन्तर उस विचारके अनुसार आचरण करनेकी आवश्यकता है।

यदि देश-हितका भाव दृढ धार्मिकतासे जाग्रत हो तो वह देश-हितका भाव भली भाँति चमक उठेगा।

हमने धर्मकी पकड़ छोड़ दी। वर्तमान युगके ववण्डरमें हमारी समाज-नाव पडी हुई है। कोई लंगर नहीं रहा, इसी लिए इस समय इधर-उधरके प्रवाहमें बह रही है।

सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और 'अहिंसा परमो धर्मः' से बढ़कर कोई आचार नहीं है।

जो अहिंसाधर्मका पूरा पूरा पालन करता है उसके चरणोंपर सारा संसार आ गिरता है। आस-पासके जीवोंपर भी उसका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि साँप और दूसरे ज़हरीले जानवर भी उसे कोई हानि नहीं पहुँचाते।

जहाँ सत्य है और जहाँ धर्म है, केवल वहीं विजय भी है। सत्यकी कभी हत्या नहीं हो सकती।

सत्य और अहिंसा ही हमारे ध्येय हैं। 'अहिंसा परमो-धर्मः' से भारी शोध दुनियामें दूसरी नहीं है। जिस धर्ममें जितनी ही कम हिंसा है, समझना चाहिए कि उस धर्ममें उतना ही अधिक सत्य है। हम यदि भारतका उद्धार कर सकते हैं तो सत्य और अहिंसा ही से कर सकते हैं।
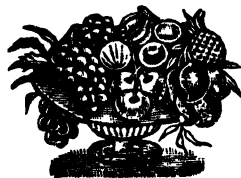
गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, उसका कर्तृत्व और समय[1]

(मूल लेखक—प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट०)

[अनुवादक—पं० शंकरलाल जैन न्यायतीर्थ]
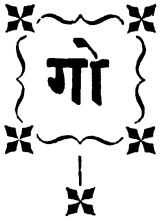
गोम्मटसार पर अब तक दो टीकाएँ प्रकाशमें आई हैं, जिनमें पहली 'मन्दप्रबोधिका' और दूसरी 'जीवतत्त्व प्रदीपिका' है; और वे दोनों टीकाएँ गोम्मटसारके कलकत्ता संस्करण[2] में पं० टोडरमल्लकी हिन्दी टीका 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' के साथ प्रकाशित हो चुकी हैं। कलकत्ता संस्करणमें मन्दप्रबोधिका जीवाकाण्डकी गाथा नं० ३८३ तक दी गई है, यद्यपि सम्पादकों[3] ने अपने कतिपय फुटनोटोंमें इस बातको प्रकट किया है कि उनके पास (टीकाका) कुछ और अंश भी है। मन्दप्रबोधिकाके कर्ता अभयचन्द्र हैं और यह बात अभी तक अनिर्णीत है कि अभयचन्द्रने अपनी टीकाको पूरा किया या उसे अधूरा छोड़ा। इस लेखमें मैं जीवतत्त्वप्रदीपिकाके कुछ विवरण देनेके साथ साथ उसके कर्तृत्व और समयसम्बन्धी प्रश्नपर विचार करना चाहता हूँ।

वर्तमानमें केवल जी० प्रदीपिका ही गोम्मटसार पर उपलब्ध होने वाली पूरी और विस्तृत संस्कृत टीका है। वस्तुतः गोम्मटसारके अध्ययनके यथेष्ट प्रचारका श्रेय जीवतत्त्वप्रदीपिकाको प्राप्त है। गोम्मटसार[4] के हिन्दी, अंग्रेज़ी और मराठीके सभी आधुनिक अनुवाद पं० टोडरमल्लकी हिन्दी-टीका 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिकाके आधार पर हैं, और इस टीकामें मात्र उस सब विषयको परिश्रमके साथ स्पष्ट किया गया है जो कि जी०प्रदीपिकामें दिया हुआ है। जी०प्रदीपिका के बहुतसे विवरण मंदप्रबोधिकाके अनुसार हैं। मं० प्रबोधिका के अधिकांश पारिभाषिक विवरणोंको जी०प्रदीपिकामें पूरी तरह से अपनालिया गया है; कभी कभी अभयचन्द्र[5] का नाम भी साथमें उल्लेखित किया गया है; जी०प्रदीपिकामें प्रत्येक अध्यायके प्रारम्भिक संस्कृत पद्योंको उन्हीं पद्योंके सांचे में ढाला गया है जो मं०प्रबोधिकामें पाये जाते हैं; और जीवाकाण्ड[6] की गाथा नं० ३८३ की टीकामें तो यह स्पष्ट ही कह दिया गया है कि इसके बादसे जी० प्रदीपिकामें केवल कर्णाटवृत्तिका अनुसरण किया जायगा; क्योंकि अभयचन्द्र द्वारा लिखित टीका यहां पर समाप्त हो गई है। जैसा कि मैंने सरसरी तौरसे पढ़ने पर नोट किया है, जी०

---

[1] यह निबन्ध बम्बई यूनिवर्सिटीकी Springer Research Scholarship की मेरी अवधिके मध्यमें तय्यार किया गया है।

[2] गाँधी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला, ४ कलकत्ता; इसको इस लेखमें कलकत्तासंस्करणके तौर पर उल्लेखित किया गया है।

[3] देखो, कर्मकाण्ड कलकत्तासंस्करणके पृष्ठ ६१५,८९८, १०३८ आदि।

[4] गोम्मटसारके विभिन्न संस्करणोंके लिये, देखो मेरा लेख 'गोम्मट शब्दके अर्थविचार पर सामग्री' I H Q., Vol. XVI, Poussin Number

[5] देखो, जीवाकाण्डकी १३वीं गाथाकी टीका, जो आगे उद्धृत की गई है।

[6] गाथाओंके नम्बर कलकत्तासंस्करणके अनुसार दिये गये हैं।

प्रदीपिकामें प्राकृतके दो निष्कर्षों[७] और कुछ गद्यसूत्रादिके अतिरिक्त, संस्कृत और प्राकृतके लगभग एकसौ पद्य[८] उद्धृत किये गये हैं। उनमेंसे अधिकांशके मूल स्रोतोंका पता लग सकता है, परन्तु टीकामें उन्हें बिना किसी नाम निर्देशके ही उद्धृत किया गया है। जी० प्रदीपिकामें यतिवृषभ, भूतबलि, समन्तभद्र, भट्टाकलंक, नेमिचन्द्र, माधवचन्द्र,[९] अभयचन्द्र और केशववर्णी जैसे कुछ ग्रन्थकारों[१०] का नामोल्लेखादि किया गया है और आचारांग, तत्त्वार्थविवरण, (प्रमेयकमल) मार्तण्ड जैसे कुछ ग्रन्थों[११] का उल्लेख भी किया गया है। ब्यौरेवार वर्णनों और श्रमपूर्वक तय्यार किये गये नकशों तथा सूचिपत्रोंके कारण जी०प्रदीपिका उन अनेक विषयोंकी जानकारी प्राप्त करनेका एक बहुमूल्य साधन है, जो गोम्मटसार में सुझाये गये और विचार किये गये हैं।

जी० प्रदीपिका कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है; वास्तव में इसका प्रारम्भिक पद्य हमें स्पष्ट बतलाता है कि यह कर्णाटवृत्तिपरसे (साधन सामग्री लेकर) लिखी गई है, जिसका परिचय हम आगे चलकर मालूम करेंगे, इसमें मं० प्रबोधिकाका पूरा पूरा उपयोग किया गया है और जैसे ही मं० प्रबोधिका समाप्त हुई है जी०प्रदीपिका साफ तौर पर घोषणा करती है कि इसके आगे वह कर्णाटवृत्तिका अनुसरण करेगी—

श्रीमदभयचन्द्रसैद्धान्तचक्रवर्तिविहितव्याख्यानं विश्रान्तमिति कर्णाटवृत्त्यनुरूपमयमनुवदति[१२]।

संस्कृत जी०प्रदीपिकाका कर्तृत्वविषय प्रायः एक पहेली बना हुआ है। पं० टोडरमल्ल[१३]जीकी निम्न चौपाई यह बतानेके लिये पर्याप्त है कि वे जी०प्रदीपिकाको केशववर्णीकी कृति समझते थे।

> केशववर्णी भव्यविचार कर्णाटक टीका अनुसार।
> संस्कृत टीका कीनी एहु जो अशुद्ध सो शुद्ध करोहु॥

उनकी 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' में अन्यत्र भी ऐसे उल्लेख हैं जो इसी बातका निर्देश करते हैं। अनेक विद्वान, जिन्हें गोम्मटसारके सम्बन्धमें लिखनेका अवसर प्राप्त हुआ है, इस विचारको स्वीकृत एवं व्यक्त करचुके हैं। पं० खूबचन्द्रजी[१४] केवल इतना ही नहीं कहते कि संस्कृत जी०प्रदीपिका केशववर्णीकी कृति है, बल्कि एक कदम और आगे बढ़ते हैं और यह लिखते हैं कि जी० प्रदीपिकामें जिस कर्णाटकवृत्तिका उल्लेख है वह चामुण्डरायकी वह वृत्ति है, जिसका उल्लेख गो०सार - कर्मकाण्डकी गाथा नं० ९७२ में 'वीर

---

७ जीवकाण्ड, कलकत्तासंस्करण, पृष्ठ ६१, ११८०। मुझे प्रो० हीरालालाजीसे मालूम हुआ है कि १०८० पृष्ठ पर का प्राकृत उद्धरण 'धवला' में मिलता है।

८ कलकत्तासंस्करण, जीवकाण्ड पृष्ठ २, ३, ४२, ५१, १८२, १८५, २८४, २८६, २६०, ३४१, ३८२, ३६१, ५२३, ६८७, ६८८, ७३१, ७६०, ७६५, ८८१, ८८४, ६५१, ६६५, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, १००६, १००६, १०१७, १०२२, १०२४, १०३३, १०६७, ११४७, ११५५, ११६१, ११६७: कर्मकाण्ड पृ० ३०, ५०, ७०८, ७१७, ७१८, ७२६, ७४२, ७४४, ७५३, ७८८, आदि।

९ माधवचन्द्रने गोम्मटसारमें कुछ पूरक गाथायें शामिल की हैं, इसलिये उनका इतना अधिक उल्लेख हुआ है।

१० जीवकाण्ड, कलकत्तासंस्करण पृ० ६१६, ७६५, ६६३, ६४८, १७८, ३६, ७५२, आदि।

११ जीवकाण्ड, कलकत्तासंस्करण पृ० ७६०, ६६०, ६४६।

१२ जीवकाण्ड, कलकत्तासंस्करण पृ० ८१२।

१३ जीवकाण्ड, कलकत्तासंस्करण, पृष्ठ १३२६, अन्यप्रकरणों में भी उन्होने यह उल्लेख किया है, देखो जीवकाण्ड पृष्ठ ७५६ और कर्मकाण्ड पृष्ठ २०६६

१४ 'गोम्मटसार', कर्मकाण्ड, रायचन्द्र-जैन-शास्त्रमाला (बम्बई १६२८) भूमिका पृष्ठ ५

मार्तण्डी' नामसे किया गया है। पं० मनोहरलाल[15] प्रो० घोषाल[16] मिस्टर जे० एल० जैनी,[17] श्रीमान् गांधी[18] और अन्य लोगोंने भी इसी प्रकारकी सम्मतियां प्रकट की हैं। गो० सारके कलकत्तासंस्करणके सम्पादक ग्रन्थके मुखपृष्ठ पर जी० प्रदीपिकाको केशववर्णीकी प्रकट करते हैं।

इस प्रकार पं० टोडरमल्लजी और उनके उत्तराधिकारियोंने, बिना किसी सन्देहके, यह सम्मति स्थिरकी है कि संस्कृत जी०प्रदीपिका का कर्ता केशववर्णी है। सम्भवतः निम्न पद्य, जैसाकि कलकत्तासंस्करण[19] में मुद्रित हुआ है, उनकी सम्मतिका अंतिम आधार है:—

श्रित्वा कार्णाटिकीं वृत्तिं, वर्णिश्रीकेशवैः कृतिः।
कृतेयमन्यथा किंचित् विशोध्यंतद्बहुश्रुतैः॥

यह पद्य जिसरूपमें स्थित है उसका केवल एक ही आशय सम्भव है; और हम सहज ही में पं० टोडरमल्ल और उनके अनुयायिओंकी सम्मतिको समझ सकते हैं। परन्तु इस पद्यका पाठ सर्वथा प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि जी० प्रदीपिकाकी कुछ प्रतियां ऐसी हैं जिनमें बिलकुल भिन्न पाठान्तर मिलता है। श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बई[20] की, जी०प्रदीपिका सहित गोम्मटसारकी एक लिखित प्रतिपर से हमें निम्न पद्य उपलब्ध होते हैं।

श्रित्वा कर्णाटिकीं वृत्तिं वर्णिश्रीकेशवैः कृताम्।
कृतेयमन्यथा किंचित्तद्विशोध्यं बहुश्रुतैः॥

श्रीमत्केशवचन्द्रस्य कृतकर्णाटवृत्तितः।
कृतेयमन्यथा किंचिच्चेत्तच्छोध्यं बहुश्रुतः॥

मालूम नहीं लगभग एक ही आशयके ये दो पद्य क्यों दिये गये हैं और इन्हें देते हुए रिपोर्टके सम्पादकने जो परिचयके रूपमें 'पाठान्तरम्' पदका प्रयोग किया है उसका क्या अभिप्राय है। पं० टोडरमल्ल द्वारा दिये गये पद्यके साथ पहले पद्यकी तुलना करने पर, हमें ध्यान खींचने योग्य भेद उपलब्ध होता है, और इन दोनों पद्योंसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि जी० प्रदीपिकाके लेखकने इनमें अपना नाम नहीं दिया, उसने अपनी टीका केशववर्णीकी कर्णाटवृत्ति पर से लिखी है और साथ ही यह आशा व्यक्त की है कि उसकी टीकामें यदि कुछ अशुद्धियां हों तो बहुश्रुत विद्वान उन्हें शुद्ध करदेनेकी कृपा करें।

उस प्रमाण (साक्षी) को जिसके आधारपर केशववर्णीको संस्कृत जी० प्रदीपिकाका कर्ता मान लिया गया है, पद्यके पाठान्तरोंने वास्तवमें बिगाड़ दिया है। यह दिखानेके लिये कि केशववर्णी संस्कृत जी० प्रदीपिकाका कर्ता है, दूसरा कोई भी प्रमाण भीतरी या बाहिरी उपस्थित नहीं किया गया, और यह तो बिलकुल ही साबित नहीं किया गया कि यह टीका चामुण्डरायकी कर्णाटकवृत्तिके आधार पर बनी है। यह सच है कि गोम्मटसारसे हमें इस बातका पता चलता है कि चामुण्डरायने गो० सार पर एक देशी (जोकि कर्णाटकवृत्ति समझी जाती है) लिखी है। जी०प्रदीपिकामें केवल एक कर्णाटवृत्तिका उल्लेख मिलता है और उसमें चामुण्डराय के सम्बन्धका कोई भी उल्लेख नहीं है, न चामुण्डरायवृत्ति की कोई हस्तलिखित प्रति ही प्रकाश[21] में आई है और न यह सिद्ध होनेकी कोई सम्भावना है कि संस्कृत जी० प्रदीपिका चामुण्डरायकी टीकाका अनुसरण करती है। इस

[15] गोम्मटसार जीवकाण्ड (बम्बई १९१६) भूमिका।
[16] द्रव्यसंग्रह: (S. B. J. I, आरा १९१७), भूमिका पृष्ठ ४१।
[17] गोम्मटसार, जीवकाण्ड (S. B. J. V लखनऊ १९२७) भूमिका पृष्ठ ७
[18] गोम्मटसार मराठी अनुवाद सहित, शोलापुर १९३९, भूमिका पृष्ठ १
[19] जीवकाण्ड, पृष्ठ १३२९।
[20] रिपोर्ट १, वीरसम्वत् २४४९, पृष्ठ १०४–६।
[21] आर० नरसिंहाचार्यकृत 'कर्णाटककविचरिते', जिल्द १ पृष्ठ ४६–४९

परिस्थितियोंमें, यह दिखानेके लिये कि केशववर्णी संस्कृत जी० प्रदीपिकाका कर्ता है, कथित प्रमाण बाधित ठहरता है और अभी तक यह कहनेके लिये कोई भी प्रमाण नहीं है कि यह जी० प्रदीपिका चामुण्डरायकी वृत्ति का अनुसरण करती है।

अब हमें यह देखना है कि संस्कृत जी० प्रदीपिकाका कर्ता कौन है और वह कौनसी कर्णाटकवृत्तिका अनुसरण करता है। मैं दो प्रशस्तियोंके प्रसंगोचित अंशोंको नीचे उद्धृत करता हूं, जिनमेंसे एक पद्यमें और दूसरी कुछ गद्यमें और कुछ पद्यमें हैं। ये दोनों प्रशस्तियां गो०सारके कलकत्ता संस्करण के अन्तमें (पृष्ठ २०१७—८) मुद्रित हुई हैं।

(१) यत्र रत्नैस्त्रिभिर्लब्ध्वार्हन्त्यं पूज्यं नरामरैः।
निर्वान्ति मूलसंघोऽयं नन्द्यादाचन्द्रतारकम् ॥४॥
तत्र श्रीशारदागच्छे बलात्करगणोऽन्वयः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रस्य नन्द्याम्नायोऽपि नन्दतु ॥५॥
यो गुणैर्गणभृद्गीतो भट्टारकशिरोमणिः।
भक्त्या नमामि तं भूयो गुरुं श्रीज्ञानभूषणम् ॥६॥
कर्णाटप्रायदेशेशमल्लिभूपालभक्तितः।
सिद्धान्तः पाठितो येन मुनिचन्द्रं नमामि तं ॥७॥
योऽभ्यर्थ्य धर्मवृद्ध्यर्थं मह्यं सूरिपदं ददौ।
भट्टारकशिरोरत्नं प्रभेन्दुः स नमस्यते ॥८॥
त्रिविद्यविद्याविख्यातविशालकीर्तिसूरिणा।
सहायोऽस्यां कृतौ चक्रेऽधीता च प्रथमं मुदा ॥९॥
सूरेः श्रीधर्मचन्द्रस्याभयचन्द्रगणेशिनः।
वर्णिलालादिभव्यानां कृते कर्णाटवृत्तितः ॥१०॥
रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्वालयेऽमुना।
साधुसांगासहेसाभ्यां प्रार्थितेन मुमुक्षुणा ॥११॥
गोम्मटसारवृत्तिर्हि नन्द्याद् भव्यैः प्रवातता।
शोधयन्त्वागमात्किंचिन् विरुद्धं चेद बहुश्रुताः ॥१२॥
निर्ग्रन्थाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना।
संशोध्याभयचन्द्रेणालेखि प्रथमपुस्तकः ॥१३॥[२२]
यमाराध्यैव भव्यौघाः प्राप्ताः कैवल्यसंपदः।
शश्वतं पदमाप्तुं मूलसंघमुपाश्रये ॥१०॥
तत्र श्रीशारदागच्छे बलात्कारगणो न्वयः।
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रस्य नन्द्यादाचन्द्रतारकम् ॥११॥

तत्र श्रीमज्जिनधर्माम्बुधिवर्धन - पूर्णचन्द्रायमानश्रीज्ञानभूषणभट्टारशिष्येण सौगतसांख्यकणादभिक्षपादप्रभाकरादिपरवादिगजगण्डभेरुण्ड प्रभाचन्द्र भट्टारकदत्ताचार्यपदेन त्रैविद्यविद्यापरमेश्वरमुनिचन्द्राचार्यमुखात्कर्णाटदेशाधिनाथप्राज्यसाम्राज्यलक्ष्मीनिवासजनोत्तममल्लिभूपालप्रयत्नाद् अधीतसिद्धान्तेन वर्णिलालाविहिताग्रहाद्गौर्जरदेशाच्चित्रकूटजिनदाससाहनिर्मापितपार्श्वप्रभुप्रासादाधिष्ठितेनामुना नेमिचन्द्रेणाल्पमेधसाऽपि भव्यपुण्डरीकोपकृतीहानुरोधेन सकलज्ञातिशिरःशेखरायमाणखण्डेल्लवालवंशतिलकसाधुवंशावतंसजिनधर्मोद्धरणधुरीणसाहसांगासाहसहसाविहितप्रार्थनाधीनेन विशदत्रैविद्यविद्यास्पदविशालकीर्तिसहायादियं यथाकर्णाटवृत्तिव्यरचि।

यावच्छ्रीजिनधर्मश्चन्द्रादित्यौ च विष्टपं सिद्धाः।
तावन्नन्दतु भव्यैः प्रपठ्यमानात्वियं वृत्तिः ॥
निर्ग्रन्थाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना।
संशोध्याभयचन्द्रेणालेखि प्रथमपुस्तकः ॥

इत्यभयनन्दिनामाकिंतायाम्।

इन दोनों प्रशस्तियोंपर से वृत्तमात्रका संक्षेपमें संग्रह करते हुए, हमें जी० प्रदीपिकाके कृतृत्वविषयमें निम्न बातें मालूम होती हैं; और उनका ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन की हस्तलिखित प्रतिसे समर्थन भी होता है :—

संस्कृत जी० प्रदीपिकाके कर्ता मूलसंघ, शारदागच्छ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्द अन्वय और नन्दि आम्नाय के नेमिचन्द्र[२३] हैं। वे ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य थे। उन्हें प्रभाचन्द्र भट्टारकके द्वारा, जोकि सफल वादी तार्किक थे, सूरि बनाया गया अथवा आचार्यपद प्रदान किया गया था। कर्णाटकके जैनराजा मल्लिभूपालके प्रयत्नोंके फलस्वरूप उन्होंने मुनिचन्द्रसे, जोकि 'त्रैविद्यविद्यापरमेश्वर' के पदसे

---

२२ ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी लिखित प्रति परसे उद्धृतभाग, कुछ छोटे छोटे भेद दिखलाता है।

२३ पद्यात्मक प्रशस्ति उत्तमपुरुषमें लिखी गई है, इससे यह नामोल्लेख नहीं हुआ है।

विभूषित थे, सिद्धान्तका अध्ययन किया था। लालावर्णीके आग्रहसे वे गौर्जर देशसे आकर चित्रकूटमें जिनदासशाह द्वारा निर्मापित पार्श्वनाथके मन्दिरमें ठहरे थे। धर्मचन्द्र, अभयचन्द्र और अन्य सज्जनोंके हितके लिये, खण्डेलवालवंशके साह-सांग और साह सहेस[२४] की प्रार्थनापर उन्होंने अपनी संस्कृत जी०प्रदीपिका नामक टीका कर्णाटक वृत्तिका अनुसरण करते हुए, त्रैविद्यविद्याविशालकीर्तिकी सहायतासे लिखी। हमें बताया गया है कि प्रथम प्रति अभयचन्द्रने, जोकि निर्ग्रन्थाचार्य और त्रैविद्यचक्रवर्ती कहलाते थे, तय्यार की थी।

पद्यात्मक प्रशस्ति गद्यप्रशस्तिसे सभी मौलिकबातोंमें सहमत है, किन्तु यह कर्ताका नाम, अर्थात नेमिचन्द्र, निर्देश नहीं करती, जोकि गद्यप्रशस्तिमें स्पष्टरूपमें दिया गया है। तफसीलकी बातोंमें पूर्ण सादृश्य होने और कोई स्पष्ट विरोध न होनेसे हर एकको यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रशस्तियोंके अनुसार नेमीचन्द्र ही जी० प्रदीपिकाका कर्ता है।

दूसरे, गोम्मटसारके अनेक अधिकारोंकी समाप्तिपर जी० प्रदीपिकाकी सन्धियां इस प्रकार पाई जाती हैं —

इत्याचार्यश्रीनेमिचन्द्रविरचितायां गोम्मटसारापरनाम पंचसंग्रहवृत्तौ जीवतत्त्वप्रदीपिकायां आदि।

स्वभावतः 'विरचितायां' पद 'जीवतत्त्व प्रदीपिकायां' पद का विशेषण है; और इस तरहसे भी हम जी० प्रदीपिकाके कर्तृत्वका सम्बन्ध आचार्य नेमिचन्द्रसे लगाएँगे।

तीसरे, 'आचार्यश्रीनेमिचन्द्रविरचितायां' इस वाक्यांश का सम्बन्ध गोम्मटसारके साथ नहीं हो सकता। ये आचार्य नेमिचन्द्र, गो० सारके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती से भिन्न होने चाहियें। जी० प्रदीपिकामें अनेक स्थलोंपर गो० सारके रचयिता का उल्लेख है और उनका वह उल्लेख प्रायः आवश्यकरूपमें उनकी प्रसिद्ध उपाधि सिद्धान्तचक्रवर्ती[२५] के साथ किया गया है।

चौथे, ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन की रिपोर्टके सम्पादकने, साफ़तौरपर जी० प्रदीपिकाका सम्बन्ध, सम्भवतः उसकी सन्धियोंके आधारपर, नेमिचन्द्रसे ठहराया है।

पांचवें, पं० नाथूरामजी प्रेमी[२६] ने, गो० सार टीकाके कर्ता ज्ञानभूषण हैं इस सम्मतिका विरोध करते हुए, यह प्रकट किया है कि उसके लेखक नेमिचंद्र हैं, और उन विवरणोंसे, जोकि उन्होंने प्रस्तुत किये हैं, यह स्पष्ट है कि उनकी दृष्टिमें जी० प्रदीपिका और उसका कर्ता रहा है।

अन्तको, पद्यात्मक प्रशस्तिमें नेमिचंद्र—विषयक उल्लेख का अभाव किसी बातको निश्चितरूपसे सिद्ध नहीं करता, और न यह कल्पनाकी किसी खींचातानीसे केशववर्णी द्वारा जी० प्रदीपिकाके कथित कर्तृत्वका समर्थन ही कर सकता है। हम केशववर्णिविषयक कुछ बातोंको जानते हैं और वे प्रशस्तियोंमें दीगई बातोंके साथ मेल नहीं खातीं। इस प्रकार केशववर्णीको जी० प्रदीपिकाका रचियता बतलाने वाला कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं है, प्रत्युत इसके, उपर्युक्त मुद्दे निश्चितरूपमें बतलाते हैं कि जी० प्रदीपिकाके कर्ता नेमिचंद्र हैं, और उनको गोम्मटसार[२७]के कर्ताके साथ नहीं मिलाना चाहिये।

रही यह बात कि जी० प्रदीपिकाने कर्णाटकवृत्तिका अनुसरण किया है, इसके सम्बन्धमें ऊपर उद्धृत किये गये दो पद्य निश्चितरूपसे बतलाते हैं कि केशववर्णीकी वृत्तिका अनुसरण किया गया है। इस वृत्तिकी लिखित प्रतियाँ आज

[२४] दोनों प्रशस्तियोंमें इन नामोंके कुछ भिन्न पाठभेद दिखाई देते हैं।

[२५] उदाहरणके लिए देखो, जीवकाण्ड पृ० ६४८ कर्मकाण्ड पृष्ठ ६०० कलकत्ता संस्करण

[२६] सिद्धान्तादि संग्रहः (माणिकचन्द दि० जैनग्रन्थमाला २१ बम्बई १९१२) प्रस्तावना पृष्ठ १२ का फुटनोट।

[२७] इस नामकी अर्थ व्याख्याके लिए देखो, मेरा 'गोम्मट' शीर्षक लेख जो 'भारतीय विद्या' बम्बई, जिल्द २ में प्रकाशित हुआ है।

भी उपलभ्य हैं। मैंने कोल्हापुरके लक्ष्मीसेनमठकी जीवकांड की इस वृत्तिकी एक लिखित प्रतिकी परीक्षा की है[२८]। इस कन्नडवृत्तिका नाम भी 'जीवतत्त्व प्रदीपिका' है, और यह संस्कृत जी० प्रदीपिकासे कुछ बड़ी है। यह बहुतसे कन्नड पद्योंसे प्रारम्भ होती है, जिन्हें स्वयं लेखकने रचा है। जिस तरह 'धवला' की रचना कुछ प्राकृतमें और कुछ संस्कृतमें हुई है उसी तरह यह वृत्ति कुछ कन्नडमें और कुछ संस्कृतमें है (जो कि मणिप्रवाल शैलीके तौरपर समझी जाती है), ख़ासकर अपने प्रारम्भ में। इसमें स्थल-स्थलपर बहुतसे प्राकृत उद्धरण पाये जाते हैं। गो०सारकी गाथाएँ संस्कृतछाया सहित दीगई हैं और शब्दशास्त्र सम्बन्धी अनेक चर्चाएँ संस्कृतमें हैं।

केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य थे, और उन्होंने अपनी वृत्ति धर्मभूषण भट्टारकके आदेशानुसार शक सम्वत् १२८१ या ईस्वी सन् १३५९[२९] में लिखी है।

मैंने केशववर्णीकी वृत्तिकी तुलना अभयचंद्रकी मं०प्रबोधिकासेकी है और उसपरसे मुझे यह अनुभव हुआ है कि स्वयं केशववर्णीने अभयचंद्रकी रचनाका पूरा २ लाभ लिया है। मैं केशववर्णीकी कन्नडवृत्तिमें अभयचंद्रविषयक कमसे कम एक खास उल्लेख बतला देनेके लिये समर्थ हूँ[३०]।

नेमिचंद्रकृत संस्कृत जी० प्रदीपिकाकी केशववर्णीकृत कन्नड जी० प्रदीपिकाके साथ तुलना करनेपर मुझे मालूम हुआ है कि पहली बिलकुल दूसरीके आधारपर बनी है। नेमिचंद्रने कुछ अंशोंको जहां तहां छोड़ दिया है; संस्कृत अंश अपने उसीरूपमें क़ायम रखे गये हैं; और जो कुछ कन्नडमें है उसको अक्षरशः संस्कृतमें बदल दिया है। उन गाथाओंके सम्बन्धमें जिनपर कि मं० प्रबोधिका उपलब्ध नहीं है, नेमिचंद्रकी जी० प्रदीपिकामें ऐसी कोई भी बात नहीं है, जोकि केशववर्णीकी कन्नड जी० प्रदीपिकामें उपलब्ध न होती हो; और सम्भवतः यही कारण है जिससेकि नेमिचंद्र स्पष्ट कहते हैं:—'यथा कर्णाटवृत्ति व्यरचि' अथवा 'कर्णाटवृत्तितः'।

यहांपर मैं एक ध्यान खींचने वाला सार (जीवकाण्ड गाथा नं० १३) तीनों टीकाओंपरसे उद्धृत करता हूं, जिससे उन टीकाओंका पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होजायगा।

मन्दप्रबोधिका[३१]

देशविरते प्रमत्तविरते इतरस्मिन्नप्रमत्तविरते च क्षायोपशमिकचारित्रलक्षण एव भावोवर्तते। देशविरते प्रत्याख्यानावरणकषायाणां सर्वघातिस्पर्द्धकोदयाभावलक्षणे क्षये, तेषामेव हीनानुभागरूपतया परिणतानां सदवस्थालक्षणे उपशमे च देशघातिस्पर्द्धकोदयसहिते उत्पन्नं देशसंयमरूपचारित्रं क्षायोपशमिकम्। प्रमत्तविरते तीव्रानुभागसंज्वलनकषायाणां प्रागुक्तलक्षणक्षयोपशमसमुत्पन्नसंयमरूपं प्रमादमलिनं सकलचारित्रं क्षायोपशमिकम्। अत्र संज्वलनानुभागानां प्रमादजनकत्वमेव तीव्रत्वम्। अप्रमत्तविरते मन्दानुभागसंज्वलनकषायाणां प्रागुक्तक्षयोपशमोत्पन्नसंयमरूपं निर्मलं सकलचारित्रं क्षायोपशमिकम्। तु शब्दः असंयतादिव्यवच्छेदार्थः। स खलु देशविरतादिषु प्रोक्तक्षायोपशमिकोभावः चारित्रमोहं प्रतीत्य भणितः तथा उपरि उपशमकादिषु चारित्रमोहं प्रतीत्य भणिष्यते।

केशववर्णीकृतकन्नड जी० प्रदीपिका[३२]

देशविरतनोळं[३३] प्रमत्तसंयतनोळं इतरनप्प अप्रमत्तसंयतनोळं क्षायोपशमिकसंयममक्कुं। देशसंयतापेक्षेयिंदं प्रत्याख्यानकषायंगळुदयिसल्पट्टदेशघातिस्पर्द्धकानन्तैकभागानुभागोदयदोडने उदयमनेय्ददे क्षीयमाणंगळप्पविवक्षितनिषेकंगळ सर्वघातिस्पर्द्धकंगळनंत बहुभागंगळुदयाभावल (क्षण) क्षयदोलमवरुपरितननिषेकंगळप्पनुदय प्राप्तंगळगे सदवस्थालक्षणमप्पुपशममुंटागुत्तिरलु समुद्भूतमप्पुदरिंदं चारित्रमोहमं

[२८] यह कागज़ पर लिखी हुई एक प्रति है। इसका परिमाण १२'५ × ८'५ इंच है और इसमें ३८७ पत्र हैं। प्रति लिपिका समय शक १२०६ दिया हुआ है जोकि स्पष्ट ही लिपिकारका प्रमाद है, जबकि हमें स्मरण है कि केशववर्णीने अपनी वृत्ति शक १२८१ में लिखी थी।

[२९] 'कर्णाटककविचरिते' (बेंगलौर १९२४) पृ० ४१५-१६।

[३०] देखो आगे दिया हुआ निष्कर्ष।

[३१] कलकत्तासंस्करण, पृ० ३६।

[३२] कोल्हापुरकी प्रति, पृ० १६।

[३३] यह टीका उस भाषामें लिखी गई है जो कि पुरानी कन्नड कहलाती है; जो कि कन्नड नहीं जानते, वे भी संस्कृत जी० प्रदीपिकाके साथ आसानीसे इसकी तुलना कर सकते हैं, और इसी उद्देश्यके लिये मैंने इसको देवनागरी अक्षरोंमें लिख दिया है। इसका बहुभाग कन्नड प्रत्ययोंके साथ संस्कृतमें लिखा गया है। यह होना ही चाहिये, क्योंकि लेखक विविध पारिभाषिक शब्दोंको, जो कि पूर्णतया संस्कृतके हैं, प्रयोग करनेके लिये बाध्य हुआ है।

कुरितु देशसंयममदु क्षायोपशमिकभावमेंदु पेलल्पट्टदु। अंते प्रमत्ताप्रमत्तर्गं संज्वलनकषायंगळ उदितदेशघातिस्पर्धकानंतैक-भागानुभागदाडने उदयमनेय्ददे क्षीयमाणंगळप्पविवक्षितोद-यनिषेकंगळ सर्वघातिस्पर्धकानन्तबहुभागंगळुदयाभावलक्षण-क्षयदोडमवरुपरितननिषेकंगळप्पनुदयप्राप्तंगळगे सदवस्थाल-क्षणमप्प उपशममुंटागुत्तिरलु समुत्पन्नमप्पुदरिंदं चारित्रमोहमं कुरितिदिल्लियुं सकलसंयममुं क्षायोपशमिकभावमेंदु पेलल्पट्टु-दुदेंबुदु श्रीयभयसूरिसिद्धान्तचक्रवर्तिगळभिप्रायं। अहंगेमेयु अपूर्वकरणादिगुणस्थानंगळोल् चारित्रमोहनीयमने कुरितु तत्तद्गुणस्थानंगळोलु भावंगळरियल्पडुवुवु॥

नेमिचन्द्रकी संस्कृत जी० प्रदीपिका[३४]

देशविरते प्रमत्तसंयते तु पुनः इतरस्मिन् अप्रमत्तसंयते च क्षायोपशमिकसंयमलक्षणोभावो भवति। देशसंयतापेक्षया प्रत्याख्यानावरणकषायाणां उदयागतदेशघातिस्पर्धकानन्तबहु-भागानुभागोदयेन सहानुदयागतक्षीयमाणविवक्षितोदयनिषे-कसर्वघातिस्पर्धकानन्तबहुभागानामुदयाभावलक्षणक्षये तेषामु-परितननिषेकाणां अनुदयप्राप्तानां सदवस्थालक्षणोपशमे च सति समुद्भूतत्वात् चारित्रमोहं प्रतीत्य देशसंयमः क्षायोपशमि-कभाव इत्युक्तम्। तथा प्रमत्ताप्रमत्तयोरपि संज्वलनकषायाणा-मुदयागतदेशघातिस्पर्धकानन्तैकभागानुभागेन सह अनुदयाग-तक्षीयमाणविवक्षितोदयनिषेकसर्वघातिस्पर्धकानन्तबहुभागानां उदयाभावलक्षणक्षये तेषां उपरितननिषेकाणां अनुदयप्राप्तानां सदवस्थालक्षोपशमे च सति समुत्पन्नत्वात्चारित्रमोहं प्रतीत्या-त्रापि सकलसंयमोऽपि क्षायोपशमिकोभाव इति भणितं इति श्रीमदभयचन्द्रसूरिसिद्धान्तचक्रवर्त्यभिप्रायः। तथा उपर्यपि अपूर्वकरणादिगुणस्थानेषु चारित्रमोहनीयं प्रतीत्य तत्तद्गुण-स्थानेषु भावा ज्ञातव्याः॥

इन सारसंग्रहोंसे यह स्पष्ट है कि नेमिचन्द्रने केशववर्णी का कितना गाढ अनुसरण किया है, केशववर्णीकी कनडशैली संस्कृत शब्दोंसे कैसी भरपूर है और वह कितनी सरलतासे संस्कृतमें अनुवादित कीजासकती है, और किस प्रकार केशव-वर्णी तथा नेमिचन्द्र दोनों ही ने अभयचन्द्रका उल्लेख किया है

रही इन टीकाओंके समयकी बात, मं० प्रबोधिका ईस्वी सन् १३५९ से, जबकि केशववर्णीने अपनीवृत्ति समाप्त की थी, पहलेकी रचना है। अभयचन्द्रने अपनी मं० प्रबोधिकामें एक बालचन्द्र पंडितदेव[३५] का उल्लेख किया है जिन्हें मैं वेही बालेन्दु पंडित समझता हूं जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोलके ईस्वी सन् १३१३ के एक शिलालेख[३६] में हुआ है; और यदि यह बात मानली जाय तो हम उस समयको लगभग पचास वर्ष पीछे लेजानेमें समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त उनकी पदवियों—उपाधियों और छोटे २ वर्णनोंसे, जोकि उनमें दिये हुए हैं, मुझे मालूम हुआ है कि हमारे अभयचन्द्र और बाल-चंद्र, सभी सम्भावनाओंको लेकर वेही हैं जिनकी कि प्रशंसा बेलूर शिलालेखों[३७]में कीगई है और जो हमें बतलाते हैं कि अभयचंद्रका स्वर्गवास ईस्वी सन् १२७९ में और बालचंद्रका ईस्वी सन् १२७४ में हुआ था। इस प्रकार हम परीक्षापूर्वक अभयचंद्रकी मं० प्रबोधिकाका समय ईस्वी सन् की १३वीं शताब्दीका तीसरा चरण स्थिर कर सकते हैं।

नेमिचंद्रने उस वर्षका, जिसमें उन्होंने अपनी जी० प्रदी-पिकाको समाप्त किया, कोई उल्लेख नहीं किया। चूँकि उन्होंने केशववर्णीकी वृत्तिका गाढ अनुकरण किया है, इस लिये उनकी जी० प्रदीपिका ईस्वी सन् १३५९ के बादकी है और साथ ही यह सम्वत् १८१८ या ईस्वी सन् १७६१ से पहलेकी है; क्योंकि इस सालमें पं० टोडरमल्लजीने संस्कृत जी० प्रदीपिका[३८] का अपना हिन्दीअनुवाद पूर्ण किया है। यह काल अभीतक एक लम्बा चौड़ा फैला हुआ काल है, और हमें देखना चाहिये कि ये दोनों सीमाएँ कहांपर अधिक निकट लाई जासकती हैं। नेमिचंद्रने ज्ञानभूषण, मुनिचंद्र, प्रभाचंद्र, विशालकीर्ति आदि अपने समकालीन बहुतसे व्यक्तियोंके नामोंका उल्लेख किया है; लेकिन जैनाचार्यों और साधुओंके सम्बन्धमें ये नाम इतनी अधिकतासे दुहराये गये हैं कि कोई भी ऐसी समानता जोकि केवल नामकी समानता पर ही आश्रित हो, कुछ भी मूल्य नहीं रखती; और यदि अन्य कोई प्रमाण न हो तो ऐसी समानताओंको लेकर प्रवृत्ति भी नहीं करनी चाहिये। हां, मल्लिभूपालविषयक उसका उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण है। मल्लिभूपालको कर्णाटकका

[३४] कलकत्तासंस्करण, पृ० ३६।

[३५] जीवकाण्ड, कलकत्तासंस्करण, पृ० १५०।

[३६] एपिग्रेफिया कर्णाटिका II. No 65.

[३७] एपिग्रेफिया कर्णाटिका, जिल्द ५, संख्या १३१-३३।

[३८] जैनहितैषी, भा० १३ पृ० २२।

राजा और जैनोत्तम[३९] कहा गया है। ईस्वी सन् १३५६ और १७६१ के मध्यवर्ती समयमें हमें कर्णाटकके किसी ऐसे प्रधान जैन राजाका परिचय नहीं मिलता, और इसलिये हमें समझ लेना चाहिये कि मल्लिभूपाल शायद कर्णाटकके किसी छोटेसे राज्यका शासक था। जैन साहित्यके उद्धरणोंपर दृष्टि डालने से मुझे मालूम होता है कि 'मल्लि' नामका एक शासक कुछ जैन लेखकोंके साथ प्रायः सम्पर्कको प्राप्त है। शुभचंद्र गुर्वावलीके अनुसार, विजयकीर्ति (ई० सन्की सोलहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें) मल्लिभूपाल[४०]के द्वारा सम्मानित हुआ था। विजयकीर्तिका समकालीन होनेसे उस मल्लिभूपालको १६वीं शताब्दीके प्रारम्भमें रखा जासकता है। उसके स्थान और धर्म विषयका हमें कोई परिचय नहीं दिया गया है। दूसरे विशालकीतके शिष्य विद्यानन्द स्वामी[४१]के सम्बन्धमें कहा जाता है कि ये मल्लिरायके द्वारा पूजे गये थे, और ये विद्यानन्द[४२] ईस्वी सन् १५४१ में दिवंगत हुए हैं। इससे भी मालूम होता है कि १६वीं शताब्दीके प्रारम्भमें एक मल्लिभूपाल था। हुमचका शिलालेख इस विषयको और भी अधिक स्पष्ट कर देता है—वह बतलाता है कि यह राजा जो विद्यानन्दके सम्पर्कमें था सालुव मल्लिराय[४३] कहलाता है। यह उल्लेख हमें मात्र परम्परागत किम्वदन्तियोंसे हटाकर ऐतिहासिक आधारपर लेआता है। सालुव नरेशोंने कनारा ज़िलेके एक भागपर राज्य किया है और वे जैन धर्मको मानते थे[४४]। मल्लिभूपाल, मल्लिरायका संस्कृत किया हुआ रूप है; और मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नेमिचन्द्र सालुव मल्लिरायका उल्लेख कर रहे हैं; यद्यपि उन्होंने उसके वंशका उल्लेख नहीं किया है। १५३० ईस्वीके लेखमें उल्लिखित होनेसे, हम सालुव मल्लिरायको १६वीं शताब्दीके प्रथमचरणमें रख सकते हैं, और उसके विजयकीर्ति तथा विद्यानन्द विषयक सम्पर्कके साथ भी अच्छी तरह संगत जान पड़ता है। इस तरह नेमिचंद्रके सालुव मल्लिरायके समकालीन होनेसे, हम संस्कृत जी० प्रदीपिकाकी रचनाको ईसाकी १६वीं शताब्दीके प्रारम्भकी ठहरा सकते हैं।

पं० नाथूरामजी प्रेमी[४५]ने नेमिचंद्रकी जी० प्रदीपिकाकी एक और प्रशस्तिका उल्लेख किया है, जोकि २६ अगस्त सन् १६१५ के जैनमित्रमें प्रकाशित हुई थी। उनके द्वारा दिये गये विवरण, ऊपर दी हुई दो प्रशस्तियोंके मेरे संक्षिप्तसारमें आजाते हैं। वे मल्लिभूपालका उल्लेख नहीं करते। चूँकि उन्होंने कोई निष्कर्ष नहीं दिया है, इसलिये हम नहीं जानते कि यह चीज़ उनसे छूटगई है या उस प्रशस्तिमें ही शामिल नहीं है। प्रेमीजीने उस प्रशस्तिपरसे यह एक ख़ास बात नोट की है कि संस्कृत जी० प्रदीपिका वीरनिर्वाण सम्वत् २१७७ में, जोकि वर्तमान गणनाके अनुसार ईस्वी सन् १६५० के बराबर है, समाप्त हुई है। यह समय मल्लिभूपाल और नेमिचंद्रको समकालीन नहीं ठहरा सकता। चूंकि असली प्रशस्ति उद्धृत नहीं की गई है, अतः इस उल्लेखकी विशेषताओंका निर्णय करना कठिन है। हर हालतमें, ईस्वी सन् १६५० जी० प्रदीपिकाकी बादकी प्रतिलिपिकी समाप्तिका समय है, नकि स्वयं जी०प्रदीपिकारचनाकी समाप्तिका समय।

साराश यह कि, संस्कृत जी०प्रदीपिकाका कर्ता केशववर्णी नहीं है; यह बताने वाला कोई प्रमाण नहीं है कि संस्कृत जी० प्रदीपिका गोम्मटसार की चामुण्डरायकृत कर्णाटकवृत्ति के आधारपर है; नेमिचंद्र, जोकि गो०सारके कर्तासे भिन्न हैं, संस्कृत जी०प्रदीपिकाके कर्ता हैं, और उनकी जी०प्रदीपिका कन्नड जी०प्रदीपिकाकी, जोकि केशववर्णी द्वारा ईस्वी सन् १३५६ में लिखी गई है, बहुत ज्यादा ऋणी है; और सालुव मल्लिरायके समकालीन होनेसे नेमिचंद्र (और उनकी जी० प्रदीपिका) को ईसाकी १६वीं शताब्दीके प्रारम्भका ठहराया जाना चाहिए।

[३९] देखो, ऊपरकी प्रशस्तियाँ।

[४०] जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १ किरण ४ पृ० ५४; और भण्डारकर ओरियंटलरिसर्चइंस्टिट्यूटके एनाल्स XIII, i, पृ० ४१।

[४१] जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग ५ किरण ४ प्रशस्तिसंग्रहके पृ० १२५, १२८ आदि।

[४२] डा० बी० ए० सालेटोरने विद्यानन्दके व्यक्तित्व एवं कार्यों पर अच्छा प्रकाश डाला है; देखो मिडियावल जैनिज्म (बम्बई १६३८) पृ० ३७१ आदि, 'कर्णाटकके जैन गुरुओंके संरक्षकके रूपमें देहलीके सुलतान' कर्णाटक हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग ४, १-२, पृ० ७७-८६; 'वादीविद्यानन्द' जैन एण्टिक्वेरी, ४ किरण १ पृ० १-२०

[४३] एपिग्राफिया कर्णाटिका भाग. VIII. नगर नं० ४६

[४४] एपिग्राफिया कर्णाटिका, VIII प्रस्तावना पृ० १०, १३ ४; शिलालेखोंके आधारपर मैसूर और कुर्ग (लन्दन १६०६) पृष्ठ १५२-३; मिडियावल जैनिज्म पृष्ठ ३१८आदि

[४५] सिद्धान्तसारादिसंग्रहः (बम्बई १६२२), प्रस्तावना पृष्ठ १२

मुद्रक और प्रकाशक प० परमानन्द शास्त्री वीर सेवामन्दिर, सरसावाके लिये श्रीवास्तव प्रिंटिंग प्रेस सहारनपुरमे मुद्रित

अनेकान्त
एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥
जै
नी
नी
ति
अनेकान्तात्मिका
गुणमुख्य-कल्पा
सापेक्षवादिनी
यथातत्त्वप्रकाशिका
सम्यग्वस्तु-ग्राहिका
सप्तभंगरूपा
विविधनयापेक्षा
स्याद्वादरूपिणी
अनेकान्तात्मक
वस्तु तत्त्व
स्यात
विधेय तत्त्व
अनुभय तत्त्व
Shukla
वर्ष ४
किरण २
विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥
मार्च
१९४१

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओंको अनेकान्त फ्री (विना मूल्य) या अर्धमूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक दस रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरों पर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रन्थोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दे सके। स्वत: अपनी ओर से उपहार ग्रन्थोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना और कराना।

सम्पादक 'अनेकान्त'

अनेकान्तके नियम

१—इस पत्रका मूल्य वार्षिक ३), छह माहका २) पेशगी है—वी. पी. से मंगाने पर वी. पी. खर्चके चार आने अधिक होंगे। साधारण एक किरणका मूल्य।-) और विशेषांकका ॥) है।

२—ग्राहक प्रथम किरण और सातवीं किरणसे बनाये जाते हैं—मध्यकी किरणोंसे नहीं। जो बीचमें ग्राहक बनेंगे उन्हें पिछली किरणें भी लेनी होंगी।

'अनेकान्त' के विज्ञापन-रेट

	वर्ष भरका	छह मासका	एक बारका
पूरे पेजका	७२)	४२)	८)
आधे पेजका	४२)	२४)	५)
चौथाई पेजका	२४)	१५)	३)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	मार्च
किरण २	चैत्र, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९७	१९४१

जिन-प्रतिमा-वन्दन

विगतायुध-विक्रिया-विभूषाः प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणाम् ।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्याऽप्रतिमाः कल्मषशान्तयेऽभिवन्दे ॥
कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शान्ततया भवान्तकानाम् ।
प्रणमामि विशुद्धये जिनानां प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमन्ति ॥

—चैत्यभक्ति

पूतात्मा श्री जिनेन्द्रदेवकी जो प्रतिमाएँ आयुधसे रहित हैं, विकारसे वर्जित हैं और विभूषासे—वस्त्रालंकारोंसे—विहीन हैं तथा अपने प्राकृतिक स्वरूपको लिये हुए प्रतिमागृहोंमें—चैत्यालयोंमें—स्थित हैं और असाधारण कान्तिकी धारक हैं, उन सबको मैं पापोंकी शान्तिके लिये अभिवन्दन करता हूँ ॥ संसार-पर्यायका अन्त करने वाले श्री जिनेन्द्रदेवों की ऐसी प्रतिमाएँ, जो अपने मूर्तिमानको अपनेमें ठीक मूर्तित किये हुए हैं, अपनी परम शान्तताके द्वारा कषायोंकी मुक्तिसे जो लक्ष्मी—अन्तरंग-बहिरंग विभूति अथवा आत्मविकासरूप शोभा उत्पन्न—होती है उसे स्पष्ट घोषित करती हैं, अतः आत्मविशुद्धिके लिये मैं उनकी वन्दना करता हूँ—ऐसी निर्विकार, शान्त एवं वीतराग प्रतिमाएँ आत्माके लक्ष्यभूत वीतरागभावको उसमें जाग्रत करने, उसकी भूली हुई निधिकी स्मृति कराने और पापोंसे मुक्ति दिलाकर आत्मविशुद्धि कराने में कारणीभूत होती हैं, इसीसे मुमुक्षुओंके द्वारा वन्दन, पूजन तथा आराधन किये जानेके योग्य हैं। उनका यह वन्दन-पूजन वस्तुतः मूर्तिमान्का ही वन्दन-पूजन है।

जैनी नीति

[लेखक—पं० पन्नालाल जैन 'बसन्त' साहित्याचार्य]

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

एक दिवस अङ्गणमें मेरे—
गोपी मन्थन करती थी,
'कल-छल कल-छल' मंजुलध्वनिसे-
अविरल गृहको भरती थी।

उज्ज्वल दधिसे भरे भाण्डमें-
पड़ा हुआ था मन्थन-दण्ड,
आयत-मृदुल-मनोहर कढ़नी-
मे करता था नृत्य अखण्ड।

गोपीके दोनों कर-पल्लव—
क्रमसे कढ़नी खींच रहे,
चन्द्र-बिम्ब-सम उज्ज्वल गोले
मक्खनके थे निकल रहे।

मैंने जाकर कहा गोपिके!
दोनों करका है क्या काम?
दक्षिण-करसे कढ़नी खींचो,
अचल रखो अपना कर बाम।

ज्यों ही ऐसा किया गोपिने
त्यों ही मन्थन नष्ट हुआ,
कढ़नी दक्षिण-करमें आई,
मथन-दण्ड था दूर हुआ।

तब मैंने फिर कहा गोपिके!
अब खींचो बाएँ करसे,
दक्षिण करको सुस्थिर करके
सटा रखो अपने उरसे।

बाएँ करसे गोपीने जब-
था खींचा कढ़नीका छोर,
मथन-दण्ड तब छूट हाथसे-
दूर पड़ा जाकर उस ओर!

मम चतुराई पर गोपीने
मन्द मन्द मुस्कान किया,
फिर भी मैंने तत्क्षण उसको—
एक अन्य आदेश दिया।

अब खींचो तुम दोनों करसे—
एक साथ कढ़नीके छोर,
दृष्टि सामने सुस्थिर रक्खो—
नहीं घुमाओ चारों ओर।

गोपीने दोनों हाथोंसे
कढ़नीको खींचा ज्यों ही,
मथन-दण्ड भी निश्चल होकर
खड़ा रहा तत्क्षण त्यों ही।

सारी मन्थन-क्रिया रुकी अरु
कल-छलका रव बन्द हुआ!
अपनी चतुराई पर मुझको
तब भारी अफ़सोस हुआ!

गोपीने मन्थन-रहस्य तब—
हँसकर मुझको बतलाया;
मेरे मनके गूढ़ तिमिरको
हटा, तत्त्व यह जतलाया।

दक्षिण करसे कढ़नीका जब—
अञ्चल खींचा करती हूँ,
बाम हस्तको तब ढीला कर
कढ़नी पकड़े रहती हूँ।

बाम हस्तसे जब कढ़नीका—
छोर खींचने लगती हूँ,
दक्षिण करको तब ढीलाकर-
कढ़नी पकड़े रहती हूँ।

एक साथ दोनों हाथोंसे
कर्षण-क्रिया न करती हूँ,
नहीं कभी मैं एक हाथसे
दधिका मन्थन करती हूँ।

गोपीके मन्थन - रहस्यसे
'जैननीति' को समझ गया,
अनेकान्तका गूढ तत्त्व यों—
क्षण भरमें ही सुलझ गया!

'एकेनाकर्षन्ती' नामक
अमृतचन्द्र-कृत शुभ गाथा-
की सुस्मृतिसे हुआ उसी क्षण
उन्नत था मेरा माथा।

अनेकान्तमय - वस्तु - तत्त्वसे
भरा हुआ जग-भाण्ड अनूप,
स्याद्वादात्मक मथन-दण्डसे
आलोडन होता शिवरूप।

ज्ञाताकी सद्बुद्धि-गोपिका
क्रमसे मन्थन करती है,
नय-माला मन्थाननेत्रको
क्रमसे खींचा करती है।

विधि-दृष्टीका दक्षिण कर जब
कढ़नीको गह लेता है,
'अस्तिरूप तब सकल वस्तु हैं'
यह सिद्धान्त निकलता है।

जब निषेध-दृष्टीका बायाँ—
हाथ उसे गह लेता है,
'नास्तिरूप तब सकल वस्तु हैं'
यह सिद्धान्त निकलता है।

उभय-दृष्टिका हस्तयुगल जब-
क्रमसे कढ़नी गहता है,
'अस्ति-नास्ति-मय सकल वस्तु हैं'
यह सिद्धान्त निकलता है।

सहार्पिता अनुभयदृष्टीके
करमें जब कढ़नी आती,
'अवक्तव्य हैं सकल वस्तु' तब-
यह रहस्य वह बतलाती।

विध्यनुभयदृष्टीके द्वारा—
कढ़नी जब खींची जाती,
अस्ति-अवाच्यस्वरूप विश्वमें—
अर्थ-मालिका हो जाती।

निषेधानुभयदृष्टि स्वकरमें
कढ़नी जब गह लेती है,
'नास्ति-अवाच्यस्वरूप वस्तु है'
यह निश्चित कह देती है।

उभयानुभयदृष्टिके हाथों
जब कढ़नी खींची जाती,
'अस्ति-नास्ति अरु अवक्तव्य-मय'
सत्स्वरूप तब बतलाती।

'अनेकान्त' के मुख्य पृष्ठ पर
जिसका चित्रण किया गया,
जैनी नीति * वही है जिसका—
उस दिन अनुभव मुझे हुआ।

सम्यग्वस्तु-ग्राहिका है यह—
ठीक तत्त्व बतलाती है,
वैर-विरोध मिटाकर जगमें—
शान्ति-सुधा बरसाती है।

इससे इसका आराधनकर,
जीवन सफल बना लीजे;
पद-पद पर इसकी आज्ञाका—
ही निशिदिन पालन कीजे।

* इस 'जैनी नीति' के विशेष परिचयके लिये देखो 'अनेकान्त' के गत विशेषाङ्कमें प्रकाशित 'चित्रमय जैनी नीति' नामका सम्पादकीय लेख।

प्रभाचन्द्रका समय+

[लेखक—न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन, काशी]

आचार्य प्रभाचंद्रके समयके विषयमें डा० पाठक, प्रेमीजी ‡ तथा मुख्तार साहब आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचंद्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराणका यह श्लोक—

"चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत्॥"

अर्थात्—'जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है, उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत्को आह्लादित किया है।" इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्यायकुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझा गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेनकी अधूरी जयधवला टीकाको शक सं० ७५९ (ई० ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आचार्य जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेनकी अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ई० ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचंद्र तथा उनके न्यायकुमुदचंद्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपमें प्रभाचंद्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुहृद्वर पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचंद्र प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० १२३) में डॉ० पाठक आदिका निरास † करते हुए प्रभाचंद्रका समय ई०

+ यह लेख न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागके लिये लिखी गई प्रस्तावनाका एक अंश है।

‡ श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने "श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र" लेख (अनेकान्तवर्ष ४ अंक १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्त्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि—"हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्त्ता हैं। और तत्त्वार्थवृत्तिपद (सर्वार्थसिद्धिके पदोंका प्रकटीकरण), समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारकी टीका) आदिके कर्त्ता, और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्त्ता भी वही हैं।"

† पं० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके 'चंद्रांशुशुभ्रयशसं' श्लोकमें चंद्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचंद्रकविका उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचंद्रकार प्रभाचंद्रके स्मृत होनेमें बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवत् नहीं मालूम होते। अतः (१) आदिपुराणकार इसके लिये बाध्य नहीं माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचंद्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचंद्रके द्वारा स्मृत अनंतवीर्य और विद्यानंदका स्मरण करना ही चाहिये। विद्यानंद और अनंतवीर्यका समय ईसाकी नवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिये वे आदिपुराणकारके समकालीन होते हैं। यदि प्रभाचंद्र भी ईसाकी नवीं शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानंद आदि आचार्योंका स्मरण करके भी

९५० से १०२० तक निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अंतर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अभ्रांत नहीं हैं। पं० जीने प्रभाचंद्रके ग्रंथोंमें व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीका का प्रभाव देखकर प्रभाचंद्रकी पूर्वावधि ९५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचंद्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं व्योमशिव और प्रभाचंद्र' की तुलना करते समय ‡ व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि—पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचंद्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचंद्र आचार्यका भी। बलात्कारगणके श्रीचंद्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है—

"श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तात् परिज्ञाय मूलटिप्पणंचाालोक्य कृतमिदं समुच्चय-

आदिपुराणकार-द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचंद्र' की तुलना करते समय मैं जयंतका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अतः समकालीन-वृद्ध जयंतसे प्रभावित होकर भी प्रभाचंद्र आदिपुराणमें उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासनसे 'अन्धादयं महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचंद्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेमें बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके "जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥" इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेनस्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है; क्योंकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अतः आत्मानुशासनका रचनाकाल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचंद्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है— "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः····" अर्थात्—गुणभद्र स्वामीने विषयोंकी ओर चंचल चित्तवृत्तिवाले बड़े धर्मभाई (?) लोकसेनको समझानेके बहाने आत्मानुशासन ग्रंथ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनको स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि, अविकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नहीं बनाया गया; क्योंकि उस समय लोकसेनमुनि विषयव्यामुग्धबुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अविकलवृत्त हो गए थे। अतः लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तरपुराणकी रचनाके पहिलेही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक संभव है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्नमाला (पृ० ७५) में यही संभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेनकी मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आंतरिक जाँच करनेसे हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोंका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ—आत्मानुशासनका ३२ वां पद्य 'नेता यस्य बृहस्पतिः' भर्तृहरिके नीतिशतकका ८८वाँ श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य 'यदेतत्स्वच्छन्दं' वैराग्यशतक का ५० वां श्लोक है। ऐसी स्थितिमें 'अन्धादयं महानन्धः' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमें अभी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

‡ देखो, न्यायकुमुदचंद्र द्वि० भागकी प्रस्तावना पृ० ६ तथा अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ में 'प्रभाचंद्रके समयकी सामग्री' लेख।

टिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला [त्का] रगणश्रीसंघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य ॥१०२॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्य (?) विरचितं समाप्तम् ।"

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमें लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचंद्र प्रथम भागकी प्रस्तावना (पृ० १२०) में उद्धृत किये गये हैं। श्लोकों के अनन्तर—"श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिल - मलकलङ्केन श्रीप्रभाचंद्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।" यह पुष्पिका लेख है। इस तरह महापुराण पर दोनों आचार्यों के पृथक् पृथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेख[1] से स्पष्ट हो ही जाता है। पर टिप्पणलेखकने श्रीचंद्रकृत टिप्पणके 'श्रीविक्रमादित्य' वाले प्रशस्तिलेखके अंतमें भ्रमवश 'इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचंद्राचार्यविरचितं समाप्तम्' लिख दिया है। इसी लिए डी० पी० एल० वैद्य, प्रो० हीरालालजी तथा पं० कैलाशचंदजीने भ्रमवश प्रभाचंद्रकृत टिप्पणका रचना काल संवत् १०८० समझ लिया है। अतः इस भ्रांत आधारसे प्रभाचंद्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचंद्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—प्रभाचंद्रने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचंद्रकी रचना की है। मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अंतमें "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचंद्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतिपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।" यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्यायकुमुदचंद्रकी कुछ प्रतियोंमें उक्त पुष्पिकालेख 'श्री भोजदेवराज्ये' की जगह 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अतः इस स्पष्ट लेख से प्रभाचंद्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और यदि प्रभाचंद्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए। श्रीमान मुख्तारसा० तथा पं० कैलाशचंद्रजी[3] प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रके अंतमें पाए जाने वाले उक्त 'श्रीभोजदेवराज्ये और 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखोंको स्वयं प्रभाचंद्रकृत नहीं मानते। मुख्तारसा० इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचंद्रका मानते हैं तथा पं० कैलाशचंद्रजी इसे पीछेके किसी व्यक्तिके करतूत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्यको प्रभाचंद्रकृत नहीं माननेमे दोनोंके आधार जुदे जुदे हैं। मुख्तारसाहब प्रभाचंद्रको जिनसेनके पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वयं उन्हीं प्रभाचंद्रका नहीं मानते। पं० कैलाशचंद्रजी प्रभाचंद्रको ईसाकी १० वीं और ११वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराण के टिप्पणकार श्रीचंद्रके टिप्पणके अंतिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचंद्रकृत टिप्पणका अंतमवाक्य समझ

---

[1] देखो, पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ तथा महापुराणकी प्रस्तावना पृ० Xiv।

[2] रत्नकरण्डप्रस्तवना पृ० ५६-६०।

[3] न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना पृ० १२२।

लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचंद्रकृत नहीं मानना चाहते। मुख्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है[1] कि—प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी कुछ प्रतियोंमें यह अंतिमवाक्य नहीं पाया जाता। और इसके लिए भाण्डारकर इंस्टीट्यूटकी प्राचीन प्रतियोंका हवाला दिया है। मैंने भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्तभवन आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं। इसमे भी उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है। इसी तरह न्यायकुमुदचंद्रके सम्पादन में जिन आ०, ब, श्र० और भां० [2]प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमे आ० और ब० प्रतिमे 'श्री जयसिंहदेवराज्य' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है। हाँ, भां० और श्र० प्रतियाँ, जो ताड़पत्र पर लिखी हैं, उनमे 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्तिवाक्य है। इनमे भां० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह [3]प्रमेयकमलमर्त्तण्डकी किन्हीं प्रतियोमे उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमे 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोंमे सभी श्लोक और प्रशस्तिवाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमे 'जयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्ति वाक्य नहीं है। श्रीमान् मुख्तारसा० प्रायः इसीमे उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते।

इसके विषयमे मेरा यह वक्तव्य है कि—लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमे लगानेका प्रयत्न कम करते हैं। लेखक आखिर नकल करने वाले लेखक ही तो हैं, उनमे इतनी बुद्धिमानीकी भी कम संभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्तिको स्वकपोलकल्पित करके उसमे जोड़ दें। जिन प्रतियोमे उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमे यह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई। जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्य काल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योंको टिप्पणाकारकृत या किसी पीछे होने वाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्रीभोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्तियां सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रके रचयिता प्रभाचंद्रने ही बनाई हैं। और

---

१ रत्नकरण्ड प्रस्तावना पृ० ६०।

२ देखो, इनका परिचय न्यायकु० प्र० भागके संपादकीयमे।

३ पं० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते हैं कि— "भाण्डारकर इंस्टीट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७५-७६) की प्रतिमे प्रशस्तिका 'श्री पद्मनंदि' वाला श्लोक और 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं। वहीं की नं० ६३८ (सन् १८७५-७६) वाली प्रतिमे 'श्री पद्मनंदि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं है। पहिली प्रति संवत् १४८६ तथा दूसरी संवत् १६६५ की लिखी हुई है।"

वीरवाणी विलास भवनके अध्यक्ष पं० लोकनाथ पार्श्वनाथशास्त्री अपने यहाँ की ताड़पत्रकी दो पूर्ण प्रतियोंको देखकर लिखते है कि—"प्रतियोंकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रित पुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरे हैं और 'श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना' आदि वाक्य हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड की प्रतियोंमें बहुत शैथिल्य है, परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनों प्रतियोमें शकसंवत् नहीं है।" सोलापुरकी प्रतिमें "श्री भोजदेवराज्ये" प्रशस्ति नहीं है। दिल्लीकी आधुनिक प्रतिमें भी उक्त वाक्य नहीं है। अनेक प्रतियोमें प्रथम अध्यायके अन्तमें पाए जाने वाले "सिद्धं सर्वजनप्रबोध" श्लोकको व्याख्या नहीं है। इंदौरकी तुकोगंजवाली प्रतिमें प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। खुरईकी प्रतिमे 'भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नहीं है, पर चारों प्रशस्ति-श्लोक हैं।

जिन जिन ग्रंथोंमें ये प्रशस्तियां पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रंथकार प्रभाचंद्रके ही ग्रंथ होने चाहिएँ।

२—यापनीयसंघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्यकाल (ई० ८१४ से ८७७) में रची थी। आ० प्रभाचंद्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खंडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचंद्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचंद्रका समय ई० ९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३—सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचंद्र' की तुलनामें बता आए हैं[1] कि प्रभाचंद्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ में अपनी उपमितिभवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचंद्रका समय सन् ९१०के पहिले नहीं माना जा सकता।

४—भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे[2] ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोगरूप मानते थे। प्रभाचंद्रने न्यायकुमुदचंद्र (पृ० २८२) में भासर्वज्ञके इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्याय में जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डा० शतीशचंद्र विद्याभूषण इनका समय ई० ९००के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाकंद्रका समय भी ई० ९०० के बाद ही होना चाहिये।

५—आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रंथ (रचना-समय ९९० वि०, ९३३ ई०) के बाद भावसंग्रह ग्रंथ बनाया है। इसकी रचना संभवतः सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'नोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचंद्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचंद्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६—आ० प्रभाचंद्रने प्रमेयकमलमा० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है। मैं 'अभयनन्दि और प्रभाचंद्र' की तुलना करते हुए लिख आया हूं[1] कि नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचनाकाल अनुमानतः ९६० ई० होना चाहिये। अतः प्रभाचंद्रका समय ई० ९६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७—पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन ९६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचंद्र ही इस टिप्पणके

---

१ न्यायकुमुदचंद्र द्वितीयभागकी प्रस्तावना पृ० ३६।

२ देखो; न्यायकुमुदचंद्र पृ० २८२ टि० ५। २ न्यायसार प्रस्तावना पृ० ५।

१ न्यायकुमुदचंद्र द्वितीयभागकी प्रस्तावना पृ० ३३।

कर्त्ता हैं। यदि यही प्रभाचंद्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचंद्रका समय ई० ९६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण उन्होंने न्यायकुमुदचंद्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्क ग्रंथकार प्रभाचंद्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रके प्रशस्ति-श्लोकोंका एवं पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुसरण किया गया है, प्रभाचंद्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्यकाल तक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८—श्रीधर और प्रभाचंद्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं[1] कि प्रभाचंद्रके ग्रंथों पर श्रीधरकी कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन ९९१ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचंद्रकी पूर्वावधि ई० ९९० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है।

९—श्रवणबेल्गोलके लेख नं० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचंद्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है—

"अविद्धकर्णादिकपद्मनन्दि-
सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिः
जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥१५॥
तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिः,
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा-
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः॥१६"

इस लेखमें वर्णित प्रभाचंद्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचंद्र आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धवलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालाल जीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचंद्रके समय पर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है—"उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—कुलभूषणके सिद्धांतवारांनिधि, सद्वृत्त कुलचंद्र नामके शिष्य हुए। कुलचंद्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे सामन्त केदार नारकस, सामन्त निम्बदेव और सामंत कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए—गण्डविमुक्त देव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण बसदिके अधीन केल्लंगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारी हिरिय भंडारी, अभिनवगंगदंडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख नं० ३९ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतिरिक्त उनके स्वर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु संवत्सर आषाढ़ शुक्ल ९

१ न्यायकुमुदचंद्र द्वितीयभागकी प्रस्तावना पृ० १२।

बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है। और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनन्दि, माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरुभक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढ़ी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढ़ी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००-१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० (ई १०२८) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके कालनिर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है—कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गंडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गंडरादित्यदेवके उल्लेख शक सं० १०३० से १०५८ तकके लेखोंमें पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।"

यह विवेचन शक सं० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओंका ध्यानसे समीक्षण करनेपर यह प्रश्न होता है कि—जिस तरह प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणकी शिष्यपरम्परा दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्यपरम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता? मुझे तो इसका यही संभाव्य कारण मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रांतमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अंकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वावधि सन् ९९० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०—वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें अनेकों पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक सं० ९४७ (ई० १०२५)में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरणपर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यावद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन-जैनेतर आचार्योंके ग्रंथोंसे प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए बिना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हें प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक संभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्त्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ (ई० १३८५)में बनाई थी[1]। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२९३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A.) में लघीयस्त्रयकी एक कारिका

१ स्वामी समंतभद्र पृ० २२७।

का व्याख्यान करते हुए 'टीकाकार'के नामसे न्यायकु० चन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृत की है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतारटीका-टिप्पण (पृ० २५, ७६) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचंद्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानोंके उल्लेखोंके आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वी शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

(२) रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्रपर प्रभाचंद्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने[१] इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचंद्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचंद्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न है। रत्नकरण्डटीकाका उल्लेख पं० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत-टीका (अ० ८ श्लो० ९३) में किए जानेके कारण इस टीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया है, क्योंकि अ० ध०टी० वि०सं० १३००में बनकर समाप्त हुई थी अन्ततः मुख्तार सा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तार सा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारका न्यायकुमुदगतशब्दावलीका अनुसरण करके खंडन करते हुए लिखा है कि—"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचंद्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्"। इसी तरह समा०टी०(पृ० १५)में लिखा है—"यैः पुनर्योगसांख्यैः मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचंद्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।" इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचंद्र ई० की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

(३)—वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० सं० १२२६ में हुआ था। ये वि० ११७४ में आचार्यपद पर बैठे। संभव है इन्होंने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचंद्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचंद्र और प्रभाचंद्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का नामोल्लेख करके खंडन भी किया गया है। अतः प्रभाचंद्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित होजाती है।

(४) जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठपर श्रुतकीर्तिने 'पंचवस्तु प्रक्रिया बनाई है। श्रुतकीर्ति कनड़ी चंद्रप्रभचरित्रके कर्त्ता अग्गलकविके गुरु थे। अग्गलकविने शक १०११ ई० १०८९ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक 'न्यास' ग्रन्थका उल्लेख किया है। संभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचंद्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है।

शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्र-न्यासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत

१ देखो, रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ से।

न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचंद्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचंद्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचंद्रका समय सन् ९८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमे जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्रीभोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचंद्रके 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हे किसी टीका टिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रभाचंद्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंहदेवके समय तक ही आती है। अत: प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रमे पाए जानेवाले प्रशस्तिलेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचंद्रकर्तृतामें सन्देहको स्थान नहीं रहता। इसलिए प्रभाचंद्रका समय ई० ९८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है[1]।

---

[1] प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम संस्करणके सम्पादक पं० वंशीधरजी शास्त्री शोलापुरने उक्त संस्करणके उपोद्घात में 'श्रीभोजदेवराज्ये' प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचन्द्रका समय ईसाकी ग्यारहवी शताब्दी सूचित किया है। और आपने इसके समर्थनके लिए 'नेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओ का प्रमेयकमलमार्त्तण्डमे उद्धृत होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आपका यह प्रमाण अभ्रान्त नही है; प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें 'विग्गहगइमावण्णा' और 'लोयायासपएसे' गाथाएँ उद्धृत हैं। पर ये गाथाएँ नेमिचंद्रकृत नही हैं। पहिली गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) मे उद्धृत है और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमे भी पाई जाती है। दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वी) कृत सर्वार्थसिद्धिमे उद्धृत है। अत: इन प्राचीन गाथाओको नेमिचन्द्रकृत नही माना जा सकता। अवश्य ही इन्हे नेमिचंद्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें संगृहीत किया है। अत: इन गाथाओका उद्धृत होना ही प्रभाचंद्रके समयको ११ वी सदी नही साध सकता।

कवि राजमल्लका पिंगल और राजा भारमल्ल

[सम्पादकीय]

जैनसमाजमें कवि राजमल्ल नामके एक बहुत बड़े विद्वान् एवं ग्रन्थकार वि०की १७ वीं शताब्दीमें उस समय हो गये हैं जब कि अकबर बादशाह भारत का शासन करता था। आपने कितने ही ग्रन्थोंका निर्माण किया है, परन्तु उनकी संख्या आदिका किसीको ठीक पता नहीं है। अभीतक आपकी मौलिक रचनाओंके रूपमें चार ग्रंथोंका ही पता चला था और वे चारों ही प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके नाम हैं—१ जम्बूस्वामिचरित्र, २ लाटीसंहिता, ३ अध्यात्म-कमलमार्तण्ड, और ४ पंचाध्यायी *। इनमेंसे पिछला (पंचाध्यायी) ग्रन्थ जिसे ग्रन्थकार अपनी ग्रंथप्रतिज्ञा में 'ग्रंथराज' लिखते हैं, अधूरा है—पूरा डेढ़ अध्याय भी शायद नहीं है—और वह आपके जीवनकी अन्तिम कृति जान पड़ती है, जिसे कविवरके हाथोंसे पूरा होनेका शायद सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हो सका। काश, यह ग्रंथ कहीं पूरा उपलब्ध हो गया होता तो सिद्धांतविषयको समझनेके लिये अधिकांश ग्रंथोंके देखनेकी जरूरत ही न रहती—यह अकेला ही पचासों ग्रंथोंकी जरूरतको पूरा कर देता। अस्तु; हालमें मुझे आपका एक और ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, जिसका नाम है 'पिंगल' और जिसे ग्रंथके अंतिम पद्यमें 'छंदोविद्या' भी लिखा है। यह ग्रंथ दिल्लीके पंचायती मंदिरके शास्त्रभण्डारसे उपलब्ध हुआ है, जिसकी ग्रंथसूची पहले बहुत कुछ अस्त-व्यस्त दशामें थी और अब वह अपेक्षाकृत अच्छी बन गई है। कवि-वरके उक्त चार ग्रंथोंमेंसे प्रथमके दो ग्रंथों (जम्बूस्वामिचरित्र और लाटीसंहिता)का पता सबसे पहले मुझे दिल्लीके भंडारोंसे ही चला था और मेरी तद्विषयक सूचनाओंपरसे ही उनका उद्धार कार्य हुआ है, इस पांचवें ग्रंथका पता भी मुझे दिल्लीके ही एक भण्डारसे लग रहा है—दिल्लीको इस ग्रंथकी रक्षाका भी श्रेय प्राप्त है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होती है।

कुछ अर्सा हुआ, जब शायद पंचायती मंदिरकी नई सूची बन रही थी, तब मुझे इस ग्रंथको सरसरी तौरपर देखनेका अवसर मिला था और मैंने इसके कुछ साधारणसे नोट भी लेलिये थे। हालमें वे नोट मेरे सामने आए और मुझे इस ग्रंथको फिरसे देखने की जरूरत पैदा हुई। तदनुसार गत फर्वरी मासके अंतिम सप्ताहमें देहली जाकर मैं इसे ले आया हूँ और इस समय यह मेरे सामने उपस्थित है। इसकी पत्र संख्या मिली हुई पुस्तकके रूपमें २८ है, पहले पत्रका प्रथम पृष्ठ खाली है, २८ वें पत्रके अंतिम पृष्ठ-पर तीन पंक्तियाँ है—उसके शेष भागपर किसीने बादको छंदविषयक कुछ नोट कर रक्खा है और

---

*इनमेंसे प्रथम तीन ग्रन्थ 'माणिकचंद जैन ग्रन्थमाला' बम्बईमें मूल रूपसे प्रकाशित हुए हैं और चौथा ग्रन्थ अनेक स्थानोंसे मूल रूपमें तथा भाषा टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। लाटी संहिताकी भी भाषा टीका प्रकट हो चुकी है।

मध्यके १८ वें पत्रके प्रथम पृष्ठपर लिखते समय १७वें पत्रके द्वितीय पृष्ठकी छाप लग जानेके कारण वह खाली छोड़ा गया है। पत्रकी लम्बाई ८¾ और चौड़ाई ५½ इंच है। प्रत्येक पृष्ठपर प्रायः २० पंक्तियाँ है, परंतु कुछ पृष्ठोंपर २१ तथा २२ पंक्तियाँ भी हैं। प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या प्रायः १४ से १८ तक पाई जाती है, जिसका औसत प्रति पंक्ति १६ अक्षरों का लगानेसे ग्रंथकी श्लोकसंख्या ५५० के करीब होती है। यह प्रति देशी रफ़ कागजपर लिखी हुई है और बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है, सील तथा पानीके कुछ उपद्रवोंको भी सहे हुए है, जिससे कहीं कहीं स्याही फैल गई है तथा दूसरी तरफ फूट आई है और अनेक स्थानोंपर पत्रोंके परस्परमें चिपकजानेके कारण अक्षर अस्पष्टसे भी हो गये हैं। हालमें नई सूचीके वक्त जिल्द बँधालेने आदिके कारण इसकी कुछ रक्षा होगई है। इस ग्रंथप्रतिपर यद्यपि लिपिकाल दिया हुआ नहीं है, परंतु वह अनुमानतः दोसौ वर्षमें कमकी लिखी हुई मालूम नहीं होती। यह प्रति 'महम' नामके किसी ग्रामादिकमें लिखी गई है और इसे 'स्यामराम भोजग' ने लिखाया है; जैसा कि इसकी "महममध्ये लिषावितं स्यामरामभोजग ॥" इस अन्तिम पंक्तिसे प्रकट है।

कविवरके जो चार ग्रंथ इससे पहले उपलब्ध हुए हैं वे चारों ही संस्कृत भाषामें हैं; परंतु यह ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी इन चार भाषाओंमें है, जिनमें भी प्राकृत और अपभ्रंश प्रधान हैं और उनमें छंदशास्त्रके नियम, छंदोंके लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं; संस्कृतमें भी कुछ नियम, लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं और ग्रंथके पारंभिक सात * पद्य तथा समाप्ति-विषयक अन्तिम पद्य भी संस्कृत भाषामें हैं, शेष हिंदीमें कुछ उदाहरण हैं और कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जो अपभ्रंश तथा हिंदीके मिश्रितरूप जान पड़ते हैं। इस तरह इस ग्रंथ परसे कविवरके संस्कृत भाषाके अतिरिक्त दूसरी भाषाओंमें रचनाके अच्छे नमूने भी सामने आजाते हैं और उनसे आपकी काव्यप्रवृत्ति एवं रचनाचातुर्य आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

यह छंदोविद्याका निदर्शक पिंगलग्रन्थ राजा भारमल्लके लिये लिखा गया है, जिन्हें 'भारहमल्ल' तथा कहीं कहीं छंदवश 'भारु' नामसे भी उल्लेखित किया गया है और जो लोकमें उस समय बहुत ही बड़े व्यक्तित्वको लिये हुए थे। छंदोंके लक्षण प्रायः भारमल्लजीको सम्बोधन करके कहे गये हैं उदाहरणोंमें उनके यशका खुला गान किया गया है और इससे राजा भारमल्लके जीवन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है—उनकी प्रकृति, प्रवृत्ति, परिणति, विभूति, संपत्ति, कौटुम्बिक स्थिति और लोकसेवा आदिकी कितनी ही ऐतिहासिक बातें सामने आजाती हैं। इन्हीं सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर आज अनेकान्तके पाठकोंके सामने यह नई खोज रक्खी जाती है और उन्हें इस लुप्तप्राय ग्रंथका कुछ रसास्वादन कराया जाता है, जो अर्सेसे आँखोंसे ओझल होरहा था और जिसकी स्मृतिको हम बिल्कुल ही भुलाए हुए थे। साथ ही, राजा भारमल्लका जो कुछ खण्ड इतिहास इस ग्रंथ परसे उपलब्ध होता है उसे भी संक्षेपमें प्रकट किया

* संख्याङ्क ६ पड़े हैं—दूसरे तीसरे पद्यपर कोई नम्बर न देकर ४ थे पद्यपर नम्बर ३ दिया है और आगे क्रमशः ४, ५, ६। संख्याङ्कोके देनेमें आगे भी कितनी ही गड़बड़ पाई जाती है।

जाता है। कविवर राजमल्ल जैसे विद्वान्‌की लेखनी से लिखा होनेके कारण वह कोरा कवित्व न होकर कुछ महत्त्व रखता है, इससे विद्वानोंको दूसरे साधनों परसे राजा भारमल्लके इतिहासकी और और बातों को खोजने तथा इस ग्रंथ परसे उपलब्ध हुई बातों पर विशेष प्रकाश डालनेके लिये प्रोत्साहन मिलेगा और इस तरह राजा भारमल्लका एक अच्छा इतिहास तय्यार हो सकेगा। साथ ही, इस ग्रंथकी दूसरी प्राचीन प्रतियाँ भी खोजी जायँगी। यह प्रति अनेक स्थानों पर बहुत कुछ अशुद्ध जान पड़ती है। प्रकाशन-कार्यके लिये दूसरी प्रतियोंके खोजे जानेकी खास ज़रूरत है। अस्तु।

कविवरने, अपनी इस रचनाका सम्बंध व्यक्त करते हुए, मंगलाचरणादिके रूपमें जो सात संस्कृत पद्य शुरूमें दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

केवलकिरणदिनेशं प्रथमजिनेशं दिवानिशं वंदे।
यज्ज्योतिषि जगदेतद्व्योम्नि नक्षत्रमेकमिव भाति ॥ १ ॥

जिन इव मान्या वाणी जिनवरवृषभस्य या पुनः फणिनः।
वर्णादिबोधवारिधि-तराय पोतायते तरां जगतः ॥

आसीन्नागपुरीयपक्षतिरतः साक्षात्तपागच्छमान्
सूरिः श्रीप्रभुचंद्रकीर्तिरवनौ मूर्द्धाभिषिक्तो गणी।
तत्पट्टे त्विह मानसूरिरभवत्तस्यापि पट्टेऽधुना
संसम्राडिव राजते सुरगुरुः श्रीहर्ष (र्ष) कीर्त्तिर्महान् ॥

श्रीमच्छ्रीमालकुले समुदयदुदयाद्रिदेवद[श]स्य।
रविरिव राँक्याँणकृते ऽप्यदीपि भूपालभारमल्लाह्वः ॥३॥(४)

भूपतिरितिसुविशेषणमिदं प्रसिद्धं हि भारमल्लस्य।
तत्किं संघाधिपतिर्वणिजामिति वक्षमाणेपि ॥ ४ ॥ (५)

अन्येद्युः कुतुकोत्त्वणानि पठता छंदांसि भूयांसि भो
सूनोः श्रीसुरसंज्ञकस्य पुरतः श्रीमालचूड़ामणेः।
ईषत्तस्य मनीषितं स्मितमुखात्संलक्ष्य पद्यमान्मया
दिग्मात्रादपि नामपिंगलमिदं धाष्ट्‌र्यादुपक्रम्यते ॥५॥ (६)

चित्रं महद्यदिह मानधनो यशस्ते
छंदोमयं नयति यत्कविराजमल्लः।
यद्वाद्वयोपि निजसारमिह ब्रुवंति
पुण्यादयोमयतनोस्तव भारमल्ल ॥ ६ ॥ (७)

इनमेंसे प्रथम पद्यमें प्रथमजिनेन्द्र (आदिनाथ) को नमस्कार किया गया है और उन्हें 'केवलकिरण-दिनेश' बतलाते हुए लिखा है कि उनकी ज्ञानज्योति में यह जगत् आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह भासमान है।' अपनी लाटीसंहिताके प्रथम पद्यमें भगवान को नमस्कार करते हुए भी कविवरने यही भाव व्यक्त किया है, जैसा कि उसके "यच्चिचति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि" इस उत्तरार्धसे प्रकट है। साथ ही, उसके भगवद्विशेषणमें 'ज्ञानानन्दात्मानं' लिखकर ज्ञानके साथ आनंदको भी जोड़ा है। लाटीसंहिताके प्रथम पद्यमें जो साहित्यिक संशोधन और परिमार्जन दृष्टिगोचर होता है उससे ऐसी ध्वनि निकलती हुई जान पड़ती है कि कविकी यह कृति लाटीसंहितासे कुछ पूर्ववर्तिनी होनी चाहिये *।

दूसरे पद्यमें जिनवर वृषभ (आदिनाथ) की वाणीको जिनदेवके समान ही मान्य बतलाया है, और फणीकी वाणीको अक्षरादिबोधसमुद्रसे पार उतरनेके लिये जहाजके समान निर्दिष्ट किया है।

तीसरे पद्यमें यह निर्देश किया है कि आजकल हर्षकीर्ति नामके साधु सम्राट्की तरह राजते हैं, जो कि मानसूरिके पट्टशिष्य और उन श्रीचंद्रकीर्तिके प्रपट्ट-शिष्य हैं जो कि नागपुरीय पक्ष (गच्छ) के साक्षात तपागच्छी साधु थे।

चौथे-पाँचवें पद्योंमें बतलाया है कि—श्रीमाल-

---

* लाटीसंहिताका निर्माणकाल आश्विन शुक्ला दशमी वि० सं० १६४१ है।

कुलमें देवदत्तारूपी उदयाचलके सूर्यकी तरह भूपाल भारमल्ल उदयको प्राप्त हुए और वे रांक्याणों—राक्याणगोत्रवालों—*के लिये खूब दीप्तिमान् हुए हैं। भारमल्लका 'भूपति (राजा)' यह विशेषण सुप्रसिद्ध है, वे वणिक् संघके अधिपति हैं।

छठे पद्यमें अपनी इस रचनाके प्रसंगको व्यक्त करते हुए कविजी लिखते हैं—कि 'एक दिन मैं श्रीमालचूड़ामणि देवपुत्र (राजा भारमल्ल) के सामने बहुतसे कौतुकपूर्ण छंद पढ़ रहा था, इन्हें पढ़ते समय उनके मुखकी मुस्कराहट और दृष्टिकटाक्ष (आँखोंके संकेत) परसे मुझे उनके मनका भाव कुछ मालूम पड़ गया, उनके उस मनोऽभिलाषको लक्ष्यमें रखकर ही दिग्मात्ररूपसे यह नामका 'पिंगल' ग्रन्थ धृष्टतासे प्रारम्भ किया जाता है।'

सातवें पद्यमें कविवर अपने मनोभावको व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

'हे भारमल्ल ! मानधनका धारक कविराजमल्ल यदि तुम्हारे यशको छंदोबद्ध करता है तो यह एक बड़े ही आश्चर्यकी बात है। अथवा आप तेजोमय शरीरके धारक हैं, आपके पुण्यप्रतापसे पर्वत भी अपना सार बहा देते हैं।'

इस पिछले पद्यसे यह साफ ध्वनित होता है कि कविराजमल्ल उस समय एक अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठाप्राप्त विद्वान थे, किसी क्षुद्र स्वार्थके वश होकर कोई कवि-कार्य करना उनकी प्रकृतिमें दाखिल नहीं था, वे सचमुच राजा भारमल्लके व्यक्तित्वसे—उनकी सत्प्रवृत्तियों एवं सौजन्यसे—प्रभावित हुए हैं, और इसीसे छंदःशास्त्रके निर्माणके साथ साथ उनके यशको अनेक छंदोंमें वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं।

यहाँ एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि, तीसरे पद्यमें जिन 'हर्षकीर्ति' साधुका उनकी गुरु-परम्परा-सहित उल्लेख किया गया है वे नागौरी तपागच्छके आचार्य थे, ऐसा 'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामक गुजराती ग्रंथसे जाना जाता है। मालूम होता है भारमल्ल, इसी नागौरी तपागच्छकी आम्नायके थे, जो कि नागौरके रहने वाले थे, इसीसे उनके पूर्व उनकी आम्नायके साधुओंका उल्लेख किया गया है। कविराजमल्लने अपने दूसरे दो ग्रंथों (जम्बूस्वामिचरित्र, लाटीसंहिता) में काष्ठासंघी माथुरगच्छके आचार्योंका उल्लेख किया है, जिनकी आम्नायमें वे श्रावकजन थे जिनकी प्रार्थनापर अथवा जिनके लिये उक्त ग्रंथोंका निर्माण किया गया है। दूसरे दो ग्रंथ (अध्यात्मकमलमार्तण्ड, और पंचाध्यायी) चूंकि किसी व्यक्तिविशेषकी प्रार्थना पर या उसके लिये नहीं लिखे गये हैं, इस लिये उनमें किसी आम्नायविशेषके साधुओंका वैसा कोई उल्लेख भी नहीं है। और इससे एक तत्त्व यह निकलता है कि कविराजमल्ल जिसके लिये जिस ग्रंथका निर्माण करते थे उसमें उसकी आम्नायके साधुओंका भी उल्लेख कर देते थे, अतः उनके ऐसे उल्लेखोंपरसे यह न समझ लेना चाहिये कि वे स्वयं भी उसी आम्नायके थे। बहुत संभव है कि उन्हें किसी आम्नायविशेषका पक्षपात न हो, उनका हृदय उदार हो और वे साम्पदायिकताके पङ्कसे बहुत कुछ ऊँचे उठे हुए हों।

कविराजमल्लने दूसरे ग्रंथोंकी तरह इस ग्रंथमें भी अपना कोई खास परिचय नहीं दिया—कहीं कहीं तो 'मल्लभणइ' 'कविमल्लक कहै' जैसे वाक्योंद्वारा

* वक्खाणिए गोत विक्खात रक्याणि एतस्स ॥१६८॥

अपना नाम भी आधा ही उल्लेखित किया है। जान पड़ता है कविवर जहां दूसरोंका परिचय देनेमें उदार थे वहां अपना परिचय देनेमें सदा ही कृपण रहे हैं, और यह सब उनकी अपने विषयमें उदासीनवृत्ति एवं ऊँची भावनाका द्योतक है—भले ही इसके द्वारा इतिहासज्ञोंके प्रति कुछ अन्याय होता हो।

डॉ. श्री मोहनलाल दलीचंदजी देशाई, एडवोकेट बम्बईद्वारा लिखे गये उक्त इतिहास ग्रंथ (टि० ४८८) से एक बात यह जाननेको जरूर मिलती है कि पद्मसुन्दर नामके किसी दिगम्बर भट्टारकने संवत् १६१५ (शरकलाभृत्तर्कभू) में "रायमल्लाभ्युदय" (पी० ३, २५५) नामका एक काव्य ग्रंथ लिखा है, जिसमें ऋषभादि २४ तीर्थंकरोंका चरित्र है और उसे 'रायमल्ल' नामक सुचरित्र श्रावकके नामांकित किया है। संभव है इस ग्रंथपरसे राजमल्लका कोई विशेष परिचय उपलब्ध हो जाय। अतः इस ग्रंथको अच्छी तरहसे देखनेकी खास जरूरत है।

उक्त सातों संस्कृत पद्योंके अनन्तर प्रस्तावित छंदोग्रंथका प्रारम्भ निम्न गाथासे होता है :—

दीहो संजुत्तवरो बिंदुजुओ पालिओ (?) वि चरणंते।
सगुरू वंकदुमत्ते रुअणो लहु होइ सुद्ध एकअलो ॥७(८)

इसमें गुरु और लघु अक्षरोंका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—जो दीर्घ है, जिसके परभागमें संयुक्त वर्ण है, जो बिन्दु (अनुस्वार-विसर्ग) से युक्त है, ···पादान्त है वह गुरु है, द्विमात्रिक है और उसका रूप वक्र (ऽ) है। जो एकमात्रिक है वह लघु होता है और उसका रूप शुद्ध—वक्रतासे रहित सरल (।)—है।

इसी तरह आगे छंदःशास्त्रके नियमों, उपनियमों तथा नियमोंके अपवादों आदिका वर्णन ६४ वें पद्य तक चला गया है, जिसमें अनेक प्रकारसे गणोंके भेद, उनका स्वरूप तथा फल, षण्मात्रिकादिका स्वरूप और प्रस्तारादिकका कथन भी शामिल है। इस सब वर्णनमें अनेक स्थलोंपर दूसरोंके संस्कृत-प्राकृत वाक्योंको भी "अन्यं यथा" "अराणे जहा" जैसे शब्दोंके साथ उद्धृत किया है, और कहीं बिना ऐसे शब्दोंके भी। कहीं कहीं किसी आचार्यके मतका स्पष्ट नामोल्लेख भी किया गया है, जैसे :—

"····पयासिओ पिंगलायरहिं ॥ २० ॥"
"अह चउमत्तहणामं फणिराओ पइगणं भणइ····२८"
""एहु कहइ कुरु पिंगलणाग:····४६।"
"सोलहपए····आ जो जाणइ णाहराइभणियाइं।
सो छंदसत्थकुसलो सव्वकईणं च होइ महणीओ ॥४३॥
आद्या ज्ञेयेति मात्राणां पताका पठिता बुधैः।
श्रीपूज्यपादपादाभिर्म्मता हि(ही)ह विवेकिभिः ॥

इससे मालूम होता है कि कविराजमल्लके सामने अनेक प्राचीन छंदःशास्त्र मौजूद थे—श्रीपूज्यपादाचार्यका शालबन वह छंदःशास्त्र भी था जिसे श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४०में उनकी सूक्ष्मबुद्धि (रचनाचातुर्य) को ख्यापित करने वाला लिखा है—और उन्होंने उन सबका दोहन एवं आलोडन करके अपना यह ग्रंथ बनाया है। और इसलिए यह ग्रन्थ अपने विषयमें बहुत प्रामाणिक जान पड़ता है। ग्रन्थके अंतिम पद्यमें इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'छंदोविद्या' दिया है और इसे राजाओंकी हृदयगंगा, गंभीरान्तःसौहित्या, जैनसंघाधीश-भारहमल्ल-सन्मानिता, ब्रह्मश्री कावि जय करनेवाले बड़े बड़े द्विजराजोंके नित्य दिये हुए सैंकड़ों आशीर्वादोंसे परिपूर्णा—लिखा है। साथ ही, विद्वानोंसे यह निवेदन किया है कि वे इस 'छंदोविद्या' ग्रन्थको अपने सदनुग्रहका पात्र बनाएँ। वह पद्य इस प्रकार है—

क्षोणीभाजांहृत्सुरसरिदिं भो गंभीरान्तः सौहित्यां
जैनानां किल संघाधीशैर्भारहमल्लैः कृतसन्मानां।
ब्रह्मश्रीविजई(यि)द्विजराज्ञां नित्यं दत्ताशीःशतपूर्णां
विद्वांसः सदनुग्रहपात्रां कुर्वन्त्विमां छंदोविद्यां ॥

इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ उस समय अनेक राजाओं तथा बड़े बड़े ब्राह्मण विद्वनोंको भी बहुत पसंद आया है, और इसलिये अब इसका शीघ्र ही उद्धार होना चाहिये।

अगले लेखमें इस ग्रन्थमें वर्णित छंदोंके कुछ नमूने, राजाभारमल आदिके कुछ ऐतिहासिक परिचय सहित, दिये जावेंगे और उनसे कितनी ही पुरानी बातें प्रकाशमें आएँगी।

वीरसेवामंदिर, फाल्गुन शुक्ल ११ सं० १९९७

'अनेकान्त' पर लोकमत

'अनेकान्त' के 'नववर्षाङ्क' को देखकर जिन जिन विद्वानोंने उसपर अपनी शुभसम्मतियाँ भेजनेकी कृपा की है, उनमेंसे कुछकी सम्मतियाँ नीचे दी जाती हैं:—

१ प्रोफेसर ए. एन. उपाध्याय एम. ए., डी. लिट्, कोल्हापुर—

"अनेकान्तका नववर्षाङ्क मिला। यह महत्वपूर्ण सामग्रीसे भरा हुआ बहुमूल्य अङ्क है।"

२ पं. अजितकुमारजी शास्त्री, मुलतान—

"अनेकान्तका प्रथम अङ्क मिला। देखकर जो हर्ष हुआ वह तो सिर्फ अनुभवका ही विषय है। मुख-पृष्ठपर सप्तभंगीको जिस चित्र-द्वारा अंकित किया है वह कल्पना प्रशंसनीय है। लेख भी चुन चुनकर सुन्दर रक्खे गये हैं। 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' शीर्षक परमानंदजीका लेख अच्छे परिश्रमके साथ लिखा गया है, अच्छा उपयोगी है। इस वृद्ध अवस्थामें भी जिस अदम्य उत्साहसे आप जैन साहित्यकी ठोस सेवा कर रहे है, वह प्रशंसनीय है।"

३ पं० पन्नालालजी जैन, 'वसन्त' साहित्याचार्य, सागर—

'अनेकान्त' के विशेषांकका अवलोकन किया। मुखपृष्ठपर अत्यन्त भावपूर्ण चित्रमय जैनीनीतिका चित्र है। जोकि अनेकान्त जैसे पत्रके लिए सर्वथा उपयुक्त है। सभी लेख चुने हुए हैं। अपने अपने विषयमें सभी लेख सुन्दर हैं, इसलिए कौन लेख सबसे बढ़िया है, इस विषयका निर्णय मेरे जैसे व्यक्तिके लिए अशक्य है। अनेकान्तके दर्शनसे मुझे बहुत ही संतोष होता है।'

४ पं० परमेष्ठीदासजी जैन, न्यायतीर्थ, सूरत—

"इसमें कोई सन्देह नहीं कि अंक बहुत सुन्दर निकला है। मुखपृष्ठका चित्र तो देखते ही बनता है। कई वर्षसे जिसे श्लोकोंमें पढ़ते आए थे उसे चित्रबद्ध देखकर बहुत आनन्द हुआ। उसे लेकर मैंने अपने कई अजैन मित्रोंको भी अनेकान्तका रहस्य समझाया। लेख भी सुन्दर हैं।"

५ पं० सुमेरचन्दजी दिवाकर, न्यायतीर्थ, बी. ए. एल एल. बी., सिवनी—

"यह विशेषांक विशेष आकर्षक है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो 'कल्याण' मासिककी मुटाई छांटकर उपयोगी सामग्री वाला अंक छपाया गया हो।"

मुखपृष्ठपर स्याद्वादके तत्त्वको बताने वाला चित्र बढ़िया है।.........चित्र अनेकान्तके स्वरूप पर अच्छा प्रकाश डालता है।.........

इस प्रकार अनेक महत्त्वपूर्ण लेखोंसे सुशोभित यह १२० पेजका अंक पठनीय है।

यह पत्र गम्भीर और विचारपूर्ण सामग्री देता है, अतः मार्मिक चर्चा प्रेमियोंके लिए संग्रहणीय है।

६ श्री भगवत्स्वरूपजी जैन 'भगवत्', ऐत्मादपुर (आगरा)—

"चौथे वर्षकी पहली किरण, जो विशेषांक है, बहुत सुन्दर है। मार्मिक लेख, सुन्दर भावपूर्ण कविताएँ और समयानुकूल कहानियाँ—सब कुछ वही है जिसे आज मानव-हृदय पुकार पुकारकर माँग रहा है।"

(क्रमशः)

समन्तभद्र-विचारमाला

[सम्पादकीय]

(२) वीतरागकी पूजा क्यों ?

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजासे प्रसन्न होता है, और प्रसन्नताके फलस्वरूप पूजा करने वालेका कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोकमें उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजासे किसीका प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके विना अप्रसन्न रहता हो, या उससे उसकी प्रसन्नतामें कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकारका लाभ पहुँचता हो; परन्तु वीतरागदेवके विषयमें यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता—वे न किसीपर प्रसन्न होते हैं न अप्रसन्न और न किसी प्रकारकी कोई इच्छा ही रखते हैं जिसकी पूर्ति-अपूर्तिपर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते हैं—उनकी प्रसन्नतामें किसी भी कारणसे कोई कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा-अपूजासे वीतरागदेवकी प्रसन्नता या अप्रसन्नताका कोई सम्बन्ध नहीं—वह उसकेद्वारा संभाव्य ही नहीं, तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कैसे की जाय, कब की जाय, किन द्रव्योंसे की जाय, किन मंत्रोंसे की जाय और उसे कौन करे-कौन न करे ? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अविधिसे पूजा करनेपर कोई अनिष्ट घटित हो जायगा, अथवा किसी अधम-अशोभन-अपावन मनुष्यके पूजा कर लेनेपर वह देव नाराज़ हो जायगा और उसकी नाराज़गीसे उस मनुष्य तथा समूचे समाजको किसी दैवीकोपका भाजन बनना पड़ेगा; क्यों कि ऐसी शंका करनेपर वह देव वीतराग ही नहीं ठहरेगा—उसके वीतराग होनेसे इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओंकी तरह रागी-द्वेषी मानना पड़ेगा। इसीसे अक्सर लोग जैनियोंसे कहा करते हैं कि—"जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा-उपासनाकी कोई ज़रूरत नहीं, कर्ता-हर्ता न होनेसे वह किसीको कुछ देता-लेता भी नहीं, तब उसकी पूजा-वन्दना क्यों की जाती है और उससे क्या नतीजा है ?"

इन सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर स्वामी समन्तभद्र, जो कि वीतरागदेवोंको सबसे अधिक पूजाके योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति-स्तोत्रों आदिके द्वारा उनकी पूजामें सदा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभूस्तोत्र-में लिखते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

अर्थात्—हे भगवन् पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है; क्यो कि आप वीतरागी हैं—रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दनासे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उसपर आपको ज़रा भी क्षोभ नहीं आसकता; क्योंकि आपके आत्मासे वैरभावद्वेषांश—बिलकुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। यह सब ठीक है; परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा-वन्दनादि करते हैं उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा-वन्दनादि आपके लिये नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको कोई

लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य गुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—,जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पापमलोंसे छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं। इसीसे पद्यके उत्तरार्धमें यह भावना अथवा प्रार्थना की गई है कि 'आपके पुण्य गुणोंका स्मरण हमारे पापमलसे मलिन आत्माको निर्मल करे—उसके विकासमें सहायक होवे।'

यहाँ वीतराग भगवानके पुण्य गुणोंके स्मरणसे पापमलसे मलिन आत्माके निर्मल (पवित्र) होनेकी जो बात कही गई है वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमें जैनधर्मके आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद-जैसे सिद्धान्तोंका बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूपमें संनिहित है। इस विषयमें मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकोंमें किया है, और गत किरणमें प्रकाशित 'भक्तियोग-रहस्य' नामके मेरे लेखपरसे भी पाठक उसे जान सकते हैं। यहाँपर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने वीतरागदेवके जिन पुण्य-गुणोंके स्मरणकी बात कही है वे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्यादि आत्माके असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टिसे सब आत्माओंके समान होनेपर सबकी समान सम्पत्ति हैं और सभी भव्यजीव उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। जिन पापमलोंने उन गुणोंको आच्छादित कर रक्खा है वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, योगबलसे जिन महात्माओंने उन कर्ममलोंको दग्ध करके आत्मगुणोंका पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित, सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जाते हैं—शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओंमें हैं और वे अपनी आत्मनिधिको प्रायः भूले हुए हैं। सिद्धात्माओंके विकसित गुणोंपरसे वे आत्मगुणोंका परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्हीं साधनों द्वारा उनगुणोंकी प्राप्तिका यत्न करते हैं जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओंने किया था। और इस लिये वे सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म-विकासके इच्छुक संसारी आत्माओंके लिये 'आदर्शरूप' होते हैं, आत्मगुणोंके परिचयादिमें सहायक होनेसे उनके 'उपकारी' होते हैं और उसवक्त तक उनके 'आराध्य' रहते हैं जबतक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूपसे विकसित न हो जायँ। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने "ततःस्वनिःश्रेयसभावनापरैः बुधप्रवेकैः जिनशीतलेड्यसे (स्व० ५०)" इस वाक्यके द्वारा उन बुधजन-श्रेष्ठों तकके लिये वीतरागदेवकी पूजाको आवश्यक बतलाया है जो अपने निःश्रेयसकी—आत्मविकासकी—भावनामें सदा सावधान रहते हैं। और एक दूसरे पद्य (स्व० ११६) में वीतरागदेवकी इस पूजा-भक्तिको कुशलपरिणामोंकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही, नीचेके एक पद्यमें वे, योगबलसे आठों पापमलोंको दूरकरके संसारमें न पाये जाने वाले ऐसे परमसौख्यको प्राप्त हुए सिद्धात्माओंका स्मरण करते हुए अपने लिये तद्रूप होनेकी स्पष्ट भावना भी करते हैं, जो कि वीतरागदेवकी पूजा-उपासनाका सच्चा रूप है:—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवतु ममापि भवोपशान्तये॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब विचारोंपरसे यह भलेप्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वीतरागदेवकी उपासना क्यों की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है।

कर्म-बन्ध और मोक्ष

(लेखक—श्री० परमानन्द जैन, शास्त्री)

संसारमें जो सुख-दुःख सम्पत्ति-विपत्ति, ऊँच-नीच आदि अवस्थाएँ देखनेमें आती हैं उन सबका कारण कर्म है। जीवात्मा जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है उसका फल भी उसे अच्छा या बुरा भोगना पड़ता है अर्थात् जैसा बीज बोया जाता है फल भी वैसा ही मिलता है—बबूल बोने वालेको आम नहीं मिल सकते। जो मनुष्य रात दिन जीवहिंसा, मांस भक्षण आदि पापकार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं उन्हें पाप कर्मका परिपाककाल आनेपर दारुण दुःख भी सहना पड़ते हैं, और नरकादि दुर्गतियोंमें भी जाना पड़ता है। परन्तु जो मनुष्य पापसे भयभीत हैं—डरते हैं, और लोककी सच्ची सजीव-सेवा तथा दान धर्मादिक कार्योंमें प्रवृत्ति करते रहते हैं और आत्मकल्याणमें सदा सावधान रहते हैं, वे सदा शुभकर्मके उदयसे सुखी और समृद्ध होते हैं। अर्थात् उनके शुभ कर्मके उदयसे शरीरको सुख देने वाली सामग्रीका समागम होता रहता है।

इस लोकमें मुख्यतः दो द्रव्य काम करते हैं, जिनमेंसे एकको चेतन, जीव, रूह या सोल (Soul) के नामसे पुकारते हैं, और दूसरेको अचेतन, जड़, पुद्गल या मैटर (matter) कहते हैं। कर्म और आत्माका अनादिकालसे एकक्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध हो रहा है. प्रतिसमय कर्म वर्गणाओंका बंध और निर्जरा होती रहती है; अर्थात् पुराने कर्म फल देकर झड़ जाते हैं और नवीन कर्म रागादिभावोंके कारण बंधको प्राप्त होते रहते हैं। मन-वचन-कायसे जो आत्मप्रदेशोंमें हलन चलन रूपक्रिया होती है उसे योग कहते हैं। रागादि विभावरूप परिणत हुआ आत्मा इस योग-शक्ति के द्वारा नवीन कर्मवर्गणाओंका आकर्षण करता है। जब आत्मा विस्रसोपचयरूप * कर्मपरमाणुओंका कषाय और योगशक्तिके द्वारा आकर्षण करता है उस समय जो आत्माके परिणामविशेष होते हैं उन्हें भावकर्म कहते हैं, और भावकर्मके द्वारा आकर्षित कर्मवर्गणाको द्रव्यकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्य-कर्मका आस्रव होता है। रागादि कषाय भावोंकी उत्पत्तिमें पूर्वोपार्जित द्रव्यकर्म कारण है और जब द्रव्यकर्मका परिपाककाल आता है तब आत्माकी प्रवृत्ति भी रागादिविभावरूप अथवा कषायमय हो जाती है। अतएव विभावभाव और सकषाय परिणतिसे कार्माणवर्गणाका आकर्षण होकर कर्मबंध होता है। और इस तरहसे द्रव्य-कर्मके उदयसे भावकर्ममें परिणमन होता है और भावकर्मके परिणमनसे द्रव्यकर्मका बंध होता है। इस प्रकार कर्मबंधकी शृंखला बराबर बढ़ती ही रहती है।

कर्म और आत्मा इन दोनों द्रव्योंका स्वभाव भिन्न है; क्योंकि आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा, चेतन, अमूर्तिक और संकोच-विस्तारकी शक्तिको लिए हुए असंख्यात प्रदेशी है। कर्म पौद्गलिक, मूर्त्तिक और जड़पिण्ड है। ये दोनों द्रव्य विभिन्न स्वभाव वाले होनेके कारण इन दोनोंकी एक क्षेत्रमें अवस्थिति होनेपर भी आत्माका कोई भी प्रदेश कर्मरूप नहीं होता, और न कर्मका एक भी परमाणु चैतन्यरूप या आत्मरूप ही होता है। जिस तरह सोने और चाँदीको गलाकर दोनोंका एक पिण्ड करलेनेपर भी, ये दोनों द्रव्य अपने अपने रूपादि गुणोंको नहीं छोड़ते हैं—अपने शुक्ल पीतत्वादि गुणोंसे

*जो परमाणु वर्तमानमें कर्मरूप तो नहीं हुए हैं किन्तु भविष्यमें कर्मरूप परिणमनको प्राप्त होंगे—कर्म अवस्थाको धारण करेंगे—उन परमाणुओंको 'विस्रसोपचय' कहते हैं।

अपनी अपनी सत्ता अलग ही रखते हैं। इसी तरह यद्यपि आत्मा और कर्म इस समय एकमेक सरीखे हो रहे हैं परन्तु आत्मा और कर्म अपने अपने लक्षणादिसे अपनी अपनी सत्ता जुदी ही रखते हैं कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। इसके सिवाय, तपश्चरणादिके द्वारा कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध छूट जाता है—आत्मा और कर्म अलग अलग हो जाते हैं—इससे भी उक्त दोनों द्रव्योंकी भिन्नता स्पष्ट ही है।

कर्मोंके मूल आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। इन आठ कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। कर्मकी इन अष्टमूल प्रकृतियोंको दो भेदोंमें बांटा जाता है, जिनका नाम घातिकर्म और अघातिकर्म है। जो जीवके अनुजीवीगुणोंको घातते हैं—उन्हें प्रकट नहीं होने देते—उनको घातिकर्म कहते हैं। और जो जीवके अनुजीवीगुणोंको नहीं घातते उन्हें अघातिकर्म कहते हैं। इन अष्ट कर्मोंमेंसे मोहनीयकर्म आत्माका महान् शत्रु है इससे ही अन्यकर्मोंमें घातकत्व शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। कर्मबन्धनसे आत्मा पराधीन और दुःखी रहता है, उसकी शक्तियोंका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। परन्तु इन कर्मोंका जितने अंशोंमें क्षयोपशमादि रहता है उतने अंशोंमें आत्मशक्तियाँ भी विकसित रहती हैं।

जब जीव क्रोध-मान-माया और लोभादिरूप सकषाय परिणमनको प्राप्त होता हुआ योगशक्तिके द्वारा आकर्षित कर्मरूप होने योग्य पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है उसे बन्ध कहते हैं *।

कर्मबन्धके पाच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। तत्त्वार्थके विपरीत श्रद्धानको 'मिथ्यात्व' कहते हैं। अथवा अपने स्वरूपसे भिन्न पर पदार्थोंमें आत्मत्व बुद्धिरूप जीवके विपरीताभिनिवेशको 'मिथ्यात्व' कहते हैं। मिथ्यात्व जीवका सबसे प्रबल शत्रु है, संसार परिभ्रमणका मुख्यकारण है और कर्मबंधका निदान है। इसके रहते हुए जीवात्मा अपने स्वरूपको नहीं प्राप्त कर सकता है। षट्काय, पाँच इन्द्रिय और मन इन १२ स्थानोंकी हिंसासे विरक्त नहीं होना 'अविरति' है। उत्तमक्षमादि दशधर्मके पालनमें, तथा पाच इन्द्रियोंके निग्रह करनेमें, और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें जो अनुत्साह एवं अनादररूप प्रवृत्ति होती है उसे 'प्रमाद' कहते हैं। जो आत्माको कषे अर्थात् दुःखदे उसे 'कषाय' कहते हैं। कषायसे आत्मामें रागादि विभावभावोंका उद्गम होता रहता है और उससे आत्मा कलुषित रहता है और कलुषता ही कर्मबन्धमें मुख्य कारण है, वैरविरोधको बढ़ानेवाली है—और शांतिकी घातक है। मन, वचन और कायके निमित्तसे होने वाली क्रियासे युक्त आत्माके जो वीर्य विशेष उत्पन्न होता है उसे 'योग' कहते हैं। अथवा जीवकी परिस्पन्दरूप क्रियाको 'योग' कहते हैं। योग दो प्रकारका है, शुभयोग और अशुभ योग। देवपूजा, लोकसेवा, और अहिंसा आदि धार्मिक कार्योंमें जो मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति होती है उसे 'शुभयोग' कहते हैं। और हिंसा-झूठ-कुशीलादिक पापकार्योंमें जो प्रवृत्ति होती है उसे 'अशुभयोग' कहते हैं। जब तक जीव सम्यक्त्वको नहीं प्राप्त कर लेता तब तक इन दोनों योगोंमेंसे कोई भी एक योग रहे परन्तु उसके घातियाकर्मकी सर्व प्रकृतियोंका बंध निरन्तर होता रहता है। अर्थात् इस जीवका ऐसा कोई भी समय अवशिष्ट नहीं रहता जिसमें कभी किसी प्रकृतिका बंध न होता हो।

हाँ इतनी विशेषता ज़रूर है कि मोहनीयकर्मकी हास्य, शोक, रति-अरतिरूप दो युगलोंमें और तीन वेदोंमेंसे एक समयमें सिर्फ एक एक प्रकृतिका ही बंध होता है। परन्तु

---

*जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा।
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बन्धो सो होदि णायव्वो॥
—मूलाचारे, वट्टकेरः, १२, १८३
सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः।
—तत्त्वार्थसूत्रे, उमास्वाति, ८, १

यदि किसी जीवके अघातिकर्म प्रकृतियोंमें शुभयोग होता है तो उस समय उसके सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका बंध होता है । और यदि अशुभयोग होता है तब असाता वेदनीय आदि पाप प्रकृतियोंका बंध होता है । तथा मिश्रयोग होनेपर पुण्य प्रकृतियां और पापरूप दोनों प्रकृतियों का बंध होता है ।

जब आत्मामें कर्मबन्ध होता है तब उसका बंध होनेके साथ ही, प्रकृति-प्रदेश-स्थिति और अनुभागके भेदसे चतुर्विधरूप परिणमन हो जाता है, जिस तरह खाए हुए भोजनादिका अस्थि, मासादि सप्तधातु और उपधातु रूपसे परिणमन हो जाता है । इनमेंसे प्रथमके दो बंध प्रकृति और प्रदेश तो योगसे होते हैं स्थिति और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं । मोहके उदयसे जो मिथ्यात्व और क्रोधादिरूपभाव होते हैं । उन सबको सामान्यतया 'कषाय' कहते हैं । कषायसे ही कर्मोंका स्थिति बन्ध होता है अर्थात् जिसकर्मका जितना स्थितिबंध होता है उसमें अबाधाकालको छोड़कर जब तक उसकी वह स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती तबतक समय समयमें उस प्रकृतिका उदय आता ही रहता है । किन्तु देवायु, मनुष्यायु और तिर्यंचायुके बिना अन्य सभी घातिया अघातिया कर्मप्रकृतियोंका मन्द कषायसे अल्प स्थिति बंध होता है और तीव्रकषायके उदयसे अधिक स्थिति बन्ध होता है । परन्तु उक्त तीनो आयुओंका मन्दकषायसे अधिक और तीव्रकषायसे अल्प (थोड़ा) स्थिति बंध होता है । इस कषायके द्वाराही कर्मप्रकृतियोंमें अनुभाग-शक्तिका विशेष परिणमन होता है । अर्थात् जैसा अनुभागबंध होगा उसीके अनुसार उन कर्मप्रकृतियोंका उदयकालमें अल्प या बहुत फल निष्पन्न होगा । घातिकर्मकी सब प्रकृतियोंमें और अघातिकर्मकी पाप प्रकृतियोंमें तो मन्दकषायसे थोड़ा अनुभागबंध होता है और तीव्रकषायसे बहुत । किन्तु पुण्यप्रकृतियोंमें मन्दकषायसे बहुत और तीव्रकषायसे अल्प (थोड़ा) अनुभाग बन्ध होता है । इस तरहसे कषाय स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके विशेष परिणमनमें कारण है । परन्तु इन सब कारणोंमें कषाय ही कर्मबन्धका प्रधान कारण है । इसीलिये जब तक जीवकी सकषाय परिणति रहती है तब तक चारों प्रकारका बंध प्रतिसमय होता रहता है, किन्तु जब कषायकी मुक्ति हो जाती है—आत्मासे कषायका सम्बन्ध छूट जाता है—तब कषायसे होनेवाला उक्त दो प्रकारका बंध भी दूर हो जाता है । इसी कारण आगममें यह बताया गया है कि 'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव' अर्थात् कषायकी मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है ।

इस कर्मबंधनसे छूटनेका अमोघ उपाय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति है । इन तीनोंकी पूर्णता एवं परम प्रकर्षतासे ही आत्मा कर्मके सुदृढ़ बन्धनसे मुक्त हो जाता है और सदा अपने आत्मोत्थ अव्याबाध निराकुल सुखमें मग्न रहता है ।

तत्त्वार्थके श्रद्धानको 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं—अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वरूप अर्थके श्रद्धानको—प्रतीतिको—सम्यग्दर्शन कहतेहैं । सम्यग्दर्शन आत्माकी निधि है और इसकी प्राप्ति दर्शन मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमादिसे होती है । सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें तीन कारण हैं—भवस्थितिकी सन्निकटता, कालादिलब्धिकी प्राप्ति और भव्यत्वभावका विपाक । इन तीनों कारणोंसे जीव सम्यक्त्वी बनता है * । इन सब कारणोंमें भव्यत्वभावका विपाक ही मुख्य कारण है सम्यक्त्वके होनेपर ४१ कर्मप्रकृतियोंका बंध होना रुक जाता है । सम्यग्दर्शन मोक्ष महलकी पहली सीढ़ी है, इसके

* दैवात्कालादि संलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥
—पंचाध्यायी, २, ३७८

बिना ज्ञान और चारित्र मिथ्या कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टिके प्राप्त होते ही उनमें समीचीनता—सत्यता आजाती है और वे दोनों सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके यथार्थ नामोंसे अंकित हो जाते हैं। अर्थात् आत्मासे जब मिथ्यात्वरूप प्रवृत्ति दूर हो जाती है तब आत्मा अपने स्वभावमें स्थिर हो जाता है, उस समय उसका ज्ञान और आचरण दोनों ही सम्यक् प्रतिभासित होने लगते हैं। सद्दृष्टिके प्राप्त होते ही उसकी विभाव परिणति हट जाती है और वह अपने सच्चिदानन्द-रूप आत्मस्वरूपमें तन्मय हो जाता है, फिर उसका संसारमें जीवोंसे कोई वैर-विरोध नहीं होता, और न वह बुद्धिपूर्वक किसीको अपना शत्रु-मित्र ही मानता है। उसकी दृष्टि विशाल और औदार्यादि गुणोंको लिये हुए होती है, हृदय स्वच्छ तथा दयासे आर्द्र हो जाता है, संकीर्णता, कदाग्रह और भयादि दुर्गुण उससे कोसों दूर भाग जाते हैं और वह निंदक एवं पूजकपर समान भाव धारण करता है।

पदार्थके स्वरूपको जैसाका तैसा जानना उसे उसके उसी रूपमें अनुभव करना 'सम्यग्ज्ञान' है। पापकी कारण-भूत सांसारिक क्रियाओंका भले प्रकार त्याग करना सम्यक्-चारित्र है। अर्थात् जो क्रियाएँ आत्मस्वरूपकी घातक हैं—जिनसे आत्मापतनकी ओर ही अग्रसर होता है—उनके सर्वथा परित्यागको 'सम्यकचारित्र' कहते हैं। सद्दृष्टि और समीचीन ज्ञानके साथ जैसे जैसे आत्मा विकासकी ओर आगे बढ़ता है वैसे वैसे ही उसकी आत्मपरिणति भी निर्मल होती चली जाती है और वह अपनी आत्मविशुद्धिसे कर्मोंकी असंख्यात गुणी निर्जरा करता हुआ क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर राग-द्वेषके अभावरूप परमवीतराग भावको अंगीकार करता है। उस समय आत्मा स्वरूपाचरणमें अनुरक्त हुआ ध्यान-ध्याता-ध्येयके विकल्पोंसे रहित अपने चैतन्य चमत्काररूप विज्ञानघन आत्मस्वरूपमें तन्मय हो जाता है और रत्नत्रयकी अभेद परिणतिमें मग्न हो जाता है, उसी समय आत्मा शुक्लध्यानरूप अग्निसे चार घातियाकर्मोंका समूल नाशकर कैवल्यकी प्राप्ति करता है। पश्चात् योग-निरोध-द्वारा अवशिष्ट अघाति कर्मोंका भी समूल नाशकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है और सदाके लिये कर्मबंधनसे छूटकर अपने वीतराग स्वरूपमें स्थिर रहता है।

वीरसेवामंदिर, सरसावा ता० ९-३-१९४१
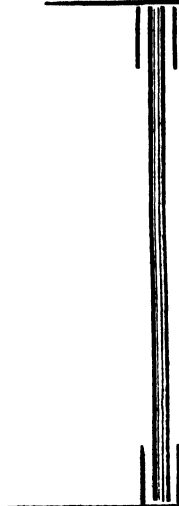
दुनियाका मेला

जी भरकर जीवन-रस ले ले, दो-दिनका दुनियाका मेला !
दूर-दूरके यहां बटोही—आते-जाते नित्य,
रजनी होती, चांद चमकता, अरु दिनमें आदित्य।
अम्बरमें अगणित तारे हैं, भूपर प्राणी ठेलम-ठेला !!
सुख-दुखकी दो पगडंडी हैं, पाप-पुण्य दो पैर,
चाहे जिधर घूमकर करले; पथिक ! जगतकी सैर !
इधर योगीकी मौन-समाधि, उधर बजाता बीन, सपेला !
एक ओर घनघोर घटा है, एक ओर आलोक ;
एक ओर मन हर्षित होता, एक ओर हा ! शोक !!
तीन लोक बहु द्वीप-खण्डके, जीवोंका लगता है मेला !
चाहे जिसे समझले अपना, चाहे जिसको ग़ैर ;
चोर, लुटेरे, हत्यारे हैं, यहां न तेरी ख़ैर !
सावधान हो ! जान बचाकर भाग यहांसे भाग अकेला !
सपना समझ इसे रे ! यहतो माया,मकड़ी-कासा जाला;
ऊपरसे सुख-शुभ्र दीखता, पर अंदरसे बिल्कुल काला !
इसे परखता वही पारखी, जो सच्चे सत्-गुरुका चेला !
जी भरकर, जीवन-रस ले ले, दो दिनका दुनियाका मेला !!

पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

जैनमुनियोंके नामान्त पद

(ले०—अगरचन्द नाहटा, बीकानेर)

जिस प्रकार बालकोंका नामकरण अपने अपने प्रान्तों, जातियोंके पूर्व-पुरुषों एवं प्रचलित नामोंके अनुकरणरूप होता है। जैसे:—मारवाड़ प्रान्तमें मनुष्योंके नामान्त पद "लाल, चन्द, राज, मल्ल, दान आदि होते हैं—उसी प्रकार मुनियोंके भी भिन्न भिन्न अनेक नामान्त पद पाये जाते हैं। आजकल दिगम्बर समाजमें तो मुनियोंका नामान्तपद 'सागर' देखनेमें आता है, यथा:—शान्तिसागर, कुंथुसागर, और श्वेताम्बर समाजकी तीन सम्प्रदायोंमेंसे १ स्थानकवासी-ढुंढ़क २ तेरहपन्थी इन दो समुदायोंमें तो पूर्वके (गृहस्थावस्थाके) नाम ही मुनिअवस्थामें भी क़ायम रखते हैं, मूर्तिपूजक सम्प्रदायके तपागच्छमें सागर एवं विजय, खरतरगच्छमें 'सागर' और 'मुनि', पायचंद्रगच्छमें 'चन्द्र' और अंचलगच्छमें 'सागर' ये ही नामान्त पद पाये जाते हैं, पर जब पूर्ववर्त्ती प्राचीन इतिहासका अध्ययन करते हैं तो अनेक नामान्त पदों का उल्लेख एवं व्यवहार देखनेमें आता है। अतः इस निबन्धमें उन्हीं मुनिनामान्त पदोंकी संख्या पर विचार किया जा रहा है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम यही प्रश्न होता है कि गृहस्थावस्थाको त्यागकर मुनि होजाने पर नाम क्यों बदले जाते हैं यानि नवीन नामकरण क्यों किया जाता है? और यह प्रथा कितनी प्राचीन है?

महावीरकालीन इतिहासके अवकोलनसे नाम परिवर्त्तनकी प्रथा दृष्टिगोचर नहीं होती और पिछले ग्रंथोंमें भी इस रीतिका कबसे और क्यों प्रचार हुआ? इसके सम्बन्धमें कोई उल्लेख नहीं पाया जाता *। पर चैत्यवासके समयमें इस प्रथाका प्रचार हम अवश्य देखते हैं, अतः यह धारणा सहज होजाती है कि नाम परिवर्तनका विधान तभीसे प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। विचार करने पर इसका कारण जिस प्रकार वेषका परिवर्तन होजानेपर गृहस्थ सम्बन्धी भावनाओं का त्याग करनेमें सुगमता रहती है उसी प्रकार नाम-परिवर्तन कर देने पर गृहस्थके नाम आदिका मोह नहीं रहता या कम हो जाता है यही मालूम देता है।

इस प्रकारके नाम परिवर्तनकी प्रथा वैदिक सम्प्रदायमें भी पाई जाती है। 'दर्शनप्रकाश' नामक ग्रन्थ में सन्यासियोंके दस प्रकारके नामोंका उल्लेख पाया जाता है। यथा:—१ गिरि-सदाशिव, २ पर्वत-पुरुष ३ सागर-शक्ति, ४ वन-रुद्र, ५ अरिण्य-ॐकार ६ तीर्थ-ब्रह्म, ७ आगम-विष्णु, ८ मठ-शिव, ९ पुरी-अक्षर, १० भारती परब्रह्म।

'भारतका धार्मिक इतिहास' ग्रन्थके पृ० १८० में १० नामान्त पद ये बतलाए हैं—१ गिरी, २ पुरी, ३ भारती, ४ सागर, ५ आश्रम, ६ पर्वत, ७ तीर्थ, ८ सरस्वती, ९ वन १० आचार्य।

श्वे० जैन ग्रंथोंमें 'नामकरणविधि' का सबसे प्राचीन एवं स्पष्ट उल्लेख रुद्रपल्लीय खरतरगच्छके आचार्य श्री वर्द्धमानसूरि जी रचित (सं० १४६८ का

---

* स्व० आत्मारामजी लिखित सम्यक्त्वशल्योद्धार पृ० १३ में 'पञ्चवस्तु' का उल्लेख किया है, पर वह हमारे अवलोकन में नहीं आया।

सु० १५ जालन्धर देशस्य नंदवनपुर में) 'आचार दिनकर' नामक ग्रन्थमें विस्तारके साथ मिलता है। अतः हम उस ग्रन्थके एतद् सम्बन्धी आवश्यक अंशका सार नीचे दे देते हैं :—

"प्राचीन कालमें साधु एवं सूरिपदके समय नाम परिवर्तन नहीं होते थे पर वर्तमानमें गच्छ संयोग-वृद्धिके हेतु ऐसा किया जाता है।

१ योनि, २ वर्ग, ३ लभ्यालभ्य, ४ गण और ५ राशि भेदको ध्यानमें रखते हुए शुद्ध नाम देना चाहिये। नाममें पूर्वपद एवं उत्तरपद इस प्रकारके दो पद होते हैं। उनमें मुनियोंके नामोंमें पूर्वपद निम्नोक्त रखे जा सकते हैं।

१ शुभ, २ देव, ३ गुण, ४ आगम, ५ जिन, ६ कीर्ति, ७ रमा (लक्ष्मी), ८ चन्द्र, ९ शील, १० उदय, ११ धन, १२ विद्या, १३ विमल, १४ कल्याण, १५ जीव, १६ मेघ, १७ दिवाकर, १८ मुनि, १९ त्रिभुवन, २० अंभोज (कमल), २१ सुधा, २२ तेज, २३ महा, २४ नृप, २५ दया, २६ भाव, २७ क्षमा, २८ सूर, २९ सुवर्ण, ३० मणि, ३१ कर्म, ३२ आनंद, ३३ अनंत, ३४ धर्म, ३५ जय, ३६ देवेन्द्र (देव-इंद्र), ३७ सागर, ३८ सिद्धि, ३९ शांति, ४० लब्धि, ४१ बुद्धि, ४२ सहज, ४३ ज्ञान, ४४ दर्शन, ४५ चारित्र, ४६ वीर, ४७ विजय, ४८ चारु, ४९ राम, ५० सिंह, (मृगाधिप), ५१ मही, ५२ विशाल, ५३ विबुध, ५४ विनय, ५५ नय, ५६ सर्व, ५७ प्रबोध, ५८ रूप, ५९ गण, ६० मेरु, ६१ वर, ६२ जयंत, ६३ योग, ६४ तारा ६५ कला, ६६ पृथ्वी, ६७ हरि, ६८ प्रिय।

मुनियोंके नामके अन्त्य पद ये हैं:—

१ शशांक (चन्द्र), २ कुंभ, ३ शैल, ४ अब्धि, ५ कुमार, ६ प्रभ, ७ वल्लभ, ८ सिंह, ९ कुंजर, १० देव, ११ दत्त, १२ कीर्ति, १३ प्रिय, १४ प्रवर, १५ आनंद, १६ निधि, १७ राज, १८ सुन्दर, १९ शेखर, २० वर्द्धन, २१ आकर, २२ हंस, २३ रत्न, २४ मेरु, २५ मूर्ति, २६ सार, २७ भूषण, २८ धर्म, २९ केतु (ध्वज), ३० पुण्डरीक (कमल), ३१ पुङ्गव, ३२ ज्ञान, ३३ दर्शन, ३४ वीर, इत्यादि।

सूरि, उपाध्याय, वाचनाचार्योंके नाम भी साधुवत् समझें। साध्वियोंके नामोंमें पूर्वपद तो मुनियोंके समान ही समझें उत्तरपद इस प्रकार हैं:—

१ मति, २ चूला, ३ प्रभा, ४ देवी, ५ लब्धि, ६ सिद्धि, ७ वती। प्रवर्तिनीके नाम भी इसी प्रकार हैं। महत्तराके नामोंमें उत्तरपद 'श्री' रखना चाहिये। जिनकल्पीका नामान्त पद 'सेन' इतना विशेष समझना चाहिये। (आगे ब्राह्मण क्षत्रियोंके नामोंके पद भी बतलाये हैं विशेषार्थियोंको मूलग्रंथका ४०वाँ उदय (पृ० ३८६—८९) देखना चाहिये)।

खरतरगच्छमें इन नामान्त पदोंको वर्तमानमें 'नांदि' या 'नंदी' कहते हैं और इनकी संख्या ८४ संख्या * की विशेषता सूचक ८४ बतलाई जाती है। विशेष खोज करनेपर खरतरगच्छीय श्रीपूज्य जिन-चारित्र सूरिजीके दफ्तर एवं कई अन्य फुटकर पत्रोंमें इन ८४ नामान्त पदोंकी प्राप्ति हुई। उनमें संख्या गिननेके लिये तो नम्बर ८४ थे पर कई पद तो दो तीन बार पुनरुक्ति रूपसे उनमें पाये गये, उन्हें अलग कर देने पर संख्या ७८ के करीब ही रह गई, इसके पश्चात् हमने खरतरगच्छके मुनियोंके नामान्त पदोंकी, जो कि प्रयुक्त रूपसे पाये जाते हैं, खोज की तो कई नामान्त पद नये ही उपलब्ध हुए। उन सबको यहां अक्षरानुक्रमसे नीचे दिये देते हैं:—

*इस संख्याके सम्बन्धमें एक स्वतंत्र लेख लिखनेका विचार है

१ अमृत, २ आकर, ३ आनंद, ४ इंद्र, ५ उदय, ६ कमल, ७ कल्याण, ८ कलश, ९ कल्लोल, १० कीर्ति, ११ कुमार, १२ कुशल, १३ कुंजर, १४ गणि, १५ चन्द्र, १६ चारित्र, १७ चित्त, १८ जय, १९ ज्ञान, २० तिलक, २१ दर्शन, २२ दत्त, २३ देव, २४ धर्म, २५ ध्वज, २६ धीर, २७ निधि, २८ निधान, २९ निवास, ३० नंदन, ३१ नंदि, ३२ पद्म, ३३ पति, ३४ पाल, ३५ प्रिय, ३६ प्रबोध, ३७ प्रमोद, ३८ प्रधान, ३९ प्रभ, ४० भद्र, ४१ भक्त, ४२ भक्ति, ४३ भूषण, ४४ भंडार, ४५ माणिक्य, ४६ मुनि, ४७ मूर्ति, ४८ मेरु, ४९ मंडण, ५० मंदिर, ५१ युक्ति, ५२ रथ, ५३ रत्न, ५४ रक्षित, ५५ राज, ५६ रुचि, ५७ रंग, ५८ लब्धि, ५९ लाभ, ६० वर्द्धन, ६१ वल्लभ, ६२ विजय, ६३ विनय, ६४ विमल, ६५ विलास, ६६ विशाल, ६७ शील, ६८ शेखर, ६९ समुद्र, ७० सत्य, ७१ सागर, ७२ सार, ७३ सिंधुर, ७४ सिंह, ७५ सुख, ७६ सुन्दर, ७७ सेना, ७८ सोम, ७९ सौभाग्य, ८० संयम, ८१ हर्ष, ८२ हित, ८३ हेम, ८४ हंस।

नीचे लिखे नामान्त पदोंका उल्लेख मात्र मिलता है व्यवहृत नहीं देखे गये :—

कनक, पर्वत, चरित्र, ललित, प्राज्ञ, ज्ञान, मुक्ति, दास, गिरि, नंद, मान, प्रीति, छत्र, फण, प्रभद्र, तिय, हिंस, गज, लक्ष्म , वर, धर, सूर, सुकाल, मोह, क्षेम, वीर (यह नंदि खरतरगच्छमें नहीं हैं) तुंग (अंचलगच्छ)।

इनमेंसे कई पद नामके पूर्वपदरूपमें अवश्य व्यवहृत हैं।

इसी प्रकार साध्वियोंकी नंदियें (नामान्तपद) भी ८४ ही कही जाती हैं, पर उनकी सूची अद्यावधि कहीं भी हमारे अवलोकनमें नहीं आई, हमने प्राचीन ग्रन्थों, टिप्पणकों आदिसे इतने नामान्तपद प्राप्त किये हैं :—

१ श्री, २ माला, ३ चूला, ४ वती, ५ मती, ६प्रभा, ७लक्ष्मी, ८सुन्दरी, ९सिद्धि, १०निद्धि, ११वृद्धि, १२ समृद्धि, १३ वृष्टि, १४ दर्शना, १५ धर्मा, १६ मंजरी, १७ देवी, १८ श्रिया, १९ शोभा, २० वल्ली, २१ ऋद्धि, २२ सेना, २३ शिखा, २४ रुचि, २५ शीला, २६ विजया, २७ महिमा।

दिगम्बर एवं अन्य श्वेताम्बर गच्छोंमें जितने जितने मुनिनामान्त पदोंका उल्लेख देखनेमें आया है उनका विवरण यहाँ दे दिया जाता है :—

दिगम्बर—नन्दि, चंद्र, कीर्त्ति, भूषण। ये प्रायः नंदि संघके मुनियोंके नामान्तपद हैं।

सेन, भद्र, राज, वीर्य ये प्रायः सेनसंघके मुनिनामान्तपद हैं। —(विद्वद्रत्नमाला पृ० १८)

उपकेशगच्छकी २२ शाखाएँ :—

१ सुन्दर, २ प्रभ, ३ कनक, ४ मेरु, ५ सार, ६ चंद्र, ७ सागर, ८ हंस, ९ तिलक, १० कलश, ११ रत्न, १२ समुद्र, १३ कल्लोल, १४ रंग, १५ शेखर, १६ विशाल, १७ राज, १८ कुमार, १९ देव, २० आनंद, २१ आदित्य, १२ कुंभ।

(उपकेशगच्छपट्टावली प्र० जैनसाहित्य संशोधक)

इससे स्पष्ट है कि कहीं कहीं दिगम्बर विद्वान यह समझनेकी भूल कर बैठते हैं कि, भूषण, सेन, कीर्त्ति आदि नामान्त पद दिगम्बर मुनियोंके ही हैं, वह ठीक नहीं हैं। इन सभी नामान्त पदोंका व्यवहार श्वे० समाजमें भी हुआ है।

नाम परिवर्तनमें प्रायः यह ध्यान रखा जाता है कि मुनिकी राशि उसके पूर्वनामकी ही रहे, बहुतसे स्थानोंमें प्रथमाक्षर भी वही रखा जाता है। जैसे

सुखलालका दीक्षित नाम सुखलाभ, राजमलका राजसुन्दर, रत्नसुन्दर आदि।

तपागच्छ :—

लक्ष्मीसागरसूरि (सं० १५०८–१७) के मुनियोंके नामान्त पद—"तिलक, विवेक, रुचि, राज, सहज, भूषण, कल्याण, श्रुत, शीति, प्रीति, मूर्त्ति, प्रमोद, आनंद, नन्दि, साधु, रत्न, मंडण, नंदन, वर्द्धन, ज्ञान, दर्शन, प्रभ, लाभ, धर्म, सोम, संयम, हेम, क्षेम, प्रिय, उदय, माणिक्य, सत्य, जय, विजय, सुन्दर, सार, धीर, वीर, चारित्र, चंद्र, भद्र, समुद्र, शेखर, सागर, सूर, मंगल, शील, कुशल, विमल, कमल, विशाल, देव, शिव, यश, कलश, हर्ष, हंस, ५७ इत्यादि पदान्ताः सहस्रशः।

(सोमचारित्र कृत "गुरुगुण" रत्नाकर काव्य द्वितीयसर्ग)।

हीरविजयसूरिजीके समुदायकी १८ शाखायें:—

१ विजय, २ विमल, ३ सागर, ४ चंद्र, ५ हर्ष, ६ सौभाग्य, ७ सुन्दर, ८ रत्न, ९ धर्म, १० हंस, ११ आनंद, १२ वर्द्धन, १३, सोम, १४ रुचि, १५ सार, १६ राज, १७ कुशल, १८ उदय। (ऐ० सज्झायमाला पृ० १०)

नामान्तपद-सम्बन्धी खरतरगच्छकी कई विशेष परिपाटियें:—

नंदियोंके सम्बन्धमें खरतरगच्छमें कई विशेष परिपाटियें देखने एवं जाननेमें आई हैं और उनसे कई महत्वपूर्ण बातोंका पता चलता है, अतः उनका विवरण नीचे दिया जाता है:—

१ खरतरगच्छके आदि पुरुष जिनेश्वरसूरिजीसे पट्टधर आचार्योंके नामका पूर्वपद 'जिन' रूढ़ होगया है*। इसी प्रकार इनके शिष्य जिनचन्द्रसूरिजीसे चतुर्थ पट्ट पर यही नाम रखना रूढ़ होगया है।

२ गुर्वावलीसे स्पष्ट है कि उस समय सामान्य आचार्य पदके समय इसी प्रकार 'उपाध्याय', 'वाचनाचार्य' पदों एवं साध्वियोंके 'महत्तरा' पद प्रदानके समय भी कभी कभी नाम परिवर्तन-नवीन नामकरण होता था।

३ तपागच्छादिमें गुरु-शिष्यका नामान्त पद एक ही देखा जाता है, पर खरतरगच्छमें यह परिपाटी नहीं है, गुरुका जो नामान्त पद होगा वही पद शिष्य के लिये नहीं रखे जानेकी खरतरगच्छमें एक विशेष परिपाटी है +। इससे जिस मुनिने अपने ग्रंथादिमें गच्छका उल्लेख नहीं किया है पर यदि उसके गुरुका नामान्त पद उससे भिन्न है तो उसके खरतरगच्छीय होनेकी विशेष सम्भावना की जा सकती है।

४ साध्वियोंके नामान्त पदोंके लिये नं० ३ वाली बात न होकर गुरुणी शिष्यणीका नामान्त पद एक ही देखा गया है।

५ सब मुनियोंकी दीक्षा पट्टधर आचार्यके हाथसे ही होती थी। क्वचित् विशेष कारणसे वे अन्य आचार्य महाराज, उपाध्यायों आदिको आज्ञा देते थे तब अन्य भी दीक्षा देसकते थे। नवदीक्षित मुनियोंका नामकरण पट्टधर सूरि स्थापित नंदीके अनुसार ही होता था। सबसे अधिक नंदीकी स्थापना युग प्रधान जिनचन्द्रसूरिजी ने की थी। उनके द्वारा स्थापित ४४ नंदियोंकी सूची हमारे लिखे हुए 'यु० जिनचन्द्र-

* अपवाद 'अभयदेवसूरि, पर वे पहले मूलपट्टधर नहीं थे, इसीलिए उनका पूर्व नाम ही प्रसिद्ध रहा।

+अपवाद 'कविजिनहर्ष' पर ऐसा होनेका भी विशेष कारण होगा। कविवर जिनहर्षके लिए भी हमने एक स्वतंत्र लेख लिखा है।

सूरि' ग्रंथके पृ० २५९ से ६१ में प्रकाशित है। दीक्षा समयमें एक साथ जितने भी मुनियोंकी दीक्षा हो उन सबका नामान्त पद एक ही रक्खा जाय, ऐसी परिपाटी भी प्रतीत होती है यह परिपाटी बहुत ही महत्व पूर्ण है।

उस समयके अधिकांश मुनियोंकी दीक्षाका अनुक्रम हम उसी नंदी अनुक्रमसे पा लेते हैं। यथा-गुणविनय और समयसुंदर दोनों विद्वान समकालीन थे अब इनमें कौन पूर्व दीक्षित थे, कौन पीछे दीक्षित हुए? हमें यह जानना हो तो हम तुरंत नंदी अनुक्रम के सहारे यह कह सकते हैं कि गुणविनयकी दीक्षा प्रथम हुई; क्योंकि उनकी नंदीका नं० ८ वां है और 'सुन्दर' नंदीका नम्बर २०वां है।

पीछेके दफ़तरोंको देखनेसे पता चलता है कि एक नंदी (नामान्त पद) एक साथ दीक्षित मुनियोंके लिये एक ही बार व्यवहृत न होकर (वह नामान्त पद) कुछ समय तक चला करती थी अर्थात् "चंद्र" नंदी चालू की गई उसमें अभी ज्यादा मुनि दीक्षित नहीं हुए हैं तो वह नंदी १—२ वर्ष तक चल सकती है, उस समयके अंदर कई बार भिन्न भिन्न तिथ या मुहूर्त में दीक्षित सभी मुनियोंका नामान्तपद एक ही रक्खा जायगा। जहाँ तक वह नंदि नहीं बदली जायगी।

६ यु० जिनचंद्रसूरिजीसे * अब तक तो खरतरगच्छमें एक और विशेष प्रणाली देखी जाती है कि पट्टधर आचार्यका नामान्त पद जो होगा, सर्वप्रथम वही नंदि स्थापित की जायगी जैसे—जिन चंद्रसूरि जी जब सबसे पहले मुनियोंको दीक्षित करेंगे तब उनका नामान्त पद भी अपना नामान्त पद—'चंद्र' ही रखेंगे। इसी प्रकार जिनसुखसूरि पहले "सुख" नंदि, लाभसूरि "लाभ" नंदि भक्तिसूरि "भक्ति" नंदि ही सर्वप्रथम रखेंगे। अर्थात नवदीक्षित मुनियोंका सर्वप्रथम नामान्त पद वही रखा जायगा।

७ खरतरगच्छमें श्री जिनपतिसूरिजीने दफ़तर-इतिहास डायरी रखने की बहुत अच्छी परिपाटी चलाई है, इस दफ़तर बही में जिस संवत्-मिति को जिस किसीको दीक्षा एवं सूरि-पदादि दिये जाते हैं उनकी पूरी नामावली लिख लेते थे, इसी प्रकार जहाँ जहाँ विहार करते हैं वहाँ के प्रतिष्ठादि महत्वपूर्ण कार्यों एवं घटनाओंकी नोंध भी उसमें रख ली जाती थी, वहां उस समय अपने गच्छके जितने श्रावक होते उनमें जो विशिष्ट भक्ति आदि करते उनका भी उसमें विवरण लिख लिया जाता, इससे इतिहासमें बड़ीभारी मदद मिलती है। खेद है क ऐसे दफ़तर क्रमिक-पूरे उपलब्ध नहीं होते! अन्यथा, खरतरगच्छका ऐसा सर्वांगपूर्ण इतिहास तैयार होसकता है जैसा शायद ही किसी गच्छका हो। भारतीय इतिहासमें भी इन दफ़तरों का मूल्य कम नहीं है। अभी तक हमारी खोजमें पहला दफ़तर जिसका नाम 'गुर्वावली' है, सं० १३३ तकका उपलब्ध हुआ है और इसके बाद सं० १७०० से वर्तमान तकका उपलब्ध है। मध्यकालीन जिनभद्रसूरिजी और यु० जिनचन्द्रसूरिजीके समयके दफ़तर मिल जाते तो सर्वांगपूर्ण इतिहास तैयार हो सकता था। ऐसे प्राचीन १-२ दफ़तरोंका विद्यमान होना सुना भी गया है, प्राचीन भंडारोंमें या यति श्रीपूज्योंके संग्रहमें अवश्य मिलेंगें, पूरी खोज होनी चाहिये।

सं० १७००से वर्तमान तकका एक दफ़तर जयपुर

* इससे पूर्व भी संभव है, पर हमें निश्चित प्रमाण यहींसे मिला है।

गद्दीके पट्टधर श्री पूज्य धरणीन्द्रसूरिजीके पास हैं, इसी प्रकार खरतरगच्छकी अन्यान्य शाखाओंके दफ़तर उनके श्रीपूज्यों व भंडारोंमें मिलेंगे। बीकानेर गद्दीके श्री पूज्य जिनचारित्रसूरिजीके पासका दफ़तर हमने देखा है। अन्य श्रीपूज्योंमें से कइयोंने तो दफ़तर खो दिये हैं, कईएक दिखलाते नहीं। इन दफ़तरोंमें दीक्षित मुनि-यतियोंकी नामावली इस प्रकार लिखी मिलती है:—

"संवत् १७७६ वर्षे श्री बीकानेर मध्ये श्री जिनसुखसूरिभिः वल्लभनंदि कृता। पौष सुदि ५ दिने"

(पूर्वावस्थानाम)	(दीक्षितनाम)	(गुरुनाम)
लक्ष्मीचन्द	ललितवल्लभ	पं० लीला
रूपचन्द	राजवल्लभ	श्री राजसागर

अतः इससे हमें उन श्रीपूज्योंके आज्ञानुवर्ती प्रत्येक मुनि-यतिके दीक्षासंवत्, स्थान, दीक्षा देने वाले आचार्यका नाम, गुरुका नाम, पूर्वावस्था व दीक्षितावस्थाके नामोंका पता चल सकता है। अतएव ऐसे दफ़तरों की नकलें यदि इतिहासकारोंके पास हो तो उनकी बहुतसी दिक्कतें कम हो जाँय, समय एवं परिश्रमकी बचत हो सकती है, एवं बहुमूल्य इतिहास लिखा जासकता है।

नंदि या नामान्त पद सम्बन्धी जिन जिन खरतरगच्छीय विशेष बातोंका ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सब खरतरगच्छीय जिनभद्रसूरि-बृहत्-शाखाके दृष्टिकोणसे लिखी गई हैं, संभव है खरतरकी अन्य शाखाओंमें परिपाटी की कुछ भिन्नता भी हो।

वर्तमान उपयुक्त परिपाटी केवल यतिसमाजमें ही है और दफ़तर लेखनकी प्रणाली तो अब उनमें भी उठती जारही है। मुनियोंमें तो करीब १०० वर्षोंसे उपर्युक्त प्रणालियें व्यवहृत नहीं होती। अब मुनियों में नामान्तपद "सागर" सर्वाधिक और मोहन मुनिजी के संघाड़ेमें "मुनि" और साध्वियोंमे "श्री" नामान्त पद ही रूढ़ सा होगया है। गुरुशिष्यका नाम भी एक ही नामान्तपद वाला होता है। इससे कई नाम सार्थक एवं सुन्दर नहीं होते। मेरी नम्र सम्मतिमें प्राचीन परम्पराका फिरसे उपयोग करना चाहिये।

ऊपर जो कुछ बातें कही गई हैं वे खरतरगच्छके दृष्टिकोणसे हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वानोंको अन्य गच्छोंकी नामान्तपद सम्बन्धी विशेष परिपाटियोंका अनुसन्धान कर उन्हें प्रगट करना चाहिये। आशा है अन्यगच्छीय विद्वान इस ओर शीघ्र ध्यान देंगे।
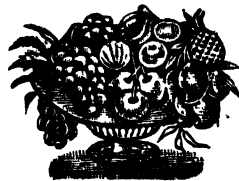
बाबा मनकी आँखें खोल !

[लेखक—श्री 'भगवन्' जैन]

पथ पर चला जा रहा था—अपनी धुनमें मस्त ! पता नहीं था कि मेरी कल्पनाओंके अतिरिक्त भी कोई दूसरा संसार है, जहां मैं चल रहा हूं ।

बाबू ! एक पैसा ! भूखी-आत्माको मिल जाय !,

सहसा होने वाले इस व्याघातने विचारोंके मार्गमें बाधा डाली ! मैं चौंककर खड़ा रह गया ! देखा—कृशकाय भिखारी, मलिन-दुर्गन्धित चिथड़ोंसे अपने शरीरको छिपाए, हाथ फैलाए, सामने खड़ा है ! उसका शरीर अनेकों व्रणों द्वारा छिन्न-भिन्न हो रहा है, गलाव पकड़ता जारहा है ! वह मक्खियों की वेदना, घावोंकी पीड़ा और क्षुधाकी भयंकरतासे मानों नरक-दुःख उठा रहा है ! उफ़् ! कितनी विकृत आकृति है यह, मैं एक क्षणके लिये देखताही रह गया ! उसके मुख पर जैसे करुणा खेल रही थी !

दो दिन होगए—बाबू जी ! क्या मजाल जो एक दानाभी मुंहमें गया हो !,—उँगलियोंके घावसे मक्खियां हटाता हुआ, वह बोला !

मनमें आया—'एक पैसा इसे देना ही चाहिए ! बेचारा ग़रीब, अपाहिज मुसीबतमें है !'

जेबमें हाथ डाला !

लेकिन ?—

लेकिन विचारोंने फिर पलटा खाया—'अजी, छोड़ो न झगड़ेको ? यह तो दुनिया है ! लाखों हैं, ऐसे,—तुम किस-किसको पैसे देते फिरोगे ? एक पैसा ! अजी, वाह ! मुफ्तमें यहां दो ? जूता जो सुस्त होरहा है, आखिर पालिसभी तो करानी है ! और पैसेके दो पान, एक सिगरेट ! फ़िज़ूल यहां पैसा ठगानेसे फ़ायदा ?'

वह रोनी-सूरत बनाए ललचाई आँखोंसे देख रहा था—मेरी जेबकी ओर ! मुझे ठिठकते देख, उसने अपनी तफ़सील पेशकी—'एक पैसेके चने खाकर पानी पी लूँगा—बाबूजी !'

मेरा हाथ जेबमें पड़ा हुआथा ! सोचने लगा—'दूँ या नहीं ? क्या सचमुच दो दिनका भूखा होगा ? अरे, भगवान का नाम लो, कहीं दो दिन कोई भूखा रह सकता है ?—कल ही दफ्तरमें ज़रा दो घन्टेकी देर होगई तो दम निकलने लगा था ! सब दम्भ है, कोरा जाल ! यह तो इन लोगोंका पेशा है—पेशा ! दिनमें भीख, रातको चोरी ! हमीं लोग तो इन्हें पैसा देकर चोर-उचक्के बनाते हैं, नहीं मजाल है इतने भिखारी बढ़ते जाएँ ? हुः ह !'

'चल, हट उधर !'

'अरे !'

मैं जेबसे हाथ निकालता हुआ आगे बढ़ा ! उसकी आशा जैसे मेरे साथ-साथ ही चलदी !

\+ + + +

घड़ीमें देखा तो—'पौने सात !'

'ओफ़ ! बड़ी देर हुई ?'

लपककर बुकिंग-आफिसकी ओर गया !

'बाबू साहिब ! एक टिकिट दीजिएगा !'—और मैंने एक अठन्नी उनकी ओर सरकादी !

'जनाब ! आठ आने वाला क्लास तो बिल्कुल भर गया। एक टिकिट भी अब नहीं दिया जा सकता ! अठारह आने

वाला अभी मिल सकता है, कहिए दूँ ?'

'ऐं ! बिल्कुल भर गया ?'

'हां ! कभी का ! न्यू-थियेटर्सका चित्र-पट है; न ?

'क्या, स्टार्ट हो गया ?'

'अभी नहीं ! होने ही वाला है ! '

'तो····! लाइए, देखता ही जाऊँ !'—अठन्नी जेबमें डालकर, एक रुपया और एस दुअन्नी उनकी ओर बढ़ाई ! उन्होंने रुपया तख्ते पर मारा, और बोले—'मिहरबान् ! दूसरा दीजिए !'

'क्यों ? क्या खराब है साहब, यह रुपया ?'

'आप बहस क्यों करते हैं, दूसरा दे दीजिए न ?'

आखिर रुपया बदलना पड़ा, खराब न होते हुए भी ! और तब मैं टिकिट लेकर भीतर जा सका !

× × × ×

रातको लौटा तो ग्यारह बज रहे थे ! सिनेमा-गृहसे निकलने वाला जन-समूह समुद्रकी तरह उमड़ रहा था ! उसीमें कोई गा रहाथा—'बाबा, मनकी आँखें खोल !'

गाने वाला इस प्रयत्नमें था कि अभी देखे हुए खेलमें गाने वालेकी तरह गाले ! मगर····?—फिर भी वह गा रहा था। और अपनी समझमें—बड़ा सुन्दर !

मैं भी गुनगुनाने लगा—'बाबा, मनकी आँखें खोल !'

'हँय ! यह मनकी आँखें क्या होती हैं—भाई ?'—सोचने लगा— 'क्या देखा जाता है— इनसे ?— क्या मन····?'

'पानी····! पानी····!! आह ! पानी !!! हे, भगवान् ! मेरी सुध····लो····! कोई····मुझे····पा····नी····!'

मैं ठिठककर रुक गया !

देखा तो— वही परिचित भिखारी, यंत्रणाओंसे घिरा हुआ, तड़प रहा है ! मेरे हृदयने एक साथ गाया—

'बाबा, मनकी आँखें खोल !'

मैंने ग्लानिको दूर हटाकर, उसके मुँह परसे कपड़ा हटाया। देखा तो चौंककर पीछे हट गया !

मन जाने कैसा होने लगा !

'ओह ! बेचारा प्यासा ही सो गया, और····हाय ! सदाके लिये····!'

ओठ खुले हुए थे—हाथ फैले हुए ! शायद मौन-भाषा में कह रहा था—'एक पैसेके चने खाकर पानी पी लूँगा—बाबूजी !'

जी मैं आया—इसकी खुली हथेलियोंमें कुछ रख दूं !

पर, हृदयमें आन्दोलन चल रहा था—एक पैसा देकर इसकी जान न बचाई गई—वहां अठारह-आने····!

वाहरे, मनुष्य !

उफ़ !!!

रह-रह कर यह लाइन मनके भीतर उतरती चली गई—

'बाबा, मनकी आँखें खोल !'

卐

समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल

[सम्पादकीय]

परिशिष्ट

स्वामी समन्तभद्रकी 'भस्मक' व्याधि और उसकी उपशान्ति आदिके समर्थनमें जो 'वंद्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः' इत्यादि प्राचीन परिचय-वाक्य श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) परसे इस लेख में ऊपर (पृ० ५२ पर) उद्धृत किया गया है उसमें यद्यपि 'शिवकोटि' राजाका कोई नाम नहीं है; परंतु जिन घटनाओंका उसमें उल्लेख है वे 'राजावलिकथे' आदिके अनुसार शिवकोटि राजाके 'शिवालय' से ही सम्बन्ध रखती हैं। 'सेनगणकी पट्टावली' से भी इस विषयका समर्थन होता है। उसमें भी 'भीमलिंग' शिवालयमें शिवकोटि राजाके समंतभद्र-द्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है। साथ ही, उसे 'नवतिलिंग' देशका 'महाराज' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय संभवतः 'कांची' ही होगी। यथा—

> "(स्वस्ति) नवतिलिङ्गदेशाभिराम-द्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्वयंभ्वादिस्तोट-कोत्कीरण‡रुन्द्रमान्द्रचन्द्रिकाविशदयशः श्रीचन्द्रजिनेन्द्रसद्दर्शनसमुत्पन्नकौतूहल-कलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्था-पकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम्*"

इसके सिवाय, 'विक्रान्तकौरव' नाटक और श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ (नया नं० २५४) से यह भी पता चलता है कि 'शिवकोटि' समंतभद्र के प्रधान शिष्य थे। यथा—

> शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा
> शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
> कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले
> ह्यधीतवंतौ भवतः कृतार्थौ ॥+
>
> —विक्रान्तकौरव

> तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिः
> तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
> संसारवाराकरपोतमेतत्
> तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥
>
> —श्र० शिलालेख

'विक्रान्तकौरव' के उक्त पद्यमें 'शिवकोटि' के साथ 'शिवायन' नामके एक दूसरे शिष्यका भी उल्लेख है, जिसे 'राजावलिकथे' में 'शिवकोटि' राजाका अनुज (छोटा भाई) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उसने भी शिवकोटिके साथ समन्तभद्रसे जिनदीक्षा ली थी ※; परंतु शिलालेख

---

‡ 'स्वयं से 'कीरण' तकका पाठ कुछ अशुद्ध जान पड़ता है।

* 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण १ ली, पृ० ३८।

+ यह पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय'की प्रशस्तिमें पाया जाता है।

※ यथा—शिवकोटिमहाराजं भव्यनप्पुदरिं निजानुजं वेरस.... संसारशरीरभोगनिर्वेगदिं श्रीकंठनेम्बसुतंगे राज्यमनित्तु

वाले पद्यमें वह उल्लेख नहीं है और उसका कारण पद्यके अर्थपरसे यह जान पड़ता है कि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीकाकी प्रशस्तिका पद्य है जिसे शिवकोटि आचार्यने रचा था, इसी लिये इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पहले 'एतत्' शब्दका प्रयोग किया गया है और यह सूचित किया गया है कि 'इस' तत्त्वार्थसूत्रको उस शिवकोटि सूरिने अलंकृत किया है जिसका देह तपरूपी लताके आलम्बनके लिये यष्टि बना हुआ है। जान पड़ता है यह पद्य ‡ उक्त टीका परसे ही शिलालेखमें उद्धृत किया गया है, और इस दृष्टिसे यह पद्य बहुत प्राचीन है और इस बातका निर्णय करनेके लिये पर्याप्त मालूम होता है कि 'शिवकोटि' आचार्य स्वामी समंतभद्रके शिष्य थे†। आश्चर्य नहीं जो ये 'शिवकोटि' कोई राजा ही हुए हों। देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिमें मंगलाचरणका प्रथम पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है —

सार्वश्रीकुलभूषणं क्षतरिपुं सर्वार्थसंसाधनं
सन्नीतेरकलंकभावविधृतेः संस्कारकं सत्पथं ।
निष्णातंनयसागरे यतिपतिं ज्ञानांशुसद्भास्करं
भेत्तारं वसुपालभावतमसो वन्दामहे बुद्धये॥

यह पद्य द्व्यर्थक * है, और इस प्रकारके द्व्यर्थक पद्य बहुधा ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। इसमें बुद्धिवृद्धि के लिये जिस 'यतिपति' को नमस्कार किया गया है उससे एक अर्थमें 'श्रीवर्द्धमानस्वामी' और दूसरेमें 'समंतभद्रस्वामी' का अभिप्राय जान पड़ता है। यतिपतिके जितने विशेषण हैं वे भी दोनोंपर ठीक घटित होजाते हैं। 'अकलंक-भावकी व्यवस्था करने वाली सन्नीति (स्याद्वादनीति) के सत्पथको संस्कारित करनेवाले' ऐसा जो विशेषण है वह समंतभद्रके लिये भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानंद जैसे आचार्यों-द्वारा प्रयुक्त विशेषणोंसे मिलता-जुलता है। इस पद्य के अनन्तर ही दूसरे 'लक्ष्मीभृत्परमं' नामके पद्यमें, जो समंतभद्रके संस्मरणों (अने० वर्ष २ कि० १०) में उद्धृत भी किया जा चुका है, समंतभद्रके मत (शासन) को नमस्कार किया है। मतको नमस्कार करनेसे पहले खास समन्तभद्रको नमस्कार किया जाना ज्यादा संभवनीय तथा उचित मालूम होता है। इसके सिवाय, इस वृत्तिके अन्तमें जो मंगलपद्य दिया है वह भी द्व्यर्थक है और उसमें साफ तौरसे परमार्थविकल्पी 'समंतभद्रदेव' को नमस्कार किया है और दूसरे अर्थमें वही समंतभद्रदेव 'परमात्मा' का विशेषण किया गया है। यथा—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने ।
समन्तभद्रदेवाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥

इन सब बातोंसे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि उक्त 'यतिपति' से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत हैं। अस्तु; उक्त यतिपतिके विशेषणोंमें '**भेत्तारं वसुपालभावतमसः**' भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावांध-

शिवायनं गूडिय आ मुनिपरल्लियें जिनदीक्षेयनान्तु शिवकोट्याचार्यरागि····।

‡ इससे पहले के 'समन्तभद्रस्स चिराय जीयाद्' और 'स्यात्कारमुद्रितसमस्तपदार्थपूर्णं' नामके दो पद्य भी उसी टीकाके जान पड़ते हैं; और वे समन्तभद्रके संस्मरणोंमें उद्धृत किये जाचुके हैं (अनेकान्त वर्ष २, किरण २,६)।

† नगरताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें भी 'शिवकोटि' आचार्यको समन्तभद्रका शिष्य लिखा है (E. C. VIII.)।

* त्र्यर्थक भी हो सकता है, और तब यतिपतिसे तीसरे अर्थमें वसुनन्दीके गुरु नेमिचंद्रका भी आशय लिया जा सकता है, जो वसुनन्दिश्रावकाचारकी प्रशस्तिके अनुसार नयनन्दीके शिष्य और श्रीनन्दीके प्रशिष्य थे।

कारको दूर करनेवाले'। 'वसुपाल' शब्द सामान्य तौरसे 'राजा' का वाचक है और इस लिये उक्त विशेषणसे यह मालूम होता है कि समंतभद्रस्वामीने भी किसी राजा के भावांधकारको दूर किया है *। बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो, और वही समंतभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो। इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल' का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरहपर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है; परंतु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है और इस लिये मैं इस पर अधिक जोर देना नहीं चाहता।

ब्रह्म नेमिदत्त ‡ के 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उसीके शिवालयमें शिवनैवेद्यसे 'भस्मक' व्याधिकी शांति और चंद्रप्रभ जिनेंद्रकी स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है। साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि महाराजने जिनदीक्षा धारण की थी। परंतु शिवकोटिको, 'कांची' अथवा 'नवतैलंग' देशका राजा न लिखकर, 'वाराणसी' (काशी—बनारस) का राजा प्रकट किया है, यह भेद है †।

अब देखना चाहिये, इतिहाससे 'शिवकोटि' कहाँका राजा सिद्ध होता है। जहाँ तक मैंने भारतके प्राचीन इतिहासका, जो अब तक संकलित हुआ है, परिशीलन किया है वह इस विषयमें मौन मालूम होता है—शिवकोटि नामके राजाकी उससे कोई उपलब्धि नहीं होती—बनारसके तत्कालीन राजाओं का तो उससे प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। इतिहासकालके प्रारम्भमें ही—ईसवी सन्से करीब ६०० वर्ष पहले—बनारस, या काशी, की छोटी रियासत 'कोशल' राज्यमें मिला ली गई थी, और प्रकट रूपमें अपनी स्वाधीनताको खो चुकी थी। इसके बाद, ईसासे पहलेकी चौथी शताब्दीमें, अजातशत्रुके द्वारा वह 'कोशल' राज्य भी 'मगध' राज्यमें शामिल कर लिया गया था, और उस वक्तसे उसका एक स्वतंत्र राज्यसत्ताके तौर पर कोई उल्लेख नहीं मिलता +। संभवतः यही वजह है जो इस छोटीसी परतंत्र रियासतके राजाओं अथवा रईसोंका कोई विशेष हाल उपलब्ध नहीं होता। रही कांचीके राजाओंकी बात, इतिहासमें सबसे पहले वहाँके राजा 'विष्णुगोप' (विष्णुगोप वर्मा) का नाम मिलता है, जो धर्मसे वैष्णव था और जिसे ईसवी सन् ३५० के करीब 'समुद्रगुप्त' ने युद्धमें परास्त किया था। इसके बाद ईसवी सन ४३७ में 'सिंहवर्मन्' (बौद्ध)‡

---

* श्रीवर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावान्धकारको दूर किया था।

‡ ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। आपने वि० सं० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है। आराधना कथा-कोश भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ है।

† यथा—वाराणसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्विताम्।
योगिलिंगं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥१९॥
स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा।
कारितं शिवदेवोरुप्रासादं संविलोक्य च ॥२०॥

+ V. A. Smith's Early History of India, III Edition, p. 30-35. विन्सेंट ए० स्मिथ साहबकी अर्ली हिस्टरी आफइंडिया, तृतीयसंस्करण, पृ० ३०–३५।

‡ शक सं० ३८० (ई० स० ४५८) में भी 'सिंहवर्मन्' कांचीका राजा था और यह उसके राज्यका २२ वाँ वर्ष था, ऐसा 'लोकविभाग' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थसे मालूम होता है।

का, ५७५ में सिंहविष्णुका, ६०० से ६२५ तक महेन्द्रवर्मन्का, ६२५ से ६४५ तक नरसिंहवर्मन्का, ६५५ में परमेश्वरवर्मन्का, इसके बाद नरसिंहवर्मन् द्वितीय (राजसिंह) का और ७४० में नन्दिवर्मन्का नामोल्लेख मिलता है *। ये सब राजा पल्लव वंशके थे और इनमें 'सिंहविष्णु' से लेकर पिछले सभी राजाओंका राज्यक्रम ठीक पाया जाता है +। परन्तु सिंहविष्णुसे पहलेके राजाओंकी क्रमशः नामावली और उनका राज्यकाल नहीं मिलता, जिसकी इस अवसर पर—शिवकोटिका निश्चय करनेके लिये—खास ज़रूरत थी। इसके सिवाय, विंसेंट स्मिथ साहब ने, अपनी 'अर्ली हिस्टरी आफ इंडिया' (पृ० २७५—२७६) में यह भी सूचित किया है कि ईसवी सन् २२० या २३० और ३२० का मध्यवर्ती प्रायः एक शताब्दीका भारतका इतिहास बिलकुल ही अंधकाराच्छन्न है—उसका कुछ भी पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि भारतका जो प्राचीन इतिहास संकलित हुआ है वह बहुत कुछ अधूरा है। उसमें शिवकोटि जैसे प्राचीन राजाका यदि नाम नहीं मिलता तो यह कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। यद्यपि ज्यादा पुराना इतिहास मिलता भी नहीं, परंतु जो मिलता है और मिल सकता है उसको संकलित करनेका भी अभी तक पूरा आयोजन नहीं हुआ। जैनियोंके ही बहुतसे संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तामिल और तेलगु आदि ग्रंथोंमें इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है जिनकी ओर अभी तक प्रायः कुछ भी लक्ष्य नहीं गया। इसके सिवाय, एक एक राजाके कई कई नाम भी हुए हैं और उनका प्रयोग भी इच्छानुसार विभिन्न रूपसे होता रहा है, इससे यह भी संभव है कि वर्तमान इतिहासमें 'शिवकोटि' का किसी दूसरे ही नामसे उल्लेख हो * और वहाँ पर यथेष्ट परिचयके न रहनेसे दोनोंका समीकरण न हो सकता हो, और वह समीकरण विशेष अनुसंधानकी अपेक्षा रखता हो। परन्तु कुछ भी हो, इतिहासकी ऐसी हालत होते हुये, बिना किसी गहरे अनुसंधानके यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिवकोटि' नामका कोई राजा हुआ ही नहीं, और न शिवकोटि के व्यक्तित्वसे ही इनकार किया जा सकता है। 'राजावलिकथे' में शिवकोटिका जिस ढंगसे उल्लेख पाया जाता है और पट्टावली तथा शिलालेखों आदिद्वारा उसका जैसा कुछ समर्थन होता है उस परसे मेरी यही राय होती है कि 'शिवकोटि' नामका अथवा उस व्यक्तित्वका कोई राजा जरूर हुआ है, और उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है; ब्रह्मनेमिदत्तने जो उसे वाराणसी (काशी-बनारस) का राजा लिखा है वह कुछ

* कांचीका एक पल्लवराजा 'शिवस्कंद वर्मा' भी था, जिसकी ओरसे 'मायिदावोलु' का दानपत्र लिखा गया है, ऐसा मद्रासके प्रो० ए० चक्रवर्ती 'पंचास्तिकाय' की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। आपकी सूचनाओंके अनुसार यह राजा ईसाकी १ ली शताब्दीके करीब (विष्णुगोपसे भी पहले) हुआ जान पड़ता है।

+ देखो, विंसेंट ए० स्मिथ साहबका 'भारतका प्राचीन इतिहास' (Early History of India), तृतीय संस्करण, पृ० ४७१ से ४७६।

* शिवकोटिसे मिलते जुलते शिवस्कंदवर्मा (पल्लव), शिवमृगेशवर्मा (कदम्ब), शिवकुमार (कुन्दकुन्दका शिष्य), शिवस्कंद वर्मा हारितीपुत्र (कदम्ब), शिवस्कंद शातकर्णि (आन्ध्र), शिवमार (गंग), शिवश्री (आन्ध्र), और शिवदेव (लिच्छिवि), इत्यादि नामोंके धारक भी राजा हो गये हैं। संभव है कि शिवकोटिका कोई ऐसा ही नाम रहा हो, अथवा इनमेंसे ही कोई शिवकोटि हो।

ठीक प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म नेमिदत्तकी कथामें और भी कई बातें ऐसी हैं जो ठीक नहीं जँचती। इस कथामें लिखा है कि—

"कांचीमें उस वक्त भस्मक व्याधिको नाश करने के लिये समर्थ (स्निग्धादि) भोजनोंकी सम्प्राप्तिका अभाव था, इसलिये समन्तभद्र कांचीको छोड़कर उत्तरकी ओर चल दिये। चलते चलते वे 'पुण्ड्रेन्दु-नगर'‡ में पहुंचे, वहाँ बौद्धोंकी महती दानशालाको देखकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुकका रूप धारण किया, परन्तु जब वहाँ भी महाव्याधिकी शान्तिके योग्य आहार का अभाव देखा तो आप वहाँ से निकल गये और क्षुधासे पीडित अनेक नगरोंमें घूमते हुए 'दशपुर' नामके नगरमें पहुंचे। इस नगरमें भागवतों (वैष्णवों) का उन्नत मठ देखकर और यह देखकर कि यहाँपर भागवत लिङ्गधारी साधुओंको भक्तजनों द्वारा प्रचुर परिमाणमें सदा विशिष्ट आहार भेंट किया जाता है, आपने बौद्ध वेषका परित्याग किया और भागवत वेष धारण कर लिया, परन्तु यहाँका विशिष्टाहार भी आपकी भस्मक व्याधिको शान्त करनेमें समर्थ न हो सका और इस लिये आप यहाँ से भी चल दिये। इसके बाद नानादिग्देशादिकोंमें घूमते हुए आप अन्तको 'वाराणसी' नगरी पहुँचे और वहाँ अपने योगिलिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमें प्रवेश किया। इस शिवालयमें शिवजीके भोगके लिये तय्यार किये हुए अठारह प्रकारके सुन्दर श्रेष्ठ भोजनोंके समूहको देखकर आपने सोचा कि यहाँ मेरी दुर्व्याधि जरूर शान्त हो जायगी। इसके बाद जब पूजा हो चुकी और वह दिव्य आहार—ढेरका ढेर नैवेद्य—बाहर निक्षेपित किया गया तब आपने एक युक्तिके द्वारा लोगों तथा राजाको आश्चर्यमें डालकर शिवको भोजन करानेका काम अपने हाथमें लिया। इस पर राजाने घी, दूध, दही और मिठाई (इक्षुरस) आदिसे मिश्रित नाना प्रकारका दिव्य भोजन प्रचुर परिमाणमें (पूर्णैः कुंभशतैर्युक्तं=भरे हुए सौ घड़ों जितना) तय्यार कराया और उसे शिवभोजनके लिये योगिराजके सुपुर्द किया। समंतभद्रने वह भोजन स्वयं खाकर जब मंदिरके कपाट खोले और खाली बरतनोंको बाहर उठा ले जानेके लिये कहा, तब राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। यही समझा गया कि योगिराजने अपने योगबलसे साक्षात शिवको अवतारित करके यह भोजन उन्हें ही कराया है। इससे राजाकी भक्ति बढ़ी और वह नित्य ही उत्तमोत्तम नैवेद्यका समूह तैयार करा कर भेजने लगा। इस तरह, प्रचुर परिमाणमें उत्कृष्ट आहारका सेवन करते हुए, जब पूरे छह महीने बीत गये तब आपकी व्याधि एकदम शांत होगई और आहारकी मात्रा प्राकृतिक हो जाने के कारण वह सब नैवेद्य प्रायः ज्योंका त्यों बचने लगा। इसके बाद राजाको जब यह खबर लगी कि योगी स्वयं ही वह भोजन करता रहा है और 'शिव' को प्रणाम तक भी नहीं करता तब उसने कुपित होकर योगीसे प्रणाम न करनेका कारण पूछा। उत्तरमें योगिराजने यह कह दिया कि 'तुम्हारा यह रागी द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता। मेरे नमस्कारको सहन करनेके लिये वे जिन-

‡ 'पुण्ड्र' नाम उत्तर बंगालका है जिसे 'पौण्ड्रवर्धन' भी कहते हैं। 'पुण्ड्रेन्दु नगर'से उत्तर बंगालके इन्दुपुर, चन्द्रपुर अथवा चन्द्रनगर आदि किसी खास शहरका अभिप्राय जान पड़ता है। छपेहुए 'आराधनाकथाकोश' (श्लोक ११) में ऐसा ही पाठ दिया है। संभव है कि वह कुछ अशुद्ध हो।

सूर्य ही समर्थ हैं जो अठारह दोषोंसे रहित हैं और केवलज्ञानरूपी सत्तेजसे लोकालोकके प्रकाशक हैं। यदि मैंने नमस्कार किया तो तुम्हारा यह देव (शिवलिङ्ग) विदीर्ण हो जायगा—खंड खंड हो जायगा—इसीसे मैं नमस्कार नहीं करता हूं'। इस पर राजाका कौतुक बढ़ गया और उसने नमस्कारके लिये आग्रह करते हुए, कहा—'*यदि यह देव खंड खंड हो जायगा तो हो जाने दीजिये, मुझे तुम्हारे नमस्कारके सामर्थ्य को जरूर देखना है*। समंतभद्रने इसे स्वीकार किया और अगले दिन अपने सामर्थ्यको दिखलानेका वादा किया। राजाने 'एवमस्तु' कह कर उन्हें मन्दिरमें रक्खा और बाहरसे चौकी पहरेका पूरा इन्तजाम कर दिया। दो पहर रात बीतने पर समंतभद्रको अपने वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, उससे अम्बिकादेवीका आसन डोल गया। वह दौड़ी हुई आई, आकर उसने समंतभद्रको आश्वासन दिया और यह कह कर चली गई कि तुम '**स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले**' इस पदसे प्रारंभ करके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उन्नत स्तुति रचो, उसके प्रभावसे सब काम शीघ्र हो जायगा और यह कुलिंग टूट जायगा। समन्तभद्रको इस दिव्यदर्शनसे प्रसन्नता हुई और वे निर्दिष्ट स्तुतिको रचकर सुखसे स्थित हो गये। सवेरे (प्रभात समय) राजा आया और उसने वही नमस्कारद्वारा सामर्थ्य दिखलानेकी बात कही। इस पर समन्तभद्रने अपनी उस महास्तुतिको पढ़ना प्रारंभ किया। जिस वक्त 'चंद्रप्रभ' भगवानकी स्तुति करते हुए '**तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं**' यह वाक्य पढ़ा गया उसी वक्त वह 'शिवलिंग' खंड खंड होगया और उस स्थानसे '**चंद्रप्रभ**' भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा महान् जयकोलाहलके साथ प्रकट हुई। यह देखकर राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ और राजाने उसी समय समन्तभद्रसे पूछा—हे योगीन्द्र, आप महासामर्थ्यवान अव्यक्तलिंगी कौन हैं? इसके उत्तरमें समन्तभद्रने नीचे लिखे दो काव्य कहे—

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं
मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिंडः
पुण्ड्रोण्ड्रे† शाक्यभिक्षुः
दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं
शशिधरधवलः* पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्ति शक्तिः,
स वदतु‡ पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी॥

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं

इसके बाद समन्तभद्रने कुलिंगिवेष छोड़कर जैननिर्ग्रंथ लिंग धारण किया और संपूर्ण एकान्तवादियों को वादमें जीतकर जैनशासनकी प्रभावना की। यह सब देखकर राजाको जैनधर्ममें श्रद्धा होगई, वैराग्य हो आया और राज्य छोड़कर उसने जिनदीक्षा धारण करली +।"

---

† संभव है कि यह 'पुण्डोड्रे' पाठ हो, जिससे 'पुण्ड्र'—उत्तर बंगाल—और 'उड्र'—उड़ीसा—दोनोंका अभिप्राय जान पड़ता है।

* कहींपर 'शशधरधवलः' भी पाठ है जिसका अर्थ चंद्रमा के समान उज्वल होता है।

‡ 'प्रवदतु' भी पाठ कहीं कहीं पर पाया जाता है।

+ब्रह्म नेमिदत्तके कथनानुसार उनका कथाकोश भट्टारक प्रभाचन्द्रके उस कथाकोशके आधारपर बना हुआ है जो गद्यात्मक है और जिसको पूरी तरह देखनेका मुझे अभी

नेमिदत्तके इस कथनमें सबसे पहले यह बात कुछ जीको नहीं लगती कि 'कांची' जैसी राजधानी में अथवा और भी बड़े बड़े नगरों, शहरों तथा दूसरी राजधानियोंमें भस्मक व्याधिको शांत करने योग्य भोजनका उस समय अभाव रहा हो और इस लिये समंतभद्रको सुदूर दक्षिणसे सुदूर उत्तर तक हजारों मीलकी यात्रा करनी पड़ी हो। उस समय दक्षिणमें ही बहुतसी ऐसी दानशालाएँ थीं जिनमें साधुओंको भरपेट भोजन मिलता था, और अगणित ऐसे शिवालय थे जिनमें इसी प्रकारसे शिवको भोग लगाया जाता था, और इस लिये जो घटना काशी (बनारस) में घटी वह वहाँ भी घट सकती थी। ऐसी हालतमें, इन सब संस्थाओंसे यथेष्ट लाभ न उठा कर, सुदूर उत्तरमें काशीतक भोजनके लिये भ्रमण करना कुछ समझमें नहीं आता। कथामें भी यथेष्ट भोजनके न मिलनेका कोई विशिष्ट कारण नहीं बतलाया गया—सामान्यरूपसे **'भस्मकव्याधि-विनाशाहारहानितः'** ऐसा सूचित किया गया है, जो पर्याप्त नहीं है। दूसरे, यह बात भी कुछ असंगत सी मालूम होती है कि ऐसे गुरु, स्निग्ध, मधुर और श्लेष्मल गरिष्ट पदार्थोंका इतने अधिक (पूर्ण शतकुंभ जितने) परिमाणमें नित्य सेवन करने पर भी भस्मकाग्निको शांत होनेमें छह महीने लग गये हों। जहाँ तक मैं समझता हूँ और मैंने कुछ अनुभवी वैद्योंसे भी इस विषयमें परामर्श किया है, यह रोग भोजनकी इतनी अच्छी अनुकूल परिस्थितिमें अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकता, और न रोगकी ऐसी हालतमें पैदलका इतना लम्बा सफ़र ही बन सकता है। इस लिये, 'राजावलिकथे' में जो पाँच दिनकी बात लिखी है वह कुछ असंगत प्रतीत नहीं होती। तीसरे, समंतभद्रके मुखसे उनके परिचयके जो दो काव्य कहलाये गये हैं वे बिलकुल ही अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। प्रथम तो राजाकी ओरसे उस अवसरपर वैसे प्रश्नका होना ही कुछ बेढंगा मालूम देता है—वह अवसर तो राजाका उनके चरणोंमें पड़ जाने और क्षमा-प्रार्थना करनेका था—दूसरे समंतभद्र, नमस्कारके लिये आग्रह किये जानेपर, अपना इतना परिचय दे भी चुके थे कि वे 'शिवोपासक' नहीं हैं बल्कि 'जिनोपासक' हैं, फिर भी यदि विशेष परि-

तक कोई अवसर नहीं मिल सका। सुहृद्वर पं० नाथूराम जी प्रेमीने मेरी प्रेरणासे, दोनों कथाकोशोंमें दी हुई समन्तभद्रकी कथाका परस्पर मिलान किया है और उसे प्रायः समान पाया है। आप लिखते हैं—"दोनोंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण पद्यानुवाद है। पादपूर्ति आदिके लिये उसमें कहीं कहीं थोड़े बहुत शब्द—विशेषण अव्यय आदि—अवश्य बढ़ा दिये गये हैं। नेमिदत्तद्वारा लिखित कथाके ११ वें श्लोकमें 'पुण्ड्रेन्दुनगरे' लिखा है, परन्तु गद्यकथा में 'पुण्ड्रनगरे' और 'वन्दक-लोकाना स्थाने' की जगह 'वन्दकाना बृहद्विहारे' पाठ दिया है। १२ वें पद्यके 'बौद्धलिंगकं' की जगह 'वंदकलिंगं' पाया जाता है। शायद 'वंदक' बौद्धका पर्याय शब्द हो। 'काञ्च्या नग्नाटकोऽहं' आदि पद्योंका पाठ ज्योंका त्यों है। उसमें 'पुण्ड्रोण्ड्रे' की जगह 'पुण्ढोण्ढ्रे' 'ठक्कविषये' की जगह 'टक्कविषये' और 'वैदिशे' की जगह 'वैदुषे' इस तरह नाममात्रका अन्तर दीख पड़ता है।" ऐसी हालतमें, नेमिदत्तकी कथाके इस सारांशको प्रभाचन्द्रकी कथाका भी सारांश समझना चाहिये और इस पर होनेवाले विवेचनादिको उसपर भी यथासंभव लगा लेना चाहिये। 'वन्दक' बौद्धका पर्याय नाम है यह बात परमात्मप्रकाश की ब्रह्मदेवकृतटीकाके निम्न अंशसे भी प्रकट है—

"खवणउ वंदउ सेवडउ, क्षपणको दिगम्बरोऽहं, वंदको बौद्धोऽहं, श्वेतपटादिलिंगधारकोहऽमितिमूढात्मा एवं मन्यत इति।"

चयके लिये वैसे प्रश्नका किया जाना उचित ही मान लिया जाय तो उसके उत्तरमें समन्तभद्रकी ओरसे उनके पितृकुल और गुरुकुलका परिचय दिये जानेकी, अथवा अधिकसे अधिक उनकी भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति और उसकी शांतिके लिये उनके उस प्रकार भ्रमणकी कथाको भी बतला देनेकी ज़रूरत थी; परंतु उक्त दोनों पद्योंमें यह सब कुछ भी नहीं है—न पितृकुल अथवा गुरुकुलका कोई परिचय है और न भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति आदिका ही उसमें कोई खास ज़िक्र है—दोनोंमें स्पष्टरूपसे वादकी घोषणा है; बल्कि दूसरे पद्यमें तो, उन स्थानोंका नाम देते हुए जहां पहले वादकी भेरी बजाई थी, अपने इस भ्रमण का उद्देश्य भी 'वाद' ही बतलाया गया है। पाठक सोचें, क्या समंतभद्रके इस भ्रमणका उद्देश्य 'वाद' था? क्या एक प्रतिष्ठित व्यक्तिद्वारा विनीत भावसे परिचयका प्रश्न पूछे जानेपर दूसरे व्यक्तिका उसके उत्तरमें लड़ने झगड़नेके लिये तय्यार होना अथवा वादकी घोषणा करना शिष्टता और सभ्यताका व्यवहार कहला सकता है? और क्या समंतभद्र जैसे महान् पुरुषोंके द्वारा ऐसे उत्तरकी कल्पना की जा सकती है? कभी नहीं। पहले पद्यके चतुर्थ चरणमें यदि वादकी घोषणा न होती तो वह पद्य इस अवसर पर उत्तरका एक अंग बनाया जा सकता था; क्योंकि उसमें अनेक स्थानों पर समंतभद्रके अनेक वेष धारण करनेकी बातका उल्लेख है *। परन्तु दूसरा पद्य तो यहाँ पर कोरा अप्रासंगिक ही है—वह पद्य तो 'करहाटक' नगरके राजाकी सभामें कहा हुआ पद्य है उसमें अपने पिछले वादस्थानोंका परिचय देते हुए, साफ़ लिखा भी है कि मैं अब उस करहाटक (नगर) को प्राप्त हुआ हूं जो बहुभटोंसे युक्त है, विद्याका उत्कट-स्थान है और जनाकीर्ण है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि बनारसके राजाके प्रश्नके उत्तरमें समंतभद्रसे यह कहलाना कि अब मैं इस करहाटक नगरमें आया हूं कितनी बे-सिरपैरकी बात है, कितनी भारी भूल है और उससे कथामें कितनी कृत्रिमता आ जाती है। जान पड़ता है ब्रह्म नेमदत्त इन दोनों पुरातन पद्योंको किसी तरह कथामें संगृहीत करना चाहते थे और उस संग्रहकी धुनमें उन्हें इन पद्योंके अर्थसम्बन्धका कुछ भी ख़याल नहीं रहा। यही वजह है कि वे कथामें उनको यथेष्ट स्थान पर देने अथवा उन्हें ठीक तौर पर संकलित करनेमें कृतकार्य नहीं हो सके। उनका इस प्रसंग पर,

'स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः'

यह लिखकर, उक्त पद्योंका उद्धृत करना कथाके गौरव और उसकी अकृत्रिमताको बहुत कुछ कम कर देता है। इन पद्योंमें वादकी घोषणा होनेसे ही ऐसा मालूम देता है कि ब्रह्म नेमिदत्तने, राजामें जैन धर्मकी श्रद्धा उत्पन्न करानेसे पहले, समंतभद्रका एकान्तवादियोंसे वाद कराया है; अन्यथा इतने बड़े चमत्कारके अवसर पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। कांचीके बाद समंतभद्रका वह भ्रमण भी पहले पद्यको लक्ष्यमें रखकर ही कराया गया मालूम

* यह बतलाया गया है कि "कांचीमें मैं नग्नाटक (दिगम्बर साधु) हुआ, वहाँ मेरा शरीर मलिसे मलिन था; लाम्बुश में पाण्डुपिण्ड रूपका धारक (भस्म रमाए शैवसाधु) हुआ; पुण्ड्रोड्रमें बौद्ध भिक्षुक हुआ; दशपुर नगरमें मृष्ट-भोजी परिव्राजक हुआ, और वाराणसीमें शिवसमान उज्ज्वल पाण्डुर अंगका धारी मैं तपस्वी (शैवसाधु) हुआ हूँ; हे राजन् मैं जैन निर्ग्रंथवादी हूँ, जिस किसीकी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सामने आकर वाद करे।"

होता है। यद्यपि उसमें भी कुछ त्रुटियाँ हैं—वहाँ, पद्यानुसार कांचीके बाद, लांबुशमें समंतभद्रके 'पाण्डुपिण्ड' रूपसे (शरीरमें भस्म रमाए हुए) रहनेका कोई उल्लेख ही नहीं है, और न दशपुरमें रहते हुए उनके मृष्टभोजी होनेकी प्रतिज्ञाका ही कोई उल्लेख है। परंतु इन्हें रहने दीजिये, सबसे बड़ी बात यह है कि उस पद्यमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है जिससे यह मालूम होता हो कि समंतभद्र उस समय भस्मक व्याधिसे युक्त थे अथवा भोजनकी यथेष्ट प्राप्तिके लिये ही उन्होंने वे वेष धारण किये थे*। बहुत संभव है कि कांचीमें 'भस्मक' व्याधिकी शांतिके बाद समंतभद्रने कुछ अर्से तक और भी पुनर्जिनदीक्षा धारण करना उचित न समझा हो; बल्कि लगे हाथों शासनप्रचारके उद्देशसे, दूसरे धर्मों के आन्तरिक भेदको अच्छी तरहसे मालूम करनेके लिये उस तरह पर भ्रमण करना जरूरी अनुभव किया हो और उसी भ्रमणका उक्त पद्यमें उल्लेख हो; अथवा यह भी हो सकता है कि उक्त पद्यमें समंतभद्रके निर्ग्रंथमुनिजीवनसे पहले की कुछ घटनाओंका उल्लेख हो जिनका इतिहास नहीं मिलता और इस लिये जिन पर कोई विशेष राय कायम नहीं की जा सकती। पद्यमें किसी क्रमिक भ्रमणका अथवा घटनाओंके क्रमिक होनेका उल्लेख भी नहीं है; कहाँ कांची और कहाँ उत्तर बंगालका पुण्ड्रनगर! पुण्ड्रसे वाराणसी निकट, वहां न जाकर उज्जैनके पास 'दशपुर' जाना और फिर वापिस वाराणसी आना, ये बातें क्रमिक भ्रमणको सूचित नहीं करतीं। मेरी रायमें पहली बात ही ज्यादा संभवनीय मालूम होती है। अस्तु; इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, ब्रह्म नेमिदत्तकी कथा के उस अंशपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता जो कांचीसे बनारस तक भोजनके लिये भ्रमण करने और बनारसमें भस्मक व्याधिकी शांति आदिसे सम्बन्ध रखता है, खासकर ऐसी हालतमें जब कि 'राजावलिकथे' साफ तौरपर कांचीमें ही भस्मक व्याधिकी शांति आदिका विधान करती है और सेनगणकी पट्टावली से भी उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

जहाँ तक मैंने इन दोनों कथाओंकी जाँच की है मुझे 'राजावलिकथे' में दी हुई समंतभद्रकी कथामें बहुत कुछ स्वाभाविकता मालूम होती है—मणुवकहल्लि ग्राममें तपश्चरण करते हुए भस्मक व्याधिका उत्पन्न होना, उसकी निःप्रतीकारावस्थाको देखकर समंतभद्रका गुरुसे सल्लेखना व्रतकी प्रार्थना करना, गुरुका प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए मुनिवेष छोड़ने और रोगोपशांतिके पश्चात् पुनर्जिनदीक्षा धारण करने की प्रेरणा करना, 'भीमलिंग' नामक शिवालयका और उसमें प्रतिदिन १२ खंडुग परिमाण तंडुलान्नके विनियोगका उल्लेख, शिवकोटि राजाको आशीर्वाद देकर उसके धर्मकृत्योंका पूछना, क्रमशः भोजनका अधिक अधिक बचना, उपसर्गका अनुभव होते ही उसकी निवृत्तिपर्यन्त समस्त आहार-पानादिकका त्याग करके समन्तभद्रका पहलेसे ही जिनस्तुतिमें लीन होना, चंद्रप्रभकी स्तुतिके बाद शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति

---

*कुछ जैन विद्वानोंने इस पद्यका अर्थ देते हुए 'मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः' पदोंका कुछ भी अर्थ न देकर उसके स्थानमें 'शरीरमें रोग होनेसे' ऐसा एक खंडवाक्य दिया है; जो ठीक नहीं है। इस पद्यमें एक स्थानपर 'पाण्डुपिण्डः' और दूसरे पर 'पाण्डुरागः' पद आये हैं जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो वेष वाराणसीमें धारण किया है वही लाम्बुशमें भी धारण किया था। हर्षका विषय है कि उन लेखकोंमेंसे प्रधान लेखकने मेरे लिखने पर अपनी उस भूलको स्वीकार किया है और उसे अपनी उस समयकी भूल माना है।

भी करते रहना, महावीर भगवान्की स्तुतिकी समाप्ति पर चरणोंमें पड़े हुए राजा और उसके छोटे भाईको आशीर्वाद देकर उन्हें सद्धर्मका विस्तृत स्वरूप बतलाना, राजाके पुत्र 'श्रीकंठ' का नामोल्लेख, राजा के भाई 'शिवायन' का भी राजाके साथ दीक्षा लेना, और समंतभद्रकी ओरसे भीमलिंग नामक महादेवके विषयमें एक शब्द भी अविनय या अपमानका न कहा जाना, **ये सब बातें, जो नेमिदत्तकी कथामें नहीं हैं,** इस कथाकी स्वाभाविकताको बहुत कुछ बढ़ा देती हैं। प्रत्युत इसके, नेमिदत्तकी कथासे कृत्रिमताकी बहुत कुछ गंध आती है, जिसका कितना ही परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इसके सिवाय, राजाका नमस्कारके लिये आग्रह, समन्तभद्रका उत्तर, और अगले दिन नमस्कार करनेका वादा, इत्यादि बातें भी उसकी कुछ ऐसी ही हैं जो जीको नहीं लगतीं और आपत्तिके योग्य जान पड़ती है। नेमिदत्तकी इस कथापरसे ही कुछ विद्वानोंका यह खयाल होगया था कि इसमें जिनबिम्बके प्रकट होनेकी जो बात कही गई है वह भी शायद कृत्रिम ही है और वह 'प्रभावकचरित' में दी हुई 'सिद्धसेन दिवाकर' की कथासे, कुछ परिवर्तनके साथ, ले ली गई जान पड़ती है—उसमें भी स्तुति पढ़ते हुए इसी तरह पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट होनेकी बात लिखी है। परन्तु उनका वह खयाल ग़लत था और उसका निरसन श्रवणबेल्गोलके उस मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेखसे भले प्रकार हो जाता है, जिसका '**वंद्यो भस्मक**' नामका प्रकृत पद्य ऊपर (पृ० ५२ पर) उद्धृत किया जा चुका है और जो उक्त प्रभावकचरितसे १५९ वर्ष पहिलेका लिखा हुआ है—प्रभावकचरितका निर्माणकाल वि० सं० १३३४ है और शिलालेख शक संवत् १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि चंद्रप्रभ-बिम्बके प्रकट होनेकी बात उक्त कथा परसे नहीं ली गई बल्कि वह समंतभद्रकी कथासे ख़ास तौरपर सम्बन्ध रखती है। दूसरे, एक प्रकारकी घटनाका दो स्थानोंपर होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि नमस्कारके लिये आग्रह आदिकी बात उक्त कथा परसे ले ली गई हो *। क्योंकि राजावलिकथे आदिमें उसका कोई समर्थन नहीं होता, और न समन्तभद्रके सम्बन्धमें वह कुछ युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणोंसे मेरा यह कहना है कि ब्रह्म नेमिदत्तने 'शिवकोटि' को जो वाराणसी का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; उसके अस्तित्वकी सम्भावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है, जो समन्तभद्रके निवासादिका प्रधान प्रदेश रहा है। अस्तु।

शिवकोटिने समन्तभद्रका शिष्य होनेपर क्या क्या कार्य किये और कौन कौनसे ग्रंथोंकी रचना की, यह सब एक जुदा ही विषय है जो ख़ास शिवकोटि आचार्यके चरित्र अथवा इतिहाससे सम्बन्ध रखता है, और इस लिये मैं यहां पर उसकी कोई विशेष चर्चा करना उचित नहीं समझता।

---

* यदि प्रभाचन्द्रभट्टारकका गद्य कथाकोश, जिसके आधार पर नेमिदत्तने अपने कथाकोशकी रचना की है, 'प्रभावकचरित' से पहलेका बना हुआ है तो यह भी हो सकता है कि उसपरसे ही प्रभावचरितमें यह बात ले ली गई हो। परन्तु साहित्यकी एकतादि कुछ विशेष प्रमाणोंके बिना दोनों ही के सम्बन्धमें यह कोई लाज़िमी बात नहीं है कि एकने दूसरेकी नकल ही की हो; क्योंकि एक प्रकारके विचारोंका दो ग्रन्थकर्ताओंके हृदयमें उदय होना भी कोई असंभव नहीं है।

'शिवकोटि' और 'शिवायन' के सिवाय समंतभद्र के और भी बहुत से शिष्य रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं है परन्तु उनके नामादिका अभी तक कोई पता नहीं चला, और इस लिये अभी हमें इन दो प्रधान शिष्योंके नामों पर ही संतोष करना होगा।

समन्तभद्रके शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति किस समय अथवा उनकी किस अवस्थामें हुई, यह जाननेका यद्यपि कोई यथेष्ट साधन नहीं है, फिर भी इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि वह समय, जब कि उनके गुरु भी मौजूद थे, उनकी युवावस्थाका ही था। उनका बहुतसा उत्कर्ष, उनके द्वारा लोकहितका बहुत कुछ साधन, स्याद्वादतीर्थके प्रभावका विस्तार और जैनशासनका अद्वितीय प्रचार, यह सब उसके बाद ही हुआ जान पड़ता है। 'राजावलिकथे' में तपके प्रभाव से उन्हें 'चारणऋद्धि' की प्राप्ति होना, और उनके द्वारा 'रत्नकरंडक' आदि ग्रंथोंका रचा जाना भी पुनर्दीक्षाके बाद ही लिखा है। साथ ही, इसी अवसर पर उनका खास तौर पर 'स्याद्वाद-वादी'—स्याद्वाद-विद्याके आचार्य—होना भी सूचित किया है *। इसीसे एडवर्ड राइस साहब भी लिखते हैं—

It is told of him that in early life he (Samantabhadra) performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhana, or starvation; but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith.

अर्थात्—समन्तभद्रकी बाबत यह कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवन (मुनिजीवन) की प्रथमावस्था में घोर तपश्चरण किया था, और एक अवपीडक या अपकर्षक रोगके कारण वे सल्लेखनाव्रत धारण करने हीको थे कि उनके गुरुने, यह देखकर कि वे जैनधर्म के एक बहुत बड़े स्तम्भ होने वाले हैं, उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया।

इस प्रकार यह स्वामी समन्तभद्रकी भस्मक-व्याधि और उसकी प्रतिक्रिया एवं शान्ति आदिकी घटनाका परिशिष्टरूपमें कुछ समर्थन और विवेचन है।

* 'आ भावि तीर्थकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरंगुल-चारणत्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेलि स्याद्वाद-वादिगल् आगि समाधिय् ओडेदरु ॥'

" वह बड़ा सुखी है जिसे न तो गत कल पर बेकली है और न आगत कल पर मनचली है।"

"विचार करने पर यही अनुभव होता है कि मनुष्यकी गति सुख (भोग) की ओर नहीं, किन्तु ज्ञानकी ओर है।"

" अपने कार्यमें जाग्रत रहने और यथाशक्ति उद्यम करते रहनेसे मनुष्य सन्तोष पा सकता है।"

" जो कुछ बाह्यजगतमें रहनेके लिये अत्यावश्यक है, उसीकी लपेटमें पड़े रहना मानव-जीवनका धर्म नहीं है।"

" मनुष्यको अपने प्रति वज्रसे भी कठोर होना चाहिये परन्तु औरोंके प्रति नहीं।"

" भूल चूक, हानि, कष्ट आदिके बीच होकर मनुष्य पूर्णताके मार्गमें आगे बढ़ता है।"

" उन्नतिका अर्थ यह है कि जो आवश्यक है, उसीका ग्रहण किया जाय और अनावश्यकका त्याग।"

" नियमपूर्वक काम करो, परन्तु नियम विवेक-पूर्वक बनाओ। अन्यथा, परिणाम यह होगा कि तुम नियमके लिये बन जाओगे।" —विचारपुष्पोद्यान

पुण्य-पाप

पुण्य-पापका यह है परिचय !
पाप, सदा काँपा करता है—
और पुण्य, रहता है निर्भय !!
पुण्य-पापका यह है परिचय !!

× × ×

पाप, दीन-दु:खित-मलीन-सा—
रहता है, ले मौनालम्बन !
पुण्य, तेज-मय हँसते-हँसते—
करता है सुख-जीवन-यापन !!
किन्तु सगे भाई हैं दोनों—
दोनोंका अभिन्न है आलय !
पुण्य-पापका यह है परिचय !!

× × ×

पाप, गुलामीकी कटुताका—
करता रहता है आस्वादन !
किन्तु पुण्य, स्वातंत्र-सौख्यका—
करता है अनुभव, आलिंगन !!
एक शब्दमें—पुण्य विजय है,
और पाप है, घोर-पराजय
पुण्य-पापका यह है परिचय !

× × ×

पाप, ठोकरें खाता फिरता,
रोता है, होकर अपमानित !
पुण्य, दुलार-प्यारकी गोदी—
में पलकर होता है विकसित !!
पाप, निराशाकी रजनी है;
पुण्य, सफल आशाका अभिनय !!
यह है पुण्य-पापका परिचय !!

श्री 'भगवत्' जैन

हल्दी घाटी

माँ, तपस्विनी ! हल्दीघाटी !
क्यों उदास हो मन में ?
आंक चुकीं क्या महा-समरका—
रक्त – चित्र जीवनमें ?

भंग करो अपनी नीरवता,
अनुभव कुछ बतलाओ !
वीरोचित कर्तव्य सुझाकर,
हमें स–शक्त बनाओ !!
देख चुकीं हो तुम वीरोंके–
उष्ण - रक्तकी धारें !
सम्मुख ही तो नहा रहीं थीं—
शोणितसे तलवारें !!

तुमने देखा है स्वदेश पर—
अपने प्राण चढ़ाते !
जीवन - मरण - समस्याका—
तात्विक स्वरूप समझाते !!
तुम्हें याद है बलिवेदी पर—
प्राण चढ़ा प्रण पाला !
इसी शून्यमें कभी जली थी—
आज़ादी की ज्वाला !!
तीर्थरूप हो वीर - नरोंको—
जागृति - दीप सँजोए !
यहां अखण्ड समाधि लगाकर,
देश भक्त हैं सोए !!

श्री 'भगवत्' जैन

विवाह कब किया जाय ?

(लेखिका—श्रीललिताकुमारी पाटणी 'विदुषी', प्रभाकर)

विवाह कब किया जाय यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका हरएक व्यक्तिके लिए एक-सा उत्तर नहीं हो सकता। कारण कौन व्यक्ति किस समय विवाहके उत्तरदायित्वको झेलनेकी सामर्थ्य रख सकता है, यह उसकी अपनी परिस्थितिके ऊपर निर्भर है। कुछ विद्वान् विवाहके बारेमें वय-सम्बन्धी समस्याका समाधान करनेके लिये स्त्री और पुरुष दोनोंकी एक उम्र निश्चित करते हैं जो उनके लिये विवाहका उपयुक्त समय कहा जाता है। किन्तु उस उम्रकी अवधिमें भी गरम और ठण्डे जलवायु तथा सामाजिक वातावरणकी भिन्नतासे स्थान व समाज भेदके अनुसार फर्क हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि जो देश शीतप्रधान हैं उनमें रहने वाले स्त्री-पुरुषों की अपेक्षा उष्ण देशोंमें रहने वाले स्त्री-पुरुषोंको विवाह-वय यानी युवावस्था समयसे कुछ पहले ही प्राप्त हो जाती है। फिर भी समाज-विज्ञानके विद्वान् वर्तमान समयमें सामान्य तौरपर स्त्रीके लिये विवाह काल १४–१६ और पुरुष के लिए २०-२४ वर्षकी अवस्था मानते हैं। विवाहका यह समय निर्धारित करनेमें केवल स्वास्थ्य और शारीरिक सङ्गठन-को महत्व दिया गया है। इसमें स्त्री और पुरुषोंकी वैयक्तिक परिस्थितियों और विशेष अवस्थाओंकी ओर विचार नहीं किया गया। कारण व्यक्तिगत परिस्थिति हरएक व्यक्तिकी भिन्न-भिन्न होती है और उसके अनुसार उनके लिये विवाहकी अवस्था भी भिन्न ही होना चाहिये। कहनेका मतलब यह है कि १४ और २० वर्षकी अवस्था प्राप्त होनेपर स्त्री-पुरुष येन केन प्रकारेण अपना विवाह रचा ही डालें इस मतसे यह आज्ञा नहीं मिल जाती है। हमें हमारी कुछ और परिस्थितियों, योग्यताओं और अवस्थाओंपर भी विचार करना पड़ेगा। यदि हम उनकी उपेक्षा कर बैठेंगे तो कदाचित विवाहका फल भी हमें कटु ही मिलेगा, मधुर नहीं। इस लिये विवाहके लिये अवस्था क्रम सम्बन्धी मतसे यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि १४ वर्षसे पहले स्त्रियोंको और २० वर्षसे पहले पुरुषोंको भूलकर भी विवाहक्षेत्रमें कदम नहीं उठाना चाहिये। वरना वे अपने सुन्दर भविष्य-जीवनको जान-बूझकर बरबाद कर देंगे और इस अलभ्य—मनुष्य—पर्यायको अनायास ही खो बैठेंगे। देखना चाहिये कि विवाहके अवस्थाक्रम सम्बन्धी इस मतका हमारे समाजमें कहां तक आदर है ?

यह तो प्रसन्नताकी बात है कि "अष्टवर्षा भवेद्गौरी नव-वर्षा च रोहिणी" ऐसी मान्यताएँ समाजके समझदार और बुद्धिमान लोगोंकी दृष्टिमें अब हेय समझी जाने लगी हैं और ऐसी मान्यताओंके विरुद्ध समाज-हित-चिन्तक लोग आन्दोलन भी खूब कर रहे हैं तथा उन आन्दोलनोंमें थोड़ी-बहुत सफलता भी मिली है। उन आन्दोलनोंके कारण ही बाल-विवाह की बढ़ती हुई बाढ़की ओर ब्रिटिश गवर्नमेंटका भी ध्यान आकर्षित हुआ और उसको रोकनेकी आवश्यकता सरकारने महसूस की। फलस्वरूप शारदा एक्ट पास किया गया और उसके अनुसार अंग्रेजी हलकोंमें १४ वर्षसे पहले किसी भी बालिका और १८ वर्षसे पहले किसी भी बालकका विवाह नहीं किया जा सकता। किन्तु खेद है कि उन आन्दोलनोंका देशी राज्यों और खासकर हमारे राजपूतानेमें अभी तक यथेष्ट फल नहीं हुआ। कारण यही है कि अभी तक इधर हमारे समाजमें अशिक्षा और अज्ञानका विस्तार खूब है और वह उन्हें पुरानी रूढ़ियों और कुरीतियोंके जरा भी खिलाफ जानेसे रोकता है। फलस्वरूप हर साल हजारों ही बाल-विवाहके उदाहरण हमारे ग्राम्य और समाजमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

शहरोंमें और विशेषकर शिक्षित जातियोंमें तो फिर भी इनका प्रचार कम हो रहा है। किन्तु गांवोंमें और अशिक्षित वर्गमें अभी तक बाल-विवाहका दौरदौरा ज्योंका त्यों है। उसमें अभी तक कोई कमी नहीं दिखलाई देती। कहीं-कहीं तो बाल-विवाहके अत्यन्त हृदयद्रावक और आश्चर्य पैदा करने वाले दृश्य देखनेको मिलते हैं। पाठक पढ़कर हैरान होंगे कि हमारे देशमें लाखों विधवायें तो ऐसी हैं जिनकी उम्र दस वर्षसे भी कम है। सैंकड़ों विधवायें ऐसी हैं जिनकी उम्र पांच वर्षसे भी कम है। कुछ जातियां और वर्ग ऐसे भी हैं जिनमें एक एक वर्ष और दो-दो तीन-तीन वर्षके दुधमुंहे बच्चे-बच्चियोंकी शादियां (?) (अफसोस! मुझे तो ऐसी शादियों-को शादी कहते हुए भी लज्जा मालूम होती है) करदी जाती हैं। इन्हें हम देशको व समाजको गहरे कुएमें धक्का देकर ढकेल देने वाली कुप्रथाओंके अतिरिक्त और कुछ कहनेका साहस करेंगे तो वह हमारा दुस्साहस ही होगा। और तो और हमारे समाजमें ऐसे उदाहरण भी आप देखते और सुनते होंगे कि आज दो माताओंके बिल्कुल नवजात शिशुओं का गोद ही गोदमें बड़ी धूमधामके साथ विवाह हो गया और उसमें बड़ी शानदार बरात सजकर आई। ऐसा मालूम होता था कि एक सशस्त्र सेना सैकड़ों बांके सिपाहियोंकी संख्यामें किसी देशकी राज्यलक्ष्मीको लूटने आई हो। (शायद वह दो अबोध-हृदय बालक-बालिकाओंके स्वर्णमय जीवन-लक्ष्मीको लूटने चली थी) विवाहमें बड़े ठाठकी जीमणवार हुई और जुलूसोंमें आतिशबाजीकी खूब ही धूम रही।

ऐसी अवस्थामें यह मानना ही पड़ेगा कि समाजमें बालविवाहका दौरदौरा अभी बहुत अधिक है और उसे नष्ट करनेके लिये जितना अधिक प्रयत्न किया जाय थोड़ा है। इन विवाहोंकी तादादको कम करने और धीरे-धीरे समूल नष्ट करनेके लिये ऐसी सभा-समितियोंकी बहुत अधिक आवश्यकता है जो गांव-गांव और मुहल्ले-मुहल्लेमें घूमकर लोगोंको बाल-विवाहसे होने वाली हानियोंको समझावे और उनके जमे हुए संस्कारोंको दूर करे।

मैं उन माता-पिताओंकी अक्लमन्दी और होशियारीकी कितनी अधिक तारीफ़ (?) करूँ, जो अपनी अबोध बालिकाका छुटपनमें ही ब्याह कर आप अपनी जिम्मेवारीसे बरी हो जाते हैं और उस गरीब कन्याको विवाहकी भयंकर उलझनमें पटक देते हैं तथा अपने बालू रेतमें खेलने वाले सरल हृदय पुत्रके लिये अपने घरके आंगनमें स्वच्छन्द वृत्तिसे खेलने-कूदने वाली बालिकाको दुनिया भरकी लाज और शर्मके रूपमें ला छोड़ते हैं तथा जल्द ही दो सुकुमार-हृदयोंके विनाशक और बेढंगे प्रतिबन्धके फलस्वरूप पौत्रका मुँह देखनेकी विषभरी आशा लगाये रहते हैं। मैं नहीं सोच सकती कि जो बालक-बालिकाएँ विवाहके अर्थको कतई नहीं समझते और विवाह-की जुम्मेवारीको संभालनेके लिये रंचमात्र भी सामर्थ्य नहीं रख सकते, उनके गलेमें विवाहका डरावना ढोल डालकर उनके माता-पिता उनसे किस पूर्व जन्मकी दुश्मनी निकालते हैं। याद रखिये, ऐसे माता-पिता दरअसल अपने मातृत्वके कर्तव्यपर कठोर कुठाराघात करते हैं और उनको अपने इस कर्तव्यघातका अवश्य ही कभी न कभी जवाब देना पड़ेगा। उनको समझ लेना चाहिये कि अपनी सन्तानको बचपनमें ही विवाहका घुन लगाकर वे उसका घुला-घुलाकर सर्वनाश करना चाहते हैं। बाल-विवाह समाजके लिये एक प्राण-नाशक जहर है इसमें सोचने और तर्क करनेकी कोई गुंजा-इश नहीं है। जो इसमें भी तर्क करनेका दुस्साहस करे तो समझिये वह परले दरजेका या तो हठी है या मूर्ख है। बेहद अफसोस और दुःखका विषय है कि शीघ्रबोध जैसे कुछ प्राचीन ग्रंथोंकी शरण लेकर कुछ सामयिक विद्वान् पण्डित भी बालविवाहकी हिमायत कर अपने देश व समाजको रसा-तलमें पहुँचानेसे नहीं हिचकते। महज़ वे कुछ अज्ञानी और हठी सेठ साहूकारों की झूठी खुशामदके वशमें आकर ही

अपनी विद्वत्ताका दुरुपयोग कर बैठते हैं। आर्थिक क्षुद्र स्वार्थोंके लिए समाजमें अहितकर और भिन्न सिद्धान्तोंका प्रचार करना वास्तवमें विद्वान् पुरुषोंको शोभा नहीं देता है। देशके सुधारक विद्वानोंको चाहिए कि वे बालक-बालिकाओंके जीवनको बरबाद करने वाले ऐसे सिद्धान्तोंका प्रचार न होने दें और समाजको पतनके मार्गमें जानेसे बचावें। बालविवाह समाजके लिये अहितकर नहीं है यह किसी भी युक्ति और तर्कसे साबित नहीं हो सकता। जिन बालक-बालिकाओंके जीवनकी कली खिलती भी नहीं है कि वह विवाह रूपी तेज़ छुरीसे काट दी जाती है। जो बुद्धिहीन लोग अनाज आया भी नहीं, और खेतको काट लेनेकी मन्शा रखते हैं, फल पका भी नहीं, और उसे दरख्तसे तोड़ लेना चाहते हैं, मंजरी आनेसे पहिले ही फूल सौरभकी आशा रखते हैं, मकान खड़ा होनेके पहले ही, उसमें रहनेका सुख-स्वप्न देखते हैं, वे ही अपने बच्चोंका बचपनमें ब्याहकर एक स्वर्गीय-सुख लूटना चाहते हैं। समझमें नहीं आता कि जीवनकी शुरुआत होनेके पहले ही उनके ऊपर विवाहका भारी बोझ रखकर उनके जीवनको वे क्यों नहीं फलने-फूलने देना चाहते? क्यों वे उनके दुर्लभ और आनन्दमय विद्यार्थी जीवनको कुचल देना चाहते हैं और क्यों उन स्वछन्द विहारी मुरारिके समवयस्क बालक-बालिकाओंको विवाहकी अंधेरी कोठरीमें लोहेके किवाड़ोंसे बन्द कर देना चाहते हैं, और ऐसा कर कौनसा अलौकिक सुख देखना पसन्द करते हैं।

बहुतसे लोग कहते हैं कि अल्द विवाह न करनेके कारण आजकलके लड़के-लड़की बिगड़ जाते हैं और समाजमें बद-नामी होनेका डर रहता है इसलिये समाज और हमारे घरोंकी लाज रखनेके लिए लड़कियोंका तो विवाह दस-ग्यारह वर्षकी अवस्था तक कर ही देना चाहिए। ऐसा कहने वालोंको विचारना चाहिए कि लड़कियोंका जल्द विवाह करके वे समाजको और इन चूने मिट्टीके घरोंको किस प्रशंसा और नेकनामीके ऊँचे आसमानकी ओर ले जायंगे? नेकनामी और बदनामीका सम्बन्ध विवाह कर देने या न कर देनेसे कतई नहीं है बल्कि हमारे अच्छे और बुरे आचरणसे है। बचपनमें ब्याहे हुए कोमल हृदय बालक-बालिकाओंसे संयम और सदाचारकी आशा रखना सांपसे अमृत उगलनेकी आशा रखना है। हम फोड़ेके मवादको दबानेकी कोशिश क्यों करते हैं, उसको निकालनेकी चेष्टा क्यों नहीं करें? जब तक मवाद नहीं निकलेगा दर्द मिटना असम्भव है। सफाई और सदा-चारकी स्थितिके लिए हम हमारे घरोंका और समाजका वाता-वरण शुद्ध और साफ रक्खें, सदाचारकी शिक्षाका प्रचार करें, बालक-बालिकाओंको असंयमकी कुशिक्षासे बचावे और सदा-चारकी ओर अग्रसर होनेका उपदेश दें। गलतियोंको विवाह की आड़में छिपाकर रखने और बढ़ानेमें कौनसी बुद्धिमानी है? बुद्धिमानी इसमें है कि गलती हो ही नहीं और यदि होगई है तो भविष्यमें सचेत रहा जाय। एक गलतीको छिपानेके लिए गलतियोंके समुद्रमें क्यों कूद पड़ें? इसलिए कि आज़ाद होकर गलतियोंसे अठखेलियां करते रहें? चोरी तो करें लेकिन अन्धेरेमें करें, उजालेमें नहीं? अफसोस!

और फिर एककी बदनामीका फल समाजके सब स्तम्भों को क्यों मिले? एक बदनामीसे बचनेके लिये हज़ारों बालक-बालिकाओंका अमूल्य जीवन क्यों बरबाद किया जाय? अगर घरके किसी एक कोनेमें आगकी चिनगारी सुलग गई है तो उसको बढ़नेसे रोकना चाहिए न कि घरभरमें आगकी लपटें लगादी जाएँ। जिन बालक-बालिकाओंका समयसे पहले ही ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है, चाहे वह विवाहकी विडम्बनाके आड़में हुआ हो या विवाहके पहले हुआ हो, दुराचार ही है। भले ही उन दोनोंमें समाजके कानूनकी दृष्टि से एक पाप न हो और एक पाप हो किन्तु ईश्वर और न्याय की दृष्टिमें वे दोनों ही एकसे पाप हैं और उसी पापके फलसे आज हमारा समाजरूपी शरीर गलित कोढ़की व्याधिसे

व्यथित और दु:खित मनुष्यकी तरह जर्जरित हो रहा है। इसलिए बालक-बालिकाओंका असमयमें विवाह कर समाज-को बदनाम होनेसे बचानेकी भावना रखना महान् मूर्खता है। चाहे हम किसी भी दृष्टिसे विचार करें, बाल-विवाह हर समय और हर हालतमें अनुचित ही है।

अगर हम अपने ज्ञान नेत्रको चारों ओर फैलाकर देखेंगे तो मालूम होगा कि असमयमें किए गए विवाहका परिणाम व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए भयंकर होता है। सर्व-प्रथम बालक-बालिकाओंके स्वास्थ्य और शरीरपर इसका घातक प्रभाव होता है। शरीर बीमारियोंका घर हो जाता है। मुख उदास और फीका दिखलाई पड़ता है। किसी भी कामके करनेमें तबियत नहीं लगती है। चारों ओर निराशा और अंधकार ही अन्धकार दिखलाई देता है। जहां यौवनकी उमंग और स्फूर्ति होनी चाहिए वहां उदासी और आलस्य-का कब्जा हो जाता है। सारी शक्ति निचोड़कर निकाल ली जाती है और उसकी जगह निर्बलता और नाताकतीका साम्राज्य छाया रहता है। बेचारी बहनोंकी हालत तो और भी दयनीय हो जाती है। १२–१६ वर्षकी अवस्था तक तो उनके सामने दो-दो तीन-तीन बच्चे खेलने लगते हैं। जिस अवस्थामें उनको अपने शरीरकी भी सुध नहीं होती है, उसमें बच्चोंके बोझसे वे ऐसी दब जाती हैं कि फिर जन्म भर दबी ही रहती हैं। इसके अतिरिक्त तपेदिक, प्रदर आदि भयानक बीमारियोंकी शिकार हो जाती हैं। इसी तरह जिन की बचपनमें शादी हो जाती है उनकी शिक्षाका क्रम भंग हो जाता है और वे उच्च शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते। यहां तक कि पुरुष-विद्यार्थी अपनी आजीविका चलाने योग्य शिक्षा से भी वंचित कर दिये जाते हैं और छात्राएँ अपनी गृहस्थी को सुचारुरूपसे चलानेकी शिक्षा भी प्राप्त किए बिना रह जाती हैं।

सामाजिक दृष्टिसे विचार करें तो समाजमें अयोग्य और बल-हीन सन्तानें पैदा होने लगती हैं, कारण बाल-दम्पतियों के जो सन्तानें होंगी वे निर्बल और अयोग्य ही होंगी। समाजका भविष्य उत्तम सन्ततिपर ही है। जब वही ठीक न होगी तो उसका पतन अवश्यम्भावी है और सच देखिये तो यही आज कल हो रहा है।

अतः छोटी अवस्थामें विवाह करना व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिये अहितकर है और तदनुसार कमसे कम १४ वर्षके पहले बालिकाओंका और २० वर्षके पहले बालकोंका विवाह भूलकर भी नहीं करना चाहिए।

इस अवस्था क्रमके सिद्धान्तके उपरान्त भी हर एक व्यक्ति यह देखे कि आया वह विवाहकी जुम्मेवारीको संभा-लनेके लिये पूर्णतः समर्थ हो सकेगा या नहीं। मान लीजिये एक पुरुष किसी संक्रामक रोगसे बीमार है तो उसे भूलकर भी एक बालिकाका जीवन खतरेमें नहीं डालना चाहिए। इसी तरह यदि कोई स्त्री भी ऐसी ही बीमारीमें फँसी हो तो उसे किसीके गृहस्थ जीवनको दु:खित नहीं करना चाहिए। जो स्त्री विवाह करे उसे यह भी देखना चाहिये कि गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वको झेलनेके लिये वह कहां तक समर्थ है? पुरुषोंको यह देखना चाहिये कि वे गृहस्थीके खर्चका भार उठानेमें कहां तक समर्थ हो सकेंगे? ऐसा देखा गया है कि जिन लोगोंके पास अपनी आजीविकाका कुछ भी साधन नहीं है उन्होंने विवाह करके अपने और अपनी स्त्री दोनों ही का जीवन नष्ट कर दिया है। कभी-कभी तो ऐसे असफल दम्पतियोंके जहर खाकर मर जाने तकके समाचार सुननेमें आते हैं। विवाह कोई इतनी ज़रूरी चीज नहीं है जो अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियोंके उपरान्त भी किया ही जाये।

हमारे समाजमें एक बात यह भी देखी जाती है कि पुरुषोंके लिये तो फिर भी बिना ब्याहे रह जाना लोगोंकी दृष्टिमें खटकता नहीं है किन्तु अविवाहित बहनें अथवा विलम्बसे विवाह करने वाली बहनें उनकी नज़रोंमें बहुत

अधिक खटकती हैं। वे जब ऐसी किसी भी बहनको देखते हैं तो बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं और उसकी बड़ी-बड़ी टीका टिप्पणियां होने लग जाती हैं। मैंने बहुत-सी बहनोंको देखा है जो जन्मभर अविवाहित रह कर समाज व देशकी सेवा करना चाहती हैं, लेकिन समाजके लोग उनकी तरफ अंगुली उठाकर उसे जबरदस्ती ब्याहके अनावश्यक फन्देमें फांस देते हैं और जो अपने किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये देरसे विवाह करना चाहें, उनको जल्दी ही विवाह के बंधन में बांध देते हैं। और तो और ऐसी बहनोंके सम्बन्धमें नाना तरहके वाहियात शब्द कहे जाते हैं जो वास्तवमें समाज और उसमें रहने वाले लोगोंके क्षुद्र और कुत्सित हृदयका प्रतिबिम्ब हैं। कहते हैं अविवाहित रहकर आदर्श जीवन व्यतीत करना प्राचीन आचार्यों ने मनुष्यजीवनकी सफलता बतलाई है तो फिर ऐसी सफलता पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं स्त्रियां क्यों नहीं कर सकतीं? पुरुषोंके सम्बन्धमें भी यह देखनेमें आया है कि जो पुरुष विवाहित नहीं होते हैं वे समाजकी नज़रोंमें कुछ हलके दर्जेके समझे जाते हैं। अगर कोई २०, २५ वर्षका युवक किसीके साथ बातचीतके सम्पर्कमें आता है तो उससे साधारण नाम गांव आदि पूछनेके बाद यह सवाल होता है कि आपका विवाह कहां हुआ? यदि इस सवालका जवाब पूछने वालेको इन्कारीके रूपमें मिलता है तो तत्क्षण ही विपक्षी पुरुषके हृदयमें उसके प्रति कुछ कमज़ोर ख्यालात पैदा हो जाते हैं। यह वातावरण हमारे ही देशमें है वरना और विलायतोंमें हज़ारों ही स्त्री-पुरुष अपनी परिस्थितियोंके अनुसार जन्मभर अविवाहित रहकर आदर्श जीवन व्यतीत करते हैं और हज़ारों ही स्त्री-पुरुष बड़ीसे बड़ी अवस्थामें, जब वे अपने लिए वास्तवमें विवाहकी आवश्यकता महसूस करते हैं, विवाह करते हैं। यही क्यों? पुराणोंमें तो आप ऐसे हज़ारों स्त्री-पुरुषोंके उदाहरण देखेंगे जिन्होंने जन्मभर अविवाहित रहकर आदर्श जीवन व्यतीत किया। आदिनाथ पुराणको पढ़ने वाले जानते हैं कि भगवान् आदिनाथकी सुपुत्रियोंने अविवाहित जीवन ही पसन्द किया और वे विवाहके बन्धनमें नहीं फँसी। यह ठीक है कि एक लम्बे समयसे समाजमें लड़कियोंके अविवाहित रहनेकी चाल नहीं रही है, लेकिन यदि कोई बहन वर्तमान समयमें भी जन्मभर अविवाहित रहना चाहे तो समाजको इसमें कोई उज्र नहीं होना चाहिये बल्कि उसको प्रोत्साहन देकर ऐसा आदर्श जारी रखनेके लिये अन्य बहनोंके हृदयमें भी उत्साह पैदा करना चाहिए। महिलाओंके अविवाहित रह कर आदर्श जीवन व्यतीत करनेका कोई भी शास्त्र, स्मृति या सूत्र विरोध नहीं करता है। ऐसी हालतमें यदि महिलाएँ भी अविवाहित जीवन व्यतीत करें तो कोई बेजा नहीं है। हम देखते हैं कि हमारे समाजमें और देशमें कोई विरला ही युगल ऐसा होगा जो सचमुच विवाहका मधुर और वास्तविक फल प्राप्त करता हो वरना हर जगह उसकी कटुताएँ ही नज़र आती हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि किसी भी युगलका विवाह होते समय इस बातको क़तई भुला दिया जाता है कि आया उसे विवाहकी आवश्यकता भी है या नहीं अथवा वह इसकी योग्यता भी रखता है या नहीं। ऐसी हालतमें समाजको चाहिये कि अविवाहित रहने अथवा विलम्बसे विवाह करने की स्त्री-पुरुषोंकी स्वतन्त्र इच्छामें कोई प्रतिबन्ध न लगाए और उनको अनावश्यक तथा उनकी परिस्थितियोंसे मेल नहीं खाने वाले विवाहके सम्बन्धमें पड़नेके लिये कभी विवश न करे। और हर एक व्यक्तिको भी चाहिये कि वह स्वयं भी अपने लिये विवाहकी पूर्ण आवश्यकता महसूस कर तथा अपने चारों तरफ़की परिस्थितियोंका खूब अवलोकनकर विवाह के लिये क़दम उठावे। विवाह कब किया जाय, इसका एकमात्र उत्तर यही संगत होसकता है और ऐसी स्थितिमें किया हुआ विवाह ही मधुर और उत्तम फल प्रदान कर सकता है।

'मुनिसुव्रतकाव्य' के कुछ मनोहर पद्य

(लेखक—पं० सुमेरचंद्र जैन दिवाकर, न्यायतीर्थ, शास्त्री, B. A. LL. B.)

संस्कृत साहित्योद्यानकी शोभा निराली है, उसके रमणीय पुष्पोंकी सुन्दरता, और लोकोत्तर सौरभ की छटा कभी भी कम न होकर अविनाशी-सी प्रतीत होती है। आज जो विशाल संस्कृत-साहित्य प्रकाशमें आया है, उसको देखकर विश्वके विद्वान् संस्कृत भाषाको बहुत महत्वपूर्ण समझने लगे हैं। आज अधिक मात्रामें अजैन लोगों के निमित्तसे जैनेतर रचनाएँ प्रकाशित होकर पठन-पाठन-आलोचनकी सामग्री बनी हैं, इस कारण बहुत लोगोंकी यह भ्रान्त धारणा-सी बन गई है कि संस्कृत के अमरकोष* में जैन आचार्योंका कोई भाग नहीं है। भारतीय अनेक विद्वान वास्तविकतासे परिचय रखते हुए भी अपने सम्प्रदायके प्रति अनुचित स्नेहवश सत्यको प्रकाशमें लानेसे हिचकते थे। स्वयं संस्कृत भाषाके केन्द्र काशीमें कुछ वर्ष पूर्व जैन ग्रंथोंको पढ़ाने या छूनेमें पाप समझने वाले प्रकाण्ड ब्राह्मण पंडितोंका बोलबाला था। ऐसी स्थिति और पक्षपात के वातावरणमें लोग जैनाचार्योंकी सरस एवं प्राणपूर्ण रचनाओंके आस्वादसे अब तक जगत्को वंचित रहना पड़ा। इस अन्धकारमें प्रकाशकी किरण हमें पश्चिममें मिली। जर्मनी आदिके उदाराशय संस्कृतज्ञ विदेशी विद्वानोंकी कृपासे जैनसाहित्यकी भी विद्वन्मण्डलके समक्ष चर्चा होने लगी और उस ओर अध्ययन-प्रेमियोंका ध्यान जाने लगा। फिर भी अभी बहुत थोड़ा जैन साहित्य लोगोंके दृष्टिगोचर हुआ है। उद्भट रचनाएँ तो अभी अप्रकाशित दशामें हैं। महाकवि वादीभसिंहके शब्दोंमें 'अमृतकी एक घूंट भी पूर्ण आनंद देती है ‡। इसी भांति उपलब्ध और प्रकाशमें आए अल्प जैन साहित्यको देखकर भी अनेक विश्रुत विद्वान् आश्चर्यमें हैं। उदाहरणार्थ डा० हर्टल तो यह लिखते हैं—

"Now what would Sanskrit poetry be without this large Sanskrit literature of Jains. The more I learn to know it the more my admiration rises."

'मैं अब नहीं कह सकता कि जैनियोंके इस विशालसंस्कृत-साहित्यके अभावमें संस्कृत काव्य-साहित्यकी क्या दशा होगी। इस जैन साहित्यके विषय में मेरा जितना जितना ज्ञान बढ़ता जाता है, उतना उतना ही मेरा इस ओर प्रशंसनका भाव बढ़ता जाता है।"

जैनग्रंथरत्नोंके अध्ययन करने वाले डा० हर्टल के कथनका अक्षरशः समर्थन करते हैं और करेंगे। जिन्होंने भगवज्जिनसेन, सोमदेव, हरिचंद्र, वीरनंदि आदिकी अमर रचनाओंका पारायण किया है, वे तो जैन साहित्यको विश्वसाहित्यका प्राण कहे विना न रहेंगे। जैन साहित्यकी एक खास बात यह भी है कि उसमें रसिकोंकी तृप्तिके साथमें उनके जीवनको उज्वल और उन्नत बनानेकी विपुल सामग्री और शिक्षा पाई जाती है। जैन रचनाओंका मनन करनेवाले विद्वान्

* अमरकोष नामका कोषग्रन्थ जैन विद्वान्की कृति है, इसे अब अनेक उदार विद्वान् मानने लगे हैं।

‡ 'पीयूषं नहि निःशेषं पिबन्नेव सुखायते।'

उनकी महत्ताको कभी भी नहीं भुला सकते हैं। एक उदाहरण लीजिये :—

'महावीराष्टक स्तोत्र' एक छोटीसी अष्टश्लोकमयी शिखरिणी छंदकी रचना है। उसे हिन्दूविश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपति तथा संस्कृत विभागके अध्यक्ष प्रिंसिपल ए० बी० ध्रुव एम० ए० सुनकर बहुत आनंदित हुए और उन्होंने अपने भाषणमें जैनसाहित्य की खूब ही महिमा बताई।

आज बहुत सी रचनाएँ प्रकाशमें आगई हैं, उन का अध्ययन करनेवालों को रसस्वादनके साथ साथ यथार्थ शांति लाभका सौभाग्य मिलेगा।

यहां हम तेरहवीं सदीके कविकुलचूड़ामणि अर्हद्दास महाकविके मुनिसुव्रतनाथ भगवानके (जो २० वें तीर्थंकर हैं) चरित्रको वर्णन करनेवाले 'मुनिव्रतकाव्य' की कुछ मार्मिक पदावलियोंका दिग्दर्शन कराएँगे। इस दससर्गात्मक ग्रंथमें कुल ३८८ पद्य हैं, किन्तु वे सब भाव, रस और चमत्कारसे परिपूर्ण हैं।

अपने ग्रंथ-निर्माणका कार्य मंगलमय हो, इस शुभ भावनासे कविवर कितना मनोहर पद्य कहते हैं—

> क्षीराब्धितः क्षीरनिधे प्रवृत्ता
> सुधेव वाणी सुधिया कलश्या।
> विभृत्य नीता विबुधाधिपैर्मे
> निषेविता नित्यसुखाय भूयात् ॥ १-६ ॥

क्षीरसागररूप महावीर भगवानसे निकली हुई सुबुद्धिरूपी कलशियों-द्वारा गणधरादिरूप देवेन्द्रों द्वारा सेवित अमृतरूपी जिनेन्द्रवाणी मेरे अविनाशी आनंदकी उत्पादिका होवे।

यहां क्षीरसमुद्रसे कलशों द्वारा देव-देवेन्द्रों द्वारा लाए गए जलमें जिनवाणीकी कल्पना बड़ी भली मालूम पड़ती है। वीर भगवानको क्षीरसागरकी उपमा दी, वाणीको सुधाकी, सुबुद्धिको कलशियोंकी तथा विबुध-विद्वानोंके अधिप-स्वामी गणधर देवादि को देवेन्द्रोंकी उपमा दी है। वास्तवमें छद्मस्थोंके क्षायोपशमिक ज्ञानमें छोटी कलशियोंकी कल्पना बहुत सुंदर है।

कवि प्रसिद्ध जैनाचार्योंके नामोल्लेखके साथ अपना मंगलात्मक भाव कैसा बढ़िया निकालते हैं उसे देखिए—

> महाकलंकात् गुणभद्रसूरेः
> समंतभद्रादपि पूज्यपादात्।
> वचोऽकलङ्कं गुणभद्रमस्तु
> समन्तभद्रं मम पूज्यपादम् ॥ १० ॥

'यह रचना अकलंकदेवके प्रसादसे अकलंक, गुणभद्राचार्यकी कृपासे गुण-भद्र गुणोंसे रमणीय) स्वामी समंतभद्रके प्रसादसे समन्त भद्र (सब ओरसे मंगलरूप) एवं पूज्यपाद स्वामीकी दयासे पूज्य पाद (सत्पुरुषों के द्वारा उपादेय) होवे।'

कविवर सरस्वती को वंदनीय समझते हैं और वे इस बातके विरुद्ध हैं कि वाग्देवीका जगह जगह वानरीके समान नर्तन कराया जाय। वे चाहते हैं कि वाणीके द्वारा जिनेन्द्र गुणगान करना उचित और श्रेयस्कर है। तुच्छ पुरुषोंका गुण-गान करना भारती का अपमान करना है। देखिये वे क्या कहते हैं—

> सरस्वतीकल्पलतां स को वा संवर्धयिष्यन् जिनपारिजातम्।
> विमुच्य कांजीरतरूपमेषु व्यारोपयेत्प्राकृतनायकेषु ॥१०॥

—'ऐसा कौन विज्ञ व्यक्ति होगा, जो सरस्वती-रूप कल्प-लतिकाको वृद्धिंगत करनेके लिए जिनेन्द्ररूप कल्पवृक्षको छोड़कर विषवृक्षके समान अधमजनोंका अवलंबन करायगा?

वास्तविक बात यह है कि वीतरागका वर्णन करनेसे पाप की वृद्धि होती है। पुण्यहीन प्राणियोंका कीर्तन करनेसे पापकी प्रकर्षतावश ज्ञानमें मंदता होगी,

ऐसी स्थितिमें 'सरस्वती-कल्पलता' सूख जायगी।

अर्हद्दास महाकवि कहते हैं कि हमारी रचनाका ध्येय अन्य जनोंका अनुरंजन करना नहीं है; उनको आनंद प्राप्त हो, यह बात जुदी है। सन्मानकी आकांक्षा भी इसका लक्ष्य नहीं है, यहां ध्येय अपने अंतःकरणको आनंदित करना है। कविके शब्दोंमें ही उनका भाव सुनिये—

मनः परं क्रीडयितुं ममैतत्काव्यं करिष्ये खलु बाल एषः।
न लाभपूजादिरतः परेषां, न लालनेच्छाः कलभा रमन्ते ॥१४॥

—'अल्पबुद्धिधारी मैं लाभ-पूजादिकी आकांक्षा से इस काव्यको नहीं बनाता हूँ किन्तु अपने अंतःकरणको आनंदित करनेके लिए ही मैं यह कार्य करता हूँ। गज-शिशु अपने आपको आनंदित करनेके लिए क्रीड़ा करते हैं, दूसरोंको प्रसन्न करनेकी भावना से नहीं।'

यहाँ 'न लालनेच्छाः कलभा रमन्ते' की उक्ति बड़ी ही मनोहारिणी है।

नम्रतावश महाकवि कहते हैं, यद्यपि मेरी कृति पुराण-पारीण पुरातन कवि-सम्राटोंके समान नहीं है; फिर भी यह हास्यपात्र नहीं है *। कारण, महत्वहीन शुक्तिके गर्भसे भी बहुमूल्य मुक्ताफलका लाभ होता है।

जैनकाव्योंकी विशेष परिपाटीके अनुसार सज्जन-दुर्जनका स्मरण करते हुए कविवर उपेक्षापूर्ण भाव धारण करते हुए लिखते हैं—

तिक्तोस्ति निम्बो मधुरोस्ति चेक्षुः
स्वं निंदतोपि स्तुवतोपि तद्वत्।
दुष्टोप्यदुष्टोपि ततोऽनयोर्मे
निन्दास्तवाभ्यामधिकं न साध्यम् ॥१६॥

'जिस प्रकार अपने प्रशंसक और निंदकके लिए नीम कटु और इक्षु मधुर रहते हैं उसी प्रकार सत्पुरुष और दुर्जन भी हैं। इनकी निन्दा तथा स्तुतिसे मेरा कोई भी विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

कविका भाव यह है कि सत्पुरुष अपने स्वभावके अनुसार कृपा करेंगे और दुर्जन अपनी विलक्षण प्रकृतिवश दोष निकालनेसे मुख नहीं मोड़ेंगे। जैसे कोई नीमकी निंदा या स्तुति करे, उसका कटु स्वभाव सदा रहेगा ही।

भगवान मुनिसुव्रतनाथके जन्मसे पुनीत होने वाले राजगृह नगरके उन्नत प्रासादोंका वर्णन करते हुए अपह्नुति अलंकारका कितना सुन्दर उदाहरण पेश करते हैं, यह सहृदय लोग जान सकते हैं।

उनका कथन है—

नैतानि ताराणि नभः सरस्याः
सूनानि तान्यादधते सुकेश्यः।
यदुच्चसौधाग्रजुषो मृषा चेत्
प्रगे प्रगे कुत्र निलीनमेभिः ॥४६॥

'ये तारागण नहीं हैं किन्तु आकाश रूपी सरोवरके पुष्प हैं, जिन्हें वहांके उच्च महलोंके अग्रभागमें स्थित स्त्रियां धारण करती हैं। यदि ऐसा न हो तो क्यों प्रत्येक प्रभातमें वे विलीन होजाते हैं ?'

कविका भाव यह है कि आकाशके तारा आकाश रूपी सरोवरके पुष्प हैं। राजगृहीकी रमणियां अपने केशोंको सुसज्जित करनेके लिये उन्हें तोड़ लिया करती हैं, इसीसे प्रत्येक प्रभातमें उनका अभाव देखा जाता है।

ताराओंका रात्रिमें दर्शन होना और प्रभातमें लोप होना एक प्राकृतिक घटना है, किन्तु कविने अपनी कल्पना द्वारा इसमें नवीन जीवन पैदा कर दिया।

दूसरे सर्गमें भगवानके पिता महाराज सुमित्रका वर्णन करते हुए बताया है कि वे सज्जनोंका प्रतिपा-

*काव्यं करोम्येष किल प्रबन्धं पौरस्त्यवन्नेति हसन्तु सन्तः।
किं शुक्तयोऽद्यापि महापराध्यं मुक्ताफलं नो सुवते विमुग्धाः ॥१५

लन करते थे, किंतु दुर्जनोंका निग्रह करनेमें भी तत्पर थे। इससे प्रतीत होता है कि जैन नरेशोंकी नीतिमें दुर्जनों की पूजाका स्थान नहीं है। उन्हें तो दण्डनीय बताया है, जिससे इतर प्रजाको कष्ट न होवे—

अथाभवत्तस्य पुरस्य राजा सुमित्र इत्यन्वितनामधेयः।
क्रियार्थयोः क्षेपण-पालनार्थद्वयात् असत्सत् विषयात्सुपूर्वात्॥२-१

भगवान मुनिसुव्रत जब माता पद्मावतीके गर्भमें पधारे तबकी शोभाका वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं—

सा गर्भिणी सिंहकिशोरगर्भा गुहेव मेरोरमृतांशुगर्भा।
वेलेव सिंधोः स्मृतिरत्नगर्भा रेजे तरां हेमकरंडिकेव॥४-२॥

'गर्भावस्थापन्न महारानी पद्मावती इस प्रकार शोभायमान होती थी जैसे सिंहके बच्चेको धारण करने वाली गुहा, चंद्रमाको अपने गर्भमें धारण करनेवाली समुद्रकी वेला अथवा चिंतामणि रत्नको धारण करने वाली सुवर्णकी मंजूषा शोभायमान होती है।'

भगवानके जन्मसमय सुगंधित जलवृष्टिसे पृथ्वी की धूलि शांत हो गई थी, इस विषय में बड़ी सुंदर कल्पना की गई है—

रजांसि धर्मामृतवर्षणेन जिनांबुवाहः शमयिष्यतीति।
न्यवेदयन्नम्बुधरा नितांतं रजोहरैर्गंधजलाभिवर्षैः॥४-३०॥

'जिनभगवानरूपी मेघ धर्मामृतकी वर्षा द्वारा पापभ वनाओंको शांत करेंगे, इसी बातको सूचित करनेके लिए ही मानो मेघोंने सुगन्धितजलकी वृष्टिसे धूलिराशिको शांत कर दिया था।

यह उत्प्रेक्षा ऐसी सुंदर है कि आगामी यह अक्षरशः सत्य होती है; अतः कल्पनाका रूप धारण करने वाली यह भविष्यवाणीके रूपमें प्रतीत होती है।

भगवानके जन्मसमय देवोंद्वारा आनंदाभिव्यक्तिके रूपमें आकाशसे पुष्पोंकी वृष्टिका ग्रंथोंमें वर्णन आता है, इसी बातको कवि अपनी कल्पनाके द्वारा किस तरह सजाता है—

पुष्पाः पतंतो नभसः सुधांशोरेणस्य सिंहध्वनिजातभीतेः।
पदप्रहारैः पततामुडूनां शंकां तदा विद्रवतो वितेनुः॥४-३७॥

आकाशसे गिरते हुए पुष्प ऐसी शंका उत्पन्न करते थे मानो सिंहध्वनिसे भीत होकर भागते हुए चंद्रमृगके चरणप्रहारसे गिरते हुए नक्षत्रोंकी राशि ही हो।

भ्रान्तिमान अलंकारके उदाहरणद्वारा जो हास्यरसकी सामग्री उपस्थित की गई है, वह काव्य मर्मज्ञों के लिए आनंदजनक है—

मुग्धाप्सराः कापि चकार सर्वानुत्फुल्लवक्त्रान्किल धूपचूर्णम्।
रथाग्रवासिन्यरुणे क्षिपंति हसांतिकांगारचयस्य बुध्या॥४-३१

'रथाग्रभागमें स्थित अरुण नामक सूर्यसारथि को अंगारका पुंज समझ एक भोली अप्सराने उसपर धूपका चूर्ण फेंक दिया; इससे सबका चेहरा हंसीसे खिल उठा।'

ऐसे भ्रमपर किसे हंसी नहीं आएगी, जिसमें व्यक्तिको अग्नि पिंड समझकर उसपर कोई धूप इस लिए क्षेपण करे कि उसकी समझके अनुसार उससे धूम्रराशि उदित होने लगेगी?

भगवानके जन्माभिषेकके निमित्त जल लानेको देवता लोग क्षीरसागर पहुँचे, उस समयके सागरका कितना सुंदर वर्णन किया गया है यह कविजन देखें। यह तो कविसमय-प्रसिद्ध बात है कि देवता समुद्रका मंथन कर लक्ष्मी आदि रत्न निकाल कर लेगए थे; उसी कल्पनाको ध्यानमें रखकर कवि वर्णन करता है—

निपीड्य लक्ष्मीमपहृत्य चक्रिरे ठकाः स्वकं जीवनमात्रशेषकं।
अपीदमायांत्यपहर्तुमित्यगादपांनिधिर्वेपथुमूर्मिभिर्नु॥६-१४॥

अरे पहले इन ठग देवताओंने हमें पीडित कर हमसे लक्ष्मी छीन ली और हमारे पास केवल जीवन

(जल) भर बाकी रहा; आज ये उसे भी अपहरण करनेको आगए हैं इसीलिए भयसे क्षीरसागर कंपित हो उठा, न कि तरंगोंसे कंपित हुआ।

भगवानके अभिषेक जलको लोग बड़े आदरके साथ ग्रहण करतेहैं, वहां भगवान मुनिसुव्रतनाथका मेरुपर महाभिषेक हुआ, 'उसके सुगंधित गंधोदकमें देवताओंने खूब स्नान किया।'

इंद्रने भगवानका जातकर्म किया, पश्चात् नामकरण संस्कार किया, यहां नामकी अन्वर्थता बड़े सुंदर शब्दोंमें बताई गई है—

करिष्यते मुनिमखिलं च सुव्रतं,
भविष्यति स्वयमपि सुव्रतो मुनिः।
विवेचनादिति विभुरभ्यधाय्यसौ,
बिडौजसा किल मुनिसुव्रताक्षरैः ॥६-४३॥

स्वयं समीचीन व्रत संपन्न मुनि (सुव्रत-मुनि) हो कर संपूर्ण मुनियोंको व्रतसंपन्न (मुनि-सुव्रत) करेंगे यह सोचकर इंद्रने मुनिसुव्रत शब्दोंमें उनका नामकरण किया।

शास्त्रोंमें वर्णन है कि भगवानकेअंगुष्ठमें इंद्र महाराजने अमृत-लिप्त कर दिया था, अतएव उसके द्वारा अपनी अभिलाषा शांत होनेपर उन्होंने माताके दुग्धपानमें अपनी बुद्धि नहीं की। इस प्रसंगमें कवि कहता है—

जिनार्भकस्येन्द्रिय-तृप्तिहेतुः करे बभूवामृतमित्यचित्रम्।
चित्रं पुनः स्वार्थसुखैकहेतुः तथामृतं तस्य करे यदासीत्॥७-३॥

जिन-शिशुकी इंद्रिय-तृप्तिके लिए हेतुभूत अमृत हाथमें था, यह आश्चर्यकी बात नहीं है; आश्चर्य तो इसमें है कि उनके हाथमें अपने सुखका एक मात्र कारण अमृत-मोक्ष भी था।

कोई यह सोचता होगा कि निसर्गज अवधिज्ञान समन्वित होनेके कारण बाल्यकालमें भगवानमें बाल सुलभ क्रीड़ाओंका अभाव होगा, ऐसी कल्पनाका निराकरण करते हुए महाकवि कहते हैं—

स जानुचारी मणिमेदिनीषु स्वपाणिभिः स्वप्रतिबिम्बितानि।
पुरः प्रधावत्सुरसूनुबुध्या प्रताडयन्नाटयति स्म बाल्यं ॥७-७॥

'मणिकी भूमिपर अपने घुटनोंके बलपर चलते हुए जिनेन्द्र शिशु अपने प्रतिबिम्बोंको दौड़ते हुए देव-शिशु समझकर ताड़ित करते हुए बाल्यभावका अभिनय करते थे। वह दृश्य कितना आनंदप्रद नहीं होता होगा, जब त्रिज्ञानधारी भगवानकी ऐसी बाल-सुलभ क्रीड़ाओंका दर्शन होता था।

उस शैशवका यह वर्णन भी कितना मनोहर है—

शनैः समुत्थाय गृहांगणेषु सुरांगनादत्तकरः कुमारः।
पदानि कुर्वन्किल पंचषाणि पपात तद्वीक्षणदीनचक्षुः ॥७-८॥

'धीरेसे उठकर देवबालाओंकी करांगुलि पकड़ वह कुमार गृहांगणमें पांच, छह डग चलकर देवांगनाके रूपदर्शनसे खिन्नदृष्टि हो गिर पड़े।'

जन्मसे अतुल बलसे भूषित जिनेन्द्रकुमारकी उपर्युक्त स्थिति वास्तवमें इस बातकी द्योतक है कि बाल्य अवस्थावश होने वाली बातोंके अपवादरूप भगवान नहीं थे।

जिनेन्द्रभगवान मुनिसुव्रतने जब साम्राज्यपद ग्रहण किया, तब उनके दर्शनोंको आने वाले नरेशोंका महान समुदाय हो जाता था। इसी बातको महाकवि बताते हैं—

भक्तुं जिनेन्द्रं व्रजतां नृपाणां चमूपदोद्धूतपरागपाल्या।
विहाय चेतांसि पलायमानकपोतलेश्याकृतिरन्वकारि ॥७-२६

'जिनेन्द्रकी आराधना करनेके लिए जानेवाले नरेशोंकी सेनाके पदाघातसे उड़ती हुई धूलिराशि ऐसी मालूम पड़ती थी, मानों अंतःकरण छोड़ कर जाती हुई कपोत लेश्या ही हो।'

भगवान मुनिसुव्रतके राज्यमें किसे कष्ट हो सकता है, ? सचेतन वस्तुकी अनुकूलताकी बाततो क्या, अचे-

तन पदार्थ तक जहां अनुकूल वृत्ति धारण करते थे। इस विषयमें देखिए कवि श्री अर्हद्दास जी क्या कहते हैं—

जिनेऽवनीं रक्षति सागरान्तां नय-प्रताप-द्वय-दीर्घ-नेत्रे।
कस्यापि नासीदपमृत्युरीतिः पीडा च नाल्पापि बभूव लोके ॥२८-७

'नय और प्रताप रूप दो विशाल नेत्रधारी जिनेन्द्र के द्वारा सागरपर्यन्त विस्तृत पृथ्वीके शासन करनेपर जगत्‌में किसीका न तो अकाल मरण होता था, न ईति (अतिवृष्टियादिका उपद्रव) और न किसीको थोड़ा सा कष्ट ही होने पाता था।'

वास्तवमें सुशासनके लिए यदि नीति और प्रतापका सामंजस्य है, तब सर्वत्र शांति एवं समृद्धि विचरण करती हुई नजर आयगी।

बहुत समय तक नीतिपूर्ण शासन करनेके अनंतर एक बार एक गजराजको धर्मधारणमें तत्पर देखकर भगवानके चित्तमें वैराग्यकी ज्योति जाग उठी। उस समय उन्होंने अपने माता-पिताको समझाकर अपने विजय नामक पुत्रके कंधेपर साम्राज्यका भार रखकर दीक्षा ली ('प्राज्यं नियोज्य तनये विजये स्वराज्यं')।

दीक्षा लेनेके बाद भगवानने राजगृहके नरेश महाराज वृषभसेनके यहाँ आहार ग्रहण किया, उस प्रसंगमें महाकवि वर्णन करते हुए कहते हैं—

मुनिपरिवृढो निर्वर्त्यैवं तनुस्थितिमुत्तमां,
मृदुमधुरया वाचा शास्यं विधाय यथोचितं।
मुनिसमुदयैरक्षिव्रातैश्च पौरनृणामनुव्रजितचरमः
पुण्यारण्यं गजेन्द्रगतिर्ययौ ॥ ८-२३ ॥

मुनीन्द्रने उत्तम आहारको ग्रहण करके सुमधुर वाणीसे आशीर्वाद देकर मुनिसमुदाय एवं पुरवासियोंके नेत्र समूहके द्वारा अनुगत गजेन्द्रके समान मंद गतिसे तपोवनमें प्रवेश किया।

इस प्रसंगपर एक शंका यह उत्पन्न होती है, कि आहारके अनंतर भगवान मुनिसुव्रतनाथने कैसे मधुरवाणीसे यथायोग्य आशीर्वाद दिया? क्यों कि यह प्रसिद्ध है कि दीक्षा लेनेके अनंतर जिनेन्द्र 'वाचंयम' होते हैं. इसीसे उनका स्तवन 'महामौनी' शब्दसे किया जाता है। जो हो यह विषय ध्यान देने योग्य है अवश्य। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भगवान तपोवनमें 'गजेन्द्रगति' से गए। आज कोई लोग साधुओंके गमनमें मंदगतिके स्थानमें उनकी द्रुतगति (Quick March) को उचित बताते हैं, उन्हें इस प्रकरणको ध्यानमें लाना चाहिये।

प्रसंगवश वर्षाका वर्णन करते हुए महाकवि मनोहर कल्पनाको इन शब्दोंमें बताते हैं—

नीरंध्रमभ्रपटलं पिहिताखिलद्यु
भेजेतरां विधृतदीर्घतरां बुधारम्।
देव्याः क्षितेरुपरि लंबितदीर्घमुक्ता-
मालं विशालमिव धातृकृतं वितानम् ॥ ६-१६ ॥

संपूर्ण आकाशको ढांकने वाला निविड़ मेघमंडल, जिससे मोटी २ जलकी धारा निकल रही थी, ऐसा शोभायमान हो रहा था, मानो पृथ्वीदेवीके ऊपर विधाताने विशाल चंदोवा तान दिया हो, जिसमें लम्बी और बड़ी मुक्तामालाएँ टँगी हुई हैं।

कैसी विलक्षण कल्पना है! आकाशको ढाँकने वाले मेघमंडलको तो चंदोवा बनाया, और मोटी धारवाली जलराशिको मुक्ताकी मालिकाएँ!

इसी वर्षाके विषयमें आगे कवि कहता है—

रेजुः प्रसृत्य जलधिं परितोप्यशेषं
मेघा मुहुर्मुहुरभिप्रसृताभ्रभागाः।
आदानवर्षणमिषात पयसां पयोधिं
व्योमापि मान्त इव संशयितांशयेन ॥ ६-१७ ॥

'बारबार जल लानेके लिए जलधिकी ओर

विस्तृत रूपसे गए हुए और वर्षणके बहानेसे पुनः पुनः संपूर्ण दिशाओंको व्याप्त करते हुए मेघ ऐसे मालूम होते थे, मानो शंकाकुल हो बार बार आकाश और समुद्रको नापते थे'। मेघोंका समुद्रसे जल लाना और आकाशमें फैलकर वर्षा करना साधारण जगत्के लिए कोई भी चमत्कृतिपूर्ण बात नहीं मालूम पड़ती; किन्तु महाकवि अपनी अलौकिक दृष्टिमें मेघके द्वारा समुद्र एवं आकाशकी विशालताको नापता है, और यह देखता है, इस नापमें बड़ा कौन और छोटा कौन है ?

हिमऋतुके विषयमें कवि महोदय क्या ही अनूठी कल्पना करते हैं—

> सत्यं तुषारपटलैः शमिनो न रुद्धाः
> सिद्धेः पुनः परिचयाय हिमर्तु लक्ष्म्या।
> छन्ना दुकूलवसनैर्नु पटीरपंके-
> र्लिप्ता नु मौक्तिकगुणैर्यदि भूषिता नु ॥ ६-३३ ॥

'यह बात ठीक है कि खड्गासनसे विराजमान मुनिगण हिमपटलसे आवृत नहीं हैं किन्तु कहीं मोक्षलक्ष्मीसे परिचय प्राप्तिके निमित्त महीन वस्त्रोंसे आच्छादित तो नहीं है? अथवा कहीं श्रीचंदनसे लिप्तदेह तो नहीं है? अथवा मुक्तामालाओंके द्वारा भूषित तो नहीं है?'

यहाँ कवि हिमाच्छादित मुनियोंके देहको मुक्तिलक्ष्मीसे सम्मेलनके लिए महीनवस्त्रसे आच्छादित या श्रीचंदनसे लिप्तपनेकी या मुक्ताओंसे सुशोभितपनेकी कल्पना करते हैं। हिमऋतुमें शरीरका हिमसे आच्छादित होना बहिर्दृष्टि प्राणियोंकी अपेक्षा भीषण है, किन्तु ब्रह्मदृष्टिवाले तपस्वियोंकी दृष्टिमें वह आनंद एवं पवित्र भावोंको प्रोत्साहन प्रदान करनेवाली सामग्री है।

ऐसी भीषण सर्दीमें भी भगवान मुनिसुव्रत तपश्चर्यासे विमुख नहीं थे—

> इत्थं सुदुःसहतुषारतुषारपातैः
> निर्दग्धनीरजकुले समयेऽपि तस्मिन्।
> म्लानानि नैव कमलानि महानुभावो
> यस्याः स्थितः स भगवान् सरितः प्रतीरे ॥६-३४

इस प्रकार असह्य हिमके पतनसे नष्ट हुए कमलोंसे युक्त उस शीत कालमें जिस सरोवरके तटपर भगवान् विराजमान थे वहांके कमल म्लान नहीं हुए थे। इससे भगवानकी लोकोत्तर तपश्चर्याका भाव विदित होता है।

जब भगवानकी अनुपम एवं निश्चल तपश्चर्या हो रही थी, तब उनके तेज एवं तपश्चर्याके प्रतापसे तपोवनके संपूर्ण वृक्ष पुष्प-फलादिसे सुशोभित होगए थे। इस विषयमें कविकल्पना करते हैं, कि अपनी शाखारूपी हाथोंमें पुष्प-फलादि ग्रहणकर वृक्ष भगवानकी पूजा ही करते थे, ऐसा प्रतीत होता है *।

जब भगवानको कैवल्यकी प्राप्ति हुई, तब उनकी धर्मोपदेश देनेकी दिव्य सभा-समवशरणकी रचना हुई, उसके विषयमें कविवर कहते हैं :—

> स्त्रीबालवृद्धनिवहोपि सुखं सभां ताम्
> अंतर्मुहूर्तसमयांतरतः प्रयाति ।
> निर्याति च प्रभुमहात्मनयाश्रितानां
> निद्रा-मृति-प्रसव-शोक-रुजादयो न ॥ १०-४५

उस समवशरणमें स्त्री, बालक, वृद्धजनोंका समुदाय सानंद अंतर्मुहूर्तमें आता जाता था। जिनेन्द्रदेवके माहात्म्यवश आश्रित व्यक्तियोंको निद्रा, मृत्यु, प्रसव, शोक, रोगादि नहीं होते थे—

ग्रंथकारने यह भी बतलाया है कि तत्वोपदेशके अनन्तर भगवानके विहारकी जब वेला आई तब

---

*श्रीमन्तमेनमखिलार्चितमात्मधाम
प्राप्तं स्वयं सपदि तद्वनभूजषण्डम्।
शाखाकरेषु भृतपुष्पफलप्रतानम्
आसीदिवार्चयितुमुद्यतमादरेण ॥ १०-१ ॥

पहलेसे ही इस बातको जानकर इन्द्रके आदेशसे प्रयाणसूचक भेरी नाद हुआ। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं—

समवशरणमग्रे भव्यपुण्यैश्चचाल
स्फुट-कनक-सरोजश्रेणिना लोकवंद्यः।
सुरपतिरपि सर्वान् जैनसेवानुरक्तान्
कलितकनकदंडो योजयन् स्वस्वकृत्ये॥ १०-४०॥

'भव्य जीवोंके पुण्यसे समवशरण नामकी धर्म-सभा आकाश मार्गसे चली। विकसित रत्नवाले कमलोंके ऊपर त्रिभुवनवंदित मुनिसुव्रतनाथ चले। कनकदंडधारी इन्द्र भी जिनेन्द्रकी सेवामें अनुरक्त सभी लोगोंको अपने अपने कार्यमें लगाते हुए चले।'

भगवान मुनिसुव्रतके योगजधर्मका प्रभाव कवि इस प्रकार बताता है—

गलितचिरविरोधाः प्राप्तवंतश्च मैत्रीं
मिथ इव जिनसेवालंपटात्संपदिद्धाः
षडपि च ऋतवस्ते तत्रतत्रान्वगच्छन्
व्यवहरदयमीशो यत्र यत्रैव देशे॥१०-४४॥

'जिस जिस प्रदेशमें भगवानका विहार हुआ वहाँ वहाँके जीवोंका चिरकालीन विरोध दूर हो गया, और उनमें मैत्री उत्पन्न हो गई। जिनेन्द्रकी सेवाके प्रसादसे लोग संपत्तिशाली होगए। छहों ऋतुओंने आकर वहां आवास किया।'

इस प्रकार इस ग्रंथमें श्री अर्हद्दासके महाकवित्व एवं चमत्कारिणी प्रतिभाके पद पदपर उदाहरण विद्यमान हैं। केवल महाकविकी कृतिका कुछ रसास्वाद हो जाय, इस उद्देश्यसे कुछ महत्वपूर्ण पद्य प्रकाशमें लाए गए हैं।

साहित्य मर्मज्ञोंकी जिज्ञासाको जागृत करनामात्र हमारा उद्देश्य था, अतः विशेष रसपानके लिए वे पूर्ण ग्रंथ * का अवगाहन करें।

---

*इस ग्रंथका मूल सुंदर संस्कृत टीका सहित एवं साधारण हिन्दी टीका समन्वित जैनसिद्धान्त भवन आरासे २) में प्राप्त हो सकता है।

"यदि अधिककी प्राप्ति चाहते हो तो जो कुछ तुम्हारे पास है उसका उत्तमोत्तम उपयोग करो।"

"प्रगति बाहरसे नहीं आती, अन्दरसे ही उत्पन्न होती है।"
"अपनी बुराई सुनकर भड़क उठना उन्नतिमें बाधक है।"
"उन्नति एक ओर झुकनेमें नहीं, चारों ओर फैलनेमें होती है।"
"हमारी प्रगतिमें बाधक होनेवाली सबसे बड़ी वस्तु है—असहिष्णुता।"
"बिना आत्मविश्वासके सद्ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती।"

—विचारपुष्पोद्यान

शैतानकी गुफामें साधु

(अनु०—डाक्टर भैयालाल जैन, साहित्यरत्न)

[इस लेखके पात्र स्थूलभद्र पूर्वावस्थामें वेश्या-सेवी थे, पश्चात् एक महान् योगी होगये थे । उत्तरावस्थामें गुरु उन्हें वेश्यागृहमें ही चतुर्मास व्यतीत करनेकी अनुमति देते हैं और उसमे अमूल्य तत्वज्ञान (Philosophy) प्रगट करते हैं ।]

संभूतिविजय—भद्र ! निदान तुमने कौनसे स्थानमें यह चतुर्मास व्यतीत करना निश्चित किया है ? अन्य सब साधुओंने अपने अपने स्थानका निश्चय कर लिया है और वे हमारी सम्मतिकी कसौटी पर चढ़कर सुनिश्चित भी हो चुके हैं । कल प्रातःकाल हम सबको यहांसे प्रस्थान करना है ।

स्थूलभद्र—दयासागर ! मैं भी बहुत समयसे इसी चिन्तामें हूँ; परन्तु मेरे हृदयका जिस दिशाकी ओर झुकाव है, वहां निवास करनेमें मुझे एक भारी खटका प्रतीत होता है और उस कांटेको हृदयसे निकाल बाहर करनेके प्रयत्नमें मैं सर्वदा निष्फल होता हूं । ठीक रीतिसे कुछ भी निश्चित नहीं कर सकता ।

संभूति०—तात ! तुम अपने विशुद्ध हृदयमें एक भी आत्मप्रतिबन्धक भाव होनेकी शंका मत करो । मैं तुम्हारा आत्मनिदान बहुत सम्हालपूर्वक करता आ रहा हूँ । तुम्हारे हृदयमें कटीले वृक्षोंका उगना बहुत समयसे बन्द हो चुका है । वहाँ अब कल्पवृक्षोंका रमणीय उपवन शोभा दे रहा है । तिसपर भी यदि तुम्हारे हृदयको किसी प्रकारकी शंकाका अनुभव हो रहा हो तो उससे किसी महाभाग्य आत्माके अपूर्व हितका संकेत ही संभवित होता है । आत्मत्यागी हृदयका खटका, कोई खटका नहीं है, किन्तु वह किसी भव्य जीवके अपूर्व अदृष्ट विशेषके प्रकम्पकी प्रतिध्वनि है । तात ! तुम्हें कौनसा खटका है ?

स्थूल०—प्रभो ! जितना आप समझते हैं उतना निःस्वार्थी मैं नहीं हूँ और मुझे जो खटकता है, वह स्वार्थका काँटा ही है । जिस ओर हृदयका खिंचाव होता है क्या वहाँ स्वार्थकी दुर्गन्ध होना सम्भव नहीं है ?

संभूति०—भद्र ! स्वार्थ तथा परार्थकी प्राकृत व्याख्यारूपी तुम्हारी आत्माकी यह भूमिका अब बदल डालना उचित है । ये पुरानी वस्तुएँ अब फैंक दो । चित्तके जिस अंशमेंसे स्वार्थ उत्पन्न होता है उसीमेंसे परार्थ भी होता है । दोनों एक ही घरके निवासी हैं ।

स्थूल०—जो बातें पहिले आपके मुखसे कभी श्रवण नहीं की, वे आज सुनकर जान पड़ता है कि सर्वदाकी अपेक्षा आज आप कुछ विपरीत ही कह रहे हैं । स्वार्थ तथा परार्थ चित्तके एक ही भागसे जन्मते हैं, यह बात तो आज नवीन ही मालूम हुई ।

संभूति०—अधिकारके बदलावके कारण, वस्तुकी व्याख्यामें भी फेरफार होता जाता है । आत्माके जिस

अधिकारमें स्वार्थ तथा परार्थको परस्परमें शत्रुके समान गिनना चाहिए, वह अधिकारतो तुम कभीके पार कर चुके हो। अब दोनों ही तुम्हारे लिए अर्थ-हीन है। वे अब तुम्हारा स्पर्श तक नहीं कर सकते।

स्थूल०—यह द्वन्द कहाँ तक सम्भव है?

संभूति०—जहां तक आत्मा याचना करता रहता है, वहाँ तक। ज्योंही याचना करना बन्द हुआ—सबके लिए देता ही रहे, अपने लिए कुछ न रखे—जिसे जो चाहिए उसके पाससे ले—और दान करनेके अभिमानको त्यागकर, देता ही जाय, त्योंही स्वार्थ तथा परार्थकी बालकों—नादानों—के लिए बाँधी गई मर्यादाएँ टूट जाती हैं और आत्म त्यागके अनन्त आकाशमें आत्मा रमण करने लगता है। भद्र! तुम भी उसी प्रदेशके विहारी हो।

स्थूल०—नाथ! हृदयका खिंचाव स्वार्थ बिना किस प्रकार सम्भव है? यही बात मुझे खटकती है। जिस प्रकार उस आकर्षणको मैं रोक नहीं सकता, उसी प्रकार वहाँ जानेमें भी कल्याणका कोई निमित्त देखनेमें नहीं आता। पुराने शत्रु मुझे पुकारते हुए मालूम पड़ते हैं।

संभूति०—तात! तुम्हारी सब बातें मैं समझ गया; परन्तु तुम्हारा मन वहां कुछ याचना करनेको तो जाता ही नहीं है, जाता है तो केवल अर्पण करनेको। क्या ऐसा तुम्हें प्रतीत नहीं होता?

स्थूल०—प्रभो! जिस समय मैं नवीन रुधिरका शिकारी था, बालाओंके यौवन-रसको तरसता था, और विषयके घूंटको प्रेमामृत जानकर पीता था, उस समय मुझपर स्थूल परन्तु अचलरूपसे जो आसक्त थी, उसी कोशाके घरमें, यह चतुर्मास व्यतीत करनेको मेरा मन चाहता है। पुराने समयकी सौन्दर्यलिप्सा तो अब क्षय हो चुकी है, परन्तु किसी समय जो मुझे इन्द्रियजन्य आनन्द देती थी तथा विषय सुखकी परिसीमाका अनुभव कराती थी, उसी अज्ञान बाला-को, उसके प्रेमका बदला देनेके लिए, मैं उत्सुक हूँ। यह बात सही है कि मैं वहां याचना करनेको नहीं किन्तु अर्पण करनेको जाता हूँ, तथापि वह अर्पण पूर्वकी स्थूल प्रीतिके उत्तर रूप होनेसे, वहाँ भी मुझे स्वार्थकी ही दुर्गन्ध आती है। संसार कोशाके समान स्त्रियोंसे भरा पड़ा है, उन सबपर अनुग्रह करनेके लिए यह चित्त आकर्षित न होकर, केवल कोशा ही की ओर खिंचता है, क्या इससे मेरे आत्मत्यागकी अल्प मर्यादा सूचित नहीं होती?

संभूति०—भद्र! वीर्यवान् आत्माएँ, जिस स्थान पर, एक बार पराजित हो जाती हैं, विषयके पङ्कमें धँस जाती हैं, उसी स्थलपर वे विजय प्राप्त करनेके लिए, आकांक्षायुक्त होती हैं और जहाँ तक वे याचना की प्रत्येक अभिलाषाका पराभव करने योग्य पराक्रम प्राप्त करके, याचनाके, भारीसे भारी खिंचावके स्थान-पर भी, अर्पण करनेके लिए तत्पर न हो जायँ वहाँ तक वे आत्माएँ निर्बल तथा सत्वहीन गिनने योग्य हैं। कोशाके यहाँ चतुर्मास करनेके तुम्हारे खिंचावपर स्वार्थकी संज्ञा घटित नहीं होती। तुम्हारी आत्मा याचनाके उत्कृष्ट आकर्षणके स्थलपर, अर्पण करनेको कसौटीपर कसे जानेके लिए उद्यत हुई है, इसी लिए उसे यह तलमलाहट हो रही है। तुम्हें अब किसी प्रकारका भय खाना उचित नहीं है। याचना करनेका तुम्हारा स्वभाव अब एक पुराना इतिहास हो चुका है।

स्थूल०—पर क्या साधुओंको वेश्या-गृहमें चतु-र्मास करना उचित है?

संभूति०—जो साधु याचनाका पात्र है, उसे उसके खिंचावसे भागते फिरनेकी आवश्यकता है और इसी कारण तुम्हारे सहयोगी साधुओंको ऐसे स्थानमें भेजा है, जहाँ उस प्रकारके खिंचावका लेश-मात्र भी सम्भव न हो। परन्तु जिसे देना ही है और लेना कुछ भी नहीं है—अपने लिए कुछ भी नहीं रखना है—उसे तो याचनाके खिंचाव वाले प्रदेशमें, विजय प्राप्त करके, जगतपर त्यागका सिक्का जमानेकी आवश्यकता है। तात ! तुम सरीखोंके पास तो जो कुछ है, उसे बस्तीमें खुले हाथों बाँटते फिरनेकी जरूरत है। संसारको तुम्हारे समान व्यक्तियोंसे बहुत कुछ सीखना और प्राप्त करना है। जब आत्मा पूर्ण रूपसे भर जाता है, उसे कुछ इच्छा नहीं रहती, तब उसका आत्म-भण्डार अमूल्य रत्नोंसे उछलने लगता है। और इन रत्नोंको संसार खुले हाथों लूटता है—जिसको जितना चाहिए, वह उतना ले—उसके लिए उसको जगतके आकर्षणके केन्द्रमें शिखरपर खड़े रहनेकी आवश्यकता है। कुछ आत्माएँ बलिष्ठ होनेपर भी याचना वाले स्थानपर ठहर सकनेके लिए नितान्त अनुपयुक्त होती हैं। उन्हींके लिए शास्त्रकारों ने याचनाके स्थानसे अलग जाकर, गुफाओंमें कल्याण-साधन करनेकी आवश्यकता बतलाई है। उन विधानोंका निर्माण तुम्हारे सरीखे वीर्यवान् पुरुषोंके लिए नहीं हुआ है।

स्थूल०—प्रभो ! परन्तु मैं समझता हूं कि मात्र दृष्टान्त ही खड़ा करनेके लिए साधुओंके आचारकी शिष्ट प्रणालीका लोप करना उचित नहीं है।

संभूति०— तात ! अपना पूर्वका इतिहास स्मरण करो। प्रकृति किसी भी आकस्मिक झटकेको, सहन ही नहीं कर सकती। शृंगारमेंसे वैराग्यमें, तथा वैराग्यसे शृंगारमें, गतिका क्रम एकाएक कभी नहीं होता। एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें गमन करनेका नियम क्रमिक (Evolutionary) होता है। एकाएक और तुरन्त कुछ भी नहीं बनता। यदि बन भी जाय तो वह क्षणिक और अस्थायी होता है। त्याग किये हुए विषयकी शक्ति अनुकूल नियमके प्रसङ्गपर सहस्रगुणे अधिक बलसे सताती है, और अन्तमें आत्माको मूलस्थितिमें घसीट ले जाती है। किसी भी विषयके प्रति अनासक्तिका उद्भव उसकी अति-तृप्तिमेंसे नहीं होता; तृप्तिमात्र तो उस विषयका पोषण ही करती है। भद्र ! तू शृंगारमें पला हुआ है। एक समय तू शृंगारका कीड़ा था और एक ही क्षणमें तूने शृंगारमेंसे वैराग्यमे प्रवेश किया था, यह धक्का प्रकृति कैसे सहन कर सकती है ? पृथ्वीपर तो धीरे ही चलनेमें कल्याण है; शीघ्र चलनेसे फिसल पड़ते हैं, और छलांग मारनेसे तो पैर ही टूट जाते हैं। तूने तो पैर ही तोड़ बैठनेके समान साहस किया था, परन्तु तेरा पुरुषार्थ तथा पूर्वकर्म अद्वितीय था, इसी से तू बच गया। तुम्हारे स्थानमें यदि कोई दूसरा सामान्य मनुष्य होता तो वह फिरसे पूर्व विषयके अमलकी ओर कभीका खिंच जाता। परन्तु तुम कितने ही पुरुषार्थी और सवीर्य हो तो भी अन्तमें प्रकृति तुमसे छोटेसे छोटा भी बदला लिए बिना न छोड़ेगी। जब तक तुम कोशाका दर्शन न करोगे, अपने पूर्वके विलास-स्थलकी ओर दृष्टि न फेरोगे, तब तक तुम्हारे आत्माको शान्ति न मिलेगी; क्योंकि अभी इन संस्कारोंको तुम बिलकुल कुचलकर नहीं आये हो। विराग उत्पन्न होनेके पश्चात्, वहाँ अल्प-काल रहकर—प्रबल निमित्तोंकी कसौटीपर चढ़ कर—और पिछले संस्कारोंको कुचलकर, यदि तुम

यहाँ आये होते तो यह खिंचाव कदापि न होता। परंतु तुम तो एकदम भाग निकले थे। तुम्हारा वर्तमान आत्मप्रभाव तो तुमने इस आश्रममें ही आकर प्राप्त किया है। अतएव कोशाकी ओरके खिंचावका निवृत होना असम्भव है। परन्तु पूर्वके स्नेह-स्थानोंके खिंचावमें भी आत्मत्याग पूर्वक योग देनेका अवसर कोई विरले ही भाग्यशाली पुरुषोंको प्राप्त होता है। साधुके शिष्टाचारके ध्वंस हो जानेका भय न करके, तुम तुरन्त उस ओर विहार करनेका प्रबन्ध करो।

स्थूल०—परन्तु यदि मैं अधिक पुरुषार्थको स्फुरित करके, साधुके शिष्टाचारमें जकड़े रहनेका प्रयत्न करूँ तो उसमें क्या अयोग्य होगा ?

संभूति०—भद्र! मेरा कथिताशय तुम अभी तक नहीं समझे हो। शिष्टाचारमें जकड़े रहनेकी आवश्यकता तभी तक है, जब तक कि आत्मा अर्पण करनेको तैयार नहीं है। जो अर्पण-त्याग करनेकी जगह उल्टे लूटनेको तैयार हो जाते हैं; जो गंगामें पाप धोनेको जाकर, वहां मछली मारनेको बैठ जाते हैं, ऐसे लोगोंके लिए ही आचार-पद्धतिका विधान है। जो उस स्थितिको पार कर गये हैं, उन्हें तो संसारके जोखिम वाले स्थानपर जाकर, अपने बन्धुओंको आत्मत्यागका दर्शन कराना है। अन्य साधुओंको जो उन स्थानोंपर जानेकी मनाईकी गई है, उसमें यही हेतु है कि उनमें याचनाकी पात्रता छुपी हुई है, वे अनुकूल प्रसंग आनेपर, भिखारी बनकर हाथ बढ़ाते हैं और मौका पाकर लूटनेमें भी नहीं चूकते। जो लोग याचनाके आकर्षणयुक्त स्थानमें याचना न करके उल्टा अर्पण करते हैं, वे जंगल तथा उपवनयुक्त प्रदेशोंमें विचरने तथा विहार करनेवाले याचकोंसे कई गुणा बढ़कर हैं। वनमें विहार करने वाले याचक साधु कदाचित् अपना हित साधन भले ही कर सकें, परन्तु उनके अज्ञान बन्धुओंको तो उनके चरित्रसे किञ्चिन्मात्र ही लाभ पहुँच सकता है। जगत उनके चारित्रको देखनेके लिए वनमें नहीं जाता और जो कदाचित् वे ही जगत्में आवें तो उनके संसारी बन जानेका भय रहता है अर्थात् संसारपर उनका उपकार केवल परोक्ष और अल्प होता है। परन्तु जो व्यक्ति जगतके मध्यमें रहते हुए, संसारी नहीं बनते तथा जगतसे कुछ न मांगकर उल्टा उसीको अपने पासकी उत्तमसे उत्तम सामग्री अर्पण कर देते हैं, वेही संसारका वास्तविक कल्याण कर सकते हैं। जिसने आत्मत्यागके महान यज्ञमें अपनी वासनाओंका होम दिया है, संसार उसका जितना भी आभार माने, सब थोड़ा है। सांसारिक प्रभावका चहुँओरसे आकर्षित करता हुआ दबाव जिनकी स्थितिकी दृढ़ता को धक्का नहीं पहुँचा सकता, काजलकी कोठरीमें रहते हुए भी जिनकी सफेदीपर दाग़ नहीं लग सकता, वे ही लोग जगतके स्वागत और सम्मानके पात्र होते हैं। तात! तुमने जो कार्य हाथमें लिया है, उसे तुम्हारा हृदय-बल पूर्णताके शिखरपर पहुँचानेके योग्य है। निःशंक हो, अपने पूर्व स्नेहियोंसे जल्दी जाकर मिलो।

स्थूल—प्रभो! एक नवीन ही प्रकाश आज मेरी आत्मा में प्रवेश कर रहा है। आपके वचनामृतसे अभी भी तृप्ति नहीं हो रही है अभी और वचनामृत की वृष्टि कीजिए।

संभूति—सिंहकी गुफामें जाकर उसका पराजय करना अद्वितीय आत्माओंसे ही बन सकता है और तात! तेरा निर्माण भी उसी विशेषताको सफलता प्रदान करनेके हेतु हुआ है। जगतको ऐसे अद्वितीय व्यक्तिओंकी अत्यन्त आवश्यकता है। जिस समय

संसारके मुंहसे धर्म तकका नाम निकलना बन्द हो जायगा, उस समय भी तेरे अपवादरूप चरित्रका लोग हर्षसे गायन करेंगे। भद्र! इसमें अधिक प्रकाश में मैं तुम्हें नहीं पहुंचा सकता; अधिक प्रकाश तो तुम्हें कोशाह के गृहमें प्राप्त होगा। वहाँसे प्रकाश लाकर, गुरुके आश्रमको उज्ज्वल करना। वन और गुफाओंमें शैतान पर विजय प्राप्त करनेसे जो फल मिलता है, उसकी अपेक्षा शैतानके घरमें जाकर ही उस पर विजय प्राप्त करनेसे अधिक बहुमूल्य सम्पत्ति हाथ लगती है। वहाँ शैतान अपने गुप्त भंडार विजेता के समक्ष खोल देता है। उसमेंसे विजेता चाहे जितना ले सकता है और संसारको भी दे सकता है। तात! इस बहुमूल्य प्राप्तिसे इस आश्रमके कोशको भर दो।

स्थूल०—परन्तु प्रभो, यदि मैं पराजित होजाऊँ तो आप मेरी सहायता करनेको तत्पर रहिए।

संभूति०—तात! मैं सर्वदा ही तुम्हारे साथ हूं। पराजयका भय त्याग दो, भय ही आधी पराजय है। जहाँ तक याचकता है, वहाँ तक ही भय है।

स्थूल०—तो नाथ! अब मैं आज्ञा मांगता हूँ और एक बार फिर प्रार्थना करता हूँ कि यदि गिरूँ तो उठानेकी कृपा करेंगे *।

* स्वर्गीय श्री० वाडीलाल मोतीलाल जी शाह द्वारा सम्पादित गुजराती "जैन हितेच्छु" से अनुवादित।

संयमीका दिन और रात

(लेखक—श्री 'विद्यार्थी')

"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतोमुनेः॥"

जो सब प्राणियोंकी रात है उसमें संयमी मनुष्य जागता है—वह उसका दिन है—और जिसमें प्राणी जागते हैं—जो संसारी प्राणियोंका दिन है वह उस द्रष्टा मुनि की रात है—इस वाक्यमें अनेकान्तियो को तो कोई आश्चर्यकी बातही नहीं; क्योंकि उनके लिये तो यह केवल दृष्टिकोणका भेद है, जिस से दिनको रात्रि तथा रात्रिको दिन भी समझा जा सकता है। किन्तु यह वाक्य तो एकान्तवादियोंके एक प्रतिष्ठित एवं प्रमाणित ग्रन्थका उद्धरण है जिसमें रात्रिका दिवस तथा दिवसकी रात्रि की गई है। अस्तु, इसका समाधान भी वही है—केवल अपेक्षावाद!

इसके लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि आत्मा नितान्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा शरीरसे बिल्कुल पृथक है, जो शरीरके संसर्गसे—पुद्गल परमाणुओंके समावेशसे—अपने असली रूपसे हटकर विकृतरूपमें प्रकट होता है। वस्तुतः आत्मामें सदैव उसके स्वाभाविक गुण—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त वीर्य आदि—विद्यमान रहते हैं, जो कार्मिक वर्गणाओंके आच्छादनसे पूर्णरूपमें दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु वे कभी आत्मासे पृथक् नहीं होते और न हो ही सकते हैं। जिस प्रकार सूर्य्य सदैव तेजोमय है किन्तु जलद-पटलके कारण विकृत रूपमें दिखाई देता है। जैसे जैसे घनावरण हटता जाता है वैसे ही वैसे उसकी प्राकृतिक प्रभा भी प्रादुर्भूत होती जाती है, उसी प्रकार जैसे ही जैसे कार्मिक वर्गणाओं का आवरण, जो आत्माको आच्छादित किये हुए है, हटता जाता है वैसे ही वैसे आत्मा अपने शुद्ध स्वाभाविक स्वरूप

में विकसित होता चला जाता है। इस दृष्टिसे सभी आत्माएँ बराबर हैं—कोई किसीसे बड़ी छोटी अथवा ऊँची नीची नहीं है। किन्तु हम देखते हैं कि एक उद्भट विद्वान् है तो दूसरा निरक्षर भट्टाचार्य, एक सर्वमान्य है तो दूसरा सर्वतो-बहिष्कृत, एक अत्यन्त सुखी है तो दूसरा नितान्त दुःखी आदि, जिससे यह धारणा होती है कि सब आत्माएँ समान नहीं हैं वरन् भिन्न भिन्न हैं अथवा ऊँच-नीचे भिन्न भिन्न स्थलों पर स्थित हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह विषमता केवल उसी घनरूपी कर्मावरणके स्थूल तथा सूक्ष्म होने पर निर्भर है, जिस समय यह आवरण बिल्कुल हट जावेगा उस समय सूर्यरूपी आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्ध-रूपमें देदीप्यमान होगा और इस बाह्य विषमताका कहीं पता तक नहीं लगेगा।

लेकिन हमारी आत्माओं पर आवरण इतना अधिक स्थूल तथा कठोर है कि उसने उनकी तनिक भी आभाका अवलोकन हमको नहीं होने दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि हम इस शरीरको ही सब कुछ मानने लगे और दिनरात इसकी ही परिचर्या एवं चाकरीमें संलग्न रहने लगे हैं। प्रातःकालसे लेकर सन्ध्या पर्यन्त हम इसी उधेड़-बुनमें लगे रहते हैं कि इस शरीरका पालन कैसे करें। इसके परे आवरणसे आच्छादित जो असली वस्तु है उसका कुछ भी ध्यान नहीं—उसके निमित्त एक क्षण भी नहीं! वैसे अनंत सुखकी प्राप्तिके लिए वाञ्छनीय तो यह है कि हम अहोरात्र उसी असली वस्तुके कार्यमें संलग्न रहें, इस शरीरके लिए एक क्षण भी न दें। किन्तु यह अत्यन्त दुष्कर है, इसलिए वे धन्यात्मा, जिनको आत्मानुभवके रसास्वादन करनेका सौभाग्य प्राप्त हो चुका है—चाहे उनको 'संयमी' कहिए या 'मुनि'—यथाशक्ति अपना अमूल्य समय असली कार्यमें ही लगाते हैं—शरीरसम्बन्धी उपर्युक्त कामोंमें उसका दुरुपयोग नहीं करते। फिर भी हम लोग जो बाह्य इन्द्रियों की तृप्तिके लिए सुबहसे शाम तक चहल पहल करते रहते हैं उससे उन महात्माओंको बाधा पहुँचती है जिनकी इच्छा तथा प्रवृत्ति उक्त आवरणको छेदन करके अपनी आत्माको पूर्णरूपेण विकसित होते हुए देखनेकी ओर है।

इस कारण वे या तो किसी निर्जन वनमें, जहां कि दिनरातमें कोई अन्तर नहीं, चले जाते हैं और या अपना कार्य अधिक उपयोग लगाकर उस समय करते हैं जबकि संसार अपने कोलाहलसे स्तब्ध हो जाता है और संसारी प्राणी दिनभर अथक परिश्रम करके सो जाते हैं। इस प्रकार उन संयमी पुरुषोंका कार्य उस समय प्रारम्भ होता है जब कि सब लोग निद्रा देवीकी गोदमें चले जाते हैं और उस समय तक सुचारु रूपसे सम्पन्न होता है जब तक कि संसारी जीव पुनः अपने कार्यमें प्रविष्ट नहीं होते।

यह तो हुआ संयमी पुरुषोंका दिन—जबकि वे अपना कार्य करते हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि जो हम सब का दिन है वह उनके लिए रात कैसे? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार रात्रिमें हम पर्यङ्क पर लेटे लेटे, बिना हाथ पैर हिलाए, नाना प्रकारके कार्य कर लेते हैं, कोसों दूर हो आते हैं, बिना पेट भरे अनेक प्रकारके भोजन पा लेते हैं, बिना दूसरेसे अपनी बात कहे हुए अथवा उसकी सुने हुए वार्तालाप कर लेते हैं, बिना किसीको दिये हुए अथवा किसीसे लिये हुए बहुत-सी वस्तुएँ दे ले लेते हैं, इत्यादि अनेक कार्य कर लेते हैं और आंख खुलनेपर वह कुछ नहीं रहता—बहुधा बहुत विचार करने पर भी उस सबका कोई स्मरण नहीं होता, ठीक उसी प्रकार उक्त परिणति वाले मुनि लोग दिनमें जो खाना पीना, उठना बैठना, चलना फिरना, बातचीत करना, देना लेना, आदि कार्य करते हैं, वह सब स्वप्नवत् होता है—उससे उन्हें कोई अनुराग नहीं होता। और जिस तरह आँख खुलने पर हम स्वप्नकी बातें भूल जाते हैं, उसी तरह रात्रिमें—जो उनका दिन है—ध्यानावस्थित होने पर, हृदयकी आंख खुलने पर, वह उन सब कार्योंको जो उन्होंने हमारे दिनमें अर्थात् अपनी रातमें किये हैं भूल जाते हैं और उनसे कोई लगाव नहीं रखते।

इस प्रकार उक्त वाक्य कि, जो हमारी रात है उसमें संयमी जागता है और जिसमें हम जागते हैं वह उस द्रष्टा मुनिकी रात है, ठीक ही है।

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रक़म-सहित इस प्रकार हैं:—

१२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता

१०१) बा० अजितप्रसादजी जैन, एडवोकेट, लखनऊ।

१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।

१००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।

१००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।

१००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।

१००) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान पानीपत।

५०) ला० दलीपसिंह कागजी और उनकी मार्फत, देहली।

२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई।

२५) ला० रूड़ामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।

२५) बा० रघुवरदयालजी जैन, एम. ए., करोलबाग़, देहली।

२५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनुकरणीय

'अनेकान्तकी सहायताके चार मार्गोंमेंसे दूसरे मार्गका अवलम्बन लेकर निम्नलिखित सज्जनोंने, अजैन संस्थाओं तथा विद्यार्थियोंको, एक साल तक 'अनेकान्त' फ्री तथा अर्ध मूल्यमें भिजवानेके लिये, निम्नलिखित सहायता प्रदान करके जो अनुकरणीय कार्य किया है। उसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। आशा है अनेकान्त प्रेमी अन्य सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे:—

१५) बा० मिट्ठनलालजी जैन तीतरों निवासी, ओवरसियर सरगथल, पुत्रविवाहकी खुशीमें, (१२ विद्यार्थियोंको एक वर्ष तक अनेकान्त अर्धमूल्यमें देनेके लिये)।

१०) ला० फेरूमल चतरसैनजी जैन, वीर स्वदेशी भण्डार, सरधना ज़िला मेरठ, (८ विद्यार्थियोंको एक वर्ष तक 'अनेकान्त' अर्धमूल्यमें देनेके लिये)।

१०) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी जैन बज़ाज़, सहारनपुर (४ संस्थाओंको एक वर्ष तक 'अनेकान्त' फ्री भिजवाने के लिये)।

१०) ला० रतनलालजी जैन, नईसड़क, देहली (चार संस्थाओं-पुस्तकालयों आदि—को एक वर्ष तक 'अनेकान्त' फ्री भिजवानेके लिये)।

२० विद्यार्थियोंको अनेकान्त अर्धमूल्यमें

प्राप्त हुई सहायताके आधार पर २० विद्यार्थियोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक अर्धमूल्यमें दिया जाएगा, जिन्हें आवश्यकता हो उन्हें शीघ्र ही १॥) रु० मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक होजाना चाहिये। जो विद्यार्थी उपहारकी पुस्तकें समाधितंत्र सटीक और सिद्धिसोपान भी चाहते हों उन्हें पोष्टेजके लिये चार आने अधिक भेजने चाहियें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

प्रचारकोंकी ज़रूरत—'अनेकान्त' के लिये प्रचारकोंकी ज़रूरत है। जो व्यक्ति इस कार्यको करना चाहें वे 'अनेकान्त' कार्यालय वीरसेवामन्दिर सरसावासे शीघ्र पत्र व्यवहार करें।

मुद्रक और प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीर सेवामन्दिर, सरसावाके लिये
श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव के प्रबन्धसे श्रीवास्तव प्रिंटिंग प्रेस, सहारनपुरमें मुद्रित।

Registered No. A-731

विषय-सूची

आवश्यकता

कविराजमल्लके जिस पिंगल (छन्दोविद्या) ग्रन्थका परिचय अनेकान्तकी गत किरणमें दि गया है, उसकी कुछ दूसरी प्रतियोंकी अतीव आवश्यकता है, क्योंकि जैनसमाजके प्राकृत-संस्कृत आ भाषाओंके एक प्रसिद्ध विद्वान्‌ने इस ग्रंथका शीघ्र सम्पादन कर देनेकी अपनी खास इच्छा व्यक्त की और इस पूरे ग्रन्थको अनेकान्तमें निकाल देनेका विचार है। अपने पास जो प्रति उपलब्ध, है वह ब कुछ अशुद्ध है। दूसरी प्रतियोंसे तुलना करके शुद्ध पाठके स्थिर करनेकी बड़ी जरूरत है। अतः विद्वा तथा शास्त्रभण्डारोंके अधिपतियोंसे निवेदन है कि वे अपने यहांके ग्रंथभण्डारों में इस ग्रंथकी दूस प्रतियां खोज करके उन्हें शीघ्र ही नीचे लिखे पतेपर भेजनेकी कृपा करें और इस तरह इस सत्कार अपना सहयोग प्रदान करके मुझे अनुगृहीत करें। कार्य होजाने पर वे प्रतियां उन्हें सधन्यवाद शीघ्र वापिस भेज दी जायंगी।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

* ॐ अर्हम् *
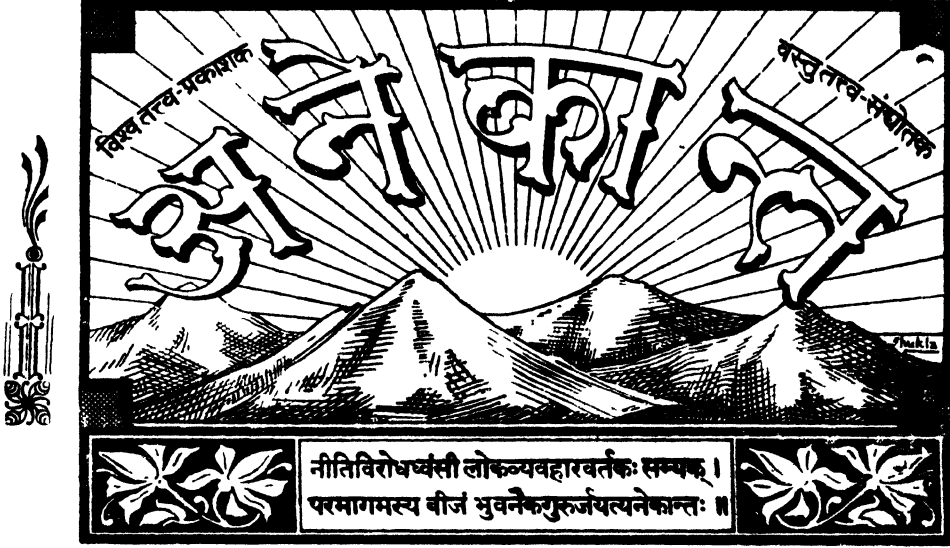
वर्ष ४	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर	अप्रैल
किरण ३	बैशाख, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९८	१९४१

एक अनूठी जिन-स्तुति

[श्री जिनदेव—जैनतीर्थंकर—अपनी योगसाधना एवं अर्हन्त-अवस्थामें वस्त्रालंकारों तथा शस्त्रास्त्रोंसे रहित होते हैं, ये सब चीजें उनके लिये व्यर्थ हैं। क्यों व्यर्थ हैं? इस भावको कविवर वादिराजसूरिने अपने 'एकीभाव' स्तोत्रके निम्न पद्यमें बड़े ही सुन्दर एवं मार्मिक ढंगसे व्यक्त किया है और उसके द्वारा ऐसी वस्तुओंसे प्रेम रखने वालोंकी असलियत को भी खोला है। इसीसे यह स्तुति जो सत्यपर अच्छा प्रकाश डालती है, मुझे बड़ी ही प्यारी मालूम होती है और बड़ी ही शिक्षाप्रद जान पड़ती है। —सम्पादक]

आहार्येभ्यः स्पृहयति परं यः स्वभावादहृद्यः,
शस्त्र-ग्राही भवति सततं वैरिणा यश्च शक्यः।
सर्वाङ्गेषु त्वमसि सुभगस्त्वं न शक्यः परेषाम्,
तत्किं भूषा-वसन-कुसुमैः किं च शस्त्रैरुदस्त्रैः ॥

हे जिनदेव, शृंगारोंके लिये बड़ी बड़ी इच्छाएँ वही करता है जो स्वभावसे ही अमनोज्ञ अथवा कुरूप होता है, और शस्त्रोंका ग्रहण-धारण भी वही करता है जो वैरीके द्वारा शक्य—जय्य अथवा पराजित होनेके योग्य होता है; आप सर्वांगोंमें सुभग हैं—कोई भी अंग आपका ऐसा नहीं जो असुन्दर अथवा कुरूप हो—और दूसरोंके द्वारा आप शक्य भी

नहीं है—कोई भी आपको अभिभूत या पराजित नहीं कर सकता। इसीसे शरीरके श्रृंगाररूप आभूषणों, वस्त्रों तथा पुष्प-मालाओं आदिसे आपका कोई प्रयोजन नहीं है और न शस्त्रों तथा अस्त्रोंसे ही कोई प्रयोजन है—शृंगारादिकी ये सब वस्तुएँ आपके लिये निरर्थक हैं, इसी से आप इन्हें धारण नहीं करते। वास्तवमें इन्हें वे ही लोग अपनाते हैं जो स्वरूपसे ही मनोज्ञ होते हैं अथवा कमसे कम अपनेको यथेष्ट सुन्दर नहीं समझते और जिन्हें दूसरों द्वारा हानि पहुँचने तथा पराजित होने आदिका महाभय लगा रहता है, और इसलिये वे इन आभूषणादिके द्वारा अपने कुरुपको छिपाने तथा अपने सौन्दर्यमें कुछ वृद्धि करनेका उपक्रम करते हैं, और इसी तरह शस्त्राऽस्त्रोंके द्वारा दूसरोंपर अपना आतंक जमाने तथा दूसरोंके आक्रमणसे अपनी रक्षा करनेका प्रयत्न भी किया करते हैं।

मनकी भूख
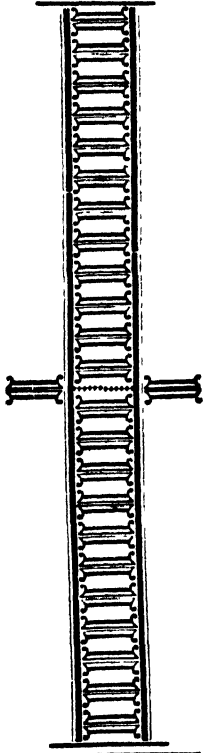
[रचयिता—श्री 'भगवत्' जैन]

मन सुखको सदा तरसता है !
सुखिया हो वह-यह बतलाए, सुखमें क्या भरी सरसता है ?
मन सुखको सदा तरसता है !!

मुझसे पूछो तो यह पूछो,
दुःखकी रजनी किस राग भरी ?
कैसी टीसन, कैसी पीड़ा,
कैसी रे ! उसमें आग भरी ?
लुट चुका कभीका उजियाला, अब अंधकार ही बसता है !

सूना है तन, सूना मन है,
सूनी है यह सारी दुनिया !
मैं उस दुनियामें रहता हूँ,
जो इससे है न्यारी दुनिया !!
आँसू, आहोंको साथ लिए, चिर-दाह और नीरसता है !

बुझते-दीपक की आभामें,
मेरा—'जीवन-इतिहास' छिपा !
क्रन्दनमें मेरा गान छिपा,
मरनेमें, हास-विलास छिपा !!
साधन-विहीन, भूखा-भूखा, रहता मन लिए विवशता है !

सुख कहते किसको ?-पता नहीं,
कब मैंने उसका स्वाद चखा !
जबसे जीवनको अपनाया,
दुःख ही तो मेरा बना सखा !!
मेरे सुखके मर जाने पर, दुख खुश हो-होकर हँसता है ॥
मन सुखको सदा तरसता है !!

जीवनकी पहेली

(लेखक—श्री बाबू जयभगवान बी० ए० वकील)
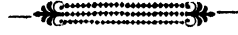
जीवनकी समस्या—

यह कौन है, जो भीतरमें शोर कर रहा है ? एक ऊधम मचा रहा है ? जो मैं मैं की रटमें मतवाला हो रहा है ? मेरा-मेरीके प्रपंचमें बावला हो रहा है ? जो लेते लेते भी माँगे चला जारहा है ? पाते पाते भी खोजे चला जारहा है ? मरते मरते भी जीते चला जा रहा है ? जो कामनाओंसे उमड़ रहा है ? आशा-ओंसे छलक रहा है ? वेदनाओंमें तड़प रहा है ? जिसकी किसी तरह भी तृप्ति नहीं, किसी तरह भी पूर्ति नहीं, किसी तरह भी शान्ति नहीं ?

इसका क्या रूप है ? क्या नाम है ? क्या काम है ? क्या यह शरीर है या इन्द्रिय ? हृदय है या प्राण ? क्या यह तिर्यंच है या मनुष्य ? पशु है या पक्षी ? पुरुष है या स्त्री ? बूढा है या जवान ? काला है या गोरा ? शूद्र है या ब्राह्मण ? हिन्दू है या मुस्लिम ? आस्तिक है या नास्तिक ? देवता है या दैत्य ?

क्या जागना और सोना ही इसका काम है ? आहार और निहार ही इसका काम है ? कञ्चन और कामिनी ही इसका काम है ?

क्या इनमेंसे यह एक रूप-नाम-कर्मवाला है ? क्या इनमेंसे यह सब रूप-नाम-कर्मवाला है ? क्या इनमेंसे किसी भी रूप-नाम-कर्मवाला नहीं ?

इसका क्या कारण है [1] ? यह जन्मसमय कहाँ से आता है ? मृत्युसमय कहाँ चला जाता है ? इसका क्या आधार है ? क्या प्रतिष्ठा है ? यह किसमें रहता है ? किसमें बढ़ता है ? किसमें जीता है ? इसका कौन विधाता है ? कौन अधिष्ठाता है ? कौन इसका नियंत्रण करता है ? कौन इसे प्रेरणा से भरता है ? इसके हित-अहितका निश्चय करता है ? इसके कर्तव्य अकर्तव्यका निर्णय करता है ? कौन इसे गुमराह करता है ? भूलोंमें डालता है ? सुखदुःख रूप वर्ताता है ? मारता और जिवाता है ?

क्या यह सब एक निरा भ्रम है ? एक खाली स्वप्न है, मिथ्या कल्पनाका पसारा है ? इसकी कोई सत्ता और वजूद नहीं ?

क्या यह सब कुछ यदृच्छा है ? आकस्मिक घटना है ? इसका कोई सिर और पैर नहीं ? यह यों ही आता है, और यों ही चला जाता है ?

क्या यह सब प्रकृति की प्रवृत्ति है ? उसके कणोंकी एक गूढ़ अभिव्यक्ति है ? उसके पञ्चभूतों के संमिलनकी एक रासायनिक उत्पत्ति (chemical phenomenon) है ? उसकी व्यवस्थित रचनाकी

---

१ किं कारणं ब्रह्म कुतःस्य जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

—श्वे० उप० १-१

एक यान्त्रिक गति (mechanical movement) है ?

क्या यह सब कुछ काल है ? कालकी सृष्टि है, ज उसके विकास और ह्रासके साथ बढ़ती और घटती है ? उसके चढ़ाव और उतरावके साथ चढ़ती और उतरती है ? उसकी सुबहशामके साथ उदय और अस्त होती है ?

क्या यह उस काल परिच्छिन्न—प्रकृतिका स्वभाव है, जो असीम अवकाशमें विकसित होती हुई, जटिलता और पूर्णताकी ओर बढ़ती हुई जीवन सरीखी विशेषता हासिल कर लेती है ?

क्या यह एक नियति है, परिनिश्चिति है, अमिट होनी है, लिखा हुआ भाग्य है ? क्या यह एक चित्रित चित्रपट है ? उपहासका अभिनय है ? विनोदका ड्रामा है, जो किसी आज्ञानुसार, किसी अनुशासनके अनुसार बराबर खेला जारहा है ? क्या यह किसीकी देन है ? किसीकी ईजाद है ? किसीकी इच्छापूर्तिका साधन है ?

क्या यह इन सबसे भिन्न है ? कोई विलक्षण स्वत:सिद्ध सत्ता है ? क्या यह ब्रह्म है, आत्मा है ?

क्या यह उपर्युक्त चीजोंमेंसे किनहीं दो वा अधिक चीजोंके संमेलनका फल है ? [१]

यह बेचैन क्यों है ? दुःखी क्यों है ? क्या इस दुःखसे किसी तरह छुटकारा नहीं ? कौन है जो इसका बाधक है ? कौन है जो इसका घातक है ? क्या किसी तरह उसे मनाया जा सकता है ? क्या किसी तरह उसे जीता जा सकता है ?

यह क्या मांगता है ? यह क्या चाहता है ? इसका क्या मतलब है ? क्या प्रयोजन है ? इसकी शुद्धिका क्या उपाय है, क्या मार्ग है ?

इन सवालोंकी क्या हद है ? इन्हें सोचते सोचते भी इनका अन्त नहीं आता ! जितना गहरा विचार किया जाता है, जितना सूक्ष्म तर्क उठाया जाता है, उतना ही जीवनतत्त्व जटिल और पेचीदा होता चला जाता है, उतना ही उसके लिये शंकामेंसे शंका, सवालमेंसे सवाल निकलता चला जाता है। जीवन-तत्त्व क्या है ? प्रश्नोंका घर है, शंकाओंका ठिकाना है। इसी रूपको देखकर प्राचीन वैदिक ऋषियोंने इसका नाम 'कं' अर्थात 'क्या' रख छोड़ा है [१]।

समस्या की व्यापकता—

ये प्रश्न आजके प्रश्न नहीं, कलके प्रश्न नहीं, ये केवल पूर्व देशके प्रश्न नहीं, पश्चिम देशके प्रश्न नहीं। ये केवल विद्वानोंके प्रश्न नहीं, मूढ़ लोगोंके प्रश्न नहीं। ये अनादि प्रश्न हैं, मनुष्यमात्रके प्रश्न हैं। ये दुःखके साथ बंधे हैं। दुःख इष्टवियोग अनिष्टसंयोगके साथ बंधा है, इष्टवियोग हानि ह्रास के साथ बंधा है। अनिष्टसंयोग रोग बुढ़ापा मृत्युके साथ बंधा है। जब जब ये दर्दभरी हानियां उदयमें

---

१ (अ) कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा,
भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावाद्,
आत्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥
श्वे. उप १. २.

(आ) कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्त ॥
—सन्मतितर्क ॥ ३.५३ ॥

१ (अ) कं ब्रह्म—छा. उप. ४. १०. ५.
(आ) को हि प्रजापतिः—शत. ब्रा. ६. २. २५.
(इ) प्रजापतिः वैकः—ऐत. ब्रा. २. ३८.; यजुर्वेद ११. ३६.
(ई) कस्मै देवाय हविषा विधेम—ऋग्वेद १०. १२१.

आती हैं, तब तब दुःख भी उदयमें आता है। जब जब दुःख उदयमें आता है तब तब ये प्रश्न भी उदयमें आते हैं। ये हानियां अनादि हैं, दुःख भी अनादि है, ये प्रश्न भी अनादि हैं।

हज़ार यत्न करने पर भी दुःख की हानियोंको छिपाया नहीं जा सकता, दुःख की अनुभूतिको रोका नहीं जा सकता; तब इन प्रश्नोंको पैदा होनेसे, इन्हें अपना जवाब मांगनेसे कैसे रोका जा सकता है? शाक्य-मुनि गौतमसे इन घटनाओंको दूर रखनेकी कितनी कोशिश की गई, सुखमात्रको दुःख अनुभूति से बचाये रखनेकी कितनी चेष्टाकी गई, पर ये घटनाएं दृष्टिमें आकर ही रहीं, यह अनुभूति चित्तमें जग कर ही रही।

चाहे सभ्य हो या असभ्य, धनी हो या निर्धन, पण्डित हो या मूढ़, पुरुष हो या स्त्री, कोई मनुष्य ऐसा नहीं, जो दुखकी घटना और दुखकी अनुभूति से सुरक्षित हो, यह अनुभूति जरूर किसी समय आती है, और उसके उल्लासमयी जीवनको सन्दिग्ध बना देती है, उसके चित्तको विलक्षण सवालोंसे भर देती है।

कोई देश ऐसा नहीं, कोई युग ऐसा नहीं, जहां दुःख न हो। दुःखसे भय न हो, दुःखसे सन्देह न हो, दुःखसे प्रश्न न हो, दुःखसे छुटकारेकी आकांक्षा न हो, दुख दूर करने की कोशिश न हो। ये सदा थे और सदा रहेंगे। यह माना कि बाह्यस्थितिके कारण भिन्न भिन्न देशों, भिन्न भिन्न युगोंमें इनके रूप भिन्न रहे हैं, इन्हें बतलानेकी भाषाएँ भिन्न रही हैं, इन्हें जतलाने की परिभाषाएँ भिन्न रही हैं, इन्हें दर्शाने की शैलियाँ भिन्न रही हैं; परन्तु यह निर्विवाद है कि ये सदा थे और सदा रहेंगे। पूर्वकालमें भी जब धरा देव-दैत्य, सुरासर, नाग-राक्षस कहलाने वाली जातियोंसे बसी थी, मनुष्यको इन सवालों से लड़ना पड़ा है[1] और आज भी जब धरा आर्य-म्लेच्छ, मंगोल-तातार, हब्स-बर्बर-लोगोंसे बसी है, ये सवाल बराबर बने हुए हैं, परन्तु इनका हल करना बहुत ही कठिन है।

समस्या की कठिनता—

कितने हैं, जो इन सवालों की ओर ध्यान देते हैं? इन्हें स्पष्ट और साक्षात् करते हैं? कितने हैं, जो इनके अर्थको समझते हैं, इन्हें अध्ययन और अन्वेषण करते हैं? कितने हैं, जो इनका समाधान करते हैं और उस समाधानको अपनेमें घटाकर सफल मनोरथ होते हैं?

बहुत विरले, कुछ गिने चुने मनुष्य, जो दूर दूर युगोंमें, दूर दूर देशोंमें प्रकाशमान नक्षत्रोंकी भांति कहीं कहीं चमके हुए हैं।

यह क्यों? जब सब ही दुःखमें सन्दिग्ध हैं, दुःखसे छूटनेके आकांक्षी हैं, दुःख दूर करनेके उद्यमी हैं, तो सब ही इन समस्याओंका हल करने में सफल क्यों नहीं?

निस्सन्देह, सब ही दुःखसे सन्दिग्ध हैं, दुःखसे छूटनेके आकांक्षी हैं, दुःख दूर करनेके उद्यमी हैं; परन्तु इन सबमें इन सवालोंपर ध्यान देने, इन्हें देखने-जानने, इन्हें हल करनेकी शक्ति समान रूपसे प्रकट नहीं। ये सब ही विभिन्न गुणों वाले हैं, विभिन्न स्वभाव वाले हैं, विभिन्न शक्तिवाले हैं। यदि इन्हें इन गुण, स्वभाव और शक्ति की अपेक्षा विभाजित किया जाय तो ये चार गुणस्थानोंमें विभक्त हो सकते हैं—

[1] देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयं मणुरेष धर्मः। कठ. उप. १. २१.

(१) मिथ्यात्वगुणस्थान वाले, (२) सासादन गुणस्थान वाले, (३) मिश्रगुणस्थान वाले, (४) सम्यक्त्वगुणस्थान वाले। ये ऊपर ऊपर एक दूसरेसे बहुत शक्ति वाले हैं, परन्तु ये ऊपर ऊपर एक दूसरेसे बहुत कम संख्या वाले हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान वाले—

इनमेंसे अधिकांश तो, ऊपरसे सचेत दीखते हुए भी भीतरसे जड़सम अचेत हैं, ये ऊपरसे श्वास-उच्छ्वास लेते हुए भी, खाते पीते हुए भी, चलते फिरते हुए भी, भीतरसे निर्जीव-सम बने हुए हैं। ये भीतरमें होने वाली तड़पन और गुदगुदाहटसे, भीतरमें जगने वाली चेतना और अनुभूतियोंसे, भीतरमें चुभनेवाली भीतियों और शंकाओंसे, भीतरमें उठने वाली प्रेरणाओं और उद्वेजनाओंसे, भीतरमें बहने वाली प्रवृत्तियों और स्मृतियोंसे, बिल्कुल बेखबर हैं। इन्हें पता नहीं कि यह क्या है, क्यों है, कैसे है। यह भीतरी लोकको भुलाकर बाहिरी लोकमें धसे हुए हैं। अन्तरात्माको खोकर परके बने हुए हैं। यह अपनेको न देखकर बाहिरको देख रहे हैं, अपनेको न टटोलकर बाहिरको टटोल रहे हैं, अपनेको न पकड़कर बाहिरको पकड़ रहे हैं। इनकी सारी रुचि, सारी आसक्ति बाहिरमे फंसी हुई है, इनकी सारी मति, सारी बुद्धि बाहिरमें लगी हुई है, इनकी सारी शक्ति, सारी स्फूर्ति बाहिरमें फैली हुई है, इनकी सारी कृति, सारी सृष्टि बाहिरमें होरही है, इनकी सारी दुनिया बाहिरमें बसी हुई है, इनका सारा विकास बाहिरकी ओर है। ये अनन्तकालसे बाहिरका अनुसरण करते करते, अनन्तकालसे बाहिरका अनुबन्ध करते करते, अनंत कालसे बाहिरमें रहते रहते बाहिरके ही हो गये हैं, बहिरात्मा होगये हैं। इनका अन्तःलोक अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्वसे भरा है, अनंतानुबंधी अंधकारसे भरा है, अनंतानुबंधी मोहसे भरा है।

ये मिथ्याधारणाके आधारपर अपनी दुनिया बनाने वाले हैं। ये अपनेको अंधकारमें डालकर आगे आगे चलने वाले हैं. ये अपनेको मोहमें गाढ़कर आशासे लखानेवाले हैं, ये सब ही मिथ्यालोकमें बसने वाले हैं, मिथ्यालोकमें देखने वाले हैं, मिथ्या लोकमें लखाने वाले हैं, ये सब मिथ्यात्वगुणस्थानीय हैं। इनकी दशा अत्यन्त दयनीय है।

ये मिथ्यालोकके वासी भी सब एक समान नहीं हैं, इनमें अधिकांश तो कर्मफलचेतना वाले हैं, और थोड़ेसे कर्मचेतना वाले हैं।

(क) कर्मफल चेतनावाले जीव—

ये समस्त एकेन्द्रिय जीव, समस्त वनस्पति जीव, समस्त विकलेन्द्रिय जीव, समस्त कीड़े-मकौड़े, मच्छर-मक्खी, मीन-मकर, पशु-पक्षी कर्मफल चेतना (Instinctive subconcious life) वाले हैं। ये बड़े ही दीन, हीन और निर्बल हैं। ये अपनी मिथ्या धारणाकी इस बाहिरी दुनियासे इतने दुःखी हैं, इस बाहरी जीवनसे इतने अस्वस्थ हैं कि इनकी सारी दुनिया दुःख ही दुःख है। इनका सारा जीवन दुःख ही दुःख है। ये इस दुःखसे इतने डरे हुए हैं, इस डरसे इतने सहमे हुए है कि इन्हें इस दुःख और दुःखभरी दुनियाकी ओर, इस भय और भयभरी दुनियाकी ओर, इस शंका और शंकाभरी दुनियाकी ओर लखानेका भी साहस पर्याप्त नहीं। ये जहां अन्य मिथ्यात्वगुणस्थानियोंकी भांति भीतरी दुनियासे विमुख हैं, वहां ये डरके मारे बाहिरी दुनियासे भी विमुख हैं, ये बाहिरसे इतने भयभीत हैं कि ये बाहिरसे इंद्रियां मूँदकर रह गये हैं, बाहिरसे ज्ञान रोककर रह गये हैं, बाहिरसे अचेत होकर रह गये हैं। इस लिये इनकी समस्त दर्शन-ज्ञान-शक्ति, समस्त स्मरण-

कल्पनाशक्ति, समस्त तर्क-विचार-शक्ति प्रायः सोई हुई होगई है, खोई हुई होगई है।

इन्होंने अपनेसे दुःखको ओझल करनेकी चेष्टामें समस्त ज्ञानको ही ओझल कर दिया है। अपनेसे दुःख भरी दुनियाको ओझल करनेकी चेष्टामें समस्त दीखने वाले जगतको ही ओझल कर दिया है। इतना ही नहीं, इन्होंने दुःखमें डरकर, दुखको ध्यान देने वाली, दुःखको सुलझाने वाली, दुःखसे उभारने वाली साहस-शक्ति, समस्त संकल्प-शक्ति समस्त उद्योगशक्तिका ही लोप कर दिया है। इसीलिये ये एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय होकर रह गये हैं, जड़ मूढ़ होकर रह गये हैं।

ये इन्द्रिय-द्वार खोलकर भी अज्ञान सम बने हैं, कर्मेन्द्रिय फैलाकर भी निःपुरुषार्थसम बने हैं। ये सब यन्त्रकी भान्ति अभ्यस्त संस्कारों (Impulses) अभ्यस्त संज्ञाओं (Instincts) के सहारे ही इन्द्रियोंसे काम लेते हुये अपना जीवन निर्वाहकर रहे है। इनकी चेतना छुईमुईके समान है, यह जरासी आपत्ति आनेपर, जरासा दुःख पड़नेपर तिलमिला जाती है, मुर्झा जाती है, अचेत होकर रह जाती है।

इन्होंने अनन्त कालसे अपने साथ इस दुःखका अनुबन्ध करते करते, इस भयका अनुबन्ध करते करते, इस अन्धकारका अनुबन्ध करते करते, अपनेको ऐसे गाढ़ भयमें समाया है, ऐसे गाढ़ अंधकारमें छिपाया है, कि इन्हें चिताये भी चिताया नहीं जाता, सुझाये भी सुझाया नहीं जाता, दिखाये भी दिखाया नहीं जाता।

इन मिथ्यास्थानियोंमें मनुष्य ही ऐसा है, जिसने इस भयके खोलको तोड़कर बाहिर निकलनेका साहस किया है, इस अन्धकारको फाड़कर बाहिर लखानेका संकल्प किया है, इस दुःखके बीच खड़े रहकर विचारनेका निश्चय किया है; परंतु ये सब भी एक समान शक्तिधारी नहीं हैं।

इन मनुष्योंमें बहुतसे तो साहस धारकर भी भयभीत समान बने हैं, इंद्रिय-द्वार खोलकर भी शून्यसमान बने हैं, निश्चय करनेपर भी विचारहीन बने हैं, यह नाममात्रके ही मनुष्य हैं, रूपमात्रके ही मनुष्य हैं, ये वास्तवमें पशु ही हैं, पशु समान ही ही आचार-व्यवहार वाले हैं, पशुसमान ही जड़ और मूढ़ हैं, (Idiots) पशुसमान ही दीन-हीन और निर्बल हैं, पशुसमान ही दुःखसे डरने वाले हैं, पशुसमान ही दुःखके सामने आंखें मूँदकर रहजाने वाले हैं, तिलमिलाकर रहजाने वाले हैं, अचेत होकर रह जाने वाले हैं, ये पशु-समान ही कर्म-फल-चेतना वाले हैं।

कर्मचेतना वाले जीव—

शेष मनुष्य जो इस कर्मफलचेतनाके क्षेत्रसे ऊपर उभर चुके हैं, कर्मचेतना (Active concious life) वाले बने है, ये निस्सन्देह संकल्प-विकल्प-शक्तिवाले हैं, धैर्य-साहस-शक्तिवाले हैं, तर्क-वितर्क-शक्तिवाले है, सोच विचार-शक्ति वाले हैं, उपाय-योजना-शक्तिवाले है, ये बड़े दक्ष और पराक्रमी है, बड़े चतुर और चञ्चल हैं, बड़े प्रज्ञ और प्रवीण है। परन्तु, इनकी यह सब संकल्प-विकल्पशक्ति, सब धैर्य साहसशक्ति, सब सोच-विचारशक्ति, सब उपाय-योजना-शक्ति बाहिरी सिद्धिके लिये हैं, बाहिरी वृद्धिके लिये हैं, बाहरी बाधाओंको दूर करनेके लिये हैं, बाहिरी कठिनाइयोंको हल करनेके लिये हैं। भीतरी वेदनाओंको देखने जानने, भीतरी आशंकाओं को सोचने विचारने, भीतरी आशाओंको पूरा करने,

भीतरी उलझनोंको सुलझाने, भीतरी बाधाओंको दूर करनेके लिये इनके पास कुछ भी नहीं। ये भीतरी दुनियासे बिल्कुल अपरिचित है; बिल्कुल अनजान हैं। ये भीतरी समस्याओंको साक्षात् करने, उन्हें हल करनेमें बिल्कुल मूढ समान हैं, जब भीतरी सवाल उठकर अपना उत्तर मांगते हैं, ये उनकी उपेक्षा करके उन्हें चुप कर देते हैं, उनसे मुंह फेरकर उन्हें सुला देते हैं, यो कहनेमें ये सब ही कर्मचेतनावाले हैं, परन्तु अपने सामर्थ्यकी अपेक्षा यह भी कई प्रकारके है।

इनमें बहुतसे तो ऐसे निर्बुद्धि हैं, कि वे परम्परागत मार्गपर चलते हुए ही अपनी जीवन नौकाको चला रहे हैं, इनमें न अपना कोई लक्ष्य है, न अपना ध्येय है, न अपनी कोई सूझ है, न अपनी खोज है, न अपनी विचारणा है, न अपनी योजना है। ये किसी भी सवालको हल करनेमें समर्थ नहीं, ये दूसरे की आज्ञा, दूसरेकी शिक्षाके अनुसार काम करनेवाले हैं। ये दूसरेके बताए, दूसरेके सुझाए हुए मार्गपर चलने वाले हैं, ये दूसरेके बहकाये, दूसरेके उकसाये हुए पुरुषार्थ दिखाने वाले हैं। ये दूसरोंके हाथके औज़ार हैं, दूसरोंकी इच्छाके साधन हैं, दूसरोंके शासनके दास हैं। ये क्षुद्र धैर्य और साहसवाले हैं। ये ज़रा भी बाधा आजानेपर अधीर होकर रह जाते हैं, ज़रासी आपत्ति पड़नेपर अवाक् होकर रह जाते हैं, ज़रासी उत्तेजना मिलनेपर भक होकर रहजाते हैं। ये दुःखके प्रति आशंकाका भान तो करते हैं, परन्तु उसे साक्षात करने, उसे समझनेमें असमर्थ हैं। ये दुःखको दूर करनेमें बेबस हैं, दुःखसे बचनेमें निरुपाय हैं, ये बेचारे क्या करें, दुखके सामने रोधोकर रहजाते हैं, चीख पुकार कर रहजाते हैं, यह दुःखकी घटनाको एक अमिट होनी जानकर अपनी शंकाओंका अंत कर लेते हैं। ये दुःखको लिखी हुई विधि जानकर अपने दिलको सन्तोष दे लेते हैं।

इनमें बहुतसे काफी बुद्धिमान हैं, विचारवान हैं। ये अपनी मनचाही चीज़ोंको सिद्ध करनेके लिये, उन्हें सुरक्षित रखने और बढ़ानेके लिये बड़े चतुर हैं, बड़े कार्यकुशल है। ये इनके लिये नित नई तरकीबें सोचते रहते हैं, नये नये उपाय बनाते रहते हैं, नये नये साधन जुटाते रहते हैं। ये मूढोंमें सरदार बने हुए हैं, निर्बलोंके स्वामी बने हुए हैं, प्रचुर धनदौलतके मालिक बने हुए हैं। इनकी शोभा, इनकी महिमा, इनकी सजधज देखते ही बनती है। ये इस जगतके बढ़े चढ़े जीव हैं, वैभवशाली जीव हैं, पुण्यवान जीव हैं। परन्तु अपनी इस मनचाही दुनियासे बाहिर, इस चातुर्यकी दुनियासे बाहिर, इस ठाटबाटकी दुनियासे बाहिर ये कुछ भी नहीं। ये निर्बुद्धियोंके समान ही निर्बुद्धि हैं, मूढोंके समान ही मूढ हैं। उनके समान ही दुःखका अर्थ समझने, उसकी शंकाओंको हल करनेमें असमर्थ हैं। ये दुःख-दर्द पड़नेपर बेबसोंके समान ही रोधोकर रहजाते हैं, चीख पुकारकर रह जाते हैं, तिलमिलाकर रह जाते हैं, अचेत होकर रहजाते हैं। ये बेबसोंके समान ही दुःखको एक अमिट होनी मानकर, एक लिखी हुई विधि समझकर अपनी शंकाओंका अन्तकर लेते हैं, अपने दिलको संतोष दे लेते हैं। ये बेबसोंके समान ही दुःखको भुलानेमें लगे हैं, सुरा-सुंदरीमें लगे हैं, कञ्चन-कामिनीमें लगे हैं, भोगमार्गमें लगे हैं, उद्योग-मार्गमें लगे हैं। बेबसोंके समान ही दुःख भुलानेके अलावा, दुःख दूर करनेका इनके पास और कोई साधन नहीं, कोई उपाय नहीं, कोई मार्ग नहीं।

बहुतसे मनुष्य ऐसे हैं, जो दुःख पर ध्यान भी देते हैं, इसकी शंकाओंका साक्षात् भी करते हैं, इनका अर्थ समझनेकी योग्यता भी रखते हैं; परन्तु वे इनका अर्थ समझनेकी परवाह नहीं करते, वे बाहिरी दुनियामें ऐसे लगे है, मोहमायामें ऐसे फँसे हैं, कि इन शंकाओंका अध्ययन और अन्वेषण करनेके लिये उन्हें तनिक भी निकास नहीं, तनिक भी अवकाश नहीं, वे बाहिरमें बड़े उद्यमी और पुरुषार्थी होते हुए भी भीतरी विचारणामें बड़े प्रमादी और आलसी हैं। वे दुःखका अंत चाहते हुए भी, खुद कुछ भी करना नहीं चाहते। वे दुःखसे बचनेके लिये, दुःखको दूर करनेके लिये, किसी किये-कराये हलके मुतलाशी हैं, किसी बने - बनाये मार्गके अभिलाषी हैं । वे किसी ऐसे उपायके इच्छुक हैं, जिसके द्वारा वे बिना अपनी दुनियाको छोड़े, बिना प्रमादको छोड़े, बिना परम्परा मार्गको छोड़े, बिना सोचे विचारे, बिना संकल्प और उद्यम किये, कुछ यों ही कर कराकर, कुछ यों ही पढ़पढ़ाकर, दुःखोंसे छूट जाएँ वे इन उपायोंको पानेके लिये किसी गहराईमें जानेको तय्यार नहीं—वे इन उपायोंको अपने आसपासमें ही अपने बाहिर से ही कहीं ढूंढ लेना चाहते हैं। इसीलिये वे जिन परम्परागत विश्वासों (Faiths) जिन परम्परागत उपायों (Practices) को अपने इर्दगिर्द, अपने निकट देख पाते हैं, वे उन्हींको सच्चा हल मानकर, उन्हींको सच्चा उपाय जानकर ग्रहण कर लेते हैं। वे उन्हीं विश्वासोंमें अपनी श्रद्धा जमाकर स्थिरचित्त होजाते हैं, उन्हीं उपायोंमें जीवनको घटाकर चिन्तारहित हो जाते हैं। वे उन ही विश्वासवालों—उपाय वालों के समान रहते-सहते, बोलते चालते नामरूप धरते, क्रियाकर्म करते सम्प्रदायवाले हो जाते हैं । उनहीके समान मन्त्रजन्त्र पढ़ते, पूजापाठ करते, विधि-विधान करते धर्मात्मा बन जाते हैं, वे उन हीकी संस्थाओं, उनहीकी प्रथाओंकी पोषणा-प्रभावना करते प्रभावशाली बन जाते हैं। वे साम्प्रदायिक दुनियाकी वाहवाहमें आनन्दकी चरमसीमा मान गाढ़ साम्प्रदायिक होकर रह जाते हैं।

इनमें कोई याज्ञिकमार्गका अनुयायी बना है, कोई तान्त्रिक मार्गका अनुयायी बना है, कोई भक्ति-मार्गका अनुयायी बना है। ये सब उसी समय तक विभिन्न सम्प्रदाय वाले बने हैं, उसी समय तक विभिन्न क्रियाकाण्ड वाले बने हैं उसी समय तक विभिन्न भाषावाले बने हैं, उसी समय तक विभिन्न नामरूप वाले बने हैं, उसी समय तक विभिन्न विश्वासों वाले बने हैं, जब तक दुःखका दर्शन नहीं होता। जब दुःख आ खड़ा होता है, तो सबका चित्त एक ही आशंकासे भिदता है, एक ही अन्तर्वेदनासे तड़पता है, एक ही जिज्ञासासे अकुलाता है। सबका मुखमण्डल एक ही रूपका होजाता है, वह म्लान और फीका पड़ जाता है। सबका व्यापार एक ही मार्गका अनुसरण करता है। सब ही रोते-धोते, चीखतेपुकारते, हाय हाय करते अपनी बेबसी का सबूत देते हैं। ये सब ऊपरी विश्वास वाले हैं, ऊपरी उपाय वाले हैं। ये सब बाहिरी विश्वास वाले हैं, बाहिरी उपाय वाले हैं। ये सब मिथ्यालोक वाले हैं, मिथ्यामार्गी हैं। ये सब मिथ्यात्वगुणस्थानवाले हैं।

ज्ञानचेतना वाले जीव—

कुछ मनुष्य ऐसे हैं, जो बाहिरी दुनियामें रहते हुए भी, बाहिरी दुनियामें कामधन्धे करते हुए भी, बाहिरी परम्परामें चलते हुए भी, बाहिरी दुनियासे बड़े असन्तुष्ट हैं, बाहिरी अन्धाधुन्धसे बड़े सन्दिग्ध हैं, बाहिरी परम्पराओंसे बड़े विकल हैं। ये इस दुनियामें अपनी कामनाओंकी तृप्ति नहीं देखते । अपनी

आशाओंकी पूर्ति नहीं देखते। ये यहांकी मान्यताओं मे अपनी शंकाओंका समाधान नहीं देखते, अपने सवालोंका जवाब नहीं देखते। ये प्रचलित रूढियोंमे अपनी सिद्धिका साधन नहीं देखते, अपने इष्टका मार्ग नहीं देखते। इनकी दृष्टिमे यह दुनिया सिवाय भूलभुलय्यांके और कुछ भी नहीं, सिवाय बाल-क्रीडा के और कुछ भी नहीं, सिवाय रूढाचालके और कुछ भी नहीं। ये मान्यताएँ सिवाय विश्वासके और कुछ भी नहीं, सिवाय अन्धकारके और कुछ भी नहीं। ये रूढ़ियाँ, ये सम्प्रदाय सिवाय परम्पराके और कुछ भी नहीं, सिवाय बन्धनोंके और कुछ भी नहीं। ये विश्वास (Faiths). विचारणाको रोक रोककर अन्धकारमें डालने वाले है, ये सम्प्रदाय (Religions) आचरण को बांध बांधकर बन्धनोंमे डालने वाले हैं, ये इस दुनियामें रहनेको तय्यार नहीं, इस अंधकारमें पड़ने को तय्यार नहीं, ये यहांसे वहांकी ओर यहांसे शिव-शान्ति सुन्दरताकी ओर, अंधकारसे प्रकाशकी ओर, बंधनसे स्वतंत्रताकी ओर, अपूर्णतासे पूर्णताकी ओर, बाहिरसे भीतरकी ओर जानेके उत्सुक हैं। इनका मन भीतरसे बड़ा ही सचेत है, बड़ा ही जागरुक है, यह पंछीकी तरह फड़फड़ाता रहता है, कोयलकी तरह गुंजारता रहता है, तारोंकी तरह झिल-मिलाता रहता है, सरिताकी तरह बहता रहता है, ये सब ज्ञानचेतना (Passive concious life) वाले हैं, ये भीतरी वेदना, भीतरी शंका, भीतरी जिज्ञासा, भीतरी कामना की उपेक्षा नहीं करते, उनकी अवहेलना नहीं करते। ये इनपर अपना ध्यान देते हैं, इनका अनुसरण करते हैं, इनको साक्षात करते हैं, इनके अर्थको खोलते हैं, इनके रहस्यको समझते हैं।

सासादन गुणस्थान वाले—

इनमेंसे कुछ तो यहांसे निकल उसपार जानेमें बड़े ही अधीर हैं, ये दुःखसम्बन्धी 'क्यों' 'क्यो' आदि सवालों को समझना नहीं चाहते, ये दुःखभरी दुनियासे उभरनेके उपाय और मार्गपर विचार करना नहीं चाहते, ये यों ही किसी चमत्कार-द्वारा, यों ही किसी अतिशय द्वारा, वेदनासे ऊपर उठना चाहते हैं—शिव, शान्ति सुन्दरताको पकड़ना चाहते हैं।

ये ज्यों ही किसी भीतरी झंकारको सुन पाते हैं किसी उचटती आभाको देख पाते हैं, त्यों ही कल्पना के सहजसिद्ध मार्गसे उसके साथ साथ हो लेते हैं। ये कल्पनासे उसकी तरंगोंमे मिलकर बहने लगते हैं, उसके स्वरोंमे घुलकर गाने लगते हैं, उसके रंगमे रंगकर दमकने लगते है, उसके पंखोंपर चढ़कर उड़ने लगते हैं।

ये बड़े ही भावुक और रसिक है, बड़े ही कवि और कलाकार हैं, ये पतंगकी भान्ति ज्योतिके दीवाने हैं, भौंरेकी भान्ति आनंदके प्यासे हैं, ये कोयलकी भान्ति ऊँचे ऊँचे गाने वाले हैं, ये चकोरकी भांति ऊँचे ऊँचे उड़ने वाले हैं। ये स्वप्नचर (Somnambulist) की भांति मन ही मन रचना बनाने वाले हैं, ये मुग्धकी भांति मन ही मन आनन्द मनाने वाले हैं।

ये सब कुछ हैं, परन्तु ये विचारक नहीं—भेदविज्ञानी नहीं। ये भावनासे भावको जुदा करने वाले नहीं, ये धारणासे वस्तुसारको जुदा करने वाले नहीं, ये भावनाको ही भाव समझ कर उससे संतुष्ट होने वाले हैं। ये कल्पनाको ही ज्ञान समझ कर

उसमें रमन करने वाले हैं, ये धारणाको ही सार समझ कर उसमें चिमटने वाले हैं, इनका सारा जीवन भावना ही भावना है। इनका सारा लोक कल्पना ही कल्पना है। इनका सारा सार धारणा ही धारणा है।

ये सब निराधार हैं, ये काल्पनिक लोकके रहने वाले हैं, काल्पनिक सारको पकड़ने वाले हैं, काल्पनिक आनन्दको लेने वाले हैं। इनका आधार न कोई तर्क है, न कोई बुद्धि, न कोई प्रमाण है, न कोई युक्ति। ये स्वप्नचरकी भांति, स्वप्न टूटनेपर निरालोक होजाते हैं। ये मुग्धकी भांति, सरूर (नशा) टूटनेपर निरानन्द होजाते हैं। ये कल्पना टूटने पर बिना पंख हो जाते हैं। ये धारणा टूटने पर बिना नेत्र हो जाते हैं। ये पंख टूटे पंछीके समान धुन्धमें धुन्धलाये हुये नीचे गिरने लगते हैं, नीचे गिरते चले जाते हैं, यहाँ तक कि ये फिर इसी धूलभरी धरणीसे आ मिलते हैं। फिर इन्हीं बंधनोंमे आ बँधते हैं, फिर इन ही दुःखोंमे आ फँसते हैं।

ये बार बार सत्यके निकट पहुंच कर वापिस चले आते हैं, ये बार बार घरके निकट झांक कर वापिस लौट आते हैं, ये बड़े ही विकल हैं, बड़े ही दुःखी हैं, ये सब सासादनगुणस्थान वाले हैं।

मिश्रगुणस्थान वाले—

कुछ ही मनुष्य ऐसे हैं, जो इस प्रकार विवश रहना नहीं चाहते, निराधार रहना नहीं चाहते, ये कल्पना-द्वारा यहांसे उड़ना नहीं चाहते, धारणा द्वारा यहांसे अलग होना नहीं चाहते। ये स्वप्नचरकी भांति भावनाओंको अपनाना नहीं चाहते। अन्धेकी भांति इन्हें पकड़ना नहीं चाहते। ये बंद पंछीके समान इनके लिये फड़फड़ाना नहीं चाहते। ये स्वाधीन होना चाहते हैं, स्वाश्रित होकर रहना चाहते हैं। ये स्वाधारके सहारे ऊपर उठना चाहते हैं, स्वाधारके सहारे खड़ा रहना चाहते हैं। ये खुली आंखोंसे वेदनओंको देखना चाहते हैं। ये आंखें गाड कर इनकी भावनाओंको समझना चाहते हैं, ये ज्ञानबलसे इनके सोपे छितोंको गाहना चाहते हैं. इनकी शंकाओं और समस्यायोंको परखना चाहते हैं। ये स्पष्ट रूपमें मालूम करना चाहते हैं कि आखिर ये हैं क्या? इनका रूप और बनाव क्या है? इनका कारण और उद्गम क्या है,? इनका लक्ष्य और प्रयोजन क्या है? इनका उपाय और मार्ग क्या है? ये लोग बड़े ही निर्भीक और साहसी हैं, बड़े ही त्यागी और तपस्वी हैं, बड़े ही जिज्ञासु और विचारक है, बड़े ही तत्त्वज्ञ और दार्शनिक हैं।

परन्तु इनमेंसे कुछका तो आयु ही साथ नहीं देता। ये बेचारे असफल मनोरथ ही यहांसे विदा हो जाते हैं। कुछ रोग व्याधिके कारण, कुछ घरेलू चिंताओंके कारण, कुछ लौकिक विपत्तियोंके कारण ऐसी उलझनोंमें फँसे हैं, कि उनमें इनका निकास ही नहीं होता। ये अपना दर्द दिलमें लिये ही चले जाते हैं।

कुछ विचारक ऐसे उत्साही हैं, ऐसे दृढ संकल्पी हैं, ऐसे स्थिरबुद्धि हैं कि वे हजार कठिनाइयाँ पड़ने पर भी, हजार उलझनें खड़ी होनेपर भी अपनी खोज को नहीं छोड़ते, यह समस्यायोंको किसी न किसी तरह हल करनेमे तत्पर हैं, ये अपनी गवेषणाओंको दर्शन (Philosophy) रूप संकलित करनेमें कटिबद्ध हैं।

परन्तु ये कुछ अपनी भूल-भ्रान्तियोंके कारण, कुछ पूर्वसंस्कारोंके कारण, कुछ पूर्वआग्रहों (Prejudices) के कारण, कुछ अल्पज्ञताके कारण, कुछ

नासमझीके कारण, कुछ अधीरताके कारण, कुछ उतावलीके कारण, जीवनको खोजते हुए भी जीवनके कितने ही पहलुओंको, जीवनके कितने ही तथ्योंको, दृष्टिसे ओझल कर डालते हैं, दृष्टिसे बहिष्कृत कर डालते हैं। इन्हें उनकी सूझ ही नहीं आती, इन्हें उनकी खोज ही नहीं आती। यह उनकी बजाए कितने ही भ्रमात्मक पहलुओंको, कितने ही काल्पनिक तथ्योंको दृष्टिमें ले आते हैं, ये कितने ही सत्यांशोंको असत्यांशोंसे मिला देते हैं, इन्हें इनका भेद करना ही नहीं आता, ये खोजके मार्गोंसे अनभिज्ञ हैं, सूझ की विधिसे अनभिज्ञ हैं। ये ज्ञानके स्वरूपको नहीं जानते, ज्ञानके मार्गोंको नहीं जानते। ये ज्ञानके ज्ञेयोंको नहीं जानते। ये ज्ञान और ज्ञेयके सम्बन्धको नहीं जानते, ये सब ही सत्यके साथ असत्यको मिलाने वाले हैं, सत्य-असत्यका संमिश्रण करने वाले हैं, ये सब ही मिश्रगुणस्थान वाले हैं।

इन सबका ज्ञान अधूरा है, इन सबका अनुभव अधूरा है, इन सबका जाना हुआ लोक अधूरा है, इन सबका तथ्य संग्रह अधूरा है। ये अपने इन अधूरे ज्ञान, अधूरे अनुभव, अधूरे लोक, अधूरे तथ्य के आधार पर ही अपनी मान्यताको बनानेवाले हैं, अपनी दृष्टिको बनानेवाले हैं। इसलिये इनकी मान्यता भी अधूरी है, इनकी दृष्टि भी अधूरी है। अधूरी दृष्टियोंके कारण इन्हें पांच श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—१ संशयवादी, २ अज्ञानवादी, ३ विपरीतवादी, ४ एकान्तवादी, ५ सर्वविनयवादी।

इनकी इस बहिष्कारनीति, अधूरी रीति, अविवेकविधिका यह परिणाम है कि इन सबका एक ही अन्वेषणीय विषय होते हुए भी, इनमें तत्संबंधी अनेक मत प्रचलित हैं।

विभिन्न मतोंका जमघट—

ये मत संशयवादसे लेकर सुनिश्चितवाद तक फैले हुए हैं। ये शून्यवादसे लेकर कि 'जीवन खाली एक भ्रम है', सत्यवाद तक कि 'जीवन एक सत्ताधारी वस्तु है, अनेक रूप धारण किये हुए है। सत्यवादियो में भी अनेक मत जारी हैं। कोई जीवनको परसत्ता—दूसरेका रचा हुआ कहता है। कोई इसे स्वसत्ता—स्वभावसे स्वतः सिद्ध मानता है। स्वसत्तावादियोंमें भी जड़वादसे लेकर 'कि सब कुछ दृश्य जगत ही है, जीवन उसकी एक सृष्टि है', ब्रह्मवाद तक कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है, जगत् उसकी एक सृष्टि है', अनेक पक्ष दिखाई पड़ते हैं। समझकी सुविधाके लिये, इन समस्त मतोंको तीन वर्गोंमें विभाजित किया जा सकता है—१ आधिदैविक, २ आधिभौतिक, ३ आध्यात्मिक।

आधिदैविक पक्ष वाले जीवनको परसत्ता मानते हैं, दूसरेकी देन मानते हैं, दूसरेकी रचना मानते हैं, दूसरेकी माया और लीला मानते हैं, परंतु इनके भी कितने ही अवान्तर भेद हैं—कोई बहुदेवतावादी हैं, कोई त्रिदेवतावादी हैं, कोई द्विदेवतावादी हैं, कोई एक देवता वा एक ईश्वरवादी हैं। इनमें कोई जीवन को जगतशक्तियोंकी देन बतलाता है, कोई शक्तियोंके अधिष्ठाता देवताओंकी देन बतलाता है। इनमें भी कोई सौम्य-देवी-देवताओंकी देन बतलाता है, कोई भयानक रुद्र-दैत्योंकी देन बतलाता है। कोई धर्मराज को इसका अधिष्ठाता बतलाता है, कोई यमराजको अधिष्ठाता बतलाता है, कोई इन सबके अधिपति, विश्वकर्मा ईश्वरको जीवनका कर्ता-भर्ता ठहराता है।

आधिभौतिक पक्षवालोंमें भी कितने ही मत हैं, कोई जीवनका आभास जगतमें करता है, कोई जगत-

निर्माता प्रकृतिमें करता है, कोई प्रकृतिके पंचभूतोंके बने शरीरमें करता है, कोई शरीरकी इंद्रियोंमें करता है, कोई इंद्रियोंके स्वामी मनमें करता है, कोई मनके रक्षक प्राणमें करता है, कोई प्राण संचालक हृदयमें करता है, कोई हृदयकी बात बताने वाले शब्द (स्फुट) में करता है।

आध्यात्मिक पक्ष वालोंमें भी अनेक मत प्रचलित है, कोई जीवनको विज्ञानमात्र मानता है, कोई श्रद्धामात्र मानता है, कोई कामनामात्र मानता है, कोई एक मानता है, कोई अनेक मानता है, कोई नित्य मानता है, कोई अनित्य मानता है, कोई कर्ता मानता है, कोई अकर्ता मानता है, कोई भोक्ता मानता है, कोई अभोक्ता मानता है, कोई सदाशिव मानता है, कोई सदादुःखी मानता है, कोई निर्वाण-समर्थ मानता है, कोई निर्वाण-असमर्थ मानता है, कोई स्वावलम्बी मानता है, कोई पराधीन मानता है [१]।

जीवन सत्ताको अनेक मानने वाले अध्यात्मवादी भी विविध मत वाले हैं। कोई जीवको अणुसमान सूक्ष्म मानता है, [२] कोई जीवको श्यामकचावल-समान छोटा जानता है, [३] कोई इसे अङ्गुष्ट-परिमाण कहता है, [४] कोई इसे हृदय परिमाण कहता है, [५] कोई विशेष शरीराधार कहता है, कोई विश्वाकार कहता है।

इनमेंसे किनको सत्य और किनको असत्य माना जाये। ये सब ही अधूरे मत हैं—सत्यासत्यमिश्रित मत हैं। ये सब ही विशेषदृष्टि, विशेषज्ञानकी उपज हैं। ये सब ही विशेष समस्या, विशेष तर्ककी पूर्ति हैं। ये सब ही एक विशेष सीमा तक जीवनके सवालोंको हल करने वाले हैं, जीवनके प्रयोजनोंको सिद्ध करने वाले हैं। ये सब ही एक विशेष क्षेत्र तक उपयोगी और व्यवहार्य हैं, इस हद तक ये सत्य हैं, परन्तु इससे बाहिर ये सब निरर्थक हैं, एक दूसरेके विरोधी हैं, एक दूसरेका खण्डन करने वाले हैं। इनमेंसे कोई भी सम्पूर्ण सत्यका समावेश नहीं करता। कोई भी जीवनके समस्त तथ्यों पर लागू नहीं होता, कोई भी समस्त तथ्योंकी संगति नहीं मिलाता, कोई भी समस्त तथ्योंकी व्याख्या नहीं करता कोई भी समस्त समस्याओंको हल नहीं करता, इस हद तक सब ही असत्य हैं।

ये यद्यपि अपनी अपनी युक्तियोंसे, जिनके आधार पर इनका निर्माण हुआ है, सिद्ध हैं, परन्तु इनमें कोई भी मत ऐसा नहीं, जो सब ही प्रमाणों, सब ही नयों, सब ही युक्तियोंसे सिद्ध हो, ये यदि एक प्रमाणसे सिद्ध हैं, तो दूसरेसे बाधित हैं, एक तर्कसे सिद्ध है, तो दूसरेसे खण्डित हैं।

हरन्तु अन्धविश्वास-अज्ञान-मोहकी बलिहारी, कि कोई भी अपनी भूलोंको नहीं देखता, कोई भी इन भूलोंका सुधार नहीं करता, हर एक अपने मत पर दृढ है, हर एक अपने मतपर हठ-ग्राही है। हर एक अपने मतपर दर्शनशास्त्रकी रचना करनेमें लगा है। हर एक अपने मतपर पन्थ और सम्प्रदाय खड़ा करनेमें लगा है। हर एक अपनेको सच्चा और दूसरेको झूठा ठहरानेमें लगा है। कोई भी दूसरेकी

---

१ नास्ति न नित्यो न कान्ते कश्चित् न वेदति नास्ति निर्वाणम्।
नास्ति च मोक्षोपायः षट् मिथ्यातत्त्वस्य स्थानानि ॥
—सम्मति तर्क ३-५४ (संस्कृत छाया)

२ मुण्डक० उप० २. २. २.

३ यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामको वा श्यामक तण्डुलो वा एवमयमन्तरात्मन् —शत० ब्रा० १०. ६. ३. १.

४ अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
कठ० उप० ६. ४. १२. १०,

५ 'आत्मा हृदये' —तत्तै० ब्रा, ३. १०. ८. ६.

युक्ति सुननेको तय्यार नहीं, कोई भी दूसरेकी दृष्टि देखनेको तय्यार नहीं, सब ओर असहिष्णुता है। हर एक अपनेको आस्तिक और दूसरेको नास्तिक कहनेमें लगा है। हर एक अपनेको सम्यक्ती और दूसरेको मिथ्यात्वी ठहरानेमें लगा है। हर एक अपने को ईमानदार और दूसरेको काफ़िर सिद्ध करनेमें लगा है।

यहां कोई यह सोचनेको तय्यार नहीं कि, जब हम सब ही अपने नित्य विज्ञानमें एक मत हैं, अपने नित्य व्यवहारमें एक मत हैं, तो हम अपने दर्शन (Philosophy) में एक मत क्यों नहीं? जब हम सब ही दो और दो को चार कहने वाले हैं, तो हम अपने जीवनको एक समान कहने वाले क्यों नहीं? यह किसका दोष है? जीवन तत्त्वका? या ज्ञाताका? या दोनोंका?

यहां सब ओर विमूढ़ता है, सब ओर वितण्डा है, सब ओर दुराग्रह है। यहां जीवनतत्त्व एक होते हुये भी तत्सम्बन्धी—"एक हाथी और पांच अन्धों के समान सब ही की दृष्टि भिन्न है, सब ही का तर्क भिन्न है, सब ही की व्याख्या भिन्न है, सब ही का सिद्धान्त भिन्न है। इस साम्प्रदायिक विमोहमें, इस शाब्दिक घटाटोपमें भला सत्यका अध्ययन कहां, सत्यका अन्वेषण कहां, सत्यका निर्णय कहां?

जीवन दुर्बोधताके कारण—

यह जीवन-तत्त्व, जब न लोकप्रसिद्ध बुद्धिमानों के जाननेमें आता है, न साम्प्रदायिक लोगोंके जानने में आता है, न कवि-कलाकारोंके बोधमें आता है, न विचारकोंके बोधमें आता है, तो क्या यह अप्राप्य है? क्या यह अज्ञेय है? क्या यह किसी प्रकार भी हासिल नहीं हो सकता? किसी प्रकार भी जाना नहीं जा सकता? क्या इसके लिए सब विचारणा व्यर्थ है? सब परिश्रम निष्फल है?

नहीं, जीवन-तत्त्व अप्राप्य नहीं, जीवन-तत्त्व अज्ञेय नहीं। यह हरदम, हर समय अपने साथ मौजूद है, यह अपने से ही अपनी आशंका उठाने वाला है, अपनेमें ही अपनी जिज्ञासा करने वाला है, यह आप ही अपनेको जानने वाला है। फिर यह जाना क्यों नहीं जाता? यह जाना हुआ अनेकरूप क्यों होजाता है? इसके दो कारण हैं—(१) जीवन की सूक्ष्मता और (२) जीवनकी विमूढ़ता।

यह जीवन-तत्त्व अपने पास होते हुए भी अपने से बहुत दूर है। यह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, भीतरसे भी भीतर है। यह अन्तरगुफामें छिपा है, अन्तरलोक में जाकर छिपा है। यह श्रद्धा-धारणामें रहने वाला है, भावना-कामनामें रहने वाला है, प्रेरणा-उद्वेगनामें रहने वाला है, वेदना-आशामें रहने वाला है, जिज्ञासा-विचारणामें रहने वाला है। यह अत्यन्त गहन है, अत्यन्त गम्भीर है। इसे देखना आसान नहीं, इसे पकड़ना आसान नहीं। यह बाह्य वस्तुकी तरह नहीं, जो इन्द्रियोंसे देखनेमें आए, बुद्धिसे समझमें आए, हाथ-पावोंसे पकड़नेमें आए। यह तो भीतरी वस्तु है, यह इन्द्रिय और बुद्धिसे दूर है, हाथ पावोंसे परे है। यह अन्तर्ज्ञानद्वारा, निष्ठाज्ञानद्वारा जानी जा सकती है। परन्तु लोक इतना विमूढ़ है कि यह इसे बाहिरी वस्तुकी तरह इन्द्रियोंसे देखना चाहता है, बुद्धिसे समझना चाहता है, हाथ पावोंसे पकड़ना चाहता है। यह बुद्धिज्ञान और निष्ठाज्ञानमें भेद करना नहीं जानता। यह इनके प्रमाणरूपको अप्रमाणरूपसे अलग करना नहीं जानता। यह भ्रान्ति और कल्पनासे ज्ञानको अलग करना नहीं

जानता। यह इनके सुझाये तथ्योंको अलग करना जानता। यह इन तथ्योंमें सत्य-असत्यका निर्णय करना नहीं जानता। यह सत्यांशोंका वर्गीकरण करना नहीं जानता। यह विभाजित सत्यांशोंका पारस्परिक संबंध नहीं जानता। यह उनकी सापेक्षिक एकता नहीं जानता। यह उनका सापेक्षिक उपयोग, सापेक्षिक व्यवहार, सापेक्षिक क्रम नहीं जानता। यह उनका सम्मेलन करना नहीं जानता, उनकी संगति मिलाना नहीं जानता।

यह सर्वथा हर एक अनुभवको एक जुदा अनुभव मान लेता है। हर एक तथ्यको एक जुदा चीज मान लेता है। हर एक घटनाको एक जुदी घटना मान लेता है। हर एक वस्तुको एक जुदी वस्तु मान लेता है। यह हर एकको आदि-अन्त-सहित मानता है।

इसकी यह विमूढ़ता ही जीवनके जाननेमें बाधक है, इसकी यह विमूढ़ता ही जीवनको अनेक रूप बतानेमें सहायक है।

फिर कौन है जो इस जीवन-तत्त्वको जान सकता है?

सम्यक्त्व गुणस्थान वाले—

जीवन-तत्त्वको वही जान सकता है, जो दुःखमें निःशंक है, भयसे निर्भीक है, जो दुःखके बीच खड़े रहकर दुःखको देख सकता है।

जो इच्छा—तृष्णासे निवृत्त है, बाहिरी जगतसे उदासीन है, जो बाहिरमें रहता हुआ भी, चलता फिरता भी, काम-धन्धा करता हुआ भी निष्काम है, निःकांक्ष है। जो अन्तर्मुखी है, अन्तर्दृष्टि है।

जो निर्मल बुद्धि है, उज्ज्वल परिणामी है, शान्त-चित्त है, जो निर्भय और निरहंकार है। जो मेरे तेरे के प्रपञ्चमें नहीं पड़ता, जो पुराने और नयेके दुराग्रह में नहीं पड़ता, जो सदा सत्याग्रही है, सत्य भक्त है, सत्यका पुजारी है। जो सदा अप्रमादी और तत्पर है, दृढ़ संकल्पी और स्थितप्रज्ञ है, जो सचेत और जागरूक है, जो साहसी और उत्साही है, जो कठिनाई और अड़चनसे नहीं डरता, रंगरूपसे नहीं विचलता, कहे सुनेसे नहीं उबलता।

जो ज्ञानी और ध्यानी है, जो देखा-देखीको, सुना-सुनाईको, चला-चलाईको नहीं मानता, जो खुद हर चीजको अध्ययन करने वाला है, परीक्षा करने वाला है, मनन करने वाला है।

जो विवेकबुद्धि है, भेदविज्ञानी है, जो ज्ञानको कल्पनासे जुदा करने वाला है, प्रमाणको भ्रमसे अलग रखने वाला है, सत्यको असत्यसे पृथक् रखने वाला है, जो भीतरको बाहिरसे अलग करने वाला है, इष्टको अनिष्टसे अलग करने वाला है, मतिज्ञानको निष्ठाज्ञानसे अलग करने वाला है।

जो विशालदृष्टि है, विशाल अनुभवी है, जो सब ही ज्ञानों द्वारा देखने वाला है, सब ही अनुभवों को जमा करने वाला है, सब ही तथ्योंका आदर करने वाला है, जो किसी अनुभवकी भी उपेक्षा नहीं करता, किसी पथ्यकी भी अवहेलना नहीं करता।

जो अनेकान्ती है, जो सब ही अनुभवों, सब ही तथ्यों, सब ही युक्तियों, सब ही दृष्टियोंका समन्वय करने वाला है। जो सब ही की संगति मिलाने वाला है, जो सब ही में पारस्परिक सम्बन्ध रखने वाला है, सापेक्षिक एकता देखने वाला है।

किं बहुना, जो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य स्वभाव वाला है। जो निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, निर्मूढ़ता गुण वाला है, जो सम्यग्दृष्टि है, जो सम्यक्त्व गुणस्थान वाला है।

परन्तु सम्यग्दृष्टि होना आसान नहीं, यह बहुत

मुशकिल है। कोई एक उपाय ऐसा निश्चित नहीं जिससे इसकी सिद्धि होसके, कोई एक समय ऐसा निश्चित नहीं जब इसकी प्राप्ति हो सके, यह न केवल प्रवचन सुननेसे प्राप्य है, न बहुत शास्त्र पढ़नेसे, यह न पूजापाठसे प्राप्य है न नाम-जपन करनेसे, यह दीर्घ वेदनानुभूति, गाढ चिंतवन, स्वानुभव अभ्यासके आश्रित है। यह परम्परागत सत्-संगति, सत् उपदेश, सत् दर्शनके आश्रित है। ऐसा होते होते जिसकी मोहमाया शान्त हो गई है, परिणामोंमें निर्मलता, उज्ज्वलता आ गई है, जिसकी दृष्टि बाहिर से उचटकर भीतरकी ओर पड़ने लग गई है, अपने आपमें समाने लग गई है, उसे ही इसका भान हो आता है।*

*(अ) उत्तराध्ययनसूत्र २८. १६.
(आ) तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १. २; १. ३;
"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" १. २.
"तन्निसर्गादधिगमाद्वा" १. ३.
(इ) क्षायोपशमिकविशुद्धिः देशना प्रायोग्यकरणलब्धी च।
चतस्रोऽपि सामान्याः करणं पुनर्भवति सम्यक्त्वे ॥
गोमटसार—जीवकाण्ड ॥ ६५० ॥ संस्कृतछाया.
(ई) बाह्यनिमित्तमत्रास्ति केषाञ्चिद्विम्बदर्शनम्।
अर्हतामितरेषां तु जिनमहिमा (प्र) दर्शनम् ॥ २३ ॥
धर्मश्रवणमेकेषां यद्वा देवर्द्धिदर्शनम्।
जातिस्मरणमेकेषां वेदनाभिभवस्तथा ॥ २४ ॥
लाटी संहिता—अध्याय ३.

परन्तु ऐसा होना कितना अनिश्चित है, कितना कठिन है, यह बात अध्यात्मवादियोंके बेबसी-सूचक वाक्योंसे प्रगट है, बहुत कुछ बाह्य और आभ्यन्तर उपायों, मार्गों, योगोंके बतलाने पर भी वह हार कर यही कहते हैं कि "जिसे आत्मा स्वयं वर लेता है—स्वयं स्वीकार कर लेता है, उसे ही आत्माका लाभ होता है [१]। जिसपर परमेष्ठिकी कृपा होजाती है उसे ही उसकी सिद्धि होती है [२]।" जिसे दैवयोगसे काललब्धि हासिल होगई है, जिसके भवभ्रमणका अंत निकट आगया है, उसे ही आत्माका दर्शन हो आता है [३]। आजीवक पंथके संस्थापक मस्करीगोशाल ने तो इस अनिश्चितिके पहलूपर इतना जोर दिया है कि उसने जीवन-सिद्धिको नियति पर ही छोड़ दिया है। उसके मतानुसार आत्मसिद्धिके लिये पुरुषार्थ करना बिल्कुल व्यर्थ है, आत्मा पुरुषार्थसे प्राप्त नहीं होता, जब नियत समय आता है, तब आत्मा स्वयं प्राप्त होजाता है [४]।

१ "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥—कठ० उप० २.२३ = मुण्डक० उप० ३.२.३.
२ श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ॥
—स्वामि विद्यानन्द—आप्तपरीक्षा ॥ २ ॥
३ दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥
—लाटी संहिता ३-३३.
४ उवासगदसाओ— Edited by Dr. P. L. Vaidya, Poona 1930—P. 238—244.

बेजोड़ विवाह

[ले०—श्री ललिताकुमारी जैन पाटनी 'विदुषी' प्रभाकर]

जिन दम्पतियोंमें उम्र, शिक्षा, शील, स्वभाव शारीरिक-संगठन व स्वास्थ्य आदिकी विषमता पाई जाती हो उनका विवाह बेजोड़ विवाहकी कोटिमें है। मसलन वर-वधूमें वर अवस्था प्राप्त है और वधू बालिका है। वधू युवती है और वर बालक है। एक पूर्ण शिक्षित है और एक कतई निरक्षर है। एक कमज़ोर है और एक बलिष्ट है। एक ज़रूरतसे अधिक उग्र और तेज मिजाज़ है और एक नम्र और शान्तहृदय है। एक अतीव सुन्दर है और एक महान कुरूप है। ऐसे जोड़ों का विवाह ही बेजोड़ विवाहकी श्रेणीमें शुमार किया जाता है।

आज हमारे समाजमें ऐसे ही अनोखे और बेढंगे विवाहों की धूम है और उनसे बने हुए बेजोड़ दम्पति यत्र तत्र दृष्टि-गोचर होरहे हैं। जिन विद्वानोंने समाज-विज्ञान और वर्तमान प्रचलित भारतीय विवाह-संस्थाका गम्भीर अध्ययन किया है, उनका कहना है कि भारतीय घरोंमें फैले हुए गृहस्थ-जीवन के कटु परिणाम और नारकीय क्लेश इन्हीं विवाहोंका एकान्त फल हैं। कहीं कोई भी ऐसा युगल देखनेमें नहीं आता जिसने दाम्पत्य-जीवनका मधुरफल और उसकी पूर्ण सफलता प्राप्तकी हो। हर जगह उसका विकृत और अस्वा-भाविक रूप ही देखनेमें आता है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि १०० में ९५ दम्पतियोंका दाम्पत्य-जीवन दुःखान्त होता है और ५ का सुखान्त हो तो हो। घर घरमें कलह और वैमनस्य दिखाई देता है। जिस गृहस्थ-जीवनमें हम स्वर्गीय सुखकी कल्पना करते हैं, वहां अशांति और दुःखका साम्राज्य है तथा निराशा और उदासीनताकी काली रेखाएँ खिंची हुई हैं। जहां उल्लास, आनन्द और आल्हाद होना चाहिए, वहां निरुत्साह, शोक और आकुलताका एक छत्र शासन है। हमने कल किसी दैनिक पत्रमें पढ़ा था—एक स्त्री अपने पतिके बेरुखेपनसे ज़हर खाकर मर गई। आज किसी पत्रमें पढ़ रहे हैं—एक महानुभाव पहली स्त्रीसे मन न मिलनेके कारण दूसरी शादी रचा रहे हैं। कल किसी अखबारमें पढ़ेंगे— किसी बड़े शहरमें नवविवाहित दम्पतियों का रातही रातमें प्राणान्त होगया। रिपोर्ट मिली है कि उनके संरक्षकोंने उनकी इच्छाके विपरीत उनका विवाह किया था। आपका एक मित्र आपको खबर सुनाता है—पड़ौसमें एक १४ वर्ष की बालिका एक वर्ष पहले अमुक सेठजीसे ब्याह होकर आई थी। बेचारीके छः महीनेसे तपेदिककी शिकायत है। डाक्टर लोग कहते हैं—किसी मानसिक वेदनासे उसको यह बीमारी हुई है। एक बहन अपनी अंतरंग सहेलीको हार्दिक व्यथा और दुःख-पूर्ण आहके साथ कहती है—बहन ब्याह होनेके बाद कभी उन्होंने मेरे साथ रू जोड़कर बात नहीं की। जाने क्यों वे मुझसे शुरूसे ही विरक्तसे रहते हैं। यह सब क्या है? बेजोड़ विवाहका दुःखद फल और उसका कटु परिणाम?

बेजोड़ विवाहका सबसे हास्यास्पद और घृणित रूप है वृद्ध-विवाह? जिस देश और समाजमें ऐसे विवाहों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है समझिए वहां अन्याय और अत्याचारको सादर आह्वान किया जाता है। वृद्ध-विवाह वास्तवमें समाज के लिए एक कलंक है, जिसका दाग सुदूर काल तक भी नहीं मिटाया जा सकता। वह व्यक्ति जो अपनी भजन-विरागकी अवस्थामें एक अबोध बालिकाके साथ विलासकी दुष्ट भावना रखता है उसमें मनुष्यत्व तो है ही कहां, शक है कि पशुत्व भी उसमें रहा है या नहीं? कारण पशुओंके समुदायमें भी ऐसा अस्वाभाविक काम कभी नहीं होता। यह तो मनुष्य-समाज ही है जो ऐसे अमानुषिक आचरण वाले व्यक्तियोंको भी जगह दे सकता है। वरना वह पशुओं के समाजमें भी स्थान पाने योग्य नहीं है। यदि कोई व्यक्ति उम्र पाने पर भी अपनी दूषित वृत्तियोंको वशमें नहीं रख सकता है और अनाचारके खेतमें स्वच्छन्द होकर विहार करना चाहता है तो किया करे, किंतु एक बालिकाके पवित्र कुमार-जीवन पर क्यों कुठाराघात करता है? वह अपनी विषैली इच्छाओंका शिकार नाना उमंगोंसे फले फूले एक

बालिका-हृदयको क्यों बनाना चाहता है ?

ऐसा करनेमें पहले वह ग़ौर करके देखें कि उसके अपने ही घरमें उसकी षोडशवर्षीया विधवा पुत्र-वधू यौवन के मध्यान्ह कालमें *त्याग और तपस्या*का जीवन बिता रही है। उसकी विधवा पुत्री यौवनके प्रभातकालमें ही अपना सोहाग-सिन्दूर पोंछकर सदाचार और संयमकी शिक्षा दे रही है। उसकी विधवा बहन बालपनमें ही अपना सर्वस्व खोकर अपने विरक्त और तपस्वी जीवन से वृद्धावस्थामें बढ़ी हुई उसकी निरंकुश लालसाको धिक्कार रही है। यदि वह अपने घरमें यह सब नहीं देखता है तो पड़ोसमें देखे और पड़ोसमें भी नहीं देख सकता है तो मोहल्लेमें देखे। बस इससे अधिक दूर उसे नहीं जाना पड़ेगा। किन्तु कौन देखता है ? देखकर बायीं ओर आंख फेर लेगा। यदि उधर भी वही दृश्य है तो दायीं ओर आंख फेर लेगा, यदि फिर भी वही दृश्य दिखलाई पड़ता है तो पीछे फिर जायगा। यदि उधर भी वही दृश्य दिखाई देरहा है तो अपने चर्मनेत्र और ज्ञाननेत्रको दोनों हाथोंसे मूँद लेगा; लेकिन पाप और पतनके गहरे समुद्र में जरूर कूदेगा ! धिक्कार है !!

जो लोग चालीस या इससे भी आगे की अवस्था प्राप्त होजाने पर भी दूसरी, तीसरी या चौथी शादी करनेके लिये तैयार होते हैं उनके मुँहसे आप क्या सुनेंगे ? अजी, इतनी बड़ी जायदाद है, हवेली है - धन सम्पत्ति है। कोई बाल-बच्चा है नहीं। हमारे मरनेके बाद उसे कोई भोगने वाला भी चाहिये। यदि परमात्माकी मर्जी हुई तो यह बुढ़ापा भी सफल हो जायगा और हमारा नाम भी रह जायगा। इस तरह नाम रखनेवालोंको सोचना चाहिये कि वे अपना नाम उज्ज्वल कर रहे हैं या कलंकित कर रहे हैं। काम करेंगे बद-नामी का और उम्मेद रखेंगे अपने नामकी। नाम रहता है सुन्दर आचरण और कर्तव्य-पालन से तथा देश-सेवा और परोपकार से। किन्तु ऐसा तो उन्होंने किया ही कहां ? एक ओर वे निरपराध बालिकाका सर्वनाश-बालहत्या करने जा रहे हैं और एक ओर अपनी आत्माको पतनकी ओर ले जा रहे हैं। मरनेके बाद एक बाल-विधवा उनकी करनीको फूट-फूट कर रोरही है और समाज उनकी बुढ़ापेकी बढ़ी हुई तृष्णा को धिक्कार रहा है। यह नाम रहेगा। हां, किसी भी तरह नाम रहा लेकिन रहा ज़रूर ! अगर वास्तवमें ऐसे लोग नाम ही के इच्छुक हैं तो अपनी सम्पत्तिको किसी ऐसे काम में लगा जायँ जो समाज व देशके अर्थ आ सके और उनका नाम भी रख सके। अगर किसी उत्तराधिकारीके ज़रिये ही वे नाम रखना चाहते हैं तो किसी सजातीय बालकको गोद लेकर यह काम आसानीसे कर सकते हैं, एक बालिकाका जीवन बर्बाद कर ऐसा क्यों करना चाह रहे हैं ? ऐसे लोग भी हैं जिनके घरोंमे दो-दो चार चार ब्याहे हुये जवान लड़के हैं और ब्याही लड़कियां भी हैं। दो-दो तीन-तीन छोटे मोटे पोते दोहते भी खेल रहे हैं। उनकी खुदकी अवस्था भी ४०-५० की हो गई है। यदि बदकिस्मतीसे उनकी गृहिणी का देहान्त हो जाता है तो १२ वें दिन ही आप उनके घरमे विवाह की चर्चा सुनने लगेंगे और साथमें यह भी सुनेंगे कि अजी और तो सब ठाठ है, लेकिन घरवालीके बिना घर सूना ही मालूम होता है। और फिर आप देखते हैं इन छोटे बाल-बच्चों को संभालने वाला भी कोई चाहिये। बहुओंमें अभी इतनी सुध नहीं है। ऐसा विचार कर रहे हैं—रुपया ते जरूर हज़ार दो हज़ार अधिक खर्च होगा-कि कोई १८-२० वर्ष की अवस्था वाली हाथ लग जाय। अगर ऐसा ही है तो वे अपने बाल-बच्चोंके लिये किसी नौकरानीको क्यों नहीं रख लेते और घर सूना मालूम होता है तो ईश्वर भजनके लिये जङ्गलमें क्यों नहीं चले जाते ? एक सजा-तीय बेटीको ज़र-खरीद पत्नी (?) क्यों बनाना चाहते हैं ? बहुतसे ऐसे महानुभाव (?) भी हैं जो यह कहते हुये भी सुने जाते हैं कि साहब, और तो सब ठीक है लेकिन हमारे मरनेके बाद हमें कोई रोने वाला भी तो चाहिये। अफ़सोस ! दुर्भावना और नीचताकी हद होगई ! हम रोज़ाना मन्दिरमें जाकर यह बोलते हैं—'भावना जिनराज मेरी सब सुखी संसार हो।' किन्तु हम हमारे क्रियात्मक जीवनमें हमारे मरनेके बाद भी निरपराध अबलाओंको तड़फा-तड़फा कर मारनेकी कलुषित भावना रखते हैं। धिक्कार है !

देखा जाता है कि वृद्ध-विवाहकी स्थितिमें मुख्यतः दो कलुषित शक्तियां काम करती हैं। एक तो समाजके कुछ वासना-पीड़ित अवस्थाप्राप्त धनीमानी सेठ-साहूकारोंकी धन-शक्ति जिसके ज़रिये वे अपनी सजातीय पुत्रियोंको अपने निकृष्ट आमोद-प्रमोदके लिये खरीदनेकी हिमायत

करते हैं और दूसरे समाज के धन-लोलुपी लोगों की निकृष्ट और घृणित व्यवसाय-शक्ति जो अपनी बालिका को बेचकर रुपये-पैसेसे अपना घर भरना चाहते हैं इस क्रय-विक्रयके घिनौने व्यवसायके विरुद्ध समाजके कुछ समझदार लोगों ने खूब आन्दोलन किया, लेकिन वह व्यर्थ साबित हुआ। पँचमेल मिठाईकी शानदार जीमनवारोंने और बारातके लम्बे जुलूसों ने उन आन्दोलनों को ऐसा दबाया कि आन्दोलन करने वालोंको बेतरह मुँहकी खानी पड़ी और बालिकाओं को बेचने और खरीदने वाले महारथी (?) सचमुच अपने पुरुषार्थ (?) में सफल हुए और होरहे हैं। अफ़सोस! समाजकी आंखें तो बन्द हैं ही किन्तु कानून भी ऐसे जुर्मों का कोई प्रतीकार नहीं कर सकता। फिर इस घिनौने व्यापारको बन्द करने वाला कौन है? ईश्वर। नहीं नहीं वह भी चुप है। कहावत है ईश्वर उसीकी सहायता करता है जो अपनी सहायता आप कर सकता है। वह देख रहा है स्त्री जाति कहां तक पुरुषोंके द्वारा किये गये अत्या-चार को सहन करती है और कब उसकी सहनशीलता (?) की हद खतम होती है। समय आगया है और हमें चाहिये कि हद किसीकी सहायताके लिये हाथ न पसारें और न उसकी आशा ही रक्खें किन्तु स्वयं ऐसे अत्याचारों का मुकाबला करनेके लिये खड़ी होजायें। जहां कहीं ऐसे घृणित व्यापार-व्यवसाय का मौक़ा आवे बालिकाएँ स्वयं मुक़ाबलेके लिये तत्पर होजायें और आवश्यकता पड़ने पर अदालत और कानून की शरण लें। यदि अदालत और कानूनको रुपयों की मुट्ठीसे दबा दिया जाय तो वे स्वयं आत्म-शक्तिसे अपने विपक्षियों का मुकाबला करें। भले ही उसको अपने जीवन में घोर से घोर कष्ट क्यों न झेलना पड़े, लेकिन एक पिता-तुल्य वृद्ध की वासनाका शिकार न हों, जो अपने आत्मा और कर्त्तव्य को क़तई भूला हुआ है। वह भूल जाय कि विपक्षियों में उसका पिता भी है और भाई तथा चाचा भी हैं सचमुच वे पिता और भाई होने योग्य नहीं हैं। अगर दो-चार बहिनें भी ऐसी आफ़तके समय अपनी वीरता और आत्म-शक्तिका परिचय देंगी तो इन जघन्य व्यवसायोंमें हिस्सा लेने वालोंकी तबियत ठिकाने आ जायगी और वे भूल कर भी ऐसे कुकृत्योंमें भाग नहीं लेंगे। वे अपना उद्धार तो करेंगी ही लेकिन अपनी जाति का भी महान् उपकार करेंगी जिसके लिये भावी स्त्री-सन्तति सदा के लिये उनकी ऋणी रहेगी।

बेजोड़-विवाहका ऐसा ही एक और रूप है जिसमें बधूकी उम्र बरसे बड़ी अथवा समान होती है। स्त्री-जाति और पुरुष-जातिके शारीरिक संगठनकी दृष्टिसे वरकी उम्र पांच-छः वर्ष अधिक होनी चाहिये। वरना उनका जोड़ा बहुत ही बेढंगा और उपहास-योग्य रहेगा। बधू जहां विवाहकी आवश्यकता और गृहस्थ-जीवनकी बारीकियोंसे परिचित होनेकी चेष्टा कर रही है वहां वर उससे अभी कतई अनभिज्ञ है। फलस्वरूप दोनों ही विवाहित जीवनके सुखसे वंचित है। ऐसा देखा गया है कि जो लोग अपने बाल-पुत्रके लिये बड़ी बहू लाना पसन्द करते हैं, उनकी पसन्दमें या तो टीके या दहेजमें दी जाने वाली किसी बड़ी रक़मका लोभ छिपा रहता है या बहू पर तुरन्त ही गृहस्थी के भारकी जिम्मेवारी छोड़ देनेकी लालसा लगी रहती है। लेकिन इस लोभ और लालसाके आगे वे यह नहीं देखते कि उनकी सन्तानका कितना अहित होरहा है। उनका पुत्र अपनी आंखोंके आगे एक आफत-सी खड़ी देखकर सदा घुलता रहता है और जीवन में कभी नहीं पनप सकता तथा दाम्पत्य सुखसे सदाके लिये वंचित कर दिया जाता है।

यह तो हुई अवस्था सम्बन्धी विषमताकी बात। यदि हम गुणोंकी विषमताके बारेमें विचार करेंगे तो आजके दाम्पत्य सम्बन्धमें और भी विकार और बुराइयां नज़र आवेंगी। लेकिन उनको अधिक विस्तारसे लिखनेका न तो समय ही है और न इस छोटे निबन्धमें बखान करनेकी गुंजाइश ही है। सामान्य तौर पर यही कह देना काफ़ी होगा कि जिन दो युवक युवतियोंका आजन्म-सम्बन्ध स्था-पित होरहा है, सम्बन्ध स्थापित करनेके पहले यह विचार लेना चाहिये कि उनमें कोई ऐसी विषमता तो नहीं है जो उनके जीवन को दुःखित करदे। वे कहां तक आपसके सह-योगसे अपना और देशका उद्धार कर सकेंगे? उनके जीवन और व्यक्तित्वमें कोई ऐसा अन्तर तो नहीं है जो उनको एक-दूसरेसे क़तई पृथक रक्खे। उदाहरणके तौर पर शिक्षा और अशिक्षाके ही अन्तरको लीजिये। मान लीजिये आप एक ग्रेजुएट पुत्रके पिता हैं और आपने उसका

सम्बन्ध किसी लालचसे अथवा अपनी परिस्थितियोंसे मजबूर होकर एक पूर्ण अशिक्षित लड़कीसे कर दिया। मेरा मतलब यहां ग्रेजुएट होनेसे सिर्फ डिग्रीप्राप्त करने ही से नहीं है बल्कि उन सब गुणोंसे है जो वास्तवमें एक ग्रेजुएटमें होने चाहिएँ। आप भी खुश हैं। आपकी गृहस्थी भी खुश है। घरके भाई-बन्धु भी खुश हैं। किन्तु यह आपकी कल्पनामें भी न आयेगा कि आपके पुत्र और उसकी बहूके अन्तरंगमें क्या है? भीतर ही भीतर उनको किन कठिनाइयों और विचारोंके घात-प्रतिघातका सामना करना पड़ रहा है। दोनों एक दूसरेके विचारोंसे भिन्न हैं। आपकी बहू आपके पुत्रकी आवश्यकताओं और उसकी विचारधाराओंसे कतई अनभिज्ञ है। आपका पुत्र आपकी बहूके अज्ञान और अशिक्षापर मुँझलाता है, कुढ़ता है और फूट-फूटकर रोता है। किन्तु यह सब आपसे कभी कहता नहीं, इसलिये आप उससे बिल्कुल बेखबर हैं। बेचारी बहू आपके पुत्रकी खेद-खिन्नता और उसकी मानसिक वेदनाओंका कारण सोचने और समझनेकी योग्यता नहीं रखती। बेचारी मन ही मन अपनी अयोग्यता पर लज्जित होती है। माना कि आपकी बहू बहुत अच्छा खाना बनाती है, बड़ी विनम्र है, सेवापरायण है, सुन्दर है काम करनेमें चतुर है, किसीसे झगड़ती नहीं है और दिन-रात आपकी, आपके पुत्रकी और आपके घरकी चिन्तामें लगी रहती है किन्तु फिर भी ऐसी कौनसी वजह है जो आपका पुत्र उससे सदा विरक्त-सा रहता है। विचार करने पर वजह यही मालूम होगी कि शिक्षा और अशिक्षाके महान् अन्तरने उन दोनों हृदयोंके बीच एक जबर्दस्त पर्दा डाल रक्खा है जिसके कारण दोनों एक दूसरेके हृदयको देख नहीं सकते। ऐसी अवस्थामें दाम्पत्य सुख कहां? उसका स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता। खैर, हार्दिक कठिनाइयां ही नहीं गार्हस्थ्य-सम्बन्धी और सामाजिक कठिनाइयों पर भी गौर कीजिये। समझिये आपकी बहू और आपका पुत्र बहुत कुछ अवस्था पार कर गये हैं और उनके सामने दो-एक बाल-बच्चे भी खेलने लगे हैं। आपकी बहू चाहती है कि नजर-फटकारसे बचानेके लिये बच्चेको किसी सयाने फकीरका ताबीज पहना दिया जाय लेकिन आपका पुत्र उसके खिलाफ़ है। वह चाहती है कि बच्चेकी बीमारीमें किसी देवताको सवा मनकी मिठाई चढ़ाई जाय, लेकिन यह बात आपके पुत्रके सिद्धान्तके खिलाफ़ है। आपका पुत्र आपकी बहूको शुद्ध खादीकी पोशाक पहनाना चाहता है, किन्तु वह इससे राजी नहीं है। वह उसे ज़ेवर पहनाना नहीं चाहता, लेकिन उसका मन कहता है कि वह ज़ेवरोंसे लदी रहे। वह नुकता और पुरानी रूढ़ियोंके पक्षमें है और मौका पड़नेपर तदानुकूल ही रस्म-रिवाज़ करनेके लिये हठ करती है। आपका पुत्र बेचारा परेशान है, वह करे तो क्या करे? ऐसी सैकड़ों ही कठिनाइयां और आपदाएँ उनके सम्मुख उपस्थित होती हैं और उनको सुलझाते-सुलझाते ही उनका अमूल्य जीवन खतम हो जाता है। इसी तरह जिन दम्पतियोंमें स्त्री शिक्षित है और पुरुष अशिक्षित है तो बेचारी स्त्रीकी बहुत ही किरकिरी है। बस यह समझिये कि वह अपने जीवनको किसी तरह काट रही है। उसके जीवनमें कोई गौरव, हर्ष या रस तो बिल्कुल है ही नहीं। जब हम दो स्त्री-पुरुषोंका सम्बन्ध निश्चित करें तो उनके स्वभाव, शारीरिक संगठन और स्वास्थ्यकी समानता की ओर भी हमें अधिकसे अधिक ध्यान देना चाहिये। ऐसा कहा जाता है कि आज जो घर-घरमें दुबली, कमज़ोर, बद-मिज़ाज़, बेढंगी और अस्वाभाविक संतति देखी जाती हैं उसका एकमात्र कारण यही है कि विवाहके समय हम इन बातोंकी बिल्कुल उपेक्षा कर बैठते हैं। स्वभाव-भिन्नताके कारण कभी-कभी बड़े-बड़े उपद्रव हो जाते हैं। यहां तक कि दम्पतियों में किसी एक के अथवा दोनोंके ज़हर खाकर मर जाने तकके समाचार सुननेमें आते हैं। स्वास्थ्य और शारीरिक संगठनके बारेमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि दो आदमियोंके बलप्रयोगमें एकके कमजोर और एकके ताकतवर रहनेपर कम-ज़ोरकी जो दुर्दशा होती है वही दुरवस्था दम्पतियोंमें जो कम-ज़ोर है उसकी होगी। सौंदर्यके सम्बन्धमें भी यह बात है कि स्त्री-पुरुषोंमें एक बहुत अधिक सुन्दर और एक बहुत अधिक कुरूप होगा तो सुन्दर व्यक्ति कुरूपसे घृणा करने लगेगा और दोनोंमें कभी प्रेम और मेल नहीं हो सकेगा।

इसलिये समाज व उसके संरक्षकोंको चाहिये कि ऐसे बेजोड़ विवाहोंपर बहुत ही कठोर दृष्टि रक्खें और जहां तक हो सके ऐसे विवाह न होने दें। इससे व्यक्तियोंका भी भला होगा और उनसे बनने वाले समाजका भी हित होगा।

हरिभद्र-सूरि

[ले०—पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ विशारद]

(अनेकान्त वर्ष ३ किरण ४ से आगे)

रचनाओं पर एक दृष्टि

चरित्रनायक हरिभद्र-सूरिका संस्कृतभाषा और प्राकृतभाषा दोनोंपर ही समान और पूरा पूरा अधिकार था। ये ही सर्वप्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने कि प्राकृत आगमग्रन्थों पर संस्कृत-टीका लिखी। श्वे० सम्प्रदायमें ये एक पूर्वधारी अंतिम श्रुत-केवली माने जाते हैं। इनके पश्चात् पूर्वोंका ज्ञान सर्वथा विलुप्त होगया। श्वेताम्बर जैनसाहित्य क्षेत्रमें इनके ही प्रभाव और प्रेरणासे संस्कृत-साहित्यकी ओर अभिरुचि बढ़ी और संस्कृत जैनसाहित्य पल्लवित हुआ। संस्कृत भाषापर इनका प्रबल आधिपत्य था, यह बात अनेकान्तजयपताका आदि ग्रन्थों परसे भले प्रकार सिद्ध है। अनेकान्तजयपताका ग्रन्थ तत्कालीन सम्पूर्ण दार्शनिक क्षेत्रमें संस्कृत भाषामें संगुंफित किसी भी अन्य दार्शनिक ग्रन्थके साथ भाषा, विषय, वर्णन शैली, और अर्थ-स्फुटता आदिकी दृष्टिसे तुलना करने पर अपना विशेष और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकता है।

हरिभद्र-सूरि युगप्रधान आचार्य .सी लिए कहे जाते हैं कि इन्होंने जैनसाहित्यको हर प्रकारसे परिपुष्ट करनेका सफल और यशस्वी एवं आदर्श प्रयास किया था। विद्वत्-भोग्य और जन-साधारणके उपयुक्त जितने ग्रन्थ इन्होंने लिखे हैं और जितने विषयो पर अमर लेखनीरूप तूलिका चलाई है, वह आपको जैनसाहित्यके चोटीके ग्रन्थकारोंमें अग्र-गण्य स्थान प्रदान करती है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थो की संख्या १४४४ अथवा १४४० मानी जाती एवं कही जाती है। वर्तमानमें भी इनके उपलब्ध ग्रन्थोकी संख्या ७३ गिनी जाती है, जैसा कि पं० बेचरदासजी द्वारा लिखित 'जैन दर्शन' नामक पुस्तककी भूमिकासे और पं० हरगोविंद दासजी लिखित 'हरिभद्र चरित्र' एवं 'जैनग्रन्थावली' आदि से ज्ञात होता है। पुरातत्त्वज्ञ मुनि श्री जिनविजयजीने तो २६ ग्रन्थोंको हरिभद्र-सूरि-कृत सप्रमाण सिद्ध कर दिया है।

जैन-साहित्यके प्रगाढ़ अध्येता हर्मन जैकोबीका खयाल है कि १४४० ग्रन्थोके रचनेकी जो बात कही जाती है, उस में प्रकरणोंकी भी गणना ग्रन्थोके रूपमें की होगी और होनी ही चाहिये, क्योकि प्रकरण भी अपने आपमें स्वतंत्र विषयसे संगुंफित होनेके कारण ग्रन्थरूप ही हैं। इस प्रकार ५०-५० श्लोक वाले 'पंचाशक' के १९ प्रकरण, ८-८ श्लोक वाले 'अष्टक' के ३२ प्रकरण, १६-१६ श्लोक वाले, 'षोडशक' के १६ प्रकरण, एवं २०-२० श्लोक वाली २० 'विंशिकाएँ' भी ग्रन्थोके समूह ही समझना चाहिये। हरिभद्र-सूरिके जीवन की विशिष्ट घटनाके सूचक 'विरह' पदसे अंकित होनेके कारण 'संसार दावानल' नामक ४ श्लोकों वाली स्तुति भी अपने आपमें एक ग्रन्थरूप ही होगी।

हरिभद्र-सूरि-कृत 'तत्त्वार्थ लघुवृत्ति' और 'पिंडनियुंक्ति' नामक दो ग्रन्थ अपूर्ण रूपसे उपलब्ध हैं, तब यह शंका होना स्वाभाविक ही है कि जब अपूर्ण ग्रन्थ सुरक्षित रह सकते हैं, तो अन्य परिपूर्ण १४४४ की संख्यामें कहे जाने वाले ग्रन्थ क्यो नष्ट होगये ? युगप्रधान, युगनिर्माता इस महान् कलाकारके ग्रन्थोंकी रक्षा धर्मप्रेमी जनताने अवश्य की होगी। सम्भव है कि इस प्रकार प्रकरणोंकी गिनती भी अवश्य स्वतंत्र ग्रन्थोंके रूपमें की जाकर १४४४ की जोड़ ठीक ठीक बिठाई जाती रही होगी। खैर; जो कुछ भी हो, यह तो निर्विवाद रूपसे प्रमाणित है कि हरिभद्र-सूरिने

विस्तृत-विषय-संयुक्त, विपुल परिणाम संपन्न और अर्थ-गाभीर्यमय महान् कृतियोंके साथ साथ प्रकरण रूप छोटी छोटी किन्तु महत्वपूर्ण रचनाएँ भी अच्छी संख्यामें की थीं। सम्भव है कि उनमेंसे कुछ ग्रन्थ तो इतस्ततः भंडारोंमें अथवा वैयक्तिक ग्रन्थसंग्रहोंमें पड़े हुए होंगे और कुछ अनेकान्त वर्ष ३ किरण ४ में इसी लेखमालाके अन्तर्गत 'पूर्वकालीन और तत्कालीन स्थिति' के रूपमें वर्णित कारणों से नष्ट हो गये होंगे।

हरिभद्र-सूरिने जिस प्रकार संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंमें रचनाएँ की हैं, उसी प्रकार गद्य और पद्य दोनो ही प्रणालियों का आश्रय लिया है। हरिभद्र-सूरिके प्रादुर्काल के पूर्व आगम रहस्यका उद्घाटन करने वाली नियुक्तियाँ और चूर्णियाँ ही थीं। वे भी केवल प्राकृत भाषामें ही। इन्होंने ही आदरणीय आगमग्रन्थों पर संस्कृत टीकाएँ लिखनेकी परिपाटी डाली। इस प्रकार जैनसाहित्यमें नवीनता के साथ मौलिकता प्रदान की, जिसका स्पष्ट और महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ा कि इनके पश्चात् यह प्रवृत्ति विशेष वेगवती बनी और सभी आगमों पर संस्कृत-टीकाएँ रची जाने लगीं। प्राकृतका प्रभाव फिर भी इन पर कम नहीं था। यही कारण है कि टीकाओंमें जहा पर प्राचीन नियुक्तियों अथवा चूर्णियोंके अंशोंको प्रमाण रूपसे उद्धृत करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ पर इन्होंने प्राकृत रूपमें ही उस उस अंश को उद्धृत किया है। किन्तु ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया, त्यों त्यों प्राकृतका प्रभाव कम होता गया और यही कारण है कि आचाराग एवं सूत्रकृताग पर टीका करने वाले शीलांक सूरिने प्राकृत-उद्धरणके स्थान पर संस्कृत-अनुवाद को ही स्थान दिया है।

प्रकरणात्मक शैली और माध्यस्थपूर्ण उच्चता

प्रोफेसर हर्मन जैकोबी लिखते हैं कि यदि पारिभाषिक अर्थमें कहना चाहें तो कह सकते हैं कि हरिभद्र-सूरि ही व्यवस्थित रूपसे प्रकरणोंके रचयिता हैं। व्यवस्थित पद्धति से शास्त्रीय रूपमें रचित ग्रन्थ ही प्रकरण कहलाते हैं। येन केन प्रकारेण अव्यवस्थित रूपसे लिखित एवं प्रासंगिक और अप्रासंगिक कथाओंसे युक्त ग्रन्थोंकी अपेक्षा प्रकरणों का विशेष और स्थायी महत्त्व है। क्योंकि इनमें महान् कलाकारके अमर साहित्यकी बहुमूल्य कलाका स्फुट दर्शन परिलक्षित होता है। इन्हीं विशेषताओंके कारणोंसे चरित्र नायककी कृतियाँ उन्हें जैन साहित्यकारोंमें ही नहीं, बल्कि अखिल भारतीय साहित्यकारोंकी सर्वोच्चपंक्तिमें योग्य स्थान प्रदान करती है, जो कि हमारे लिये गौरव और सम्मानकी बात है।

आचार्य उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण आदि विद्वान् आचार्योंने प्रकरणात्मक पद्धतिकी जो नीव डाली, हरिभद्र-सूरिने उसका व्यवस्थित अध्ययन किया और उसमें अनेक विशेषताएँ एवं मौलिकताएँ प्रदान कर उसका गम्भीर विकास किया; और फल स्वरूप श्वेताम्बरीय जैन साहित्यको पूर्णताके शिखर पर पहुँचा दिया।

हरिभद्र-सूरिने जितना जैनदर्शन पर लिखा, लगभग उतना ही विभिन्न प्रसंगों पर वैदिकदर्शन और बौद्धदर्शन पर भी लिखा। ब्राह्मणसिद्धान्तों और बौद्ध-मान्यताओं पर गम्भीर मीमासा करते समय भी एवं चर्चात्मक तथा खंडनात्मक शैलीका अवलम्बन लेते समय भी मध्यस्थता, सज्जनोचित मर्यादा और आदर्श गम्भीरताका किसी भी अंशमें उल्लंघन नहीं किया है, यही हमारे चरित्रनायककी असाधारण विशेषता है।

शांति पूर्वक और मध्यस्थ भावके साथ अपनी बातको समझाने वालोंमें हरिभद्रका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। कहा जा सकता है कि दार्शनिक क्षेत्रमें इस दृष्टिसे हरिभद्र अद्वितीय हैं। जैनदर्शनके सिद्धान्तोंका समर्थन करते समय भी अपनी निर्लिप्तता बनाये रखना एक आदर्श

कला है। जैसाकि 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के तृतीय स्तम्बकमें ईश्वर-कर्तृत्ववादसे स्पष्ट है। तार्किक खंडन-मंडनके वातावरणमें भी इतनी आदर्शताका पालन करना अपनी सर्वोच्च भद्रताका सुन्दर प्रमाण है। पं० बेचरदासजी लिखते हैं कि इस दृष्टिसे श्री हरिभद्र-सूरि सदृश समर्थ बोधक मुझे और कोई प्रतीत नहीं होता है। अनेकान्तजयपताकासे प्रमाणित होता है कि ये प्रचंड वादी थे, किन्तु जैसे अन्यवादियोंके ग्रन्थोंमें प्रतिवादियोंके प्रति प्रायः विषवमन किया जाता है, वैसा ये अपने बहुमूल्य ग्रन्थोंमें करते हुए नहीं पाये जाते हैं। बल्कि ये तो 'आह च न्यायवादी', 'उक्तं च न्यायवादिना' 'भवता तार्किकचूडामणिना', 'न्यायविदा वार्तिके', 'यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना' इत्यादि आदर-सूचक शब्दोंका उपयोग करते हुए देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि जो समर्थ होता है, वही इतना धैर्य और उच्चताका पालन कर सकता है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्र-सूरि प्रखर वाग्मी, गंभीर दार्शनिक, और अजेयवादी थे, यह बखूबी साबित होजाता है।

साम्प्रदायिक विष, और मताग्रहसे उत्पन्न होने वाले कलह, मतभेद, अदूरदर्शिता, अबन्धुत्व भाव, ईर्षा, द्वेष आदि मानवता-नाशक दुर्गुणोंका समूल नाश होजाय, यह हरिभद्र-सूरिकी आतरिक इच्छा थी; और यही कारण है कि वे अपने योगदृष्टिसमुच्चयमें सर्वधर्म-समन्वय और सर्वबंधुत्व भावनाका सुन्दर और भावपूर्ण उपदेश देते हुए दिखाई देते हैं। उनकी सर्वबन्धुत्व भावनाका स्वरूप उनके अपने शब्दोंमें ही इस प्रकार है:—

अविद्यासंगताः प्रायो विकल्पाः सर्व एव यत्।
तद्योजनात्मकश्चैष: कुतर्कः किमनेन तत् ॥
जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीति-फल बाधितः।
हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताऽप्राप्तविकल्पवत् ॥
चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः।
यस्माद् एते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥
यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादि नियोगतः।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥
तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम्।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महाऽनर्थकरः परः ॥
निशानाथप्रतिक्षेपो यथाऽन्धानामसंगतः।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवाऽर्वाग्दृशामयम् ॥
न युज्यते प्रतिक्षेपः सामान्यस्याऽपि तत्सताम्।
आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाछेदाधिको मतः ॥
ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात् तेषु निश्चयः ॥
ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन मुमुक्षूणामसंगतः।
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्याः किमनेन तत् ॥

—(योगदृष्टिसमुच्चय, ९०, ९१, १३२, १३६, १३७, १३८, १३९, १४४, १४६)

भावार्थ—हे भाइयो! शब्दजालमय ये सब विकल्प अविद्या-अज्ञानसे उत्पन्न हुए हुए हैं: इन सबका मूल आधार कुतर्क है; जिससे कि आज तक कुछ भी सार नहीं निकला है। जैसे कि एक पागल हाथी पर बैठे हुए आदमीने कहा कि मार्गमेंसे सब हट जाओ, अन्यथा यह हाथी चोट पहुँचावेगा। इस पर एक कुतार्किकने विकल्प उठाये कि हाथी समीपमें आये हुएको—प्राप्तको—मारता है या दूरस्थ अप्राप्त—को भी मारता है? यदि प्राप्तको, तो तुम्हें ही क्यों नहीं मार डालता है, तुम तो प्राप्त हो; यदि अप्राप्तको मारता है, तो फिर दूर हटनेसे क्या लाभ? अप्राप्त अवस्था में भी मार सकेगा। इस प्रकारके कुतर्कोंसे अन्तमें वह हाथी द्वारा मार डाला जाता है, वैसे ही श्रद्धा-सम्बन्धी कुतर्क भी आत्माका सत्यानाश कर डालता है।

भिन्न भिन्न महापुरुषोंकी जो भिन्न भिन्न तरहकी देशना देखी जाती है, उसका मूल कारण है—शिष्योंकी अथवा तत्कालीन जनताकी आध्यात्मिक विभिन्नता। क्योंकि वे महात्मा (महावीर, बुद्ध, कृष्ण, कपिल, गौतम, कणाद, पतञ्जलि, आदि आदि) आध्यात्मिक व्याधियोंके योग्य वैद्य और ज्ञाता थे। अथवा उन्होंने भिन्न भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव, नयादि दृष्टियोंके कारणसे भिन्न भिन्न देशना दी है; किन्तु उनका मूल आधार तो मुक्ति ही था। इसलिये बिना पूर्ण अभिप्राय जाने हमारे जैसे अल्पज्ञों द्वारा उनका खंडन किया जाना निस्संदेह महान् अनर्थकारी ही सिद्ध होगा। जिस प्रकार अंधो द्वारा चन्द्रमाका केवल कल्पना द्वारा विभिन्न वर्णन किया जाना पूर्ण मूर्खता ही है, उसी प्रकार हमारे जैसों द्वारा उन देशनाओंके सम्बन्धमें भेद-कल्पना करना पूर्ण मूर्खता ही है। जहाँ सामान्य पुरुषका प्रतिक्षेप करना भी असंगत है, वहाँ इन महान् पुरुषोंके सम्बंधमें प्रतिवाद करनेकी अपेक्षा तो जिव्हा-छेद करना अधिक श्रेयस्कर है। विचार करो कि यदि तर्क-द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोंका वास्तविक ज्ञान हो सकता होता तो आज दिन तक ये तार्किक शंकाशील क्यों रहते? इसलिये मुमुक्षुओं के लिये किसी भी प्रकारका कदाग्रह रखना सर्वथा असंगत है। विचार तो करो, यदि मुक्ति चाहते हो तो इन सब विकल्पों, भेद-भावनाओं. और एकान्त-मान्यताओंको छोड़ना पड़ेगा: तो फिर तर्क और विकल्प कैसे उपयोगी ठहरे?

पाठकवृन्द! देखिये, कितनी आदर्श सद्भावनाएँ और कितनी समुन्नत, उदार और विशाल सुदृष्टि हरिभद्र-सूरिकी थी। यही भद्रवृत्ति हम आपके अन्य सद्-ग्रन्थोंमें भी पाते हैं। शास्त्रवार्तासमुच्चयमे आप लिखते हैं कि—

एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः॥

शा० स्त० ३, ४४

अर्थात्—यह प्रकृतिवाद भी सत्य ही समझना चाहिए, क्योंकि यह महर्षि कपिलका कहा हुआ है: जो कि दिव्य महामुनि थे।

"न चैतदपि न न्याय्यं यतो बुद्धो महामुनिः॥

शा० स्त० ६, ४३

तात्पर्य यह है कि यह बौद्ध-विज्ञानवाद भी असत्य नहीं होसकता है, क्योंकि यह महात्मा बुद्धका कहा हुआ है।

एवं च शून्यवादोऽपि तद्विनेयानुगुण्यतः।
अभिप्रायत इत्युक्तो लक्ष्यते तत्ववेदिना॥

शा० स्त० ६, ६३

इसी प्रकार यह शून्यवाद भी अनेक मुमुक्षुओंके हितके लिए ही उस तत्त्वज्ञ महापुरुष द्वारा कहा गया प्रतीत होता है।

अन्ये व्याख्यापयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः॥

शा० स्त० ८, ८

साराश यह है कि कदाग्रहसे भ्रमित जनताकी विषम-वृत्ति, समताभावरूपमें परिणति करे, इसी सद्देश्यको लेकर भारतीय-शास्त्रोंमें अद्वैतवादकी देशना दी गई है।

पं० बेचरदासजी लिखते हैं कि श्री महावीर स्वामीके शासन संरक्षक आचार्योंमेंसे ऐसा उदार मतवादी, ऐसा समन्वयशील निरीक्षक कोई हुआ है तो ये हरिभद्र ही हैं। इनके पश्चात् अद्यावधि किसी माताने जैन आचार्योंमें इतने उदार, लोकहितकर, और गंभीर निरीक्षकको जन्म नहीं दिया है।

आचार क्षेत्रमें फैली हुई अव्यवस्था, दुराचार, और भ्रष्टाचारका भी हरिभद्र-सूरिने कैसा निराकरण किया है, यह पहले लिखा जा चुका है।

इस प्रकार हरिभद्र-सूरिमें मध्यस्थता, उदारता, गुण-ग्राहिता, विवेकशक्ति, भक्तिप्रियता, विचारशीलता, कोम-लता, चारित्रविशुद्धि और योगानुभूति आदि अनेक गुण विद्यमान थे—ऐसा प्रतीत होता है। बौद्धोंके प्रति इनका क्रोध अंतिम क्रोध था, ऐसा भी ज्ञात होता है। इसके प्रमाण में प्रशम रस पूर्ण 'समराइच्चकहा' रूप कृति सामने विद्यमान है। इन्होने जैनसाधुभिक्षा, जैनदीक्षा आदि विभिन्न विषयों पर अपने सुन्दर और भावपूर्ण विचार अष्टक, षोडशक, और पंचाशक आदिमें भली प्रकारसे व्यक्त किए हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये रूढ़ि-प्रिय नहीं थे, अपितु

विचारपूर्ण विचारोंके अनुयायी और अनेक कवि सुधारक थे। तत्कालीन क्रिया संबंधी अंधकारको अपने ज्ञान, और चारित्र-द्वारा विनष्ट करनेका इन्होने सफल प्रयास किया था।

रचना-प्रणालीकी विशेषता

हरिभद्र-सूरिने साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, चार्वाक, बौद्ध और जैन आदि सभी दर्शनोकी आलोचना-प्रत्यालोचना की है, किन्तु अपनी प्रकृति-उदारताका कही पर भी उल्लंघन नही होने दिया है। भारतीय सभी दर्शन धाराओ पर विद्वतापूर्वक मीमासा और आलोचना करते समय भी तटस्थवृत्ति रखना निश्चय ही आदर्श और अनु-करणीय है।

जैनदर्शनके मौलिक सिद्धान्तरूप स्याद्वाद पर अन्य बौद्ध एवं तार्किको-द्वारा किये जाने वाले तार्किक एवं दार्शनिक विकल्पात्मक हमलोका उसी पद्धतिसे और वैसा ही प्रबल और प्रचंड उत्तर देने वाले सर्व प्रथम यदि कोई जैन नैयायिक दृष्टिमें आते हैं, तो ये हरिभद्र और भट्ट अकलंकदेव ही हैं। स्याद्वाद पर किये जाने वाले ८ दोषो का परिहार जैसा इन दोनो आचार्योंने किया है, वैसा ही करते हुए हेमचन्द्रने भी इस उज्ज्वल सिद्धान्तको निर्दोष प्रमाणित किया है।

योग-साहित्यमें भी जैन विचार-धाराका खयाल रखते हुए अपनी महत्त्वपूर्ण नवीनता प्रदर्शित की हैं। निःसंदेह इनकी समुज्ज्वल कृतियोंसे भारतीय साहित्य गौरवान्वित हुआ है। श्रद्धेय पं० सुखलालजीके शब्दोंमें इनके ग्रन्थ हमारी सारी जिन्दगी तकके लिए मनन करने और शास्त्रीय प्रत्येक विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए पर्याप्त हैं। इन की युगप्रधानत्वरूप ख्यातिका मूल कारण आचार क्षेत्रमे विशेषता और पवित्रता लानेके साथ साथ साहित्य-सेवा भी है। चारों अनुयोगो पर सफलतापूर्वक साहित्यका निर्माण करना, और उसमें विशेषताके साथ स्थायित्व लाना अमर कलाकारकी विशिष्ट कलाका ही द्योतक है।

ललितविस्तरावृत्तिमें, बौद्ध आदि सभी दर्शनोंके सिद्धान्तोंकी संक्षेपमे किन्तु मार्मिकताके साथ मीमासा करते हुए, अर्हद्देवकी आप्तता और पूज्यता गंभीर और हृदयंगम रीतिसे स्थापित करनेका प्रयास किया है।

अनेकान्तजयपताकामें बौद्धोका काफी प्रतिक्षेप है। समग्र कुतर्कोंका अच्छे ढंगसे निराकरण किया गया है। स्याद्वाद पर होने वाले सभी आक्षेपोंका योग्य उत्तर दिया गया है। अद्वैतवाद एवं शब्दब्रह्म पर भी विचार किया गया है। श्री जिनविजयजीने लिखा है कि 'अनेकान्त जयपताकाग्रन्थ', खासकर भिन्न भिन्न बौद्धाचार्योंने अपने ग्रन्थोंमे जैन धर्मके अनेकान्तवादका जो खंडन किया है, उसका उत्तर देनेके लिए ही रचा गया था। तार्किकचक्र चूडामणि आचार्य धर्मकीर्तिकी प्रखर प्रतिभा और प्राञ्जल लेखनीने भारतके तत्कालीन सभी दर्शनोके साथ जैनधर्मके ऊपर भी प्रचण्ड आक्रमण किया था। इसीलिए हरिभद्रने जहा कही थोड़ासा भी मौका मिला, वहीं पर धर्मकीर्तिके भिन्न भिन्न विचारोंकी सौम्यभाव पूर्वक किन्तु मर्मान्तक रीतिसे चिकित्सा कर जैनधर्म पर किये गये उनके आक्रमणों का सूद सहित बदला चुकवा लेनेकी सफल चेष्टाकी है।"

जैनसमाजको तर्कात्मक प्रमाणवादकी ओर आकर्षित करनेके लिए हरिभद्रने सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् दिङ्नागकृत 'न्यायप्रवेश' पर एक विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी। इस प्रकार जैनसमाजको बौद्ध दर्शनके अध्ययनकी ओर आकर्षित किया। जैसा इनका भारतीय दर्शन शास्त्र पर अधिकार था, वैसा ही व्याकरण शास्त्र पर भी इनका पूरा पूरा अधिकार था। यही बात मुनिचन्द्रसूरिने लिखी है कि हरिभद्र-सूरि आठ व्याकरणोंके पूर्ण ज्ञाता थे।

हरिभद्र-कालमें संस्कृत भाषा अपने पूर्ण प्रौढ़ साम्राज्य का आनंदोपभोग कर रही थी। इसी कालमें काव्य, नाटक,

व्याकरण, न्याय, धर्म, कथा, कोश, छंद, रस, अलंकार, आत्मिक और दार्शनिक ग्रन्थों द्वारा संस्कृतभाषा हर प्रकार से परिपूर्ण, पुष्ट और सर्वाङ्गसुन्दर बन गई थी। यही कारण है कि इस कालने हरिभद्र-सूरिको संस्कृतमें ग्रन्थ रचना करने, जैनसाहित्यको हर दिशामें वैदिक और बौद्ध-साहित्य की समकक्षतामें लाने, तथा साहित्यिक धरातलको ऊँचा उठानेमें हर प्रकारकी प्रेरणा और उत्साह प्रदान किया। तात्पर्य यह है कि संस्कृत साहित्यकी दृष्टिसे यह काल हरिभद्रसूरिके लिए एक सुन्दर स्वर्णयुग था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि हरिभद्रने इसका अच्छा उपयोग किया और अपने पवित्र संकल्पमें आशासे भी अधिक सफलता प्राप्त की। संस्कृतके गद्य और पद्य दोनों प्रकारके साहित्यने हरिभद्रको आकर्षित किया और तर्कशास्त्रने तो इनको अपने आपमें सराबोर ही कर दिया। यही कारण है कि आप इतने सुन्दर ग्रन्थ विश्व-साहित्यके सम्मुख रख सके। निस्संदेह हरिभद्रका साहित्य भारतीय साहित्य एवं विश्व-दार्शनिक साहित्यके सम्मुख गौरव पूर्वक कंधेसे कंधा भिड़ा कर खड़ा रह सकता है। (अपूर्ण)

भाग्य-गीत

[रचयिता—श्री 'भगवत्' जैन]
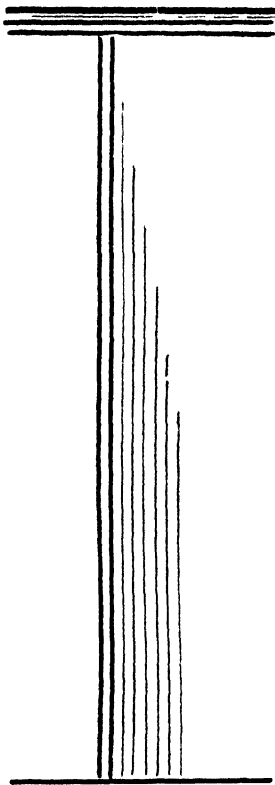
क़िस्मतका लिखा न टलता है!
हर बार टालनेका प्रयत्न, देता हमको असफलता है!
क़िस्मतका लिखा न टलता है!!

थे कृष्ण और बल्देव बड़े, योधा भी और भाग्य-शाली!
पर, हुआ द्वारिका-दहन जभी, चेष्टाएँ गईं सभी खाली!
जलनिधिको लाये काट-काट, लेकिन जल भी वह जलता है!
क़िस्मतका लिखा न टलता है!!

वह सीता-महासती-कहकर, हम जिसको शीश झुकाते हैं!
रोती है उसको सब जनता, जब राम विपिन ले जाते हैं!
फिर वही अयोध्याका समाज, आनेपर ज़हर उगलता है!
क़िस्मतका लिखा न टलता है!!

अंजना-सतीका विरह जहाँ, पवनंजयको था दुखदाई!
फिर ज़रा भ्रांतिकी आड़ मिली, तो वह कठोरता दिखलाई!
दानवता उसको कहें या कि, हम कहें भाग्यकी खलता है!
क़िस्मतका लिखा न टलता है!!

जब बड़े-बड़े इसके आगे, थककर हताश हो रहते हैं!
तो हम-तुम तो क्या चीज़ रहे, जो सूखे-तृण ज्यों बहते हैं!
हम इसके पीछे चलते हैं, यह आगे-आगे चलता है!
क़िस्मतका लिखा न टलता है!!

भ्रातृत्त्व

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

(१)

इस कहावतको गलत साबित करनेके लिए ही शायद वे दोनों थे, कि ताली एक हाथसे नहीं बजती।

पोदनपुरके महाराजा अरविन्दके प्रधान-मंत्री थे—विश्वभूति। विश्वभूतिकी स्त्रीका नाम था—अनुधरी। और वे दोनों उसीके पुत्र थे। बड़े कुंवर साहबका नाम था—कमठ, और छोटेका मरुभूति। शादी दोनोंकी हो चुकी थी। न होनेकी तो कोई बात ही नहीं थी, प्रधान-मंत्रीके पुत्र जो ठहरे !

करुणा थी कमठकी स्त्री, और वसुन्धरी, कुंवर मरुभूतिकी पत्नी। स्त्रियाँ दोनोंकी भली थीं। जेठानी देवरानीमें द्वन्द होता नहीं देखा गया। सम्भव है, दोनोंके आगे ऐसा मौका ही दरपेश न हुआ हो। इस लिए कि दोनोंकी अट्टालिकाएँ जुदा जुदा थीं, लेकिन एक-दूसरीसे मिली हुईं। हो सकता है. मन मिले होने की वजह भी यही हो।

पर, दोनों भाइयोंमें वैसी बात नहीं थी ! वे एक दरख्तकी वैसी दो शाखाओंकी तरह थे, जिनमें एक का मुंह पूर्वकी तरफ, तो दूसरीका पश्चिमकी ओर। या कह लीजिए—वह विप्र-समुद्रसे निकले हुए दो रत्न थे—अमृत और विष।

मरुभूतिको अगर 'अमृत' कहा जा सकता है, तो कमठको 'विष' कह देनेमें जरा भी संकोचकी जरूरत नहीं। कमठ बड़ा था तो उसकी दुष्टता, पशुता और मूर्खता भी छोटी नहीं थी। और मरुभूति जितना छोटा था, उतनी ही नम्रता, शीलता और बुद्धिमत्ता उसकी बड़ी थी। भाईके लिए उसका हृदय जितना ही कोमल था, कमठका उतना ही—अपने प्रेमपूर्ण सहोदरके लिए वज्र। मरुभूतिका मन नवनीत था, तो कमठका था नीरस पत्थर !

स्वभावका वह अच्छा नहीं था, और मूर्ख तो था ही। साथ ही उसमें जो सबसे बड़ी बुराई थी, वह यह थी कि वह मरुभूतिको अपना शत्रु समझता था, जब कि मरुभूति उसे अपना बड़ा या पूज्य ! और देवताकी तरह पूजता था।

मरुभूति चाहता—भाईकी प्रसन्नताके लिए अगर जलती-ज्वालामें भी कूदना पड़े तो दुःखकी बात नहीं। उनका चित्त, शरीर दुःखी न रहे।

और कमठ सोचता—अधिकसे अधिक दुःख इसे उठाना पड़े तो अच्छा।

पता नहीं—क्यों ? पर कमठ, मरुभूतिसे जलता था खूब। केवल मन ही मनमें जलता-कुढ़ता रहता हो, सो बात नहीं। वह सब भी करता, जो कर सकता, जिनसे मरुभूतिको दुःख पहुंचे, पीड़ा मिले।

पर, रहे दोनों अपने-अपने रास्ते पर अडिग। न उसने अपनी दुर्जनता छोड़ी, और न मरुभूतिने अपनी सज्जनताको हाथसे जाने दिया।

* * * *

उस दिन अचानक दर्पण देखते वक्त विश्वभूति की नज़र अपने सफेद बालों पर जो गई तो घबड़ा

गये एकदम ! मौतका मियादी नोटिस जो था ! तब बात और थी। आजकी तरह नहीं थी, कि मौतके नोटिस पर खिजाबकी स्याही पोत कर समझ लिया जाय कि हमने मौतको ठग लिया।

तब अक्सर साधु-प्रकृतिके बड़े लोग बुढ़ापा आने के पेश्तर ही योगाभ्यासकी तैयारी शुरू कर देते थे।

दोनों पुत्रोंको लेकर विश्वभूति महाराजकी सेवा में उपस्थित हुए। और अपनी यह अभिलाषा उनके सामने रखी, कि—'मैं अब मंत्रित्वके भारसे अवकाश चाहता हूँ, मेरा स्थान, दोनोंमेंसे जिसे आप पसन्द करें, देनेकी दया करें। आशा है ये लोग मुझसे अच्छी सेवा कर आपको प्रसन्न, और राज्य-नींवको मजबूत करेंगे। अलावा इसके मुझे ईश्वराराधनकी आज्ञा दी जाय, क्यों कि मेरे जीवनका अब तीसरा प्रहर प्रारम्भ हो चुका है।'

कुछ हील-हुज्जत और टालमटूलके बाद महाराज ने प्रधान-सचिवको छुट्टी देते हुए, उनका पद मरुभूति को सौंपा। कमठकी खलता, मूर्खतासे महाराज अनभिज्ञ न थे। जन-साधारणकी तरह ही उन्हें भी कमठ की अवांछनीय-चेष्टाओंका पता था। वे उसके विषय मे बहुत-कुछ सुनते आ रहे थे। और सुनते-सुनते उन्हें उसके प्रति कठोर बना दिया था। जहां कमठ की बुराई उनके कानों तक पहुंची, वहां मरुभूतिकी सज्जनता भी हृदय पर अंकित होनेसे वंचित न रह सकी। अप्रत्यक्ष रूपमें ही वे मरुभूतिके प्रति दयालु और श्रद्धालु बन चुके थे।

हर्षसे भरे हुए विश्वभूति, विश्व-विभूतिसे विरक्त घर लौटे। जिस आशाको लेकर वे दर्बारमें गये थे, उसकी पूर्ति उनके साथ थी।

❀ ❀ ❀ ❀

(२)

दिन बीतते चले गये !

मरुभूतिने जिस योग्यताका—सचिव-कार्यमें—परिचय दिया, वह न सिर्फ राज्यके लिए अच्छाई ही साबित हुई, वरन उसने महाराजके मन तकको मुग्ध कर दिया। मरुभूतिका चातुर्य, जहां महाराजके आह्लादका विषय था, वहां कमठकी मरुभूतिके प्रति होने वाली नित्यकी दुर्जनताके सबब शंकित भी रहा करता था।

बातों ही बातोंमें उस दिन पूछ बैठे—'प्रधानजी ! आप कमठके दुर्व्यवहारको क्यों सहते चले जा रहे हैं ? प्रतिकार करना क्या पाप है ? उसे तो प्रोत्साहन मिलता है !···'

मरुभूतिको बात छू-सी गई। वह नहीं चाहता—उसके भाईके लिए कोई कुछ कहे। मन उग्र हो उठा, जैसे सागरके अन्तस्तलमें बड़वाग्निका दौर चला हो! ताहम बड़े संयमसे काम लेते हुए बोला—'आप शायद ग़लत रास्ते पर हैं—महाराज ! बड़े भाईका अपने पुत्र-तुल्य अनुजके प्रति दुर्व्यवहार हो भी सकता है, मुझे इसमें भी शंका है ! वे बड़े हैं, पूज्य हैं ! उनके मनमें मेरे लिए ममता हो सकती है, न कि बुरा भाव ! उनकी प्रकृति नरम ज़रूर नहीं है, पर वे बुरे नहीं हैं। मुझे उनसे कुछ शिकायत नहीं।'

महाराज चुप रह गए !

कुछ दुख भी हुआ कि मरुभूति स्वयं ग़लत रास्ते पर होते हुए भी, ठीक बातको नहीं मानता—इस बातका ! उन्होंने समझा—छोकरा है, दुनियावी तजुर्बा आए कहाँ से ?

इसी समय सेनानायकने सभामें प्रवेश किया ! अभिवादनानन्तर उसने उन तैयारियोंका जिक्र किया,

जो प्रतिद्वन्दी वज्रवीर्य पर चढ़ाई करनेके लिए की गई थीं!

महाराजके ज़रा दुःखित हुए हृदयको दूसरी ओर मुखातिब होनेका मौक़ा मिला। शत्रुके परास्त करनेकी योजनाने उनमें एक परिवर्तन ला दिया—नस-नसमें वीरत्व प्रवाहित हो उठा!…………

और ?—

तीसरे दिन ही महाराज अरविन्द, वज्रवीर्यकी आज़ादीको गुलामीमें बदलनेके लिए रवाना होगए! साथमें प्रधान-सचिव मरुभूति भी गए! यह कहने की नहीं, बल्कि समझनेकी बात है! राजा और मंत्री प्रायः दो अभिन्न-शक्तियोंके रूपमें कहे जाते हैं—इसलिए!

❀ ❀ ❀ ❀

(३)

यह जानते हुए भी कि साहूकार सोरहा है—बिल्कुल अचेत! लेकिन फिर भी चोरको निडरता नहीं आती! मन उसका धक्-धक् किया करता है! देखा तो यहांतक जाता है कि वे डाकू भी—जो हरबे-हथियारसे लैस होते हैं, और आते ही मकान-मालिकको पकड़कर, बाँधकर अपनी विजयकी धाक से उसे विवश कर देते हैं, वह उनकी गुरुताके आगे सिर झुका देता है, एक शब्द भी नहीं बोल सकता, अपनी जीवन-रक्षाकी भीखके लिए तृण बन जाता है; और वे लुटेरे वज्र-सा दिल रखने तथा नारकीय कृत्य करनेवाले भी उससे डरते हैं!

क़रीब-क़रीब ऐसी ही दशा थी उस अवगुण-निधान कमठकी! यह सही है कि मरुभूतिने कभी उसे पलटकर जवाब नहीं दिया, हमेशा अपने पिता या इष्टदेवताकी तरह बड़ा माना, लेकिन कमठ नित्य नये-नये ढंग, नये-नये तरीक़ेसे अत्याचार करते रहने पर भी, मनमें—मनके एक भीतरे कोनेमें—सदा डरता रहता था! शायद वह स्वयं भी न जानता हो, कि वह डर किस ढंगका है ?—और क्यों है ?

लेकिन आज उसने महसूस किया कि वह पूर्ण आज़ाद है! जैसे छाती परसे कोई पत्थर उठा लिया गया हो! जिसे दूरसे देखने-भरसे खूनमें उबाल आजाता था वह मरुभूति आज उससे बहुत दूर है! आंखें उसे नहीं देख पातीं, हाथ छू नहीं पाते; पर, दिल फिर भी उसे कोसता है—'काश! युद्धमें वह मर सके!'

सदासे, शायद संसार है तभीसे—आवश्यकता आविष्कारकी जननी रही है, आज भी है, और रहेगी भी।

मरुभूति नहीं है, इससे कमठको थोड़ा सुख तो है, लेकिन तकलीफ़ भी यह है कि वह पीड़ा किसे दे, किस पर अपनी दुष्टताका प्रहार करे? मुमकिन है इसलिए कि कहीं आदत छूट न जाय, या उसे तलब लग रही हो, आदत सता रही हो। वह जन्मजात दुष्ट जो ठहरा।

हाँ, तो उसे आवश्यकता थी, सिर्फ इस बातकी कि वह अपनी आदतको क़ायम रख सके। अनमने-मनसे छतकी मुड़गेरीपर पैर फैलाये कमठ ऐसे ही विचारोंकी आंधीमें घबड़ा रहा था कि……।

सामनेकी छत पर एक सर्वांगसुन्दरी! नव-यौवना‥!! जैसे किन्नरी हो!!! कमठके मनमें शूलसा चुभा, शायद पंचशरका तीर लगा—ठीक निशाने पर। और तीरके साथ ही यह बात भी दिलमें उतर गई कि युवती दूसरी कोई नहीं, वसुन्धरी है!—मरुभूतिकी स्त्री।

लेकिन पापी-हृदयमें इसका इतना भी असर न हुआ, जितना मरणोन्मुख व्यक्ति पर 'चन्द्रोदय' का होता है। न ग्लानि, न पश्चाताप। वह उसके शत्रुकी स्त्री है, भाईकी नहीं। दुनिया उसे भाई बतलाती है, बतलाए। वह उसे 'भैय्या' कहकर पुकारता है, पुकारे। पर, कमठ जो उसे भाई नहीं मानता। क्या अनिच्छासे भी भ्रातृत्वकी जिम्मेदारी लादी जा सकती है किसी पर?

उसे लगा—जैसे उसकी तकलीफ पर मर्हम लग रही हो, मरुभूति नहीं तो मरुभूतिकी स्त्री तो है! इस पर अब तक उसकी निगाह ही नहीं गई। और खुशीकी बात यह भी तो है कि एक ढेलेमें दो शिकार। वसुन्धरीकी सुन्दरता भी तो उसे बुरी तरह सता रही है।

मनको जितना संयममें रक्खो, वह मुर्दासा रहेगा, और जैसे ही ज़रा ढील दी नहीं, कि वह लगा उड़ाने भरने। फिर उस पर काबू पा लेना इनेगिने शूरवीरों का काम रह जाता है। वह अपने आप ढालू ज़मीन पर बहे पानीकी तरह दौड़ने लगता है—पतनकी तरफ।

कमठके मनमें वसुन्धरीके लिए बुरी भावना आते देर न हुई कि वह तड़पने लगा—उसके लिए, उसके रूपके लिए और उसकी हर बातके लिए, बुरी तरह! जैसे वर्षोंका उपासक, प्रेमी हो उसका।

तमाम देहमें जलन, दिलमें बेचैनी, आंखोंमें पागलपन और मुंह पर वसुन्धरीका नाम। उसे काम-ज्वर चढ़ा, ऐसा चढ़ा कि हद। दूसरे रोगियोंकी भांति उसे भी जीवनकी चिन्ताने आ घेरा। उन्हें आरोग्यका अभाव मौतकी तरफ धकेलता है और इसे वसुन्धरीका विरह। वे चाहते हैं स्वास्थ्य, और यह चाहता है—प्रणय।

न खाना, न पीना, न सोना, न ठीक तरह जागना ही। शायद लंघन हो रहे हैं। बड़ी मुश्किल! सब परेशान! किसीको पता नहीं, बात क्या है?

और कमठ मनमें जाने क्या क्या व्यूह रचता और बिगाड़ता है। बाज़ बाज़ वक्त तो उसका कार्य-क्रम बड़ा उग्र बनता है। पर अभी वह या तो सफल करना नहीं चाहता उसे, या उसे करनेमें असमर्थ है।

दो दिन बीत चले।—

पर कमठकी बीमारी सहूलियत पर आनेके बजाय और बढ़ती जा रही है...।

कलहंस है, कमठका दोस्त। जिसे आजके शब्दों में जिगरी दोस्त कह सकते हैं वह। खुला व्यवहार, न झिझक, न किसी तरहका पर्दा। यों तो दोस्ती उसीसे जुड़ती है, जो जैसा होता है। लेकिन कलहंस को आप कमठके टाइपका व्यक्ति समझेंगे, तो उसके व्यक्तित्वके साथ अन्याय होगा। क्योंकि वह बुरा आदमी नहीं है। सम्भव है उसकी मित्रताका धरातल 'दोस्तकी दोस्तीसे काम, उसके फैलोंसे क्या मतलब', की कहावत पर हो।

कलहंस आया।

कमठकी उदासीकी बात उसे मालूम थी। बोला —'क्या कोई अन्दरूनी तकलीफ हो गई है? सुना है, परसोंसे कुछ खाया-पिया भी नहीं है। ऐसा क्यों?'

कमठ इसी प्रतीक्षामें था, ऐसे ही आदमीकी तलाशमें था—जिससे खुलकर कहा जा सके, जो कुछ सहूलियतके साथ कर सके, 'साँप मरे न लाठी टूटे'—का सिद्धान्त जिसे याद हो।

धीरे धीरे. वर्षोंके बीमारकी तरह ठंडी और लम्बी सांस लेते हुए कमठने अपनी अनुचित और घृणायोग्य व्यथा मित्रके आगे रखदी।

कलहंस दंग! चकित !! स्तब्ध !!!

फिर रुँधेसे गलेसे बोला—'क्या कह रहे हो दोस्त! होशमें तो हो, न ?

वह बोला—'जो कह रहा हूँ वह सत्य है, उसमें बेहोशीकी गन्ध तक नहीं। पर असलमें मैं हूं बेहोश ही। पता नहीं, कब सूर्य निकलता है, कब रात होती है। वह जालिम मुझे मारे डाल रही है।'

कलहंसने बुजुर्गवा-ढंगसे डाट बताई—'यह शब्द कहते तुम्हें शर्म नहीं आती—कमठ! वह तुम्हारी कौन लगती है, जानते हो इसे?—बेटी! अनुज सहोदरकी स्त्रीपर कुदृष्टि? इतने गहरे पापमें डूबना चाहते हो? छोड़ दो इस दुराग्रहको, नहीं,...।'

पूरी बात सुननेकी ताब न रही, तो बात काटकर कमठ बोला—'सम्भव नहीं है, यह अब मेरे लिए—कलहंस! मैं अब शरीर छोड़ सकता हूं, पर उसे नहीं। वह मेरी जीवन मरणकी समस्या बन गई।'

कलहंस, कमठके उत्तरसे खुश न हो सका। असलमें वह कुढ़ रहा था—

कमठकी नीच मनोवृत्तिपर। कहने लगा—'तुम्हारे मरजानेसे दुनियाका कोई काम रुका न पड़ा रहेगा, इसका विश्वास रक्खो। जब कि तुम जिन्दा रह कर भी किसी अच्छे काम पर नजर नहीं डालते। सुनो, कमठ! मैं तुम्हारा दोस्त हूं, और उसी नाते तुम्हें समझानेका मुझे हक़ है।'

कमठ था, दुष्टतामें कुशल। बातें बनाना उसे आता था। वह स्वयं जानता था—'मरना-कहना' जितना सुलभ है, 'मर-जाना' उतना ही कठिन! वह कलहंसके गलेसे लिपट कर रोने लगा—बिलख बिलख कर।

कलहंसकी दृढ़ता, रोग बनगई। मन जानें कैसा हो उठा। समझानेके बजाय चुप करनेकी समस्या सामने आगई।

कमठ रोता ही रहा।

देर बाद बोला—'जब तुम भी मुझे मरनेकी सलाह देते हो, तो अब मैं मर ही जाना चाहता हूं।'

और वह फिर हिचकियाँ लेने लगा। कलहंस चक्करमें पड़ा है। बोला—'मरनेकी बात क्या है, जो मरते हो? मरें तुम्हारे दुश्मन। पर ऐसा करो—'

रोते-रोते वह फिर बात काट कर कहने लगा—'बस, समझाओ मत। मैं 'समझ' नहीं, 'मौत' चाहता हूँ। मौत ही आजसे मेरी दोस्त है। वही मेरी मुसीबतके वक्त मदद कर सकती है। तुम दोस्त बन कर मुझे धोखा देते रहे। मेरी मुसीबतके वक्त मुझे समझाकर, और भी जलानेमें मजा ले रहे हो। तुम्हें मेरे दुखमें जरा भी दुख नहीं हो रहा।'

बात कलहंसके दिलमें फांसकी तरहसे चुभ गई तिलमिला-सा गया। हार कर बोला—'तो क्या करूँ?'

वह बोला—'मेरी जिन्दगी चाहते हो तो उससे मुझे मिला दो।'

कलहंस अटल बैठा रहा—चुप। जैसे चैतन्य न हो, जड़ हो, पत्थरका पुतला। फिर उठकर लौट आया—चुपचाप।

× × × ×

(४)

इच्छा नहीं होती, पर करने पड़ते हैं—ऐसे बहुतसे काम हैं दुनियामें। कलहंसके सामने भी यह वैसा ही काम है। यों वह बजात-खुद बुरा आदमी नहीं है, लेकिन बुरेका साथी तो हुई है। पीनक न

सही, असर तो है। दोस्तकी करुण आकृति, और विह्वल दशाने उसे मजबूर कर दिया है।

पहुंचा! वसुन्धराने योग्य सन्मानके साथ बिठलाया। सोचने लगी—'बात क्या है, जो आज 'जेठजी' के दोस्त यहां पधारे हैं।'

मनमें कलहंसके जहालत-सी ठस रही थी। मुंह पर मातमपुर्सीका नज़ारा था। शकल देखते ही बनती थी, भीतर घबराहट जो छलांगे भर रही थी।

'कमठ··· क···मठ···।'

'ऐं··· ?'

'कमठका बुरा हाल है। वह बच जाय तो बच जाय। बीमारी बड़ी भयंकर लगी है—उसके पीछे!'

'कबसे ?···हे भगवन्! उनके पीछे यह क्या हुआ जा रहा है। आकर उनकी······।'

'यही तो मुसीबत है! मरुभूति होता तो मुझे भी इतनी तरद्दुद न करनी पड़ती। क्या करूँ, समझ काम नहीं देती। उसकी हालत देखी नहीं जाती। बस, अब-तबका मामला बन बैठा है।'

'अरे! अगर इन्हें कुछ होगया तो उनका जीवन भी खतरेसे खाली न रहेगा। वे रो रोकर आंखें फोड़ लेंगे। खाना पीना छोड़ बैठेंगे। उन्हें 'भैय्या' का बड़ा दर्द है, उनकी ज़रासी अकुशलमें वे घबरा जाते हैं। ···अब? ···अब क्या होगा···? संकट··! घोर संकट।'

रोनी सूरत बनाए कलहंस क्षण भर बैठा रहा—अचल! फिर बोला—'अभी ज़रा होश आया तो बोला, क्या मरुभूति लौट आया? उसे बुलादो?

'ऐं, ऐसा? उन्हें पुकारा? क्या आखिरी वक्त में······।

'और हाँ, मैंने कहा कि अभी कहां लौट सकता है? तो बोला—नहीं है तो वसुन्धरीको ही ज़रा कह दो, वह मुझे देख जाय। तबियत बड़ी ग़मग़ीन हो रही है।'

'वह बाग़में ठहरा है—खुली हवा है न वहाँ, इसीसे! वस्त्र-मण्डपमें।'

'सो तो ठीक है! पर, मेरा वहाँ जाना मुश्किल जो है। वे यहां हैं नहीं बग़ैर पूछे घरसे बाहर जाना स्त्रीके लिए अच्छा थोड़ा ही होता है।'

'माना, लेकिन वह जो दम तोड़ रहा है। भविष्य की कौन जानता है, मर ही गया तो? ···तो क्या मरुभूति यह सुनकर खुश होगा कि भैय्याके बुलाने पर भी यह उसे देखने तक न गई, और वह इन दोनों को पुकारता पुकारता चल बसा। भई, मेरी अपनी रायमें तो तुम्हारा उसे देखने जाना लाज़िम है, फिर तुम्हीं जानो।'

वसुन्धरी चुप!

बात उसे बहुत कुछ जँची। सच ही तो, वे आकर बड़े नाराज़ होंगे, और फिर मैं किसी दूसरेको देखने तो जा नहीं रही। घरकी बात है, जेठ हैं—सगे जेठ, बापकी जगह।

—और तब वह कलहंसके साथ चलदी, उसी वक्त।

❃ ❃ ❃ ❃

वस्त्र-मंडपके भीतर वसुन्धरीको पहुंचा कर कलहंस लौट आया। आत्म-ग्लानिमें दबा जा रहा था, वह।

कमठ प्रतीक्षामें एक एक घड़ीको एक एक वर्ष बनाकर काट रहा था, कि नज़र आगे वसुन्धरी···।

वह भयभीत मृगी-सी आगे बढ़ी आ रही थी। कमठ उठा, हृदयमें आंधी उठी और तूफ़ान उठा,

और उस शैतानके भीतरका शैतान भी जागकर उठ खड़ा हुआ।

वसुन्धरीने उसकी ऐसी दशा देखी तो दंग! बड़ी घबराई, मुंहसे अचानक निकला—'धोखा!'

और चाहा कि उल्टे पैरों लौट कर अपनेको नर-पिशाचकी कुदृष्टिसे बचा सके। पर, यह सम्भव नहीं था। वह जब तक ज्योंकी त्यों खड़ी रहकर कुछ सोचे, कि तब तक कमठकी क्रूरताने उसे आलिंगनमें भर लिया।

वह विवश।

रोई, चीखी, चिल्लाई और कहा—'तुम मेरे पिता तुल्य हो, मैं पुत्री हूं तुम्हारी, मुझे छोड़ दो।'

लेकिन बेकार!

कमठ उसका सतीत्त्व लूटकर हो रहा, पागल जो हो रहा था वह उस समय।

❋ ❋ ❋ ❋

(५)

मरुभूति लौट आया है, महाराजके साथ साथ। घर आकर, अपने पीछे होने वाले अनर्थसे वह अनभिज्ञ नहीं रहा। वसुन्धरीने सब कुछ खुलासा खुलासा कह दिया। इस आशासे और भी, कि वह अपने भैय्याकी इस घृणित कुचेष्टाके प्रति प्रतिकारात्मक कुछ करें। लेकिन···?

मरुभूति खामोश! अन्तरंग उसका दुःखसे भर जरूर गया, मानसिक पीड़ा भी कुछ कम न हुई। पर, भैय्याका ध्यान आया कि वह सब-कुछ भूल गया। सोचने लगा—'भ्रातृत्व दुनियामें एक दुर्लभ वस्तु है, स्वर्गीय-सुख है। उसके पवित्र बन्धनमें, उस महिमामय भैय्याके खिलाफ मैं खड़ा होऊँ, जो पिताके बराबर है। न, यह नहीं। उन्होंने अगर ऐसा किया है, तो यह उनकी ग़लती है, भूल है। अपराध कैसे कहा जा सकता है? ग़लती मनुष्यसे ही तो होती है। वे मनुष्य हैं, भूल कर सकते हैं। असलमें उनका यह इरादा हरगिज़ न रहा होगा। कमसे कम मुझे इस बातका पूरा यक़ीन है।'

वसुन्धरी बैठी आँसू बहा रही थी। मरुभूतिके आगे दो रास्ते हैं—वह स्त्रीकी सन्मानरक्षाको तरजीह दे या पूज्य भैय्याके प्रेमको?

उठते उठते उसने कहा, जैसे मन ही मन फैसला कर चुका है—'देखो जो होना था, हो चुका। अब खामोश रहो, इसका ज़िक्र भी ज़बान पर न लाओ, समझीं?'

और चल दिया।

❋ ❋ ❋ ❋

महाराजने सुना तो एक दम गर्मा गए। पहलेसे ही कमठसे खुश न थे। उसकी बुराइयों पर रोज़ ही ध्यान देते, जब मौका मिलता। पर, ऐसी बात इससे पहले उनके कानों तक नहीं आई।

मरुभूति वहाँ मौजूद नहीं था, महाराजने उसे बुलाया।

बोले—'तुम्हारे पीछे क्या किया है उस दुष्टने, जानते हो?'

'किसी दुश्मनने बदनामीकी ग़रज़से यह खबर फैलादी है, भैय्याने कुछ नहीं किया, महाराज!'—मरुभूतिने आत्माको ठगते हुए, नम्र शब्दोंमें व्यक्त किया।

'हूं! नगरमें उससे बड़ा और कोई तुम्हारा दुश्मन जीवित हो, ऐसा मैंने नहीं सुना। मरुभूति, इस विषयमें मैं तुम्हारी बहुत मानता आ रहा हूं, पर अब और मान सकूं, यह ग़लत है।'

'लेकिन भैय्या··· ?'

'उसे भैय्या नहीं, शत्रु कहो ! वह राज्यका कलंक है। धार्मिक दृष्टिकोणसे पापी है, और नैतिक-सिद्धांत के मुताबिक अपराधी है। उसे छोड़ देना मेरे लिए अन्याय है, पक्षपात मूलक-बात है।'

उसी समय कमठको बांधे हुए, सिपाही ले आते हैं। वह एक ओर खड़ा हो जाता है।

महाराज अरविन्द हुक्म देते हैं—'इतने गुरुतर अपराधके बदलेमें यदि प्राण-दण्ड भी दिया जाए तो वह कम है। लेकिन प्रधान-मंत्रीके आग्रहपर मैं तुझे जीवनदान देता हूँ। और हुक्म देता हूँ कि इस दुराचारी, पापीको काला-मुँह कर, गधे पर चढ़ाया जाय और नगर-परिक्रमणके बाद देश निर्वासन दण्ड।'

मरुभूतिकी आँखें डबडबा रही हैं—जैसे विवशता पानी बन कर बहने जा रही हो।

और कमठ...? जैसे रौद्ररसकी सजीव प्रतिमूर्ति हो ! उसकी आँखोंमें झूल रहा था—विद्रोह।

× × × ×

(६)

बहुत दिन गुज़र गए।—

पर, एक दिन भी ऐसा न हुआ, जब मरुभूति, कमठकी यादको मनसे भुला सका हो। हृदयमें घाव सा हो गया था और जीवनमें एक अभाव-सा।

टोह वह हमेशा लेता रहा कि भैय्या अब कहां, कैसे, किस तरह रहते या क्या करते है ? दुखमें तो नहीं हैं ? पर, वह उनसे मिलने न जा सका। महाराजकी अनिच्छाके सबब।

उस दिन सुना—कमठ तपस्वी बन गया है। प्रभु-भजनमें उसे रस आने लगा है, पंचाग्नि तपता है, शूलासन-शयन करता है। संन्यासी-आश्रममें उसका निवास है।

मरुभूतिके मनमें आया—'भैय्याको एकबार देख आए। बहुत दिनसे उन्हें देखा जो नहीं है।

हिम्मत बांधकर महाराजसे प्रार्थना की—भैय्या को प्रणाम करने जाना चाहता हूं, बहुत याद सताती है मुझे। आग्रह है, आज्ञा मिल जाये तो अच्छा हो।'

बोले—'मरुभूति ! शायद तुम्हारा जीवन ग़लतियाँ करनेके लिए ही बना है। समझते होगे—कमठ अब संन्यासी हो गया है, दुष्टता छोड़दी होगी। पर नहीं उस जैसा आदमी संन्यासी होकर भी क्रूरता से विमुख हो जाए, इसे मैं माननेको तैयार नहीं। हाँ, कंचुली छोड़दी होगी, पर, विष नहीं छोड़ा होगा।'

'पर, वे मेरे भाई हैं। उनकी धमनियोंमे जो रक्त है, वही मेरा जीवन-साधन है। इसलिए कि वे दोनों एक है, एक तरहके हैं। वे जुदे रह कर भी मिलनेके लिए लालायित हैं।'

महाराजकी इच्छा तो नहीं। पर, मरुभूतिका अटल आग्रह है। और मरुभूतिसे महाराजको है कुछ प्रेम, शुरुसे ही। तबियत न दुखे इस लिए कभी कह भी देते हैं। बोले—'चले जाना। लेकिन ठहरना नहीं। लौटना जल्द।'

मरुभूतिका मन खुशीसे भर गया। गद्‌गद् कण्ठ से कहने लगा—'ज़रूर, जल्दी ही लौटकर महाराजकी सेवामें आना है, यह भूलूँगा नहीं।'

× × × ×

(७)

दूरसे देखा—

एक भारी पत्थर दोनों हाथोंमें उठाये, बांहें आकाशकी ओर ऊँची किये, एक संन्यासी खड़ा हुआ है। उसका घोरश्रम-पूर्णतप उसके अपने

व्यक्तित्वके साथ-साथ संन्यासकी महत्ताका प्रदर्शन कर रहा है।

दाढ़ी बढ़ रही है। गेरुआ-कुर्ता शरीरकी नग्नता को छिपाये हुए है। मरुभूतिने पहिचाना—'अरे, यही तो भैय्या हैं। क्या वेष बनाया है? कठिन तपमें लीन हो रहे हैं।'

पास आया। खुशीके मारे बेसुध हो रहा है। बोला—'भैय्या! लौट चलो! मुझे तुम्हारे बिना अच्छा नहीं लगता! मैंने महाराजसे बहुत कहा, पर वे न माने। जाने दो। हम-तुम दोनों उनके राज्यसे अलग रह कर जीवन बिता देंगे। तुम तपस्वी क्यों बने हो भैय्या? मुझे क्षमा करो, मैं तुम्हारे अपमानको न रोक सका—मुझे क्षमा करदो। मैं तुम्हारा छोटा भाई हूं।'

और मरुभूति हाथ जोड़ता हुआ, कमठके पैरों पर गिर पड़ा।

कमठ अचल खड़ा था। चुप! पता नहीं, किस ध्यानमें? मरुभूति आँसुओंसे भैय्याके चरण धो रहा है।

ओह!!!

उसी वक्त वह दुष्ट, उस वज़नदार शिला-खण्डको पैरोंपर गिरे हुए माथे पर पटक देता है।...

खूनकी धारा! मरुभूतिका निर्जीव शरीर! कमठ देखता है—न पश्चाताप, न दुःख!

मुंह पर एक सन्तोषकी रेखा खिंच रही है। जैसे प्रतापी-नरेश दिग्विजय कर लौटा हो!

और उधर? मरुभूतिका मुंह खूनमें सना है। आँखें खुली हैं। दीनता झलक रही है।

जैसे कह रहा है—'भैय्या! मुझे क्षमा कर दो, मैं तुम्हारा छोटा भाई हूं!'

आत्म-दर्शन
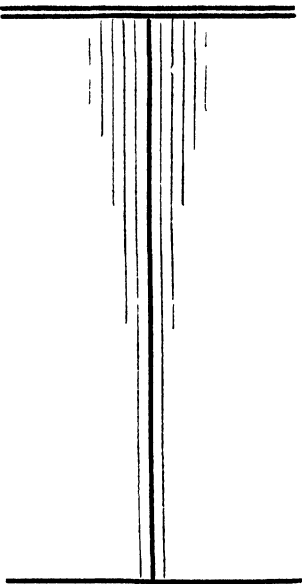
पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

कौन हूँ मैं क्या बताऊँ?

यह जगत है व्याप्त जिनसे—विश्वके प्राणी घनेरे,
दीखते हैं, निहित मुझमें ही—लिखेसे, चित्र मेरे;
एक हूँ, पर हैं अनेकों रूप मेरे, क्या गिनाऊँ?—कौन हूं मैं क्या बताऊँ?

सूर्य-शशि, आकाश-तारे, लोक औ' परलोक सारे,
ये सभी दिव्यात्माके, चल रहे—होकर सहारे;
कुसुम, पादप-पल्लवोंमें, मैं करूँ पतझड़-खिलाऊँ!—कौन हूँ मैं क्या बताऊँ?

शून्य सत्तासे मेरी है, नियतिका वह कौन कोना?
करुण-क्रन्दन आर्तका, शिशुका विहँसना और रोना;
प्रकृतिके सौन्दर्यमें मैं ही छिपा,—उसको सजाऊँ!—कौन हूँ मैं क्या बताऊँ?

चन्द्रिकाकी विमल किरणें, घोर-तममें भी भरा हूँ,
अमर हूँ; पर मृत्युका माया-भरा पट निर्जरा हूँ;
नरक में भी स्वर्ग हूँ, क्या खोल कर अन्तर दिखाऊँ?—कौन हूँ मैं क्या बताऊँ?

अजर हूं, अव्यक्त हूं मैं, देख सकता कौन मुझको?
मैं सदा सर्वत्र हूं, क्यों ढूँढते अन्यत्र मुझको?
ज्ञानियों—अज्ञानियोंके हृदयमें भी मैं समाऊँ!—कौन हूँ मैं क्या बताऊँ?

शोकमें करते रुदन औ' हर्षमें कुछ फूलते हैं!
दुःखमें क्यों टूल जाते, और सुखमें भूलते हैं?
मैं 'प्रफुल्लित' हूं सदा, क्यों वेदनाके गीत गाऊँ?—कौन हूँ मैं क्या बताऊँ?

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

(मूललेखक—प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ए० आई० ई० एस०)

(अनुवादक—पं० सुमेर चन्द जैन दिवाकर, न्यायतीर्थ, शास्त्री. बी० ए०, एल-एल० बी०)

(वर्ष ४ किरण १ से आगे)

५ पदुमैयार लंबगम्—जब 'जीवक'ने अपने घर वापिस जानेकी इच्छा प्रगट की, तब सुदंजनदेवने अपने मित्रसे वियुक्त होनेके पूर्व उसे तीन विद्याओं का परिज्ञान करा दिया. जो कि उसके जीवनमे लाभप्रद हों। वे ये हैं—(१) कामदेवके भी द्वारा कांक्षणीय मनोरम रूपको धारण करनेकी शक्ति (२) प्राणान्तक विषका असर दूर करनेकी सामर्थ्य (३) एवं मनोवांछित रूप बनानेकी क्षमता। इन तीन उपयोगी मंत्रोंका ज्ञान करानेके अनन्तर देवने उसे वह मार्ग बता दिया, जिससे वह अपने घर पहुंच जावे। अपने मित्र सुदंजनदेवके स्थानको छोड़कर उसने अनेक प्रदेशोंमें पर्यटन किया और वहां अनेक आपद्ग्रस्त प्राणियोंकी उपयोगी सेवा की। अन्तमें वह पल्लव देश की चंद्राभा नगरी पहुंचा। वहाँ वह पल्लवदेशके नरेश लोकपाल महाराजका मित्र हो गया। नरेशकी बहिन पद्माको एक दिन सर्पने काट लिया, जब कि वह पुष्पोंको चुननेके लिए गई थी। सुदंजनदेवके दिये हुये मंत्रके प्रभावसे जीवकने उसका विष उतार दिया। इस बातके पुरस्कार स्वरूप पल्लवाधीशने अपनी 'पद्मा' का विवाह उसके साथ कर दिया। कुछ मास तक ठहरनेके उपरांत सहसा अज्ञात रूपमें वह वहांसे रवाना हो गया। अपने पतिको अविद्यमान देख राजकुमारीको बड़ा दुःख हुआ। राजाने अपने जामाता 'जीवक' का अन्वेषण करनेके लिये संदेशवाहकोंको भेजा, गुप्तरूपधारी 'जीवक' ने ही स्वयं उनको कहा कि अब उसकी खोज करनेसे कोई प्रयोजन नहीं निकलेगा, और वह नव मासके अनन्तर स्वयं वहां वापिस आजावेगा। इन आनन्दजनक संवादोंके साथ दूत लोग वापिस आए और उन्होंने राजकुमारी 'पद्मा'को सांत्वना प्रदान की। इस प्रकार पदुमैयार लंगबम् पूर्ण होता है।

६ केमशरियार लंगबम्—इसके अनन्तर वह 'तक्कनाडु' देशकी नगरी केमपुरी पहुंचा, उस केमपुरीमें सुभद्दिरन नामका वणिक् निवास करता था। उसकी 'केमश्री' नामकी एक कन्या थी। ज्योतिषियोंने कहा था कि जिस युवकको देखकर इस कन्याके चित्तमे लज्जा एवं प्रेमका भाव उदित होगा, वही इसका पति होगा। अपने जामाताके अन्वेषणके निमित्त उस वणिकने अनेक बार ऐसी परिस्थिति पैदा की, जिससे भविष्यद्वक्ताके द्वारा कथित भावोंका कन्यामें दर्शन हो, किन्तु सफलता न हुई। अन्तमें उसने 'जीवक' को देखा। जब उसने अपने भवनमें 'जीवक' को आमंत्रित किया, तब यह दर्शन कर उसे अपार हर्ष हुआ कि. दर्शनमात्रसे केमश्री जीवक पर आसक्त हो गई। उसने आनन्दपूर्वक अपनी पुत्री केमश्रीका पाणिग्रहण संस्कार जीवकके साथ कर दिया। जीवक अपनी पत्नीके साथ कुछ समय तक रहा। फिर जीवकने गुप्तरूपमें उस गृहको छोड़ दिया, इस बात

का किसीको भी पता नहीं चला । इससे नव वधू केमश्रीको असीम दुःख हुआ।

कनकमालैयार लंबगम्—पश्चात जीवक मध्यदेश के हेमपुरमें पहुंचा। नगरके बाहरके उद्यानमें पहुंच कर उसे हेमपुरके नरेश उदमित्तनके पुत्र 'विजय' मिले। यह विजय बाणके द्वारा उद्यानके आम्रवृक्ष परसे एक आम प्राप्त करनेका प्रयत्न कर रहा था। किन्तु वह सफल नहीं हुआ। नव आगत व्यक्ति 'जीवक' ने पहले ही निशानेसे उस फलको नीचे गिरा दिया। इस पर विजय बहुत हर्षित हुआ; और उसने उस आगन्तुकके आनेका समाचार अपने पिता महाराजसे निवेदन किया। जीवकसे मिलकर राजा बहुत आनन्दित हुआ और उसने जीवकसे अपने पुत्रोंको धनुर्विद्यामें शिक्षा प्रदान करनेकी प्रार्थनाकी। जीवकके शिक्षणके फलस्वरूप सब पुत्र धनुर्विद्यामें प्रवीण हो गए, तब राजाने कृतज्ञता एवं आनन्दके वशवर्ती होकर अपनी कन्या 'कनकमालै' का विवाह जीवकके साथ कर दिया। वह कनकमालैके साथ कुछ काल पर्यन्त रहता रहा। इस बीचमें उसके चचेरे भाई नंदत्तनने उसका पता न प्राप्तकर उसकी खोजमें जानेकी इच्छा की। विद्याधर कन्यका एवं जीवककी प्रथम पत्नी गंधर्वदत्ताने उस समय जीवक का ठीक पता बताया। अपनी विद्याकी सहायतासे उसने नंदत्तनको हेमपुर पहुंचानेकी व्यवस्था की, जहां कि जीवक अपने मित्रोंके साथ ठहरा हुआ था। जीवकके अन्य मित्र भी उसकी खोजमें निकले। मार्ग में उन्हें तवप्पल्लीमे वृद्धा महारानी 'विजया' मिली। उस नवजात शिशु जीवकका श्मशान भूमिमें छोड़नेके समयसे लेकर उस वक्त तक जो जो घटनाएँ जीवकके साथ घटा वे सब सुनाई गई। उसने पुत्रसे मिलनेकी तीव्र उत्कंठा प्रगट की। उन्होंने एक मासके भीतर ऐसी भेंट करानेका वचन दिया और तवप्पल्ली को छोड़ जीवककी ओर प्रस्थान किया। जब कि 'जीवक' अपनी नई वधू 'कनकमालै' के साथ रहरहे थे तो उन्होंने जीवकसे मिलनेके लिए नगरको घेरने की चेष्टा की। अपने चचेरे भाई 'नंदत्तन' के साथ 'जीवक' ने विशाल सेना एकत्रित की और घेरने वाली सेनासे युद्धमें मिलनेके लिए वह रवाना हुआ। पदुमुहनने, जो कि बाह्य सेनाका अधिकारी एवं जीवकका एक मित्र था, प्रथम बाण छोड़ा, जिससे एक संदेश बँधा था और उसके द्वारा जीवकको अपना परिचय और आनेका कारण सूचित किया। जब वह बाण जीवकके चरणोंके पास गिरा, तब उसने उसे उठाकर वह संदेश पढ़ा और बहुत आनंदित हुआ। यह परिज्ञान कर कि वे सब उसके मित्र हैं, उसने उनको नगरमें आमंत्रित किया और उनका राजा एवं श्वसुरसे परिचय कराया। जब जीवकको अपने मित्रोंसे अपनी माताका हाल ज्ञात हुआ तथा माताकी उससे मिलनेकी उत्कंठा विदित हुई, तब उसने नरेश एवं अपनी पत्नी कनकमालैसे अपने पिताके पास रहनेको कहा तथा, जानेकी इजाजत लेली। वह अपने सम्पूर्ण मित्रोंके साथ अपनी वृद्धा मातासे भेंट करनेके लिए नगरसे रवाना हुआ। जीवक अपने साथियोंके साथ दंडकारण्यमे पहुंचकर अपनी वृद्धा मातासे मिला। बहुत समयके विछोहके कारण 'विजया' ने बड़े भारी हर्षके साथ आलिंगन किया। इस प्रकार उसने तवप्पल्लीमें अपनी माताके पास ६ दिन बिताए। माताने अपने पुत्रको यह सलाह दी कि तुम अपने मामा गोविन्दराजसे मिलो और अपने पिताके छीने गये राज्यको पुनः

प्राप्त करनेके लिये उनकी सलाह एवं सहायता लो। उसने अपनी माताको कुछ तापसनियोंके साथ अपने मामाके यहां भेज दिया, और वह अपने मित्रोंके साथ 'राजमहापुरम्' की ओर चला गया। उन सबने नगरके समीपवर्ती उद्यानमें अपना डेरा डाला। दूसरे दिन जीवकने अपने मित्रोंको वहां ही छोड़कर, कामदेवको भी अपनी ओर आकर्षित करने वाले मोहक रूपको धारण कर नगरमें प्रवेश किया। जब वह नगरकी एक सड़क परसे जा रहा था, तब उसके सामने 'विमला' आई जो कि सड़क परसे अपनी उस गेंदको उठानेको दौड़ी थी जो खेलते समय बाहर चली गई थी। उस मोहक जीवकका दर्शन कर वह उसके प्रेममें आबद्ध हो गई। वह 'सागरदत्त' नामक वणिककी कन्या थी। जीवक आगे जाकर सागरदत्तकी दूकान पर विश्रामके लिये बैठ गये। दुकान में शक्करका बड़ा भारी ढेर बहुत दिनसे बिना बिका हुआ पड़ा था, वह दूकान पर उस आगन्तुकके आते ही तत्काल ही बिक गया। सागर दत्तने इस बातको शुभशकुन समझा, कारण पहले उसे ज्योतिषियोंने बता दिया था कि—'जिसके आने पर दुकानका बिना बिका हुआ माल बिक जायगा वही उसका उपयुक्त जामाता होगा।' उसने प्रसन्नता पूर्वक इस सुन्दर युवकको अपनी कन्या 'विमला' विवाहमें प्रदान कर दी। जीवकने विवाहमें 'विमला' को स्वीकार किया और उसके साथ केवल दो दिन व्यतीत किये और तीसरे दिनके प्रभात समय वह नगरके बाहरके उद्यानमें स्थित अपने मित्रोंके पास वापिस चला गया।

सुरमंजरी लंबगम्—उसके मित्रोंने जीवकमें नवीन वरके चिन्ह देख उसके नवीन विवाहविषयक विजयके सम्बन्धमें जाननेकी इच्छा प्रगट की। तब जीवकने उन्हें बताया कि उसने वणिक कन्या 'विमला'के साथ विवाह किया है तब सबने उसे बधाई देते हुए कहा कि तुम सच्चे 'काम' हो। किन्तु उसके अन्यतम मित्र 'बुद्धिषेण' ने इस साधारण कार्यके लिए बधाई देनेकी अनिच्छा प्रकट की, कारण उस नगरमें एक 'सुरमंजरी' थी, जो पुरुषके मुखको देखना तक पसंद नहीं करती थी; यदि जीवक उसके साथ विवाह करने में सफल हो गया, तो वह सच्चे कामदेवके रूपमें उसका बधाईका पात्र होगा। जीवकने चुनौती स्वीकार की। दूसरे दिन उसने अत्यन्त वृद्ध ब्राह्मण भिक्षुकका आकार बनाया और 'सुरमंजरी' के द्वारके सामने प्रकट हुआ। सुरमंजरीकी दासियोंने अपनी स्वामिनी से निवेदन किया कि एक वृद्ध ब्राह्मण भिक्षुक भोजन की भिक्षा निमित्त द्वारपर आया है। सुरमंजरीने, यह सोच कर कि एक वृद्ध और अशक्त भिक्षुक ब्राह्मणके निमित्तसे उसका व्रत भंग नहीं होगा, अपनी दासियों को आज्ञा दी कि उस वृद्ध पुरुषको भवनमें लाओ। वहाँ वह वृद्ध भिक्षुक सम्माननीय अतिथिके रूपमें ग्रहण किया गया और उसे उसने अपनी शक्तिभर उत्तम भोजन कराया। आहारके अनंतर ब्राह्मणने एक सुंदर पलंग पर विश्राम किया जो उसके लिए ही बिछाया गया था। कुछ समयकी निद्राके अनंतर उसने एक बहुत ही सुन्दर गीत गाया जिसे 'सुरमंजरी' ने जीवकका गात निश्चय किया। इस गीतने उसमें अपने लिये जीवकको विजित करनेकी पुरानी आंकाक्षाको जागृत कर दिया। उसने यह निश्चय किया कि दूसरे दिन वह कामदेवके मंदिरमें जाकर इसलिए पूजा करूँगी कि उसे 'जीवक' पतिरूपमें प्राप्त हो जाय। ब्राह्मण भिक्षुकका रूपधारण करनेके

पूर्व ही जीवकने अपने मित्र बुद्धिषेणके साथ यह व्यवस्था करली थी, कि वह मित्र 'कामदेव'के पीछे मंदिरमें छुपा रहेगा और जब 'सुरमंजरी' देवतासे 'जीवक'को प्राप्त करनेका वर मांगेगी, तब वह मूर्तिके पीछेसे अनुकूलता व्यक्त करनेवाला उत्तर देगा। दूसरे दिन जब सुरमंजरीने अपनी दासियोंके साथ कामदेवके मंदिरमें जाना चाहा तब उसने अपनी सवारीमें इस वृद्ध ब्राह्मणको भी बिठा लिया था। उसे मंदिरके एक सामनेके कमरेमें छोड़ कर 'सुरमंजरी' मंदिरके भीतर पूजाके लिए गई। जब पूजा पूर्ण हुई तब उसने 'कामदेव' से प्राथनाकी कि उसका मनोरथ सफल हो। शीघ्र ही मंदिरके भीतरसे यह ध्वनि निकली कि हां। तुमने 'जीवक'को पहले ही विजित किया है।' महान हर्षमें उसने घर लौटना चाहा और जब वह वृद्ध भिक्षुकको साथमें ले जानेके लिये गई, उसने देखा कि वृद्ध ब्राह्मण भिक्षुकके स्थान पर युवराज 'जीवक' वहां था। उसके आनन्दका पार नहीं था। उसने बड़े आनन्दके साथ उसे पकड़ लिया और यह प्रगट किया कि वह उसके साथ विवाह करेगी। यह बात उसके पिता 'कुबेरदत्त' को सूचित की गई। उसने तत्काल ही विवाह उत्सव करके आनन्द व्यक्त किया। इस 'राजमापुर' से उसने अपने उपपिताकी अनुज्ञा ली और अपने मित्रोंके साथ अश्व-व्यापारीके वेषमें प्रस्थान किया।

मणमगल लंबगम्—इस प्रकार जीवकने अपने मित्रोंके साथ अपने मामा गोविन्दराजकी भूमि 'विदैयनाड' में प्रवेश किया। उसके मामाने बड़े हर्ष से उसका स्वागत किया। वहां उसने मामासे कट्टियंगारम्के द्वारा हड़पे गये अपने हेमांगददेशको पुनः जीतनेकी पद्धतिके विषयमें विचार-विमर्ष किया। गोविन्दराजने अपने स्थानमें कट्टियंगारम्को एक व्याज से बुलानेका प्रयत्न किया। इस गोविन्दराजकी एक सुन्दर कन्या थी, जिसका नाम 'लक्कनै' था। उसने स्वयंवरके नियम घोषित करा दिये और वराह आकृति धारी एक यंत्रको स्थापित किया, जो सदा घूमा करता था; जो गतिमान वराहको छेदेगा, वह राजकन्याका पति होगा। कट्टियंगारम्[1] तथा दूसरे बहुत से नरेश गोविन्दराजके दरबारमें उपस्थित थे, ताकि स्वयंवरमें अपने अपने भाग्यकी परीक्षा कर सकें, किन्तु वास्तवमें कोई भी सफल नहीं हुआ। अन्तमें एक गजराज पर स्थित 'जीवक' दिखाई पड़ा, उसके दर्शनमात्रने 'कट्टियंगारम' को भयान्वित कर दिया। जिस 'जीवक' को उसने मृत एवं नष्ट समझा था, वह तो उसके सामने पूर्ण रूपसे जीता जागता था। वह हाथीकी पीठसे उतरा और उसने अपने बाणसे सफलता पूर्वक वराहके निशानको वेधितकर स्वयंवर में राजकुमारीका पाणिग्रहण किया। तब उसके मामा 'गोविन्दराज' ने यह स्पष्टतया घोषित किया कि यह युवराज कौन था? 'कट्टियंगारम्' को यह अल्टिमेटम दिया कि तुम उसका राज्य लौटा दो, किन्तु कट्टियंगारम्ने चुनौती स्वीकार की और युद्ध करना पसन्द किया। व्यवस्थित युद्धमें वह हारा और अपने शत पुत्रों सहित मारा गया। जीवक विजयी हुआ, इस विजयके समाचारसे उसकी वृद्धा माता महान आनंदित हुई और उसने यह अनुभव किया कि उसका जीवनोद्देश सफल हो गया।

पूमगल लंबगम्—इस विजयके अनन्तर जीवक अपने नगर 'राजमापुरम्' को गया वहाँ उसका राज्य-तिलक महोत्सव बड़े विशालरूपसे मनाया गया जोकि

[1] संस्कृतके ग्रन्थांतरोंमें इससे काष्ठांगारका बोध होता है।

उसके मित्रों तथा बन्धुओंके लिये बड़ा ही आनन्दप्रद था। इसे पृथ्वीकी आत्मा भूमि देवीके साथ विवाह होना कहा गया, कारण 'जीवक' का पूर्व चरित्र विवाहोंका उज्वल प्रवाह ही तो था।

लक्कनै लंबगम्—हेमंगनाडुके राज्यासनको ग्रहण करनेके अनन्तर गत स्वयंवरमें वराह चिन्हके बेधन में विजित हुई उसके मामाकी कन्या लक्कनैके साथ उसका विवाह उत्सव हुआ, और उसके अपने सभी मित्रोंको समुचित रूपसे पुरस्कारित उसके उप पिता राजकोय सन्मानको प्राप्त हुए। उसके मित्रोको अनेक भेटें दी गईं। उसने कट्टियंगारमकी सम्पूर्ण सम्पत्ति अपने मामा 'गोविन्दराज' को दे दी। उसने अपने मित्र सुदंजनदेवके सन्मानार्थ एक मन्दिर निर्माण करवाया। इस प्रकार उसके राज्यमें सब सन्तुष्ट किये गये और देशने समृद्धि एवं वियुक्तताका आनन्द लिया।

मुत्ति लंबगम—जब वे सब सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे तब वृद्धा माता विजयाने एक दिन संसारिक भोगोंका त्याग कर साध्वीका जीवन व्यतीत करनेकी इच्छा प्रगट की। इस प्रकार अपने सम्राट पुत्रकी इच्छानुसार उसने अपने अवशिष्ट दिवस तापस आश्रममें भक्ति एवं आत्म सुधारमें व्यतीत किये। एक दिन उद्यानमें भ्रमण करते हुए 'जीवक' ने एक आश्चर्यप्रद घटना देखी। उसने एक मर्कटको अपनी मर्कटीके साथ सानन्द जीवन व्यतीत करते हुए देखा। उसने शीघ्र ही देखा कि मर्कट एक मधुर पनस फल मर्कटीको प्रदान करने लाया। उसी क्षण वन पालकने उस पनस फलको मर्कटके हाथमें देखकर मर्कटको दंडित कर उसके हाथमें वह फल छीन लिया और उसे खा गया। जब जीवकने यह देखा तब उसने यह तो अनुभव किया कि यह तो विश्वकी सब विभूतियोंको घोषित करता है, जिनका अधिकारी दुर्बलको दबाकर बलशाली व्यक्ति बन जाया करता है। इस विषयका अपवाद राज पर भी नहीं है। सब जगह उसने यह सिद्धान्त विजयी होते हुये पाया कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'। उसने देखा कि कट्टियंगारन्के और उसके स्वयंके जीवनमें यही बात उदाहृत हुई है। राज्यपद, जो इस प्रकार अनैतिक नींव पर स्थित है, ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी लालसा की जाय। इस लिए उसने राज्यको अपने पुत्रके लिये छोड़कर राजकीय वैभवसे मुक्त होकर अपना शेष जीवन तपश्चरणमें व्यतीत करनेका निश्चय किया इस लिए वह उस स्थल पर गया जहाँ भगवान महावीर थे, और उनके सुधर्म गणधरसे आध्यात्मिक उपदेश प्राप्त किया। जिन्होंने 'जीवक' को आत्मीक जीवन एवं संयमकी दीक्षा प्रदान की। इस प्रकार 'जीवक' ने अपना अवशिष्ट जीवन ध्यानमें व्यतीत किया और अपने ध्यान एवं तपश्चर्याके फल स्वरूप उसने अन्तको निर्वाण प्राप्त किया। इस तरह महान क्षत्रिय वीर 'जीवक' का उज्वल चरित्र समाप्त होता है, जिनकी स्मृतिमें यह महत्वपूर्ण तामिल ग्रंथ 'तिरुत्तक्कदेव' ने बना।

इसमें ३१४५ पद्य हैं। इसका सुंदर संस्करण 'नच्चिनार्क्किनियर' की सुंदर टीका सहित इस समय उपलब्ध है, और यह संस्करण प्रसिद्ध विद्वान महामहोपाध्याय डा० वी० 'स्वामिनाथ अय्यर' के द्वारा प्रकट हुआ है, जिन्होने अपना सारा जीवन दुर्लभ तामिल ग्रंथोंके प्रकाशनमें व्यतीत किया है।

अब हमें पांच लघुकाव्योंके सम्बंधमें विचार करना चाहिये जिनके नाम हैं—(१) 'यशोधर काव्य'

(२) 'चूड़ामणि' (३) 'उद्यानन कथै' (४) 'नागकुमार-काव्य' और (५) 'नीलकेशी', ये पांचों लघुकाव्य जैनग्रंथकारोंके द्वारा रचे गए थे।

१—यशोधरकाव्य—संस्कृत साहित्यके जैन ग्रंथों में ग्रंथकार ग्रंथके आदि अथवा अंतमें अपना कुछ न कुछ वर्णन दिया करते हैं, किन्तु इसके विपरीत तामिल साहित्यमें इस सम्बन्धमें ग्रंथकार पूर्णतया मौन रखते हैं। प्रायः लेखकका नाम तक जानना कठिन होजाता है; उसके जीवनकी विशेष घटनाओं की जानकारीकी बात ही निराली है। लेखककी जीवनीके सम्बन्धमें हमें केवल प्रासंगिक साक्षी पर निर्भर रहना पड़ता है। कभी कभी ऐसी साक्षी अत्यंत अल्प रहती है और हमें ग्रंथकार तथा उसकी जीवनीके सम्बन्धमें अपनी अज्ञानताको स्वीकार करना पड़ता है। यही बात इस 'यशोधर काव्य' के सम्बन्धमें भी है। प्रायः लेखकके विषयमें इससे अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है कि वह एक जैन मुनि थे। कथाकी प्रकृतिपरसे यही अनुमान हम कर सकते हैं कि 'माधवाचार्य' के द्वारा यज्ञ सम्बन्धी हिन्दूधर्मके सिद्धान्तमें संशोधन होनेके पश्चातकी यह रचना होगी। प्रसिद्ध वेदान्तिक विद्वान 'माधवाचार्य' ने वैदिक क्रियाकांडमें यह हितकारी संशोधन किया, कि चावलके आटेकी बनी हुई वस्तुके द्वारा पशुबलि का काम निकाला जा सकता है। यशोधर काव्यकी कथाका यह स्पष्ट उद्देश्य है, कि इस प्रकारके सुधारके साथ भी वैदिक यज्ञविधि त्याज्य है। चारित्रका नैतिक मूल्य मन, वचन और कायकी एकतामें है। इस प्रकार की बलिमें यद्यपि साक्षात् कृतित्वका अभाव है, किंतु बाकीकी दो बातोंके सहयोगका अभाव नहीं पाया जाता है। प्राणीवध करनेकी आकांक्षा, और इसके लिए आवश्यक मंत्रोंका उच्चारण वहां विद्यमान है ही, अतः कृत्रिम पशुबलिको उसके स्थानमें स्थापित करनेसे मनुष्य पशुबलिके उत्तरदायित्वसे नहीं बच सकता। यह बात कथाका मूल उद्देश्य प्रतीत होती है, जिसमें प्रसंग वश जैनधर्म-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंका वर्णन किया गया है। इस लिए माधव-तत्वज्ञानके संस्थापक द्वारा यज्ञ-विधानमें संशोधन होजानेके बादकी यह कृति होनी चाहिये। (क्रमशः)

"वह अधिक जानता है जो समझता है कि इस अनादि अनन्त विश्वमेंसे मैं कुछ भी नहीं जानता।"

"एकान्तवादी मत बनो। अनेकान्तवाद अनिश्चयवाद नहीं है, किन्तु वह हमारे सामने एकीकरणका दृष्टिबिन्दु उपस्थित करता है।

"किसी मनुष्यका चरित जाननेके लिए उसका विशेष जीवन नहीं साधारण जीवन—दैनिक जीवन—देखना चाहिए।

"मनुष्यकी दृष्टि उसके हृदयका प्रतिबिम्ब है।"

"सर्वोत्तमता जहां कहीं होती है, कार्यके रूपमें होती है। कारणके रूपमें नहीं।"

"भीतरसे बंध गये हो तो बाहरी बन्धन छोड़ दो।"

"जिसे आत्म-संयम कहते हैं, वह अपनी इच्छाके विरुद्ध कार्य नहीं है। बल्कि कर्तव्य पालनके लिये है, जिसमें कभी अपनी इच्छाके विरुद्ध न जाना पड़े, असत् इच्छा और प्रकृतिका दमन कष्टकर न हो, उस अवस्थाकी प्राप्ति ही संयम-शिक्षाका उद्देश्य है। न समझकर पराई इच्छा और आज्ञाके अनुसार काम करना, आत्म-संयम नहीं है। समझकर अपनी इच्छासे अपनी प्रवृत्तिको दबाने का नाम ही आत्म-संयम है।"

"स्वार्थ-परताका संयम सच्ची स्वार्थ-परताकी प्राप्तिका उपाय है।"

—विचारपुष्पोद्यान

अहार-लड़वारी

पुनीत जैन-तीर्थ

(ले०—श्री यशपाल जैन, बी० ए०, एल-एल० बी०)

बुन्देलखण्ड जैन-तीर्थोंका मुख्य केन्द्र है। सोनागिरी, नैनगिरि तथा द्रोणगिरि सिद्ध-क्षेत्रोंके अतिरिक्त अन्य कई तीर्थ इस प्रान्तमें स्थित हैं। उन्हींमेंसे एक तीर्थ है अहार।

२४ फरवरीको वहाँ जानेका हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ। वैसे तीर्थकी यात्रा पैदल ही की जानी चाहिये, लेकिन समयाभावके कारण हम लोग मोटरसे गये। हां व्यक्तिगत अनुभवसे मैं एक बात कह दूँ। जिन सज्जनोंको उक्त तीर्थकी यात्रा करनी हो, वे टीकमगढ़से या तो पैदल जाँय, या बैलगाडीसे। मोटरका सहारा तो भूलकर भी न लें। इतने धक्के लगते हैं कि सारा शरीर चकनाचूर हो जाता है। वैसे भी बैलगाड़ीसे अपेक्षाकृत दो-तीन मीलका फासला कम पड़ता है—टीकमगढ़से करीब १२ मील—

प्राकृतिक दृश्य—

अहार-लड़वारीकी प्राकृतिक छटा देखते ही बनती है। सुन्दर सुन्दर पहाड़ियाँ और लहलहाते खेत और वृक्ष।

अहार और लड़वारी थोड़े थोड़े फासले पर दो छोटेसे गाँव हैं। दोनों गाँवोंके बीच तीन तालाब हैं, जिनमें बड़ा तालाब 'मदनसागर' के नामसे प्रसिद्ध है। बरसातके दिनों में ये तालाब अपनी परिधि लाँघकर आपसमें मिल जाते हैं और तब उनकी शोभा वर्णनातीत होती है।

अहारके चारों ओर पहाड़ियाँ हैं। श्री शान्तिनाथ जैन पाठशालाके बरामदेमें खड़े होकर इधर उधर देखनेसे शिमलाका स्मरण हो आता है।

अद्वितीय मूर्ति-संग्रह—

लड़वारीसे निकलते ही मार्गमें इधर उधर पड़ी मूर्तियाँ मिलने लगती हैं। अहारके निकट दाँई ओरको एक प्राचीन मन्दिरके भग्नावशेष हैं। पर उनसे अनुमान होता है कि वह मंदिर बहुत विशाल रहा होगा।

अहारमें तीर्थंकर भगवानोंकी अनेक प्रतिमाएँ हैं, सभी खंडित। किसीका सिर नहीं है तो किसीका धड़, किसीका हाथ ग़ायब है तो किसीका पैर। कहा जाता है कि यवनोंने अपनी धार्मिक कट्टरताके वशीभूत होकर उनकी यह दुर्दशा की है। लेकिन जो भी अंग उपलब्ध हैं उनसे उनके निर्माताओंकी कार्यपटुताका पता लग सकता है। इन मूर्तिओंको प्राचीन वास्तुकलाका उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है। किसीके चेहरेपर हास्य है तो किसीके गम्भीरता। जान पड़ता है कि अगर शिल्पकारके बसकी बात होती तो निश्चय ही वह उनमें जान डाल देता। तब वे प्रतिमाएँ जो मूक बेबसीकी हालतमें पड़ी हैं, स्वयं ही अपनी आवाज़से अपने साथ हुए अत्याचारोंकी कहानी आदमीके बहरे कानों तक पहुँचातीं। किसी भी प्रतिमाको देख लीजिए, क्या मज़ाल कि खुदाईमें बालभरका भी कहीं अन्तर हो। मशीन की निर्जीव उंगलियोंसे आज बारीकसे बारीक काम किया जा सकता है, पर उस युगकी कल्पना कीजिये जिसमें मशीन नहीं थी और सारा काम इने गिने दस्ती औजारोंसे होता था। जरा हाथ डिगा या छैनी इधर उधर हुई कि सारा बना बनाया खेल बिगड़ा।

लज्जाजनक दृश्य—

एक बात देखकर हमें बड़ा खेद हुआ! तमाम मूर्तियाँ पाठशालाके पीछे खुली जगहमें पड़ी हैं। उनपर होकर आठ सौ बरसातें, जाड़े और गर्मी निकली हैं, लेकिन किसी भले मानसको यह भी नहीं सूझा कि उन्हें उठवाकर कहीं बन्द

जगहमें रखवा दे। हमारी काहिली और लापरवाहीका यह निकृष्ट नमूना है और इससे इस बातका पता चलता है कि अपने आराध्य देवोंकी कितनी क़द्र हम करते हैं। ये वेही प्रतिमाएँ तो हैं जिनकी कि मन्दिरमें हम रोज़ पूजा-आराधना करते हैं। ज़रा अन्दाज़ा कीजिये, आठ सौ वर्षोंसे वे वहाँ पड़ी हैं। लज्जासे सिर झुक जाता है। पाठशालाके अध्यापक महोदयको 'छहढाला' या 'भक्तामर' या 'दर्शन' पढ़ानेसे इतना अवकाश कहाँ कि इस ओर ध्यान दें। यदि यही प्रतिमाएँ और कहीं होतीं तो संग्रहालयमें शोभा पातीं और दूर-दूरसे यात्री आ-आकर उनके दर्शन कर अपनेको धन्य मानते।

शान्ति और कुन्थु भगवानकी प्रतिमाएँ—

पाठशालाके सामने अहातेके भीतर ही पत्थर-चूनेका एक मन्दिर है। हाल ही का बनवाया हुआ है। देखनेमें मामूली-सा जान पड़ता है। यात्री स्वप्नमें भी कल्पना नहीं नहीं कर सकता कि इस जीर्ण शीर्ण गुदड़ीमें लाल छिपे हैं। अन्दर बाईस फीटकी एक ही शिलापर भगवान शान्तिनाथकी १८ फीट लम्बी खड़ी प्रतिमा है। उनके बगलसे बाईं ओर भगवान कुन्थुनाथकी ११ फीटकी प्रतिमा है। कहा जाता है कि दाईं ओर भी इतनी ही बड़ी अरहनाथ भगवानकी प्रतिमा थी, लेकिन पता नहीं कोई लुटेरा उसे उठाकर ले गया या कहीं भूगर्भमें वह विश्राम ले रही है। दोनों प्रतिमाएँ बहुत ही भव्य हैं। उनके चेहरेका सौन्दर्य और तेज देखकर हम आश्चर्यचकित क्षणभर मूक बैठे रहे। हमारे एक साथी श्री कृष्णानन्दजी गुप्तने, जिन्हें घूमनेका बहुत अवसर मिला है, बताया कि इतनी बड़ी प्रतिमाएँ तो उनकी निगाहसे गुज़री हैं, लेकिन जैनियोंकी इतनी सुन्दर प्रतिमा उन्होंने अन्यत्र नहीं देखी। 'मधुकर'-सम्पादक भी उनके सौन्दर्यको देखकर मुग्ध हो गये।

प्रतिमाओंके नीचे जो प्रशस्तियाँ दी हुई हैं, उनसे पता चलता है कि 'पापट' नामके शिल्पकारने उनका निर्माण किया था। 'पापट' निस्सन्देह एक महान् कलाकार होगा। उसकी प्रतिभा सराहनीय है।

इन प्रतिमाओंपर जिस प्रकारकी पालिश हो रही है, उस प्रकारकी पालिशकी प्रतिमाएँ, कहा जाता है, सातवीं शताब्दीके बाद कम ही मिलती हैं। कुछ लोगोंका तो यह भी कहना है कि आठवीं शताब्दीके बाद उसका सर्वथा लोप ही हो गया। यदि यह सच है तो पुरातत्त्ववेत्ताओंके लिये प्रतिमाएँ अध्ययनकी वस्तु हैं।

जैन-भाइयोंसे अपील—

यहां मैं अपने जैन-भाइयोंसे एक अपील करना चाहता हूँ। अहार हमारा एक बड़ा तीर्थ-क्षेत्र है। उसके गौरवको हम यों ही नष्ट न हो जाने दें। उसकी रक्षाके लिये तन-मन-धनसे जो कुछ कर सकें, करें। नीचे लिखी बातोंकी आवश्यकता मुझे प्रतीत होती है:—

(१) संग्रहालय—इन प्रतिमाओंको सुरक्षित रखनेके लिये मंदिरके समीप ही एक बड़ा-सा कमरा बन जाना चाहिए। कमरा बनानेमें दो तीन हज़ार रुपयेसे अधिक खर्च न होगा। पत्थर वहाँ बहुत पाये जाते हैं और वैसे भी यदि हम अपनी अकल पर पड़े पत्थरोंको हटाकर वहाँ रखदें तो एक नहीं दस कमरे बन सकते हैं।

हमारे जैन-समाजमें धनियोंकी संख्या कम नहीं है। अत: यह कार्य सुगमतासे हो सकता है।

(२) पुरातत्त्वकी दृष्टिसे अध्ययनकी आवश्यकता— मैंने ऊपर कहा है कि बुन्देलखण्ड जैन-तीर्थोंका मुख्य केन्द्र है। मूर्तियों और शिलालेखोंकी इस प्रान्तसे भरमार है। उन सबका पुरातत्त्वकी दृष्टिसे अध्ययन किया जाना चाहिये। इस कार्यके लिए यहाँ कहीं भी एक पुरातत्त्व-विभाग खुल जाना चाहिए। उसके अंतर्गत एक-दो विद्वान निरन्तर खोजबीन करते रहें। इधर उधर खुदाई कराकर वे नवीन मूर्तियां भी प्राप्त करें। सुना जाता है इस प्रान्तमें स्थान-स्थानपर भूगर्भमें मूर्तियाँ छिपी हैं।

मूर्तियाँ प्राप्त करना उतना कठिन नहीं हैं जितना कि उनकी रक्षा करना। आजकल मूर्तियोंकी चोरी खूब होती हैं। सुना है बहुतसे लोग मूर्तियाँ बेचकर उनसे धन कमाते हैं। यह हमारे लिये अत्यन्त लज्जाकी बात है। इस प्रकार के लुटेरोंसे मूर्तियोंकी रक्षा करनी चाहिये।

(३) **धर्मशाला**—बाहरसे आये हुए यात्रियोंके लिये अहारमें ठहरनेका उचित प्रबन्ध नहीं है। महावीर तथा अन्य तीर्थक्षेत्रोंमें ठहरनेके लिए धर्मशालाएँ हैं। महावीरजी में तो मैंने देखा कि यात्रियोंको पलंग तक मिल जाते हैं। अहारमें भी मन्दिरके अहातेमें एक छोटीसी धर्मशाला होनी चाहिये।

मूर्तियों-सम्बन्धी जो भी उल्लेख प्राप्त हों, उन तथा अन्य बातोंके प्रचारके लिये एक सुयोग्य व्यक्तिकी नियुक्ति आवश्यक है। वह यात्रियोंकी सुख-सुविधाका ध्यान रक्खे और जो यात्री तीर्थोंके दर्शन करने आना चाहें उनको संपूर्ण सूचना भेजते रहें जिससे उन्हें मार्गमें किसी प्रकारकी असुविधा न हो।

(४) **सड़ककी मरम्मत**—अहार-लड़वारीका रास्ता अच्छा नहीं है। कच्चा रास्ता है और ऊबड़ खाबड़। यदि सम्भव हो सके तो पक्की, नहीं तो कच्ची सड़क टीकमगढ़से अहार तक बन जानी चाहिये। बहुतसे वृद्ध या अस्वस्थ यात्री मार्ग ठीक न होनेके कारण तीर्थोंके दर्शन-लाभसे वंचित रह सकते हैं।

श्री शान्तिनाथ जैन पाठशाला—

मन्दिरके अहातेके भीतर ही श्रीशान्तिनाथ जैनपाठशाला है, जिसमें आजकल २३ विद्यार्थी और एक अध्यापक है। विद्यार्थी रात दिन वहीं रहते हैं। मुझे यह जानकर अत्यन्त खेद हुआ कि उन्हें शाकभाजी और दूधके दर्शन भी नहीं होते। पहले तो मैं समझा कि पथरीली धरती होनेके कारण शायद शाक-भाजी वहाँ पैदा ही न होती हो, परन्तु बादमें अध्यापक महोदयसे मालूम हुआ कि चीज़ें तो सब हो जाती हैं, लेकिन संस्था ग़रीब है। यह सुनकर बड़ी झुँझलाहट हुई। थोड़ी-बहुत तरकारी स्वयं पैदा कर लेनेमें कौन हज़ार-दो-हज़ारकी ज़रूरत पड़ती है। ज़मीन चारों ओर खाली पड़ी है और अहातेमें भी इतनी जगह है कि पचास आदमियोंके लिए अच्छी तरह भाजी पैदा की जा सकती है। हाँ कुछ बुद्धि और शारीरिक श्रमकी आवश्यकता होगी। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि पढ़ाईपर अधिक जोर देकर हम शारीरिक श्रमकी ओरसे लापरवाह हो जाते हैं।

अध्यापक महोदय ध्यान दें—

अध्यापक महोदयको यह जान लेना चाहिये कि स्वास्थ्य पढ़ाईसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहावत है, शरीर स्वस्थ हो तभी मन चंगा रह सकता है। अध्यापकजीका कर्तव्य है कि वे विद्यार्थियोंके स्वास्थ्यका पूरा पूरा ध्यान रक्खें। प्रत्येक विद्यार्थीके लिये आवश्यक करदें कि वह प्रति दिन घंटे-डेढ़-घंटे खेतमें काम करे। बच्चोंको अपने श्रमसे चीज़ें पैदा करनेमें बड़ा आनन्द आता है। अपने हाथों बोये बीजोंमें जब वे कल्ले फूटते और बेल या पेड़को बढ़ते देखते हैं तो उनका हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। अल्प आयुके इन बच्चोंको अभी संसारमें बहुत कुछ करना है और उनके विकासका यही समय है। हमारे समाजके कोई भी धनी भाई बच्चोंके दूधके लिये आसानीसे आठ-दस गायोंकी व्यवस्था कर सकते हैं। यदि हमारा समाज इतना मुर्दा हो गया है कि ८-१० गायोंका भी प्रबन्ध नहीं कर सकता तो अध्यापक-महोदयसे मैं प्रार्थना करूँगा कि वे पाठशालाको बन्द कर दें। बच्चोंके स्वास्थ्यको नष्ट करनेका उन्हें कोई अधिकार नहीं। पर नहीं, मुझे आशा है हमारा समाज अभी जीवित है। अपने धर्मकी रक्षा तथा उन छोटे छोटे बच्चोंकी खातिर वह उदारतापूर्वक सहायता देगा।

कुण्डेश्वर, टीकमगढ़

गोम्मट[1]

[लेखक—प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय, एम० ए० डी० लिट]

(अनुवादक—पं० मूलचन्द्र जैन बी० ए०)

'गोम्मट' शब्द दो प्रधान प्रकरणोंमें आता है। बाहुबलिकी तीन महान मूर्तियाँ, जो श्रवणबेलगोल, कारकल और वेणूरमें हैं, आमतौर पर गोम्मटेश्वर वा गोमटेश्वर[2] के नामसे प्रसिद्ध हैं; और 'पंच-संग्रह' नामक जैनग्रन्थ, जो कि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीद्वारा प्रणीत वा संकलित है, साधारणतया 'गोम्मटसार'[3] के नामसे पुकारा जाता है। यह एक महत्त्वकी बात है कि यह शब्द दोनों प्रकरणोंमें द्वितीय नामोंमें आता है। ये तीन मूर्तियाँ जिस व्यक्तिका प्रतिनिधित्व करती हैं वह भुजबलि, दोर्बलि, कुक्कुटेश्वर इत्यादि नामोंसे जाना जाता है; और प्राचीन जैनसाहित्यमें, चाहे[4] वह श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, कहीं भी वह गोम्मटेश्वर, गोम्मट-जिन आदि नामसे वर्णित नहीं है। इसी प्रकार उस ग्रंथको जो 'गोम्मट-सार' नाम दिया गया है, वह भी उसके विषयोंको सूचित नहीं करता, क्योंकि उस ग्रन्थका सार्थक नाम पञ्चसंग्रह[5] है। बेल्गोलकी मूर्ति इन तीन मूर्तियों[6] में सबसे पुरानी है और अभी तक जैनसाहित्यमें या किसी अन्य स्थानपर ऐसा कुछ उल्लेख नहीं मिला है जो यह प्रकट कर सके कि बेल्गोलकी मूर्तिके स्थापित होनेसे पहिले बाहुबलि गोम्मटेश्वर कहलाते थे। इसकी स्थापनाके पश्चात्के बहुतसे शिलालेखीय और साहित्यिक उल्लेख ऐसे मिलते हैं जिनमें इस मूर्तिको 'गोम्मटेश्वर' के तौर पर उल्लेखित किया है। श्रवणबेलगोल[7] के बहुतसे शिलालेख इस मूर्तिको गोम्मट-देव, + ईश्वरजिन, + ईशजिन, + ईश—नाथ, जिनेन्द्र,- जिनप,—स्वामि, + ईश्वर, + ईश्वरस्वामि जैसे नामों से नामांकित करते हैं और केवल 'गोम्मट' के तौर पर बहुत ही कम उल्लेख करते हैं। अक्षर विन्यास से स्वरोंमें कुछ भिन्नता पाई जाती है, जैसे गोम्मट,

---

१ यह निबन्ध बम्बई यूनिवर्सिटीकी Springer Research scholarship की मेरी अवधिके मध्यमें तैयार किया गया है।

२ Epigraphia carnatica II (Revised Ed.) भूमिका पृष्ठ 10 18, 1920।

३ रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला, बम्बईसे दो हिस्सो 'जीवकाण्ड' (1916) और 'कर्मकाण्ड' (1928) में प्राप्य।

४ 'अभिधानराजेन्द्र' श्वेताम्बर साहित्यके बृहत् विश्वकोशके समान है, और इसमें 'गोमटदेव' सम्बन्धी सूचना देते हुए किसी भी प्राचीन आधारका वर्णन नहीं है। जो कुछ हमें बतलाया गया है वह यह है कि यह नाम कलिंग देशके उत्तरमें तो ऋषभकी मूर्तिका स्थानापन्न है और दक्षिणमें बाहुबलीकी मूर्तिका (Vol. III Ratlam 1913, P. 934) दिगम्बर आधारोंका उपयोग एपिग्रेफिया कर्णाटिकाकी दूसरी जिल्द (E. C. II,) की भूमिकामें पूर्णतया किया गया है।

५ द्रव्यसंग्रह (S. B. J. I, आरा १९१९, भूमिका पृष्ठ ४०)।

६ बेल्गोलकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा संभवत: ९८३ A. D. में, कारकलकी १४३२ A. D. में, और वेणूरकी १६०४ A. D. में हुई थी।

७ ये नोट एपिग्रेफिया कर्णाटिका (E. C. II) की दूसरी जिल्द के इण्डेक्स (Index) में दिये हुए उल्लेखोंके मेरे विश्लेषणके आधार पर हैं।

गुम्मट और गोमट; परन्तु शब्द निःसंदेह एक ही है। शिलालेखोंसे कुछ बिगड़ी हुई शकलें भी मिलती हैं। जैसे गोमट्टेश्वर, गुम्मनाथस्वामि,[८] और यह लेखकोंकी ग़लतियाँ मानी जा सकती है। मगर ग्रंथ का नाम सब जगह 'गोम्मटसार' है।

अनेक कारणोंसे 'गोम्मट' शब्द दोनों स्थानों पर एक ही जैसी व्याख्याका पात्र है। बेलगोल[९] में मूर्तिकी यथाविधि प्रतिष्ठा करानेके ज़िम्मेदार चामुण्डराय हैं, जो कि गंगराजा राजमल्ल (ई० सन ९७४-९८४)का मंत्री और सेनापति था। और टीकाकारों[१०] द्वारा उल्लेखित कथाके अनुसार नेमिचंद्रने इसी चामुण्डरायके लिये धवला जैसे प्राचीन ग्रंथोपरसे विषयोंका संग्रह करके 'गोम्मटसार' संकलित किया था। यद्यपि निश्चित तिथियाँ प्राप्य नहीं है, फिर भी इतना सुनिश्चित है कि नेमिचंद्र और चामुण्डराय समकालीन थे और मूर्तिका स्थापन और गोम्मटसार का संकलन दोनों समकालीन घटनाएँ है, जो कि करीब करीब एक ही स्थानसे सम्बन्ध रखती हैं। इसलिये हम 'गोम्मट' का जो भी अर्थ लगायें वह महान् मूर्तिके नामके साथमें और प्राकृत ग्रंथके नाम के साथमें भी संगत होना चाहिये।

यह एक महत्त्वकी बात है कि चामुण्डरायका सम्बंध बेल्गोलकी मूर्तिके साथ उसी प्रकार है जिस प्रकार कि प्राकृत ग्रंथके साथ है। यदि हम गोम्मटसार[११] की कुछ अन्तिम गाथाओंको ध्यानपूर्वक पढ़े तो एक बात निर्विवाद सिद्ध है कि चामुण्डराय जो 'वीरमार्तण्ड' की उपाधिके धारक थे, उनका दूसरा नाम 'गोम्मट' था और वे 'गोम्मटराय' भी कहे जाते थे। नेमिचंद्रने ओजपूर्ण शब्दोंमें उनकी विजयके लिये भावना की है। इन गाथाओं और उनकी टीकाकी जांच से यह ज़ाहिर होता है कि 'गोम्मट' शब्द अर्थकी कुछ हल्कीसी भिन्न छायाओंमे बार बार इस्तेमाल किया गया है। मुझे मालूम होता है कि शब्दका यह बार बार इस्तेमाल 'गोम्मट' वा चामुण्डरायकी प्रशंसा करनेका दूसरा ढंग है। जिनसेनने भी वीरसेनकी इसी प्रकार[१२] प्रशंसा की है। इस समकालीन साक्षीके अतिरिक्त ई०सन् ११८०के एक शिलालेखपरसे हमें मालूम होता है कि चामुण्डराय का दूसरा नाम 'गोम्मट'[१३] था। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह चामुण्डरायका घरेलू नाम था।

यदि इन बातोंको स्मृतिमें रखते हुए कि प्राचीन जैनसाहित्यमें बाहुबलिको गोम्मटेश्वर नहीं कहा गया है और यह शब्द केवल बेल्गोलकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा

---

८ E. C. II, नं० ३७७, ३५२।

९ E. C. II, भूमिका पृष्ठ १५।

१० देखो अभयचन्द्र; केशववर्णी और नेमिचन्द्रके प्रारंभिक कथन। केशववर्णीकी कन्नडी टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। अभयचन्द्र और नेमिचन्द्रकी संस्कृत टीकाएँ (जो केशववर्णीका बिल्कुल अनुकरण करती हैं) गाँधी-हरिभाई-देवकरण-जैन-ग्रन्थमाला, ४, कलकत्तामें प्रकाशित हुई है।

११ जीवकाण्ड ७३३ और कर्मकाण्ड ९६५-७२ इन गाथाओं को मैंने अपने लेख Material on the Interpretation of the word gommata में जो Indian Historical Quarterly Vol. XVI No. 2 के Poussin Number का अंग है, आलोचनाके साथ अंग्रेजीमें अनुवाद किया है।

१२ देखो, मेरा लेख जो ऊपरके फुटनोटमें नोट किया गया है; षट्खंडागम प्रथमभाग प्रो०हीरालाल जैन द्वारा संपादित, अमरावती १९३९, भूमिका पृष्ठ ३७, फुटनोट १, पद्य १७

१३ देखो (E. C. II) नं० २३८ पंक्ति १६ और अंग्रेज़ी संक्षेपका पृष्ठ ९८ भी।

के बाद ही व्यवहारमें आया है तो यह बात आसानी से विश्वास किये जानेके योग्य हो जाती है कि यह मूर्ति बतौर गोम्मटेश्वरके (गोम्मटस्य ईश्वरः तत्पुरुष समास) 'गोम्मटके देवता' के इस लिये प्रसिद्ध हुई है क्योंकि इसे चामुण्डरायने, जिसका अपर नाम 'गोम्मट' है, बनवाकर स्थापित किया था। बहुतसे ऐसे देवताओंके उदाहरण मिलते हैं जिनके नाम मन्दिरोंके संस्थापकोंके नामोंका अनुसरण करते हैं। नीलकण्ठेश्वरदेव लक्ष्मणेश्वरदेव, और शंकेश्वरदेव ऐसे नाम हैं जो कि नीलकण्ठ नामक (शक १०५१) लक्ष्मण और शंकर चमूनाथ[१४] के द्वारा प्रतिष्ठित देवताओंका दिये गये हैं। और 'गोम्मटसार' नाम इसलिये दिया गया क्योंकि यह धवलादि ग्रन्थोंका सार था, जिसे नेमिचन्द्रने खास तौर पर 'गोम्मट' चामुण्डरायके लिये तैयार किया था। जब एक बार बेल्गोलकी मूर्तिका नाम 'गोम्मटेश्वर' पड़ गया तो शनैः शनैः यह नाम कर्मधारयसमासके तौर पर समझ लिया गया (गोम्मटश् चासौ ईश्वरः)[१५] और बादमें बाहुबलि की दूसरी मूर्तियोंके लिये भी जो कारकल और वेणूरमें हैं, यह नाम व्यवहृत हुआ। यह एक तथ्य है कि वे बेल्गोल-मूर्तिकी नक़ल हैं।

यद्यपि चामुण्डरायके सम्बन्धसे 'गोम्मट' एक विशेषसंज्ञा (निजी नाम) है, फिर भी देखते हैं कि इस शब्दका क्या अर्थ है और इसके शाब्दिक ज्ञान पर क्या कोई प्रकाश डाला जा सकता है। हमारे पास इस बातका कोई प्रमाण नहीं है कि 'गोम्मट' अथवा 'गुम्मट' शब्द संस्कृतसे निकलता है। 'गोमट' रूप जो बेल्गोलके देवनागरी शिलालेखोंमें खास तौर से आता है, वह इसको संस्कृत उच्चारण[१६] के निकट लानेका प्रयत्नमात्र है। भारतकी आधुनिक भाषाओं में मराठी ही ऐसी भाषा है जिसमें यह शब्द प्रायः व्यवहृत हुआ है और अब भी इसका व्यवहार चालू है।

'दृष्टांत-पाठ' ग्रन्थके मूलमें, जोकि प्रायः शक १२०० का कहा जाता है, 'गोम्मट शब्द आता है:—

(१) बोखटें करीतसांतां कव्हणी गोमटेयातें न पवे।
गोमटे करीतसांतां कव्हणी बोखटे यातें न पवे॥
दृष्टांत १०[१७]।

(२) तो म्हणे। कैसाबापुडा। गोरा गोमटा। धारे धाकुटा। राणीयेचा पूत ऐसा दीसतु असे॥ दृष्टांत१३,

(३) यह शब्द ज्ञानेश्वरी (शक१२१२)में बार बार व्यवहृत हुआ है, और मिस्टर पेंन पहिले ही ऐसे उल्लेखों[१८] मेंसे कुछको नोट किया है। यहां मैं कुछ वाक्यांश उधृत[१९] करता हूँ।

---

१४ के.जी.कुन्दनगर: उत्तरीयकरनाटक और कोल्हापुरस्टेटके शिलालेख, कोल्हापुर १९३९, पृष्ठ १८, ६५.४०आदि।

१५ गोम्मट साधारण अर्थोंमें प्रसन्न करने वाला; देखो, E. C. II. No. २३४ (A. O. 1180) पंक्ति ५२, जहां यह शब्द प्रसन्न करने (Pleasing) के अर्थमें आया है। सम्भवतः इसका अर्थ अत्युत्तम (excellent) भी है, देखो E. C. II. No २५१ (A.D.1118), पंक्ति ३१, प्रथमबार व्यवहृत और नं० ३४५ (A. D. 1159) पंक्ति ५०, द्वितीयबार व्यवहृत। मैंने उन पाठोंको आगे उदधृत किया है।

१६ E. C. II. Nos. 192, 248, 277, वास्तवमें इसका यह मतलब नहीं है कि कन्नड वर्णमालासे लिखे हुए संस्कृत और कन्नड शिलालेखोंमें 'गोमट' शब्द नहीं मिलता।

१७ इन वाक्यांशोके लिये मैं अपने मित्र प्रो० वी० वी० कोलटे, अमरावतीका आभारी हूँ।

१८ देखो, उसकी कन्नड पुस्तिका 'श्री बाहुबलि गोमटेश्वर चरित्र', मंगलोर १९३९ पृष्ठ ३०, फुटनोट २७।

१९ वी० के० रजवाड़े 'ज्ञानेश्वरी'. धुले, शक १८३१।

(1) जैसें आंधलेया अव्हांटा। का माजवणदान मर्कटा । तैसा उपदेशु हा गोमटा । ओडवला अम्हां ॥ ३-९
(2) हे सायास देखां मोटे । आता कैसेनि पां येकोल फीटे । म्हणौनि योगीं मार्ग गोमटे । शोधिले दोन्ही ॥ ८—७४३
(3 तैसे मीं वांचूनि काहीं । अणिक गोमटें चि नाहीं। मज चि नावें पाइं । जीर्णो टेविलं ॥ ९-३३२
(4) चोखटें ना गामटें । या काटमेया ही न भेटे । राति देखो न घटे । सूर्यु जैसा ॥ १०—१६४
(5 तेया परीं कपिध्वजा । या मरणार्णवा समजा । पासौनि 'नगति बोजा । गोमटिया ॥ १३-१०४०
(6) नाना सुद्रव्यें गोमटीं । जालेया शरीरा पैठीं । होउनि ठाकति किरीटो । मलु चि जैवि ॥१८-७४

उदाहरणोंकी संख्या आसानीसे बढ़ाई जासकती है । फिर यह शब्द 'अमृतानुभव'[20] में भी आया है:—

(1) महाय आत्मविदेचे । करावया आपण वेचे । गोमटें काय शब्दा चे । एकैक वानूं ॥ ६-११

(३) 'भास्कर' (शक ११९५) के 'शिशुपालवध[21]' में भी हमें यह शब्द व्यवहृत मिलता है :—

(1) सरोवरां निहटीं घातली सोनकेतकीचो ताटी । वरी मांडवी उभिला गोमटी । पांच वर्णीया परागाची ॥ ६५२.

(४) 'गोमट' शब्द मराठाकालमें आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता था, जैसा कि 'शिवाजी' के समकालीन पत्रोंमें इसके प्रयोगसे देखा जाता है। ई० सन १०७७ के एक पत्र[22] में जो 'शिवाजी' ने 'मलोजी घोरपदे' के नाम भेजा था, हमें तीन वाक्य[23] मिलते हैं :—

(१) तुम्ही मराठे लोक आपले आदा तुम चे गोमटे व्हावे म्हणून पष्टच तुम्हांस लिहिले असे ।

सर्व प्रकारें तुमचें गोमटें करून, एविसी आम्हां पासून अंतर पडेतरी व मागील दाविश्याचा किंतु आम्हा मनांतून टाकीला एविसी आम्हास श्री देवाची आण असे ।

(३) आम्हीं सर्व प्रकारें तुमचें गोमटें करावयासी अंतर पडो नेदऊन ।

यह (गोमट) शब्द इन वाक्योंमें वाक्य प्रसंगसे स्वयं अपनी व्याख्या कर सकता है। आधुनिक मराठीमें इसका अर्थ 'बरे करणे', 'भलाई करना' है। वास्तवमें उसी पत्रमें एक वाक्य मिलता है जो ऊपर लिखे अर्थको दूसरे शब्दोंमें व्यक्त करता है।

(१) आपल्या जातीच्या मराठिया लोकांचे बरें करावें हे आपणास उचित आहे ।

इसका यह अर्थ है कि शिवाजी उनकी सामाजिक व राजनैतिक भलाईके लिये, संक्षेपमें सबकी भलाई के लिये भावना करते हैं।

(५) मिस्टर पैने पहिले ही 'तुकाराम'के 'अभंगों' मेंसे, जो प्रायः करके इस शब्दका व्यवहार करते हैं, एक उदाहरण नोट किया है—

(१) जड़ांनी गोमटी नाना रत्नें । १००

आज भी मराठीमें हमें 'गोरा गोमटा' का महावरा मिलता है, और कोई शंका करता है कि क्या यह सब प्रकारसे एक जोड़ा अथवा डबल प्रयोग है। ऊपरके प्रयोग, जो वैसे ही बिना किसी क्रमका ध्यान रक्खे हुए छांटे गए हैं, यह दिखानेके लिये काफी हैं कि 'गोमट' शब्द मराठीमें एक विशेषण है और इसका अर्थ है 'साफ', 'सुन्दर', 'आकर्षक' 'अच्छा' आदि। 'कोंकणी' भाषामें भी 'गोम्टो' शब्द है, और इसका वही अर्थ है जो 'मराठी' में है।

कन्नड साहित्यमें इस शब्दके प्रयोगकी खोज नहीं की गई है फिर भी श्रवणबेल्गोलके शिलालेखोंमें तीन वाक्य हैं और यह उल्लेख क्रमशः ई० सन १११८,

२० के० के० गरदे 'श्री अमृतानुभव', बम्बई १९२६
२१ वी० एल० भवे 'शिशुपाल-वध', थाना शक १८४८
२२ मेरे मित्र प्रो० A. G. Pawar, कोल्हापुर ने कृपा करके मेरा ध्यान इस रिकार्डकी ओर दिलाया।
२३ 'शिवकालीन-पत्रसारसंग्रह', जिल्द २, पूना १९३०, पत्र नं० १६०१ पृष्ठ ५५६-६१

११५६ और ११८० के हैं। वे यहां उधृत किये जाते हैं [२४] :—

(१) गोम्मटमेने मुनिसमुदा-
यं मनदोलु मेच्चि ···सुतं
गोम्मटदेवर पृजेग-
दं मुददि बिट्टनल्ते धीरोदात्तं।

(२) गोम्मटपुर भूषणमिदु
गोम्मट मार्य्येने समस्तपरिकरसहितं।
सम्मददिं हुलचमू—
पं माडिसिदं जिनोत्तमालयमनिदं॥

(३) तम्मने पोदरंत्रनु नरेल्लरुमेय्दे तपक्के नानुमि-
तम्म तपक्के वोदोडेनगीसिरियोप्पवेडेनुत्तम
गनं मनमिल्दुमन्नुमिगेयुं बगेगोल्दे दोत्तगोडे नी-
गोम्मटदेव निन्न नरिमंदलवार्येजनक्के गोम्मटं

इन वाक्योंमें इसका अर्थ है 'प्रसन्न करनेवाला', 'उत्तम' इसके अतिरिक्त यह बहुतसे व्यक्ति वाचक नामोंमें आता है [२५]। तेलुगुमें हमे 'गुम्मडु' शब्द मिलता है जिसका अर्थ है 'वह व्यक्ति जो अपने आपको सजाता है'। दक्षिण कनाडामें 'गोम्मटदेव' की मूर्ति आमतौर पर 'गुम्मडदेवर' कहलाती है। तामिल भाषामें हमें 'कुम्म्ट्ट' शब्द मिलता है, परन्तु जहां तक मैं देखता हूं इसका 'गोम्मट' के साथ कोई दृढ सम्बंध नहीं है। इस शब्दकी आदि और शाब्दिकपरिज्ञान (etymotogy) के लिये अधिक अध्ययनकी आवश्यकता है। शायद यह शब्द दक्षिण भारतीय शब्दभंडारसे आया है। इसे संस्कृतकी किसी धातुसे आसानीसे सम्बंधित करना संभव नहीं है। फिर भी धात्वादेश 'गुम्मड' है, जिसको प्राकृत वैयाकरणोंने [२६] 'मुः' धातुके बराबर किया है, और यह असम्भव नहीं कि हमारा शब्द इस धात्वादेशके सकारण अर्थसे बना हो। बस जो कुछ हम इस शब्दके बारेमें जानते हैं, वह यह है कि व्यक्ति वाचक नामोंके अतिरिक्त यह शब्द सबसे पहिले ई० सन ११९८ के एक कन्नड शिलालेखमें व्यवहृत हुआ है; यह शब्द मराठी साहित्यमें अकसर इस्तैमाल हुआ है, और यह आजकल भी मराठी तथा कोंकणी में व्यवहृत होता है; और इसके साथ लगे हुए अर्थ अपने दृढ सम्बंधको व्यक्त करते है। मुझे आशा है कि कुछ भाषाविज्ञानके जानकार इस शब्द पर और अधिक प्रकाश डालेंगे। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि 'गोम्मट' शब्दको दूसरे शब्द 'गुमट' आदिके साथ मिश्रित न करना चाहिये जो कि अनेक आधुनिक भारतीय भाषाओंमें 'गुम्मद' (cupola, dome, arch, vault) और 'गुम्मददार' छतो आदिके अर्थोंमें इस्तैमाल होता है। पिछला शब्द फार्सीके 'गुम्बद' 'गुम्मज' से बना है और इसका उच्चारण 'गुम्मट', 'घुम्ट' आदिके रूपमें किया जाता है।

'गोम्मटसार' की प्राकृत गाथाओंमें भी 'गोम्मट' शब्दका व्यञ्जन 'ट', 'ड' में नहीं बदला है। यह बात इस आधार पर कि यह चामुंडरायका व्यक्तिगत और प्रसिद्ध नाम था और उसी प्रकार जिनका नाम चालू रहा है, यह बात कुछ हद तक ठीक मानी जासकती है।

इस तरह मैं यह नतीजा निकालता हूं कि 'गोम्मट' 'चामुंडराय' का व्यक्तिगत नाम था; चूंकि उन्होंने बाहुबलिकी मूर्तिकी भक्तिपूर्वक प्रतिष्ठा कराई थी, इसलिये वह मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' कहलाने लगी; और अन्तमें 'नेमिचन्द्र' ने उनके लिये जो 'धवलादि' का सार तैयार किया, वह 'गोम्मटसार' कहलाया। अक्षरशः 'गोम्मट' शब्दका अर्थ है 'उत्तम' आदि।*

(अगली किरणमें समाप्त)

---

२४ E. C. II. २५१, ३४५, और २३४

२५ गोम्मटपुर गोम्मटसेहि इत्यादि देखो, E. C. II. का सूचीपत्र; गोम्मटदेव (कविचरिते १. १६६)।

२६ हेमचन्द्रका प्राकृतव्याकरण ८-४-२०७ और देशीनाममाला, २-९१,९३; तथा त्रिविक्रमका व्याकरण ३-१-१३१।

*यह लेख बम्बईके 'भारतीयविद्या' नामक षाण्मासिकपत्र (Vol. II Part I) में मुद्रित अंग्रेजी लेखपरसे अनुवादित हुआ है।

'मेरी भावना' का संस्कृतपद्यानुवाद

(उसी छंदमें)

[ले० पं० धरणीधर शास्त्री]

(१)

येन जिता रागद्वेषाद्याः सारोऽखिलजगतोऽज्ञायि।
सर्वेभ्यः प्राणिभ्यो येन च मुक्तिपथादेशोऽदायि॥
बुद्धं वीरं जिनं हरिं विधिमीशं वा तं स्वाधीनम्।
वदति यथारुचि जनस्तत्र मे भक्त्या स्याद् धृदयं लीनम्॥

(२)

विषयाशासु हि ये मुह्यन्ति न साम्यभावतः स्युर्धनिनः।
सततं स्वेन हितेन परेषां स्युर्मनुजा हितसाधनिनः॥
स्वार्थत्यागतपो दुष्करमपि विना खेदमाचरन्त्यहो[1]।
एवंभूताः ज्ञानिसाधवो जगद्दुःखमपहरन्त्यहो[1]॥

(३)

एतादृक् साधूनां संगे ध्याने चापि सदा मग्नम्।
तेषामिव शुभदिनचर्यायां चित्तं मे भूयाल्लग्नम्॥
कमपि न जीवं कदर्थयेयं कदाप्यसत्यं न वदेयम्।
परद्रव्यवनितासु न लुब्धस्तोषामृतमपि निपिबेयम्॥

(४)

अहंकारभावं न भरेयं कस्मैचिदपि न कुप्येयम्।
इतरोन्नतिमवलोक्य जातुचिन्नेर्ष्यां चेतसि कलयेयम॥
ईदृग् मम भूयाच्च भावना सत्यसरलव्यवहारः स्याम।
यावच्छक्यं नरजीवन इह मानवजात्युपकारः स्याम्॥

(५)

सर्वेष्वपि सत्वेष्विह सख्यं संसारे सततं मे स्यात्।
करुणाश्रोतो दीनदुःखिषु च हृदो वहेन्मम सदाशयात॥
क्रूरकुमार्गरतेषु जनेषु क्षोभलवोऽपि न मे प्रभवेत्।
साम्यभावना खलेष्वपि स्याद् हृत्परिणतिरीदृक्विकसेत्॥

(६)

गुणिनो वीक्ष्य चेतसि क्षिप्रं तरङ्गितः स्यात प्रेमाब्धिः।
यावच्छक्यं तत्सत्कृतिभिः स्यान्मे चेतः सुखलब्धिः॥
कृतघ्नता स्यान्मे न मानसं तिष्ठेन्मनसि न मे द्रोहः।
दृष्टिर्नो दोषेष्वपि भूयात्स्याद् गुणचयने हृन्मोहः॥

(७)

विदधतु निन्दामुतप्रशंसां श्रीरायायाद् वा यायात्।
लक्षाब्दायुः स्यामद्यैव प्राणा यान्त्वथवा कायात्॥
महाभयं लोभे वा बन्धुं यदि कश्चिज्जन उद्यच्छेत्।
तदपि न्यायमार्गतः स्वामिन् पदं जातु मे नहि गच्छेत्॥

(८)

नहि प्रमाद्येत् सुखविनिमग्नं दुःखे जातु न शुचं व्रजेत्।
पर्वततटिनीश्मशानभीषणकाननतोऽपि न भयं भजेत्॥
सदैव सुस्थिरमकंपमेतन्मनो मदीयं दृढतरमस्तु।
प्रियविरहे चाप्रियसंयोगे सहनशीलतां धरेददस्तु॥

(९)

केऽपि कदापि क्लिश्येयुर्नो जीवाः सर्वे सुखिनः सन्तु
वैरमघं मानं च त्यक्त्वा मंगलमत्र नरा गायन्तु॥
प्रतिसद्म स्याद् धार्मिकचर्चा दुष्करमस्तु च पापमलम्
कृत्वा ज्ञानचरित्रोत्कर्षं नर एतु स्वनृजन्मफलम्॥

(१०)

नेतिभीतिरस्तु क्षितिमध्ये वृष्टिः स्यात् समये शस्ते।
धर्मात्मानः स्यू राजानः प्रजान्यायकर्तारस्ते॥
रोगमारिदुर्भिक्षवर्जिता शांत्या कालं प्रजा नयेत्।
परमोऽहिंसाधर्मः प्रसरन् भुवि सकलं हितमाकलयेत्॥

(११)

प्रसरतु मिथः प्रेम किल "धरणौ" किंतु न मोहः संभूयात्।
परुषमप्रियं कटुमिह शब्दं नो कश्चिन्मनुजो ब्रूयात्॥
"युगवीरा" भूयान्तर्मनसा देशोन्नतिनिरताः प्रभवेम।
वस्तुरूपमवधार्य मुदा सह संकटदुःखसहा विकसेम॥

---

१ प्रथमपंक्तौ अहो आश्चर्यार्थे द्वितीयाया प्रशंसार्थम्।

मक्खन वालेका विज्ञापन

(एक मनोरंजक वार्तालाप)

पंडितजी—कहिये सेठजी ! अबकी बारका 'अनेकान्त' तो देखा होगा ? बड़ी सज-धजके साथ वीरसेवा-मन्दिरसे निकला है !

सेठजी—हाँ, कुछ देखा तो है, एक विज्ञापनसे प्रारम्भ होता है !

पंडितजी—कैसा विज्ञापन ! और किसका विज्ञापन ?

सेठजी—मुखपृष्ठ पर है न वह किसी मक्खन वालेका विज्ञापन ।

पंडितजी—अच्छा, तो अनेकान्तके मुखपृष्ठ पर जो सुन्दर भावपूर्ण चित्र है उसे आपने किसी मक्खनवालेका विज्ञापन समझा है ! तब तो आपने खूब अनेकान्त देखा है !

सेठजी—क्या वह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन नहीं है ?

पंडितजी—मालूम होता है सेठजी, व्यापारमें विज्ञापनोंसे ही काम रहनेके कारण, आप सदा विज्ञापनका ही स्वप्न देखा करते हैं ! नहीं तो, बतलाइये उस चित्रमें आपने कौनसी मक्खनवाली फर्मका नाम देखा है ? उसमें तो बहुत कुछ लिखा हुआ है, कहीं 'मक्खन' शब्द भी लिखा देखा है ? ऊपर नीचे अमृतचन्द्रसूरि और स्वामी समन्तभद्रके दो श्लोक भी उसमें अंकित हैं, उनका मक्खन वालेके विज्ञापनसे क्या सम्बंध ?

सेठजी—मुझे तो ठीक कुछ स्मरण है नहीं, मैंने तो उसपर कुछ गोपियों (ग्वालिनयों) को मथन-क्रिया करते देखकर यह समझ लिया था कि यह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन है, और इसीसे उस पर विशेष कुछ भी ध्यान नहीं दिया । यदि वह किसी मक्खनवालेका विज्ञापन नहीं है तो फिर वह क्या है ? किसका विज्ञापन अथवा चित्र है ?

पंडितजी—वह तो जैनीनीतिके यथार्थ स्वरूपका संद्योतक चित्र है, और हमारे न्यायाचार्यजीके कथनानुसार, 'जैन तत्त्वज्ञानकी तल-स्पर्शी सूझका परिणाम है' । यदि अनेकान्तदृष्टिसे उसे विज्ञापन भी कहें तो वह जैनीनीतिका विज्ञापन है—इस नीतिका दूसरोंको ठीक परिचय कराने वाला है—न कि किसी मक्खन वालेकी दुकानका विज्ञापन । उस पर तो 'जैनीनीति' के चारों अक्षर भी चार वृत्तोंके भीतर सुन्दर रूपसे अंकित हैं, जो ऊपर नीचे सामने अथवा बराबर दोनों ही प्रकारसे पढ़ने पर यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि यह चित्र 'जैनीनीति' का चित्र है । वृत्तोंके नीचे जो 'स्याद्वादरूपिणी' आदि आठ विशेषण दिये हैं वे भी जैनी नीतिके ही विशेषण हैं—मक्खनवालेकी अथवा अन्य फर्मसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है । (यह कह कर पंडितजीने झोलेसे अनेकान्त निकाला और कहा—) देखिये, यह है अनेकान्तका नववर्षाङ्क । इसमें वे सब बातें अंकित हैं जो मैंने अभी आपको बतलाई हैं । अब आप देखकर बतलाइये कि इसमें कहाँ किसी मक्खनवालेका विज्ञापन है ?

सेठजी—(चित्रको ग़ौरसे देखकर हैरतमें रह गये । फिर बोले—) मक्खनवालेका तो यह कोई विज्ञापन नहीं है । यह तो हमारी भूल थी जो हमने इसे मक्खनवालेका विज्ञापन समझ लिया । पर यह 'जैनीनीति' है क्या चीज़ ? और यह ग्वालिनीके पास क्यों रहती है ? अथवा क्या यह कोई जैन-देवी है, जो विक्रिया करके अपने वे सात रूप बना लेती है, जिन्हें चित्रमें अंकित किया गया है ? ज़रा समझा कर बतलाइये ।

पंडितजी—जिनेन्द्रदेवकी जो नीति है—नयपद्धति अथवा न्यायपद्धति है—और जो सारे जैनतत्त्वज्ञानकी मूलाधार एवं व्यवस्थापिका है उसे 'जैनीनीति'

कहते हैं। अनेकान्त-नीति और 'स्याद्वादनीति' भी इसीके नामान्तर हैं। यह ग्वालिनीके पास नहीं रहती, किन्तु ग्वालिनीकी मन्थन-क्रिया इसके रूपकी निदर्शक है, और इस लिये दूध-दही बिलोती हुई ग्वालिनीको इसका रूपक समझना चाहिये। और यदि इसे व्यक्तिविशेष न मान कर शक्तिविशेष माना जाय तो यह अवश्य ही एक जैनदेवता है, जो नयोंके द्वारा विक्रिया करके अपने सात रूप बना लेती है और इसीलिये 'विविध-नयापेक्षा' के साथ इसे 'सप्तभंगरूपा' विशेषण भी दिया गया है। वस्तु तत्त्वकी सम्यग्ग्राहिका और यथातत्त्व-प्ररूपिका भी यही जैनीनीति है। जैनियोंको तो अपने इस आराध्यदेवताका सदा ही आराधन करना चाहिये और इसीके आदेशानुसार चलाना चाहिये—इसे अपने जीवनका अंग बनाना चाहिये और अपने सम्पूर्ण कार्य-व्यवहारोंमें इसीका सिक्का चलाना चाहिये। इसकी अवहेलना करनेसे ही जैनी आज नगण्य और निस्तेज बने हैं। इस नीतिका विशेष परिचय 'अनेकान्त' सम्पादकने अपने 'चित्रमय जैनीनीति' नामक लेखमें दिया है, जो खूब ग़ौरके साथ पढ़ने-सुननेके योग्य है।

(यह कह कर पंडितजीने सेठजीको वह सम्पादकीय लेख भी सुना दिया।)

सेठजी—(पंडितजीकी व्याख्या और सम्पादकीय लेखको सुन कर बड़ी प्रसन्नताके साथ) पंडितजी, आज तो आपने मेरा बड़ा ही भ्रम दूर किया है और बहुत ही उपकार किया है। मैं तो अभीतक 'अनेकान्त' को दूसरे अनेक पत्रोंकी तरह एक साधारण पत्र ही समझता आरहा था और इसीलिये कभी इसे ठीक तौरसे पढ़ता भी नहीं था, परन्तु आज मालूम हुआ कि यह तो बड़े ही कामका पत्र है—इसमें तो बड़ी बड़ी गूढ़ बातोंको बड़े अच्छे सुगम ढंगसे समझाया जाता है।

पंडितजी—(बीचमें ही बात काटकर) देखिये न, इस नव-वर्षाङ्कमें दूसरे भी कितने सुन्दर सुन्दर लेख हैं—समन्तभद्रविचारमाला नामकी एक नई लेखमाला शुरू की गई है, जिसमें 'स्वपरवैरी कौन' इसकी बड़ी ही सुन्दर एवं हृदयग्राही व्याख्या है; तत्त्वार्थ-सूत्रके बीजोंकी अपूर्व खोज है, 'समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल' लेख बड़ा ही हृदय-द्रावक एवं शिक्षाप्रद है, 'भक्तियोग-रहस्य' में पूजा-उपासनादिके रहस्यका बड़े ही मार्मिक ढंगसे उद्घाटन किया है। दूसरे विद्वानोंके भी अनेक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक और सामाजिक लेखोंसे यह अलंकृत है; अनेकानेक सुन्दर कविताओंसे विभूषित है, और 'आत्मबोध' जैसी उत्तम शिक्षाप्रद कहानियाँ को भी लिए हुए है। इसकी 'पिंजरेकी चिड़िया' बड़ी ही भावपूर्ण है। और सम्पादकजीकी लेखनी से लिखी हुई एक आदर्श जैनमहिलाकी सचित्र जीवनी तो सभी स्त्री-पुरुषोंके पढ़ने योग्य है और अच्छा आदर्श उपस्थित करती है। ग़रज़ इस अंकका कोई भी लेख ऐसा नहीं जो पढ़ने तथा मनन करनेके योग्य न हो। उनकी योजना और चुनावमें काफी सावधानीसे काम लिया गया है।

सेठजी—मैं सब लेखोंको ज़रूर ग़ौरसे पढ़ूँगा, और आगे भी बराबर 'अनेकान्त' को पढ़ा करूँगा तथा दूसरों को भी पढ़नेकी प्रेरणा किया करूँगा साथ ही अब तक न पढ़ते रहनेका कुछ प्रायश्चित भी करूँगा—इस पत्रको कुछ सहायता ज़रूर भेजूंगा। बड़ी ही कृपा हो पंडितजी, यदि आप कभी कभी दर्शन देते रहा करें। आज तो मैं आपसे मिल कर बहुत ही उपकृत हुआ।

पंडितजी—मुझे आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई आपने मेरी बातोंको ध्यानसे सुना, इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ। यथावकाश मैं ज़रूर आपसे मिला करूँगा। अच्छा अब जानेकी इजाज़त चाहता हूँ।

(सेठजीने खड़े होकर बड़े आदरके साथ पंडितजीको बिदा किया और दोनों ओरसे 'जयजिनेन्द्र' का सुमधुरनाद हर्षके साथ गूंज उठा।)

—निजी संवाददाता

'अनेकान्त' पर लोकमत

७—प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए०, अमरावती

"अनेकान्तको पुनः जागृत हुआ पाकर मुझे बड़ी खुशी हुई, और उसे इतने सुन्दर सुसज्जित रूप में देख कर तो चित्त प्रसन्न होगया। संगृहीत सामग्री भी साहित्यिकोंके लिये खूब उपयोगी सिद्ध होगी। आशा और विश्वास है कि यह पत्रिका साहित्यिक श्रेष्ठता और सौजन्यताकी रक्षा करती हुई उत्तरोत्तर उन्नतिशील होगी।"

८ पं० वंशीधरजी जैन व्याकरणाचार्य, बीना—

"अनेकान्तके विशेषांकका अध्ययन किया। आपके सम्पादनकी ही यह विशेषता है कि अनेकान्त इतना महत्वपूर्ण और विद्वानोंका आकर्षक बना हुआ है। विशेषांकके सभी लेख गणनाकी कोटिमें आनेके योग्य हैं। आपकी 'समन्तभद्र-विचारमाला' नामकी लेखमालासे स्वामी समन्तभद्रके विचारोंका महत्वपूर्ण दिग्दर्शन होगा। 'विवाह और हमारा समाज' नामक लेख समाजके प्रत्येक व्यक्तिके लिए पठनीय है। उसमें सामाजिकदृष्टिसे काफी संग्रहणीय सामग्री रक्खी गई है।"

९ पं० के० भुजबली जी जैन शास्त्री, आरा—

"अनेकान्तका विशेषांक अच्छा निकला है। 'तत्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' 'श्रीचंद्र और प्रभाचंद्र' 'गोम्मटसारकी जीवतत्वप्रदीपिका टीका उसका कर्तृत्व और समय' आदि कतिपय लेख महत्वपूर्ण हैं।"

१० बाबू सुमेरचन्दजी कौशल बी० ए०, सिवनी—

विविध-विषय-विभूषित 'अनेकान्त' का 'नववर्षांक' संग्रहणीय है। ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक और गवेषणापूर्ण लेखोंके सिवाय साहित्यिक और सामाजिक लेखोंका भी संग्रह किया गया है। सर्वसाधारणके लिये यह वांछनीय तथा उपयोगी भी है। मुखपृष्ठका चित्र स्याद्वाद (अनेकान्त) सिद्धान्तका पूर्ण परिचायक है। 'अनेकान्त' की अस्थिर अवस्था को सुस्थिर बनाना जैन समाजका कर्तव्य है। दानशील महानुभावोंको इस ओर लक्ष्य देकर जैन-साहित्य तथा धर्मप्रचारमें हाथ बटाना चाहिये। आशा है 'अनेकान्त' एकान्तके अज्ञानके विनष्ट करने, जैन इतिहास और साहित्यकी खोज करने तथा साहित्य और समाज सेवाके अपने अनुष्ठानमें अभूत-पूर्व सफलता प्राप्त करेगा।"

११ सिंघई नाथूरामजी, ललितपुर—

"'अनेकान्त' को अवलोकन करनेसे ज्ञात हुआ कि उसमें जो संग्रह है वह उपादेय है। समाजमें ऐसे ही उत्तम पत्रोंकी आवश्यकता है जो सामाजिक झगड़ोंसे दूर रह कर समाजसेवामें अग्रसर रहें और समाजोत्थानको अपना लक्ष्यबिन्दु बनाकर उसीमें तन्मय रहें ऐसे ही श्रेष्ठपत्रोंसे समाजसुधार होनेकी पूर्ण संभावना है। समाज प्रेमियों। ऐसे पत्रके ग्राहक होनेमें ज़रा सा भी विलम्ब नहीं करना चाहिये।"

१२ पं० दौलतराम जी जैन 'मित्र', इन्दौर—

"अनेकान्तका विशेषांक मिला मुखपृष्ठ पर 'जैन नीति' का जो चित्र अंकित किया गया है वह अपने विषयको स्पष्ट करनेवाला तो था ही, फिर भी समन्तभद्र विचारमालाके 'स्वपरवैरी कौन'? नामक

मणिकाने ऊपरसे और भी प्रकाश डाल कर उसे मनोहर बना डाला है। इस प्रकाशमें 'जैनीनीति' क्या है यह बात हर एक समझदारकी समझ अच्छी तरह समझ सकेगी, संतुष्ट हो जायगी, और पंडितजनों के प्रति उसे यह शिकायत न रहेगी कि—

वाइज़की हुज्जतोंसे क़ायल तो होगए हम।
कोई जवाब शाफ़ी पर उनसे बन न आया॥

कई वर्षोंसे जबसे मैंने गीता पढ़ी या समझी है, मेरे मनमें "गीताके बीज जिनागममें है" इस समझने और "वे बीज इकट्ठे होकर देखनेको मिल जायँ" इस इच्छाने घर कर रक्खा है। तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज" देखकर मेरी यह इच्छा भी सफल होनेकी आशासे कूदने लगी है। भगवान भला करे भाई परमानन्द या उन जैसा कोई सरस्वतीका लाल इधर भी मुंह करले—गीताके ईश्वरसृष्टिकर्तृत्ववादको छोड़कर शेष प्रायः सभी विषयोंकी सामग्री जिनागम से इकट्ठी करके उसे गीता जैसे रूपमें खड़ी करदे। सचमुच उस दिन मैं फूलकर कुप्पा हो जाऊँगा।"

१३ बा० कृष्णलालजी जैन, जोधपुर—

"सम्पादकजी महोदय मुझे अनेकान्तको देख कर उसकी चमक दमकसे कहीं ज्यादा उसके अन्दरके विषय व उनपरका विवेचन प्रिय व सुन्दर मालूम पड़ा—उसके अन्दरकी कविताएँ सरल मनोरंजक निर्विवाद उपयोगी जान पड़ीं कि जो प्रायः पत्र-पत्रिकाओंमें कम मिलती है। अक्सर पाण्डित्यके आवेशमें निरर्थक शब्दाडम्बरकी रचना ही देखी जाती है। खोजके लेख जैन तामिलभाषाका जैन साहित्य, इलोरा सम्बन्धी व चन्द्रगुप्त सम्बन्धी लेख भी सराहनीय हैं। अहिंसाका विवेचन भी तात्त्विक है·········· आपके अंकको देखकर मुझे विशेष हर्ष तो यह होता है कि आपका समाज श्वेताम्बरी समाजकी तरह विद्या-विवेचन-विचारमें साधुवर्गका मुखापेक्षी नहीं है। स्वयं विचारशील है। और गार्हस्थ्यधर्मके व्यवहार पर एवं धार्मिक सिद्धान्तों पर खुद सोच समझ सकता है, हांका नहीं जा सकता। यद्यपि अनेकान्तके नामके आगे सांप्रदायिकता टहर नहीं सकती। और आपके लेखोंमें जैनसम्प्रदायकी झलक आती है। तो भी मैं स्वीकार करूंगा कि लेखों का दृष्टिकोण बहुत उदार व विशाल है यदि आपके सब अंक ऐसे ही साहित्यिक रचनाओंसे अंकित होते हैं और यह विशेषांक ही एक नमूनामात्र न हो तो मैं आपको पत्रके सम्पादनके लिए बधाई दिये बगैर रह नहीं सकता।

टाइटिलपेजपर जो चित्र दिया गया है वह वाकई बहुत सुन्दर और मौलिक और सैद्धान्तिक है।

सूचना

सम्पादकजीके अचानक कलकत्ता चले जाने और उधर कई दिन लग जानेके कारण 'समन्तभद्र विचारमाला' का तीसरा लेख तथा 'कविराजमल्ल और राजा भारमल्ल' लेखका उत्तरभाग इस अंकमें नहीं दिया जा सका। पाठक महानुभाव उनके लिये अगले अंककी प्रतीक्षा करें।

प्रकाशक 'अनेकान्त'

वीरसेवामन्दिरको सहायता

श्रीमती माताजी बा० छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ताने 'वीरसेवामन्दिर'को उसकी लायब्रेरीमें कुछ शास्त्रोंके मंगानेके लिये २००) रु० की सहायता प्रदान की है। इसके लिये श्रीमतीजी विशेष धन्यवादकी पात्र हैं।

अधिष्ठाता, वीरसेवामन्दिर
सरसावा जि० सहारनपुर

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं: –

* १२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता
  १०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
  १०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
  १००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
* १००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
* १०० बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी जैन कलकत्ता।
  १००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
  १००) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
  १००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
  १००) बा० जैभगवानजी वकील आदि जैन पंचान, पानीपत।
* ५०) ला० दलीपसिंह कागजी और उनकी मार्फत, देहली।
  २५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई।
* २५) ला० रूड़ामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
* २५) बा० रघुवरदयालजी जैन, एम. ए. करोलबाग देहली।
* २५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
  २५ ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा जि० मुजफ्फरनगर।
  २५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन, सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

नोट—जिन रकमोंके सामने * यह चिन्ह दिया गया है वे पूरी प्राप्त हो चुकी हैं।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनुकरणीय

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्गोंमेंसे दूसरे मार्गका अवलम्बन लेकर जिन सज्जनोंने पहले सहायता भिजवाई थी और जिसकी सूचना अनेकान्तकी गतकिरणमें निकल चुकी है, उसके बाद जिन सज्जनोंने और सहायता भिजवाकर अनुकरणीय कार्य किया है, उनके शुभनाम सहायताकी रकम सहित इस प्रकार हैं: –

१०) ला० मित्रसैनजी रिटायर्ड मुंसरिम सिविलकोर्ट, मुजफ्फरनगर (चारको एक साल तक अनेकान्त विना मूल्य देनेके लिये)।

२०) बा० देवेन्द्रकुमारजी सुपुत्र और श्रीमती शकुन्तलादेवी जी सुपुत्री साहूरामस्वरूप जैन रईस, नजीबाबाद।
(बा० देवेन्द्रकुमारजीके आरोग्यलाभके उपलक्ष्यमें ८ संस्थाओं तथा व्यक्तियोंको अनेकान्त एक सालतक विना मूल्य भिजवानेके लिये)

२॥) ला० फेरूमल चतरसैनजी जैन, वीर स्वदेशीभंडार सरधना (मेरठ), जिन्होंने १०) पहले भी प्रदान किये थे (एक व्यक्तिको एक साल तक अनेकान्त विना मूल्य भेजनेके लिये)

२८ विद्यार्थियोंको अनेकान्त अर्धमूल्यमें

प्राप्त हुई सहायताके आधार पर २८ विद्यार्थियोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक अर्धमूल्यमें दिया जाएगा, जिन्हें आवश्यकता हो उन्हें शीघ्र ही १॥) रु० मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक होजाना चाहिये। जो विद्यार्थी उपहारकी पुस्तकें, समाधितंत्रसटीक और सिद्धिसोपान भी चाहते हों उन्हें पोस्टेजके लिये चार आने अधिक भेजने चाहियें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

मुद्रक और प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीर सेवामन्दिर, सरसावाके लिये
श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तवके प्रबन्धमें श्रीवास्तव प्रिंटिंग प्रेस, सहारनपुरमें मुद्रित।

विषय-सूची

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रक़म देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओंको अनेकान्त फ्री (बिना मूल्य) या अर्ध-मूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्त के पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देनेवालोंकी ओरसे प्रत्येक दस रुपयेकी सहायता के पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्ध-मूल्यमें भेजा जा सकेगा।)

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरों पर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषांक निकाल सके, उपहार ग्रंथोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दे सके। स्वतः अपनी ओरसे उपहार-ग्रन्थोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना और कराना।

—सम्पादक 'अनेकान्त'

'ग्रीष्म-परीषह-जय'

श्रीमान बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता के सौजन्यसे प्राप्त

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर | मई
किरण ४ | ज्येष्ठ, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९८ | १९४१

जिनकल्पी अथवा दिगम्बर साधुका—

ग्रीष्म-परीषह-जय

ग्रीषमकी ऋतुमाँहि जल थल सूख जाहि, परत प्रचंड धूप आगिसी बरत है।
दावाकीसी ज्वालमाल बहत बयार अति, लागत लपट कोऊ धीर न धरत है॥
धरती तपत मानों तवासी तपाय राखी, बड़वा-अनल-सम शैल जो जरत है।
ताके शृंग शिलापर जोर जुग पाँव धर, करत तपस्या मुनि करम हरत है॥

—कविवर भगवतीदास

भूख-प्यास पीड़ै उर अंतर, प्रजलै आँत देह सब दागै।
अग्निसरूप धूप ग्रीषमकी, ताती बाल झालसी लागै॥
तपै पहार ताप तन उपजै, कोपै पित्त दाह ज्वर जागै।
इत्यादिक ग्रीषमकी बाधा, सहत साधु धीरज नहीं त्यागै॥

सूखहिं सरोवर जल भरे, सूखहिं तरंगिनि-तोय।
बाटहि बटोही ना चलैं, जहँ घाम गरमी होय॥
तिहँकाल मुनिवर तप तपहिं गिरि-शिखर ठाड़े धीर।
ते साधु मेरे उर बसो मेरी हरहु पातक पीर॥

—कविवर भूधरदास

जगत किसकी मुद्रासे अंकित है ?

नो ब्रह्माङ्कितभूतलं न च हरेः शम्भोर्न मुद्राङ्कितं,
नो चन्द्रार्क-कराङ्कितं सुरपतेर्वज्राङ्कितं नैव च ।
षड्वक्त्राङ्कित-बुद्धदेव-हुतभुग्यक्षोरगैर्नाङ्कितं,
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्र-मुद्राङ्कितम् ॥ ११ ॥
मौञ्जी-दण्ड-कमण्डलु-प्रभृतयो नो लाञ्छनं ब्रह्मणो-
रुद्रस्यापि जटा-कपाल-मुकुटं कोपीन-खट्वाङ्गनाः ।
विष्णोश्चक्र-गदादि-शङ्खमतुलं बुद्धस्य रक्ताम्बरं,
नग्नं पश्यत वादिनो जगदिदं जैनेन्द्रमुद्राङ्कितम् ॥ १२ ॥

—अकलंकस्तोत्र

यह जगत ब्रह्माकी मुद्रासे अंकित नहीं है—ब्रह्मा नामके लोकप्रसिद्ध विधाताकी कोई मुहर अथवा छाप इस जगत पर लगी हुई नहीं है; ब्रह्माकी मुद्रा मौञ्जी-दण्ड-कमण्डलु आदिके रूपमें मानी जाती है, वह किसी भी प्राणीके शरीर पर जन्मकालसे अंकित नहीं है। विष्णुकी मुद्रासे भी यह जगत मुद्रित नहीं है—विष्णु नामके लोकमान्य विभुकी जो मुद्रा चक्र-गदा-शंखादिकके रूपमें मानी जाती है उसकी भी कोई छाप इस जगतके प्राणिवर्गपर पड़ी हुई नहीं है। शंभुकी मुद्रासे भी यह जगत अंकित नहीं है—शंभु नामके रुद्र अथवा लोकप्रसिद्ध महादेव नामके ईश्वरकी जो मुद्रा जटा-कपाल मुकुट-कौपीन-खट्वा-अंगना-रुण्डमालादिके रूपमें मानी जाती है उसकी छापसे भी जगतके प्राणियोंका शरीर उत्पत्तिकालमें चिन्हित नहीं है। चन्द्रमा और सूर्यकी किरणोंसे भी यह जगत अंकित नहीं है—चंद्रमा और सूर्य लोकमें देवता माने जाते हैं, प्रभु समझकर पूजे जाते हैं, उनकी किरणोंका जो रूप है वही उनकी मुद्रा है, उसकी भी कोई छाप जगतके प्राणियोंके शरीर पर नहीं पाई जाती, वे उसे लिये हुए उत्पन्न नहीं होते। सुरपति (इन्द्र) के वज्रसे भी यह जगत अंकित नहीं है—इन्द्र नामका जो लोक प्रसिद्ध देव है, उसकी मुद्राका प्रधान अंग वज्र है उससे भी इस जगतके प्राणियोंका शरीर चिन्हित नहीं है। षट्वक्त्र नामका जो कार्तिकेय देव है उसकी षण्मुखी मुद्रासे भी यह जगत् अंकित नहीं है। बुद्धदेवकी रक्ताम्बरी मुद्रासे भी यह जगत अंकित नहीं है। इसी तरह अग्नि, यक्ष और उरग (शेषनाग) नामके देवोंकी मुद्रासे भी यह जगत अंकित नहीं है। हे वादियो!—विभिन्नमतोंके शिक्षको!—देखो, यह जगत नग्न है—प्राणिवर्ग अथवा जनसमूह नग्नरूपसे ही उत्पन्न होता है—और 'नग्नमुद्रा' जिनेन्द्रकी है, इस लिये यह सारा जगत जिनेन्द्रदेवकी मुद्रासे अंकित है—जिनेन्द्रदेवके सिक्केकी छाप जन्मसे ही सबके शरीरों पर पड़ी हुई हैं। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि जिनेन्द्रदेव महाप्रभु हैं, उनका सिक्का सर्वत्र प्रचलित है और इस लिये उन्हें भुलाना—उनके शासनसे विमुख होना किसी तरह भी उचित नहीं है। यही महत्वका चोजभरा भाव अकलंकदेवके उक्त दोनों पद्योंमें समुच्चय रूपसे संनिहित है।

जीवनमें अनेकान्त

[लेखक श्री अजितप्रसाद जैन, एम० ए०, एडवोकेट]

अनेकान्त-सिद्धान्त, जिसका मूल सद्दृष्टि है, केवल धर्मपुस्तकोंमें ही बन्द नहीं रहना चाहिये और न उसका उपयोग केवल वाद-विवाद अथवा शास्त्रार्थ तक ही सीमित रखना चाहिये। श्रावकोंको गृहस्थके सब कामोंमें उठते-बैठते, खाते-पीते, घरमें-घरसे बाहर, दुकान पर, दफ्तरमें, कचहरीमें, बाजारमें हर स्थान और हर अवसर पर अनेकान्तका आश्रय लेना चाहिये। अन्धविश्वाससे देखादेखी बेसमझे काम करना, रूढि अथवा फैशनका गुलाम बनना है और वह सद्दृष्टि न होकर अकर्मण्यता है।

परीक्षा-प्रधानी होना श्रावकका परम कर्तव्य है। अतः श्रावककी दैनिक क्रियाओं पर गवेषणापूर्ण स्वतंत्र विचार करना आवश्यक है, जिससे श्रावकका दैनिक कार्यक्रम अनेकान्तकी—सद्दृष्टिकी—कसौटी पर कसा जाकर सच्चा और महत्वपूर्ण होसके।

श्रावकके षट् आवश्यक कर्मोंमें प्रथम ही देवपूजा है। श्रावकको सबसे पहले देवका और फिर पूजाका ठीक अर्थ समझना चाहिये।

श्रावकों-द्वारा पूज्य देवका मतलब ऐसे साधारण देवतासे नहीं है जिसको कुछ चढाकर, स्तुति पढकर, नमस्कार करके खुश किया जाय, और खुश करके उससे अपना मतलब गांठा जाय, मुँह-मांगी मुराद पूरी की जाय। अथवा जिसको बीमारीके दूर करने, स्कूल-कालिज-पाठशाला-विद्यालयकी परीक्षामें उत्तीर्ण होने, व्यापारमें-सट्टेमें रुपया कमाने, सन्तति प्राप्ति करने, या मुकद्दमा जीतनेके लिये पूजा जाय।

जिनेन्द्र भगवान श्रीअर्हन्तदेवकी या उनके प्रतिबिम्बकी पूजा एकान्ततः किसी व्यक्तिविशेषकी पूजा नहीं है, वह प्रायः शक्तिकी पूजा, गुणकी पूजा, आप्तपुरुषकी पूजा अथवा परमात्माकी पूजा है। और पूजासे अभिप्राय गुणानुरागपूर्वक तद्गुणकी प्राप्ति, आत्मगुणोंका विकास और कर्मबन्धनसे मुक्ति है। संसार-सुख, स्वर्ग-सुख पूजाका ध्येय नहीं है, वह तो पूजाद्वारा पुण्योपार्जनसे स्वयं ही होजाता है। दर्शन-पूजा एवं स्तुतिपाठके ध्येयका नमूना कविवर बुधजनजीने यह कहकर दिखाया है—

जाचूं नहीं सुरवास, पुनि नरराज, परिजन साथजी।
बुध जाच हूं तुम भक्ति भव भव दीजिये शिवनाथजी॥

पूजक अपने आराध्य परमात्मासे केवल यही चाहता है कि जन्म-जन्ममें उसको परमात्मपदकी भक्ति प्राप्त हो, जो परमात्मपदकी प्राप्तिका मुख्य साधन है। सन्तानकी लालसा, अधिकारकी प्राप्ति, स्वर्गके भोगोंकी वांछासे वह पूजा नहीं करता है। कविवर दौलतरामजीने भी ऐसा ही कहा है—

मेरे न चाह कछु और ईश
रत्नत्रय निधि दीजे मुनीश।

इस तात्त्विक भावको भूलकर लोग एकान्त व्यवहारपक्षमें इतने लिप्त होगये कि पूजाफलमें—

'सुख-धन-जस-सिद्धिः, पुत्रपौत्रादि-वृद्धि।
सकल-मनस-सिद्धि, होत है ताहि रिद्धि॥'

को प्रधानता देदी गई! और सांसारिक उद्देश्य ही पूजाका एक मात्र ध्येय बन गया है!!

यह सब जानते हैं कि लोग रोग, दुःख तथा कष्टकी शान्तिके लिये शान्तिनाथ भगवानकी पूजा बोलते, करते और करवाते हैं। जयपुर राज्यस्थ चांदनगांवके महावीरजी ऐसे ही रिद्धि-सिद्धि-दायक मशहूर होजानेकी वजहसे पुजे जाते हैं, और इसी कारणसे महावीरजी पर महावीरजयन्तीके धर्मोत्सवने बड़े मेलेका रूप धारण कर लिया है। और इस वर्षके मेलेमें तो वहां खूब गाली-गलौज, मारपीट, पुलिस और तहसीलदारके हस्तक्षेप तककी नौबत आगई है,

यह बड़े ही खेदका विषय है ! वीतरागदेवकी उपासनाका यह कितना विचित्र और बेढंगा प्रदर्शन है !!

जिनेन्द्रदेवके दर्शन और पूजनकी भावनामें इस प्रकार विकार आजाने और एकान्त पर ज़ोर देनेका यह नतीजा हुआ कि लोग जैनियोंको भी पत्थर-पूजक कहने लगे ! इसी प्रकार, बे-सोचे-समझे अनेक रीति-रिवाज दर्शन पूजनके सम्बन्धमें प्रचलित होगये हैं। कुछ लोगोंने यह प्रथा चला दी कि जिनेन्द्रदेवका दर्शन-पूजन रिक्त हस्त या नंगे सिर करनेमें दोष लगता है; तथा दर्शन-पूजन बहु मूल्य द्रव्यों—वस्त्राभूषणोंसे इन्द्रके समान सज-धज कर और भगवानके समक्ष भेंट करके करना चाहिये। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्री-पुरुष शृङ्गार करके और भांति भांतिके व्यंजन थालोंमें सजाकर दर्शन-पूजनके लिये जाते हैं। और वीतरागताके स्थान पर खूब शृङ्गार तथा सम्पत्तिकी नुमायश होती है। भगवानकी पूजा-स्तुतिका फल वहां वैराग्यभावोंकी उत्पत्ति न होकर तबलेकी थाप, सारंगीके बोल, हारमोनियमके सुर, तान, आलाप और समके मेज़में नाचरंगकी महफिलका समां बँध जाना होता है। जैनमन्दिरोंमें रामलीला, जन्माष्टमी तथा रामनौमीका रंग जम जाता है।

इस प्रकारका एकान्त ज़ोर पकड़ता जाता है, वीतरागता पर सरागताकी गहरी पुट चढ़ती जाती है और सर्वत्र अपने ध्येयसे च्युति ही च्युति नज़र आती है। अतः जैन जनताको शीघ्र ही इस विषयमें सावधान होना चाहिये।

कब वे सुखके दिन आएँगे ?

[श्री पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित']

इस उजड़े भारत – उपवनमें,
पतझड़का क्या अंत न होगा ?
कण-कणको विकसानेवाला—
क्या वह मधुर वसन्त न होगा ?
शाखाओं–पत्तोंसे पक्षी कब मञ्जुल स्वर बिखराएँगे ?
कब वे सुखके दिन आएँगे ?

घोर निराशा – महानिशाका,
दूर अँधेरा कब तक होगा ?
अन्तर-तममें ज्ञान-इन्दुका—
शुभ्र उजाला कब तक होगा ?
मुरझाये मन-मानस-सरके कमल प्रफुल्लित हो पाएँगे !
कब वे सुखके दिन आएँगे !

तप्त-हृदय वसुधा - माताकी—
करनेको शीतल, कृश-काया:
ग्रीष्म बीते, वर्षा होगी—
बन कर क्या न मेघकी माया !
उल्लासों आह्लादके बादल, निर्झर बन: झर-झर जायेंगे !
कब वे सुखके दिन आएँगे ?

पराधीनके, चिर - बन्दीके :
कट जाएँगे कब तक बन्धन !
अमर - शहीदोंका भारतके—
गाएगा कब जग, अभिनन्दन !
राष्ट्र-प्रेमकी सुख-गङ्गामें, मनकी लहरें छलकाएँगे !
कब वे सुखके दिन आएँगे ?

एक-एक कर मिट जाएँगे, कब तक ये दुर्भाव हमारे,
हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई—भारत-माताके सुत सारे।
आज़ादीकी मञ्जु-लता पर, भृङ्ग 'प्रफुल्लित' मँडरायेंगे !
कब वे सुखके दिन आएँगे ?

कवि राजमल्लका पिंगल और राजा भारमल्ल

[सम्पादकीय]

(२)

अनेकान्त की गत दूसरी किरणमें कविराजमल्लके 'पिंगल' नामक छंदोविद्या-ग्रंथका कुछ परिचय देते हुए यह बतलाया गया था कि यह ग्रंथ राजा भारमल्लके लिये लिखा गया है और इसमें उनका कितना ही ऐतिहासिक परिचय छंदोंके लक्षणों तथा उदाहरणोंमें खण्डशः पाया जाता है। इस लेखमें राजा भारमल्लके परिचय-सम्बन्धमें सिर्फ इतना ही प्रकट किया गया था कि वे नागौरी तपागच्छ की आम्नायके एक सद्गृहस्थ थे*, वणिक्संघके अधिपति थे, 'राजा' उनका सुप्रसिद्ध विशेषण था, श्रीमालकुलमें उन्होंने जन्म लिया था, 'रांक्याणि' उनका गोत्र था और वे 'देवदत्त' के पुत्र थे। आज इस लेखमें राजा भारमल्लका कुछ अन्य ऐतिहासिक परिचय भी संक्षेपमें संकलित किया जाता है जो उक्त पिंगलग्रंथ परसे उपलब्ध होता है। साथमें यथावश्यक कुछ परिचय वाक्योंको भी उद्धृत किया जाता है, और इससे उक्त पिंगलग्रंथमें वर्णित छंदोंके कुछ नमूने भी पाठकों के सामने आजाएँगे और उन परसे उन्हें इस ग्रंथकी साहित्यिक स्थिति एवं रचना-चातुरी आदिका भी कितना ही परिचय सहज हीमें प्राप्त हो जायगाः—

(१) भारमल्लके पूर्वज 'रंकाराउ' थे, वे प्रथम भूपाल थे, पुनः श्रीमाल थे, श्रीपुरपट्टणके निवासी थे, फिर आबू देशमें गुरुके उपदेशको पाकर श्रावकधर्मके धारक हुए थे, धन-धर्मके निवास थे, संघके तिलक थे और सुरेन्द्रके समान थे उन्हींकी वंश-परम्परामें धर्मधुरंधर राजा भारमल्ल हुए हैं—

पढमं भूपालं पुणु सिरिमालं सिरिपुरपट्टणवासु,
पुणु आबूदेसिं गुरुउवएसिं सावयधम्मणिवासु।
धणधम्महणिलयं संघहतिलयं रंकाराउ सुरिंदु,
ता वंसरंपर धम्मधुरंधर भारहमल्ल णरिंदु ॥११॥

(२) भारमल्लकी माताका नाम 'धरमो' और स्त्रीका नाम 'श्रीमाला' था, इस बातको कविराजमल्ल एक अच्छे अलंकारिक ढंगमें व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

स्वाति बुंद सुरवर्ष निरंतर, संपुट सीपि धमो उदरंतर।
जम्मो मुकताहलभारहमल, कंठाभरणसिरीअवलीवल।

इसमें बतलाया है कि सुर (देवदत्त) वर्षाकी स्वातिबूंद को पाकर धरमोके उदररूपी सीपसंपुटमें भारमल्लरूपी मुक्ताफल उत्पन्न हुआ और वह श्रीमालाका कण्ठाभरण बना। कितनी सुन्दर कल्पना है!

(३) भारमल्लके पुत्रोंमें एकका नाम 'इन्द्रराज' और दूसरेका 'अजयराज' था—

इन्द्रराज इन्द्रावतार जसुनंदनु दिट्ठं,
अजयराज राजाधिराज सवकज्जगरिट्ठं।
स्वामी दास निवासु लच्छिबहु साहिसमाणं,
सोयं भारहमल्ल हेम-हय-कुंजर-दानं ॥ १३१ ॥

इन दोनों पुत्रोंके प्रतापादिका कितना ही वर्णन अनेक पद्योंमें दिया है। और भी लघुपुत्र अथवा पुत्रीका कुछ उल्लेख जान पड़ता है परन्तु वह अस्पष्ट हो रहा है।

(४) राजा भारमल्ल नागौरमें एक बहुत बड़े कोट्याधीश ही नहीं किन्तु धनकुबेर थे, ऐसा मालूम होता है। आपके घरमें अटूट लक्ष्मी थी, लक्ष्मीका प्रवाह निरन्तर

---

* आपके सहयोगसे तपागच्छ वृद्धिको प्राप्त हुआ था, ऐसा निम्न वाक्यसे स्पष्ट जाना जाता है—

जलणिहि उवमाणि श्री तपानामगच्छिं।
हिमकर जिम भूपा भूपती भारमल्लः ॥

वीरशासन-जयन्ती और हमारा कर्तव्य
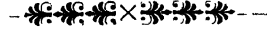
अहिंसाके अवतार वीरप्रभुकी शासन-जयन्ती अथवा उनके तीर्थप्रवर्तनकी वह पुण्य तिथि निकट आरही है जिस दिन आशा और प्रतीक्षाके हिंडोलेमें झूलती हुई पीड़ित एवं मार्गच्युत जनताने बड़े हर्षके साथ वीरका वह सन्देश सुना जिसने उन्हें दुःखोंसे छूटनेका मार्ग बताया, दुःखकी कारणीभूत भूलें सुझाईं, वहमोंको दूर किया, यह स्पष्ट करके बतलाया कि सच्चा सुख अहिंसा और अनेकान्तदृष्टिको अपनाने में है, समताको अपने जीवनका अंग बनानेमें है, अथवा बन्धनसे—परतंत्रतासे—विभावपरिणतिसे छूटने में है। साथ ही, सब आत्माओंको समान बतलाते हुए, आत्मविकासका सीधा तथा सरल उपाय सुझाया और यह स्पष्ट घोषित किया कि अपना उत्थान और पतन अपने ही हाथमें है, उसके लिये नितान्त दूसरों पर आधार रखना, सर्वथा परावलम्बी होना अथवा दूसरोंको दोष देना भारी भूल है। इसीसे इस तिथि का सर्वसाधारणके हित एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध है। जबकि अन्य कल्याणक तिथियाँ व्यक्ति-विशेषके उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती हैं।

यह पुण्यतिथि, जिस दिन प्रातःकाल सूर्योदयके समय सर्वप्रथम वीर भगवानकी वाणी विपुलाचल पर्वतपर खिरी, श्रावण कृष्णा प्रतिपदा है जो इस वर्ष ता० ९ जुलाई सन् १९४१ को बुधवारके दिन अवतरित हुई है। इस तिथिका प्राचीन भारतवर्षकी वर्षारम्भतिथि और युगादितिथि होने आदिके रूप में दूसरा भी कितना ही महत्व है जो वर्षोंसे 'अनेकान्त' आदि पत्रोंमें प्रकट किया जारहा है, यहां उस की पुनरावृत्तिकी जरूरत नहीं। इस समय वीर-शासन-जयन्तीके सम्बन्धमें हमें अपने कर्तव्यको समझना चाहिये। वह कर्तव्य श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन प्रभातफेरी निकालने, जलूस निकालने, सभा करके व्याख्यान देने-दिलाने और भगवान महावीर का गुणगान करने अथवा उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेका प्रदर्शन करनेमें ही समाप्त न होजाना चाहिये; बल्कि हमें उनके सत्शासनका विचार कर उसे अपने जीवनमें उतारनेके लिये कुछ-न-कुछ अमली जामा पहनानेका भरसक यत्न करना चाहिये, उनके नक्शेकदम पर चलनेका आयोजन करना चाहिये और दृढ संकल्पके साथ ऐसी प्रतिज्ञाएँ करनी चाहियें जिनसे यह जाहिर होता हो कि हमने अन्य दिनोंकी अपेक्षा कुछ खसूसियतके साथ (विशेषतापूर्वक) उस दिन वीरशासन पर अमल करना प्रारम्भ कर दिया है। साथ ही, वीर प्रभुके उपदेशकी जो धरोहर हमारे पास है और जिसे सारी जनताको बाँटनेके लिये उन्होंने वसीयत की थी, उसे सबको बाँट देना चाहिये—जिनवाणीका सर्वत्र और सारी जनतामें प्रचार हो, ऐसा आयोजन सामूहिक तथा व्यक्तिगतरूपसे करना चाहिये। इन दोनों कार्यों को करके ही हम वीर भगवान और उनके शासनके प्रति अपने कर्तव्यका ठीक पालन कर सकेंगे और दोनोंके सच्चे भक्त तथा अनुयायी कहे जा सकेंगे। विना तदनुकूल आचरण और श्रद्धापूर्वक प्रचार-कार्य के कोई सेवा-भक्ति नहीं बनती और न जयन्तीका मनाना ही सार्थक कहा जा सकता है।

आशा है इस समयोचित सूचना पर पूर्ण ध्यान देकर हमारे भाई इस वर्षकी शासन-जयन्तीको पहले से अधिक सार्थक बनानेका प्रयत्न करेंगे। इस दिशा में किये गये उनके प्रयत्नों एवं नियमों आदिकी सूचनाका हृदयसे अभिनन्दन किया जायगा।

निवेदक—

जुगलकिशोर मुख्तार,

अधिष्ठाता—वीरसेवा मन्दिर, सरसावा

क्या 'तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय' में तत्त्वार्थसूत्रके बीज हैं?

[लेखक—आचार्य चंद्रशेखर शास्त्री, M. O. Ph., H. M. D.]

नेकान्त वर्ष ४ किरण १ में पं० परमानंद जी शास्त्रीने तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी विद्वत्तापूर्ण खोज उपस्थित करते हुए प्रसिद्ध विद्वान पंडित सुखलालजीके तत्त्वार्थसूत्र एवं उसके कर्ताके विषयमें मत-परिवर्तन का उल्लेख किया है। साथ ही यह बतलाया है कि पं० सुखलालजी पहिले तो आचार्य उमास्वतिको दिगम्बर या श्वेताम्बर सम्प्रदायी न मानकर जैन समाजका एक तटस्थ विद्वान मानते थे, किन्तु स्थानकवासी मुनि उपाध्याय आत्मारामजीके तयार किये हुए "तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय" नामक ग्रन्थके प्रकाशित होनेके बादसे उन्होंने अपना मतपरिवर्तन करके उनको श्वेताम्बर मानना आरंभ कर दिया है।

पंडित सुखलाल और पंडित बेचरदास दोनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध विद्वान हैं। श्वेताम्बर एवं स्थानकवासी दोनों ही समाजोंमें मुनियोंकी अधिकताके कारण विद्या एवं धर्मप्रचारका कार्य केवल मुनियोंके ही हाथमें है और इसी लिये उक्त दोनों समाजोंमें धर्मशास्त्रके गृहस्थ विद्वानोंकी अत्यंत कमी है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके गृहस्थोंमें सबसे पहिले आप दोनों विद्वानोंने ही धर्मग्रन्थोंका गम्भीर अध्ययन किया, आप दोनोंके अध्ययनमें दिगम्बर-आम्नायी विद्वानोंसे यह विशेषता थी कि दिगम्बर आम्नायी विद्वान् जहां धर्मशास्त्र एवं न्यायका गंभीर अध्ययन करते हैं वहां उनके कर्ता आचार्योंके चरित्रका ऐतिहासिक अध्ययन नहीं करते। किन्तु आप दोनोंने आरम्भसे ही ऐतिहासिक अध्ययन पर बल दिया था। बहुत कुछ इसी लिये और कुछ श्वेताम्बर समाजमें विद्वानोंकी कमीके कारण आप दोनोंकी ख्याति अच्छे अच्छे दिगम्बर पंडितोंसे भी अधिक हो गई।

आपकी ख्याति पर मुग्ध होने वाले विद्वान इस बातको भूल गए कि आपके व्यक्तिगत सिद्धान्त क्या हैं। आप दोनों विद्वान् आरंभसे ही आगम ग्रन्थोंको अकाट्य प्रमाण मानते रहे हैं। आप अन्य आचार्योंके ऊपर चाहे जितनी ऐतिहासिक खोज करते हों किन्तु वस्तुतः आगमग्रन्थोंकी रचनाका ऐतिहासिक विश्लेषण करनेको न तो कभी तैयार थे और न हैं। ऐसी स्थितिमें जिन लोगोंने आपके ऐतिहासिक लेखों पर मुग्ध होकर आपको बिल्कुल असाम्प्रदायिक तटस्थ विद्वान समझा वे, हमारी समझमें आरम्भसे ही भूलमें थे।

उपाध्याय आत्मारामजी स्थानकवासी सम्प्रदायके तृतीय परमेष्ठि हैं, वह आगम ग्रन्थोंके इतने भारी पण्डित हैं कि किसी विषय पर भी प्रश्न करने पर तुरंत यह बतला देते हैं कि आगमग्रंथोंमें इस बातका वर्णन अमुक अमुक स्थलों पर आया है। किन्तु उन्होंने अपने विषयमें असाम्प्रदायिक एवं तटस्थ विद्वान दोनोंका कभी दावा नहीं किया।

उन्होंने सन १९३४ का अपना चातुर्मास्य देहलीमें ही किया था, इतना ही नहीं वरन् वे चातुर्मास्यसे कई माह पूर्व देहली आ गए थे और सन् १९३५ में यहांसे गए थे, अर्थात उनको उसबार देहलीमें लगभग एक वर्ष तक ठहरनेका अवसर मिला था।

देहलीमें इतने समय तक ठहरनेके आपके दो उद्देश्य थे। एक तो आप अपने शिष्य मुनि हेमचन्द्र एवं एक दूसरे मुनि अमरचंद (वर्तमान उपाध्याय अमरचंद्रजी महाराज) को कुछ मासतक देहलीमें ही पंडित बेचरदासजीसे शिक्षा दिलाना

दिगम्बर-सम्मत है।

२– अर्हत्प्रवचन एवं तत्त्वार्थाधिगम तत्त्वार्थसूत्रके ही नामान्तर हैं, स्वोपज्ञ कहलाने वाले भाष्यके नहीं। हाँ, कुछ श्वेताम्बर आचार्योंने स्वोपज्ञ भाष्यको भी अर्हत्प्रवचन तथा तत्त्वार्थाधिगम कहा है।

३—यद्यपि 'वृत्ति' शब्दका उल्लेख 'स्वोपज्ञ' कहे जाने वाले भाष्य के लिये भी अनेक स्थलों पर आया है, किन्तु अकलंकदेवकी शैली खंडन-मंडनमें स्पष्टताको स्थिर रखनेकी है। यदि वे 'वृत्ति' शब्दसे इस भाष्यको ग्रहण करते तो न केवल इसका स्पष्ट रूपसे उल्लेख करते वरन् तत्त्वार्थसूत्रके श्वेताम्बरपाठकी आलोचना भी करते। अतः यह माननेको जी नहीं चाहता कि उनके सामने राजवार्तिक लिखते समय 'स्वोपज्ञ' कहलाने वाला भाष्य था, या तो वह गंधहस्तिमहाभाष्य जैसा कोई और भाष्य होगा अथवा यह प्रयोग (?) सूत्ररचनाके सम्बन्धमें ही है।

४—अकलंकदेवने जो 'भाष्य' शब्दका प्रयोग किया है उससे भी इस 'स्वोपज्ञ' कहलाने वाले भाष्यका बोध नहीं होता।

यदि उक्त भाष्यको 'स्वोपज्ञ' न माना जावे तो यह सहजमें कल्पना की जा सकती है कि दोनोंके शब्द-साम्यका कारण श्वेताम्बर आचार्योंकी अनुकरण-प्रियता है। श्वेताम्बरों में खण्डनखण्डखाद्य, कुसुमांजलि आदि ग्रंथोंकी रचना उनकी अनुकरण-प्रियताके प्रमाण हैं। प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारके सूत्रोंका 'परीक्षामुख' सूत्रसे मिलान करने पर भी अनुकरण-प्रियताका प्रमाण ही अधिक मिलता है। अस्तु; हमारी सम्मतिमें भाष्य कदापि 'स्वोपज्ञ' नहीं है, एवं वह अकलंकदेवके बहुत बादमें अनुकरणप्रियताके कारण लिखा गया है *।

* इस लेखमें उल्लिखित बातों–घटनाओंकी पूरी जिम्मेदारी लेखकके ऊपर है। — सम्पादक

प्राचीन साहित्यके महत्व और संरक्षण पर—
आचार्य श्री जिनविजयका भाषण

(श्री हजारीमल बांठिया)

[बीकानेरमें गत ता० २८ अप्रेल सन १९४१ को आचार्य श्री जिनविजयजीने, 'प्राचीन साहित्यका महत्व और संरक्षण' विषयपर जो जोरदार भाषण दिया है उसका सार श्री हजारीमलजी बांठियाने 'अनेकान्त' के पाठकोंके लिये भेजा है, उसे नीचे दिया जाता है। इससे कई बातें प्रकाशमें आती हैं और कितना ही शिक्षाप्रद पाठ मिलता है। आशा है अनेकान्तके पाठक इसे गौरसे पढ़कर जैनसाहित्यके उद्धार एवं संरक्षणके विषयमें अपने कर्तव्यको समझेंगे और उसे शीघ्र ही स्थिर करके दृढ़ताके साथ कार्यमें परिणत करेंगे। दिगम्बर समाजको इस ओर और भी अधिकताके साथ ध्यान देनेकी जरूरत है, वह इस विषयमें श्वेताम्बर समाजसे बहुत ही पीछे है। —सम्पादक]

भाषणके प्रारम्भमें ही आपने अपने नामका स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि—'मुझे सब लोग मुनि श्रीजिनविजयजी कहते हैं, पर मैं अब इस नामका अधिकारी नहीं हूँ। क्योंकि न तो मैं साधुओंका क्रिया काण्ड ही पालता हूं और न उनके वेषको ही धारण किये हुए हूँ। फिर भी मेरा यह नाम सुनकर शायद श्रोतागणोंको कुछ आश्चर्य सा होगा।' आगे जाकर आपने अपने नामका और स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि 'मैं तो आप सब लोगों जैसा एक सामान्य स्थिति वाला भाई और सेवक हूं। अतः मैं अपने नामके लिये आप सब लोगोंका अपराधी हूँ। साधु-अवस्थामें मैंने कई ग्रंथ बनाये थे, जिससे मेरा नाम

सर्वत्र भारत और युरोपमें व्यापक रूपसे प्रसिद्ध हो गया। साधुवेष अपने गुरुको भेंट करनेके पश्चात भी मेरा वही नाम 'मुनि जिनविजय' प्रसिद्ध बना रहा। सो ठीक ही है—जिस प्रकार कोई कोट्याधिपति मनुष्य हो, उसका नाम सर्वत्र सुप्रसिद्ध हो, अगर उसका दिवाला भी निकल जाय तो भी नाम तो पहले का रहता है—नाम नहीं बदलता है। अन्तर इतना होजाता है कि वह राजासे रंक होजाता है। इसी प्रकार मेरा भी मुनि-चरित्र पालनेमें दिवाला निकल गया है।'

आपने कहा कि 'मैंने मुनि-अवस्थामें जैनके सभी सूत्रोंका यथामति अध्ययन किया। अपने पूर्वाचार्यों की अनुपम अमूल्यनिधि नष्ट होते देख मेरे मनमें उसे प्रकाशित करनेकी इच्छा हुई, जिससे उन ग्रन्थोंका उद्धार भी होजाय और उनकी रचित साहित्यसामग्री विद्वानोंके सामने अपना आदर्श रखे तथा उन पूर्वाचार्योंकी चिरस्मृति भी होजाय। हमारे पूर्वज श्री जिनवल्लभसूरि, श्री जिनदत्तसूरि, श्री आत्मारामजी महाराज आदि कितने असाधारण विद्वान हो गये उसका हम अनुमान भी नहीं लगा सकते। उनकी विद्वत्प्रतिभाका पता हमें उनकी रचित साहित्यसामग्री से ही हो सकता है। अतः हमारा साहित्य हमारे लिये अत्यन्त महत्वकी संरक्षणीय एवं गौरवशाली वस्तु है।' आपने आगे बतलाया कि 'अपने पूर्वजोंकी चिरस्मृतिको सादर कायम रखनेका अंकुर मेरे मनमें उत्पन्न हुआ, तभीसे मैं साहित्यक्षेत्रमें अग्रसर हुआ। मैंने पाँच वर्ष तक पाटणमें लगातार चातुर्मासकर वहांके ज्ञानभंडारोंका वैज्ञानिक रीतिसे अन्वेषण एवं अवलोकन किया, तथा बड़े परिश्रमसे उसकी सूची तैयार की।

बड़ौदा नरेश श्रीसयाजीराव गायकवाड़ बड़े विद्यानुरागी महाराजा थे। उन्हें साहित्य-प्रकाशनका अत्यन्त शौक था। श्रीत्रिवेणी महोदयने उनसे महत्वपूर्ण साहित्य-प्रकाशनके लिये विज्ञप्ति की। अतः वे ज्ञानभण्डारोंके अवलोकनार्थ पाटण पधारे। उसी समय मैं भी वहीं था और मेरी उनसे मुलाकात हुई। तत्पश्चात् विद्यानुरागी महाराज जीने साहित्यप्रकाशन के लिये बड़ौदामें एक ग्रन्थमाला स्थापित की। उस कार्यके लिये मेरे परम मित्र श्रीचिमनलाल भाई वहाँ नियुक्त किये गये। उनकी प्रेरणासे महाराजने मुझे अपने यहां भाषण देनेके निमित्त बुलवाया और मैंने वहाँ कई साहित्य-सम्बन्धी महत्वके भाषण दिये।

इस समय हमारे ऊपर अंग्रेजी सरकार राज्य कर रही है। उसने भारतकी प्रायः सभी अमूल्य निधियों व जवाहरात, सोना, चांदी वगैरहको अपने देशमें भिजवा दिया है। जो कुछ साहित्य धन बाकी रहा, आखिर उसे भी वहाँ भिजवानेका जब निश्चय किया तब कतिपय भारतीय विद्वानोंने उसका विरोध किया, मैं भी इसकी सूचना मिलने पर बम्बईसे पूना आया और सबके प्रयत्नसे गवर्नमेण्टने यह अपूर्व संग्रह वहीं रखनेकी आज्ञा देदी। डा० भँडारकारका इस संग्रहमें बहुत कुछ हाथ था, अतः उनके नामसे पूना में 'भंडारकार-प्राच्य-विद्या-मंदिर' की स्थापना हुई और उसमें ही साहित्यसामग्रीको रहने दिया गया। इस संग्रहमें लगभग २२ हजार हस्त लिखित ग्रन्थोंका संग्रह है। उसमें महत्वके ५-६ हजार जैन ग्रन्थ भी हैं। मैंने भँडारकार इन्स्टिट्यूटको ५००००) रुपयेकी सहायता दिलवाई। अब सरकारसे भी उसे १२०००) रुपयेकी सहायता मिलती है। वहाँ ग्रन्थोंको रखनेकी बड़ी सुव्यवस्था है। प्रत्येक विद्वान नियमानुसार

Bond भरकर ५ प्रतिएँ एक साथ घर बैठे मँगा सकता है।

बीकानेरके ज्ञानभँडारोंको देखकर मुझे बड़ा हर्ष और आश्चर्य हुआ कि आपके यहां इतना खजाना भरा पड़ा है! ऐसा खजाना राजस्थानमें और कहीं नहीं है। पर उन ज्ञानभँडारोंकी दुर्व्यवस्था देख मुझे बड़ा दुःख हुआ। न तो मन पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थोंको रखनेके अच्छे मकान हैं न उनकी कोई सुव्यवस्था ही है। आप इतने धनी श्रीमानोंके रहते ग्रन्थोंकी इतनी दुर्दशा क्यों है? ये ग्रन्थ ही तो हमारे इतिहासकी सामग्री हैं, और इन ग्रन्थोंके आधारपर ही आज हमारा जैनधर्म टिका हुआ है। अगर इनका ठीक प्रबन्ध न किया गया तो ये सब नष्ट होजाएँगे। बीकानेरमें किसीको भी इन ग्रन्थोंके उद्धारकी चिन्ता नहीं है। मन्दिरोंके बनाने और स्वामिधर्म-वात्सल्य आदिमें तो हम लाखों रुपये खर्च कर देते हैं। पर इस ओर हमारा कुछ भी ध्यान नहीं है। हमें साहित्य के उद्धारके लिये उपेक्षा रखना उचित नहीं है। आप को उसके लिये अच्छा मकान बनाना चाहिए, जिसमें फौलादकी फायरप्रूफ अलमारियाँ हों, जिनमें ग्रन्थ रखे जायँ ताकि वे नष्ट न होसकें।

इस बीकानेरके जैनसाहित्यिक कार्यक्षेत्रमें भाई श्रीअगरचन्दजी नाहटाने अवश्य ही प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्होंने यहांके अधिकतर साहित्यको अपने निजी खर्चसे खरीदकर उसे बचाया है। वर्षों परिश्रम कर ग्रन्थोंकी सूचियें बनाई हैं। आखिर अकेला आदमी क्या कर सकता है? इसमें संगठनकी आवश्यकता है। श्री नाहटाजीका कहना है कि उन्होंने छह महीने लगातार छह घंटे प्रतिदिनकी रफ्तारसे कार्यकर बृहद् खरतरगच्छीय ज्ञानभँडारकी अकेले ही सूची तैयारकी है। अतः मैं उनके उद्योगकी तारीफ करता हूं। हमारे समाजमें इस तरहके अध्यवसायी युवक होने चाहिएँ, जिससे हमारे नष्टप्राय होते हुए साहित्यका उद्धार हो सके।

महात्मा गाँधीजीका आदर्श ऊँचा है, उन्होंने राष्ट्रीय विद्यापीठों द्वारा हमारी शिक्षाको शुद्ध, सात्विक एवं प्रगतिशील बनानेका आन्दोलन किया। महात्मा जीके कार्योंको देख मेरे जीमें भी देशप्रेम जागृत हुआ और सोचा इस मुनिवेषमें तो ऐसा होना असम्भव है। अतः मैंने यह साधुवेष अपने गुरुजी को सौंप खद्दरका चोला धारण किया। महात्माजीसे मेरी अहमदाबादमें मुलाकात हुई। मैंने भी इस आन्दोलनमें महात्माजीको सहयोग दिया। अतः मुझे महात्माजीने गुजरात पुरातत्व मन्दिरमें आचार्यके रूपमें नियुक्त किया।

इसके बाद मुझे जर्मनी जाना पड़ा। मैं वहां करीब दो वर्ष तक रहा। वहांके सभी पुस्तकालयोंमें हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सुव्यवस्था देख मुझे अत्यन्त खुशी हुई। जर्मनीमें बड़े बड़े विद्वानोंसे मेरी मुलाकात हुई। जर्मनोंको जैनसाहित्यसे अत्यन्त प्रेम है। वे भारतीय संस्कृतिके अत्यन्त प्रेमी हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृतिके लिये बहुत कार्य किया है। हमारे ऊपर राज्य करने वाली सरकारने इस देशके साहित्यके लिये उनके मुकाबले तिल मात्र भी कार्य नहीं किया है।

जर्मनसे वापिस आनेके बाद मेरी फिर महात्मा जीसे मुलाकात हुई। लाहौर कांग्रेसके बादके सत्याग्रह में मैं भी शरीक हुआ और मुझे कृष्णमन्दिरकी हवा खानी पड़ी। जेलसे मुक्तिके बाद विद्याप्रेमी बाबू बहादुरसिंहजी सिंघीने शांतिनिकेतनमें सिंघी जैन ज्ञानपीठकी स्थापना की और मुझे अध्यापक नियुक्त किया। वहां जैन विद्यार्थी बहुत कम थे, अतः मैंने यह कार्य स्थगित करनेके लिये श्री सिंघीजीसे कहा और सिंघी जैन ग्रन्थमालाकी स्थापनाके लिये प्रेरणा की। श्री सिंघीजीकी यह ग्रन्थमाला अभी जोरोंसे चल रही है, जिससे अनेकों महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है।

हम अपने पूर्वजोंकी वस्तुके लिये बहुत लापर्वाह हो रहे हैं। सो ठीक नहीं। हमारे पूर्वजोंकी वस्तु हमारे लिये अत्यन्त आदरणीय है। जर्मनोंको देखिये, उनको अपने पूर्वजोंकी वस्तु कितनी प्यारी है। इस का एक उदाहरण देता हूँ। बर्लिनके मुखद्वार पर एक सूर्यकी मूर्ति है, उसके वाहन स्वरूप सात घोड़े हैं।

मैंने उसके अनेकबार दर्शन किये। वह प्राचीन होते हुए भी इतनी सुन्दर है कि नई मालूम देती है। कारीगरीकी दृष्टिसे भी बड़ी विचित्र है। उस मूर्तिकी नकल करनेके लिये बड़े बड़े वैज्ञानिक कारीगरोंने प्रयत्न किया पर उसकी नकल न कर सके। अत: आप समझ सकते हैं कि वह कितनी मूल्यवान होगी। जर्मन वाले उसे संसारका एक आश्चर्य समझते हैं। नेपोलियन बोनापार्टने जर्मन और फ्रांसके युद्धमे उसमूर्तिको पेरिसमें लाकर रक्खा था।

कुछ वर्षों बाद जर्मनोंने मूर्तिको वापिस लानेके लिये युद्ध द्वारा फ्रांस वालोंको पराजित कर उसे फिर सन १८७१ में बर्लिनके मुखद्वार पर लगाया। इस मूर्तिके लिए लड़ाईमें लाखों मनुष्योंका संहार हुआ। पर उन्होंने अपने पूर्वजोंकी प्राचीन वस्तुको प्राप्त करनेमें अपने आपको कुरबान कर दिया। महायुद्धके बाद जर्मनी अमेरिकाका कर्जदार होगया। ऋण इतना था कि अगर जर्मनी करोड़ो पौंड प्रति वर्ष देता रहे तो भी उसे उऋण होनेमे १५० वर्षके करीब लग जाएँ। अमेरिकाने जर्मनोंसे कहा—अगर तुम हमें वह सूर्यकी मूर्ति देदो तो हम तुम्हें इतने बड़े कर्जसे मुक्त कर सकते हैं। पर स्वाधीनता प्रेमी जर्मनोंने ज़ोरसे उत्तर दिया—जब तक हम आठ करोड़ जर्मनों मेसे एक भी इस संसारमें जिन्दा है, तब तक उस मूर्तिको कोई नहीं ले सकता। देखिये, उनके हृदयोंमे अपनी प्राचीन वस्तुके लिए कितने उच्च भाव भरे है।

हम लोग अपने साहित्यके लिए ज़रा भी ध्यान नहीं दे रहे है। उसके उद्धारके लिये कौड़ी भी खर्चने को तैयार नहीं। उन पाश्चात्य विद्याप्रेमियोंको देखिये, जिन्होंने हमारे एक एक ग्रन्थके प्रकाशिन करनेके लिये हज़ारों रुपये पानीकी तरह बहा दिये। जिनको हमारे ग्रन्थोंसे कोई सम्बन्ध नहीं, न वे हमारे जैन धर्मको या भारतीय धर्मको मानने वाले हैं, न हम रे कोई देशके ही हैं और न हमारे कोई रिश्तेदार ही हैं। तो फिर अपना स्वार्थ न होते हुए भी उन्होंने इतना धन क्यों व्यय किया ?

हम जो थोड़ा भी खर्च करते हैं—अपने स्वार्थके लिए या नामके लिए। उन्होंने नामके लिए नहीं खर्चा बरन् सच्ची साहित्य-सेवा करनेके लिए खर्चा है। डा० हरमन जैकोबीको देखिये—उसने जैनधर्मके लिए क्या कुछ कर दिखाया ? यही क्यों एक दूसरा उदाहरण लीजिये, अमेरिकाके सुप्रसिद्ध विद्वान डा० नार्मन ब्राउनने एक कल्पसूत्रकी खोजके लिए अमेरिका सरकारसे दस हजार डालर खर्चके प्रबन्धकी दरख्वास्त की, सरकारने उसे मंजूर किया। यह कल्पसूत्र १९३४ ई०में वाशिंगटनसे प्रकाशित हुआ है।

डा० ब्राउन कई वर्ष पूर्व भारतमें आये थे, उन्होंने पाटण आदि अनेक स्थानोंके ज्ञानभण्डारोंके कल्प-सूत्र-ग्रंथोंका निरीक्षण किया। फोटो आदिके लिए मेरेसे भी दो-तीन बार मुलाकात की। हमारा समाज भी धनसम्पन्न है। वह चाहे तो सब कुछ कर सकता है। मैं आशा करता हूं कि हमारा सोया हुआ समाज भी अपने प्राचीन साहित्यके उद्धारका बीड़ा अब शीघ्र ही उठाएगा। कहनेका आशय यह है कि एक जैनोंके कल्पसूत्रके लिए अमेरिका सरकारने ४० हजार रुपये खर्च किये और डा० ब्राउनने कितना परिश्रम उठाया। उनकी तुलनामें हम क्या कर रहे हैं ? दूसरा उदाहरण भारतका ही लीजिये। अकेले महाभारतके प्रकाशनके लिए भांडारकार इंस्टिट्यूने १५ लाख व्यय कर दिये हैं और १५ लाख रुपये और व्यय होंगे। अगर हम उनके मुकाबले आधा भी व्यय करनेको प्रस्तुत हों, तो हम भी बहुत कार्य कर सकते हैं।

अभी हाल हीमें पाटणमें ६० हजार रुपयोंकी लागतका एक सुरक्षित भवन एक ही व्यक्तिने बनवाया है। उसमें पाटणके सभी भंडारोंके ग्रन्थोंको रखनेका प्रबन्ध किया गया है। कई भंडारोंके ग्रन्थ तो उसमें आ चुके हैं। यह काम अभी चालू है। उन ग्रंथोंके लिए अलमारियों आदिकी व्यवस्था करने के लिए ३० हजार रुपये लग जायेंगे। आपको भी उसका अनुकरण करना चाहिये।

लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती है। वह आज है कल नहीं। जो कुछ कार्य सम्पन्न अवस्थामें हो जाता है वही उसकी चिरस्मृतिके लिए रह जाता है। गरीब

होने पर सारी जिन्दगी पछताना पड़ता है। जीवनमें अनेक उतार चढ़ाव आते ही रहते हैं। समय आने पर हम सभी झिंगुरकी भांति नष्ट होजायेंगे। जो कुछ भी जीवनमें सार्थक कार्य हो जायगा, वही हमारे जीवनकी स्मृति रह जायगी। इस बातका ताजा उदाहरण बम्बईके सुप्रसिद्ध सटोरिये श्री मुन्नेलाल भाईका है। जिसकी आर्थिक सहायतासे अभी हमारी 'भारतीय-विद्या-भवन' नामक एक संस्था स्थापित हुई है। अभी इस भवनका सारा कार्य मेरे जिम्मे है। वहाँ पर उच्चकक्षाओंके छात्रोंको प्रायः सभी विषयोंकी शिक्षा दी जाती है। यह हमारी बड़ी स्कीम है। इस भवनसे "भारतीय-विद्या" नामकी एक त्रैमासिक पत्रिका भी निकलती है, जिसका सम्पादन भी मैं ही करता हूं।

भाई मुन्नेलालके दानकी कथा बड़ी मनोरंजक एवं अनुकरणीय है। भाई मुन्नेलाल बम्बईका सटोरिया हैं। वह अपने जीवनमें तीन बार करोड़पति और देवालिया हुआ। अभी वृद्धावस्थामें उसने सोचा —मैं कई बार करोड़पति होकर गरीब हुआ पर मैंने अपने जीवनमें अभी तक एक भी ऐसा कार्य नहीं किया जिसमें मेरा नाम अमर होजाय। इस समय मेरे पास ६ लाखके शेयर व मकान आदि कुल १० लाखकी संपत्ति है। अगर मैं शेयरके रुपये किसी पुण्यकार्यमें लगा दूं तो मेरा नाम अमर होजायगा। मेरे कोई संतान नहीं है, तब फिर यह झंझट क्यों? ऐसा विचार कर उसने शेयरके ६ लाख रुपयेके दान करनेका निश्चय किया, पर सोचा किसी शिक्षित आदमीकी सलाह जरूर लेनी चाहिए। वह सीधा हमारे परममित्र श्रीकन्हैयालालजी Bar-at-Law के पास राय लेने गया। और कहा मुझे इस कार्यके लिये राय दीजिये। मुंशीजीने कहा इस समय सरकार गऊमाताके उद्धारकी ओर एक स्कीम बना रही है, वह १० लाखकी है। आप अपने ६ लाखके रुपये गऊओंके निमित्त दे दीजिये—गऊ तो हमारी मां है। बस फिर क्या था भाईश्रीको यह बात ठीक जंची और उसी दिन ट्रस्टकी लिखा पढ़ी ३-४ घंटेमें कराके ६ लाखका दान कर दिया।

दूसरे दिन हिसाब करके देखा गया तो ६ लाख के अनुमान किये जानेवाले शेयरोंकी कीमत ८ लाख निकलती है। २ लाख बढ़ जाते हैं। वह उसे भी दान देनेके लिये फिर मुंशीजीसे सलाह लेते हैं। मुंशीजीने मुझे बुलाया और सब मामला कहा। आखिर भाई श्रीको कहा गया कि ६ लाख गोदानमें लग गये अब दो लाख विद्यादानमें लगादो। उसने वैसा कर दिया। उसीसे बम्बईमें, अन्धेरीमें भारतीय-विद्या-भवन खड़ा होगया।

भाई मुन्नेलाल वृद्ध हैं। वह हमारे पास कई बार आता है, परमात्माके भजन सुननेके लिये हमसे प्रार्थना करता है। हम पाटण जाते समय उसको भी साथ लेगए थे। वापिस आते समय रेलमें हमने उस से कहा—ईश्वर भजन करो अब फाटका करना छोड़ दो। उसने स्वीकार भी किया।

बम्बई आया और सोचा अगर और थोड़ा फाटका करूं तो और धन आजाय तो मैं और ज्यादा दान दे सकूँ। सिर्फ इन्हीं शुभ विचारोंसे उसने मंदी में फाटका किया। वह मंदीका खिलाड़ी था। भाग्यने उलटा मारा, सुबह देखता है १२ लाख रुपयेका घाटा! अब विचारा क्या करता!

अभी वह सोचता है कि मैंने जो कुछ चांदनीके दिनोंमें कर दिया सो कर दिया अब कुछ नहीं होनेका उसके लिये संसार। अंधकारमय है।

सज्जनों, मुन्नेलाल भाईका आदर्श आपके सामने है, जो उसने संपन्नावस्थामें कर दिया, तो उसका नाम अमर होगया है। इसी प्रकार अगर आप भी अभी दान करें तो समाजका, देशका, साहित्यका कितना ही उद्धार हो सकता है।

मुझे आप लोगोंसे मिलकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। जब आप कुछ साहित्यके लिए कार्य करेंगे और मुझे बुलावेंगे तो मैं आपकी सेवामें अवश्य हाजिर होऊँगा और यह आशा रखता हुआ कि अब आप भी साहित्योद्धारके लिये प्रयत्नशील बनेंगे—अपना भाषण समाप्त करता हूं।

हरिभद्र-सूरि

(ले०—पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ—विशारद)

[गत किरणसे आगे]

समराइच्चकहा

हरिभद्र सूरिकी साहित्यिक-प्रवृत्ति चतुर्मुखी है। आप केवल आगमके आद्य संस्कृत टीकाकार ही नहीं हैं, किन्तु सभी अनुयोगों पर आपके प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। दर्शनशास्त्रके आप प्रगाढ़वेत्ता और आध्यात्मिक ग्रंथोंके दिग्गज विद्वान तो थे ही; किन्तु साथ साथ महान सिद्धान्तकार, गंभीर विचारक एवं सफल कवि भी थे। इनकी कवित्व-कलाके परिचायक अनेक कथाग्रन्थ, चरित्र-ग्रन्थ और आख्यान आदि हैं। यद्यपि आपने कथाकोष, धूर्ताख्यान, मुनिपतिचरित्र, यशोधरचरित्र, वीरांगदकथा और समराइच्चकहा आदि अनेक कथाग्रंथ और उपाख्यान-रत्नोंकी रचना की थी; किन्तु आज तो हमारे सामने केवल धूर्ताख्यान और समराइच्चकहा—ये दो ही उपलब्ध हैं। शेष नष्ट-प्राय: हैं या नष्ट होगये होंगे।

समराइच्चकहा इनकी कवित्व-शक्तिका एक समुज्ज्वल प्रमाण है। इसके देखनेसे प्रतीत होता है कि मानो कविका हृदय और कल्पना दोनों ही मूर्तरूप धारण कर 'समराइच्चकहा' के रूपमें अवतरित हुए हैं। प्रशमरसपूर्ण इस उत्तम कथाग्रन्थकी सभी पश्चात्वर्ती विद्वानोंने मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। सुप्रसिद्ध कथाकार उद्योतनसूरिने कुवलयमालामें, महाकवि धनपालने तिलकमंजरीमें, देवचंद्रसूरिने शान्तिनाथचरित्रमें इस कथात्मक काव्यकी भूरिभूरि प्रशंसा की है। कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्रसूरि अपने काव्यानुशासनमें सकल कथाके निर्देशक रूपमें समराइच्चकहाका नामोल्लेख करते हैं।

समराइच्चकहाको सुनने, पढ़ने और इसकी नवीन नवीन नकलें—प्रतियां तैयार करवानेमें सैकड़ों वर्षों तक महान् पुण्य समझा जाता रहा है। जैन साधु-समुदाय और श्रावकवर्ग सदा ही इसे प्रेमपूर्वक, रुचि के साथ पढ़ते एवं सुनते रहे हैं। यह क्रम आज भी उतनी ही रुचि और लगनके साथ जारी है। निस्संदेह जैन कथासाहित्यमें यह कृति सर्वोपरि कलश समान है।

हरिभद्रसूरि समराइच्चकहामें इस निम्नोक्त आध्यात्मिक सिद्धान्तको सांगोपांग समझानेमें पूर्णरीतिसे सफल हुए हैं, कि क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, द्वेष आदि मोहमय विकारोंसे आत्माकी क्या गति होती है? और अहिंसा, क्षमा, विनय, निष्कपटता, सरलता, तप, संयम, सद्भावना, दया, दान आदि सात्त्विक गुणोंसे आत्माका कैसा विकास होता है? और अंतमें कितनी जल्दी मुक्ति प्राप्त होजाती है? विश्वके विचित्र प्रांगणमें घटयमान घटनाओंको उपन्यासके रूपमें सुन्दररीत्या चित्रण किया है। कहानी कलाका सामञ्जस्यपूर्ण विकास और सौन्दर्य इस कथाके प्रत्येक अक्षर अक्षरमें और पृष्ठ पृष्ठ पर देखा जा सकता है।

समराइच्चकहाकी भाषा महाराष्ट्री जैन प्राकृत

है। किन्तु कहीं कहीं पर कुछ रूप शौरसेनीके भी पाये जाते हैं। यों तो सारी कथा गद्यरूपमें ही लिखी गई है, लेकिन बीच बीचमें अनेक पद्य भी हैं। पद्य-भाग अधिकांशतः आर्या छंद वाला ही है; कुछ पद्य प्रमाणी, द्विपदी और विपुला छंदोंमें भी मंगुफित हैं। भाषा प्रसादगुण-संपन्न और माधुर्यको लिये हुए है। कथा-संबंध भी धाराप्रवाहरूपसे चलता है और इसी लिये पढ़नेमें काव्यात्मक आनंदके साथ साथ पूरी रुचि ठेठ तक बनी रहती है। यद्यपि कहीं कहीं समासात्मक वाक्योंका भी प्रवाह चलता है, परन्तु वह पढ़ने के प्रति अरुचि उत्पन्न नहीं करता हुआ पाठकको कथाका कला-सौन्दर्य ही प्रदान करता है। एवं लेखन-शैलीकी प्रौढ़ता ही प्रदर्शित करता है। तात्पर्य यह है कि अतिसघन और बहुत लंबे लंबे समासोंका अभाव ही है। भाषाका प्रवाह गंगाकी धाराकी तरह प्रशस्त, शांत, गंभीर और सर्वत्र समान ही चलता हुआ दिखाई देता है। कथा भाग भी अपने आपमें पूर्णताको पदर्शित करता हुआ पूरे वेगसे चलता रहता है। यत्र तत्र अलंकारोंकी छटा भी दिखाई देती है। भाषा-सौंदर्यकी पोषक उपमाएँ और भाव-व्यंजक शब्द-समूहकी विशेषताएँ चित्तको हठात् अपनी ओर आकर्षित कर एक अनिर्वचनीय आनंद उत्पन्न करती रहती हैं। इन्हीं सुवासित गुणोंसे भविष्यमें भी इसका अधिकाधिक प्रचार और पठन पाठन होता रहेगा, ऐसा प्रामाणिक रूपसे कहा जा सकता है।

कथाका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है—क्षिति प्रतिष्ठित नामक नगरमें पूर्णचन्द्र नामक राजा और कौमुदी नामक रानीके गुणसेन नामका एक पुत्र था। वह बाल्यावस्थामें ही चंचल और क्रीडाप्रिय था। राजाके यज्ञदत्त नामक एक पुरोहित था, जिसके असुन्दर और हास्यास्पद आकृति वाला अग्निशर्मा नामकरके एक पुत्र था। राजकुमार इसको बहुत चिढ़ाया करता था और विभिन्न तरीकोंसे उसे बहुत तंग किया करता था। अंतमें राजकुमारकी इस कुप्रवृत्तिसे तंग आकर वह पुरोहितपुत्र एक तपोवनमें जाकर तापस बन गया। सांसारिक दुःखोंके नाशके हेतु और भवसागर पार करनेके लिये उसने दुष्कर तपस्या करना प्रारंभ किया। उसने प्रतिज्ञा ली कि मैं एक एक मासका मासक्षमण करूंगा और पारणाके दिन—गोचरीके लिये—आहारके लिये केवल एक ही घरमें जाऊंगा। यदि उस घरमें आहार नहीं मिलेगा तो दूसरे घरमें नहीं जाऊंगा और पुनः आकर एक मासका अनशन व्रत ग्रहण कर लूंगा। इस प्रकारकी कठोर एवं भीषण तपस्या-द्वारा वह अपनी आत्माको संयम मार्गपर चलाने लगा।

एक दिनकी बात है कि दैवयोगसे वह राजकुमार उस उपवनमें आ निकला और अग्निशर्मासे मिला। परिचय प्राप्त होने पर अपने अपराधोंके लिये क्षमा मांगी एवं श्रद्धापूर्वक निवेदन किया कि पारणेके दिन मेरे घरको पवित्र करनेकी कृपा करें। अग्निशर्मा ने स्वीकार कर लिया। यथासमय मासके अन्तमें अग्निशर्मा आहारके लिये राजाके घर जाता है किन्तु उस दिन राजाके यहाँ पुत्रजन्मोत्सवका प्रसंग उपस्थित हो जाता है और इस कारणसे इस तापसके प्रति किसीकी भी दृष्टि नहीं जाती है। तापस लौट आता है और एक मासका व्रत ग्रहण कर लेता है। राजकुमारको थोड़ी देर बाद तापसके आनेकी और लौट जानेकी बात ज्ञात होती है। अपनी इस उपेक्षा वृत्ति पर उसे खेद होता है और वह दौड़ा दौड़ा तापसके पास जाता है और इस अपराधके लिये

क्षमा मांगता हुआ पुनः दूसरे मासके अंतमें आहार के लिये निमंत्रण देता है। नियमानुसार तापस पुनः दूसरे मासके अंतमें आहारके लिये राजाके घर जाता है, किन्तु इस दिन भी दैव-दुर्विपाकसे कोई राजकीय उत्सव पैदा हो जाता है, जिससे इस दिन भी तापस के प्रति किसीका भी लक्ष्य नहीं जाता है; तापस लौट आता है और तीसरे मासिक उपवासकी प्रतिज्ञा ले लेता है। राजकुमारको तत्पश्चात् विदित होता है कि तापस आया था और लौट गया है। इस पर उसे हार्दिक दुःख होता है, और तापसकी सेवामें उपस्थित होकर अपनी इस असावधानीके लिये अन्तः करणसे क्षमा माँगता हुआ तृतीय उपवासकी समाप्ति पर पुनः आहारके लिये आमंत्रण देता है; तापस स्वीकार कर लेता है। तीसरे मासकी समाप्ति पर तापस राजकुमारके यहाँ जाता है, किन्तु दुर्भाग्य से इस दिन भी कोई असाधारण राजकीय प्रवृत्ति उपस्थित हो जाती है, किसीका भी ध्यान तापसकी ओर नहीं जाता है, तापस खाली हाथ लौट आता है और अपने स्थान पर आकर शांतिपूर्वक चौथा मासिकव्रत ग्रहण कर लेता है। पूर्ववत् इस बार भी राजकुमार तापसकी सेवामें उपस्थित होता है और बार बार अपने इस कुकृत्यके लिये क्षमा मांगता हुआ गंभीर अनुनय-विनयके साथ चौथे मासकी समाप्ति पर पुनः अपने घर पर आनेके लिये तापससे प्रार्थना करता है। तापस इस बारभी स्वीकृति दे देता है। किन्तु दैवीविधान बड़ा विचित्र और अगम्य है। हमारी चर्म चक्षुओंमें और मानवमेधा-शक्तिमें वह बल कहाँ कि जिसके बल पर भविष्यके गूढ़ और गंभीर गर्भावस्थामें संनिहित घटना-चक्रको जाना जा सके। पारणेका समय उपस्थित होने पर तापस राजकुमारके यहाँ जाता है, लेकिन राजकीय आकस्मिक और अचिंत्य घटनाओंके संयोगोंके कारण चौथी बार भी तापस आहारसे वंचित रह जाता है, वह अपनी प्रतिज्ञानुसार शहरसे-अन्य किसीके घर नहीं जाकर-बिना आहारके ही स्वस्थानको लौट जाता है। चार चार महीनोंके अखंड उपवासकी क्षुधा-वेदनाके कारण उसे भयंकर क्रोध आता है और यावज्जीवनके लिये आहारका परित्याग कर देता है।

महान् क्रोध और प्रगाढ़ क्षुधावेदनाके कारण काषायिक भावोंकी भयंकर ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है; एवं ऐसा संकल्प करता है कि जब तक मैं इस राजकुमारके साथ इस दुष्ट व्यवहारका पूरा पूरा बदला अनेक जन्मों तक नहीं चुकालूं तबतक मैं कदापि शांति नहीं ग्रहण करूंगा। इस प्रकार उसकी असिधाराव्रत समान अति कष्टसाध्य संपूर्ण तपस्या धूलमें मिलजाती है और समाधि, भद्रता एवं तपस्या के स्थान पर अनन्तानुबंधी कषायात्मक भावनाओं का साम्राज्य स्थिर हो जाता है। परिणाम स्वरूप नौ जन्मों तक ये दोनों आत्माएँ एक दूसरेके संसर्गमें आती हैं और प्रत्येक बार अग्निशर्माकी आत्मा गुणसेनकी आत्माको हर प्रकारसे दुःख देती है; एवं वैर वृत्ति की धारा चलती रहती है। अंतमें अंतिम जन्म में गुणसेनकी आत्मा सात्विक-वृत्तियोंके बल पर आध्यात्मिक उन्नति करती हुई मुक्ति प्राप्त कर लेती है और अग्निशर्माकी आत्मा असहिष्णुता एवं तामसिक वृत्तियोंके बल पर अधोगतिको प्राप्त होती है। इस प्रकार इस कथामें तामसिक और सात्विक वृत्तियोंका सुन्दर चित्रण करते हुए, प्रशमरसके सर्वोत्कृष्ट सुखद परिणामका स्वरूप बतलाते हुए; कर्मसिद्धान्तकी सामञ्जस्यताका सुन्दर समन्वय किया गया है। आज

के इस विकसित साहित्य युगमें कथा-साहित्यकी जो उपयोगिता, कला-निदर्शन, और मनो-वैज्ञानिकता मानी जाती है तथा कही जाती है, उसका पूरा पूरा प्रस्फुटन समराइच्चकहामें पाया जाता है और देखा जाता है।

योग-साहित्य

यदि हरिभद्र सूरिके जीवनका सूक्ष्म-रीतिसे अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होगा कि आपका जीवन योगमय ही था। अतः इन द्वारा योग-विषयक कृतियोंका भी रचा जाना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि जीवनकी धाराका स्वाभाविक विकास ही कहा जायगा। तदनुसार योग-विषयक इनकी कृतियाँ अखिल भारतीय योगसाहित्यमें एक विशेष वस्तु है। षोडशक, योगबिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय और योगविंशिका—ये चारों इनके योगविषयक ग्रंथ होने पर भी इनमें—प्रत्येकमें—परस्परमें कुछ न कुछ नवीनता और गंभीरताकृत पृथक्ता है।

योगका तात्पर्य है—आध्यात्मिक विकास। इस विकासके क्रमका भिन्न भिन्न ग्रंथोंमें आपने भिन्न भिन्न रीतिसे वर्णन किया है। फिर भी ध्येय और तात्पर्य तो एक ही है—और वह है मुक्ति कैसे प्राप्त हो। विषयके एक ही होने पर भी वर्णनशैलीकी विशेषता के बल पर वस्तु-विषयमें नवीनता और रोचकता आ गई है।

योगबिन्दुमें आचार्यश्रीने लिखा है कि अपुनर्बंधक अवस्था ही विकासका बीज है। यहींसे जीव मोहसे प्रभावान्वित नहीं होकर मोह पर ही अधिकार करता जाता है। यही योग मार्गकी प्रारंभिक अवस्था है और तदुपरान्त यहींसे जीवमें सात्विक गुणोंका उत्तरोत्तर विकास होने लगता है। इस प्रकार वर्णन करते हुए प्रारंभिक योगावस्थासे लगाकर अन्तिम योगावस्था तक अर्थात् आत्मिक सर्वोच्च विकासकी अवस्था तककी क्रमिक वृद्धिको व्यवस्थित रूप देनेके लिए सम्पूर्ण योग मार्गको पाँच भूमिकाओंमें विभाजित करते हुए प्रत्येक भूमिकाका स्वरूप खूब ही साफ दिखलाया है। साथमें उल्लेखनीय बात यह है कि जैन, बौद्ध और पातञ्जल योगसम्मत योगपरिभाषाओंमें केवल शब्दगत भिन्नता है न कि तात्पर्यमय भिन्नता—इस रहस्यको विद्वतापूर्ण रीतिसे बतला कर सम्पूर्ण भारतीय योग-ध्येयको एक ही स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया है।

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति-संक्षय ये पांच भूमिकाएँ हैं। पतंजलि इन से प्रथम चारको संप्रज्ञात और अंतिमको असंप्रज्ञात कहते हैं।

योगदृष्टिसमुच्चयमें अपुनर्बंधक अवस्थासे पूर्व-कालीन आत्मिक-अवस्थाको ओघदृष्टि नाम दिया है और इस दृष्टिको विभिन्न दृष्टान्तोंसे सम्यक्-प्रकारेण समझाया है। ओघदृष्टिकी समाप्तिके बाद उत्पन्न होनेवाली आध्यात्मिक विकासमय संपूर्ण दृष्टिको योगदृष्टि कहा है। यह योगदृष्टि आठ भूमिकाओंमें विभाजित की गई है। एवं इन आठ भूमिकाओंकी तुलना पातंजल योगदर्शन सम्मत यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि आठ योगांगोंके साथ की गई है। प्रथम चार भूमिकाओंमें पूर्णताके अभावसे अविद्या का अल्प अंश रहता ही है। इस लिये इनका नाम अवेद्यसंवेद्य दिया गया है। और अंतिम चारमें पूर्णता प्राप्त होजाती है; अर्थात् अज्ञान-अंश सर्वथा नष्ट होजाता है, इसलिये इनका नाम वेद्य-संवेद्य दिया है। इसके साथ साथ इन अन्तिम चार दृष्टियों में जो आध्यात्मिक-विकास होता है, उसका इच्छा-

योग, शास्त्रयोग, एवं सामर्थ्ययोग नाम प्रदान कर भूमिकाके रूपमें बोधगम्य वर्णन किया है। अन्तमें चार प्रकारके योगियोंका वर्णन करते हुए यह भी लिखा है कि योगशास्त्रका अधिकारी कौन हो सकता है।

योगविंशिकामें योगकी प्रारंभिक अवस्थाके स्थान पर उच्च यौगिक स्थितिका ही प्रधानतः वर्णन है। इस में बतलाया गया है कि श्रावक और साधु ही योगके अधिकारी हैं। सम्पूर्णयोग-अवस्थाएँ स्थान, शब्द, अर्थ, मालंबन और निरालंबन रूपसे पाँच भूमिका में विभाजित की गई हैं। इनमेंसे प्रथम दोको 'कर्मयोग' और अन्तिम तीनको 'ज्ञानयोग' नाम दिया गया है। साथ साथमें प्रत्येक भूमिकाके इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि रूपसे प्रभेद करते हुए आत्मिक विकासकी भिन्न भिन्न कोटियोंकी भिन्नता बतलाई है। इनके लक्षणका कथन भी बोधगम्य रीतिसे ही किया है। स्थानादि भूमिकाओंको इच्छादि चार प्रभेदोंसे गुणाकर अर्थात् बीस संख्यामय योग-स्थिति बतला कर पुनः प्रत्येकको प्रीति, भक्ति, वचन और असंग नामक चारों अनुष्ठानों द्वारा गुणा किया जाकर योग के अस्सी भेद किये हैं तथा भली प्रकारसे समझाये हैं। जिनसे प्रत्येक मुमुक्षु जीव यह समझ सके कि मैं आध्यात्मिक विकासके किस सोपान पर हूँ।

हरिभद्रसूरि-कृत योगविषय संगुंफित ऊपर जिन ग्रंथोंका नाम निर्देश किया है; उनमेंसे योगबिंदु, योगदृष्टिसमुच्चय और षोडशक ग्रन्थ तो संस्कृत भाषामें हैं और योगविंशिका प्राकृत भाषामें। ये ग्रन्थ छप करके प्रकाशित भी होचुके हैं। योगशतक भी चरित्र नायकजी का बनाया हुआ कहा जाता है।

योगविंशिकामें हरिभद्रसूरिने विशुद्ध धर्म-व्यापार को ही 'योग' कहा है। इस धर्म-व्यापार रूप योगके ५ भेद किये हैं; जैसा कि ऊपर लिखा जाचुका है। यों तो ये पांचों भेद श्रावक और साधु अर्थात् देश-चारित्रवालों और सर्वचारित्र वालोंमें ही पाये जाते हैं; किन्तु अपुनर्बंधक और सम्यग् दृष्टि वालोंमें भी इस योगात्मक धर्मके बीज रहते हैं। इन योगोंका प्रादुर्भाव क्षयोपशम-जन्य होता है। क्षमोपशम रूप कारण असंख्यात प्रकारका हो सकता है। इच्छा, प्रवृत्ति आदि रूप योगबलसे अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग और प्रशम आदि की प्राप्ति होती है।

योगविंशकाकी नौवीं गाथासे आगे "चैत्यवंदन" वृत्तिका आधार लेकर योगका क्रियात्मक रूप इस प्रकारसे समझाया है कि—जब कोई भव्य प्राणी "अरिहंत चेइयाणं करेमि काउस्सग्गं" आदिका यथा विधि उच्चारण करता है, तब योगबलेन स्थिरचित्त होनेके कारण वक्ताको पदोंका यथार्थ ज्ञान होजाता है। यह वास्तविक पद-ज्ञान ही अर्थ तथा आलंबन रूप योगवालोंके लिये प्रायः साक्षात् मोक्ष देनेवाला होता है। एवं स्थान तथा वर्ण योगवालोंके लिये परंपरात्मक रूपसे मोक्ष देनेवाला होता है। जो चारों योगोंसे शून्य होता हुआ पदोंका उच्चारण करता रहता है, उसका वह अनुष्ठान व्यर्थ है और मृषावाद रूप होनेसे विपरीत फल देनेवाला होता है।

"योगके अभावमें भी अनुष्ठान किया ही जाना चाहिये, इससे तीर्थकी रक्षा होती है" ऐसा कहना मूर्खता है। ऐसा हरिभद्रसूरि स्पष्ट आदेश देते हुए आगे कहते हैं कि "क्योंकि शास्त्रविरुद्ध विधानका जारी रहना ही तीर्थ-उच्छेद है, मनमाने ढंगसे चलने वाले मनुष्योंके समुदाय मात्रका नाम संघ या जैन-तीर्थ नहीं है; ऐसा समूह तो तीर्थके स्थान पर हड्डियों

का ढेर मात्र है।" आगे फिर कहते हैं कि "विधि-विधानानुसार चलनेवाले एक व्यक्तिका नाम भी तीर्थ हो सकता है। अतएव तीर्थरक्षाके नामसे अशुद्ध धर्म-प्रथाका नाम ही तीर्थत्व है॥

योग रूप धर्मानुष्ठान चार प्रकारका है। प्रीति, भक्ति, वचन और असंग। इनमेंसे चतुर्थ ही अनालम्बन योग है। योगका अपर नाम 'ध्यान' भी है। यह आलम्बन योगरूप ध्यान दो प्रकारका होता है— रूपी और अरूपी। मुक्त आत्माका ध्यान करना अनालम्बन रूप ध्यान है। क्योंकि इसमें केवल मुक्त जीवके गुणोंके प्रति चिंतन, मनन या स्थिरत्व होता है। अतः यह अतीन्द्रिय विषयक होनेसे अनालम्बन रूप योग है।

आचार्यश्रीने अपने षोडशक योगग्रंथमें अनालम्बन रूप ध्यानको रूपक-अलंकार-द्वारा इस प्रकार समझाया है कि—क्षपक आत्मा रूप धनुर्धर, क्षपक श्रेणी रूप धनुषके ऊपर अनालम्बन रूप बाणको परमात्मा रूप लक्ष्यके सम्मुख इस प्रकार चढ़ाता है कि बाण-छूटने रूप अनालम्बन ध्यानके समाप्त होते ही लक्ष्य-वेधरूप परमात्मा तत्त्वका प्रकाश हो जाता है। यही केवलज्ञान है, जो अनालम्बन रूप ध्यान का श्रेष्ठ फल है। इस निरालम्बन रूप ध्यानसे मोह का आत्यंतिक क्षय होकर क्षपक-श्रेणीके बल पर आत्मा तेरहवें गुणस्थानमें पहुँच जाता है और अंत में चौहदवें गुणस्थानको प्राप्त होकर आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

हरिभद्रसूरिने जो बीस विंशिकाएँ लिखी हैं, उन सब पर उपाध्याय यशोविजयजीने भावपूर्ण व्याख्याएँ लिखी हैं। किन्तु उन सब व्याख्याओंमेंसे केवल इस योगविंशिकाकी ही व्याख्या मिल सकी है। यह व्याख्या इतनी भावपूर्ण है कि अपने आप में यह एक ग्रंथ रूप ही है। बीस विंशिकाओंमें योग-विंशिकाकी संख्या १७ वीं है और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि बीस प्राकृत गाथाओं द्वारा संगुफित यह योगका छोटा सा किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उपाध्याय यशोविजयजीने षोडशक नामक योग-ग्रंथ पर भी टीका लिखी है।

ऊपर लिखित पंक्तियोंसे यह प्रतीत होता है कि हरिभद्रसूरिने योग-साहित्य क्षेत्रमें भी विषय-व्याख्या और विषय वर्णन शैलीकी नवीनता द्वारा नया-युग प्रस्थापित किया है। अपने योगविषयक ग्रंथोंमें आप ने जैन योगधारा और पातञ्जल योगधाराका अविरोधात्मक सामञ्जस्य स्थापित किया है।

योग-दृष्टि-समुच्चयमें आठ दृष्टियोंकी नवीनता सम्पूर्ण योग साहित्यमें एक नवीन बात है। "मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, और परा" ये वे आठ नवीन दृष्टियाँ हैं, जोकि स्वरूपतः और दृष्टान्ततः मननीय एवं पठनीय हैं। इस प्रकार योग-साहित्य क्षेत्रमें भी हरिभद्रसूरि एक विशेष धाराके प्रस्थापक एवं समर्थक हैं, यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

(अपूर्ण)

सार्वजनिक भावना और सार्वजनिक सेवा

(ले० बा० माईदयाल जैन, बी० ए०, आनर्स बी० टी०)

अपनी तथा अपने कुटुम्बकी भलाईके छोटे तथा सीमित क्षेत्रसे बाहर निकलकर अपनी गली, शहर, प्रांत, समाज, देश तथा विश्वके जनोंकी निस्वार्थ भावसे भलाई चाहना ही सार्वजनिक भावना (Public Spirit) या (Public spiritedness) है। औरोंके दुःखोंमे दुखी होना, और तड़प उठना, पर-दुःखको अपना दुःख समझना, दूसरोंके सुखकी भावना करना तथा उसमें ही अपना सुख समझना कुछ ऐसी बातें हैं जिनमें उदारता, भातृभाव (Fellowfeeling) तथा एकपन वगैरा प्रकट होते हैं। इससे ही मनुष्यकी उच्चता ज़ाहिर होती है। सार्वजनिक भावना हर एक मनुष्यका वास्तविक गुण है। पर इसका उचित रूपसे विकास और इस प्रवृत्तिकी बाल्यकालसे पुष्टि (Development) और ट्रेनिंग न होनेसे यह भावना स्वार्थभाव या खुद-ग़र्ज़ीमें दब जाती है। सार्वजनिक भावना का प्रचार; प्रोत्साहन तथा पोषण जितना भी अधिक हो उतना ही अच्छा है।

सार्वजनिक भावनासे परोपकार बनता है, जिससे अपने शहर, समाज, प्रांत, देश और दुनियाके दुःख दूर होते हैं, तथा कठिनाइयां मिटकर लोकका हित सधता है, बड़े बड़े काम सफल होते है और संस्थाएँ चलती हैं। इस भावना रूप प्रवृत्त होना मनुष्यका परम कर्त्तव्य है। समाज तथा राष्ट्रहितका आधार यही है। इसमें अपना हित भी छुपा है—परमार्थ या परहितके साथ साथ स्वार्थ सिद्धि भी होती है। स्वहितकी साधनाके खयालसे परहित या सार्वजनिक हितकी भावना करना संकीर्णता तो है, पर बुरी नहीं है। सर्वथा परहितकी भावना उससे भी अच्छी है। सार्वजनिक भावना का प्रत्यक्ष (Direct) तथा परोक्ष (Indirect) और समीप (Immediate) तथा दूरवर्ती (remote) सम्बन्ध दूसरोंसे भी है और अपनेसे भी है।

स्वदेश उन्नतिकी भावनामें परहित और स्वहित दोनों हैं। अपने शहर या समाजकी उन्नतिमें पराये और अपने दोनोंके हित साधन होते हैं। अपने यहां शिक्षा प्रचार, स्त्री-उद्धार, ग्राम-सुधार, मन्दिर-सुधार, बालउन्नतिके कार्य या अन्य सामुदायिक हितकी बातें करना ऐसे काम हैं जिनमें परहितके साथ अपना हित भी सधता है। ऐसे काम भी बहुत से हो सकते हैं जिनसे सर्वथा परका हित होता है।

सर्वहित, सर्वोदय और लोकहितका आधार सार्वजनिक भावना ही है। यह भावना जितने परिमाणमें निःस्वार्थ होगी उतनी ही उत्तम होगी। इसका प्रोत्साहन होना चाहिए। और जितनी यह स्वार्थसे भरी होगी उतनी ही निकृष्ट और निन्दनीय होगी। इसे कम करना और दबाना चाहिए।

स्वार्थभावको न तो सार्वजनिक भावना बनाओ और न बनने ही दो। मुलम्मेको खरेके स्थान पर झूठेको सच्चेकी जगह मत चलाओ। इसको चलने भी न देना चाहिए। जनताको विवेकसे काम लेना चाहिए—ठगाईमें न आना चाहिए। रंगे गीदड़ों तथा टट्टीकी आड़में शिकार खेलने वालोंसे सदा सावधान रहना चाहिये, उनकी ठगाईसे बचना चाहिये। लेकिन हर एकको रंगा गीदड़ और टट्टीकी आड़में शिकार खेलने वाला भी न समझ लेना चाहिये। सब कहते ऐसा ही हैं, पर बहुत कम लोग वास्तवमें खरे होते हैं। इसीसे जनताको विवेक और परीक्षासे काम लेना चाहिए। मुलम्मा भी असली बन कर ही चलना चाहता है। वह

असली-सा बनकर ही चलता है। खरे-खोटेकी जांच होनी चाहिए। पर यह जांच कठिन ज़रूर है।

धर्म और देश ये दो ही ऐसे क्षेत्र हैं, जहां सार्वजनिक भावनाका उपयोग होता है तथा उससे सच्चा हित होता है। परन्तु दुर्भाग्यसे यहीं बड़े बड़े स्वार्थी अपना स्वार्थ साधन करते हैं। काश, हमारे बहुतसे नेता, कार्यकर्ता, सभाओंके पदाधिकारी और धर्मगुरु सच्ची सार्वजनिक भावनासे भरपूर होते।

सार्वजनिक भावना सार्वजनिक सेवाके रूपमें प्रकट होती है। सार्वजनिक सेवाके कार्य करना, तथा उनमें सहयोग देना हर एक आदमीका कर्तव्य है। यदि सार्वजनिक भावना एक फूल है, तो सार्वजनिक सेवा उस फूलकी सुगन्ध है, या उससे पैदा होनेवाला फल है। बिना सुगन्धका फूल कागज़के फूल के समान निरुपयोगी है। कभी कभी वह सजावट या नुमायशका काम जरूर देता है। परन्तु निरी सार्वजनिक भावना किसी कामकी नहीं। बीजरूपसे वह अच्छी है, परन्तु वह सार्वजनिक भावना एक अशक्त या उगनेकी शक्तिरहित बीजके समान न रहनी चाहिए। थोड़ा-बहुत सार्वजनिक काम समय, स्थान (Locality) या जनताकी आवश्यकताके मुताबिक और अपनी शक्तिके अनुसार हर एक आदमीको करना ही चाहिए। सार्वजनिक कामोंमें हर एक आदमीको तन-मन-धनसे सहयोग देना चाहिये। सार्वजनिक कार्यकर्ताको बड़ी बड़ी कठिनाइयोंमेंसे गुज़रना पड़ता है, बड़ी बड़ी परीक्षाओंमेंसे गुज़रना पड़ता है। इनसे कभी घबराना न चाहिए। साहस, निर्भीकता, वीरता, चतुराई तथा कुशलतासे इनको पार करना चाहिए। सच्चे सार्वजनिक कार्यकर्ताकी देर या सवेरमें क़दर ज़रूर होती है और जनता उसकी बात मानती है।

सार्वजनिक कार्यकर्ता न तो किसीकी प्रशंसा चाहता है और न पुरस्कार। जो चाहते हैं उनको वे मिलते भी नहीं। परन्तु जनताका कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक कार्यकर्ताओंका कृतज्ञताके भावसे सन्मान करे, आदर करे, उनको प्रोत्साहन दे, सहयोग दे, सुविधाएँ दें तथा और निश्चिन्त करे।

सार्वजनिक कार्यकर्ताओंमें धैर्य, सहिष्णुता, आशा, साहस, लगन, विशाल दृष्टिकोण, उदारहृदयता, सहयोग, प्रेम, नैतिकता, आदर्शप्रियता आदि गुण बहुत परिमाणमें होने चाहिएँ।

सार्वजनिक सेवाके कार्य बिना अहसान जताए करने चाहियें. सार्वजनिक सेवाके छोटे कार्य भी उतने ही आवश्यक हैं जितने कि बड़े। सार्वजनिक सेवा अपने पासके क्षेत्रमें भी हो सकती है और दूरके क्षेत्रमें भी। समीपके क्षेत्रमें सार्वजनिक सेवा करना ज्यादा आवश्यक है, पर उसमें सीमित रहकर दूरके क्षेत्रकी उपेक्षा करना ठीक नहीं। इसका उलटा रूप भी ठीक नहीं। गुप्तरूपसे सार्वजनिक सेवा करना और भी अच्छा है।

सार्वजनिक भावना और सार्वजनिक सेवाकी जितनी जरूरत पहले थी, आज उससे कहीं अधिक ज़रूरत है। आज हमारी समस्याएँ जटिल हैं और सर्वजन-हितके कार्य महान एवं अनेक हैं।

सार्वजनिक कामोंको करनेका बड़ा साधन सार्वजनिक संस्थाएँ या सभाएं होती हैं। इनके बिना काम होना कठिन है। पर ऐसी संस्थाएं अच्छी और खराब (Bogus) भी हो सकती हैं। कुछ स्वार्थी लोगोंने इनमेंसे बहुतोंको दलबन्दीकी दलदलमें फँसाया हुआ है और उन्हें अपने स्वार्थ साधनके अड्डे बना रक्खा है। ऐसी सभाओं तथा कार्यकर्ताओंकी समालोचना करके जनमतको उनके विरुद्ध तय्यार करना चाहिए, ताकि उनका सुधार होकर उनसे ठीक फलकी प्राप्ति होसके।

संक्षेपमें यही कहा जासकता है कि सार्वजनिक भावना और सार्वजनिक सेवा दो ऐसी बातें हैं जिनकी आज बहुत ज्यादा आवश्यकता है और जिनका अनुष्ठान हर एक व्यक्ति को करना चाहिए। सतारा, ता० २१-४-४१

अयोध्याका राजा

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन,]

[१]

स्त्रीकी सभी बातें ठुकराई जाने लायक होती हैं, इस पर मुझे यक़ीन नहीं ! दूसरी बातोंकी समानता का दावा पेश करना मैं व्यर्थ समझता हूँ, लेकिन जहाँतक बुद्धिवादकी सीमा है, उन्हें बिल्कुल हेच समझनेके लिए मैं तैयार नहीं ! मेरी अपनी रायमें उनका भी कुछ-न-कुछ स्थान है ही ! उन्होंने जहाँ पुरुषको उंगली पकड़ कर चलना सिखाया है, वहाँ जगत्-जननीके रूपमें भी दुनियाको बहुत कुछ दिया है। संसारके सभी महापुरुष उनकी गोदमें पल कर बड़े हुए हैं। सबने उन्हें 'माँ' कह कर पुकारा है ! सबका मातृत्व उनके पास है।

उनमें केवल दुर्गुण-ही-दुर्गुण देखना दृष्टि-दोष हो सकता है, वास्तविक नहीं। अनेकों मिसालें ऐसी दी जा सकती हैं, जब कि पुरुषोंकी बुद्धि स्त्रियोंकी बुद्धि के सामने पराजित होकर नत-मस्तक हुई। उनकी बातको ठुकराकर, पुरुष मान-प्रतिष्ठा, सुख-शान्ति, ज्ञान-विज्ञान और जीवन तकको खो बैठा ! स्त्रीकी एक मीठी-चुटकी सैंकड़ों महोपदेशकोंके महत्व-पूर्ण उपदेशोंसे कहीं ज्यादह होती है, यह पुराणोंमें भरा पड़ा है।...

चन्द्राभाने अपने आराध्य—वीरसेनको बहुत कुछ समझाया-बुझाया, लाख मना किया कि मुझे अयोध्या-नरेश महाराज मधुके सत्कारका भार न सौंपो, उनकी आरती उतारनेके लिए दूसरा प्रबन्ध किया जा सकता है, जो मेरे अभावके सबब भी कम महत्वपूर्ण न होगा ! लेकिन वीरसेनकी समझमें एक न आई ! न आनेकी वजह थी, और उनकी दृष्टि में बड़ी माकूल, कि महाराज मधु उनके बड़े राजा है, बड़ी कृपा रखते हैं ! अभी जो पधारे हैं, वह उन्हींके आग्रह पर, उन्हींके संकट-मोचन करनेके लिए ! भीम उनका नगर उजाड़ रहा था, सिंहासन डाँवाडोल करनेकी ताक़में था, छिपे छिपे शक्ति-संचय कर बाग़ी होने जा रहा था ! अगर वह अपने प्रभु महाराज मधुको यह सन्देश न पहुंचाते, उन्हें उस दुष्टपर चढ़ाई करनेकी सलाह न देते, तो इस अनर्थका हिस्सा कुछ उन्हें भी मिलता कि नहीं ? मधुके कर्तव्यकी बात वह नहीं जानते ! वह जानते हैं सिर्फ इतना कि मधु, जो एक महान पराक्रमी राजा हैं, उनकी बुलवाहट पर आगए, यह गौरवकी बात है ! सौभाग्यकी बात है ! ऐसी हालतमें अब अगर उनके सत्कारमें कुछ कमी रहती है—वे और उनकी पत्नी उसमें जी खोलकर सहयोग नहीं लेते—तो यह बड़े अफ़सोसकी बात होगी।

वीरसेन स्वभावसे भोले और अन्धश्रद्धालु नरेश हैं। वह मधुके अनेक मातहत-राजाओंमें सबसे अधिक स्वामी-भक्त हैं ! शायद यही वजह है कि महाराज मधुकी विशेष कृपा इन्हें प्राप्त है।

लेकिन चन्द्राभा पतिके विचारोंसे जुदा है ! वह यहाँ तक तो सहमत है कि महाराजका पूर्ण सत्कार हो। मगर यह माननेको तैयार नहीं, कि सत्कारकी

पूर्णता उसी पर निर्भर है ! वह सुन्दरी है—परमा-सुन्दरी ! दुर्लभ-सौन्दर्य उसे प्राप्त है, और वह जानती भी है—खूब अच्छी तरह, कि सौन्दर्य एक तेज मदिरा है, वह आँखोंके द्वारा हृदयमें उतरती है ! और उसका नशा—घन्टों नहीं, वर्षोंतक, जीवनांत-तक भी नहीं उतरता ! वह इरादतन ही नहीं, अन-जाने भी चढ़ जाता है । अच्छे चारित्रवाला भी उसका शिकार हो जाता है !

पर यह सब वह महाराजको समझाए कैसे ? वह जो भक्तिमें अपने विवेकको भुलाए बैठे हैं !

नीतिमें कहा है—'अपनेसे बलवान्को, अगर तुम्हारे पास कोई सुन्दर वस्तु हो तो उसे मत दिखाओ !'—चन्द्राभाने अपनी बातको, नीतिकी आड़ लेकर वीरसेनकी स्वामिभक्तिके मुकाबिलेमें खड़ा किया ।

'स्त्रीहठ आजकी चीज नहीं, बहुत पुरानी है ! देखो, तुम व्यर्थ ही महाराज मधुकी महानता पर हमला कर रही हो ! जरासा रूप पाकर तुम्हें अहंकार हो गया है ! नहीं, जानती—महाराजके यहां तुमजैसी सैकड़ों दासियां आंगन बुहारा करती हैं !'—वीरसेन ने इच्छा के विरुद्ध रानीको बोलते देखा तो खीझ उठे ! विरक्त स्वरमें कठोरता व्यक्त करने लगे !

स्त्री अपने जीवनमें दो चीजोंको ज्यादह पसन्द करती है—प्रेम और सम्मान ! पर, चन्द्राभाको वीरसेनसे इस वक्त एक भी न मिली ! उसे दुख तो बहुत हुआ, अपने अपमानका, पतिकी विरक्तताका और इन दोनोंसे भी ज्यादह इस बातका कि उसका भोला, अन्धभक्त पति भविष्यमें निश्चिन्त हो बैठा है ! विरोधी विचारोंका सुनना भी पाप समझता है ।

पर, निरुपाय थी ! पतिका आदेश जो था ! उसे टाला जाना पत्नीत्वका नाश था, जो उसे इष्ट नहीं था—किसी भाव भी ।

सामने सजा हुआ आरतीका थाल रखा था। चुप, उठी और थाल लेकर चलदी ! वीरसेनका मन मारे खुशीके विव्हल हो उठा ! इतनी देर बाद स्त्रीहठको ठेलकर, कामयाबी जो हासिल कर पाए थे ! कम बात थी यह ?

× × × ×

[२]

बहुतबार ऐसा होता है—कि बात मनमें कुछ उठी नहीं कि सामने आई ! आशंका, आशंका न रह कर भय बनी !

पर, वीरसेन जरा भी न समझे कि कुछ हुआ है ! दोनोंने मिलकर आरती की खूब खुशी-खुशी ! और लौट आए ।

लेकिन चन्द्राभा कोशिश करने पर भी यह न भूल सकी कि महाराज मधु उसके ऊपर मोहित हो गए हैं ! आरतीके वक्तकी भाव-भंगी उसे अब भी याद है ! ऐसी याद है जैसे पाषाण पर आंक दी गई हो ! जो मिटेगी नहीं ।

उसने एकान्तमें पतिसे कहा—'देखा कुछ ?'

वह बोले—'क्या ? नहीं तो, मैंने कुछ नहीं देखा !'

'मैंने कहा था, न ? वही हुआ—आपके महाराज का मन स्थिर नहीं रहा है ! वे मेरी ओर बुरी निगाह से देख रहे थे !'—चन्द्राभाने दबी जबानसे, दबे शब्दोंमें कहा और देखने लगी मुँहकी ओर, यह जाननेके लिए कि इसका असर क्या होता है ?

वीरसेन हँसे ।

फिर क़रीब क़रीब हँसते हुए ही बोले—'खूब ! अरे, तुम्हारे मनमें तो 'वहम' घुस गया है ! बेजा

क्या है ? समझती हो—बहुत खूबसूरत हूँ, परी-पैकर हूँ—मेरीसी धरतीके पर्दे पर दूसरी नहीं ! क्यों, इसमें कुछ झूठ कह रहा हूँ क्या मैं ?'

रानीको ऐसा लगा—जैसे उसके पुराने घावमें किसीने पिसा नमक भर दिया ! वह तिलमिला गई, तड़प उठी ! पर, बोली कुछ नहीं।

और उधर—

महाराज मधुका बुरा हाल था ! वह लोकलाज, न्याय-अन्याय, यश-अपयश, धर्म-अधर्म सबका विचार भुला बैठे ! राजा जो ठहरे, बड़े राजा। उन्हें भय तो होता नहीं ! अगर वही हृदयकी प्रेरणाका इतना आदर न करें, तो फिर वश किसका ? कौन कर सकता है ? स्वामित्व जो है, वह किस लिए है ?

खुले आम कहने लगे—'मुझे चन्द्राभा मिलनी ही चाहिए ! वह मेरे मनकी चोर है ! उसके बिना मैं एक मिनट भी विनोदपूर्वक—नहीं बिता सकता ! उसका मिलन ही मेरा जीवन है।'

मंत्रियोंने समझाया—'महाराज ! यह क्या कहते हैं ? बड़ा अयश होगा ! दुनियामें मुँह दिखाने तकको जगह न रहेगी, आपके कुलकी मर्यादा, पूर्वजोंकी कीर्ति, और आपकी न्यायप्रियता सब धूलमें मिल जाएगी ! लोग कहेंगे—'

'लोग कहेंगे, लेकिन मेरा मन तब चुप हो जाएगा, सन्तुष्ट हो जाएगा ! मुझे लोगोंकी पर्वाह नहीं, दुनियाकी पर्वाह नहीं ! मैं ये बातें नहीं, चन्द्राभा को चाहता हूँ ! उसीको चाहता हूँ—जिसने मेरी मनकी दुनियामें तूफ़ान उठा दिया है ! अगर तुम उसे नहीं ला सकते, तो मेरे सामने आनेसे बाज आओ !' —महाराज मधुने बात काटते हुए, जोरदार शब्दोंमें अपनी आन्तरिकताको सामने रक्खा।

मंत्री चुप !

सोचने लगे—'महाराजको कामज्वरने सताया है। कामी किसकी सन्मानरक्षाका ख़याल करता है ? वह आपेमें ही कहाँ रहता है ? महाराजने जो कहा है, वह सब विकृत-मस्तिष्ककी बातें हैं। उन्हें स्वयं इसका ज्ञान नहीं कि उन्होंने क्या कहा !

बहुत देर तक बातें हुईं। मंत्रियोंने अपना उत्तर-दायित्व योग्यतापूर्वक निभाया और इस समझौते पर समस्या स्थगितकी गई कि महाराज युद्धविजय कर अयोध्या लौट चलें। इसके बाद—कुछ ही दिनके अनन्तर, मंत्रीगण किसी चातुर्यपूर्ण युक्तिद्वारा चन्द्राभाको अयोध्या बुलादेंगे। वैसी दशामें उनकी इच्छापूर्तिके साथ साथ, अधिक होने वाले अयशसे भी थोड़ा वह बच सकेंगे।

× × × ×

[३]

मधु ऋतुके प्रारम्भके दिन !—

जब कि हरियाली नवीनताको अपना कर फूली नहीं समाती। भ्रमरोंकी गुञ्जारसे, कोयलोंकी कूकसे उपवनका कोना कोना निनादित होने लगता है। कुसुमसौरभको लेकर समीर भागा भागा फिरता है। समीरणमें उमंग, स्फूर्तिका सन्देश पाकर मानव मौजकी अँगड़ाइयाँ ले उठता है।

तभी एक दिन वीरसेन और चन्द्राभा एक काग़ज़ को लेकर झगड़ रहे हैं। एक ओर दासीकी प्रार्थना है, दूसरी ओर पतिका अधिकार। एक ओर विवशता है, दूसरी ओर उत्सुकता। एक ओर भविष्यकी चिन्ता है, दूसरी ओर भक्तिकी—स्वामी-भक्तिकी प्रबलता।

'देखो, लिखा है—'वसन्तोत्सव मनानेका विशाल आयोजन किया गया है। अनेकों राजे महाराजे

सपत्नीक आ रहे हैं। तुम्हें भी पत्नी सहित शीघ्र पधार कर इसमें सहयोग देना चाहिए।'—सुना अयोध्यानरेश बड़ा भारी मेला करा रहे हैं। और इसमें बुला रहे हैं मुझे और तुम्हें भी। बड़ा प्रेम मानते हैं—हम लोगोंसे। तभी तो?—और देखो, यह नीचे क्या लिखा है—'अगर तुम लोग न आये, या देरसे आए, तो महाराज बहुत बुरा मानेंगे। तुम्हें पत्र पहुँचते ही तैय्यारियाँ शुरू कर देनी चाहिएँ। नहीं तो हमें दूसरा आदमी फिर भेजना पड़ेगा। यहाँ बहुत नरनारी इकट्ठे हो चुके हैं। महोत्सव प्रारम्भ हुए कई दिन बीत चुके।'—वीरसेनने महाराज मधु का आमंत्रणपत्र पढ़ कर सुनाया।

चन्द्राभा जानें क्या सोचती?—चुप बैठी रही! फिर बोली—'यह पत्र मैं कई बार पढ़ चुकी। खूब अच्छी तरह पढ़ कर ही तो कह रही हूँ कि मुझे अयोध्या न ले जाओ, न ले जाओ। तुम अकेले जाकर आयोजनमें हाथ बँटाओ, और मेरे लिए क्षमा याचना कर, महाराजको प्रसन्न करलो। नहीं, मैं कहती हूँ, मेरा मन कहता है—कि तुम्हें पछताना पड़ेगा—मेरे स्वामी!'

'तुम्हें मेरे पछताने या खुश होने से कोई वास्ता नहीं। मैं कहूँ; उसे मानना तुम्हारा धर्म है। मुझे जब तुम्हारी रायकी जरूरत हो, तभी तुम्हें अपनी राय देनी चाहिए। जानती हो, मैं अपने महाराजकी अक्षरशः आज्ञापालनमें आनन्द लेता आया हूं!'—एक पतिहृदयने विवाहित स्त्रीहृदय पर अपने अधिकारका प्रदर्शन किया!

चन्द्राभा बेबस थी। मौतके आगे संसारकी तरह।

बोली—'प्राणाधिक! मुझे अयोध्यानरेशके इस आमंत्रणमें धोखा दिखाई दे रहा है। चाहती हूँ—आप एक बार स्वयं विचार कर देखें। ऐसा न हो कि कुछ ग़लत हो जाए—आपके दुखमें मुझे सुख न मिल सकेगा—स्वामी!'

वीरसेन असलमें चन्द्राभासे देर तक वाद-विवाद करनेके कारण कुछ झुँझलाहटमें भर गए थे। और अब हर बातका उत्तर अपनी अधिकार-सत्तासे देनेके लिये कटिबद्ध थे—'मैं बहुत देरसे सब बातें सुन रहा हूं, अब अधिक कुछ सुननेकी इच्छा नहीं है। कुछ ग़लत हो या सही, मैं कर रहा हूं—जिम्मेदारी उसकी मुझ पर है, तुम पर नहीं। समझती हो?'

चन्द्राभाकी आँखोंमें आँसू भर आए। हिचकीसी लेते हुए बोली—मैं और तुम कभी अभिन्न थे, एकका दुख, दूसरेका दुख था। आज जुदाजुदा हैं।'

वीरसेनने जमी हुई आवाजमें कहा—'हाँ। तभी तो?—मैं कहता हूँ और तुम उसे माननेको तैय्यार नहीं।'

× × × ×

[४]

वसन्तोत्सवकी समाप्ति पर—

महाराज मधु सभी आगत सज्जनोंको दान सम्मान द्वारा सन्तुष्ट कर, विदा कर रहे हैं। सभी प्रसन्नमुख, सपत्नीक खुशी खुशी अपने घर जाते हुए, महाराजके मधुर-व्यवहारकी, आदर-सम्मानकी और देन-दहेजकी प्रशंसा करते जाते हैं।

वटपुरनरेश वीरसेनकी बारी आई—सबके अंतमें! भक्तिसे गद्गद् वीरसेन आगे बढ़े। चन्द्राभा समीप ही थी, थोड़े फासले पर। हृदय उसका धड़क रहा था। न जानें क्यों?

'अच्छा, आप भी?' मधुने कहा।

वीरसेन थोड़े हँसभर दिए सिर्फ !

'ठहरिये न चार छः दिन और ?'

'आपकी ही सेवामें हूं, वहांका काम काज भी तो देखना ही है।'

'जरूर ! हां, तो ऐसा कीजिए—आप चले जायँ, लेकिन रानी जी अभी यहीं रहेंगी। बात यह है, रानी जीके लिए कुछ खास तौरपर आभूषण बनवाए गए हैं—उनमें है अभी देर। जैसे ही बनकर आए नहीं कि हम उन्हें स-सन्मान विदा कर देंगे।

वीरसेन चुप रहे।

'चिन्ता न कीजिए—उन्हें किसी तरहकी तकलीफ न होने पाएगी। आप बेफिक्रीके साथ जा सकते हैं।'—महाराज मधुने स्पष्ट किया।

'अहँह ! आपके यहां तकलीफ ? मुझे चिन्ता क्या ? तो मैं जा रहा हूँ—इन्हें चार छः दिन बाद भेज दीजिएगा।'—और श्रद्धासे मस्तक झुकाते, हाथ जोड़ते हुए वीरसेन लौटे। चन्द्राभाने संकेत किया, पास पहुँचे। बोले—'इसकी कोई बात नहीं। हीरकालंकार बननेमें थोड़ा विलम्ब है, बनकर आ जाएँगे, दो चार दिनमें। तब आ जाना। कुछ कष्ट नहीं होगा—यहां।'

चन्द्राभा रो दी ! जानें कब कबके आंसू रुके पड़े थे ! बोली—'स्वामी धोखा खाकर भी तुम्हें ज्ञान नहीं आता। तुम्हें मनुष्य होकर भी मनुष्यके मनकी पहिचान नहीं।'

वीरसेन फिर तने !

'फिर वही बात ? महाराज मधु ऐसे नहीं, जैसा तुम खयाल करती हो। वे एक बड़े राजा हैं।'

× × × ×

आठ दस दिन बीत गए। जब चन्द्राभा न लौटी तो वीरसेनके मनमें कुछ शक पैदा हुआ। रह रहकर उनके कानोंमें गूँजने लगा—'तुम्हें मनुष्य होकर भी मनुष्यके मनकी पहिचान नहीं।'

क्या सचमुच धोखा खाया गया ?

क्या उसने ठीक कहा था ?

क्या मैंने ग़लती की ?

चारों ओरसे जैसे आवाज आई 'हां !'

वीरसेन अवाक् !

और तभी चल दिए—बग़ैर कुछ सोचे समझे—अयोध्याकी ओर ! हृदय पर आघात जो हुआ था। अनायास वज्र-प्रहार, वह उसे सँभालनेमें असमर्थ हो रहे थे।

× × × ×

अयोध्यावासियोंने देखा—एक पगला, मलिन-वेष, करुणामूर्ति अयोध्याकी गलियोंमें चक्कर काट रहा है। चिल्ला चिल्लाकर कहता है—'मैं वटपुरका राजा हूं। मेरी रानी चन्द्राभाको अयोध्याके राजा मधुने मुझसे छीनकर अपनी पटरानी बना लिया है। कोई मेरा न्याय नहीं करता ?

बच्चोंका मनोरञ्जन होता ! बूढ़े समझदार कहते—'बेचारा ठीक कहता है।' और कुछ मनचले पगले को छेड़ते, चिढ़ाते, चन्द्राभाकी बातें पूछते। वह जहां बैठता घंटों बैठा रहता ! पागल जो ठहरा, मुसीबत का मारा !

महारानी चन्द्राभा अयोध्याके भव्यप्रासादकी खुली छत पर सो रही थी, कि उनकी नींद उचट गई। एक करुण पुकारने उन्हें तिलमिला दिया। पुकार हृदयके भीतरी हिस्सेसे निकल रही थी—

'हाय ! चन्द्राभा······ ?'

वह पड़ी न रह सकी ! वातायन खोलकर झाँका

देखा—एक दरिद्रसा, भिखारीसा, पागलसा, रोगीसा व्यक्ति चिल्लाता, रोता-कलपता भागा जा रहा है।

पहिचाना—यही तो वटपुरके राजा वीरसेन थे, उसके पति!

क्या दशा हो गई है उसके बिना?

कि चन्द्राभाके मुंहसे एक चीख निकल ही गई!

वीरसेन रुक गए। देखा—चन्द्राभा महलकी छत परसे देख रही है!

और वह दौड़ गए—पागलकी तरह!

× × × ×

कुछ दिन बाद, एक दिन—

चन्द्राभाने सुना कि वीरसेन 'मंडवी' साधुके आश्रममें संन्यासी हो गए हैं।

× × × ×

[५]

रोज-रोज दवा खानेसे जैसे दवा खुराक बन जाती है। उसी तरह पाप पुराना होने पर, पुण्य तो नहीं बन जाता—लेकिन यह जरूर है कि उसकी चर्चा नहीं रहती, गिला मिट जाता है, लोग उसे सह-सा जाते हैं। स्मृति, धुँधली हो जानेसे स्वयं पापी भी उसमें कुछ बुराई नहीं देख पाता।···

कई वर्ष बीत चलीं!—

चन्द्राभा पटरानी और महाराज मधु दोनों सुखोपभोगमें रहते चले आए। पिछली बातें बिल्कुल भूली जा चुकीं हैं। कोई गिला, कोई ग्लानि या वैसी ही कोई चीज कभी किसीके मनमें नहीं उठी। वर्षोंके लम्बे अन्तरालने उनकी कटुताको जैसे मिठासमें तबदील कर दिया हो!

चन्द्राभाके मनमें क्या है, इसे तो कोई नहीं जानता। लेकिन वह सदाचरणमें एक गृहस्थिनसी दीखती है। महाराज मधुके साथ जो व्यवहार उसका है, वह पत्नीत्वके आदर्शका द्योतकसा लगता है।

उस दिन दोपहर होने आया, पर, महाराज महल में न पधारे। चन्द्राभा भूखी बैठी प्रतीक्षा करती रही! पतिसे पहले रसोई पा लेना, स्त्रीके लिए कलंक जो माना जाता है!

दोपहर ढला! पर, महाराज न आए, न आए!

वह बैठी रही। भूख उसे लग रही थी, सिरमें कुछ कुछ पीड़ाका अनुभव भी हुआ। पर, उसे बैठना था, बैठी रही!

तीसरे पहर महाराज महलोंमें पधारे, कुछ गंभीर, कुछ थके-मांदे। उच्च आसन पर विराजे, महारानी ने मुस्करा कर सत्कार किया। महाराज भी मुस्कराये, हाथ बढ़ाकर महारानीको समीप बैठाला।

दोनोंके मुख-कमल विकासमय थे।

'आज इतने अधिक विलम्बका कारण क्या है?—जान सकती हूं—क्या?'—

'क्यों नहीं! एक जटिल न्याय आगया था, उसी में देर लग गई!'

'ऐसा क्या मुक़दमा था, जिसका फैसला देते देते दिन बीत चला! भोजन तककी फ़िक्र भूल बैठे?'

'एक पर-स्त्री-सेवीका मामला था। उसका···।'

'पर-स्त्री-सेवीका? आपने उसका क्या किया? सन्मान किया, न?'—चन्द्राभाने बात काटकर पूछा!

'सन्मान? पापीका सन्मान होता है कहीं? उसे तो सजा मिलती है—सजा!'

'क्यों?'

तुम बड़ी भोली हो चन्द्रभा! कुछ समझती नहीं! अरे, पर-स्त्री-सेवन पाप होता है पाप! बहुत बड़ा पाप! वही उसने किया था। पापी था दुष्ट! न धर्म

की ओर देखा न समाजका ख्याल किया !'

'लेकिन तुम्हें उस पर दया करनी थी, उसे छोड़ देना था !'

महाराज हँसे !

'राजनीति तुम जानती नहीं, इसीसे कहती हो ! देखो, दया हर जगह की जाती है। पर, जहां न्याय का सवाल आता है ! वहां न्याय ही होता है। राजा का फ़र्ज़ जो ठहरा ! उस कर्तव्यसे विमुख होकर राजा को नीचा देखना होता है। मानलो, अगर मैं उसे छोड़ देता, तो नतीजा क्या होता ? यही कि देखा देखी पर-स्त्री-सेवनका पाप बढ़ता चला जाता ! लोगों के मनसे राज-भय निकल जाता। और उस सबके पापका भागी होता—मैं ! पूछो क्यों ?'

क्यों ?'—चन्द्राभाने पूँछ दिया !

इस लिए कि मैं राजा हूँ। राजाके ऊपर ही सारे राज्यकी जिम्मेदारी होती है। प्रजाको ठीक रास्ते पर चलाना राजाके कर्तव्यका एक अंग है। पापी, दुष्ट, अधर्मी, अन्यायी, दुराचारी सबको कड़ीसे कड़ी सजा देकर राज्यकी शासन-व्यवस्थाको ठीक तौर पर क़ायम रखना उसका जरूरी काम है।'

तो ?—तो परस्त्री-सेवन पाप होता है !—क्यों ?'

'और नहीं तो क्या ?'

'तो तुमने इसी लिए उसे सजा दी ?'

'हाँ !'

लेकिन वह ग़रीब रहा होगा कोई ? है न यही ?'

'नहीं ! वह ग़रीब नहीं, अच्छा-खासा पैसे वाला था !'

'ऐं ? पैसे वालोंको भी सजा होती है ?'

'क्यों नहीं ! क़ानून सबके लिए एक होता है। कोई राजा हो या रंक ! जो पाप करेगा, अवश्य सजा पायेगा ! क़ानूनके लिए ग़रीब-अमीरका सवाल बेकार है।'

'पर, ऐसा देखनेमें तो नहीं आया······।'—चन्द्राभाने मुस्कराते हुए कहा !

'कैसा ?'—महाराज मधुने आश्चर्यान्वित होकर पूछा !

'ऐसा ही, कि किसी राजाने परस्त्री-सेवन किया और उसे सजा मिली हो !'

'लेकिन मैं ने तो ऐसा नहीं सुना ! राजा अन्याय करते हैं तो उसका प्रतिफल उन्हें भोगना ही पड़ता है। क़ानून जो सबको एक है !'

'आपने सुना नहीं ! पर देखा जरूर है। लेकिन आज भूल रहे हैं ! बड़े लोगोंमें भूलजानेकी आदत जो होती है ! आपका दोष नहीं !'

महाराजका मन डूब-सा गया ! घबराकर बोले—'कह क्या रही हो चन्द्राभा ?'

'यही कह रही थी, कि अपनी ओर भी आप ज़रा देखें। आपने भी पर-स्त्री-सेवन किया है, पाप किया है ! क्या आपने मुझे अपनी स्त्री समझ रक्खा है ? क्या आपने मेरे भोले, स्वामिभक्त पतिके साथ दग़ा कर मुझे नहीं लूटा था ? तब आपका क़ानून—राजा-रंकको दुहाई देने वाला क़ानून—कहाँ गया था ? आपने आँखोंसे देखा—मेरा पति मेरे विरहमें पागल हो, मारा-मारा फिरा—न्यायका दामन फैलाये हुए ! मगर राज सत्ताके आगे उसका क्या वश ?···'

मधु नत-मस्तक बैठे रहे, अपराधीकी तरह। सोच रहे थे—धरती फट जाए तो मैं उसमें समा जाऊँ !

दो बूंद आँसू बहाते, रुँधे-कण्ठसे बोले—'चन्द्राभा ! मुझे क्षमा करदो ! बहुत बड़ा पाप किया है—मैंने !'

× × × ×

दूसरे दिन सुबह !—

अयोध्याका राजा और बटपुर-नरेशकी रानी चन्द्राभा दोनों परमतपस्वी दिगम्बर-साधुके निकट भगवती-दीक्षाकी याचना कर रहे थे, मायामोहसे विरक्त !!!

——

जीवनमें ज्योति जगाना है

(ले०—पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त' साहित्याचार्य)

हे वीरयुवक! गुण गौरव-धन!
यश-सौरभके मञ्जुल उपवन!
हे शान्ति-क्रान्तिके सुन्दर तन!
लग रहा तुम्हीं पर मानव-मन।
इनको आगे ले जाना है,
जीवनमें ज्योति जगाना है।

ये मानव मदमें मत्त हुए,
तज प्रीति, वैरमें रक्त हुए,
सन्मार्ग भूल कर दुखी हुए,
हैं भवावर्तमें पड़े हुए,
जगको सन्मार्ग बताना है,
जीवनमें ज्योति जगाना है।

है विश्व बढ़ा कितने आगे?
पर तुम पीछे कितना भागे?
जग जाग उठा, तुम नहिं जागे,
उठ, जाग, बढ़ो सबके आगे।
आलसको दूर भगाना है,
जीवनमें ज्योति जगाना है।

प्रणवीर भीष्म भी तुम्हीं हुए,
सम्राट् गुप्त भी तुम्हीं हुए,
रणधीर शिवाजी तुम्हीं हुए,
अब हो उदास क्यों पड़े हुए,
कायरता दूर भगाना है,
जीवनमें ज्योति जगाना है।

विद्वेष व्योममें छाया है,
हिंसाने शङ्ख बजाया है,
लालचने साज सजाया है,
खलताने राज्य जमाया है।
दानवता दूर भगाना है,
जीवनमें ज्योति जगाना है।

चमको नभमें सूरज बनकर,
दमको घनमें विद्युत बनकर,
बरसो क्षिति पर जलधर बनकर,
सुख शान्ति रहे जिससे घर घर।
अपना कर्तव्य निभाना है,
जीवनमें ज्योति जगाना है।

अब तक हम तुम सब दूर रहे,
जिससे अपमान अनेक सहे,
आओ मिल जावें, ऐक्य रहे,
जग तुम-हमको नहिं हीन कहे।
जगमें आदर्श दिखाना है, जीवनमें ज्योति जगाना है।

जिनवाणी-भक्तोंसे—

'अनेकान्त' तथा 'जैन सन्देश' में प्रकाशित होने वाली श्री 'भगवत्' जैन लिखित जैन-साहित्य की कहानियोंका अगर कोई महानुभाव अपनी ओरसे पुस्तकाकार संग्रह प्रकाशित करायें तो बहुत उचित और सामयिक चीज बने। कहानियां पुरानी होने पर भी कितनी आधुनिक और मनोरञ्जक हैं, यह 'अनेकान्त' और 'सन्देश' के सभी पाठक जानते हैं। और यही वजह है कि वे खूब पसन्दकी जा रही हैं। अगर संग्रह प्रकाशित होता है, तो वह नवयुगकी एक मूल्यवान देनके साथ-साथ जैन-समाज को बहुत बड़ी कमीकी पूर्ति होगी। स्वल्प व्ययमें ही यह जैन-साहित्यके प्रकाशनका काम हो सकता है! वीरसेवामंदिर सरसावा, या 'महावीर प्रेस आगरासे इस सम्बन्धमें परामर्श कर शीघ्र ही किन्हीं जिनवाणी-भक्त भाईको इसे पूरा करना चाहिए। —पूरनमल जैन B. A. L. L. B. वकील,

वैवाहिक कठिनाइयाँ

[ले०—श्री० ललिताकुमारी जैन, पाटनी 'विदुषी' प्रभाकर]

वाहका प्रश्न आज हमारे समाजमें कितना कठिन और समाधानहीन हो रहा है यह किसीसे भी अविदित नहीं है। इसको सुलझाने और सरल करने का जितना अधिक प्रयत्न किया गया उतना ही यह जटिल और पेचीदा बनता जारहा है। यह प्रश्न इतना जटिल और पेचीदा क्यों हो गया और लोग इसकी कठिनाइयोंके सामने क्यों विवाहको एक जंजाल और उलझन समझने लगे इस पर जिन विद्वानोंने गम्भीर विचार किया उनका मत है कि हमने हमारी ही भूलों और ग़लतियोंसे विवाहके मार्गमें ऐसे-ऐसे कांटे बो दिए जिनके कारण क़दम-क़दम पर हमारे पांव फटते हैं और हम उसके उद्देश्य तक पहुँचनेमें सफल नहीं हो सकते।

हमने हमारी ही मूर्खतासे ऐसे बेशुमार रीति-रिवाजोंको बढ़ा लिया है, जिनमें अधिक से अधिक आर्थिक हानि भी उठानी पड़ती है और विवाहके मौलिक स्वरूप पर भी कुठाराघात होता है। यही कारण है कि विवाह-जैसे शुद्ध और मौलिक संस्कार को हमने सैंकड़ों ही अनावश्यक रीतिरिवाजों से ऐसा आच्छादित कर दिया है कि अब उसका वास्तविक रूप ढूँढनेमें भी बड़ी कठिनाइयां हो रही हैं। हमारी विवाह-प्रणालीको देखकर यही कहा जा सकता है कि लोग अपनी सन्तानके विवाहके समय यह सोचने और समझनेकी बिल्कुल चेष्टा ही नहीं करते कि विवाहका तत्त्व कहां छिपा हुआ है और उस तत्त्वको ढूँढनेके लिये हमें क्या करना चाहिए। हमारी इन पुरानी रूढ़ियों और रीति-रिवाजोंसे वर और कन्या कहां तक उसके उत्तम उद्देश्य और मधुरफलको प्राप्त कर सकेंगे। हम जो कुछ कर रहे हैं वह क्या वास्तवमें विवाह की सम्पूर्णताके लिये किया जा रहा है, इसकी ओर तो किसी का ख़याल ही नहीं है। उनका ध्यान महज़ अपनी अच्छी और बुरी लगनेवाली बातों पर रहता है। ऐसा देखा जाता है कि अपने घरमें विवाह होते समय लोग कोई भी रीति या रिवाज विवाहकी सम्पूर्णताके लिए नहीं करते किन्तु अपनी मान-मर्यादाकी रक्षाके लिये करते हैं। यह होड़ बढ़ी जाती है कि किसने किससे ज्यादा पैसा खर्च किया? इज़्ज़त और मानके क्षेत्रमें कौन किससे आगे बढ़ा? समझमें नहीं आता कि विवाह के समय लोग विवाहकी रक्षा करने की चेष्टा न करके मान-मर्यादाकी रक्षा क्यों करते हैं? इस मान-मर्यादा ही मान-मर्यादामें एकसे एक कुरीति बढ़ती हुई चली गई और आवश्यक तथा अनिवार्य रस्मों की असलियत पर भी स्याही पोत दी गई। मैंने मेरे पूज्य बाबा साहब से हमारी विवाह प्रणाली के सम्बन्धमें कुछ ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे यह पूछा कि हमारे यहां कौन-कौनसे रीति-रिवाज किस-किस तरहसे मनाये जाते हैं, तो उन्होंने मुझे दो महज़रनामे दिए। एक महज़रनामा दि० जैन समाज जयपुरके द्वारा ई० सन् १८८४ में पास किया हुआ है और दूसरा ई० सन् १९२३ में पास किया हुआ है। इन दोनों ही महज़रनामोंको देखकर यह समझमें आया कि हमारी एक भी रीति ऐसी नहीं है जो विवाह की सम्पूर्णताके लिए की जाती हो। यद्यपि इन महज़रनामोंमें रीति-रिवाजोंमें किए गए फिज़ूल खर्च पर रोक लगाई गई है, लेकिन वास्तविक बात तो यह है कि उनमें ९५ प्रतिशत रीतिरिवाज तो ऐसे हैं जो विवाह से क़तई सम्बन्ध नहीं रखते। हमारी प्राचीन विवाह-पद्धति

का कोई ब्योरेवार इतिहास नहीं लिखा गया वरना यह स्पष्ट जाना जा सकता था कि कौनसी रीति किस तरहसे आई और हमारी विवाह-प्रणालीके शुद्ध और संस्कृत मार्गमें ये छोटी-बड़ी गन्दी नालियां किधरसे बह निकलीं, जिनके कारण आज वह बिल्कुल दूषित और गन्दी हो गई है । अब उस गन्दगीको दूर करनेकी नितान्त आवश्यकता है । हमारी विवाह-प्रणालीमें व्याप्त सब कुरीतियों और वास्तविक संस्कारोंके विकृत उपयोगकी विवेचना करनेकी तो इस छोटे से निबन्ध में गुंजाइश नहीं है । क्योंकि निबन्धका कलेवर बढ़ जानेकी आशंका है । इसके लिए तो एक अलग ही बृहद् ग्रन्थ होना चाहिए । किन्तु फिर भी हजारों ही वैवाहिक कुप्रथाओंमें से दहेज़, ज़ेवर डालना आदि कुप्रथाओं पर साधारणतया प्रकाश डाला जा रहा है, जिनके कारण हमको अधिकसे अधिक आर्थिक हानि उठानी पड़ती है । होना तो यह चाहिए कि जो व्यक्ति विवाहके क्षेत्रमें कदम बढ़ाने के लिये तैयार हो, देखे कि वह कहां तक अपने आपको अर्थ-शक्तिसे परिपूर्ण पाता है और वह उसको कहां तक सुरक्षित रख सकेगा. किन्तु होता यह है कि विवाह के पहले यदि वह दस बिस्वा विवाहकी जुम्मेवारियोंको झेलने लायक धनशक्तिसे पूर्ण है तो विवाहके बाद वह पांच ही बिस्वा रह जाता है

कल्पना कीजिए कि आप एक १८ या २० वर्षीय पुत्रके पिता हैं । आपकी आर्थिक परिस्थिति मध्यम है। साधारणतया कमा-खा लेते हैं । घरमें आप, आपकी गृहिणी, विवाहास्पद पुत्र और एक अविवाहित कन्या इस तरहसे चार आदमी हैं । आपके पुत्रकी अभी सगाई नहीं हुई है किन्तु इसकी चिन्तामें आप दिनरात लगे रहते हैं कि उसकी सगाई किस तरह से हो, कभी कभी आपके पुत्रको देखने के लिये दस पांच महानुभाव आये भी, किन्तु पड़ौसियोंसे यह सुनकर कि शादीके समय पर आप तीन जोड़ चांदीके और ज्यादासे ज्यादा दो रकम सोनेकी डाल सकेंगे, निराश होकर चले गये । यद्यपि आपने आये हुए महानुभावोंको यह विश्वास अवश्य दिलाया कि आप चांदीके ज़ोड़ तो सब डाले होंगे लेकिन सोनेके गहनोंमें भी गोखरूकी जोड़ी होगी, बंगड़ी होगी, पौंची होगी, मरेठी होगी, हलकी भारी जंजीर भी होगी और जहांतक हो सका हार बनवानेकी कोशिश भी की ही जायगी । किन्तु आपके पड़ोसियोंने इस पुलबन्दी को उखाड़ दिया और विपक्षीको मालूम हो गया कि गहने आपके नहीं बल्कि आपके किसी सम्बन्धीके हैं और विवाह होनेके बाद उसको सब वापिस कर दिए जायेंगे । किंतु आप पूर्णत: निराश न हुए और सगाईको पार पटकनेके लिए हर तरहसे चेष्टा कर ही रहे हैं । जब आपने देखा कि भरपूर गहनोंके बिना पार पड़ ही नहीं सकती है तो किसी सेठ साहूकारसे ज्यादासे ज्यादा ब्याज पर रुपया उधार लिया । आधी रकमसे गहना बनवा लिया गया और आधी शादीके लिये सुरक्षित रखदी गई । कोई लड़की वाला आया और गहनेको देख कर आपके साथ फँस ही गया । आपके लड़के का विवाह हो गया । आपने मांढे (मँढे) की जीमनवार भी बहुत अच्छी की और बारातमें अधिकसे अधिक संख्यामें सजाकर बरातियोंको ले गये । आपकी गृहिणी भी प्रसन्न है कि काम करनेके लिए घरमें बहू आ गई । आपका पुत्र भी प्रसन्न है कि उसका कुंआरपन उतर गया । ऊपरसे आप भी प्रसन्न हैं, किन्तु भीतर ही भीतर एक विषम चिन्ता खड़ी हो रही है । एक ओर तो घरमें एक आदमीका खर्च बढ़ गया और दूसरी ओर कर्ज ली हुई रकमका ब्याज बढ़ गया। घरमें आमदनी इतनी-सी है कि आप साधारण खा-पी-पहन लें । फल यह होता है कि साहूकारको मूल कहां महीने की महीने ब्याज भी नहीं दे सकते और भोजन कपड़ेकी आवश्यकताओंको पूरी करनेके लिए एक एक करके बहूकी रकमोंको या तो बेचते हैं या गिरवी रखते हैं । धीरे धीरे गहना भी खतम होगया और आपका शरीर भी क्षीण होगया

एक दिन आप परलोकवासी हुए और उसके बाद एक बेरोजगार और चारों तरफसे विपत्तियोंके बादलसे घिरे हुए युवककी जो हालत हुई उसे या तो उसने भोगा या समाजने कठोर हास्यकी दृष्टिसे देखा। सोचिए विवाहका अन्त कितना भयावह हुआ और कितना दुःखद साबित हुआ। क्या वह नवयुवक बार बार यह सोच कर नहीं पछताता है कि मैं व्यर्थ विवाहके जंजालमें फँसा? कुमारपन इस विवाहित जीवनसे लाख दर्जे बेहतर था।

इसी तरह हम एक कल्पना और करें कि आप एक अविवाहित पुत्रीके पिता हैं। आपकी पुत्री सयानी हो चली है और उसके विवाहकी चिन्ता आपकी गर्दन पर सवार है। आपने एक बी० ए० पास लड़केको पसन्द किया। लड़का अच्छे ठिकानेका है। आप हैरान हैं कि लड़केका पिता दस हज़ारका टीका या दहेज मांगता है। दस हज़ार छोड़ कर दस सौ भी आप रोकड़ देनेके लिये असमर्थ हैं। आप मारे-मारे फिरते हैं। इधरसे उधर भटकते हैं, लेकिन जिधर अच्छे घर और बरपर निगाह डालते हैं, लड़केके संरक्षक मुंह फाड़ते हैं। उधर यदि अच्छा घर और वर नहीं देखा जाता है तो आपको अपनी पुत्रीका विचार होता है कि वह कहां जाकर पड़ेगी। सोचिए ऐसी हालतमें आपकी पुत्रीके विवाहका प्रश्न आपके लिए कितना कठिन और जटिल हो रहा है। क्या आप कभी ? यह नहीं सोचते कि ऐसी चिन्तासे तो जहर खाकर मर जाना कहीं अच्छा है। क्या आप रात दिन अखबारोंमें यह नहीं पढ़ते कि ऐसी परिस्थितियोंके समय कुँआरी कन्याएँ बालोंमें तेल डाल कर भस्म हो गईं।

लेकिन इन सबका कारण क्या? यही कि हमने दहेज आदि कुप्रथाओंको प्रोत्साहन दिया और जेवरोंके मोहमें बुरी तरह फँस गये। मान और अहंकारकी रक्षामें हम तबाह भले ही होजाएँ लेकिन उसको सुरक्षित रखनेकी चेष्टा तो करें ही। भले ही उस चेष्टामें हमारा रहा सहा मान भी मिट्टीमें क्यों न मिलजाय और यह बात है भी सच। आज जिस आदमीके पास दस हजार रुपये हैं उसका समाजमें जितना मान है वह दस हजार रुपयेका है और पांच हज़ार किसी विवाहमें खर्च करने बाद उसका मान पांच हज़ार रुपयेका ही रह जायगा। किसी अवसर पर रुपयोंको पानीकी तरह बहाते समय जो हमें वाहवाही मिलती है वह आदर और मान नहीं बल्कि दुनिया हमारी मूर्खता पर तीखे व्यंगके बाण छोड़ती है। उस वाहवाहीमें कठोर उपहास छिपा हुआ है। अस्तु।

ऐसी ही कठिनाइयोंके कारण विवाहका प्रश्न दिन पर दिन गम्भीर और गूढ होता चला जा रहा है और आजकल के युवक व युवतियां इससे घृणा करने लगे हैं और जहां तक हो सकता है वे इससे दूर ही रहना पसन्द करते हैं। बहुत सी पढ़ी लिखी बहनें इसीलिए आज कल विवाह करना नहीं चाहतीं कि सामाजिक कुरीतियोंके कारण उन्हें कोई उपयुक्त साथी नहीं मिलता है। क्योंकि हमारे समाजमें व्यक्तियोंका व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता है किन्तु रुपयेका रुपयेके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। चाहे उस सम्बन्धमें व्यक्तियोंका चकनाचूर ही क्यों न हो जाय। नवयुवक समाजका इस सम्बन्धमें और भी बुरा हाल है। आजकल बेकारी इतनी फैली हुई है कि पढ़े-लिखे युवकोंके लिए अपना भरण-पोषण करना भी मुश्किल हो रहा है। फिर जो यदि उनको विवाहकी जुम्मेवारीमें फांस दिया जाय तो बड़ी किरकिरी होती है। थोड़े दिनोंमें ही वे विवाहके बोझसे ऐसे दब जाते हैं कि उनके संस्कृत जीवनके सब आनन्द और सुख कपूरकी तरह काफूर हो जाते हैं। इसीलिए वे विवाहकी जुम्मेवारीमें पैर रखना कतई पसन्द नहीं करते और इन्हीं कठिनाइयोंके कारण अन्य विलायतोंमें तो पचास प्रतिशत स्त्री-पुरुष अविवाहित जीवन व्यतीत करने लगे हैं। ऐसी हालतको देखकर ही वहांकी गवर्नमेण्टने लोगोंकी इस रुचिसे

घबराकर कई तरहके ऐसे टैक्स बढ़ा दिए हैं जो विवाह न करनेवालोंको चुकाने पड़ते हैं। हमारे भारतमें गवर्नमेंटकी तरफ़से यदि टैक्स नहीं है तो समाजकी तरफ़से उससे भी जबर्दस्त टैक्स लगा रहता है, जिसके कारण हरएक स्त्री-पुरुषको विवाह करना ही पड़ता है। अगर वे कदाचित विवाह न करें तो समाजमें रह नहीं सकते। समाजके साथ अगर उनको चलना है तो विवाह उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। इधर समाजकी विवशता और उधर विवाहकी कठिनाइयां? करें तो क्या करें? अन्तमें विजय समाज ही की होती है और राजी-बेराजी उनको विवाहके बन्धनमें बँधना ही पड़ता है। नवयुवकोंके सामने विवाहकी जो कठिनाइयां पैदा हो रही हैं उसका मुख्य कारण यह है कि हमारे देशमें पुरुषोंको स्त्रियोंकी ओरसे आर्थिक सहायता कतई नहीं मिलती है। जिस घरमें चार महिलाएँ और एक पुरुष है उसमें अकेला पुरुष कमाता है और पांच व्यक्ति उस पर बसर करने वाले होते हैं। उस पर भी मज़ा यह कि महिलाओंको एक एकसे एक बढ़कर ज़ेवर भी चाहिएँ, बेश-कीमती कपड़े-लत्ते भी चाहिएँ और कुरीतियोंको अदा करनेके लिये बेशुमार फिज़ूलखर्च भी चाहिए। ऐसी स्थितिमें बेचारे पुरुषोंकी बड़ी दयनीय अवस्था हो जाती है और वे रात दिन कोल्हूके बैलकी तरह रुपयेके पीछे-पीछे चक्कर लगाते रहते हैं। हम कहते हैं कि गृहस्थ-जीवनमें बड़ा आनन्द और सुख है। आपही बताइए क्या यही आनन्द और सुख है? जिन पर ऐसी आफ़त गुज़री है या गुजर रही है वे ही जानते हैं कि इसमें आनन्द है या दुःख। ऐसी ही हालतको देखकर आजकलके नवयुवक विवाहसे बेतरह घबरा रहे हैं। इसके अलावा जो यदि विवाहके क्षेत्रमें कदम उठाना भी चाहें तो पहले यह देखें कि विवाह करनेके पहले उनके पास भरपूर पैसा भी है या नहीं, जिनके पास भरपूर पैसा नहीं है वे तो विवाहका नाम भी नहीं ले सकते। समझमें नहीं आता कि विवाहका तत्त्व निचोड़कर इस पैसे ही पैसेमें किस तरह रख दिया गया। आजकल देशमें किसके पास पैसा है? पैसा जो था वह तो सब विलायतोंको जा चुका और सोनेकी चिड़ियाका केवल खाका ही खाका रह गया। जिनके पास अपना गुजर करनेके लिए भी पर्याप्त पैसा न हो वे विवाहमें भरपूर पैसा कहांसे खर्च कर सकते हैं। यह अवस्था मध्यम स्थितिके लोगोंमें अधिकतासे देखी जाती है। ऊँची श्रेणीके लोगोंको तो ये कठिनाइयां इसलिए नहीं मालूम होतीं कि उनके पास काफी पैसा रहता है और वे हर एक अनावश्यक रीतिको भी आसानीके साथ अदा कर सकते हैं। उनके घरमें चाहे कितने ही अनकमाऊ और निकम्मे बैठे-बैठे खानेवाले हों, पुरखाओं-द्वारा कमाई हुई धन-दौलत पर सब ऐशो-आराम भोग सकते हैं। निम्न श्रेणीके लोगोंमें यह देखा जाता है कि विवाह होते ही एकके बजाय दो कमाने लगते हैं और घरकी स्थिति पहलेसे अच्छी तरह संभाल ली जाती है। दोनों खेतमें काम करते हैं, दोनों पत्थर ढोते हैं, दोनों मजदूरी करते हैं, दोनों जंगलमें गायें चराते हैं, दोनों कपड़ा धोते हैं, दोनों कपड़ा सीते हैं। एक दूसरेकी कमाई पर ढिठाईसे बसर नहीं करता है। किन्तु मध्यम स्थिति और ऊँची श्रेणीके लोगोंमें इसके बिल्कुल विपरीत देखा जाता है। अफ़सोसकी बात है कि यदि किसी घरमें आर्थिक कष्टसे महिलाएँ उद्योग-धन्धोंसे अपना काम चलाने लगें तो उनको अनादरकी दृष्टिसे देखा जाता है। हमारे घरोंकी और घरवालोंकी इसीमें शान है कि महिलाएँ पर्देकी बीबी बनकर पुरुषोंकी कमाई धन-दौलतपर भोग-विलास करती रहें और अपनी ज़िन्दगीको बिल्कुल अकर्मण्य कर डालें। किसी कविने कहा है--

रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परवसथशायी।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः॥

अर्थात्– रोगी, बहुत देर तक विदेशमें रहने वाला,

दूसरेके अन्न पर बसर करने वाला और दूसरेके मकानमें रहने वाला इनका जीना मरनेके समान है और मरना सदाके लिये विश्राम करना है।

इसी तरह एक कवि और भी लिखते हैं–

> ईर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
> परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः॥

अर्थात्– ईर्ष्या रखनेवाला, घृणा करनेवाला, असंतुष्ट रहनेवाला, क्रोधी, सदा शंका करनेवाला और दूसरेके भाग्य पर जीनेवाला ये छह दुःखके भागी हैं।

बहुधा लोग समझते हैं कि यदि एक पुरुष किसीके पैदा किए धन पर बसर करता है तो उसके लिए यह दूषण है, किन्तु स्त्रियां यदि अपने घरके आदमियों-द्वारा कमाये हुए धन पर बसर करें तो उनके लिए तो यह शोभा ही है। ठीक है। किन्तु यह बात तब उपयुक्त हो सकती है जब महिलायें घरका हरएक काम अपने ही हाथोंसे करती हों और पुरुषोंके द्वारा कमाये हुये धनको व्यर्थ नौकरों और नौकरानियोंकी तनख्वाहमें न खर्च कराती हों। किन्तु आज हमारे घरोंमें तो यह चल रहा है कि पुरुष कमाते कमाते परेशान हो जायं और बहनें उसको खर्च करते करते नहीं थकें। तथा घरका हरएक काम नौकरों और नौकरानियोंसे कराया जाय और वे सदा निकम्मी और अकर्मण्य बनी रहें। ऐसी हालतमें हम यह कैसे मानलें कि बैठे-बैठे खाना और पुरुषोंकी कमाई धन-सम्पत्तिसे ऐशो-आराम करना स्त्रियोंके लिये शोभाकी बात है। अगर बहनें घरका सब काम अपने ही हाथोंसे करती हों, खुद खाना बनाती हों, हाथसे आटा पीसती हों, अनाज बीनती हों, बर्तन मांजती हों, कपड़े-लत्ते सीती हों और नौकरोंमें कतई कुछ भी खर्च न कराती हों तब तो यह ज़रूर कहा जा सकता है कि उनके लिये पुरुषों की सम्पत्तिका उपयोग करना शोभाकी बात है। इतना ही नहीं बल्कि महिलाएं कुछ ऐसे घरेलू उद्योग-धन्धों, जैसे चर्खा कातना, सिलाई करना, कसीदा निकालना, बेल बूटेके काम आदिको भी अपनावें और उनसे द्रव्योपार्जन करें ताकि पुरुषोंका बोझ बहुत कुछ हलका हो सके। और जो स्त्रियां पढ़ी लिखी हों वे अन्य तरीको जैसे अध्यापन, डाक्टरी, नर्सिंग आदिसे कमावें, ताकि उनका भार पुरुषोंके ऊपर न रहे। यदि ऐसा होने लगे तो पुरुषोंको विवाह करने पर कोई कठिनाई मालूम न हो और वे सुखपूर्वक दाम्पत्य-जीवनको सहन कर सकें।

इसी तरह वैवाहिक कठिनाइयोंके प्रश्नको हल करनेके लिए हम दहेज आदि कुप्रथाओंको दूर करें और विवाहमें व्यर्थ खर्च न करें। जितना कम खर्च किया जा सके करें और आडम्बर या शानशौकतमें पड़कर धन-सम्पत्तिको बरबाद न करें अथवा कर्ज लेकर अपना और भावी सन्तति का जीवन नष्ट न करें। इस तरह विवाहका प्रश्न गरीब, अमीर, छोटे, बड़े, राजा, रंक आदि सबके लिए बहुत सरल हो जायगा और हमें बहुत कुछ इसकी कठिनाइयोंसे आसानी के साथ छुट्टी मिल जायगी।

—×—

लहरोंमें लहराता जीवन

श्री 'कुसुम' जैन

लहरोंमें लहराता जीवन !
पलमें उभार पलमें उतार, थिर नेक न रहता मेरा मन !
लहरोंमें लहराता जीवन !
इस अगम धारका पार नहीं, चढ़ रहा ज्वार पतवार नहीं !
ज्यों ज्यों हलका करता जाता, होता जाता है भारीपन !
लहरोंमें लहराता जीवन !
तन रहे निराशाओंके घन, आशा चल-चपलाका नर्तन !
तमके झुरमुटमें इङ्गितकर, भर देता उरमें उत्पीड़न !
लहरोंमें लहराता जीवन !
परिवर्तनशील ज़माना है, क्या जाने क्या होजाना है !
बढ़ते यौवनके साथ साथ, घटता जाता है धीरज धन !
लहरोंमें लहराता जीवन !
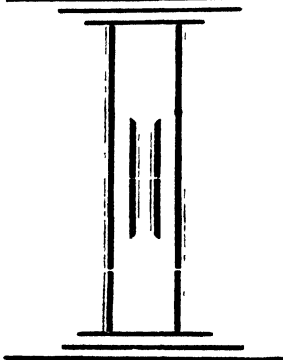
रत्नत्रय-धर्म

[ले०—पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य]
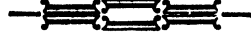
आत्मा और शरीर जुदे जुदे दो पदार्थ हैं। आत्मा अनन्त गुणोंका पुञ्ज है, प्रकाशमान है, चैतन्य ज्योतिरूप है; परन्तु शरीर जड़-भौतिक पदार्थ है। आत्मा अजर अमर अविनाशी है, परन्तु शरीर जीर्ण शीर्ण होकर नष्ट हो जानेवाला है। जब तक यह आत्मा संसारमें रहता है तब तक उसके साथ शरीरका सम्बन्ध होना अवश्यम्भावी है। मुक्ति अवस्थामें शरीरका सम्बन्ध नहीं रहता। आत्माके अनन्त गुणोंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन गुण मुख्य हैं। ये आत्माके ही स्वरूप हैं। इनमें प्रदेश-भेद नहीं है, सिर्फ गुण गुणीकी अपेक्षा ये न्यारे न्यारे कहलाते हैं। जिस प्रकार एक समुद्र वायुके वेगसे उठी हुई लहरोंकी अपेक्षा अनेक रूप दिखाई देता है परन्तु उन लहरों और समुद्रके बीच प्रदेशों की अपेक्षा कुछ भी अन्तर नहीं रहता उसी प्रकार आत्मा और सम्यग्दर्शनादिमें प्रदेशोंकी अपेक्षा कुछ भी अन्तर नहीं रहता। वस्तुदृष्टिमें जिस तरह अनेक लहरें समुद्ररूप ही हैं उसी तरह सम्यग्दर्शनादि भी आत्मरूप ही है।

'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमिहोच्यते', इस नियमके अनुसार आत्मगुणोंमें सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण उक्त तीन गुण ही 'रत्नत्रय' कहलाते हैं। इस तरह जैनसम्प्रदायमें रत्नत्रयका अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र प्रचलित है। आगे इन्हींका विशेष स्वरूप लिखा जाता है।

सम्यग्दर्शन

अनादि कालसे इस आत्माका पर-पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होरहा है; जिससे वह अपने स्वरूपको भूल कर पर-पदार्थोंको अपना समझ रहा है। कभी यह शरीरको अपना समझता है और कभी कुछ विवेक-बुद्धि जागृत होती है तो शरीरको पृथक् पदार्थ मान कर भी कर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुखको अपना समझता है, जिससे यह आत्मा अत्यन्त दुखी होता है। 'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, निर्धन हूँ, धनाढ्य हूँ, सबल हूँ, निर्बल हूँ, ये मेरे पुत्र हैं और मैं इनका पिता हूं' इस प्रकारके विकल्पजालमें उलझा हुआ यह जीव अपने आपके शुद्धस्वरूपको भूल जाता है। जीवकी इस अवस्थाको 'मिथ्यादर्शन' कहते हैं। मिथ्यादर्शन वह अन्धकार है जिसमें यह आत्मा अपने आपको नहीं पहचान सकता—अपने आपको पर-पदार्थोंसे न्यारा अनुभव नहीं कर सकता। जिसने अपने स्वरूपको पहिचाना ही नहीं वह उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न ही क्यों करेगा?

एक सिंहका बच्चा छुटपनसे सियारोंके बीच पला था, जिससे वह अपने आपको भी सियार समझने लगा था। जब कभी गजराज सामने आता तो वह भी अन्य सियारोंकी भांति पीछे भाग जाता था। एक दिन वह पानी पीनेके लिये नदीके तीर पर गया। ज्यों ही उसने पानीमें अपना प्रतिबिम्ब देखा त्यों ही वह अपने आपको सियारोंसे भिन्न अनुभव

करने लगा। वह उसी समय सियारोंकी संगति छोड़कर सिंहोंमें जा मिला। अब वह गजराजको देखकर पीछे नहीं हटता किन्तु झपटकर उसके मस्तक पर बैठता है। सुनते हैं कि कौए कोयलोंके बच्चोंको अपने घोंसलोंमें उठा लाते हैं और अपना समझकर उनका पालन-पोषण करते हैं। उस समय कोयलके बच्चे भी अपने आपको कौआ समझते हैं, पर समझदार होने पर जब वे अपनी कुहू कुहू और कौएकी काँव काँवका अन्तर समझने लगते हैं त्यों ही वे उनका साथ छोड़कर अपने झुण्डमें जा मिलते हैं। इसी प्रकार जबतक यह आत्मा मिथ्या-दर्शन रूप अन्धकारमें आवृत हो अपने आपको भूला रहता है तबतक मिथ्यादृष्टि कहलाता है परन्तु जब विवेक बुद्धिके जागृत होनेपर आत्माको आत्मरूप और परको पररूप समझने लगता है तब सम्यग्दृष्टि कहलाने लगता है उसके इस भेद-विज्ञान और तद्रूप श्रद्धानको ही 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। इस भेद-विज्ञान और तद्रूप श्रद्धानसे ही जीव मोक्ष प्राप्त करनेके लिये समर्थ होते हैं। इसीलिये इनकी प्रशंसा करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रजीने लिखा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

अर्थात्—अभी तक जितने सिद्ध हो सके हैं वे एक भेद-विज्ञान के द्वारा ही हुए हैं और अभी तक जो संसारमें बद्ध हैं—कर्म कारागारमें परतन्त्र हैं—वे सिर्फ उसी भेदविज्ञानके अभावके फलस्वरूप हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका मुख्य लक्षण स्वपरको भेदरूप श्रद्धान करना है। यहाँ सम्यक् शब्दका अर्थ सच्चा और दर्शनका अर्थ विश्वास-श्रद्धान होता है।

सम्यग्दर्शनका दूसरा स्वरूप

एक बार दो लड़के किसी मल्ल (पहलवान) के पास पहुँचे। दोनोंकी अवस्था सत्रह-अठारह सालके बीच थी। परन्तु दोनों ही शरीरसे दुबले-पतले थे। दोनोंके गाल पिचके हुए थे, कमर झुक रही थी और कंधे नीचेकी ओर ढले हुए थे। मल्लने उनसे कहा—यौवनके प्रारम्भमें आप लोगोंकी यह अवस्था कैसी? मल्लकी बात सुनते ही उन दोनों बालकोंमेंसे एक बोला—उस्ताद! मेरा शरीर जन्मसे ही ऐसा है, हमारे शरीरका यही स्वभाव है। परन्तु उसका दूसरा साथी सोचता है कि यदि शरीरका स्वभाव दुबला होना होता तो फिर ये उस्ताद इतने हट्टे-कट्टे क्यों हैं? मालूम होता है कि मुझमें कुछ खराबी है यदि उस खराबीको दूर कर दिया जावे तो प्रयत्न करने पर मैं भी उस्ताद जैसा हो सकता हूँ। उसने उस्तादको अपना लक्ष्य बनाया, व्यायाम-विद्याका ज्ञान प्राप्त किया और अपने आगेके साथियोंकी पद्धति देखकर व्यायाम करना शुरू कर दिया, जिससे वह थोड़े ही दिनोंमें हट्टा-कट्टा एवं बलिष्ठ हो गया। अब वह मदमाती चालमें झूमता हुआ चलता है और उसका दूसरा साथी जो कि दुबला-पतला होना अपने शरीरका स्वभाव समझे हुए था अपनी उसी हालत पर है।

पाठक! ऊपर लिखे हुए उदाहरण से सिद्ध होता है कि जीवात्माको अपने सच्चे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए सबसे पहले एक लक्ष्यकी आवश्यकता है, फिर शुद्धस्वरूपको प्राप्त करनेके उपायोंका जानना आवश्यक है और इसके बाद आवश्यकता है जाने हुए उपायोंको कार्यरूपमें परिणत करनेकी। जाने हुए उपायोंको कार्यरूपमें परिणत करने वाले पुरुष भी उसके उस काममें सहायक होते हैं।

इन सब बातोंको स्मरण रखकर ही जैन शास्त्रोंमें सम्यग्दर्शनका दूसरा लक्षण बताया है—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥

'यथार्थ (सच्चे) देव, शास्त्र और गुरुओंका आठ अङ्ग सहित तीन मूढ़ता और आठ मद रहित श्रद्धान करना—विश्वास करना—सम्यग्दर्शन कहलाता है।'

यथार्थ देव शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर चुके हैं, इस लिये वे लक्ष्य हैं। जैसा स्वरूप उनका है वैसा ही मेरा है, इसलिये उनका श्रद्धान करना आवश्यक है। यथार्थ शास्त्रोंसे शुद्ध स्वरूप प्राप्त करनेके उपायोंका ज्ञान होता है, इसलिये उनका श्रद्धान करना आवश्यक है। और यथार्थ गुरु उस शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करानेवाले उपायोंको कार्यरूपमें परिणत करते हैं इसलिये उनका श्रद्धान करना भी आवश्यक है।

यथार्थ देव

जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो और हितोपदेशी हो वही यथार्थ—सच्चा देव है। जिसकी आत्मासे राग-द्वेष-क्षुधा-तृषा-चिन्ता आदि १८ दोष दूर हो चुके हों उसे 'वीतराग' कहते हैं। जो संसारके सब पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानता है उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं और जो सबके हितका उपदेश देवे उसे 'हितोपदेशी' कहते हैं। हितोपदेशी बननेके लिये वीतराग और सर्वज्ञ होना अत्यन्त आवश्यक है। असत्य-अहितकर उपदेशमें मुख्य दो कारण हैं एक कषाय अर्थात् राग-द्वेषका होना और दूसरा अज्ञान। मनुष्य जिस प्रकार कषायके वश हो कर—पक्षपातमें—असत्य कथन करने लगता है उसी प्रकार अज्ञानसे भी अन्यथा कथन करने लगता है, इसलिये हितोपदेशी बननेके लिये देवको वीतराग और सर्वज्ञ होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जैनसम्प्रदायमें यह स्पष्ट शब्दोंमें कहा जाता है कि जिसमें वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता हो वही सच्चा देव है उसका नाम वीर, बुद्ध, हरि, हर, ब्रह्मा, पीर, पैगम्बर कुछ भी रहो। जिस देवमें उक्त तीन गुण हों उसे जैनशास्त्रोंमें अर्हत्, अरहन्त, जिनेन्द्र, आप्त आदि नामोंसे व्यवहृत किया गया है।

अर्हन्त अवस्था जीवकी जीवन्मुक्त अवस्था है, इससे आगे की अवस्था मुक्त-सिद्ध अवस्था कहलाती है। अर्हन्त अवस्थामें शरीरका सम्बन्ध रहनेसे हितोपदेश दिया जा सकता है परन्तु सिद्ध अवस्थामें शरीरका अभाव हो जानेसे हितोपदेश नहीं दिया जा सकता। वहाँ सिर्फ वीतराग और सर्वज्ञ अवस्था रहती है। इन्हींको 'ईश्वर' कहते हैं ये व्यक्ति-विशेष की अपेक्षा अनेक हैं और सामान्य-जातिकी अपेक्षा एक हैं। प्रयत्न करने पर हमारे और आपके बीचमें से प्रत्येक भव्य प्राणी यथार्थ देवकी अवस्था प्राप्त कर सकता है। जैनियोंका यह ईश्वर सर्वथा कृतकृत्य और स्वरूपमें लीन रहता है। जैनी सृष्टिके रचयिता ईश्वरको नहीं मानते और नहीं यह मानते कि कोई एक ईश्वर पाप-पुण्यका फल देने वाला है। जीव अपने किये हुए अच्छे बुरे कर्मोंके फलको स्वयं ही प्राप्त होता है। देवगतिमें रहने वाले भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक भी देव कहलाते हैं परन्तु इस प्रकरणमें उनका ग्रहण नहीं होता और न जैनसिद्धान्त उनको पूज्य ही मानता है।

यथार्थ शास्त्र

जो शास्त्र सच्चे देवके द्वारा कहे गये हों, जिनकी युक्तियाँ अकाट्य हों, जिनमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाणसे बाधा नहीं आती हो और जो लोक कल्याणकी दृष्टिसे रचित हों उन्हें 'यथार्थ शास्त्र' कहते हैं। शास्त्र सच्चे देवके वे उपदेशमय वचन हैं

जो कि आज सच्चे देवका अभाव होने पर भी उनके सिद्धान्त समाजके सामने प्रकट कर रहे हैं। शास्त्र की प्रामाणिकता वक्ताकी प्रामाणिकतासे होती है। जैन शास्त्रोंके मूल वक्ता वीतराग और सर्वज्ञ देव माने गये हैं, इसलिये उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र यथार्थ हैं—सत्य हैं। वर्तमानमें जो शास्त्र उपलब्ध हैं या जो उपलब्ध हो रहे हैं उनके साक्षात् कर्ता वीतराग और सर्वज्ञ नहीं हैं तथापि उनकी आम्नायानुसार रचित होनेके कारण प्रामाणिक माने जाते हैं। जैनियोंका मुख्य उद्देश्य है वीतरागता प्राप्त करना—रागद्वेषको दूर करना। यही सिद्धान्त इनके छोटेसे लेकर बड़े बड़े शास्त्रों तकमें एक स्वरसे गुम्फित किया गया है। अनेकान्त-स्याद्वाद इनका मुख्य स्तम्भ है। जैन शास्त्र बारह अङ्गोंमें विभक्त हैं। इनमें हर एक विषय का पूर्ण विवेचन है। कोई भी विषय इनसे अछूता नहीं रहा है, पर कालदोषसे या वर्तमान जैनजाति के प्रमादसे भारतका वह महान साहित्य लुप्तप्राय हो गया है!

यथार्थ गुरु

जो स्पर्शन, जिह्वा, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पाँच इन्द्रियोंके विषयोंकी आशासे रहित हों, सब प्रकारके परिग्रह—रुपया पैसा वगैरह—का त्याग कर चुके हों, यहाँतक कि शरीरको आच्छादित करनेके लिये जो एक भी वस्त्र अपने पास न रखते हों, व्यापार आरम्भ वगैरहसे रहित हों, हमेशा ज्ञान और ध्यानमें लीन रहते हों वे 'यथार्थ गुरु' कहलाते हैं। ये मुनि होते हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील-व्यभिचार तथा परिग्रह इन पांच पापोंका बिलकुल ही त्याग किये रहते हैं। रातमें न तो गमन करते हैं और न बोलते हैं। दिनमें श्रावकोंके घर जाकर एक बार भोजन करते हैं। ये भोजन तथा औषधि वगैरह की याचना नहीं करते। ये कामविकारके जीतनेका सर्वोच्च आदर्श उपस्थित करते हैं, जिससे वे अनेक सुन्दर ललनाओंके बीच आसीन होकर भी नग्न होने में लज्जाका अनुभव नहीं करते और न उनकी इन्द्रियों में किसी प्रकारका विकार नजर आता है। ये जीवों की रक्षाके लिये मयूरपिच्छकी बनी हुई एक पीछी और शारीरिक अशुचिता दूर करनेके लिये एक कमण्डलु अपने पास रखते हैं। ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एक दो शास्त्र भी इनके पास होते हैं। इससे अधिक वस्तुएँ इनके पास नहीं होतीं। इन गुरुओंके तीन भेद हैं १ आचार्य २ उपाध्याय ३ साधु। जो नवीन शिष्योंको दीक्षा देते हों और सब पर शासन रखते हों एवं तीव्र तपस्वी हों वे आचार्य कहलाते हैं। जो मुनिसंघमें पठन-पाठनका काम करते हैं उन्हें 'उपाध्याय' कहते हैं और जो सामान्य मुनि होते हैं वे 'साधु' कहलाते हैं। ये सब संसारके जंजालसे छूटकर जंगलके प्रशान्त वायु मण्डलमें विचरा करते हैं। ये मुक्ति मार्गके पथिक कहलाते हैं।

सम्यग्दर्शनका तीसरा स्वरूप

ऊपर कहे हुए दो लक्षणों के सिवाय सम्यग्दर्शन का एक स्वरूप और भी कहा गया है। वह है—'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् जीव, अजीव आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों—पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान-विश्वास करना सो सम्यग्दर्शन है। इन सात तत्त्वोंका वर्णन करनेमें जैनियोंके बड़े बड़े शास्त्र भरे हुए हैं। उनका विशेष स्वरूप लिखनेमें लेखका कलेवर अधिक हो जानेका भय है। उनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ जीव—जिसमें चैतन्य—जानने देखनेकी शक्ति—हो।

२ अजीव—जो जानने देखनेकी शक्तिसे रहित हो।
३ आस्रव—मन-वचन-कायकी क्रियाद्वारा जो आत्मा में कर्मोंके आगमनके द्वाररूप हो।
४ बन्ध—आस्रव-द्वारसे आये हुए कर्मपरमाणुओंका आत्माके साथ मिल जाना।
५ संवर—नवीन कर्मपरमाणुओंका प्रवेश रुक जाना।
६ निर्जरा—पहलेके स्थित कर्मपरमाणुओंका तपस्या वगैरहके द्वारा एकदेश नाश हो जाना।
७ मोक्ष—आत्मा और कर्मपरमाणुओंका हमेशाके लिये अलग अलग हो जाना।

मुख्यमें जीव अजीव यही दो तत्त्व हैं, शेष तत्त्व इन्हींके संयोगसे होते हैं। हम यह पहले लिख आये हैं कि जैन लोग सुख दुःखका दाता ईश्वरको न मान कर कर्मको मानते हैं क्योंकि ईश्वर वादियोंके सामने जब यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि ईश्वर पक्षपातसे रहित होने पर भी किसीको धनी किसीको निर्धन किसीको दुःखी और किसीको सुखीको क्यों बनाता है? तब अन्तमें उन्हें भी कर्मकी शरण लेनी पड़ती है। वे भी कहने लगते हैं कि जो जैसा कर्म करता है ईश्वर उसे वैसा ही फल देता है।

कर्म एक प्रकारका सूक्ष्म अचेतन पदार्थ है, जो आत्मामें राग द्वेष होनेसे उसके साथ बंध जाता है और बादमें वही आत्माके ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको ढक कर उसके सांसारिक सुख दुःखका कारण हो जाता है। अच्छा तो, आत्मा और कर्मरूप अजीव पदार्थ इन दो पदार्थोंके मिलनेका जो कारण है वह 'आस्रव' हुआ मिल जाना 'बन्ध' हुआ, आस्रवका न होना अर्थात् नवीन कर्मोंका न आ सकना 'संवर' हुआ, पहले आये हुए कर्मपरमाणुओंका तपस्या-वगैरहसे दूर कर देना 'निर्जरा' और इन सबके बाद आत्मा और कर्मका अलग अलग हो जाना 'मोक्ष' हुआ। मानवशरीर और रोगके परमाणु ये दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ये दोनों जिस कारणसे मिलेंगे वह रोगपरमाणुओंका आस्रव होगा, रोगपरमाणुओं का मानव शरीरमें मिल जाना उनका बन्ध होगा, नवीन कारणोंका न होना संवर होगा, पहलेके मिले हुए रोगपरमाणुओंका औषधि प्रयोगसे अलग होना निर्जरा होगी, और इसके बाद मानव शरीरसे जब रोगपरमाणु सर्वथा अलग हो जावेंगे तब मानव शरीर रोगसे उन्मुक्त हो जावेगा, यह हुआ रोग परमाणुओंका मोक्ष। यही हाल आत्मा और कर्म परमाणुओंके विषयमें समझना चाहिये। मोक्षाभिलाषी जीवको ऊपर लिखे हुए सात तत्त्वोंके सच्चे स्वरूपका श्रद्धान करना आवश्यक है।

यद्यपि सम्यग्दर्शनके लक्षणोंमें ऊपर लिखे हुए तीन प्रकारोंमें स्वरूप भेद ज़ाहिर होता है परन्तु विचार करने पर उनमें अर्थ भेद नहीं होता। सभी एक दूसरेके सहयोगी हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शके आठ अङ्ग

जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें दो हाथ दो पांव नितम्ब पृष्ठ, वक्षःस्थल और शिर ये आठ अङ्ग होते हैं और इनमें कमी होने पर मनुष्यके व्यवहारमें पूर्णताकी कमी रहती है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी आठ अङ्ग होते हैं जिनमें न्यूनता होनेसे सम्यग्दर्शनमें भी न्यूनताका अनुभव होने लगता है। आठ अङ्ग ये हैं—१ निःशङ्कित २ निःकांक्षित ३ निर्विचिकित्सा ४ अमूढदृष्टि ५ उपगूहन या उपबृंहण ६ स्थितिकरण ७ वात्सल्य और ८ प्रभावना।

निःशङ्कित—जिन विषयोंका निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाण

और युक्तियोंसे नहीं हो सकता हो ऐसे सूक्ष्म आदि पदार्थोंके सद्भावमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना अथवा अपने श्रद्धानसे विचलित करने वाले जीवन मरण आदिके भयसे रहित होना सो निःशङ्कित अङ्ग है। इस अङ्गके धारक जीवके आगे यदि कोई पिस्तौल तानकर कहे कि 'तुम अपने स्वपर भेदविज्ञान या श्रद्धानको छोड़ दो नहीं तो अभी जीवन-लीला समाप्त किये देता हूं' तो भी वह अपने श्रद्धानसे विचलित नहीं होगा। सर्वथा निःशङ्क-निर्भय रहेगा।

निःकांक्षित—सम्यग्दर्शन धारणकर भोग सामग्री की चाह नहीं करना सो निःकांक्षित अङ्ग है। सम्यग्दृष्टि जीव यही सोचता है कि संसारके विषय सुख कर्मपरतंत्र हैं, नाशवान हैं, दुःखोंसे व्याप्त हैं और पापके बीज हैं; इसलिये उनमें आस्था तथा आसक्ति रखना ठीक नहीं है।

निर्विचिकित्सा—ग्लानिको जीतना—खासकर मुनि आदि धर्मात्मा पुरुषोंके शरीरमें रोग आदि होने पर किसी प्रकारकी ग्लानि नहीं करना और अपना कर्तव्य समझकर निःस्वार्थ भावसे उनकी सेवा करना निर्विचिकित्सा अङ्ग है।

अमूढ़दृष्टि—विवेकसे काम लेना, अच्छे बुरेका विचार कर काम करना और दूसरोंका अनुकरण कर मिथ्यारूढ़ियोंको स्थान नहीं देना 'अमूढ़दृष्टि' अङ्ग है।

उपगूहन—दूसरेको बदनाम करनेकी इच्छासे दूसरेके दोषोंको प्रकट करना—उसकी निन्दा न करना। हो सके तो प्रेमसे समझाकर सुमार्ग पर लगा देना 'उपगूहन' अङ्ग है। इस अङ्गका दूसरा नाम 'उपबृंहण' भी है, जिसका अर्थ आत्म गुणोंकी वृद्धि करना है।

स्थितिकरण—सत्य धर्मसे विचलित होते हुए जीवको समयानुकूल उपदेश देकर, अपनी सेवाएँ समर्पित कर तथा आजीविका आदिकी व्यवस्था कर पुनः उसी सत्यधर्ममें स्थिर करना 'स्थितिकरण' अङ्ग है।

वात्सल्य—संसारके समस्त प्राणियोंसे मैत्री भाव रखना उनके सुख-दुःखमें शामिल होना तथा धर्मात्मा जीवोंसे गो-वत्सकी तरह अक्षुण्ण प्रेम रखना 'वात्सल्य' अङ्ग है।

प्रभावना—लोगोंके अज्ञानको दूर कर उनमें सच्चे ज्ञानका प्रचार करना, जिससे दूसरे लोग सत्य धर्म की ओर आकृष्ट होसकें इसे 'प्रभावना' अङ्ग कहते हैं।

विचार करने पर मालूम होता है कि इन आठों अङ्गोंसे सहित सम्यग्दर्शनमें समस्त संसारका कल्याण संनिहित है। पक्षपात रहित जैनेतर सज्जनों का भी यह अनुभव है—यदि संसारके जीव अष्टांग सम्यग्दर्शनको धारण कर लें तो संसारकी अशान्ति क्षण भरमें शान्त हो जावे और सभी ओर सुख-शान्तिकी लहर नजर आने लगे।

तीन मूढ़ताएँ

लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता, ये तीन मूढ़ताएँ—मूर्खताएँ कहलाती हैं। इनके वश होकर जीव अत्यन्त दुःख उठाते हैं।

१ लोकमूढ़ता—यह मानी हुई बात है कि संसार के तमाम जीवोंमें ज्ञानकी न्यूनाधिकता देखी जाती है। जिन्हें ज्ञान कम होता है वे अपनेसे अधिक ज्ञानवालेका अनुकरण करते हैं। अधिक ज्ञानवाले किसी परिस्थितिसे मजबूर होकर कोई काम शुरु करते हैं, बादमें अल्पज्ञानी उनकी देखा देखी वह काम शुरु कर देते हैं और परिस्थिति बदल जाने पर भी वे उसे दूर नहीं करते। ऐसे कार्योंको 'लोकरूढ़ि'

कहते हैं। कहावत है—

एक बार महर्षि वेदव्यास सूर्योदयके पहले गङ्गा-स्नानके लिये गये। उस समय कुछ कुछ अँधेरा था इसलिये उन्हें सन्देह हुआ कि जब तक मैं अशुचि-बाधासे निमटनेके लिये अन्यत्र जाता हूँ तब तक सम्भव है कोई मेरा कमण्डलु ले जावे—ऐसा सोच कर वे अपने कमण्डलु पर बालूका एक ढेर लगा गये। वे समझे थे कि हमारे इस कामको किसीने नहीं देखा है; परन्तु पीछेसे आनेवाले एक दो सज्जनों ने उनके इस कामको देख लिया था। देखनेवालोंने सोचा कि गंगाके तीर पर बालूका ढेर लगानेसे पुण्य प्राप्ति होती है; यदि ऐसा न होता तो व्यासजी ढेर क्यों लगाते? थोड़ी देर बाद गंगाके तीर पर बालू के अनेक ढेर लग गये। व्यासजी अब लौटकर आते हैं तो भूल जाते हैं कि मेरा कमण्डलु किस ढेर में है। दो चार ढेर देखनेके बाद वे बड़े निर्वेदके साथ कहते हैं कि—

> गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः।
> बालुकापुञ्जमात्रेण गतं मे ताम्रभाजनम्॥

अर्थात—लोक अनुकरणप्रिय है—सिर्फ देखा देखी करता है—उसमें सचाई नहीं है—देखो न? बालूका ढेर लगाने मात्रसे मेरा कमण्डलु गायब होगया।

पर्वतपरसे गिरना, नदियोंमें डूब मरना, सती होना आदि सब लोकमूढ़ताएँ हैं। सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञानसे इनमें सत्यकी खोज करता है, उसे जिनमें सत्य प्रतीत होता है—सचाई मालूम होती है—उन्हें ही करता है, बाकी सब लौकिक मान्यताओंको छोड़ता जाता है।

देवमूढ़ता—अभागे भारतवर्षमें इस मूढ़ताने सब से अधिक रंग जमा रखा है। पीपलमें, बड़में, नदीमें, नालेमें, घरमें, तालाबमें, जहाँ देखो वहाँ देव ही देव दिखाई देने लगे हैं। लोग अपनी इच्छाओंको पूर्ण करनेके लिए उनकी पूजा-भक्ति आदि करते हैं, वर-दान मांगते हैं। सौमें एक दोको सौभाग्यसे यदि अनुकूल फलकी प्राप्ति होगई तो वे अपनेको कृतकृत्य मानने लगते हैं, यदि नहीं हुई तो देवको नाराज़ मानते हैं। यह सब देवमूढ़ता है। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि जो देव स्तुति करनेसे प्रसन्न और निन्दा करनेसे नाराज़ होता हो वह देव ही नहीं है। यदि हमारे अच्छे भाव हैं तो हमें फलकी प्राप्ति अपने आप होगी। किसीके देने न देनेसे क्या हो सकता है। इसलिये वह रागी द्वेषीको नहीं पूजता। पूजना है तो एक वीतराग सर्वज्ञ देवको। जिन्हें न स्तुतिसे प्रेम है और न ही निन्दासे अप्रसन्नता। जैनधर्म तो यहां तक कहता है कि जो वीतराग देवको भी किसी भौतिक वस्तुके पानेके लोभसे पूजता है वह मिथ्या-दृष्टि है। वह भक्ति नहीं है वह तो एक प्रकारका सौदा है। निष्कामभक्तिके सामने सकाम भक्तिका दर्जा बहुत तुच्छ है।

गुरुमूढ़ता— नाना वेषधारी गंजेड़ी भंगेड़ी आदि गुरुओंको विवेकरहित होकर पूजते जाना गुरुमूढ़ता है।

सम्यग्दर्शन बतलाता है कि जिसे तुम पूज रहे हो उसकी कुछ परीक्षा भी तो करलो, उसमें कुछ अहिंसा और सत्य भी है या नहीं। खेदके साथ लिखना पड़ता है कि आज भारतवर्षमें इसी गुरु-मूढ़ताके कारण अनेक लुच्चे-लफंगे पुज रहे हैं और सच्चे साधु कष्ट उठा रहे हैं।

आठ मद

अपने आपको बड़ा और दूसरेको तुच्छ समझना

'मद' है वह आठ तरहका होता है—१ ज्ञान, २ पूजा (प्रतिष्ठा), ३ कुल (पितृपक्ष), ४ जाति (मातृपक्ष), ५ बल, ६ सम्पत्ति, ७ तप और ८ शरीर।

सम्यग्दृष्टिजीव अपने आपको लघु समझ कर हमेशा महान बननेका प्रयत्न करता है। मैं बड़ा हूँ और तुम छोटे हो, जब तक यह भावना रहती है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन विनयवान जीव ही प्राप्त करसकते हैं।

सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, वह हमेशा आत्मा में ही रहता है। परन्तु इसका विरोधी मिथ्यात्वकर्म जब तक आत्मामें अड्डा जमाये रहता है तब तक वह प्रकट नहीं हो पाता। ज्यों ही इस जीवको सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है त्यों ही इसके तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें अपने आप शान्त होजाती हैं। यद्यपि यह पूर्व संस्कारसे विषयोंमें प्रवृत्ति करता है तथापि वह उनको अपना कर्तव्य नहीं समझता—उनसे अपने आपको भिन्न अनुभव करता है। जिस प्रकार धाय अपने मालिकके पुत्रका अपने पुत्र जैसा ही पालन-पोषण करती है—उसके सुख-दुःखमें अपने आपको सुखी दुखी मानती है। परन्तु भीतर से उसकी अन्तरात्मा कहती है कि यह तेरा पुत्र नहीं है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि पुरुष भी संसारके समस्त कार्य करते हुए भी उन्हें अपना नहीं समझता। पाप को पुण्य समझकर करना और पापको पाप समझकर करना इन दोनोंमें प्रकाश और अन्धकारकी तरह भारी अन्तर है।

सम्यग्दर्शन सुखका कारण है

एक दरिद्र मनुष्यके पास बहुत कीमती रत्न था, पर उसे वह मामूली पदार्थ समझता था। एक दिन किसी जौहरीने उससे कहा कि यह रत्न है और इस की कीमत एक लाख रुपये हैं। जौहरीके वचन सुनते ही दरिद्र मनुष्य आनन्दसे उछलने लगा। जिसे वह तुच्छ पदार्थ समझ रहा था वही एक महामूल्यवान रत्न था। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव अपने जिस आत्माको तुच्छ पदार्थ समझकर सुखकी चाहमें इधर उधर घूमता फिरता था वही जीव सम्यग्दर्शन होने पर अपने आपकी कीमत समझने लगता है और उसे उस हालतमें जो सुख प्राप्त होता है वह वचनोंसे नहीं कहा जा सकता।

सम्यग्दर्शनकी बाह्य पहिचान

जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो जाता है उसके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण प्रकट हो जाते हैं। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ प्रशम—राग द्वेष आदि कषायोंसे चित्तकी वृत्ति हट जाना।

२ संवेग—संसारके दुःखमय वातावरणसे भय उत्पन्न हो जाना।

३ अनुकम्पा—दीन दुखी जीवोंको देखकर हृदयमें दया उत्पन्न हो जाना।

४ आस्तिक्य—देव, शास्त्र, गुरु, व्रत तथा परलोक आदिका विश्वास होना।

जिस पुरुषके जीवनमें ये चार गुण प्रकट हो चुके हों उसे सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये। यह स्थूल पहिचान है। अन्तरात्माकी गति सर्वज्ञ जाने।

सम्यग्दर्शनका प्रभाव

जिस जीवको सम्यग्दर्शन होजाता है भले ही वह किसी भी जातिका क्यों न हो परन्तु आदरणीय समझा जाने लगता है। सम्यग्दृष्टि जीव मर कर नरक और पशु योनिमें उत्पन्न नहीं होता। उत्तम मनुष्य ही होता है और हर एक तरहसे सुखी रहता है। सम्यग्दृष्टि जीव थोड़े ही समयमें संसारके दुःखों से छुटकारा पाजाता है। सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमें प्राप्त किया जा सकता है। (अपूर्ण)

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[मूल लेखक—प्रो० ए० चक्रवर्ती, एम० ए०, आई० ई० एस०]

(अनुवादक—सुमेरचन्द जैन दिवाकर, न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी० ए०, एल-एल० बी०)

[गत ३ री किरणसे आगे]

शोधर कथाका स्थान भारतखण्डके औडयदेश-स्थित राजपुरमें है। राजाका नाम मारिदत्त है। नगरमें कालीका एक मंदिर है, जो चंडमारी देवीको समर्पित किया गया है। यह इस चंडमारी देवीके लिए एक महान उत्सवका समय था। मंदिरके अहातेमें बलिदानके निमित्त नर - मादा पक्षी, पशु, जैसे कुक्कुट, मयूर, चिड़ियां, बकरे, भैंस आदि एकत्रित किए गए थे। इनको नगरवासी देवीको अपनी बलि चढ़ानेको लाए थे। अपने राजकीय पद और प्रतिष्ठाके अनुरूप राजा मारिदत्त चाहता था, कि मैं न केवल साधारण पशु-पक्षियों की बलि करूं, बल्कि मनुष्य-युगलकी भी। इससे उसने अपने कर्मचारीको आदेश दिया कि वह मानव-स्त्री-पुरुषके ऐसे जोड़ेको लावे जिसका कालीके आगे बलिदान किया जाय। वह कर्मचारी आज्ञानुसार नर-युगलकी शिकारमें निकला। उसी समय सुदत्ताचार्यके नेतृत्वमें एक ५०० जैन मुनियोंका संघ आया, और नगरके समीपवर्ती उद्यानमें ठहर गया। इस संघमें अभयरुचि और अभयमती नामके दो भाई बहिन तरुण विद्यमान थे। ये दोनों नवदीक्षित तरुण लम्बे प्रवासके कारण बहुत थक गए थे, चूंकि वे संघके वृद्ध साधुओंके कठोर संयमका पालन करनेमें अनभ्यस्त थे, अतः संघनायकने नगरमें भिक्षा-निमित्त जानेकी उन्हें आज्ञा प्रदान करदी थी। वह कर्मचारी जो मनुष्य शिकारकी खोजमें निकला था, इस सुन्दर तरुण युगलको पकड़कर आनंदित हुआ। उसने उन्हें कालीके मंदिरमें ले जाकर इस बातकी राजाको सूचना दी। राजा मारिदत्त आनंदित होकर इस सुन्दर युवक-युगलकी बलि करनेकी मंशासे कालीके मंदिरमें पहुँचा। जहां एकत्रित लोगोंने इस सुन्दर युवक-युगलसे कहा कि तुम कालीसे प्रार्थना करो, कि वह इस यज्ञके फल-स्वरूप नरेश तथा देश पर अपना आशीर्वाद प्रदान करे। दोनों तपस्वियोंको इस बात पर हँसी आ गई। उन्होंने स्वयं ही राजाको इस प्रकारका आशीर्वाद दिया कि वह इस क्रूरतापूर्ण पूजासे विमुख होजाय, जिससे उसे उस पवित्र अहिंसाधर्मके ग्रहण करनेमें प्रसन्नता हो जो उसे सुरक्षित आध्यात्मिक स्वर्गमें लेजानेवाला है। जब उन्होंने यह बात, अपने सुन्दर मुख-मण्डल पर हास्यकी रेखाको धारण करते हुए, कही तो राजा आश्चर्यान्वित हुआ; क्योंकि वह इस बातको नहीं समझ सका कि मृत्युके समक्ष ऐसे दो तरुण तथा सुन्दर व्यक्ति कैसे इस प्रकारकी मानसिक शांति धारण किए हुए हैं जिससे वे इस सारे खेलकी ओर ऐसे हँसे हैं मानो इससे इनका कोई सम्बन्ध ही न हो। अतः वह इस बातका कारण जानना चाहता था, कि इस गंभीर स्थितिमें वे क्यों हँसे थे। राजाने यह भी जाननेकी इच्छा प्रकट की कि वे कौन हैं और वे नगरमें क्यों आए, इत्यादि? बलिदानके लिए जो तलवार निकाली गई थी वह पुनः म्यानके भीतर रखदी गई। राजा को इस बातके जाननेकी धुन सवार हो गई कि उस तरुण युगलके अद्भुत व्यवहारका क्या कारण है? राजाकी इच्छा-नुसार अभयमतीके भाई अभयरुचिने उत्तर देना आरंभ

किया। "हम लोग निर्भीकतापूर्वक क्यों हँसे इसका कारण हमारा यह ज्ञान है कि प्रत्येक प्राणीके साथ जो बात बीतती है वह उसके पूर्व कर्मोंका फल है। यह अज्ञानका ही परिणाम है जो अपने कर्मोंके फलसे बचनेके लिये यह जीव डरता है। अतः हम अपने दैवसे नहीं डरते जो कि हमारे पुराकृत कर्मोंका विपाक है। हमें तो केवल इससे हँसी आती है कि यहां सारा दृश्य महान अज्ञानमें मग्न है। हमने चावलोंके आटेके बने हुए मुर्गेका वध करके अपने उस कर्मके फलसे सात भवों तक तुच्छ पशुओंकी पर्याय धारण की और अनेक प्रकारका दुःख उठाया। केवल अबकी बार हमें फिरसे मानव शरीर धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। हम यह भली भांति जानते हैं कि यह सब दुःख-संकट हमारी कालीके लिए बलि चढानेकी मूर्खतापूर्ण आकांक्षाका ही परिणाम था, यद्यपि हमने आटेके बने हुए कृत्रिम मुर्गेका बलिदान किया था। इस बातका परिचय रखनेके कारण हम यहांके लोगोंके भोलेपन और अज्ञानता पर उस समय अपनी हँसी न रोक सके, जब आपकी प्रजाने अनेक पशु-पक्षियों तथा नर-बलिके फलस्वरूप आपके और आपके राज्यके अभ्युदय तथा कल्याणके लिए हमसे चंडमारी देवीसे प्रार्थना करनेको कहा।"

जब राजाने यह बात सुनी तब उसने बलि चढानेका विचार छोड दिया और मृत्युके मुखमें प्रविष्ट होते हुए भी अद्भुत शांति प्रदर्शन करने वाले उन दोनों व्यक्तियोंके जीवनके विषयमें विशेष जिज्ञासा व्यक्त की। इस तरह पहला अध्याय समाप्त होता है।

दूसरे अध्यायमें इन दोनों तरुणोंकी कथा वर्णित की गई है और बतलाया है कि एक कृत्रिम मुर्गेके बलिदानसे किस प्रकार उन पर भारी आपत्ति आई है। यह दृश्य मालवदेशकी अवन्तीकी राजधानी उज्जैनीका है। उस देशके शासक एक अशोक थे। उनकी रानीका नाम चंद्रमती था। यशोधर उनका पुत्र था। ये ही युवराज यशोधर इस कथाके नायक हैं। यशोधरने अमृतमती नामकी एक सुन्दरी राजकन्याके साथ पाणिग्रहण किया था। इस सुन्दरी रानीने यशोमति नामके पुत्रको जन्म दिया। वृद्ध नरेन्द्र अशोकने अपने पुत्र यशोधरके लिए राज्यका परित्याग किया और यह उपदेश दिया कि तुम राजनीतिके अनुसार सत्यतापूर्ण शासन के सिद्धान्तोंका पालन करना। उसने अपने पुत्रको यह भी बताया कि किस प्रकार उसे धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ-त्रयका रक्षण करना चाहिये। साथ ही, अहिंसा सिद्धांत पर स्थित अत्यंत पवित्र धर्म तथा धार्मिक पूजाको स्थिर रखनेका भी उपदेश दिया। यह सब शिक्षा देकर तथा उस प्रदेशका अपने पुत्रको नरेश बनाकर वृद्ध महाराजने साधुका जीवन अंगीकार किया और वे अपना समय आश्रममें बिताने लगे। जब यशोधर महाराज और महारानी अमृतमती सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे तब एक दिन बहुत सबेरे महारानी ने महावत (हाथीवान) का मालपंचम रागमें मधुर गायन सुना। रानी संगीतमें आसक्त हो गई और उसने अपनी दासी गुणवतीको उस व्यक्तिको लानेको भेजा, जिसने इतना मधुर गीत गाया था। इस आज्ञासे दासीको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने महारानीको अपनी प्रतिष्ठा और गौरवको स्मरण करनेकी सलाह दी, किन्तु रानीने उस व्यक्तिको लानेका आग्रह किया जिसके प्रेममें वह आसक्त होगई थी। इस लिये दासीको उस महावतको लाना पड़ा, जो भयंकर कुष्ठ रोगसे ग्रस्त था। इस प्रकारका घृणित शरीर होते हुए भी मूर्ख रानीने उस नीचके साथ घनिष्ठता उत्पन्न करली। शुरूमें इस सारे मामलेका राजाको कोई परिज्ञान न था किन्तु राजाको शीघ्र ही रानीके घृणित आचरणका पता चला। रानीके व्यवहारमें विचित्र व्यामोह देखकर राजा जगतकी विभूतियोंसे विरक्त हो गये और वे राजकीय आनंदका त्याग कर जगतको छोड़नेका प्रबन्ध करने लगे। उसी समय

राजाको एक अशुभ स्वप्न दिखाई दिया कि उस आकाशसे चन्द्रमा पृथिवीकी ओर गिरा और उसका प्रकाश और दीप्ति नष्ट हो गये। राजाको भय उत्पन्न हुआ कि यह किसी आपत्तिका द्योतक है, वह अपने स्वप्न-द्वारा पहिलेसे ही सूचित किये गये अनिष्टके उपायको जानना चाहता था। महाराजके द्वारा राजमातासे पूछे जाने पर यह सलाह मिली कि इस प्रकारके संकट निवारणके लिये कालीके समक्ष कोई प्राणीका बलिदान करना चाहिये। नरेश अहिंसा धर्मके सच्चे आराधक थे इसलिये उन्होंने पशुबलिको स्वीकार नहीं किया। अतः राजमाता और महाराजने एक समझौता किया जिसके अनुसार महाराजको कालीके लिये चावलके आटेके बने हुए मुर्गेकी बलि चढ़ाना स्थिर हुआ। इस तरह कालीके लिये कृत्रिम मुर्गेका बलिदान किया गया। इस तरह संकटों का आरंभ हुआ। इतनेमें महारानीको जब यह विदित हुआ कि उसके चरित्रको राजा तथा राजमाताने देख लिया है तब वह उन दोनोंके प्रति घृणा करने लगी और अंतमें उसने विषके द्वारा दोनोंके प्राण लेनेमें सफलता प्राप्त की। इस प्रकार राजा और राजमाताके निपटने पर इस दुष्टा रानी अमृतमतीने अपने ही पुत्र यशोमतिको अवन्तिदेशका नरेश बनाया। कालीके लिये बलिदान करनेके फलसे यशोधर और राजमाता चन्द्रमती लगातार ७ भवोंमें हीन पशु पर्यायोंमें उत्पन्न होते रहे।

तीसरे अध्यायमें यशोधर महाराज और उसकी माताका अवश्य पशु तथा पक्षी पर्यायोंमें उत्पन्न होनेका तथा वहां भोगे गये उनके दुःखों तथा कष्टोंका वर्णन है।

चौथे अध्यायमें नवीन नरेश यशोमतिका वर्णन है। अभयरुचि और अभयमतीकी कथा भी बताई गई है, जो कि पूर्वभवोंमें यशोधर और राजमाता चन्द्रमती थे। अंतमें जब राजा मारिदत्तको पूरी कथा ज्ञात हुई तब उनकी आकांक्षा इस पवित्र अहिंसा धर्मके विषयमें विशेष जाननेकी उत्पन्न हुई, और वे नगरके समीपवर्ती उद्यानमें विराजमान गुरु महाराजके समीप लाए गये जहां जाकर राजा पवित्र अहिंसा धर्ममें दीक्षित होगये। इसके अनंतर राजाने स्वयं कालीको पशुबलि चढ़ानेका त्याग ही नहीं किया किन्तु अपनी प्रजाके आगे यह घोषणा कराई कि अब इस प्रकारका बलिदान नहीं किया जाना चाहिये। इस प्रकार राजाने धर्म तथा मंदिरकी पूजाको अपने राज्यभरमें ऊँचा उठा दिया तथा अधिक पवित्र कोटि में ला दिया था। तामिल भाषाके यशोधर काव्यकी यह कथा है, जिसके रचयिताके सम्बन्धमें हमें कुछ मालूम नहीं है। यह कथा संस्कृत साहित्यमें भी पाई जाती है। संस्कृत भाषाके यशोधर काव्यमें यही कथा वर्णित है, परन्तु यह स्पष्ट नहीं मालूम कि तामिल अथवा संस्कृत काव्योंमें कौन पहिलेका है।

यह तामिल भाषाका यशोधर काव्य वर्तमान लेखकके स्वर्गीय मान्यमित्र टी. वैंकट रमन आयंगर द्वारा सर्व प्रथम छपाया गया था। दुर्भाग्यसे वह संस्करण खतम हो गया है और इसलिये पाठकोंको वह हालमें नहीं मिल सकता है।

(क्रमशः)

"जहां लुब्ध इन्द्रियां जमा होकर भीड़ नहीं करतीं, वहीं मनको नई सृष्टि करनेका अवसर मिलता है।"

"संयम मनुष्यको सुशोभित करता है, और स्वतन्त्र बनाता है।"

"जिस मार्गपर चलनेसे सारे अभावोंकी पूर्ति हो जाती है, अर्थात् अभावका अभावरूपमें बोध नहीं होता है, वही निवृत्ति-मुख मार्ग प्रेय (प्रिय) न होने पर भी श्रेय (कल्याणकारी) है। उसी मार्ग पर जो चलते हैं, वे वास्तवमें स्वयं भी सुखी होते हैं और अपने उज्ज्वल दृष्टांतद्वारा औरोंके दुखोंका भार भी—सर्वथा नहीं तो बहुत कुछ—हल्का कर देते हैं।"

—विचारपुष्पोद्यान

'अनेकान्त' पर लोकमत

१४ बा० रतनलालजी जैन, बी० एस-सी०, बिजनौर—

"अनेकान्त पत्रको मैं बड़ी श्रद्धासे देखता हूं। ऐसे पत्रकी जैनसमाजमें बड़ी आवश्यकता है। जैननीति वाला लेख तथा उसकी तसवीर मुझे बहुत ही पसन्द आई— उस उदाहरणसे अनेकान्तको बड़ी सरलतासे समझाया है। मैं चाहता हूं कि यदि जैननीतिका दधिमन्थनवाला चित्र बड़े आकारमें छपकर मन्दिरोंमें लग जाने तो बड़ा लाभ समाज का होगा। यह जैननीति सरलतासे समझमें आ सकेगी। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक लेखोंका भी बड़ा महत्त्व है।"

१५ श्री जैनेन्द्रकुमार जैन, देहली—

"जैनशास्त्रके विचार और गवेषणाकी दिशामें 'अनेकान्त' ने अपना कर्तव्य देखा है। सम्पादनमें उस कर्तव्यको ईमानदारीसे निबाहा जाता है। उसके लक्ष्यकी छाप हर अंक पर मिलती है। जन-सामान्य अर्थात् जैन-सामान्यके वह और भी अधिक कामका हो, यह कामना है।"

१६ पं० कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', सहारनपुर—

"हिन्दीमें 'अनेकान्त' अपने ढंगका इकला पत्र है— वह पाठकोंकी हल्की प्रवृत्तियोंका उपयोग करके अपना विस्तार चाहनेकी आजकी आम प्रवृत्तिसे बहुत दूर है। उसके सुयोग्य सम्पादक श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार उसके पृष्ठोंमें वही कहते हैं जो उन्हें कहना है, कहना चाहिये। मैंने सदा ही उनकी इस प्रवृत्तिका अभिनन्दन किया है।

अनेकान्तका नववर्षांक अनेक सुन्दर लेखोंसे सुभूषित है। वीर-सेवा-मन्दिरके श्री परमानन्द शास्त्री इधर धीरे २ खोजपूर्ण लेखकोंकी श्रेणीमें आकर खड़े होगये हैं। इस अंकमें उनका महत्वपूर्ण, मौलिक स्थापनापूर्ण जो लेख— तत्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज—छपा है, वह उसका मूल्य आंकनेमें बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं उन्हें बधाई देते हुए आनन्द अनुभव कर रहा हूं।

समन्तभद्र पर दोनों सम्पादकीय लेख सुन्दर हैं। श्री कामताप्रसाद जी का 'इलोराकी गुफाएं' लेख पढ़कर प्रत्येक हिन्दुस्तानीको दुख होगा और जैनियोंमें तो आग लग जानी चाहिये। श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र (श्री प्रेमी) अहिंसातत्व (श्री ब्रह्मचारीजी), विवाह और हमारा समाज और तामिल भाषाका जैनसाहित्य आदि लेखोंमें भी विचारसामग्री है।

मुखपृष्ठका चित्र जैनीनीतिका सम्पूर्ण प्रदर्शन है। इस वैज्ञानिक निर्देशके लिये श्री मुख्तार साहब और निर्माण के लिये चित्रकार श्री आशारामजी शुक्ल प्रशंसाके पात्र हैं।

मैं इस सुन्दर प्रयत्नके लिये सम्पादक महोदयको बधाई देता हूं और विचारशील पाठकोंसे अनेकान्तके प्रचारमें भागीदार होनेकी प्रार्थना भी करता हूं।"

१७ पं० सुमेरचन्द जैन न्यायतीर्थ, 'अभिनापु', देवबन्द—

"अनेकान्त आपके तत्वावधानमें जैनसाहित्यके प्रचार का जो ठोस कार्य कर रहा है उसका मूल्य नहीं आंका जा सकता। इसमें विचारात्मक और समालोचनात्मक लेख स्वच्छ, चमकीली और सर्वजनसुलभ भाषामें दिये जाते हैं, जिन्हें प्रत्येक सरलतासे समझ सकता है। अगर जैन-साहित्यके इतिहास पर तुलनात्मक विवेचनकर पाठकोंका ध्यान आकर्षित किया जाय तो लेखकोंके लिये एक नवीन क्षेत्र मिल जायगा। सचमुच मुख्तार साहब हमारे साहित्यिक उन्नायकोंमें अग्रणी हैं, उन्हींके जागरूक प्रयत्नोंका यह फल है कि 'अनेकान्त' इतना सुन्दर निकलता है।"

१८ पं० लोकनाथजैन शास्त्री, मूडबिद्री—

"आपके द्वारा सम्पादित 'अनेकान्त वर्ष ४ अंक १' यथा समय प्राप्त हुआ था। इसके मुखपृष्ठ पर स्याद्वाद—अनेकान्त नीतिका द्योतक सप्तभंगीनयका रंगीन चित्र बहुत ही मनोहर एवं सुन्दर है। इसमें 'एकेनाकर्षन्ती' और 'विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं' इत्यादि श्लोकद्वयके अभिप्रायको मूर्तस्वरूप बनाकर आपने अपनी उच्च कल्पनाशक्तिका समाजके सामने परिचय कराया। यह कार्य अत्यन्त प्रशंसा करने योग्य है। आपके सभी लेख पठनीय एवं माननीय हैं।

इसमें दो चार सामान्य लेखोंको छोड़कर अन्य सभी लेख और कविताएँ वाचनीय हैं। ऐसे ठोस कामोंका पत्रिका जगतमें होना अत्यन्त ज़रूरी है।

पं० परमानन्द जी शास्त्रीका 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' शीर्षक लेख भी अति महत्वपूर्ण है। यह लेख बहुत परिश्रम और खोज पूर्वक लिखा है। कई प्रमाणोंसे सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्त्ता उमास्वामी दिगम्बराचार्य थे, नकि श्वेताम्बराचार्य। इस लेखको पढ़कर तत्त्वार्थसूत्रके दिगम्बराचार्यकृत होनेमें कोई इन्कार नहीं कर सकेगा। इस परिश्रमपूर्ण लेखके लिये उक्त शास्त्रीजी अनेक धन्यवाद के पात्र हैं।

मूडबिद्रीके सिद्धान्त मन्दिरमें स्थित महाबन्धमें तत्त्वार्थ सूत्रके बीजकोशको खोजकर अनेकान्तके पाठकोंके सामने रखनेके लिये मैं अवश्य प्रयत्न करूँगा।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'अनेकान्त' वीरसेवामन्दिर में पहुँचकर अति उन्नतिको प्राप्त होगा। इससे हमारे समाज का गौरव है। अतएव उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए अमर बने, यही मेरी कामना है।"

१९ रायबहादुर बा० नाँदमल जैन, अजमेर—

"अनेकान्तका प्रकाशन सरसावासे होने लगा है, यह प्रसन्नताकी बात है। अनेकान्तमें आपके गवेषणापूर्ण लेख रहते हैं, जिससे विद्वानोंको उपयोगी सामग्री काफ़ी मिलती रहती है। आपका प्रयत्न स्तुत्य है। समाज आपकी सेवासे चिर ऋणी है।"

२० पं० रामप्रसाद जैन शास्त्री, बम्बई—

"अनेकान्त वर्ष ४ के ३ किरण मेरे पठनमें आये— लेख प्रायः सभी मार्मिक दृष्टिसे अपने लक्ष्य बिंदुको लिये हैं; परन्तु उनमें भी जैनी नीति, तत्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज, इलौराकी गुफाएँ, मुनिसुव्रत काव्यके कुछ मनोहर पद्य, कर्मबन्ध और मोक्ष, अहार-लड़वारी, गोम्मट, ये लेख बड़े महत्वके हैं। पत्रका उद्देश्य जिस साम्यध्येय पर अवलंबित है वह विचारणीय है। संसारमें ऐसे पत्रकी आवश्यकता उस दृष्टिसे है कि वैयक्तिक मनोभावनाओंके ज्ञानमें सुविचारतासे हेयोपादेयका ज्ञान होता रहे। पत्रकी संपादन शैली तथा आकार-विन्यास भावुक और मोहक है। यदि विरुद्ध-अविरुद्ध बलाबल विषयमें संपादकीय मार्मिक टिप्पण भी दृष्टिगोचर होता रहे तो अनेकान्तकी सार्थक निष्पक्ष पुष्पसुगंध मर्मज्ञोंके मस्तकको अवश्य तरकर सुवासित करेगी। पत्र अपनी सामग्रीके दृष्टिकोणमें समुचित है अत: मर्मज्ञता में यह उपादेय है।"

२१ अगरचन्द जैन नाहटा, बीकानेर—

"अनेकान्तके मुखपृष्ठका चित्र इसबार बड़ा सुन्दर हुआ है। लेख भी गंभीर एवं पठनीय हैं। सचमुच जैनपत्रों में यह सर्वोच्च कोटिका है। इसके द्वारा अनेक नवीन तथ्य एवं मननीय विचार प्रकाशमें आ रहे हैं। अतएव मुख्तार साहब इसके लिये प्रशंसाके पात्र हैं।"

२२ बा० माईदयाल जैन, B. A. B. T, सनावद—

"अनेकान्तके तीनों अंक मिले। पढ़कर संतोष हुआ। अनेकान्तके पुन: संचालनके वास्ते आप तथा अनेकान्तके सहायक बधाई तथा धन्यवादके पात्र हैं। विशेषाँक पठनीय तथा अच्छा है। उसका मुखपृष्ठका चित्र भाव तथा अर्थ-पूर्ण है। इसके लिये चित्रकारकी तथा उनको भाव देने वालोंकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। समाजको अनेकान्तकी हर प्रकारसे सहायता करनी चाहिये। मैं भी यथाशक्ति सेवाके लिये तय्यार हूं।"

२३ पं० रतनलाल संघवी न्यायतीर्थ, खिचुन (जोधपुर)

"अनेकान्त जैन-पत्र-क्षेत्रमें एक सर्वाङ्गसुन्दर पत्र है। आप पत्रका संपादन और संकलन जिस महान् परिश्रमके साथ कर रहे हैं, एतदर्थ सभी जैन साहित्यप्रेमियोंकी ओरसे बधाई है। विषय-चुनाव और छपाई-सफाई—अंतरंग और बहिरंग दोनों दृष्टियोंसे पत्र बराबर उन्नति पथ पर है। आशा है कि आप जैसे कर्मठ साहित्यसेवीके निरीक्षणमें पत्र निरन्तर उन्नति करता हुआ—अनेकान्त नामका जैन-साहित्यकी और प्रधानत: जैन पुरातत्त्व एवं जैन इतिहासकी पूर्ति करता रहेगा।"

२४ बा० जयभगवान जैन बी० ए० वकील, पानीपत—

"इस नववर्ष वाले 'अनेकान्त' के जो तीन अङ्क मेरे पास पहुँचे हैं उनके लिये आपका बड़ा आभारी हूँ। इन्हें पढ़कर मेरा मन बड़ा आनन्दित हुआ। ये वास्तवमें किरण

है अन्धकारमें उजाला करने वाले हैं, अनेकान्तमय सत्यको प्रकाशित करने वाले हैं। इनके मुखमण्डल पर जिस सप्तभंगकी छवि छारही है वह केवल जैननीतिका ही नहीं बल्कि इस पत्र-नीतिका भी पूरा पूरा पता दे रही है। इस प्रकार चित्र-चित्रण-द्वारा नीतिको दर्शाना आपकी ही अनुपम प्रतिभाका कौशल है। ये अङ्क मार्मिक लेखों, सुन्दर कविताओं और सरल कहानियोंसे भरे हुए हैं। इनकी बहुत सी सामग्री विद्वानोंके लिये संग्रहनीय है। इनके कई निबंध तो ऐसे हैं, जो अवश्य ही सुभीता प्राप्त होने पर पुस्तकाकार में प्रकाशित होने वाले हैं—जैसे "तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज" "समन्तभद्रविचारमाला" "तामिलभाषाका जैन साहित्य" "जीवनकी पहेली" इत्यादि। यह सब होते हुए भी इतने मात्रसे हमें संतुष्ट नहीं होना चाहिये, इसमें उन्नति की बहुत बड़ी गुञ्जाइश है: परंतु यह सब उसी समय हो सकता है जब इसके लेखकों और ग्राहकोंकी संख्यामें अभिवृद्धि हो। मुझे पूर्ण विश्वास है, यदि श्रेष्ठिजन इसे कुछ और अधिक सहायता दें, विज्ञजन अपने लेख-द्वारा इसे अधिक अपनायें, उत्साहीजन इसकी ग्राहक श्रेणीको कुछ और बढ़ाएँ, तो यह पत्र वीरवाणीको, वीरकी अनेकांत दृष्टिको, वीरकी साम्यतावृत्तिको, वीरके अहिंसा मार्गको दूर दूर तक फैलानेमें एक प्रमुख साधन साबित होगा।"

२५ आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री, देहली—

अनेकांतका नववर्षाङ्क देखकर हृदयको जितना आनंद हुआ, इतना आनंद अभीतक बहुत कम पत्रोंके विशेषांकोंको देखकर प्राप्त हुआ है, अमृतचंद्र सूरिके श्लोक का तिरंगा चित्र न केवल इस अंककी ही विशेषता है, वरन वह विशेषताकी भी विशेषता है। कारण कि स्याद्वाद जैनधर्मकी एक महत्वपूर्ण विशेषता है। लेखोंका संग्रह अत्युत्तम हुआ है, 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' शीर्षक लेखमें तो पूर्णरूपेण एक नए दृष्टिकोणको उपस्थित किया गया है, मुख्तार साहिबका इस वृद्धावस्थाका यह उत्साह अत्यंत प्रशंसनीय एवं स्तुत्य है।

२६ सम्पादक 'परवारबन्धु', कटनी—

"लेखोंका चयन सुंदर हुआ है। सम्पादकीय (लेख) मुनि समंतभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल तथा पं० परमानंदका तत्वार्थसूत्रके बीज बहुत खोजपूर्ण हैं। प्रेमीजी तथा अन्य बंधुओंके लेख भी मननीय हैं। द्वितीयांकमें 'वसंत' जीकी कविता तथा भगवत् जीकी कहानी दोनों बहुत सुंदर हैं। छपाई सफाई उत्तम। वार्षिक मूल्य ३)। जैन समाज ही नहीं समस्त संसारका एकमात्र कल्याणकारी, जैनधर्मका सच्चा प्रचारक यही एकमात्र पत्र है। हम हृदय से इसकी उन्नतिके आकांक्षी हैं।"

२७ सम्पादक 'विश्ववाणी', साउथ मलाका, इलाहाबाद—

प्रस्तुत अङ्क 'अनेकांत' का नववर्षाङ्क है। प्रसिद्ध जैन मुनि समंतभद्रके सिद्धांतों पर अनेकांतकी नीतिका परिचालन होता है। समंतभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल पर सम्पादकजीका एक अत्यंत सुंदर विवेचनात्मक लेख है। अन्य लेखोंमें श्री शीतलप्रसादजीका 'अहिंसातत्त्व' श्री अजितप्रसाद जैनका 'जैनधर्म और अहिंसा' बड़े विचारपूर्ण ढंगसे लिखे गये हैं। प्रो०, ए० चक्रवर्ती, एम० ए० का 'तामिल भाषाका जैन साहित्य' नामक लेख और पं० ईश्वरलाल जैनका 'ऐतिहासिक जैनसम्राट चंद्रगुप्त' बड़ी खोजके परिणाम हैं। हम इस विचारपूर्ण सामग्रीके इकट्ठा करने पर सम्पादक महोदयको बधाई देते हैं।

मेंडकके विषयमें शंकासमाधान

(ले०—श्री नेमिचंद सिंघई, इंजीनियर)

'मेंडकके विषयमें एक शंका' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' तथा 'तारणबन्धु' दोनों पत्रों में देखनेमें आया। लेखकने आचार्यश्रीके प्रति तथा प्रथमानुयोग ग्रंथोंके प्रति जो उद्गार दिये हैं वे जैसेके तैसे विना संपादकीय नोटके 'अनेकान्त' जैसे पत्रमें छप गये, यही आश्चर्यकी बात है। अस्तु।

इसके उत्तर भी 'जैनमित्र' में आगये हैं तथा इस बातकी पुष्टि होगई है कि मेंडक सन्मूर्छन और गर्भज तथा सैनी और असैनी दोनों प्रकारके होते हैं।

हम लोगों को जो बरसाती मेंडक देखनेमें आते हैं वे प्राय: सन्मूर्छन ही हुआ करते हैं; किन्तु बड़े तालाब या बावड़ीमें मेंडकके युगल भी देखनेमें आते हैं, इस बातकी पुष्टि श्रीयुत सेठ वीरचन्द कोदरजी गान्धी, फलटण ने अच्छी तरह की है।

जिस समय हम कथानकको देखते हैं तब हमें मालूम होता है कि वह मेंडक पहले सेठजीका जीव था किन्तु सामायिकके समय परिणाम बिगड़ जानेके कारण तथा ऐसे ही समयमें आयु क्षीण होजानेके कारण अपने ही घरकी बावड़ीमें मेंडक उत्पन्न होता है। बादमें उसे अपनी पूर्वभवकी स्त्रीको देखकर जाति-स्मरण होजाता है, जिसके कारण उसके परिणामोंकी निर्मलता होकर आत्मशुद्धि होती है। भाग्यवशात् श्री १००८ महावीर स्वामीका समवसरण उसी राजगृही नगरीमें आता है। समवसरणके आगमनका भेरीनाद सुनकर उस मेंडकके भी अर्हत्-भक्ति करनेके भाव उमड़ पड़ते हैं, बिचारा एक कमलका फूल मुंहमें दबाये समवसरणकी ओर जाता है, किन्तु रास्तेमें ही राजा श्रेणिकके हाथीके पैर तले दबकर मर जाता है। उस समय शुभ भावोंके कारण वह प्रथम सौधर्म स्वर्गमें महर्द्धिक देव उत्पन्न होता है। वहाँ से वह तत्काल ही भगवान महावीर स्वामीके समवसरणमें बड़ी विभूतिके साथ मुकुटपर मेंडकके चिन्हको धारण किये हुए आता है, जिसे देखकर सब लोगोंको अत्यन्त आश्चर्य होता है।

इस कथानकमें उसका महर्द्धिक देव होना खास बात है, और इस बातकी पुष्टि सागारधर्मामृत अध्याय २ श्लोक २४ में भी होती है। यथा—

> यथाशक्ति यजेतार्हद्देवं नित्यमहादिभिः।
> संकल्पतोऽपि तं यष्टा भेकवत्स्वर्महीयते ॥ २४ ॥

यहां पर मेंडकका जातिस्मरण होना, पूजाके भाव उत्पन्न होना तथा प्रथम स्वर्गमें महर्द्धिक देव उत्पन्न होना यह सिद्ध करता है कि वह 'सैनी' (संज्ञी) था जो कि श्रीमान् सेठ वीरचंद कोदरजीके विधानके अनुसार बिलकुल ठीक तथा युक्तिपूर्ण है।

थोड़ी देरके लिए मान भी लिया जावे कि वह असैनी (असंज्ञी) था, तब भी वह असैनी जीव भवनत्रिकमें देव उत्पन्न हो सकता है, इसमें भी कोई बाधा नहीं आती है। अतः लेखक "मित्र" जीकी शंका निर्मूल सिद्ध होजाती है।

गोम्मट

[लेखक—प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्]

(अनुवादक—पं० मूलचन्द्र जैन, बी० ए०)

इस लेखको समाप्त करनेसे पहले मेरे लिये यह आवश्यक है कि मै उन पूर्ववर्ती विद्वानोंके कुछ विचारोंका प्रत्यालोचन करूँ जिन्होंने ऊपरके विषय के नाना रूपोंका स्पर्श किया है और जो विभिन्न नतीजों पर पहुँचे हैं, यद्यपि वाकयात (facts) एक ही है।

पंडित प्रेमीजी लिखते हैं[27] :—"गोम्मटकी मूर्तिके कारण चामुण्डराय इतने प्रसिद्ध हो गये थे कि वे गोम्मटराय कहलाने लगे।" प्रेमीजीने अपने इस निर्णयकी पुष्टिमें कोई हेतु नहीं दिये है; अत. ऐसे निर्णयकी स्वीकृतिके विरुद्ध मैं कुछ कठिनाइयों के नोट दिये देता हूँ। ऐसा कोई प्रमाण उपस्थित नही किया गया जिससे यह जाहिर हो कि बेल्गोल की मूर्ति बननेसे पहले बाहुबलिको गोम्मट कहा जाता था। 'राय' चामुण्डरायकी प्रसिद्ध उपाधि थी; और यदि यह मान लिया जाय कि गोम्मटका अर्थ बाहुबलि था, तो हम 'गोम्मटराय' इस समस्त पदकी किस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं? मूर्तिको प्राय: गोम्मटदेव, नाथ आदि कहते है और बहुत कम तथा पिछले लेखोंमें केवल गोम्मट कहा गया है। मैं समझता हूँ प्रेमीजीका निर्णय दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा रखता है, जिनके अभावमें वह स्वीकृत नहीं किया जा सकता।

'गोम्मटसार' के नाम और मूलस्रोतकी व्याख्या करते हुए जे० एल० जैनी कहते हैं[28]—"ग्रन्थकर्ताने श्री वर्धमान या महावीरको 'गोम्मटदेव' के नामसे पुकारा है। 'गोम्मट' शब्द सम्भवत: 'गो' वाणी और 'मट' या 'मठ' घर से बना है, जिसका अर्थ होता है 'वाणीका घर', वह भगवान जिसमें निरक्षरी वाणी, अद्भुतसंगीत, दिव्यध्वनि बहती है। 'सार' का अर्थ निचोड़, संक्षिप्त अर्थ है। इस तरह गोम्मटसार शब्द का अर्थ होगा 'भगवान महावीरके उपदेशोंका सार' यह अधिक संभाव्य है कि श्री गोम्मटदेव या भगवान महावीरके प्रति अपनी अधिक भक्तिके कारण चामुण्डराय भी राजा गोम्मट कहलाते थे। महान् प्रश्नकर्ता (अर्थात चामुण्डराय) के प्रति अभिनन्दनके तौर पर इस संग्रहका नाम उनके नामानुसार 'गोम्मटसार' रक्खा गया है।" मैंने दूसरे स्थान[29] पर इस बातकी व्याख्या की है कि 'गोम्मटदेव' किस अर्थमें 'महावीर' के बराबर हो सकता था। जबतक यह साबित नहीं किया जाता कि 'गोम्मट' संस्कृत शब्द है तबतक संस्कृत शब्दविज्ञानको बतानेका प्रयत्न

---

२७ 'त्रिलोकसार', माणिकचन्द दि०जै० ग्रन्थमाला नं० १२, बम्बई सम्वत् १९७५, भूमिका पृष्ठ ८।

२८ गोम्मटसार जीवकाण्ड, जे० एल० जैनीकृत अंग्रेजी अनुवादादि सहित, S. B. J., V. भूमिका पृष्ठ ५-६। मैंने इसमें अन्तर बतलाने वाली आवश्यक बातोंको शामिल कर दिया है।

२९ देखो मेरा लेख 'Material on the Interpretation of the word Gommata' I. H. Q. Vol XVI, No. 2

करना असंगत है। यह केवल लिखने वालेकी व्याकरणकी चतुराई भले ही प्रगट करे, इससे अधिक और कुछ नहीं; परन्तु इस तरहकी कल्पनाओंका, चाहे वे कितनी ही रम्य क्यों न हों, सविवेक इतिहास और शब्दविद्यामें कोई स्थान नहीं है। शायद जैनी जी किसी संस्कृत टीकाकारका अनुकरण कर रहे हैं।

मिस्टर एम० गोविन्द पै[30] ने इस विषय पर एक पूरा लेख लिखा है, और उन्होंने अकसर अपने विचारोंको स्वयं दोहराया है[31] तथा दूसरोंने पिछले कुछ वर्षोंमें दोहराया है। यद्यपि उनका लेख सूचनाओंसे भरा हुआ है फिर भी वह तथ्योंकी उनकी अपनी व्याख्याओंमें निकाले हुए संदिग्ध एवं काल्पनिक परिणामों और अविध्यात्मक प्रमाणोंसे परिपूर्ण है; और हर एकको प्राय: यह संदेह होता है कि वह सम्भव बातोंको तथ्य मानकर दूषित वृत्तिसे विवाद कर रहे हैं। बहुतसे प्रत्यक्ष और परोक्ष विवादास्पद विषयोंको मिला दिया गया है; और उनके कुछ अपवाद (reservations) और प्रश्न संगत होनेकी सीमासे बहुत परे हैं। फिर मुझे निम्न विषय उनके पर्यालोचनमें स्पष्ट जान पड़ते हैं; और मैं उन्हें यथासंभव अपने शब्दोंमें गिनाऊँगा:—

१—बाहुबलि कामदेव होनेके कारण 'मन्मथ' कहलाए जा सकते थे, जिसका कनडीमें (या कोंकणी में अपनी बादकी लिपिके अनुसार) 'गोम्मट' एक तद्भवरूप है, जिसे उसने प्रायः मराठीसे लिया है।

२—९८१ A. D. में प्रतिष्ठित बेल्गोलकी मूर्ति ९९३ A. D. तक गोम्मटेश्वरके नामसे प्रसिद्ध नहीं हुई थी; क्योंकि रन्नके 'अजितपुराण' में मूर्तिको 'कुक्कुटेश्वर' लिखा है, 'गोम्मटेश्वर' नहीं।

३—कमसे कम ९३३ A. D. तक 'चामुण्डराय' का 'गोम्मट' या 'गोम्मटराय' ऐसा कोई नाम नहीं था; क्योंकि बेल्गोलका शिलालेख नं० २८१ चामुण्डराय-पुराण और चारित्रसार ऐसे किसी नामका उल्लेख नहीं करते हैं।

४—दोड्डय्यके 'भुजबलिशतक' (ई०स० १५५०) के अनुसार पौदनपुरके (वहाँ भरतके द्वारा स्थापित) गोम्मटने अपनेको 'विंध्यागिरि' पर प्रकट किया था। इससे मूर्तिका नाम 'गोम्मट' बहुत पुराना था और चूंकि चामुण्डराय गोम्मट नहीं कहलाते थे; इसलिये कहा जा सकता है कि चामुण्डरायने उस मूर्तिके नाम परसे अपना नाम प्राप्त किया।

५—प्रतिष्ठाके समय न तो मूर्तिका और न चामुण्डरायका नाम गोम्मट था; क्योंकि समकालीन शिलालेखोंमें कोई उल्लेख नहीं है। चामुण्डरायकी 'राय' एक उपाधि थी।

६—'गोम्मटसार', जिसमें 'गोम्मट' का चामुण्डरायके नामके तौर पर उल्लेख है, अवश्य ही ई० सन ९९३ के बादका लिखा हुआ है, और त्रिलोकसार, जिसमें इसका उल्लेख नहीं है, ई० सन ९८१ से ९८४ के मध्यवर्ती समयका बना हुआ होना चाहिये।

७—नेमिचन्द्रने मूर्तिकी प्रतिष्ठा होजानेके बाद उसके नाम परसे स्वयं चामुण्डरायको गोम्मट नाम दिया था। यह असम्भव है कि चामुण्डराय वृद्ध होते हुए 'गोम्मट' कहला सकते, जिसका इन्द्रिय

---

३० Indian Historical Quarterl., Vol. IV, No. 2, Pages 270-86.

३१ 'जैन सिद्धान्त भास्कर' आरा, जिल्द ४ पृष्ठ १०२-९; 'श्रीबाहुबलि गोम्मटेश्वर चरित्र,' मंगलोर, १९३९; Jaina Antiquary Arroh, VI, Pages 26-34, etc.

ग्राह्य अर्थ 'मन्मथ' है।

८—सबसे पहिले मूर्तिका नाम 'गोम्मट' पड़ा; और इससे 'गोम्मट-जिन', 'गोम्म-पुर' आदिकी व्याख्या होनी है।

९—यदि बेल्गोलकी मूर्तिका नाम उसकी प्रतिष्ठा कराने वालेके नाम पर 'गोम्मटदेव' पड़ा, तो कार्कल और वेणूरकी मूर्तियोंके नाम भी अपने प्रतिष्ठापकों के नाम पर होने चाहियें थे; लेकिन चूंकि वे भी 'गोम्मट' कहलाते हैं इसलिये यह अवश्य ही 'बाहुबलि' का नाम रहा है।

अब हमें उन निष्कर्षोंकी युक्तियुक्तता और तर्कणाकी शक्ति पर विचार करना चाहिये:—

१—'बाहुबलि' कामदेवके कारण 'मन्मथ' कहला सकते थे, यह स्वीकार्य है; परन्तु शाब्दिक समीकरण मन्मथ = गम्मह = गोम्मटके रूपमें जो किया गया है वह मिस्टर पै के निबंधकी इमारतमें सबसे अधिक कमजोर शिला है। प्रोफेसर के० जी० कुन्दनगरने इस समीकरणकी युक्तियुक्तता पर ठीक आशंकाकी है, परन्तु मिस्टर 'पै' ने अपने कथनकी पुष्टिमें और कोई प्रमाण न देकर, उनके साथ एक मजाकिया फुटनोट[३२] के रूपमें व्यवहार किया, जिसने प्रो० 'कुन्दनगर'[३३] को एक लम्बा और विद्वत्तापूर्ण नोट लिखनेके लिये उत्तेजित किया, जिसमें उन्होंने यह अखंड्यरूपसे स्पष्टकर दिया है कि 'मन्मथ' = 'गोम्मट' के लिये सारे प्राकृत-व्याकरण साहित्यमें कोई आधार नहीं है, और यह कि प्राकृत-मञ्जरीमें जो कि वररुचिकृत सूत्रोंकी पिछली टीका है, एक अलग-अलग (isolated) केस जो मिलता है वह गलत छपाईका परिणाम है, जिसे संगत सूत्रोंके सावधानता पूर्वक अध्ययन और प्राचीन टीकाओंमें उनकी व्याख्याओंके साथ मिलान करनेसे सहज हीमें मालूम किया जा सकता है। अपने समीकरणको स्थापित करनेके लिये मिस्टर पै इस प्रकार बहस करते हैं:—

"कात्यायनकी 'प्राकृत मञ्जरी' में, वह नियम जिससे कि द्विगुण ध्वनि 'न्म' बदल जाती है 'न्मो मह' (३—४२) के तौर पर लिखा गया है, जिसके कारण संस्कृत शब्द 'मन्मथ' जिसका अर्थ कामदेव है, प्राकृतमें 'गम्मह' बन जाता है। (१) दन्त्य अक्षरों की ध्वनि, जब वे संस्कृत शब्दोंके अन्तमें आते हैं, 'कनडी' में मूर्धन्य अक्षरोंमें बदल जाती है—संस्कृत ग्रन्थि (गाँठ) = कनडी गण्टि (या गण्टु); सं० श्रद्धा (विश्वास, भरोसा, एतकाद) = क० सड्डे; सं० तान (गानेमें) = क० में टाण; सं० पत्तन (नगर) = क० पट्टण; सं० पथ (पथ) = क० बट्टे आदि; इसलिये 'मन्मथ' शब्दके अन्तका 'थ' कनडीमें कायम नहीं रहता, प्राकृतमें उसके स्थान पर जो 'ह' (गम्मह) होता है वह कनडीमें स्वभावतः 'ट' में बदल जाता है, और इस प्रकार संस्कृतका 'मन्मथ' = प्राकृत 'गम्मह' अपनी कनडीके तद्भवरूपमें, 'गम्मट' हो जाता है। (२) कनडीके शब्दोंमें आदिके 'अ' की ध्वनि लघु 'ओ' (जैसे अंग्रेजी शब्द 'not' में) की ध्वनिके साथ अदलती बदलती रहती है, जैसे—मगु (बच्चा) = मोग; मम्मग (पोता) = मोम्मग; मगचु (उच्छेद करना) = मोगचु; तप्पलु (घाटी) = तोप्पलु; दड्डि (गोशाला) = दोड्डि; सप्पु (सूखे पत्ते) = सोप्पु; मल (आध गज) = मोल आदि। इसलिये 'गम्मट' से

३२ उनकी कन्नड पुस्तिकामें जिसका ऊपर नोट किया जा चुका है।

३३ 'प्रो० कुन्दनगर' का लेख 'कर्णाटक-साहित्य-परिषत् पत्रिका', बंगलोरमें प्रकाशित होने वाला है।

'गोम्मट' हो जानेका यह एक आसान और अनिवार्य मार्ग है।" इत्यादि

'प्राकृत मंजरी' 'वररुचि' के (जिन्हें कुछ विद्वानों के मतानुसार 'कात्यायन' भी कहा जाता है) सूत्रों पर पिछली टीका है; इसलिये इस टीकाको 'कात्यायन' की बताना ग़लत है। मिस्टर पै एक दूसरे सूत्र 'मन्मथे वः' '२—३६' को चुपचाप नजर अन्दाज कर जाते हैं; जिसके अनुसार 'मन्मथ' शब्दमें आदिका 'म्' 'वः' में बदल जाता है। नीचे लिखे कारणोंसे टीकामें दिया हुआ 'गम्मह' पाठ स्पष्टतया ग़लत या ग़लत छपा हुआ है:—(i) सूत्र ३—४२ में 'न्म' का बदलना लिखा है आदिके 'म' की तब्दीलीमें इसका कोई वास्ता नहीं; (ii) आदिके 'म्' की 'व्' में तब्दीलीका उल्लेख खास तौरसे सूत्र २—३६ में किया है; (iii) और अन्तमें, जैसा कि प्रो० कुन्दनगारने प्रकट किया है, 'गम्मह' रूप न तो इन्हीं सूत्रों पर किसी दूसरे टीकाकार द्वारा और न किसी प्राकृत-व्याकरण या शब्दकोष द्वारा ही नोट किया गया है। 'मन्मथ' के लिये आम प्राकृत शब्द 'वम्मह' है। जब तक यह साबित नहीं किया जाता कि 'मन्मथ'= 'गम्मह' यह समीकरण युक्तियुक्त है, तबतक उसके पीछेकी सब बहसें (arguments) बेकार हैं। दूसरे 'श्रद्धा', 'ग्रन्थि' आदिकी समानताएँ कोई भी असली समानताएँ ही है, क्योंकि वे मूर्धन्य नियमकी तरह स्वरविद्याके नियमोंके आधीन हैं जिनका 'मन्मथ' शब्द पर कोई असर नहीं है। उनकी दलील विधिके अनुसार भले ही ठीक दिखाई पड़े, परन्तु यह सब वंचनशील शब्दव्युत्पत्ति-विद्या है, मेरे ख्याल में मिस्टर पै तुलनात्मक तर्कणाओंके अन्धकूपोंसे बिलकुल अनभिज्ञ हैं, खासकर प्राकृतों और आधुनिक भारतीय भाषाओंके क्षेत्रमें। यदि इनका तरीका अख़तियार किया जाये तो कोई शब्द किसी रूपमें बदला जा सकता है। मिस्टर पै द्वारा अंगीकृत न्याय की पैडियों पर चलकर मैं यह दिखला सकता हूं कि 'कुक्कुट' का भी समीकरण 'गोम्मट' या 'गुम्मट' के साथ किया जा सकता है; जब संस्कृत शब्द कन्नडमें लिये जाते हैं, तो आदिका 'क' अकसर 'ग' में बदल जाता है, उदाहरणके तौर पर कुटि=गुडि, कोटे=गोडे आदि (शब्द-मणि-दर्पण २५६)। प्राकृत में 'क्' 'म्' में बदल जाता है: चन्द्रिका शब्दमें (प्राकृत-मञ्जरी ७—५); इसी तरह एक डबल 'क्क' 'म्म' में बदला जा सकता है। कन्नडमें कभी कभी 'उ' स्वर 'अ' में बदला जाता है; कुस्तुम्बुरु=कोत्तुम्बरि (श० म० १८७), मानुष्यं=मानसं (श० म० २७३)। इस प्रकार 'कुक्कुट' 'गुम्मट' में बदल गया है। मिस्टर पै इस विधान पर आपत्ति नहीं कर सकते; क्योंकि उन्होंने स्वयं इसे अंगीकार किया है। परन्तु यह सब स्वरविद्या (ध्वनिशास्त्र) का मजाक उड़ाना और शब्दशास्त्रीय परिकल्पनाकी फिसलने वाली भूमि पर पागलोंकी तरह दौड़ लगाना है। अतः मिस्टर पै का 'मन्मथ=गम्मह यह समीकरण जरा भी साबित नहीं है।

(२) यदि मिस्टर 'पै' 'बाहुबलि'='कामदेव'= 'मन्मथ'>'गोम्मट' इस समीकरणको लेकर जो कि ऊपरके कथनानुसार है साबित नहीं है, प्रस्थान करते हैं तो यह कहना कि मूर्ति ई० सन् ९८१ या ९९३ तक 'गोम्मटेश्वर' नहीं कहलाई जा सकती थी, अपना ही विरोध अपने आप करना है। 'बाहुबलि' काफ़ी प्राचीन समय से 'कामदेव' प्रसिद्ध हैं। अतः या तो मिस्टर 'पै' को यह समीकरण छोड़ देना चाहिये

अथवा यह मान लेना चाहिये कि बाहुबलि प्राचीन कालसे 'गोम्मट' कहलाते थे। यदि वे दूसरी बातको अंगीकार करें तो उनको वे प्राचीन वाक्य दिखलाने पड़ेंगे जिनमे 'बाहुबलि' को 'गोम्मटेश्वर' कहा गया है। वे कह सकते हैं कि भरतने पौदनपुरमें 'गोम्मट' की मूर्ति निर्माण कराई थी; परन्तु इसके लिये कोई भी समकालीन साक्षी नहीं है, और वे दोड्डय्यके, जो ईसाकी १६ वीं सदीके मध्यमें हुए हैं, वर्णनका आश्रय लेरहे हैं। इस बातसे, कि 'रन्न' ने 'कुक्कटेश्वर' नामका तो उल्लेख किया है किन्तु 'गोम्मटेश्वर' का नहीं, कुछ भी साबित नहीं होता, क्योंकि यह कोई विधायक साक्षी नहीं है। यदि हम अपनी संगतता और टीकाकारोंकी व्याख्याओं पर ध्यान दें तो 'गोम्मटसार' में भी 'बाहुबलि' का निर्देश करनेके लिये 'कुक्कुटजिन' का उल्लेख तो है परन्तु 'गोम्मटेश्वर' का नहीं। यदि दोड्डय्य चामुण्डरायका 'गोम्मट' के नामसे उल्लेख नहीं करता है, तो क्या हमारा यह कहना न्यायसंगत होगा कि ई० सन १५५० तक चामुण्डरायका नाम 'गोम्मटराय' बिल्कुल नहीं था ? वास्तवमें मिस्टर पै के नोटोंमेंसे एक इसी अभिप्रायको सूचित करता है।

३ पुनः यह एक निषेधात्मक साक्षी और मौन रहनेके रूपमें बहसका केस है, जिससे कोई बात साबित नहीं होती। जैसा कि मैंने ऊपर सुझाया है, 'गोम्मट' चामुण्डरायका निजी घरेलू नाम मालूम होता है और ऐसा होनेसे हर जगह उसका विधान नहीं हो सकता और नहीं रिकार्डों (लेख्यपत्रों) का यह दावा है कि वे चामुण्डरायके सब नामोंकी गिनती कर रहे हैं।

४ दोड्डय्य (ई० सं० १५५०) के 'भुजबलिशतक' के आधार पर यह मानकर कि पौदनपुरकी मूर्ति 'गोम्मट' कहलाती थी, मिस्टर पै आज अपने एक दूसरे निष्कर्षका विरोध कर रहे हैं, जिसमें कहा गया है कि मूर्ति ई० सन् ९८१ या ९९३ तक 'गोम्मट' नामसे प्रसिद्ध नहीं थी। वे इस बातको भूल जाते हैं कि भरतके समयकी एक घटना (fact) को साबित करनेके लिये १६ वीं सदीके एक रिकार्डका इस्तैमाल कर रहे हैं।

५ एक निषेधात्मक साक्षी और मौन रहनेकी बहससे कुछ भी साबित नहीं होता।

६ हमें 'गोम्मटसार' और 'त्रिलोकसार' के रचे जाने की ठीक तिथियोंका पता नहीं है और न उन्हें प्राप्त करनेके कोई निश्चित साधन उपलब्ध हैं। स्वयं मिस्टर पै ने 'गोम्मट' नामके उल्लेख या अनुल्लेख परसे इन तिथियोंको प्रस्तुत किया है, और यदि हम 'बाहुबलि' के नामके तौरपर 'गोम्मट' शब्दके इस्तेमाल-समयकी अवधियोंको निश्चित करनेके लिये इन तिथियोंकी सहायता लें तो हम दुष्ट परिधिके भीतर विवाद करनेवाले होंगे।

७ हमारे पास इस बातका कोई प्रमाण नहीं है कि नेमिचन्द्रने चामुण्डरायको 'गोम्मट' नाम दिया था; और मुझे भय है कि स्पष्ट तथ्य यहां थोड़ा सा तोड़ा मरोड़ा जारहा है। जो कुछ हम जानते हैं वह यह है कि नेमिचन्द्र 'गोम्मट' को 'चामुण्डराय' के नामके तौर पर उद्देखित करते हैं; और इससे इस वस्तुस्थितिका निषेध नहीं होता कि उनका ऐसा नाम पहिलेसे ही था। यह बात कि चामुण्डरायने मूर्ति परसे यह नाम प्राप्त किया केवल तब ही स्वीकृत की जा सकती है जब कि पहिले यह साबित कर दिया जाय कि बेल्गोलकी मूर्तिकी स्थापनासे पहले बाहुबलिका एक नाम 'गोम्मट' था। मन्मथ = गोम्मट

यह समीकरण पहिले ही फेल हो चुका है, न पौदन-पुर के 'गोम्मट' के लिये दोड्डयका हवाला हमारी रक्षाके लिये आ सकता है। 'गोम्मट' इन्द्रियग्राह्य अर्थ रखता है यह बात ऊपरके समीकरणसे निकाली गई है, जो कि पहिले ही खंडित कर दिया गया है, और ऐसा होनेसे बहसका सारा बल चला जाता है। यह एक निरर्थक बहस है कि चामुण्डराय वृद्ध थे और इसलिये 'गोम्मट' नहीं कहलाये जा सकते थे, जोकि कुछ ऐसे प्रमाणोंकी पूर्वकल्पना करती है, जो कि या तो ऊपर खंडित कर दिये गये हैं या सर्वथा अप्राप्य हैं।

८ चूंकि मन्मथ = गोम्मट, यह समीकरण स्थापित नहीं होसका, इसलिये यह अभी तक असिद्ध रह जाता है कि बाहुबलिका एक नाम 'गोम्मट' था। परन्तु दूसरी तरफ, 'गोम्मटसार' में चामुण्डरायका एक नाम 'गोम्मट' निश्चित रूपसे मिलता है और उनका देवता, बाहुबलिकी मूर्ति 'गोम्मटेश्वर' आदि कहलाया जा सकता था। 'गोम्मटसार' में उल्लेखित 'गोम्मट-जिन' का 'बाहुबलि'[३४] से कोई वास्ता नहीं है। मैं इस सम्भावनाको मानता हूं कि जब मूर्ति एक बार 'गोम्मटदेव' के नामसे प्रसिद्ध हो गई तो तब बादके दिनोंमें इस नामके साथ बहुत सी चीजोंका सम्बन्ध जुड़ सकता था।

९ मिस्टर पैन स्वयं अपने लेखकी आदिमें इस प्रश्नका उत्तर दिया है, और मैं उनकी गरमागरम बहसको रद्द करनेके लिये केवल उनके शब्द उद्धृत किये देता हूं:—"यहाँ पर यह भी नोट कर लिया जाय कि तीन महान् मूर्तियोंमेंसे सबसे पहली अर्थात् चामुण्डराय (या चावुंडराय) द्वारा श्रवण-बेल्गोल में स्थापित मूर्तिका 'गोम्मट' आदि (या गोम्मटेश्वर आदि) आम नाम सबसे पहले पड़ा, और जब समय बीतने पर ऐसी महान् मूर्तियाँ कार्कल और वेणूरमें स्थापित हुईं तो उनका नाम भी 'श्रवण-बेल्गोल' के समान अपने महान मूल आदर्शके ऊपर पड़ा।" यह पूछकर कि पिछली दोनों मूर्तियोंका नामकरण अपने संस्थापकोंके नामानुसार क्यों नहीं हुआ, वे केवल अपने पूर्व कथनका, जो कि अधिक युक्तियुक्त है, विरोध करते हैं।

इन मुख्य दलीलोंके अतिरिक्त बहुत सी दूसरी छोटी बातें हैं जिनका प्रस्तुत विषयके साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है; इसलिये उनके लिये किसी परिश्रम-साध्य खण्डनकी आवश्यकता नहीं। उनकी गोम्मट-विषयक स्वरविद्याकी कल्पनायें, उनका नोट कि 'कोंकणी' मागधी या अर्धमागधी आदिमें निकाली गई थी, अधिक गम्भीरताके साथ विचार करनेके योग्य नहीं।

पं० ए० शान्तिराज शास्त्री[३५] ने हालमें इस विषयको एक छोटेसे नोटमें संस्पर्श किया है, और बहुतसी बातोंमें हम सहमत हैं। वे भी कहते हैं कि नेमिचन्द्रने बाहुबलिका 'गोमट' नाम रखा है, परन्तु उन्होंने अपने इस नोटको साबित करनेके लिये कोई खास वाक्य उद्धृत नहीं किया है। 'गुम्मड' शब्दमें 'ड' के 'ट' में बदल जानेकी व्याख्याके लिये वे त्रिविक्रम के व्याकरणसे सूत्र नं० ३। २। ६५ को उद्धृत करते हैं; परन्तु मुझे यह बतला देना चाहिये कि यह खास सूत्र 'चूलिका-पैशाची' भाषाके लिये निर्दिष्ट है और यह किसी जगह तथा हर जगह इस्तैमाल नहीं किया जा सकता। इस तब्दीलीकी

---

३४ देखो मेरा लेख, 'Material on the Interpretation of the word gommata' I. H. Q. Vol. XVI. No 2.

३५ जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ७ किरण १ पृष्ठ ५१, और उनकी कन्नड पुस्तिका, 'श्रीगोमटेश्वरचरित' मैसूर१६४०।

व्याख्या यह कहकर हो सकती है कि या तो यह शब्द को संस्कृतका रूप देनेकी प्रवृत्तिको लिये हुए है, या यह दक्षिणकी कुछ भारतीय भाषाओंकी प्रवृत्तिके उदाहरण स्वरूप है जो प्रायः कोमल व्यञ्जनोंको कठोर बना देती हैं। आखिरकार यह एक संभाव्य व्याख्या है। फिर भी यह निश्चय है कि हमारा उस सूत्रको इस प्रसंगमें लगाना ठीक नहीं है।

मिस्टर 'के०पी० मित्र'[३६] ने हाल हीमें 'बाहुबलि' पर एक लेख लिखा है। यद्यपि वे गोम्मट-सम्बन्धी अपनी बहसकी बहुत सी बातोंमें मिस्टर पै का अनुकरण करते हैं, फिर भी उन्होंने एक फुटनोटमें ठीक लिखा है कि 'मन्मथ' का 'मम्मह' या 'वम्मह' यह निर्णीत तत्सम है; और वे इसे एक खुले प्रश्नकी तरह छोड़ देते हैं कि क्या 'गम्मह' 'मन्मथ' के बराबर किया जा सकता है *।

३६ The Jain Artiquary Vol. VI. 1, P 33.

* इस लेखका पूर्वार्ध गत तीसरी किरणमें छप चुका है— यह उत्तरार्ध है।

संसार-वैचित्र्य

ऋषिकुमार मिश्र 'क्षुब्ध'

कुटिल है, सजनि जगतकी चाल !
कहूँ मैं किस साँचेमें ढाल ?
निशाके बाद सुखद है प्रात,
पुनः है उस पर तमकी घात !
मचा रहता है भीषण द्वन्द,
मिलन लघु, चिरवियोग पश्चात् !
निराशा व्याधिनि, आशा-जाल !
कुटिल है, सजनि जगतकी चाल !!

जगतके सुख-दुख नाटक-जात,
रुदनके बाद सुहास हठात !
अरे फिर भी क्यों व्याकुल प्राण !
कहूं मैं कैसे जीकी बात ?
छिपा जीवन-संपुटमें काल !
कुटिल है, सजनि जगतकी चाल !

मचे जब, सजनी, रसकी लूट,
निकलता विषका निर्झर फूट !
जगतमें उथल-पुथल घनघोर,
अल्प है मधुऋतु, ग्रीष्म अटूट !
पपीहे विपुल, अल्प पिक-माल !
कुटिल है, सजनि जगतकी चाल !!

अल्प हैं जगमें मंगल-गान,
अधिक सुन पड़ती करुणा-तान !
क्षीण मृदु स्वर हैं, गर्जन घोर,
अधिक है चिन्ता, थोड़ा ध्यान !
मनोहर है अथ, इति विकराल !
कुटिल है, सजनि जगतकी चाल !!

यहाँ है संतत सुखकी चाह,
बहा करता पर दुःख-प्रवाह !
तनिकमें रीझ, तनिकमें खीझ,
भरी पर दोनोंमें चिरदाह !
जलाना बनकर ज्वाल-प्रवाल !
कुटिल है, सजनि जगतकी चाल !!

सजनि, शैशवकी मचलन मधुर,
अकड़ फिर यौवनकी वह प्रचुर !
जराकी जीर्ण कराह निदान,
शान्ति चिर पाता है न पर उर !
नाचती सतत मृत्यु दे ताल !
कुटिल है सजनि जगतकी चाल !!

साहित्य-परिचय और समालोचन

१ समयसार सटीक (गुजराती अनुवाद सहित)—मूल लेखक, आचार्य कुन्दकुन्द। अनुवादक, हिम्मतलाल, जेठालालशाह बी० एस० सी०। प्रकाशनस्थान, श्री जैन अतिथि-सेवा समिति, सोनगढ़। पृष्ठ संख्या, ५६२। बड़ा साइज़, मूल्य सजिल्द प्रतिका २॥) रु०।

समयसार अध्यात्मरसका कितना महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसके बतलानेकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि इस ग्रन्थके मूल लेखक वे ही आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द स्वामी हैं, जो अध्यात्मरसके खास रसिक थे और जिनकी ग्रन्थ रचना बड़ी ही गम्भीर एवं जैन सिद्धान्तके रहस्यका ठीक उद्घाटन करने वाली होती है। इस ग्रन्थके महत्वको वे लोग भले-प्रकार समझ सकते हैं जिन्होंने उक्त आचार्य श्रीके प्रवचन-सार आदि ग्रन्थोंका मनन एवं परिशीलन किया है। जैन वाङ्मयमें इस ग्रन्थकी जोडका दूसरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह ग्रन्थ अध्यात्मके रसिक मुमुक्षुओंके लिये बड़े ही कामकी चीज़ है।

समयसारका यह गुजराती संस्करण बहुत ही सुन्दर निकाला गया है। छपाई सफ़ाई कागज आदि सब चित्ता-कर्षक हैं। इस संस्करणमें यह खास विशेषता रक्खी गई है कि मूलग्रन्थकी गाथाओंको लालस्याहीसे मोटे टाइपमें बड़ी भक्तिके साथ छपाया गया है। नीचे लाल स्याहीमें ही उनकी संस्कृत छाया दी है। गुजरातीमें अन्वयार्थ और फिर गुजराती टीका, तदनन्तर गु० टीका सहित आचार्य अमृतचंद्रके संस्कृत कलश दिये हैं, जिन्होंने मूल-ग्रंथ पर सचमुच कलश चढ़ाने जैसा ही कार्य किया है। और नीचे फुटनोटमें लाल स्याहीमें गुजराती पद्यानुवाद दिया गया है; जिससे प्रस्तुत संस्करणकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ गई है। गुजराती अनुवाद स्वर्गीय पंडित जयचंदजीकी 'आत्मख्याति समयसार वचनिका' के अनुसार किया गया है।

इस ग्रंथका गुजराती अनुवाद श्रीकानजी स्वामीके प्रधान शिष्य शाह हिम्मतलाल जेठालालने बड़े परिश्रमसे किया है। प्रस्तुत संस्करणको इस रूपमें निकालनेका श्रेय इन्हीं कानजी स्वामीको प्राप्त है। आप समयसारके खास रसिया और कुन्दकुन्द स्वामीके अनन्य भक्त है। आध्या-त्मिकता ही आत्मविकासका मुख्यसाधन है इससे आप भलीभाँति परिचित हैं। आपने हाल ही में सीमंधर स्वामीके एक मंदिरका निर्माण कराया है और सोनगढ़में 'श्री जैनस्वाध्याय मंदिर' कायम किया है। जिस समय कानजी स्वामी समयसारका व्याख्यान करते हैं उस समय प्रत्येक श्रोताके हाथमें समयसारकी एक एक प्रति होती है और प्रत्येक श्रोताका उपयोग पूरी तौरसे ग्रन्थके अवलोकन में लगा हुआ रहता है, वे सावधानीसे कानजी स्वामी द्वारा कथित अर्थको बड़े ध्यानसे सुनते हैं। इस प्रकारका तरीका बड़ा ही सुंदर जान पड़ता है। कानजी स्वामीकी आध्यात्मिक कथन शैलीसे काठियावाड (गुजरात) में अध्यात्म रसका खासा प्रचार हो गया है, हजारों भाई अध्यात्मरसके रसिक बन गये हैं और बन रहे हैं, साथ ही, दिगम्बरत्व मुक्तिका सर्व श्रेष्ठ साधन है इसके श्रद्धालु होते जा रहे हैं। उक्त प्रांतमें कानजी स्वामीसे जनताका बड़ा उपकार हुआ है। आशा है कि श्री कानजी स्वामीद्वारा कुन्दकुन्द आदि आचार्योंके ग्रन्थोंके पठन-पाठनका और भी अधिक प्रचार होगा। गुजराती भाषाके अध्यात्मियोंको समयसारके उक्त संस्करणको ज़रूर मंगाकर पढ़ना चाहिये। मूल्य २॥) रु० पुस्तककी उपयोगिता और लागतको देखते हुए बहुत ही कम रक्खा गया है, और वह ग्रन्थके प्रति भक्ति और उसके प्रचारकी दृष्टिको लिये हुए है। हम इस ग्रन्थ संस्करण का अभिनन्दन करते हैं और आशा करते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्दके दूसरे प्रवचनसारादि अध्यात्मग्रन्थोंके संस्करण भी इसी तरह गुजराती अनुवाद सहित निकाले जाँयगे।

—परमानन्द शास्त्री

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायक श्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं—

* १२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
* १०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
- १०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
- १००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
* १००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
* १००) बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी जैन, कलकत्ता
- १००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
- १००) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
- १००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
- १००) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान, पानीपत।
* ५०) ला० दलीपसिंह कागजी और उनकी मार्फत, देहली।
- २५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर बम्बई।
* २५) ला० रूडामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
* २५) बा० रघुवरदयालजी जैन, एम.ए. करोलबाग, देहली।
* २५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
- २५) ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा ज़िला मुज़फ्फरनगर।
- २५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन, सहारनपुर
* २५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
- २५) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनुकरणीय

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्गोंमेंसे दूसरे मार्गका अवलम्बन लेकर जिन सज्जनोंने पहले सहायता भिजवाई थी और जिसकी सूचना अनेकान्तकी गत दो किरणोंमें निकल चुकी है तथा जिसकी संख्या ७७॥) रु० होचुकी है, उसके बाद जिन सज्जनोंने और सहायता भिजवाकर अनुकरणीय कार्य किया है, उनके शुभनाम सहायताकी रकम सहित इस प्रकार है।—

१०) रायसाहब बाबू मोरीमलजी जैन, तीतरों जि० सहारनपुर निवासी, रिटायर्ड इंजीनियर, देहरादून। (८ विद्यार्थियोंको एक सालतक अनेकान्त अर्धमूल्यमें देनेको)।

१०) ला० वृन्दावन चन्दूलालजी, जैन रईस कैराना जि० मुजफ्फरनगर। (४ निर्दिष्ट संस्थाओंको 'अनेकान्त' बिना मूल्य भेजनेके लिये)।

२५ विद्यार्थियों—विद्यालयों—लायब्रेरियोंको 'अनेकान्त' अर्धमूल्यमें

प्राप्त हुई सहायताके आधार पर २५ विद्यार्थियों, विद्यालयों अथवा लायब्रेरियों-वाचनालयोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक अर्धमूल्यमें दिया जाएगा, जिन्हें आवश्यकता हो उन्हें शीघ्र ही १॥) रु० मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक होजाना चाहिये। जो उपहारकी पुस्तकें—समाधितंत्रसटीक और सिद्धसोपान—भी चाहते हों उन्हें पोस्टेजके लिये चार आने अधिक भेजने चाहियें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

मुद्रक और प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री, वीरसेवामन्दिर, सरसावाके लिये
श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तवके प्रबन्धसे श्रीवास्तव प्रिंटिंग प्रेस, सहारनपुरमें मुद्रित।

Registered No. A—731

विषय-सूची

सेठ बैजनाथ जी सरावगी, कलकत्ता

आप जैनसमाजके एक पुराने सेवक एवं कार्यकर्ता हैं। सराक जातिके उद्धारके लिये आपने शुरू शुरूमें कितना ही कार्य किया है। अब भी समाज-सेवा के अनेक कार्योंमें अपना सहयोग देते रहते हैं। 'अनेकान्त' से आप बड़ा प्रेम रखते हैं। हालमें आपने उसकी सहायताके लिये १००) रु० का वचन दिया है, और इस तरह आप भी 'अनेकान्त' के सहायक बने हैं।

वर्ष ४	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर	जून
किरण ५	आषाढ़, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९८	१९४१

जिनेन्द्रमुख और हृदयशुद्धि

अनाम्रनयनोत्पलं सकलकोपवन्हेर्जयात्,
कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः ।
विषाद-मद-हानितः प्रहसितायमानं सदा,
मुखं कथयतीव ते हृदय-शुद्धिमात्यन्तिकीम् । —चैत्यभक्ति

हे जिनेन्द्र ! आपका मुख, संपूर्ण कोपवन्हि पर विजय प्राप्त होनेसे—अनन्तानुबन्ध्यादि-भेदभिन्न समस्त क्रोधरूपी अग्निका क्षय हो जानेसे—, अताम्रनयनोत्पल है—उसमें स्थित दोनों नयन-कमल-दल सदा अताम्र रहते हैं, उनमें कभी क्रोधसूचिका-सुर्खी नहीं आती; और अविकारताके उद्रेकसे—वीतरागताकी आपमें परमप्रकर्षको प्राप्ति होनेसे—कटाक्ष-बाणोंके मोचन-व्यापारसे रहित है—कामोद्रेकादिके वशीभूत होकर इष्ट प्राणिके प्रति तिर्यग्दृष्टिपातरूप कटाक्ष-बाणोंको छोड़ने जैसी कोई क्रिया नहीं करता है। साथ ही, विषाद और मदकी सर्वथा हानि हो जानेसे—उनका अस्तित्व ही आपके आत्मामें न रहनेसे—सदा ही प्रहसितायमान रहता है—प्रहसित-प्रफुल्लितकी तरह आचरण करता हुआ निरन्तर ही प्रसन्न बना रहता है। इन तीन विशेषणोंसे विशिष्ट आपका मुख आपकी आत्यन्तिकी—अविनाशी—हृदयशुद्धिका द्योतन करता है। भावार्थ—हृदयको अशुद्ध करने वाले क्रोध, कामादि, मद और विषाद हैं, ये जिनके नष्ट हो जाते हैं उनका मुख उक्त तीनों—अनाम्रनयनोत्पल, कटाक्ष-शर-मोक्ष-हीन, सदा प्रहसितायमान—विशेषणोंसे विशिष्ट हो जाता है। जिनेन्द्रका मुख चूंकि इन तीनों विशेषणोंसे विभूषित है इसलिये वह उनके हृदयकी उस आत्यन्तिकी 'शुद्धिको' स्पष्ट घोषित करता है, जो काम, क्रोध, मद और विषादादिका सर्वथा अभाव हो जानेसे सम्पन्न हुई है। हृदयशुद्धिकी इस कसौटी अथवा माप-दण्डसे दूसरोंके हृदयकी शुद्धिका भी कितना ही अन्दाज़ा और पता लगाया जा सकता है।

श्रीजिनेन्द्राष्टपदी[1]

[ले०—पं० धरणीधर शर्मा, शास्त्री]

(१)

जय जिनेन्द्र जनरञ्जन ! भयभञ्जन हे !

भव-गद-गञ्जन-देव ! जय जय लोकगुरो !

(२)

जय जगती-तल-भूषण ! हत-दूषण हे !

सम-परिपूषण-देव ! जय जय लोकगुरो !

(३)

अन्तः-षड् रिपु-खण्डन ! मति-मण्डन हे !

दुष्कृत-चण्डन-देव ! जय जय लोकगुरो !

(४)

विषयाऽरण्य-दवानल ! हत-चापल हे !

तपोमहाबलदेव ! जय जय लोकगुरो !

(५)

भविजन-भूरिहितंकर ! व्रति शंकर हे !

जय तीर्थंकर-देव ! जय जय लोकगुरो !

(६)

तीर्ण-विषम-भवसागर ! बहु नागर हे !

ज्ञानोज्जागर देव ! जय जय लोकगुरो !

(७)

सम्यक्ज्ञान-दिवाकर ! करुणाकर हे !

जय सुगुणाकर-देव ! जय जय लोकगुरो !

(८)

धरणीधर-सुसहायक ! मुनि नायक हे !

सन्मति दायक देव ! जय जय लोकगुरो !

---

१ यह अष्टपदी परिणहारी रागमें गाई जाती है।

कवि राजमल्लका पिंगल और राजा भारमल्ल

[सम्पादकीय]

(गत किरणसे आगे)

(६) इस ग्रंथमें राजा भारमल्लको श्रीमालचूडामणि, साहशिरोमणि, शाहसमान, उमानाथ, संघाधिनाथ, दारिद्र-धूमध्वज, कीर्तिनभचन्द्र, देवतरु-सुरतरु, श्रेयस्तरु, पतित-पावन, चक्री-चक्रवर्ती, महादानी, महामति, कल्याकर, रोरुहर, रोरुभीनिकन्दन, जिनवरचरणकमलानुरक्त और निःशल्य जैसे विशेषणोंके साथ स्मरण किया गया है, और उनका खुला यशोगान करते हुए प्रशंसामें—उनके दान-मान प्रतापादिके वर्णनमें—कितने ही पद्य अनेक छंदोंके उदाहरण-रूपसे दिये हैं। यहां उनमेंसे कुछ पद्योंको नमूनेके तौर पर उद्धृत किया जाता है। इससे पाठकोंको राजा भारमल्लके व्यक्तित्वका और भी कितना ही परिचय तथा अनुभव प्राप्त हो सकेगा। साथ ही, इस छंदोविद्या-ग्रन्थके छंदोंके कुछ और नमूने भी उनके सामने आजायँगे:—

अवणिरवणगा पादप रे, वदनरवणगा पंकज रे।
चरणगवणगा गजपति रे, नैनसुरंगा सारंग रे।
तनुरुहचंगा मोरा रे, वचनअभंगा कोकिल रे।
नरणि-पियारा बालक रे, गिरिजठरविदारा कुलिसं रे।
अरिकुलसंघारा रघुपति रे, हम नैनहु दिट्ठा चंदा रे।
दानगरिट्ठा विक्रम रे, मुख चवै सुमिट्ठा अमृत रे॥१०७॥
न न पादप-पंकज-गजपति-सारँग-मोरा-कोकिल-बाल-तुलं,
न न कुलिशं रघुपतिचंदानरपति अमृत किमुतसिरीमालकुलं
बकसै गजराजि गरीबणिवाज अवाज सुराज विराजतु है,
संघपत्ति सिरोमणि भारहमल्लु विरद भुवप्पति गाजतु है
॥१०८॥

इन पद्योंमें राजा भारमल्लको पादप, पंकज, गजपति, सारंग (मृग), मोर, कोकिल, बालक, कुलिश (वज्र), रघुपति, चंद्रमा, विक्रमराजा और अमृतसे, अपने अपने विषयकी उपमामें, बढ़ा हुआ बतलाया है—अर्थात् यह दर्शाया है कि ये सब अपने प्रसिद्ध गुणोंकी दृष्टिसे राजा भारमल्लकी बराबरी नहीं कर सकते।

बलि-वेणि-विक्रम-भोज-रविसुत-परसराम-समंचिया,
हय-कनक-कुंजर-दान-रस-जस बेलि अहनिससिंचिया।
तव समय सतयुग समय त्रेता समय द्वापर गाइया,
अब भारमल्ल कृपाल कलियुगकुलह कलस चढाइया।२७४

यहां राजा बलि, वेणि, विक्रम, भोज, करण और परशुरामके विषयमें यह उल्लेख करते हुए कि उन्होंने घोड़ों, हाथियों तथा सोनेके दानरूपी रससे यश-बेलको दिनरात सिंचित किया था, बतलाया है कि—उनका वह समय तो सतयुग, त्रेता तथा द्वापरका था; परन्तु आज कलियुगमें कृपालु राजा भारमल्लने उन राजाओंके कीर्तिकुलगृह पर कलश चढ़ा दिया है—अर्थात् दानद्वारा सम्पादित कीर्तिमें आप उनसे भी ऊपर होगये हैं—बढ़ गये हैं।

सिरिमाल सुवंसो पुहमि पसंसो संघनरेसुर धम्मधुरो,
करुणामयचित्तं परमपवित्तं हीरविजेगुरु जासु वरं।
हय कुँजर-दानं गुणिजन-मानं कि सिसमुद्दह पारथई,
दिनदं नदयालो वयणरसालो भारहमल्ल सुचक्कवई।२८०

इसमें अन्य सुगम विशेषणोंके साथ भारमल्लके गुरुरूप में हीरविजयसूरिका उल्लेख किया है, भारमल्लकी कीर्तिका समुद्र पार होना लिखा है और उन्हें 'सुचक्रवर्ती' बतलाया है।

मणणे विहिणा घडिओ, कोविह एगोवि विस्ससव्वगुणकाय
सिरिमालभारमल्लो,णं माणसथंभो णरगव्वहरणाय॥१६५

यहां कविवर उत्प्रेक्षा करके कहते हैं कि 'मैं ऐसा मानता हूं कि विधाताने यदि विश्वके सर्वगुण-समूहको लिये हुए कोई व्यक्ति घडा है तो वह श्रीमाल भारमल्ल है, जो कि मनुष्योंके गर्वको हरनेके लिये 'मानस्तंभ' के समान है।'

सिरिभारमल्लदिणमणि-पायं सेवंति एगमणा।
तेसिं दरिद्दतिमिरं णियमेण विणस्सदं सिग्घं ॥१५९॥

इसमें बतलाया है कि—'जो एक मन होकर भारमल्ल-रूपी दिनकरकी पादसेवा करते हैं उनका दरिद्रान्धकार नियम से शीघ्र दूर होजाता है।'

प्रहसितवदनं कुसुमं सुजससुगंधं सुदाणमयरंदं।
तुव देवदत्तानंदन धावंति कविमधुयर्माणि मधुलुद्धा॥१·१॥

यहां यह बतलाया है कि -'देवदत्तनन्दन-भारमल्लका प्रफुल्लित मुख ऐसा पुष्प है जो सुयश-सुगंध और सुदान-रूपी मधुको लिये हुए है, इसीसे मधुलुब्ध कवि-भ्रमरोंकी पंक्ति उसकी ओर दौड़ती है—दानकी इच्छासे उसके चारों ओर मँडराती रहती है।

षाण सुलितान ससनंद हदभुम्मिया,
सज्ज-रह-वाजि-गजराजि-मदघुम्मिया।
तुज्झ दरबार दिनरत्ति तुरगा णाया,
देवसिरिमालकुलनंद करिए मया ॥२५७॥

इसमें खान सुलतान, ससनद और सजे हुए रथ-हाथी-घोड़ोंके उल्लेखके साथ यह बतलाया है कि राजा भारमल्ल के दरबारमें दिनरात तुरक लोग आकर नमस्कार करते थे—उनका तांतासा बँधा रहता था।

एक सेवक संग साहि भँडार कोडि भरिज्जिए,
एक कित्ति पढंत भोजिग दान दाइम दिज्जिए।
भारमल्ल-प्रताप-वण्णण सेसणाह असक्कओ,
एकजीहमओ अमारिस केम होइ ससक्कओ ॥२७८॥

इस पद्यमें भारमल्लके प्रतापका कीर्तन करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए लिखा है कि—'एक नौकरको साथ लेकर एक करोड़ तककी रकम शाहके भँडारमें भरदी जाती थी—मार्गमें रकमके छीन लिये जाने आदिका कोई खतरा नहीं! और एक कीर्ति पढ़ने वाले भोजकीको दायिमी (स्थायी) दान तक दे दिया जाता था—ऐसा करते हुए कोई पशोपेश अथवा चिन्ता नहीं! (ये बातें भारमल्ल के प्रतापकी सूचक हैं)। भारमल्लके प्रतापका वर्णन करनेके लिये (सहस्त्रजिह्व) शेषनाग भी असमर्थ है, हमारे जैसा एक जीभवाला कैसे समर्थ हो सकता है?'

अब छंदोंके उदाहरणोंमें दिये हुए संस्कृत पद्योंके भी कुछ नमूने लीजिये, और उन परसे भी राजा भारमल्लके व्यक्तित्वादिका अनुमान कीजिये:—

अयि विधे! विभिवत्तव पाटवं,
यदिह देवसुतं सृजन स्फुटं।
जगति सारमयं करुणाकरं,
निखिलदीनसमुद्धरणाक्षमं ॥२४९॥

'हे विधाता! तेरी चतुराई बड़ी व्यवस्थित जान पड़ती है, जो तूने यहां देवसुत-भारमल्लकी सृष्टि की है, जोकि जगत में सारभूत है, करुणाकी खानि है और सम्पूर्ण दीनजनोंका उद्धार करनेमें समर्थ है।'

मन्ये न देवतनुजो मनुजोऽयमेव,
नूनं विधेरिह दयार्दितचेतसो वै।
जैविना (जीवन्त ?) हेतुवशतो जगतीजनानां,
श्रेयस्तरुः फलितवानिव भारमल्लः ॥२५५॥

यहां कविवर उत्प्रेक्षा करके कहते हैं कि—'मैं ऐसा मानता हूं कि यह देवतनुज भारमल्ल मनुज नहीं है, बल्कि जगतजनोंके जीवनार्थ विधाताका चित्त जो दयासे आर्द्रित हुआ है उसके फलस्वरूप ही यह 'कल्याणवृक्ष' यहाँ फला है'—अर्थात भारमल्लका जन्म इस लोकके वर्तमान मनुष्यों

को जीवनदान देने और उनका कल्याण साधनेके लिये विधाताका निश्चित विधान है।

सत्यं जाड्यतमोहरोपि दिनकृज्जंतोर्दृशोरप्रिय—
श्चंद्रस्तापहरोपि जाड्यजनको दोषाकरोंशुव्रर्या।
निर्दोषः किल भारमल्ल जगतां नेत्रोत्पलानंदकृ—
च्चंद्रेणोष्णकरेण संप्रति कथं तेनोपमेयो भवान् ॥२७२॥

'यह सच है कि सूर्य जड़ता और अंधकारको हरने वाला है; परन्तु जीवोंकी आंखोंके लिये अप्रिय है—उन्हें कष्ट पहुँचाता है। इसी तरह यह भी सच है कि चन्द्रमा तापको हरने वाला है; परन्तु जड़ता उत्पन्न करता है, दोषाकर है (रात्रिका करने वाला अथवा दोषोंकी खान है) और उसकी किरणें क्षयको प्राप्त होती रहती हैं। भारमल्ल इन सब दोषोंसे रहित है, जगज्जनोंके नेत्रकमलोंको आनन्दित भी करने वाला है। इससे हे भारमल्ल आप वर्तमानमें चन्द्रमा और सूर्यके साथ उपमेय कैसे हो सकते हैं? आपको उनकी उपमा नहीं दी जा सकती—आप उनसे बढ़े चढ़े हैं।

अलं त्रिदिनसंपदा त्रिदिव-कामधेन्वाह्वयैः,
कृतं किल रसायनप्रभृतिमंत्रतंत्रादिभिः।
कुतश्चिदपि कारणादथच पूर्णपुण्योदयात्,
यदीह सुरनंदनो न(न) यति मां हि दृग्गोचरं ॥२६५॥

'किसी भी कारण अथवा पूर्णपुण्यके उदयसे यदि देवसुत भारमल्ल मुझे अपनी दृष्टिका विषय बनाते हैं तो फिर दिव्य कामधेनु आदिकी प्रसिद्ध सम्पदासे मुझे कोई प्रयोजन नहीं और न रसायण तथा मंत्रतंत्रादिसे ही कोई प्रयोजन है—इनसे जो प्रयोजन सिद्ध होता है उससे कहीं अधिक प्रयोजन अनायास ही भारमल्लकी कृपा दृष्टिसे सिद्ध होजाता है।

क्षितिपतिकृतसेवं यस्य पादारविंदं,
निजजन-नयनालीभृंगभोगाभिरामं।
जगति विदितमेतद्भूरिलक्ष्मीनिवासः,
स च भवतु कृपालोप्येष मे भारमल्लः ॥२६१॥

'जिनके चरणकमल भूपतियोंसे सेवित हैं और स्वकीयजनोंकी दृष्टि-पंक्तिरूपी भ्रमरोंके लिये भोगाभिराम हैं, और जो इस जगतमें महालक्ष्मीके निवासस्थान हैं, ऐसे ये भारमल्ल मुझपर 'कृपालु' होवें।'

पिछले दोनों पद्योंसे मालूम होता है कि कविराजमल्ल राजा भारमल्लकी कृपाके अभिलाषी थे और उन्हें वह प्राप्त भी थी। ये पद्य मात्र उसके स्थायित्वकी भावनाको लिये हुए हैं।

(१०) जब राजा भारमल्ल इतने बढ़े चढ़े थे तब उनसे ईर्षाभाव रखने वाले और उनकी कीर्ति-कौमुदी एवं ख्याति को सहन न करने वाले भी संसारमें कुछ होने ही चाहियें; क्योंकि संसारमें अदेखसकाभावकी मात्रा प्रायः बढ़ी रहती है और ऐसे लोगोंसे पृथ्वी कभी शून्य नहीं रही जो दूसरों के उत्कर्षको सहन नहीं कर सकते तथा अपनी दुर्जन-प्रकृति के अनुसार ऐसे बढ़े चढ़े सज्जनोंका अनिष्ट और अमंगल तक चाहते रहते हैं। इस सम्बन्धमें कविवरके नीचे लिखे दो पद्य उल्लेखनीय हैं, जो उक्त कल्पनाको मूर्तरूप देरहे हैं:—

"जे वेस्सवग्गमणुआ रीसिं कुव्वंति भारमल्लस्स।
देवेहिं वंचिया खलु अभगाविरा णरा हुंति ॥१५७॥"

"चिंतंति जे वि चित्ते अमंगलं देवदत्ततणयस्स।
ते सव्वलोयदिट्ठा णट्ठा पुरदेसलच्छिभुम्मिपरिचत्ता
॥१६३॥"

पहले पद्यमें बतलाया है कि—'वैश्यवर्गके जो मनुष्य भारमल्लकी रीस करते हैं—ईर्षाभावसे उनकी बराबरी करते हैं—वे दैवसे ठगाये गये अथवा भाग्यविहीन हैं; ऐसे लोग अभागी और निर्धन होते हैं।'

दूसरे पद्यमें यह स्पष्ट घोषित किया है कि—'जो चित्त में भी देवदत्तपुत्र-भारमल्लका अमंगल चिन्तन करते हैं वे सब लोगोंके देखते देखते पुर, देश, लक्ष्मी तथा भूमिसे परित्यक्त हुए नष्ट होगये हैं। इस पद्यमें किसी खास आंखों-देखी घटनाका उल्लेख संनिहित जान पड़ता है। हो सकता

है कि राजा भारमल्लके अमंगलार्थ किन्हींने कोई षड्यन्त्र किया हो और उसके फलस्वरूप उन्हें विधि (दैव) के अथवा बादशाह अकबरके द्वारा देशनिर्वासनादिका ऐसा दण्ड मिला हो जिससे वे नगर, देश, लक्ष्मी और भूमिसे परिभ्रष्ट हुए अन्तको नष्ट होगये हों। अस्तु।

इस प्रकार यह कविराजमल्लके 'पिंगल', ग्रन्थकी 'उपलब्ध-प्रति' और 'राजाभारमल्ल' का संक्षिप्त परिचय है। मैं चाहता था कि ग्रन्थमें आए हुए छंदोंका कुछ लक्षण-परिचय भी पाठकोंके सामने तुलनाके साथ रक्खूँ; परन्तु यह देखकर कि इस पूरे ग्रन्थको ही अब अनेकान्तमें निकाल देनेका विचार हो रहा है, उस इच्छाको संवरण किया जाता है।

पाठकोंको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि इस लेखमाला के प्रथम लेखको पढ़कर पं० बेचरदासजी, न्याय-व्याकरणतीर्थ अहमदाबादने, जोकि जैनसमाजके एक बहुत बड़े विद्वान् हैं, रिसर्चस्कालर हैं और संस्कृत-प्राकृत-पाली आदि अनेक भाषाओंके पंडित हैं, इस ग्रन्थका सम्पादन कर देनेके लिये पत्रद्वारा अपना उत्साह व्यक्त किया है और इस नई चीज़के सम्पादनार्थ अनेकान्तको अपनी सेवाएँ अर्पण की हैं, जिसके लिये आप बहुत धन्यवादके पात्र हैं। अब ज़रूरत इस बात की है कि ग्रंथकी दो तीन प्रतियां और मिल जायँ, जिससे ग्रन्थका अच्छा तुलनात्मक सम्पादन होसके और उसमें कोई अशुद्धियां न रह सकें। इसके लिये अनेकान्तकी तीसरी किरणमें एक विज्ञप्ति भी निकाली गई थी, परन्तु खेद है अब तक कहींके भी किसी सज्जनने इस बातकी सूचना नहीं दी कि यह ग्रन्थ उनके यहांके शास्त्रभंडारमें मौजूद है! इस प्रकारकी उपेक्षा और लापर्वाही ग्रन्थोंके उद्धारकार्यमें बड़ी ही बाधक एवं हानिकर होती है! इसे छोड़ देना चाहिये। आशा है दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही साहित्य प्रेमी सज्जन अब शीघ्र ही अपने अपने यहांके भंडारोंमें इस ग्रंथकी तलाश करेंगे, और ग्रंथप्रतिके उपलब्ध हो जाने पर उसे डाक-रजिष्टरीसे मेरे पास (सम्पादक 'अनेकान्त' को) वीरसेवामन्दिरके पते पर भेजनेकी कृपा करेंगे। ऐसा होने पर यह ग्रंथ जल्दी ही मुद्रित होकर उनकी सेवामें पहुंच जायगा और उनकी ग्रंथप्रति भी काम हो जाने पर उन्हें सुरक्षित रूपमें वापिस करदी जायगी।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २३-५-१९४१

चंचल मन
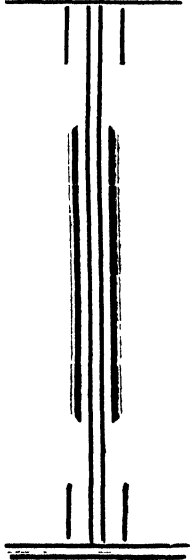
पं० काशीरामशर्मा 'प्रफुल्लित'

चल रे मन! चंचल, अविरल चल!

तू अनन्त तक दौड़ लगाता, जहाँ न कोई भी जा पाता,
चैन न तू पाता पलभर को, द्रुतगति से चलता ही जाता।
प्रबल-पवन, नभ-नक्षत्रोंसे, प्रगतिशील तू रहता प्रतिपल!

भटक रहा क्यों, भाग रहा क्यों, चपल; निरन्तर जाग रहा क्यों?
उगल अँगारे-आग रहा क्यों, शान्ति-सलिलको त्याग रहा क्यों?
हृदय-उदधिमें रहकर भी तू; सीख न पाया रहना निश्चल!

कब तक यों चलता जाएगा? चलता-चलता थक जाएगा!
चल-चलकी इस हलचलमें ही, सहसा काल कुटिल खाएगा!
हाथ न तेरे कुछ आएगा, रह जाएगा मलता, कर-तल!

यदि चलना ही लक्ष्य एक है, आगे बढ़ना ही विवेक है!
तो फिर, चल कुछ सोच-समझकर, जिसपर चलना सदा नेक है!
कर प्रयास जितना हो तुझसे, जान अरे! तू क्यों है चंचल?

स्वगुणाम्बरमें दौड़ लगाले, चंचलताकी भूख मिटाले!
सच्चिन शिव-सुन्दर—स्वरूपमय निज विकासकी ज्योति जगाले!
सद्भावोंके उज्ज्वल पथ पर, इस जीवनको भरसक ले चल!

त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें उपलब्ध ऋषभदेव-चरित्र

(ले०—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

तिलोयपएणत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) नामका एक बहुत प्राचीन दि० जैन ग्रंथ है, जिसका विषय तीन लोककी बातें हैं। इसके कर्ता वे ही आचार्य यतिवृषभ हैं, जिन्होंने 'कषाय प्राभृत' पर छह हज़ार श्लोक-प्रमाण चूर्णी-सूत्रोंकी रचना की है। तिलोयपएणत्तीकी रचना ईसाकी ५ वीं शताब्दीसे कुछ पूर्व अथवा विक्रमकी ५ वी शताब्दीमें मानी जाती है। इस ग्रन्थमें कितना ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कथन पाया जाता है। वर्तमान चतुर्विंशति तीर्थंकरोंका जो खण्डश: संक्षिप्त जीवन वृत्तान्त इसके चौथे पर्वमें दिया हुआ है उसमे प्रथम तीर्थ० श्रीऋषभदेवकी जीवनीका कितना अंश उपलब्ध है यह बतलानेके लिये ही आज यह लेख लिखा जाता है। इससे पाठकोंको सहज ही में यह मालूम हो सकेगा कि श्री जिनसेन आदि आचार्योंके आदिपुराण आदि ग्रन्थोंमें ऋषभदेवका जो चरित पाया जाता है उसके बीज ऐसे प्राचीन ग्रन्थोंमें कहाँ तक उपलब्ध होते हैं। और इससे उन ग्रन्थोंके उक्त कथनोंकी पूर्व-संगति एवं प्रामाणिकतामें कितनी ही वृद्धि हो सकेगी। मूल ग्रंथके कुछ आवश्यक एवं उपयोगी वाक्योंको फुटनोटके तौर पर उद्धृत कर दिया है, जिससे तुलनामें आसानी रहे। पत्रसंख्या जहाँ दी गई है वह आगरा प्रतिकी दी गई है। अस्तु।

त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें उपलब्ध 'ऋषभदेवचरित्र' इस प्रकार है:—

वर्तमान अवसर्पिणीकालके सुखमा-दुखमा नामक तृतीयकालके चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ मास और एक पक्ष अवशिष्ट रहने पर ऋषभदेवकी उत्पत्ति हुई *। आपका जन्म अयोध्यानगरीमें चैत्र कृष्णा नौमीके दिन उत्तराषाढा नक्षत्रमें हुआ था। पिताका नाम नाभिराय

उत्पत्तिका अभिप्राय यहाँ गर्भावतारसे जान पड़ता है; क्योंकि आदिपुराणादि ग्रन्थोंमें तीसरे कालके उक्त चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष साढ़े आठ मास अवशिष्ट रहने पर सर्वार्थसिद्धि विमानसे आषाढ कृष्णा द्वितीयाके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें भगवान ऋषभदेवके मातृगर्भमें आनेका उल्लेख मिलता है। यथा—

तृतीयकालशेषेऽसावशीतिश्च तुरुत्तरा।
पूर्वलक्षास्त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुता तदा ॥ ६३ ॥
अवतीर्ण सुराधन्ते अखिलार्थ विमानतः।
आषाढसितपक्षस्य द्वितीयायां सुरोत्तमः॥ ६४ ॥
उत्तराषाढनक्षत्रे देव्यागर्भं समाश्रितः।
स्थितो यथा विबाधोऽसौ मौक्तिकं शुक्तिसम्पुटे॥६५॥
—आदिपुराण, पर्व १२

तृतीयकालशेषेऽसावशीतिश्चतुरुत्तरा।
पूर्वलक्षास्त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुता सदा॥ ९७ ॥
स्वर्गावतरणं जैनमाषाढबहुलस्य तु।
द्वितीयायामुत्तराषाढनक्षत्रेऽत्र जगन्नतं॥ ९८ ॥
—हरिवंशपुराण, ८

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी प्राय: यही समय ऋषभदेवकी गर्भोत्पत्तिका बतलाया है। अन्तर केवल इतना है कि उनके यहाँ गर्भमें आनेकी तिथि आषाढ बदी दोइजके स्थान पर आषाढ कृष्णा चतुर्थी निर्दिष्ट की है, जैसाकि आवश्यक-निर्युक्ति और आचार्य हरिभद्रकी टीकाके निम्न अंशसे स्पष्ट जाना जाता है:—

---

* सुसमदुसमम्मि णामे सेसे चउसीदिलक्खपुव्वाणि।
वासतिए अडमासे इगि पक्खे उसह—उप्पत्ती॥५५०॥

और माताका मरुदेवी था * । नाभिराय १४ वें कुलकर (मनु) कहलाते थे—कुलको धारण करने—और भोग भूमियोंको जीविकाके उपायोंका उपदेश करने वाले कुलकर (कुलधर) या मनु कहे जाते हैं ‡। आपके शरीरका उत्सेध ५२५ धनुषका था और शरीरका वर्ण सुवर्णके समान कांतिमान था । आयु एक कोड़ि पूर्वकी थी और आपकी पत्नीका नाम 'मरुदेवी' था † । आपके समयमें बच्चे नाल सहित पैदा हुए तब आपने उनकी नाल काटनेका उपदेश दिया, और तदनुसार नाल काटनेकी प्रवृत्ति प्रचलित हुई । आपके समयमें कल्पवृक्षोंका विनाश हो गया था, धरतीमें स्वभावसे ही औषधियां उग आई, और मधुर रसवाले फल पकने लगे थे । भोग भूमियां जन कल्पवृक्षोंके नाश होने पर तीव्र भयसे भयभीत होकर नाभिरायकी शरणमें गए और कहा कि हमारी रक्षा करो । तब नाभिरायने करुणासे उन्हें जीविकाका —जीनेके उपायका— उत्पन्न वनस्पतियोंके सेवन का प्रयत्न पूर्वक उन्हें उत्पन्न करनेका तथा नारियल आदि के फलोंको खानेका उपदेश दिया । और सालि (धान) तिल, उड़द आदिको लेकर विविध प्रकारके अन्न और दूध आदि पेय पदार्थोंके सेवन करनेका विधान बतलाया × ।

ऋषभदेवके शरीरकी उँचाई पाँचसौ धनुष थी * । शरीरका वर्ण तपाए हुए सुवर्णके समान कांतिमान था † । आयु चौरासीलाख वर्ष पूर्वकी थी ‡, जिसमेंसे बीस लाख

उववाओ सव्वट्टे सव्वेसि पढमओ चुओ उसभो ।
रिक्खेण असाढाहिं असाढबहुले चउत्थीए ॥१८५॥

टीका—इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए वइक्कंताए सुसमाए वि सुसमदुसमाए वि बहुवीइक्कंताए चउरासीए पुव्वसयसहस्सेसु एगूण णाउएय पक्खेहिं सेसेहिं आसाढ बहुल पक्खचउत्थीए उत्तरासाढजोगजुत्ते मियंके इक्खागभूमीए नाभिस्स कुलगरस्स मरुदेवीए भारियाए कुच्छिंसिमि गब्भत्ताए उववण्णो । १८४ ॥

* जादो हु अवज्झाए उसहो मरुएवि णाभिराएहिं ।
चेत्तासियणवमीए णक्खत्ते उत्तरासाढे ॥ ५६५ ॥

परन्तु श्वेताम्बरीय 'आवश्यकनिर्युक्ति' की निम्न गाथा नं० १८७ में ऋषदेवका जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमीको लिखा है :—

चित्तबहुलट्ठमीए जाओ उसभो असाढणक्खत्ते ।
जम्मणमहो असव्वो णेयव्वो जाव घोसणयं ॥

‡ चोद्दसमो णाभिराजमणू ॥ ४९१ ॥
जादिसमरणेण केई भोगमणुस्साण जीवणोवायं ।
भासंति जेणतेणं मणुणो भणिदा मुणिंदेहिं ॥५०५॥
कुलधारणादु सव्वे कुलधरणामेण भुवणविक्खादा ।
कुलकरणंमि य कुसला कुलकरणामेण सुपसिद्धा ।५०६

† पणवीसुत्तरपणसय चाउच्छेहो सुवण्णवण्णणिहो ।
इगि पुव्वकोडि आऊ मरुदेवी णाम तस्स वधू ॥४९२॥

× तस्सिकाले होदि हु बालाणं णाभिणालमयदीहं ।
तक्कत्तणोवदेसं कहदि मणू ते पकुव्वंति ॥४९३॥
कप्पदुमा पणट्ठा ता देवि विहोमहीए संत्थाणं ।
महुररसाइफलाइं पच्चंति सहावदो धरित्तीसु ॥४९४॥
कप्पतरूण विणासे तिव्वभया भोगभूमिजा मणुवा ।
सव्वे वि णाभिराजं सरणं पविसंति रक्ख त्ति ॥४९५॥
करुणाए णाभिराजो णराण उवदिसदि जीवणोवायं ।
संजह वणप्फदीणं चोचादीणं फलाइ भक्खाणि ॥४९६।
सालिजववल्लतोवरि तिलमासं पहुदि विविहअण्णाइं
सवभुंजदि पियह तहा सुरभिप्पहुदीण दुद्धाणि ॥४९७
अण्णं बहु उवदेसं देदिदयालू णराण सयलाणं ।
तक्काइदूणं सुहिदो जीवंते तप्पसादेणं ॥ ४९८ ॥

* पंचसयधणुपमाणो उसहजिणिंदस्स होदि उच्छेदो ५८२
† सेसाण जिणवराणं काया चामीयरायारा । (५८६)
‡ उसहादिदससु आऊ चुलसीदी पुव्वलक्खाइं ॥५७६

पूर्व तो कुमार कालमें व्यतीत हुए ‡ और त्रेसठ लाख पूर्व तक आपने राज्यका संचालन किया S।

नीलाजनाका सहसा मरण आपके संसार देह-भोगोंसे वैराग्यका कारण हुआ X। वैराग्यके समय आपने जो विचार किया उसका संक्षिप्त सार इतना ही है कि—'नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवरूप चारो ही गतियां दुःखोंसे परिपूर्ण हैं—इनमें रहने वाले जीवोंको विविध प्रकारके दुःख उठाना पड़ते हैं—छेदन, भेदन, तापन, ताड़न, त्रासन, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, उच्च-नीचता, मान अपमान आदि दुःख सहना पड़ते हैं। इन्हें वास्तविक सुखका लेशमात्र भी अनुभव नहीं हो पाता, ये तो सांसारिक विषयभोगोंको ही वास्तविक सुख समझे हुए हैं जो सुखाभास है, दुःखरूप हैं। जो जीव क्षणमात्र विषय सुखके कारणोंमें रत होकर असंख्यातकाल पर्यंत घोर नरकमें दुःखका अनुभव करते रहते हैं उनके समान कोई निर्बुद्धि नहीं हैं। कामातुरके बहुत वर्ष भी एक क्षणके समान बीतते हैं। विषयका लोलुपी उच्च, धीर वीर और बहुमान्य होता हुआ भी नीच से नीचकी सेवा करता है और बहुत अपमान सहता है। यह जवानी विजलीके समान चंचल है। माता, पिता, स्त्री पुत्र और बन्धुजनोंका सम्बन्ध इन्द्रजालके समान क्षण विनाशी है—देखते देखते ही नष्ट हो जाने वाला है। और अर्थ अनर्थका मूल कारण है, विषय अन्त-विरस और दुःखदाई हैं। इस तरह यह सब अविचारित रम्य जान पड़ता है ÷।

उक्त विचारके अनन्तर ऋषभदेव षष्ठोपवासके साथ सिद्धार्थ बनको निकल गये—जहाँ आपने स्वयं परिग्रहका परित्याग पूर्वक जिनदीक्षा धारणकर तप करना आरंभ कर दिया। आपकी यह निष्क्रमण वेला चैत्र कृष्णा नवमीके दिन तीसरे पहर, उत्तराषाढा नक्षत्रमें घटित हुई है। आप की जिनदीक्षा और तपश्चरणका अनुकरण चार हज़ार राजाओंने किया *। तपश्चरण करते हुए एक वर्ष बाद

---

‡ पढमे कुमारकाले जिणम्मिहे वीसलक्खपुव्वाणि'॥५८०

S तेसट्ठिपुव्वलक्खा पढमजिणे रज्जकालपरिमाणं'॥५८७

X उसहो णिलंजसाए मरणाओ (जाद वेरग्गो)। ६०७।

÷ तिलोयपण्णत्तीके चौथे पर्वमें चारों गतियोंके दुःखोंका जो कथन, ऋषभदेवके वैराग्यवर्णनमें (पत्र ६९,७०) पर दिया हुआ है उसमेंसे विषयभोगादिके वर्णनवाले कुछ थोड़ेसे पद्य नमूनेके तौर पर नीचे दिये जाते हैं :—

खणमेत्तो विसयसुहे जे दुक्खाइं असंखकालाइं।
पविसंति घोरणिरए ताणसमो णत्थि णिव्वुद्धी ॥६११॥
कामातुरस्स गच्छदि खणमिव संवच्छराणि बहुगाणि ॥ ६०५ ॥

उच्चो धीरो वीरो बहुमाणीओ विसयलुद्धमई।
सेवदि णीचं णिच्चं सहदि बहुमाणि अवमाणं ॥६०८
दुक्खं दुज्जसबहुलं इहलोगे दुग्गदि पि परलोगे।
हिंडदि पारमपारे संसारे विसयलुद्धमई ॥ ६०९ ॥
मादा पिदा कलत्तं पुत्ता बंधू य इंदजाला य।
दिट्ठपणट्ठाइ खणे णासंस्स दुसमाइ सल्लाइ ॥ ६३७ ॥
तारुण्णं तडितरलं विसया हेरंतविरसविरस्थारा।
अत्थाअणत्थमूलं अविचारिय सुंदरं सव्वं ॥ ६३८ ॥

* तिलोयपण्णत्तीकी 'उसहो तात्त सएहिं' नामकी गाथामें चार हजार राजाओंके साथ दीक्षा लेनेका उल्लेख है। सामादिका उल्लेख नीचेकी गाथामें है —
चेत्तासिदणवमीए तदिए पहरंमि उत्तरासाढे।
सिद्धत्थवणे उसहो उववासे छट्ठमंमि णिक्कंतो॥६४१॥

श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्तिमें चैत्रकृष्णा अष्टमीमें दीक्षा ग्रहण करनेका विधान मिलता है :—
चित्तबहुलट्ठमीए चउहिं सहस्सेहिं सोउ अवरण्हे।
सीया सुदंसणाए सिद्धत्थ वणम्मि छट्ठेणं ॥ २१४ ॥

आपका प्रथम पारणा हुआ, जिसमें इक्षुरसका आहार मिला और दूसरे दिनके पारणेमें गायके दूधसे निष्पन्न अन्न प्राप्त हुआ †। भगवान ऋषभदेवके सभी पारणा दिनोंमें दान-विशुद्धिकी विशेषताके कारण पंचाश्चर्य हुए—आकाशसे रत्नवृष्टिका होना, बादलोंसे अंतरित देवोंका दुंदुभि बाजा बजाना, दानके उद्घोषका फैलना * सुगंधित शीतल वायुका चलना और आकाशसे दिव्य पुष्पोंकी वृष्टिका होना ये पाँच आश्चर्य कहलाते हैं †।

† एक्कवरिसेण उसहो इक्खुरसं कुणइ पारणं अवरे।
गोखीरे णिप्पण्णं अण्णं बिदियंमि दिवसंमि ॥ ६८॥

आदिपुराणादि ग्रन्थोंमें छह महीना तपश्चरणके पश्चात् पारणाके लिये चर्याको जानेका उल्लेख है और अंतराय होने पर पुनः छह महीनाका योगधारण करनेका विधान किया गया है, इस तरह आदिपुराणादि ग्रंथोंसे भी एक वर्षमें पारणा होनेकी बात सिद्ध हो जाती है। परन्तु आदिपुराणादिमें अभी तक द्वितीयादिक पारणा-विषयक उल्लेख देखनेमें नहीं आया, यह इस ग्रंथका विशेष कथन है।

* दानोद्घोषमें दान, दाता और पात्रको प्रशंसा की जाती है।

† सव्वाण पारणदिणे णिवडइ वर रयण वरसमंबरदो।
पण पण हद दह लक्खं जेट्ठं अवरं सहस्सभागं च ॥
॥ ६६९ ॥

(इस गाथामें रत्नवृष्टिकी संख्या भी बतलाई गई है, जिसका पाठकी अशुद्धिके कारण ठीक बोध नहीं हो सका।)

दत्तिविसोहिविसेसा भेदणिमित्तं खु रयण मल्लीए।
वायंति दुंदुहीओ देवा जलदेहिं अंतरिदा ॥ ६७० ॥
पसरइ दाणुग्घोसो वादि सुयंधो सुसीयलो पवणो।
दिव्वकुसुमेसु गयणं वरिसइ इह पंचचोज्जाणि ॥६७१॥

भगवान ऋषभदेवने एक हज़ार वर्ष तक तपश्चरण किया ‡। और फाल्गुण कृष्णा एकादशीको, पूर्वाण्हके समय तालपुर नगरमें, उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें 'केवलज्ञान' प्राप्त किया †।

केवलज्ञान प्राप्त होने पर सभी केवलीजिनका औदारिक शरीर परमौदारिक हो जाता है और वह पृथ्वीसे ५ हजार धनुष ऊपर चला जाता है। उक्त ज्ञानके होने पर सौधर्मादि इन्द्रोंके आसन कम्पायमान होते हैं। आसन कांपनेसे इन्द्र, शंखनादसे भवनवासी, भेरीके शब्दसे व्यंतर, सिंहनादसे ज्योतिषी और घंटाके शब्दसे कल्पवासी देव भगवानकी केवलज्ञानोत्पत्तिको जानकर भक्तियुक्त होकर सात पेड चलकर नमस्कार करते हैं। और अहमिन्द्र भी आसन कम्पनसे केवलज्ञानोत्पत्तिको जानकर सात पैड चलकर उसी दिशामें जहाँ केवली होते हैं नमस्कार करते हैं ×। तदनुसार ऋषभदेवके केवलज्ञान होने पर भी ये सब घटनाएं घटीं।

‡ उसहादिसु वासा सहस्स······ ···॥ ६७० ॥

† फग्गुणकिण्हेयारस पुव्वण्हे पुरिमतालणयरंमि।
उत्तरसाढे उसहे उप्पण्णं केवलं णाणं ॥ ६७६ ॥

× जादे केवलणाणे परमोराल जिणाण सव्वाणं।
गच्छदि उवरिं चावा पंचसहस्साणि वसुहाओ ॥७०१॥
भुवणत्तयस्स ताओ अइसय कोडीय हादि पक्खोहो।
सोहम्मपहुदिइंदा आसणाइं पि कंपंति ॥ ७०२ ॥
तक्कंपेणं इंदा संखघोसेण भवणवासि सुरा।
पडहरवेहिं वेंतर सीह णिणादेण जोइसिया ॥७०३॥
घंटाइ कप्पवासी णाणुप्पत्तिं जिणाण णादूणं।
पणमंति भत्तिजुत्ता गंतूणं सत्तविक्कमाओ ॥७०४॥
अहमिंदा जे देवा आसणकंपेण तं विणादूणं।
गंतूण तेत्तियं चिय तत्थट्ठिया ते णमंति जिणे ॥७०५॥

—पर्व ४, पत्र ७३,७४

केवलज्ञानके अनन्तर तीर्थंकर केवलियोंकी एक महती सभा जुड़ती है जिसका नाम 'समवसरण' है। ऋषभदेवके इस समवसरणका विस्तृत वर्णन पत्र ७४ से ८५ तक—१२ पत्रोंमें—दिया हुआ है, जो अपनी खास विशेषता रखता है और वह एक स्वतंत्र लेखका ही विषय है, जिसे फिर किसी समय प्रकट किया जायगा। सामान्य कथन इस विषयका पार्श्वपुराणादि ग्रन्थोंमें दिया हुआ है, जो इससे बहुत कुछ मिलता जुलता है।

श्री ऋषभदेव चौंतीस अतिशय और अष्ट प्रातिहार्योंसे संयुक्त थे। इनका सामान्य कथन इस ग्रन्थमें दिया हुआ है जिसे यहाँ छोड़ा जाता है। हाँ, इतना उल्लेख कर देना उचित है कि चौंतीस अतिशयोंमें आचार्य यतिवृषभने दिव्यध्वनिको देवकृत अतिशयोंमें नहीं गिनाया है; किन्तु दिव्यध्वनि-सहित केवलज्ञानके ११ अतिशय बतलाए हैं जो घातिकर्मके क्षयसे तीर्थंकरोंके केवलज्ञान होनेपर होते हैं ❀।

अरहंतोंके व्यवहारानुसार भगवान ऋषभदेव उस (रत्नमयी) सिंहासनसे चार अंगुल ऊपर अंतरीक्षमें ऐसे विराजे जैसे लोक-अलोकको प्रकाशित करने वाला अद्वितीय सूर्य आकाश मार्गमें स्थित हो ×।

केवली भगवानकी अनुपम दिव्यध्वनि स्वभावतः अस्खलितरूपसे (बिना किसी रुकावटके) तीनों कालोंमें नव मुहूर्त पर्यंत होती है और एक योजन पर्यंत जाती है—एक योजन में रहने वाले तिर्यंच, देव और मनुष्योंके समूह उस वाणी को सुनकर प्रतिबोधको प्राप्त होते हैं। शेष समयोंमें गणधर, देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंके प्रश्नोंके अनुरूप ही उसमें पदार्थोंका प्रतिपादन सप्तभंग रूपसे होता है। दिव्यध्वनिमें धर्मादि छह द्रव्यों, नव पदार्थों, सप्त तत्त्वों और पंचास्तिकायके स्वरूपादिका विशद वर्णन भव्यजीवोंके सम्बोधनके लिये होता है ‡। तदनुरूप ही ऋषभदेवकी वाणी प्रवर्ती और उसमें षडद्रव्यादिकी प्ररूपणा हुई।

भगवानकी वाणी तालु, कंठ, ओष्ठ आदिके व्यापारसे रहित होती है (इसीसे शायद अनक्षरी कहलाती है) और उसका परिणमन सकलभाषाओंमें होता है—अर्थात् दिव्यध्वनि अठारह प्रकारकी महाभाषाओं और सातसौ क्षुल्लकभाषाओं (छोटी छोटी क्षुद्रभाषाओं) में, जो अक्षर-अनक्षररूप संज्ञी जीवोंकी समस्तभाषाएँ कहलाती हैं, परिणत होती हैं❀—उस उस भाषा-भाषी जीव उसे अपने अपने क्षयोपशमके अनुसार समझ लेते हैं।

अमृत-निर्झरके समान उस जिनचन्द्र-वाणीको सुनकर बारह सभाके जीव अनन्तगुणश्रेणीकी विशुद्धिमें अग्रणीय होते हुए कर्म-पटलरूप असंख्यश्रेणीका छेदन करते हैं—अर्थात् आत्मपरिणामोंकी विशुद्धिसे कर्मोंकी असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं। इस तरह जिनेंद्रके प्रभावसे भारतक्षेत्रमें धर्मकी प्रवृत्ति होती है और भव्य-संघ मोक्ष सुखको

❀ घादिक्खएण जादा एक्कारस अदिसया महच्छरिया।
एदे तित्थयराणं केवलणाणम्मि उप्पण्णे ॥ ९०४॥

× चउरंगुलंतराले उवरिं सिंहासणाणि अरहंता।
चेट्ठंति गयणमग्गे लोयालोयप्पयासमत्तंडा ॥८९३॥

‡ पगदीए अक्खलिओ सव्वं तिदियंमि णवमुहुत्ताणि।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वज्झुणी जाव जोयणयं॥
॥ ९०१ ॥
सेसेसुं समयेसुं गणहर-देविंद-चक्कवट्टीणं।
पण्हाणुरूवमत्थं दिव्वज्झुणीए य सत्तभंगीहि ॥९०२॥
छद्दव्वणवपयत्थो पंचट्ठीकाय सत्ततच्चाणि।
णाणाविहहेदूहिं दिव्वझुणीभणइ भव्वाणं ॥९०३॥

❀ एदासुं भासासुं तालुवदंतोट्ठकंठवावारं।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं ॥९००॥
अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासा सयाइं सत्त तहा।
अक्खर अणक्खरप्प य सण्णी जीवाण सयलभासाओ
॥ ८९९ ॥

प्राप्त होता है †।

भगवान ऋषभदेव एक हज़ार वर्ष कम एक लाख पूर्व वर्ष तक अर्हन्त या जीवन्मुक्तरूप केवली अवस्थामें रहे—इतने समय तक जगतके जीवोंको आपके उपदेशका लाभ मिलता रहा। अन्तमें अष्टापद (कैलाश) पर्वतके शिखर पर आरूढ़ होकर और १४ दिन पहले योग निरोध करके आप माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन पूर्वाह्नके समय अपने

पीऊस-णिज्झरणिहं जिणचंदवाणि,
सोऊण बारसगणाणि अकारएसु।
णिच्चं अणंतगुणसेणिविसोहिअग्गा,
छेदंति कम्मपडलं खु असंखसेणि॥ ५३८॥

एवप्पभावा भरहस्स खेत्ते धम्मप्पवत्ती परमं दिसंता।
सव्वे जिणिंदा वरभव्वसंघस्स पोत्थिदं मोक्खसुहाइ देंतु॥ ५४०॥

जन्मनक्षत्र उत्तराषाढामें मुक्तिको प्राप्त हुए हैं। मुक्तिकी प्राप्तिके समय दुखमा-सुखमा नामक चतुर्थकालके प्रविष्ट होनेमें तीन वर्ष साढ़े आठमास बाकी थे—अथवा यों कहिये कि सुखमा-दुखमा नामके तीसरे कालकी समाप्तिमें तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रहे थे ‡।

वीर सेवामन्दिर, सरसावा, ता० ३१-५-१९४१

‡ पुव्वाण एक्कलक्खं वासाणं ऊणिदं सहस्सेण।
उसहजिणिंदे कहियं केवलिकालस्स परिमाणं॥५४१॥
उसहो चोद्दस दिवसे, ... ॥ १२०८॥
माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णिय य जम्मणक्खत्ते
अट्ठावयंमि उसहो अजुदेण समं गओज्जोमि॥११ ४॥
उसहजिणे णिव्वाणे वासतए अट्ठमासमासद्धे।
वोलीणंमि पविट्ठो दुस्समसुसमो तुरियकालो॥१२७३॥

जीवन-नैय्या

(१)

जीर्ण-शीर्ण-सी जीवन-नैया,
दुर्गम-पथ आलोक-विहीन!
गुरुतर झंझा के झोकों में,
होने को हो रही विलीन!!

(२)

दम्भ-द्वेष का भार इधर है,
उधर उदधि में भीषण ज्वार!
हाथ पांव फूले केवट के—
कैसे होगी परलीपार!!

(३)

साथ न सच्चा साथी कोई,
अपना और न कुछ भी पास!
निरी वासना-मयी इन्द्रियां—
नहीं दिखातीं आत्म-प्रकाश!!

(४)

मन विडम्बनाओं में बेसुध-
भूल रहा है अपना ध्येय!
नहीं सोच सकता क्षणभर भी—
उपादेय क्या, क्या है हेय!!

(५)

अतिजघन्य अगणित इच्छाएँ—
खींच रही हैं अपनी ओर!
पता नहीं है किस गह्वर में—
अटकादें जीवन की डोर!!

(६)

इस अवसर पर एक सहारा—
मुझे आपका हे भगवान!
पार लंघादेगा नैय्या को,
करदेगा निश्चित कल्याण!!

श्री 'कुसुम' जैन

जैनदर्शनका नयवाद

(ले०—न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जैन कोठिया)

जैनदर्शनमें तत्त्वके दो भेद माने गये हैं [1]—१ उपेय, २ उपाय। उपेयतत्त्वके भी दो भेद हैं—१ कार्यतत्त्व, २ ज्ञेयतत्त्व। कारकोंकी विषयभूत वस्तु 'कार्यतत्त्व' कही जाती है और ज्ञानकी विषयभूत वस्तु 'ज्ञेयतत्त्व' कही जाती है। उपायतत्त्वके भी दो भेद हैं—१ ज्ञापक, २ कारक। वस्तुप्रकाशक ज्ञानको 'ज्ञापक उपायतत्त्व' कहते हैं और कार्योत्पादक उद्योग-दैवादिको 'कारक उपायतत्त्व' कहते हैं, जिसे दार्शनिक भाषामें कारण या हेतु भी कहा जाता है।

ज्ञापकतत्त्वके भी दो भेद हैं—१ प्रमाण, २ नय। वस्तु-प्रकाशक होनेके कारण प्रमाण और नय दोनों ही ज्ञापकतत्त्व हैं। आचार्य उमास्वामीने तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण और नय दोनोंको पदार्थाधिगमोपायरूप कहा है [2]। श्री स्वामी समन्तभद्रने देवागम-स्तोत्रमें स्पष्ट कहा है कि केवली भगवानका ज्ञान एक साथ सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाशक होनेके कारण प्रमाणरूप है और छद्मस्थोंका क्रमिक ज्ञान प्रमाण और नय दोनों रूप हैं [3]। तात्पर्य यह कि जैनदर्शनमें प्रमाणके अलावा नयको भी प्रमेयका व्यवस्थापक एवं वस्तु-प्रकाशक माना गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ऊपर आपने ज्ञानको ज्ञापक कहा है, सो ज्ञान प्रमाण रूप ही है नय रूप नहीं। "स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं," "सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं" आदि वचनोंसे भी ज्ञानमें केवल प्रमाणत्व ही सिद्ध होता है नयत्व नहीं; तब फिर नय ज्ञापक-प्रकाशक कैसे कहा जा सकता है? उत्तर—प्रमाण और नय ये दो भेद विषयभेदकी अपेक्षा किये गये हैं। वास्तवमें नय प्रमाणरूप ही है, प्रमाणसे भिन्न नहीं है। जिस समय ज्ञान पदार्थों के सापेक्ष एकांश—एक धर्मको ग्रहण करता है उस समय वह 'नय' कहा जाता है और जब पूर्णरूपेण वस्तुको अखण्डपिण्डात्मक रूपमें ग्रहण करता है तब 'प्रमाण' कहा जाता है। छद्मस्थज्ञाता जब अपने आपको समझानेके लिये प्रवृत्त होता है तो उस समय उसका ज्ञान 'स्वार्थ श्रुतज्ञान' कहलाता है और जब दूसरोंको समझानेके लिये शब्दोच्चारण करता है उस समय उसका शब्दोच्चारण उपचारतः वचनात्मक 'परार्थ श्रुतज्ञान' कहा जाता है। श्रोताको उसके शब्दोंसे जो बोध होगा वह वास्तविक श्रुतज्ञान कहा जाता है और श्रुतज्ञानके ही भेद नय हैं। आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें उक्त प्रश्नका अच्छा समाधान किया है। आप लिखते हैं—श्रुतज्ञान स्वार्थ तथा परार्थ दोनों प्रकारका होता है, ज्ञानरूप स्वार्थश्रुतज्ञान है तथा वचनरूप परार्थ श्रुतज्ञान है। और श्रुतज्ञान

---

१ उपायतत्त्वं—ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधं, तत्र ज्ञापकं प्रकाशकमुपायतत्त्वं ज्ञानं, कारकं तूपायतत्त्वमुद्योगदैवादि। अष्टसहस्री टि० पृ० २५६।

२ "प्रमाणनयैरधिगमः" तत्त्वार्थसूत्र।

३ तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥

के ही भेद नय हैं [४]। इस प्रकार नयोंका श्रुतज्ञानमें अन्तर्भाव किया है।

विद्यानन्द स्वामीने भी श्लोकवार्तिकमें उक्त प्रश्न का समाधान बड़े अच्छे ढंगसे कर दिया है। वे कहते हैं कि—जो लोग प्रमाण और अप्रमाणका विकल्प करके नयोंका खण्डन करते हैं वह ठीक नहीं है। नय न तो प्रमाण हैं और न अप्रमाण, किन्तु प्रमाणैक-देश हैं ? जिस प्रकार समुद्रसे लाया हुआ घड़ा भर पानी न तो समुद्र है और न असमुद्र, किन्तु समुद्रैक देश है [५]। मतलब यह कि नयके द्वारा पूर्ण वस्तुका ज्ञान नहीं होता, उसके एक अंशका ही ज्ञान होता है नयका विषय न तो वस्तु है और न अवस्तु, किन्तु वस्तु का अंश है। जैसे समुद्रकी एक बिन्दु न तो समुद्र ही है न समुद्रके बाहर है, किन्तु समुद्रका एक अंश है। अगर एक बिन्दुको ही समुद्र मान लिया जाय तो बाकीके बिन्दु, समुद्रके बाहर होजावेंगे अथवा प्रत्येक बिन्दु एक एक समुद्र कहलाने लगेगा, इस प्रकार एक ही समुद्रमें लाखों समुद्रोंका व्यवहार होने लगेगा। अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि नय प्रमाणके ही अंश हैं। फिर भी छद्मस्थज्ञाता, वक्ताओंकी दृष्टि से उनका पृथक् निरूपण करना अत्यावश्यक है। संसारके समस्त व्यवहार नयोंको लेकर ही होते हैं।

जैनदर्शनमें नयका वही स्थान है जो प्रमाणका है। नय और प्रमाण जैनदर्शनकी आत्मा हैं। यदि नयको न माना जाय तो जैनदर्शनकी आत्मा अपूर्ण रहेगी। मैं तो दावेके साथ कह सकता हूँ कि नय ही विविध वादों एवं जटिलसे जटिल प्रश्नोंकी गुत्थियों के सुलझानेमें समर्थ है। प्रमाण गूंगा है—बोल नहीं सकता है—और न विविध वादोंको सुलझा सकता है, अतः जैनदर्शनकारों ने मत-मतान्तरोंको उचित मार्ग पर लानेके लिये नयवादका आविष्कार करके बड़ी भारी कमीकी पूर्ति की है। वचन-प्रवृत्ति तथा लोक-व्यवहार नयाश्रित ही है, प्रमाणाश्रित नहीं। अतः मानना होगा कि जिस दर्शनमें नयको स्थान नहीं मिला है वह दर्शन अधूरा ही है। केवल प्रमाणसे [६] अनन्तधर्मात्मक वस्तुका प्रातिस्विक रूपसे ज्ञान नहीं हो सकता है। और न वह दर्शन अपने ऊपर आये आघातोंका परिहार या प्रतिवाद कर सकता है और न अपने को उत्कृष्ट ही सिद्ध कर सकता है।

यद्यपि न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनोंने उक्तविषय का निर्णय करनेके लिये शब्दप्रमाण-शाब्दबोध स्वीकृत किया है और उसके द्वारा तत्तद्धर्मविशिष्ट वस्तु के बोधकी व्यवस्था की है और शब्द-प्रमाणका सविस्तार निरूपण किया है तथापि नय-साध्य कार्य शब्द-प्रमाणके द्वारा नहीं हो सकता है। इसका विशद विवेचन स्वतन्त्र लेखमें किया जावेगा।

न्यायदर्शनने अवश्य अपने ऊपर आये आघातोंका छल, जाति और निग्रहस्थानके स्वीकार-द्वारा परिहार करनेका प्रयत्न किया है, पर वह इस दिशामें असफल

---

४ "श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं, वचनात्मकं परार्थं॥ तद्विकल्पा नयाः।" "सकलादेशः प्रमाणाधीनः विकलादेशः नयाधीनः।" —सर्वार्थसिद्धिः

५ "नयः प्रमाणमेव स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात् इष्टप्रमाणवत् विपर्ययो वा, ततो न प्रमाणनययोर्भेदोऽस्ति।" "तदसत् नयस्य स्वार्थैकदेशलक्षणत्वेन स्वार्थनिश्चायकत्वासिद्धेः।"

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्कास्तु समुद्रवित्॥

श्लोक वार्तिक पृ० ११८

६ "प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था" न्यायदर्शन आदि

ही रहा। कारण, कोई भी प्रेक्षावान् असद् प्रवृत्तिको अङ्गीकार कर अपने पक्षका समर्थन तथा परपक्षका निराकरण नहीं करेगा। वह तो समन्वयका रास्ता ढूँढ़ेगा और वह रास्ता नयोंमें ही निहित है। दर्शनका उद्देश्य जगतके प्राणियोंका हित करना और उन्हें उचित मार्ग पर लाना होता है, वितण्डावादसे उक्त दोनों बातें सम्भव नहीं हैं। वही दर्शन सत्य एवं हितकारी है जो लोहाकर्षक चुम्बकके समान आत्माओंको आकर्षित करके उन्हें उनके सच्चे हितके मार्गमें लगा देता है। जैनदर्शनका नयवाद विविध मतोंकी असमंजसता रूप श्रावणकी अंधेरी रातमें चलने वाले बटोहीके लिये नहीं बुझने वाले विशाल गैसके हंडोंका काम देता है।

वस्तु अनेकधर्मात्मक है। अनेकधर्मात्मक वस्तु का पूरा पूरा और ठीक ठीक बोध हम इन्द्रियों या वचनों द्वारा नहीं कर सकते हैं। हाँ, नयोंके द्वारा एक एक धर्मका बोध करते हुए अनगिनत धर्मोंका ज्ञान कर सकते हैं। वस्तु नित्य भी है, अनित्य भी है, एक भी है, अनेक भी है, भेदरूप भी है, अभेदरूप है आदि विरोधी सरीखे दीख रहे धर्मोंकी व्यवस्था नयवादसे ही होती है। उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट होजाता है कि 'नय' भी पदार्थोंके जाननेके लिये एक आवश्यक चीज है।

विवक्षित एवं अभिलषित अर्थकी प्राप्ति या ज्ञप्ति करनेके लिये वक्ताकी जो वचन प्रवृत्ति या अभिप्राय विशेष होता है वही 'नय' है [७]। यह अर्थ-क्रियार्थियों की अर्थ-क्रियाका संपादक है। प्रमाण तो सब इंद्रियों और मनसे होता है लेकिन 'नय' केवल मनसे ही होता है।

जैनदर्शनमें नयवादका परिवार देखते ही बनता है। या यों कहिये कि जितने वचन मार्ग हैं उतने ही नय हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि—'जितना वचन व्यवहार है और वह जिस जिस तरह से हो सकता है वह सब नयवाद है' [८]। नयोंका वचनोंके साथ ज्यादा घनिष्ठ सम्बन्ध है या यों कहिये कि नय वचनोंसे उत्पन्न होते हैं। शब्दमें एक साथ एक समयमें अनेक धर्मों या अर्थोंके प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं है। एक बार उच्चारण किया गया शब्द एक ही अर्थका बोध कराता है [९]। इसी लिये अनेक धर्मोंका पिण्डरूप वस्तु प्रमाणका विषय होती है, नय का नहीं।

आचार्योंने नयके मुख्य एवं मूल दो भेद किये हैं—१ द्रव्यार्थिक, २ पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिकके तीन भेद हैं १ नैगम, २ संग्रह, ३ व्यवहार। पर्यायार्थिक के चार भेद हैं—१ ऋजुसूत्र, २ शब्द, ३ समभिरूढ़, ४ एवंभूत। इस प्रकार न अतिसंक्षेप, न अति विस्तारकी अपेक्षा कर नयोंके सात भेद कहे गये हैं। इन सात नयोंमें आदिके चार नय अर्थप्रधान होनेसे 'अर्थनय' कहे जाते हैं और अन्तके तीन नय शब्द-प्रधान होनेके कारण 'शब्दनय' कहे जाते हैं। इन नयोंका स्वरूप यहां बतानेसे लेखका कलेवर बढ़ जायगा। अतः नयचक्रादि ग्रंथोंसे इनका स्वरूप जान लेना चाहिये।

७ "वक्तुरभिप्रायविशेषः नयः"। "स्याद्वादप्रविभक्तार्थ-विशेषव्यञ्जको नयः॥ देवागम, अष्टसहस्री श्लोकवार्तिक

८ "जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया" —सम्मतितर्क

९ "सकृदुच्चारितः शब्दः एकमेवार्थं गमयंति"।

सिकन्दर आज़मका अन्तसमय

[संसारकी असारता और बड़ों-बड़ोंकी असमर्थताको बतलाने वाली यह कविता अच्छी शिक्षाप्रद है। इसमें एक बड़े प्रसिद्ध सम्राट्की अन्तिम समयकी बातचीत और वसीयतको चित्रित किया गया है। इसके रचियता कौन हैं, यह अज्ञात है। अपने एक मित्र बा० होरीलालजी जैन सरसावासे यह प्राप्त हुई है, जो इसे बड़ी दर्दभरी आवाज़ और हृदय-द्रावक लहजेमें पढ़कर सुनाया करते हैं। —सम्पादक]

वक्त मरनेके सिकन्दरने तबीबों[1] से कहा—
'मौतसे मुझको बचालो, करके कुछ मेरी दवा!'
सर हिलाकर यों कहा सबने कि 'अय शाहेजहां!
मौतसे किसको पनाह है[2], क्या है दरमाने क़ज़ा[3]?'
बरगुज़ीदा हस्तियों[4] से यों हुआ फिर हमकलाम[5]—
'है कोई इस वक्त मुश्किलमें मेरा मुश्किल-कुशा[6]?'
यकज़ुबां होकर कहा सबने कि—'हम माज़ूर[7] हैं,
कुन्द हैं तदबीर सब और अक्ल भी है नारसा[8]।'
बेगमों और लौंडियोंसे फिर मुख़ातिब यों हुआ—
'नाज़नीनों! इस घड़ी तुमसे है उम्मीदे वफ़ा!'
सर्द आहें भरके और बा-चश्मतर[9] कहने लगीं—
'बेबसो माज़ूर हैं हम, किस तरहसे लें बचा?'
कुल ख़ज़ायन[10] और दफ़ायन[11] खोलकर कहने लगा—
'अय मेरे फ़ख़्रेजहां[12] अब साथमें चलना ज़रा!'

लक्ष्मीने यों कहा हसरतभरी[13] आवाज़से—
'मैं थी साथी इस जहांकी[14] वह जहां है दूसरा!'
तोता-चश्मी देख सबकी और टकासा सुन जवाब—
रो पड़ा आज़म सिकन्दर! हाय मैं तनहा[15] चला!!
होगया मजबूर जब वह ज़िन्दगीसे इस तरह;
यों वसीयत की अमीरों[16] और वज़ीरोंको बुला—
हों तबीबे नामवर लाशा उठाए दोश[17] पर;
देखले ता ख़ल्क़[18] मुझको देसके ये ना शफ़ा[19]।
कुल ज़रो लालो जवाहरके भरे छकड़े हों साथ,
बेगमातें साथ हों और साथ बूढ़ी वालिदा!
फ़ील[20] हों होदे सजे और अस्प[21] हों बा-ज़ीन साथ,
कुल रिसाला हो मुसल्ला[22] साथ हो सारी सिपाह[23]!
कुल रिआया बूढ़े बच्चे और जवाँ सब साथ हों,
हो जनाज़ेका हमारे रहनुमा[24] छोटा—बड़ा!
बादेमुर्दन[25] कफ़नसे बाहर मेरे दो हाथ हों;
देखले ता ख़ल्क़ मुझको, साथमें क्या ले चला!!

---

१ हकीमों. २ कौन सुरक्षित है?. ३ मौतकी दवा. ४ चुने हुए प्रतिष्ठित व्यक्तियों—अपने खास आदमियों. ५ सम्भाषण. ६ मुशकिल—मुसीबतको आसान करने वाला. ७ असमर्थ. ८ पहुँचसे बाहर—हतप्रभ. ९ सजलनेत्र होकर. १० ख़ज़ाने. ११ दफ़ीने, गड़ी हुई लक्ष्मी—धन-दौलतके भण्डार. १२ लोकगौरव.

१३ दुःख-अफ़सोसभरी. १४ लोक—दुनिया. १५ अकेला. १६ उच्च पदाधिकारियों—सरदारों. १७ कंधा. १८ दुनिया. १९ आरोग्य. २० हाथी. २१ घोड़े. २२ सारी घुड़सवार फौज सशस्त्र हो. २३ सेना. २४ मार्गदर्शक. २५ मरनेके पश्चात्।

समन्तभद्र-विचारमाला

(सम्पादकीय)

(३) पुण्य-पाप-व्यवस्था

पुण्य-पापका उपार्जन कैसे होता है—कैसे किसीको पुण्य लगता, पाप चढ़ता अथवा पाप-पुण्यका उसके साथ सम्बन्ध होता है; यह एक भारी समस्या है, जिसको हल करने का बहुतोंने प्रयत्न किया है। अधिकांश विचारकजन इस निश्चय पर पहुँचे हैं और उनकी यह एकान्त धारणा है कि—'दूसरोंको दुःख देने, दुःख पहुँचाने, दुःखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह दुःखका कारण बननेसे नियमतः पाप होता है—पापका आस्रव-बन्ध होता है; प्रत्युत इसके दूसरोंको सुख देने, सुख पहुँचाने, सुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह सुखका कारण बननेसे नियमतः पुण्य होता है—पुण्यका आस्रव बन्ध होता है। अपनेको दुःख-सुख देने आदिसे पाप-पुण्यके बन्धका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

दूसरोंका इस विषयमें यह निश्चय और यह एकान्त धारणा है कि—'अपनेको दुःख देने-पहुँचाने आदिसे नियमतः पुण्योपार्जन और सुख देने आदि से नियमतः पापोपार्जन होता है—दूसरोंके दुःख-सुख का पुण्य-पापके बन्धसे कोई सम्बन्ध नहीं है।'

स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिमें ये दोनों ही विचार एवं पक्ष निरे ऐकान्तिक होनेसे वस्तुतत्त्व नहीं हैं, और इसलिये उन्होंने इन दोनोंको सदोष ठहराते हुए पुण्य-पापकी जो व्यवस्था सूत्ररूपसे अपने 'देवागम' में (कारिका ९२ से ९५ तक) दी है वह बड़ी ही मार्मिक तथा रहस्यपूर्ण है। आज इस विचारमालामें वह सब ही अनेकान्तके पाठकोंके सामने रक्खी जाती है।

प्रथम पक्षको सदोष ठहराते हुए स्वामी समन्तभद्र लिखते हैं:—

पापं ध्रुवं परे दुःखात्पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः॥९२

'यदि परमें दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका होना निश्चित है—ऐसा एकान्त माना जाय—, तो फिर अचेतनपदार्थ और अकषायी (वीतरागी) जीव भी पुण्य-पापसे बँधने चाहियें; क्योंकि वे भी दूसरोंमें सुख-दुःखकी उत्पत्तिके निमित्त कारण होते हैं।'

भावार्थ—जब परमें सुख-दुःखका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष-कण्टकादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं, पुण्य-पापके बन्धकर्ता क्यों नहीं? परन्तु इन्हें कोई भी पुण्य-पापके बन्धकर्ता नहीं मानता—कांटा पैरमें चुभकर दूसरेको दुःख उत्पन्न करता है, इतने मात्रसे उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप-फलदायक कर्मपरमाणु ही उससे आकर चिमटते अथवा बन्धको प्राप्त होते हैं। इसी तरह दूध-मलाई बहुतोंको आनन्द प्रदान करते हैं परन्तु उनके इस आनन्दसे दूध मलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और न उनमें पुण्य-फलदायक कर्म-परमाणुओंका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल उन्हें (दूध-मलाईको) बादको भोगना पड़े। इससे उक्त एकान्त सिद्धान्त स्पष्ट सदोष जान पड़ता है।

यदि यह कहा जाय कि चेतन ही बन्धके योग्य होते हैं अचेतन नहीं, तो फिर कषायरहित वीतरागियों के विषयमें आपत्तिको कैसे टाला जायगा? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोंके दुःख-सुखके कारण बनते हैं। उदाहरणके तौर पर किसी मुमुक्षुको मुनिदीक्षा देते

हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियोंको दुःख पहुँचता है। शिष्यों तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोंको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैरके तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामें स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेजीसे उड़ा चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमें बाधक होनेसे वे उसके दुःखके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओंके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन नीरोग होजाते हैं और यथेष्ट सुखका अनुभव करते हैं। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार हैं जिनमें वे दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं। यदि दूसरोंके सुख-दुःखका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामें पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमें वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धनसे बच सकते हैं? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमें पड़ते हैं तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है—"कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्।" "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।" और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिये कोई कारण नहीं रहता। कारणके अभावमें कार्यका अभाव होजानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्षके अभावमें बन्धकी भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्ध और मोक्ष-जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमें अविनाभाव सम्बन्धको लिये होते हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता, यह बात प्रथम लेखमें भले प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र होजाती है। अतः चेतन आत्माओंकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त व्यवस्था सदोष है।

यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय जीवोंके दूसरोंको सुख-दुःख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नहीं होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इस लिये दूसरोंकी सुख-दुःखोत्पत्तिमें निमित्तकारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते; तो फिर दूसरोंमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है, यह एकान्त सिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा; प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखोत्पत्तिमें पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्णसावधानीके साथ फोड़ेका आपरेशन करता है परन्तु फोड़ेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचता है, इस दुःखके पहुँचनेसे डाक्टरको पापका बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःखविरोधिनी भावनाके कारण वह दुःख भी पुण्य बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषाय-भावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबड़ापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—"कुबड़े गुण लात लग गई"—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवनसे लात मारने वालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः प्रथमपक्ष वालोंका यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुःखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है और इस लिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कहा सकता। इसी दूसरे पक्षको दूषित ठहराते हुए आचार्य महोदय लिखते हैं—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः॥

हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियोंको दुःख पहुँचता है। शिष्यों तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोंको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामें स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेजीसे उड़ा चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरहसे भी उस जीवके मार्गमें बाधक होनेसे वे उसके दुःखके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओंके शरीरके स्पर्शमात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन नीरोग होजाते हैं और यथेष्ट सुखका अनुभव करते हैं। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार हैं जिनमें वे दूसरोंके सुख-दुःखके कारण बनते हैं। यदि दूसरोंके सुख-दुःखका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामें पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमें वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धनसे बच सकते हैं? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमें पड़ते हैं तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है—"कषायमूलं सकलं हि बन्धनम्।" "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।" और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिये कोई कारण नहीं रहता। कारणके अभावमें कार्यका अभाव होजानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्षके अभावमें बन्धकी भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती; क्योंकि बन्ध और मोक्ष-जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमें अविनाभाव सम्बन्धको लिये होते हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता, यह बात प्रथम लेखमें भले प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र होजाती है। अतः चेतन प्राणियोंकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त व्यवस्था सदोष है।

यदि यह कहा जाय कि उन अकषाय जीवोंके दूसरोंको सुख-दुःख पहुँचानेका कोई संकल्प या अभिप्राय नहीं होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इस लिये दूसरोंकी सुख-दुःखोत्पत्तिमें निमित्तकारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते; तो फिर दूसरोंमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है, यह एकान्त सिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा; प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखोत्पत्तिमें पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी होसकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्णसावधानीके साथ फोड़ेका आपरेशन करता है परन्तु फोड़ेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचता है, इस दुःखके पहुँचनेसे डाक्टरको पापका बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःखविरोधिनी भावनाके कारण वह दुःख भी पुण्य बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य कषाय-भावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबड़ापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—"कुबड़े गुण लात लग गई"—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवनसे लात मारने वालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः प्रथमपक्ष वालोंका यह एकान्त सिद्धान्त कि 'परमें सुख-दुःखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सदोष है और इस लिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कह सकते।

[illegible] अब दूसरे पक्षको सदोष ठहराते हुए आचार्य महोदय लिखते हैं—

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः॥

"यदि अपनेमें दुःखोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव है—निश्चितरूपसे होता है, ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषाय-रहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे बँधने चाहियें; क्योंकि वे भी अपने सुख-दुःखकी उत्पत्तिके निमित्त कारण होते हैं।"

भावार्थ—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल योगादिके अनुष्ठानद्वारा कायक्लेशादिरूप दुःखकी और तत्त्वज्ञानजन्य संतोषलक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है। जब अपनेमें दुःख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य पाप बँधता है तो फिर ये अकषाय जीव पुण्य-पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं? यदि इनके भी पुण्य-पापका ध्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य-पाप के अभावका कभी अवसर नहीं मिल सकता और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनों बन्धोंके अभावके बिना मुक्ति होती ही नहीं। और मुक्तिके बिना बन्धादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती; जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है। यदि पुण्य-पापके अभाव बिना भी मुक्ति मानी जायगी तो संसृतिके—संसार अथवा सांसारिक जीवनके—अभावका प्रसंग आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोंमेंसे किसीको भी इष्ट नहीं है। ऐसी हालतमें आत्मसुखदुःखके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त सिद्धान्त भी सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमें दुःख-सुखकी उत्पत्ति होनेपर भी तत्त्वज्ञानी वीतरागियोंके पुण्य-पापका बन्ध इस लिये नहीं होता कि उनके दुःख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नहीं होता, वैसी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें आसक्ति ही होती है, तो फिर इससे तो अनेकान्त सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नहीं। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि, अभिप्रायको लिये हुए दुःख सुखका उत्पादन पुण्य पापका हेतु है, अभिप्राय-विहीन दुःख-सुखका उत्पादन पुण्य-पापका हेतु नहीं है।

अतः उक्त दोनों एकान्त सिद्धान्त प्रमाणोंसे बाधित हैं, इष्टके भी विरुद्ध पड़ते हैं, और इसलिये ठीक नहीं कहे जा सकते।

इन आपत्तियोंसे बचने आदिके कारणों जो लोग दोनों एकान्तोंको अंगीकार करते हैं परन्तु स्याद्वादके सिद्धान्तको नहीं मानते—अपेक्षा-अनपेक्षाको स्वीकार नहीं करते—अथवा अवाच्यतैकान्तको अपनाकर पुण्य-पापकी व्यवस्थाको 'अवक्तव्य' बतलाते हैं उनकी मान्यतामें "विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते" ॥ इस कारिका (नं० ९४) के द्वारा विरोधादि दूषण देनेके अनन्तर, स्वामी समंतभद्रने स्वपरस्थ सुखदुःखादिकी दृष्टिसे पुण्यपापकी जो सम्यक् व्यवस्था अर्हन्मतानुसार बतलाई है उसकी प्रतिपादक कारिका इस प्रकार है:—

विशुद्धि-संक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखं।
पुण्य-पापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः॥

इसमें बतलाया है कि—अर्हन्तके मतमें सुख-दुःख आत्मस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरेको—वह यदि विशुद्धिका अंग है तो उस पुण्यास्रवका, संक्लेशका अंग है तो उसे पापास्रवको हेतु है जो युक्त है—सार्थक, active अथवा बन्धकर है—और यदि विशुद्धि तथा संक्लेश दोनोंमेंसे किसीका अंग नहीं है तो पुण्यपापमेंसे किसीके भी युक्त आस्रवका—बन्ध-व्यवस्थापक साम्परायिक आस्रवका हेतु नहीं है—(बन्धाभावके कारण) वह व्यर्थ होता है—उसका कोई फल नहीं।

यहाँ 'संक्लेश' का अभिप्राय आर्त-रौद्रध्यानके परिणामसे है—"आर्त-रौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशः" जैसा अकलंकदेवने 'अष्टशती' टीकामें स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानंदने भी उसे 'अष्टसहस्री' में अपनाया है। 'संक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपमें प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'संक्लेशाऽभाव' है ("तदभावः विशुद्धिः" इत्यकलंकः)—उस क्षायिक लक्षणा तथा अविनश्वरी परमविशुद्धिका अभिप्राय नहीं है जो निरवशेष रागादिके अभावरूप होती है—उस विशुद्धिमें तो पुण्य-पापबन्धके लिये कोई स्थान

ही नहीं है। और इस लिये विशुद्धिका आशय यहाँ आर्त-रौद्रध्यानसे रहित शुभ परिणतिका है। वह परिणति धर्म्यध्यान शुक्लध्यानस्वभावको लिये हुए होती है। ऐसी परिणतिके होनेपर ही आत्मा स्वात्मामें—स्वस्वरूपमें—स्थितिको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अंशोंमें क्यों न हो। इसीसे अकलंकदेवने अपनी व्याख्यामें, इस संक्लेशाभावरूप विशुद्धिको "आत्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्" रूपसे उल्लिखित किया है। और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्यप्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकास में सहायक होती है, जब कि संक्लेश—परिणतिमें आत्माका विकास नहीं बन सकता—वह पापप्रसाधिका होनेसे आत्माके अधःपतनका कारण बनती है। इसीलिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धि के स्वभावको 'विशुद्ध्यंग' कहते हैं। इसी तरह संक्लेशके कारण, संक्लेशके कार्य तथा संक्लेशके स्वभावको 'संक्लेशाङ्ग' कहते हैं। स्व-पर—सुख दुःख यदि विशुद्ध्यंग—संक्लेशाङ्गको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-पापरूप शुभ अशुभ बन्धका कारण होता है, अन्यथा नहीं। तत्त्वार्थसूत्रमें, "मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इस सूत्रके द्वारा, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय-योगरूपसे बन्ध के जिन कारणोंका निर्देश किया है वे संक्लेशपरिणाम ही हैं; क्योंकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामोंके कारण होनेसे 'संक्लेशाङ्ग' में शामिल हैं, जैसे कि हिंसादि-क्रिया संक्लेशकार्य होनेसे संक्लेशाङ्गमें गर्भित है। अतः स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह 'कायवाङ्मनःकर्मयोगः', 'स आस्रवः,' 'शुभःपुण्यस्याशुभः पापस्य' इन तीन सूत्रोंके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रव का और अशुभकायादि व्यापारको पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नहीं पड़ता; क्योंकि कायादियोगके भी विशुद्धि और संक्लेशके कारणकार्यत्वके द्वारा विशुद्धित्व-संक्लेशत्व की व्यवस्थिति है। 'संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जाचुके हैं; विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, धर्म्यध्यान शुक्लध्यान उसके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। ऐसी हालतमें स्वपरदुःखकी हेतुभूत कायादि क्रियाएँ यदि संक्लेश-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे संक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषभक्षणादिरूपकायादि क्रियाओंकी तरह, प्राणियोंको अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती हैं; और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्ध्यङ्गत्वके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादि क्रियाओंकी तरह, प्राणियोंके शुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बंधका कारण होती हैं। जो शुभफलदायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभफलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्यपाप कर्मोंके अनेक भेद हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें संपूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्य-पाप कर्मोंके आस्रव बन्ध का कारण सूचित किया है। इसमें पुण्य—पापकी व्यवस्था बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

सारांश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुःख दोनों ही, चाहे स्वस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरेको—, कथंचित् पुण्यरूप आस्रवबन्धके कारण हैं, विशुद्धिके अंग होनेसे, कथंचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् पुण्यपाप उभयरूप आस्रव बन्धके कारण हैं, क्रमार्पित विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे; कथंचित् अवक्तव्यरूप हैं, सहार्पित विशुद्धि-संक्लेशके अंग होनेसे। और विशुद्धि-संक्लेशका अंग न होने पर दोनों ही बन्धके कारण नहीं हैं। इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्ग से ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नहीं। एकान्तपक्ष सदोष है, जैसाकि ऊपर बतलाया जाचुका है, और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नहीं हो सकता। ता० ११।६।१९४१

युवराज

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

वासनाको इसलिए और भी बुरा कहा है कि वह विषयीके प्राप्त-ज्ञानको भी खो देती है। वह सौन्दर्य-मदिरा पीकर पागल हो जाता है! भूल जाता है कि मैं किस अनर्थकी ओर दौड़ रहा हूँ। और उसी उन्मत्त-दशामें वह ऐसा भी कर बैठता है कि फिर पीछे ज़िन्दगी भर उसके लिए रोये, पछताए, मुँह दिखाने-भरके लिए जगह न पाए!

यज्ञदत्त भी ऐसे ही भयानक अनर्थ की ओर बढ़ा जा रहा था, कि उसे दिगम्बर साधु महाराज अयनने रोक दिया! उनका जीवन ही परोपकार-मय होता है।

वासना-विजयी महाराज अयन—शहरसे दूर, जन-शून्य स्थानमें विराजे हुए, ध्यानस्थ होनेके लिए तैयार होरहे थे कि देखा—क्रौंचपुरका युवराज यज्ञदत्त—बिल्कुल अकेला—लम्बे-लम्बे क़दम रखता हुआ बढ़ा जा रहा है—उधर! जहाँ ग़रीबीके सताये हुए, पद-दलित मानवोंने एक झोपड़ी डालकर, मरी हुई ज़िन्दगीके शेष दिन बिताना तय किया है।

अँधेरा हो चला है। दिवाकरको अस्ताचलकी शरण लिए काफ़ी वक्त बीत चुका। स्वभावतः निशा-हारको बुरा साबित करनेवाले परिन्दे, अपनी-अपनी नींद और अपने-अपने स्नेहियोंके साथ घोंसलोंमें जा छुपे हैं!

दिगम्बर-साधु निशा-मौनके हामी होते हैं। प्राण जाएँ, लेकिन रातको बोलना कैसा? प्राणोंकी ममता उन्हें छोड़ देनी पड़ती है, क्योंकि यह सबसे बज़न-दार लोभ होता है। दुनियाके निन्यानवें फ़ीसदी पाप इसीमें छिपकर बैठे हैं। पर, जब कभी किसी पर करुणा आजाती है, उसके उद्धार-उपकारकी भावना अधिक प्रेरणा देने लगती है या धर्म उद्धारका ख़याल पैदा हो जाता है, तब वैसे मौक़ों पर रातके वक्त बोल भी लेते हैं। यह सही है कि जब वे देखते हैं कि 'मेरे बोलनेसे ही कुछ उपकार हो सकता है, और मैं अवश्य ही किसीके हितमें शामिल हो सकता हूँ' तभी बोलते हैं। और बोलकर या भरपूर उपकार करके भी इसका प्रायश्चित्त लेते हैं। इस लिये कि यह दिगम्बर साधु-नियमके विरुद्ध है। उन्हें परोप-कारके पहले अपने उपकारकी—आत्म सुधारकी—भी ज़िम्मेदारी तो सँभालनी ही होती है!

उसी, दरिद्रों की, झोंपड़ीमें रहती है—मित्रवती! जो कामियों, मनचलोंकी नज़रमें रूपवती है! पर, वह है जो अपने लिए समझती है—'मुझ-सी दुखिया दुनियाके पर्दे पर नहीं!'

यज्ञदत्त है युवराज! नव-यौवन, रसीला मन और साधन-सम्पन्न! घूमते-फिरते उसने देख लिया कहीं, मित्रवती को! ललचा गया मन! कामीको क्या? वह तो सिर्फ़ रूप देखता है! जाति-भेद उसे दीखता नहीं, और अपनी मर्यादा—प्रतिष्ठाका ख़याल तो वह भूल ही जाता है!

चिराग़ जलेके बाद—दबे पाँव अरमान और राज्यमदकी हिम्मतके साथ यज्ञदत्त चला, मित्रवती के रूपका आस्वादन करने! उसकी पवित्रता पर

खाक डालने ! या उसके सतीत्वको लूटने !

मुनिराज अयनने सब देखा, सब समझा ! यज्ञदत्तकी अनर्थकारी-लालसाने उन्हें करुणार्द्र कर दिया ! वे उसके द्वारा होनेवाली भयंकर-भूलकी चादरमें छिपी जघन्यताको देखकर, संसारकी दशा पर दंग रह गए ! मनमें एक विचित्र आँधी-सी उठी !

और यह निश्चय कर कि मेरे द्वारा इसका भला हो सकता है, यह पापसे टल सकता है ! बोल ही तो उठे—

'ठहरो, यज्ञदत्त ! कहाँ जा रहे हो, जहाँ जा रहे हो, वहाँ न जाओ ! जिसे चाह रहे हो, उसे न चाहो वरनः अनर्थ कर पछतानेके सिवा और कुछ हाथ न आएगा !'

यज्ञदत्त रुक गया ! चरणोंमें सिर झुकाते हुए कुछ कहने जा ही रहा था कि—तपोनिधि फिर कहने लगे

'यह पाप नहीं महापाप होगा—यज्ञदत्त ! माँके सतीत्वको लूटना, बेटेके लिए घोर शर्मकी बात है ! ऐसा कभी नहीं होता ! मित्रवती—जिसका रूप तुझे इतनी रात बीते, एक भिखारीकी तरह यहाँ तक घसीट लाया है, वह मित्रवती—तेरी माँ है, सगी माँ है ! उसीने तुझे नौ महीने पेटमें रखकर नरक-सी वेदना सही है !'

यज्ञदत्त रातके वक्त साधुको सम्भाषण करते हुए सुनकर ही आश्चर्यान्वित था, यह जो सुना तो एकदम सन्नाटेमें आगया ! मिनिट भर गुम-सुम खड़ा रहा—पत्थरकी अंकित मूर्तिकी भाँति ! फिर चैतन्यता पाकर, चरणोंमें बैठते हुए अपराधीकी तरह बोला—

'वह मेरी माँ है ? जो उन दरिद्रोंकी झोंपड़ीमें रहती है ?... मैं जो महाराज यज्ञका पुत्र, राज्यका उत्तराधिकारी, माता राजिलाका प्यारा—दुलारा हूँ, सो ?'

गुरुदेव अयनने कहा—'यह सब मैं जानता हूँ—यज्ञदत्त ! लेकिन असलमें तुम्हारी माँ मित्रवती है, राजिला नहीं ! राजिलाने तुम्हें पाला है, और पाल कर राजपुत्र या युवराज बनानेका सौभाग्य दिया है !'

यज्ञदत्तको यक़ीन तो हुआ; क्योंकि विश्व विरक्त साधु-वचन थे ! लेकिन खुलासा जाननेकी इच्छा शान्त न हुई ! पूछने लगा, हाथ जोड़कर—'महाराज ! यह सब हुआ कैसे ?

'कैसे हुआ ? जानना चाहते हो ? अच्छा सुनो !'—

× × ×

वनिकका नाम—कनक ! स्त्रीका धूमा ! धूमाका पुत्र—बन्धुदत्त ! शादी बन्धुदत्तकी होचुकी थी, स्त्री का नाम था मित्रवती ! जो लतादत्तकी पुत्री थी ! ये सब रहते हैं—मृतकावती नगरी !

जवानीके दिनोंमें सैकड़ों भूलें करते हैं लोग ! भूलोंकी वजह होती है—मनकी हिलोरें ! दिलके अरमान, ताक-झांक ! और अनुभव हीनता !... स्त्री इन दिनों बड़ी प्रिय लगती है ! जब कि बड़ोंके अदब-क़ायदेके बन्धनोंके सबब उसकी सूरत देखना भी कम नसीब होता है ! [आज जैसा तब स्त्री-स्वातंत्र्य नहीं था ! न माता-पिताकी इतनी अवज्ञा ही थी कि वे बैठे देखा करें और मियां-बीबी अपनी गप-शपमें मशगूल रहें ! तब शायद शर्म ज़्यादह थी, हेकड़ी कम !...]

उन्हीं दिनों मित्रवतीको रह गया—हमल ! यानी गूढ़ गर्भ ! और बन्धुदत्त गया उन्हीं वक्तों परदेश ! व्यापारके लिए ! पिताके आदेशको लेकर !

घरमें रह गईं—सासु और बहू ! सासु शायद

हमेशासे ही सन्दिग्ध-स्वभावकी होती आई हैं ! या, यों कह लीजिए कि उनके ऊपर जिम्मेदारी होती है गृहस्थी की, इसलिए उन्हें वैसा बनना पड़ता है ! कुछ सही, अक्सर इस मामलेमें सासु गलतियाँ कर बैठती हैं—इतिहास इसका गवाह है।

बे-हैसियत सासुके धूमाने भी एक गलती की—उसने मित्रवतीको दुराचारिणी समझ लिया ! उसने काफ़ी कहा-सुना, पर फिर सुनता कैसा ? शायद यह स्त्रीस्वभाव है—जो मुँहसे निकल गया, उसीकी पुष्टि ! वह अपनी नज़रमें भी फिर ठीक मालूम न दे तब भी !

दोचार दिन घरमें कलह रही, चख चख चली, रोना-पीटना रहा ! घरके मामलेमें सेठजी क्या दस्तन्दाज़ी कर सकते थे ? पूर्णाधिकार था धूमाके पास ! फिर अधिकारका उपयोग करना कौन छोड़ देता है—अपने वक्त पर ?

उसने मित्रवतीको निकाल दिया—घरसे ! हिन्दू स्त्रियाँ सदासे शायद इसी तरह निकाली जाती रही हैं ! थोड़ा-सा रहम भी किया कि एक दासी साथ करदी—उत्पलका !···कह दिया—'लताइसाके पास, इसके पिताके घर इसे पहुँचा आओ।'

पुंश्चली स्त्रियोंकी बात जाने दीजिये ! जो वैसी नहीं हैं, वे इस कलंकको लेकर क्या पिताके घर जाना पसन्द कर सकती है ? इसका एक ही उत्तर हो सकता है—'नहीं !'

और वही मित्रवतीने किया ! वह पिताके घर न गई, न गई ! वह यों ही बढ़ती गई—मार्ग पर। भाग्य का भरोसा थामे। पर भाग्य था उस वक्त रूठा हुआ। दुखके वक्त दुख ही आता है, सुख नहीं ! शायद आते घबड़ाता है। दुखसे मुमकिन है, दूसरोंकी तरह, वह भी डरता हो !

'उत्पलका' को साँपने काटा। निर्जन-पथ। साथ में दुखिया नारी। क्या कर सकती थी ? उसकी अक़्ल तो वैसे ही बिगड़ी हुई थी। वह मर गई—रास्तेमें ही।

मित्रवती अकेली।

साथमें गर्भ। बच्चेका भाग्य।

वह बढ़ते-बढ़ते क्रौंचपुरके जंगलमें आई। थकी-माँदी, प्रसव पीड़ासे दुःखित।···

बच्चा जन्मा।

एक बार उसकी ओर देखा—हसरत-भरी निगाह से, ममताकी दृष्टि से। मुँह चूमा। और धीरे-से कहा—'बेटा, मेरा।'

और फिर आँखोंमें आँसू भर लाई। वणिकपत्नी—परिचर्याके लिए कोई नहीं। आह, भाग्य।

सुबह हुआ। बालकको रत्न-कम्बलमें लपेटकर तटपर रखा, आप कपड़े धोनेके लिए जलाशयमें गई।

देर तक धोती रही।

× × ×

जूठनके टुकड़ों पर गुज़र करनेवाले हमेशा खानेकी तलाशमें घूमा-फिरा करते हैं। कुत्तेने देखा—'शायद कुछ खाना होगा पोटली में।'

लपका। पोटली सामने थी—रोकने वाला कोई था नहीं वहाँ। पूर्ण स्वतंत्रता थी ले भागनेकी। झिझक छोड़, मुँहमें दबा ले दौड़ा।···

भेड़ पर ऊन कोई नहीं देख सकता, ग़रीब पर धन। कुत्ते पर वह बहुमूल्य-कम्बलकी पोटली कौन छोड़ सकता था ?

लोगोंने डलवाली। खोलकर देखी गई तो सुन्दर सलौना बच्चा। महाराज यक्ष ऊपर खड़े देख रहे थे, महारानी भी खड़ी थी पासमें। इशारा किया गया।

बच्चा ऊपर लाया गया। रानी ने देखा तो रोम-रोम से मुस्करा उठी।

निःसन्तान थी। बच्चे के लिए जीते मरती थी। रोज स्वप्न में देखती—'बच्चा हो गया है। पुकार रहा है मुझे—ओ, मां।'

और आंख खुल जाती। दिन का दिन रोते बीतता। महाराज भी कुछ कम चिन्तित न थे। पर, अब 'भाग्य।' कह कर सन्तोष कर लेनेके आदी हो चले थे।

बच्चा था—सुन्दर। दोनोंको भला लगा। बाक़ायदा उसे दत्तक पुत्र ठहरा दिया गया। नाम रखा—यज्ञदत्त।

× × × ×

कपड़े साफ़ कर मित्रवती जो लौटी तो देखती है—बच्चा लापता।

'हाय!'—कहकर गिर पड़ी। माताकी ममता जो उसके पास थी। फिर बच्चेके लिए कितनी रोई, कितना क्या किया? यह आसानीसे समझमें आने वाली बात है, लिखना व्यर्थ।

ग़रीबोंमें हृदय होता है, दूसरेके दुखका अध्ययन करनेकी क्षमता भी। जितनी बन सके उतनी सेवा करनेकी लगन भी। यथार्थता यह कि उनमें बनिस्बत धनिकोंके 'मनुष्यता'की मात्रा कहीं ज्यादह होती है।

शायद वह देव-मंदिरका पुजारी था—दरिद्र, साधन-विहीन। दयासे उसका हृदय भर गया। वह मित्रवतीकी गीली आँखें, और करुण क्रन्दन—न देख-सुन सका। आगे बढ़कर बोला—

'बहिन! अधिक न रो ओ, मुझे दुख होता है। जो होना था, हो चुका। चलो—मेरी झोपड़ीमें रहो। और सुखसे जीवन बिताओ!'

घरसे बहिष्कृत, अपमानित, पद-दलित मित्रवती इस सुयोगको न ठुकरा सकी। और आज तक इसी झोपड़ीमें संकटके दिन बिता रही है।

× × × ×

तपोनिधि अयनने कहा—'समझा यज्ञदत्त! मित्रवती तेरी मां है, जिस पर तू कुदृष्टि डालने जैसे अनर्थको बढ़ा जा रहा था। और हां, वह रत्न कम्बल जिसमें तू लपेटा हुआ था, आज भी राज भवनमें मौजूद है, जाकर उसे देख। और पूछ महाराज यक्षसे कि क्या वे वास्तवमें तेरे पिता हैं।'

यज्ञदत्त श्रद्धासे नत मस्तक हुआ, बार-बार प्रणाम बन्दना कर, उलटे पैरों लौटा—राज-महलकी ओर।

मन आत्म-ग्लानिसे भर रहा था। सोचता जाता—'अगर गुरुराज दयाकर यह उपकार न करते तो कितना अनर्थ होता।'

× × × ×

शयन-कक्षमें।—

महाराज यक्ष और पटरानी राजिला दोनों विश्राम कर रहे थे। कि अचानक दर्वाजा खुला। सामने—यज्ञदत्त।

महाराज बोले, स्नेहसे आर्द्र-स्वरमें—'आओ, आओ राजकुमार। इतनी रात बीते आनेका कारण?'

यज्ञदत्त चुप।

मनमें क्रोध उबल उठा है।

राजिलाने कहा—'बेटा! सोये नहीं अभी? क्या कुछ तबियत खराब है?'

यज्ञदत्तने ममता-हीन होकर कड़े स्वरमें उत्तर दिया—'हां! मैं यह पूछने आया हूँ कि मुझे मालूम होजाना चाहिए कि वास्तवमें मेरे माता-पिता कौन

हैं? कब किस तरहसे तुम लोगोंने मुझे अपना बनाया ?'

इस नये और सहसा होने वाले प्रश्नने राजा और रानी दोनों हीको अचंभित कर दिया। तत्काल उन्हें कुछ उत्तर देते न बन पड़ा।...कि यज्ञदत्त फिर कहने लगा—

'मुझे सच, सच बतला देनेमें ही कुशल है वरना मुझे अपनी प्रतिज्ञाको भूल जानेके लिए मजबूर होना पड़ेगा! क्यों कि मैं सब कुछ जान चुका हूँ।'—और उसी वक्त यज्ञदत्तका हाथ तलवार पर जा पड़ा।

महाराजने कहा—'मातापिता कौन है? इसे हम लोग नहीं जानते, लेकिन यह सही है कि हम लोग तेरे जन्मदाता नहीं यज्ञदत्त! बहुत दिन हुए जब तू नवजातशिशु था, अशक्त था तब रत्नकम्बलमें लपेटा हुआ हम लोगोंने तुझे एक कुत्तेसे छुड़ाया था, जो खुराक समझकर लिए जा रहा था!'

यज्ञदत्तका गला रुँधसा गया!

बोला—'वह रत्नकम्बल कहां है—पिता जी!'

महाराजने कहा—'यह जो सामने बक्स है उसमें रखा है, देख तो निकालकर!'

रत्नकम्बल देखकर यज्ञदत्त आँसू न रोक सका! न जानें क्यों, वह इस वक्त बड़ा करुण हो रहा है।

× × × ×

दूसरे दिन—

मृतकावती नगरीसे बन्धुदत्त बुलाये गए, और दरिद्रोंकी झोंपड़ीसे मित्रवती। दोनोंका शाही स्वागत हुआ। यज्ञदत्त माता-पितासे मिला। खुशीसे मन उसका फूल बन रहा था!

वर्षोंबाद मित्रवतीको जब अपनी खोई हुई आत्मा—यज्ञदत्त—मिला तो वह मारे हर्षके मूर्छित-सी होने लगी।—'मेरा बेटा।' कहती हुई दौड़ी, अंचलमें छिपानेके लिए!

पर, यज्ञदत्त रो रहा था!

शायद सोच रहा था—'वाहरी! दुनियां! कल इसी मिलनके लिए लालायित था—आज...?'

मिलन !!!

वह वासनामय था—यह पवित्र ममतामय!

× × × ×

इसके बाद युवराजको राज्य मिला, या क्या हुआ? बन्धुदत्त यहीं रहे, या मृतकावती नगरी? महाराज यत्त इन बातोंसे खुश रहे या नाखुश? मित्रवतीने इसमें भाग्यको दोष दिया या बन्धुदत्तको? यह सब पुराणमें लिखा नहीं है!

रत्नत्रय-धर्म

[ले०—पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त' साहित्याचार्य]

(गतकिरणसे आगे)

सम्यग्ज्ञान

'तद्वति तत्प्रकारताज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्' —जो पदार्थ जैसा है उसको उसी प्रकार जानना 'सम्यग्ज्ञान' है। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीवको ही हो सकता है। सम्यग्दर्शन होनेके पहले जो ज्ञान होता है उसे मिथ्याज्ञान-कुज्ञान कहते हैं। मिथ्याज्ञान कभी संशयरूप, कभी विपर्ययरूप और कभी अनध्यवसायरूप होता है।

सम्यग्ज्ञानके भेद

जैन शास्त्रोंमे सम्यग्ज्ञानके मुख्य पाँच भेद बतलाये गये हैं-—१ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मनःपर्ययज्ञान और ५ केवलज्ञान। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

मतिज्ञान—जो ज्ञान स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण अथवा मनकी सहायतासे पैदा होता है उसे 'मतिज्ञान' कहते हैं। इसका विकास-क्रम इस प्रकार है— अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

इन्द्रिय और पदार्थके जानने योग्य क्षेत्रमे स्थित होने पर जो सामान्यज्ञान होता है वह 'अवग्रह' कहलाता है; जैसे आंखसे देखने पर मालूम हुआ कि 'यह मनुष्य है।' इसके बाद 'यह मनुष्य पंजाबी है या मद्रासी' इस प्रकार पहलेकी अपेक्षा अधिक जाननेकी चेष्टारूप ज्ञान होना 'ईहा' ज्ञान कहलाता है। खास चिन्ह देखकर निश्चय हो जाना कि 'यह पंजाबी ही है' अथवा 'मद्रासी ही है' इसे 'अवाय' कहते हैं। और अवाय-द्वारा जाने हुए ज्ञानकी स्मृति भविष्यतमें बनी रहना 'धारणा' ज्ञान है। मतिज्ञान के विकासके ये चारों भेद प्रत्येक समय अपने अनुभवमें आते हैं।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञानने जिस पदार्थको जाना था उसे विशेषता लिये हुए जानना 'श्रुतज्ञान' है। जैसे आपने मति-ज्ञानसे जाना कि 'यह घड़ा है' तो श्रुतज्ञान जानेगा कि यह जल भरनेके काममें आता है, अमुक स्थानमे अमुक मूल्यमें प्राप्त हो सकता है आदि। विशेष श्रुतज्ञानमें मनकी सहायता लेनी पड़ती है परन्तु साधारण श्रुतज्ञान मनकी सहायताके बिना भी हो जाता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान संसारके समस्त जीवधारियोंके होते हैं परन्तु केवलज्ञान होने पर तिरोभूत हो जाते हैं।

श्रुतका अर्थ शास्त्र भी होता है इसलिये शास्त्रोंके ज्ञान को भी 'श्रुतज्ञान' कहते हैं। जैन सम्प्रदायके शास्त्र चार विभागोंमें विभक्त हैं उन विभागोंको 'अनुयोग' भी कहते हैं। वे ये हैं—१ प्रथमानुयोग २ करणानुयोग ३ चरणानु-योग और ४ द्रव्यानुयोग।

१ प्रथमानुयोग—जिन शास्त्रोंमे तीर्थंकर, नारायण आदि महापुरुषोंके जीवनचरित्र लिखे हों वे 'प्रथमानुयोग' के शास्त्र हैं। इस अनुयोगके प्रकाशित हुए कुछ शास्त्रोंके नाम ये हैं — आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मचरित्र, प्रद्युम्नचरित आदि।

२ करणानुयोग—जिन शास्त्रोंमें भूगोल, गणित, काल-परिवर्तन और आत्माके भावोंका विकासक्रम गुणस्थान वगैरहका वर्णन रहता है उन्हें 'करणानुयोग' के शास्त्र कहते हैं। इस अनुयोगके प्रकाशित हुए कुछ ग्रंथोंके नाम निम्न प्रकार है—१ त्रिलोकसार, गोम्मटसार आदि।

३ चरणानुयोग—जिन शास्त्रोंमें मुनि और गृहस्थोंके चारित्रके योग्य आवश्यक कार्योंका वर्णन होता है वे 'चरणानुयोग' के शास्त्र कहलाते हैं। इस अनुयोगके छपे हुए कुछ शास्त्र ये हैं—मूलाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, वसुनन्दि-श्रावकाचार, भगवती आराधना आदि।

४ द्रव्यानुयोग—जिन शास्त्रोंमें जीव, पुद्गल, धर्म (एक प्रकारका सूक्ष्म पदार्थ, जो कि जीव और पुद्गलोंको चलनेमें सहायक होता है), अधर्म (एक प्रकारका सूक्ष्म पदार्थ, जो कि जीव और पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायक होता है), आकाश और काल इन छह द्रव्योंका वर्णन हो वे 'द्रव्यानुयोग' के शास्त्र हैं। इस अनुयोगके कुछ शास्त्रोंके ये नाम हैं—समयसार, राजवार्तिक, तत्त्वार्थसार, श्लोकवार्तिक आदि।

जैनियोंके ये समस्त शास्त्र आचार आदि बारह अङ्गोंमें विभक्त हैं, जिन्हें 'द्वादशाङ्ग' कहते हैं। जिस मानवको पूर्ण श्रुतज्ञान होता है उसे 'श्रुतकेवली' कहते हैं।

अवधिज्ञान—द्रव्य-क्षेत्र-काल-आदिकी अवधि (मर्यादा) लिये हुए रूपी पदार्थोंको एक देश स्पष्ट जानना 'अवधिज्ञान' है। इस ज्ञानमें इन्द्रियों तथा प्रकाश वगैरहकी सहायता की आवश्यकता नहीं होती। जिस पुरुषको अवधिज्ञान होता है वह कई वर्ष पहले और आगेकी तथा कितनी ही दूरकी बातको प्रत्यक्ष जान लेता है। इसके भी अनेक भेद होते हैं परन्तु यहां इतना ही पर्याप्त है। यह ज्ञान देव और नरक योनियोंमें नियमसे होता है, किन्हीं किन्हीं गृहस्थों तथा मुनियोंके भी होता है। तिर्यंच भी इसे प्राप्त कर सकते हैं।

मनःपर्ययज्ञान—बिना किसीकी सहायताके दूसरेके मनकी बातको जान लेना मनःपर्ययज्ञान है। यह ज्ञान मुनियोंके ही होता है।

केवलज्ञान—भूत, भविष्यत और वर्तमान कालके समस्त पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानना 'केवलज्ञान' है। यह ज्ञान अर्हन्त और सिद्ध परमात्माके ही होता है। जिन्हें यह ज्ञान होता है वे 'सर्वज्ञ' कहलाते हैं। संसारके भीतर ऐसा कोई भी पदार्थ बाकी नहीं रहता जिन्हें केवलज्ञान न जान पाता हो। ज्ञानगुणका सबसे अधिक विकास इसी ज्ञानमें होता है।

ज्ञानगुणको रोकने वाला ज्ञानावरण कर्म है, जब तक वह मौजूद रहता है तब तक जीवके पूर्ण ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता; परन्तु ज्यों ज्यों उसका अभाव होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान भी प्रकट होता जाता है। ज्ञानावरण कर्मका जब बिलकुल अभाव होजाता है तभी केवलज्ञान प्रकट होता है।

ऊपर लिखे हुए पांच ज्ञानोंका विशद-विशेष स्वरूप जाननेके लिये पाठकोंको गोम्मटसार-जीवकाण्डके ज्ञानमार्गणा नामक अधिकारका अवलोकन करना चाहिये।

सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्रके दो भेद हैं—१ निश्चय और २ व्यवहार। संसारके अन्य पदार्थोंसे राग-द्वेष छोड़कर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपमें लीन होना 'निश्चयसम्यक्चारित्र' है और उसके सहायक जितने क्रियाकाण्ड हैं वे सब 'व्यवहार चारित्र' हैं। यहां इतना समझ लेना आवश्यक होगा कि निश्चयसम्यक्चारित्रकी प्राप्ति व्यवहारचारित्रका पालन करने से ही होगी। प्रथम अवस्थामें निश्चय साध्य और व्यवहार साधक होता है परन्तु आगे चलकर शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिकी अपेक्षा निश्चय भी साधक हो जाता है। जैन शास्त्रोंमें इन दोनों प्रकारके चारित्रोंका प्रमुखतासे वर्णन है। आगे व्यवहार अर्थात् प्रवृत्तिरूप सम्यक्चारित्रका वर्णन किया जाता है।

व्यवहार-चारित्र

हिंसा, मृषा, स्तेय, व्यभिचार और परिग्रह इन पांच पापोंका त्याग करना 'व्यवहारचारित्र' है। ये पांच पाप अत्यन्त दुःखके कारण हैं। यदि संसारके समस्त प्राणी इन पापोंका त्याग कर देवें तो संसारमें सब ओर सुख-शान्तिका साम्राज्य छा जावे। इन पापोंका त्याग पूर्ण और अपूर्णरूप

से दो प्रकारका होता है । जो इन पापोंका पूर्ण त्याग कर देते हैं वे मुनि-साधु कहलाते हैं ।

मुनि धर्म

मुनियोंके पांच पापों का अभाव होने पर क्रमसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । ये पांच महाव्रत प्रकट होते हैं । इन पांच महाव्रतोंका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

अहिंसा महाव्रत—मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदनसे चर-अचर जीवोंकी हिंसाका त्याग करना 'अहिंसा महाव्रत' है । साधु अपने समस्त कार्य बड़ी सावधानीके साथ देख-भाल कर करते हैं, इसलिये चलने या भोजन वगैरहके समय जो सूक्ष्म जीवोंकी हिंसा होती है उसका पाप इन्हें नहीं लगता । आत्मामें दूषित भाव उत्पन्न होना ही वस्तुत: पाप है ।

सत्य महाव्रत—प्रमाद-सहित होकर असत्य वचन नहीं बोलना 'सत्य महाव्रत' है । यह हम पहले लिख आये हैं कि असत्य बोलनेमें राग-द्वेष और अज्ञान ये दो ही मुख्य कारण हैं । उनमेंसे साधु प्रमाद अर्थात् राग-द्वेष-पूर्वक कभी भी असत्य वचन नहीं बोलता । अज्ञानसे असत्य बोला जा सकता है, पर उससे वह विशेष दोषी नहीं ठहरता ।

अचौर्य महाव्रत—बिना दिये हुए दूसरेकी किसी भी वस्तुको न आप लेना न उठाकर दूसरेको देना 'अचौर्य-महाव्रत' है।

अपरिग्रह महाव्रत—रुपया पैसा आदि हर प्रकारकी पर वस्तुओंसे मोह छोड़ना—उनमें लालसा नहीं रखना 'अपरिग्रह महाव्रत' है ।

साधुओंको इन व्रतोंकी रक्षाके लिये समितियोंका भी पालन करना पड़ता है । समिति [सम + इति] प्रमादरहित प्रवृत्तिको कहते हैं । वे पांच होती हैं—१ ईर्या, २ भाषा, ३ एषणा, ४ आदान निक्षेपण, और ५ प्रतिष्ठापन । इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

ईर्या—मार्ग चलते समय चार हाथ ज़मीन देखकर चलना, दिनमें ही चलना, और मौन व्रत लेकर चलना 'ईर्या समिति' है । साधु हरी घास पर या जल वगैरह से सींची गई पृथ्वी पर नहीं चलते ।

भाषा—हितकारी परिमित और सत्य वचन बोलना 'भाषा समिति' है ।

एषणा—दिनमें एकबार खड़े होकर शुद्ध-निर्दोष आहार लेना 'एषणा' समिति है । मुनि अपने हाथसे आहार नहीं बनाते । गृहस्थोंके घर जाकर बिना मांगे हुए आहार लेते हैं ।

आदान निक्षेपण—अपने पासके पीछी कमण्डलु या शास्त्रोंको देख-भालकर उठाना या रखना 'आदाननिक्षेपण' समिति है ।

प्रतिष्ठापन—जीव रहित-निर्जन स्थानमें मल मूत्रका त्याग करना 'प्रतिष्ठापन' समिति है । इसका दूसरा नाम 'व्युत्सर्ग' समिति भी है ।

समिति पालनका मूल उद्देश्य यह है कि अपने द्वारा किसी दूसरे जीवोंको कष्ट न हो

इनके सिवाय, साधुओंको जितेन्द्रिय होना पड़ता है । स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां हैं इनके क्रमसे स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द विषय हैं । साधु अच्छे स्पर्शादिमें न राग-प्रेम करते हैं और नहीं बुरे स्पर्शादिमें द्वेष करते हैं ।

इनके अतिरिक्त साधुओंको छह आवश्यक (ज़रूर करने योग्य कार्य) काम करना पड़ते हैं । वे ये हैं—१ समता २ वन्दना ३ स्तुति ४ प्रतिक्रमण ५ स्वाध्याय और ६ व्युत्सर्ग । इनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्न प्रकार है ।

समता—संसारके समस्त प्राणियोंमें मध्यस्थ भाव रखना ।

वन्दना—आराध्य देवको नमस्कारादि करना

स्तुति—आराध्य देवकी स्तुति करना।

प्रतिक्रमण—किये हुए दोषों पर पश्चात्ताप करना।

स्वाध्याय—ज्ञान वृद्धिके लिये शास्त्र पढ़ना।

व्युत्सर्ग—आत्मशक्ति बढ़ानेके लिये शरीरसे ममत्व छोड़ कर स्थिरचित्त होकर महामन्त्रादिका जाप करना।

इनके सिवाय मुनियोंको नीचे लिखे हुए ७ गुणोंका पालन और करना पड़ता है। १ साधुदीक्षाके बाद जीवन-पर्यन्त स्नानका त्याग करना क्योंकि स्नान सिर्फ शरीर शुद्धिका एक बाह्यरूप है और जीव हिंसाका कारण है, २ पिछली रातमें सिर्फ ज़मीन पर शयन करना, ३ नग्न रहना ४ बालोंको उस्तरे या कैंचीसे न काटकर हाथोंसे उखाड़ना, ५ एकबार थोड़ा भोजन करना, ६ दन्त धावन नहीं करना और ७ खड़े खड़े पाणि-पात्रमें भोजन करना।

यद्यपि ये सात गुण पहले कहे हुए महाव्रतों और समितियोंके भीतर यथासंभव गर्भित हो जाते हैं तथापि अत्यन्त आवश्यक होनेके कारण उनका पृथक निर्देश किया गया है।

इस प्रकार मुनियोंको ५ महाव्रत। ५ समिति। ५ इंद्रिय विजय। ६ आवश्यक और शेष ७ गुण कुल २८ मुख्य (मूल) गुणोंका पालन करना पड़ता है। इन २८ गुणोंके पालन करनेमें जो शिथिलता या प्रमाद करता है वह नग्न होने पर भी मिथ्या साधु है. जैन शास्त्रोंमें उसकी भक्ति-वन्दना आदि सत्कार करनेका अत्यन्त निषेध है।

दिगम्बर जैन मुनियोंका मुख्य निवास नगरमें न होकर वनमें हुआ करता है। उनके तपोवनमें नगरके दूषित वायु मण्डलकी गन्ध भी नहीं रहने पाती। उनकी अलौकिक शान्ति देखकर जङ्गलके जाति विरोधी जीव भी परस्परका विरोध छोड़कर सौहार्दसे रहने लगते हैं। कंकरीली पथरीली वसुधा उनका आसन होती है. निर्मल नील नभ उनका तम्बू होता है. दिशाएँ उनके वस्त्र होती हैं, चन्द्रमा और असंख्य तारे उनके निशा दीपक होते हैं और मृग तथा उनके साथी होते हैं। उन्हें न किसीसे राग होता है और न किसीसे द्वेष। वे काम-क्रोध-मान माया लोभ आदि दुर्भावों पर विजय प्राप्त किये होते हैं। वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तसे लेकर सूर्योदय तक सामायिक, आत्मचिन्तन--परमात्म ध्यान करते हैं; उसके बाद शरीर सम्बन्धी दैनिक कार्योंसे निपटकर शास्त्रावलोकन करते हैं। करीब ९-१० बजे आहारके लिये श्रावकोंके घर जाते हैं वहां श्रावकोंके द्वारा विधि पूर्वक प्रसन्नताके साथ दिये हुए आहारको अल्प मात्रामें खड़े खड़े अपने हस्तरूप पात्रमें ही लेते हैं। आहारके बाद मध्याह्नके समय फिर प्रातःकालके समान सामायिक करके आत्म चिन्तवन करते हैं। सामायिकके बाद शास्त्रावलोकन या धर्मोपदेशका कार्य करते हैं। उनका यह कार्य सूर्यास्तके लगभग तक जारी रहता है। पुनः सामायिक और आत्म चिन्तवनमें लीन होजाते हैं, सामायिकके बाद अपने निश्चित स्थानपर आसीन होकर अर्ध रात्रि तक अपने हृदयमें तत्त्व विचार या ईश-आराधना करते हैं। मध्य रात्रिके बादका समय शयनमें व्यतीत करते हैं। इनका शयन जमीन पर ही होता है। इस कठिन दिन-चर्याको दिगम्बर साधु बड़े ही उत्साहके साथ करते हैं। उनका जी कभी भी व्याकुल नहीं होता। जेठ मासका कठोर दिनकर, पावसकी घनघोर वर्षा और हेमन्त-शिशिरकी असीम शीत वायु क्रम क्रमसे उनकी परीक्षाके लिये आती हैं परन्तु वे अनुत्तीर्ण नहीं होते—सब बाधाओंको सहते हुए महानदीके प्रवाहकी तरह आगे बढ़े जाते हैं। अपने इष्टकी प्राप्ति होने तक कर्तव्य पथ पर डटे रहते हैं। उन्हें सांसारिक विषयोंसे किसी प्रकारका स्नेह नहीं रहता। उनकी प्रवृत्ति ही अलौकिक होजाती है। यदि वैराग्यका सच्चा आदर्श देखना है तो वास्तविक दिगम्बरजैन साधुओंको देखो। यदि क्षमा और विनयका भण्डार देखना

चाहते हो तो उसे ही दि० जैन साधुओंको देखो। यदि सरलता और भावुकताका दर्शन करना चाहते हो तो दि० जैन साधुओंको देखो, और ब्रह्मचर्यका आदर्श देखना चाहते हो तो सहस्र सुर-सुन्दरियोंके मध्यमें भी अविकृत रूपसे नग्न रहने वाले दि० जैन साधुओंको देखो।

गृहस्थ-धर्म

जो ऊपर लिखे हुए पांच पापोंका अपूर्ण- एकदेश त्याग करता है वह गृहस्थ-श्रावक कहलाता है। गृहस्थी में रहते हुए पांचों पापोंका पूर्णत्याग हो नहीं सकता, इसलिये इनके अपूर्णत्यागका विधान है। हिंसा आदि पांच पापोंका अपूर्ण त्याग करने पर श्रावकोंके पांच अणुव्रत होते हैं। उनके नाम ये हैं—१ अहिंसाणुव्रत २ सत्याणुव्रत ३ अचौर्याणुव्रत ४ ब्रह्मचर्याणुव्रत ५ और अपरिग्रहाणुव्रत अथवा परिग्रह परिमाणव्रत। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

अहिंसाणुव्रत—संकल्प करके त्रस-त्रस जीवोंकी हिंसा का त्याग करना 'अहिंसाणुव्रत' कहलाता है। इस व्रतका धारी संकल्प-इरादा करके कभी किसी त्रस जीवकी हिंसा नहीं करता, न देवी देवताओंके लिये बलिदान ही चढ़ाता है। शत्रुसे अपनी रक्षा करने, व्यापार करने, वा रोटी पानी आदि घर-गृहस्थीके कामोंमें जो हिंसा होती है, गृहस्थ उसका त्यागी नहीं होता। अहिंसाणुव्रती पुरुष स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता, पर उनका भी निष्प्रयोजन संहार नहीं करता।

सत्याणुव्रत—स्थूल झूठका त्याग करना 'सत्याणुव्रत' है। यह व्रती ऐसा सत्य भी नहीं बोलता जिससे व्यर्थ ही किसी जीवको दुःख हो।

अचौर्याणुव्रत—बिना दी हुई किसीकी वस्तुको न स्वयं लेना और न उठाकर किसी दूसरेको देना अचौर्याणुव्रत है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत—जिसके साथ धर्मानुकूल विवाह हुआ है उसे छोड़ कर अन्य स्त्रियोंके साथ सम्बन्धका त्याग करना। अपनी स्त्रीसे ही सन्तोष रखना 'ब्रह्मचर्याणुव्रत' है।

अपरिग्रहाणुव्रत—आवश्यकताके अनुसार धनधान्य रुपया वगैरह परिग्रहका परिमाण कर लेना और उससे अधिकका संग्रह नहीं करना 'अपरिग्रहाणुव्रत' अथवा 'परिग्रह परिमाण' नामका व्रत है। व्यर्थ ही सम्पत्तिको रोक रखना पाप है। संसारमें आज जिस निरतिवादकी आवाज़ उठाई जा रही है उसका उपदेश जैन गृहस्थके लिये बहुत ही पहलेसे दिया जा चुका है।

इन व्रतोंकी रक्षाके लिये गृहस्थको दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन 'गुणव्रतों' को भी धारण करना पड़ता है। गुणव्रतोंकी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

दिग्व्रत—आरम्भ या लोभ वगैरहको कम करनेके अभिप्रायसे जीवनपर्यन्तके लिये दशों दिशाओंमें आने जाने का नियम करलेना और मर्यादित क्षेत्रसे बाहर व्यापार आदिके उद्देश्यसे नहीं जाना 'दिग्व्रत' है। हां, धार्मिक कार्योंके लिये बाहर भी जा सकता है।

देशव्रत—दिग्व्रतके भीतर की हुई मर्यादाका दिन-महीना आदि निश्चित अवधितक और भी संकोच करना; जैसे आज बनारससे बाहर नहीं जाऊंगा आदि 'देशव्रत' है।

अनर्थदण्डव्रत—जिन कामोंके करनेसे व्यर्थ ही पाप का आरम्भ होता हो उन कामोंके करनेका त्याग करना 'अनर्थदण्डव्रत' है। बिना प्रयोजन कार्य करनेसे सिर्फ पाप का ही संचय होता है।

इनके सिवाय आगेकी कक्षा—मुनिधर्मका अभ्यास करनेके लिये गृहस्थको चार 'शिक्षाव्रतों' का भी पालन करना आवश्यक है। वे ये हैं—१ सामायिक २ प्रोषधोपवास ३ भोगोपभोगपरिमाण और ४ अतिथिसंविभाग। यहां इनका संक्षिप्त स्वरूप बतलाना अनावश्यक न होगा।

सामायिक—सुबह शाम और दुपहरको किसी निश्चित समय तक सब पापोंका पूर्ण त्याग कर अपने आत्माके शुद्ध

स्वरूपका चिन्तन करना, परमात्माका ध्यान करना और पिछले समयमें किये हुए दोषों पर पश्चाताप करना सामायिक है।

प्रोषधोपवास—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास या एकाशन करना 'प्रोषधोपवास' है। गृहस्थ पुरुष प्रोषधोपवासके दिन समस्त व्यापार तथा शृङ्गारादिका त्याग कर अपना समय धर्मध्यान, स्वाध्याय या ईश-आराधनामें व्यतीत करता है। शरीरका स्वास्थ्य अक्षुण्ण रखनेके लिये भी आठ दिनमें कमसे कम एक उपवास करना अत्यन्त आवश्यक है।

भोगोपभोगपरिमाण—जो वस्तु एक ही बार भोगनेमें आवे उसे 'भोग' कहते हैं जैसे भोजन वगैरह और जो वस्तु कई बार भोगी जा सके उसे 'उपभोग' कहते हैं जैसे वस्त्र, वाहन, मकान वगैरह। भोग और उपभोगकी वस्तुओंका जीवनपर्यन्तके लिये अथवा कुछ समयकी मर्यादा लेकर परिमाण अवधि निश्चय कर लेना 'भोगोपभोगपरिमाण' व्रत है। जैसे किसीने नियम किया कि आज मैं दाल और चावल ही खाऊंगा एक कुरता पहनूंगा और मात्र एक दरी पर लेटूंगा आदि।

अतिथिसंविभाग—मुनि-आर्यिका, श्रावक-श्राविका तथा अन्यमनुष्योंको आवश्यकतानुसार भोजन, औषधि पुस्तक तथा रहनेके लिये मठ मकान वगैरह देना अतिथिसंविभाग व्रत है। इस व्रतका धारी निःस्वार्थ भावसे दान देता है—दान देकर प्रत्युपकार-प्रतिदान या उसके फल वगैरहकी इच्छा नहीं करता।

इस प्रकार ऊपर लिखे हुए ५ अणुव्रत। ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत ये गृहस्थ-अथवा श्रावकोंके १२ व्रत कहलाते हैं। इन व्रतोंमें हिंसा आदि पांच पापोंका अपूर्ण त्याग रहता है।

इनके अतिरिक्त जैनगृहस्थके रात्रिभोजनका त्याग होता है, वह पानी छान कर पीता है, मद्य-मांस और मधु (शहद) का भी सेवन नहीं करता। वह ऐसे फल वगैरह भी नहीं खाता जिनमें त्रस (चर) जीव और बहुतसे स्थावर (अचर) जीवोंकी हिंसा होती है। संक्षेपमें—'सच्चा जैनगृहस्थ जीनेके लिये खाता है न कि खानेके लिये जीता है'। न्यायसे आजीविका करता हुआ अपने कुटुम्बका पालन करता है।

इन व्रतोंका यथार्थ रूपसे पालन करने वाला मनुष्य मरकर प्रायः देवयोनिमें ही उत्पन्न होता है।

इस तरह संक्षेपसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका सामान्य स्वरूप बतलाया गया है। ये ही तीन पदार्थ जैन-शास्त्रोंमें 'रत्नत्रय' नामसे प्रसिद्ध है।

रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग है

ऊपर कहे हुए तीन रत्नोंका समूह ही मोक्ष-निर्वाण-प्राप्तिका उपाय है। इस विषयमें आचार्य उमास्वामीका वचन है—

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्षका मार्ग है—उपाय है। जैसे बीमार मनुष्य औषधिके विश्वास, ज्ञान और सेवनसे—इन तीन कार्योंके होने पर ही—बीमारीसे मुक्त हो सकता है, वैसे ही संसारी जीव श्रद्धान-विश्वास ज्ञान और चारित्रके होने पर ही संसाररूप रोगसे छुटकारा पा सकता है। यदि रत्नत्रयका आलंकारिक दृष्टिसे विवेचन किया जावे तो रत्नत्रय एक प्रकारका वृक्ष है, जिसका मूल-सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान स्कन्ध है और सम्यक्चारित्र शाखाएं हैं। इस रत्नत्रय वृक्षमें स्वर्ग और मोक्ष रूप फल लगते हैं। जिनके सामने संसारके अन्यफल तुच्छ हो जाते हैं।

पाठकगण! ऊपर लिखे हुए रत्नत्रयके स्वरूपका गंभीरताके साथ विचार कीजिये और उसके विशेष स्वरूपका जैन ग्रंथों परसे अध्ययनकर मनन कीजिये। मनन करने पर मालूम होगा कि वास्तवमें रत्नत्रयके भीतर समस्त लोकका कल्याण से निहित है।

इस लेखका प्रतिपाद्य विषय जैनपाठकोंके लिये नया नहीं है, क्योंकि जैनियोंका प्रायः प्रत्येक बालक रत्नत्रयके संक्षिप्त स्वरूपसे थोड़ा बहुत परिचित रहता है। यह लेख उन्हें उद्देश्य करके लिखा भी नहीं गया है। लेखका उद्देश्य प्रायः इतना ही है कि हमारे साधारण अजैनपाठक भी जैनधर्मके सर्वस्व-रत्नत्रयके स्वरूपसे कुछ परिचित हो सकें—रत्नत्रयका भेदों-उपभेदों और सामान्य स्वरूपको लिये हुए स्थूल ढांचा एवं खाका उनके सामने आजाय—और उन्हें विशेष परिचयके लिये जैनग्रंथोंको देखनेकी प्रेरणा मिले। इसीलिये लेखमें अधिकतर सरलभाषाका व्यवहार किया गया है।

'वसन्तकुटीर' सागर, ता० १४-५-४१

———

संगीत-विचार-संग्रह

[संग्रहकार—पं० दौलतराम 'मित्र']

-- *..******* -

संगीतकी महत्ता आदिके विषयमें विद्वानोंने समय समय पर कितना ही विचार किया है। मेरे पास ऐसे विचारों का अच्छा संग्रह है। आज उसमेंके कुछ उपयोगी विचार अनेकान्तके पाठकोंके लिये नीचे अंकित किए जाते हैं:-

(१) संगीतका अर्थ सिर्फ गीत (गायन) ही नहीं है किंतु **"गीतं वाद्यं च नृत्यं च त्रयं संगीतमुच्यते"** अर्थात गाना, बजाना और नाचना इन तीनोंके मिलने का नाम संगीत है।

(२) भाषा पर मनोविकारोंका प्रभाव पड़ने पर उसमें से ताल-स्वर अपने आप उत्पन्न होने लगते हैं। ये ताल स्वर भी शब्दके समान ही महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि प्रेम द्वेष दुःख, आनंद, आश्चर्य, आदि विकारोंको व्यक्त करनेके लिये मनुष्यको अपनी आवाजमें फर्क करना पड़ता है। बस इस कलाको उन्नत करते करते ही मनुष्यने संगीतको ढूंढ निकाला है।

(३) भाषाके द्वारा जो विषय मनुष्यके गले नहीं उतरते वे संगीतके द्वारा उतारे जा सकते हैं। संगीत क्या है, मिश्रीकी डली है।

(४) संगीत टूटे हुए दिलकी औषधि है।

(५) संगीत अपने द्वारा ही महान है। जहां शब्द अटक जाते हैं, संगीत वहींसे शुरू होता है। जो अनिर्वाच्य है, वही संगीतका प्रदेश है। वाक्य जिसे नहीं कह सकता, संगीत उसे बोल बताता है। संगीत अपने चमत्कार-जन्य क्षेत्रमें आत्माको मुग्ध बना डालता है।

(६) छंद संगीतका एक रूप है, अतः छंद और ध्वनि दोनों मिलकर कविताको ऐसी शक्ति देते हैं कि जिससे भावोंमें कंपन उत्पन्न होता है, हृदय चेतन होजाता है, और बाहरकी भाषा हृदयकी एक वस्तु होजाती है।

(७) संगीतसे मनुष्योंके स्वभावमें समता आजाती है, क्रोध शांत होजाता है। यह, मनुष्य क्या सहृदय प्राणीमात्र के दिल पर जादूका सा असर करता है।

(८) सोये हुए सद्भावोंके जगानेकी ताकत संगीतमें है।

(९) जिसे संगीत प्रिय नहीं, वह या तो योगी है या पशु। हम योगी तो नहीं हैं परन्तु जितने अंशमें हम संगीत से शून्य हैं उतने अंशमें पशुके समान ही गिने जा सकते हैं।

(१०) भाषासे हृदय महाराजका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। भाषा मस्तिष्कके द्वारसे हृदयमंदिरमें प्रवेश करती है। भाषा केवल दूती है। इस दूतीको महाराजकी सभामें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है। यह महाराजके दीवान-खाने तक जा सकती है, और वहां जाकर अपने आनेका संवाद महाराजके पास भेज सकती है, भाषाका अर्थ समझना पड़ता है उसका अन्वय-अर्थ आदि करनेमें समय लगता है परन्तु संगीतके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। यह तो सीधा हृदयमें जाकर मिल जाता है।

(११) गायन शब्दके सच्चे अर्थको उत्तम गीतिमें प्रकट करता है।

(१२) संगीतकी सहायतासे ही शब्द अज्ञात स्थान तक पहुँच सकते हैं; अपनी सामर्थ्यके बल नहीं।

(१३) अज्ञात पक्षी (अंतरात्मा) लोहेके पिंजरेमें बंद होकर भी अमर्यादित और अज्ञेय बातोंको गुनगुनाया करता

है। हृदय ऐसे पत्नीको सदाके लिए निकट रखना चाहता है, परन्तु हृदयमें ऐसी शक्ति कहाँ? इन अज्ञात पक्षियोंके आने जानेकी बात भला सिवाय ताल-सुरोंके और कौन कह सकता है?

(१४) संगीत आत्माके अव्यक्त, अज्ञेय और दुर्भेद्य रहस्यका चित्र तैयार कर देता है।

(१५) मनुष्य-मात्रमें स्वभावत: बुद्धिमत्ताकी अपेक्षा मूर्खताका अंश अधिक रहता है। उस मूर्खताके अंशको मोहित करनेकी शक्ति संगीतमें है।

(१६) काव्यमें एक गुण है। वह पाठकोंकी कल्पना-शक्तिको उत्तेजित कर देता है।

(१७) काव्य आत्माका चित्र है।

(१८) सभी बड़े बड़े काव्य हम लोगोंको बृहत्‌की ओर खींचकर लाते हैं और एकान्तकी ओर जानेका संकेत करते हैं। पहिले वे बंधन तोड़कर निकलते हैं और पीछे वे एक महानके साथ बांध देते हैं। प्रात:काल वे मार्गके निकट ले जाते हैं और सन्ध्याको घर पहुँचा देते हैं। तानके साथ एकबार आकाश पातालमें घुमा फिराकर सम (ताल) के बीच पूर्ण आनन्दमें लाकर खड़ा कर देते हैं।

(१९) पद्य अंत:पुर है, गद्य बाहरी बैठक है।

(२०) काव्यमें चित्त विशुद्ध और भीतरी प्रकृतिका प्रेमी होता है। इसलिये काव्य धर्मका प्रधान सहायक है। विज्ञान या धर्मोपदेश मनुष्यत्वके लिये जैसे दरकार हैं वैसे ही काव्य भी है। जो तीनोंमेंसे एकको प्रधानता देना चाहते हैं उन्होंने मनुष्यत्वका असली मर्म नहीं समझा है।

(२१) जो ज्ञानकी बात है, प्रचार होजाने पर उसका उद्देश्य सफल होकर समाप्त हो जाता है; किन्तु हृदयके भावोंकी बात प्रचारके द्वारा पुरानी नहीं होती। ज्ञानकी बात को एक बार जान लेनेके पश्चात् फिर जाननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, किन्तु भावोंकी बातको बारम्बार अनुभव करके भी श्रान्ति-बोध नहीं होता। अनुभव जितने प्राचीन कालसे जितनी लोक परंपराओं द्वारा प्रवाहित होकर आता है, उतना ही वह हमें सहजमें ही आविष्ट कर सकता है।

यदि मनुष्य अपनी किसी वस्तुको चिरकालपर्यन्त मनुष्यके पास उज्वल तथा नवीन भावोंसे अमर करके रखना चाहता है तो उसे भावोंकी बातका ही आश्रय लेना पड़ता है। इसी कारण साहित्यका प्रधान अवलम्बन ज्ञानका विषय नहीं, भावोंका विषय है।

जो ज्ञानकी वस्तु है उसे एक भाषामें दूसरी भाषामें परिवर्तन कर देनेसे कार्य चल जाता है किन्तु भावोंके विषयमें यह बात नहीं हो सकती। वे जिस मूर्तिका सहारा लेते हैं, उससे फिर अलग नहीं हो सकते।

ज्ञानकी बातको प्रमाणित करना पड़ता है, और भावोंकी बातको संचारित कर देना होता है। उसके लिये नाना प्रकारके आभास-इंगितोंकी चतुराइयोंकी आवश्यकता पड़ती है। उसको केवल समझाकर कह देनेसे कार्य नहीं चलता, उसकी सृष्टि करना पड़ती है।

(२२) यदि अरूपकको रूपके द्वारा अभिव्यक्त किया जाय तो वाणीके अन्दर अनिर्वचनीयताकी रक्षा करनी पड़ती है।

भाषाके बीचमें इस भाषातीतको प्रतिष्ठित करनेके लिये साहित्य मुख्यत: दो वस्तुओंको मिलाया करता है, एक चित्र दूसरे संगीत।

वाणीके द्वारा जिसे नहीं कहा जा सकता उसे चित्रके द्वारा कहना पड़ता है। साहित्यमें इस प्रकारकी चित्र-रचना की सीमा नहीं है। उपमा, तुलना और रूपकके द्वारा भाव प्रत्यक्ष होना चाहते हैं।

इसके अतिरिक्त छंदोंमें, शब्दोंमें, वाक्य-विन्यासमें, साहित्यको संगीतका आश्रय तो लेना ही पड़ता है। जिसको किसी प्रकार भी कहा नहीं जा सकता उसे संगीतके द्वारा ही कहना पड़ता है। जो वस्तु अर्थके विश्लेषण करने पर सामान्य प्रतीत होती है वही संगीतके द्वारा असामान्य हो जाती है। यह संगीत ही वाणीमें वेदनाका संचार कर देता है।

अतएव चित्र और संगीत ही साहित्यके प्रधान उपकरण हैं। चित्र भावको आकार देता है, और संगीत [illegible] गति प्रदान करता है। चित्र देह है और संगीत प्राण।

नोट—इस संग्रहमें श्री रवीन्द्रनाथ टागोरके लेखोंसे की बहुत कुछ सामग्री है।

साहित्यपरिचय और समालोचन

१—षट्खण्डागम('धवला'टीका और उसके हिन्दीअनुवाद सहित) प्रथम खण्ड जीवट्ठाणका 'द्रव्यप्रमाणानुगम' नामक तृतीय अंश—मूल लेखक, भगवान पुष्पदन्त भूतबलि। सम्पादक, प्रोफेसर हीरालाल जैन एम० ए० संस्कृताध्यापक किंग-एडवर्ड कालेज अमरावती। प्रकाशक, श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचंद शिताबराय, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती। बड़ा साइज़ पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ६०८। मूल्य सजिल्द प्रतिका १०), शास्त्राकारका १२) रुपये।

ग्रन्थके प्रारंभमें मूड़बिद्रीकी धवल, जयधवल महाधवल और त्रिलोकसारकी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंके पत्रोंके फोटू दिये गये हैं और वहाँके मंदिर, भट्टारक, ट्रस्टी तथा पं० लोकनाथ शास्त्रीका भी चित्र दिया गया है। चित्रोंकी संख्या ९ है। साथमें चित्रोंका परिचय तथा मूड़बिद्रीका संक्षिप्त इतिहास भी लगा हुआ है।

प्रस्तावनामें कुछ स्वाध्याय प्रेमियोंके आगतपत्रोंका शंका-समाधान साधारणरूपसे अच्छा किया गया है। इसके बाद द्रव्यप्रमाणानुगमके गणितभागका परिचय दिया गया है। द्रव्यप्रमाणानुगममें आचार्य वीरसेनने गणितका विशेष वर्णन दिया है, जिससे उस समयके गणितका बहुत कुछ पता चल जाता है। यद्यपि यह विषय बहुत कठिन है फिर भी इसके सम्पादनमें विशेष सावधानी वर्ती गई मालूम होती है और गणित शास्त्र के विद्वानोंके सहयोगसे परिश्रम के साथ गणितके गहन एवं अपरिचित विषयको सुबोध बनानेकी भरसक चेष्टा की गई है। अनुवादमें बीजगणित अंकगणितकी सहायतासे २८० उदाहरणों और ५० विशेषार्थो द्वारा उसे और भी सरल तथा सुगम बना दिया गया है। विस्तृत विषय-सूची भी लगा दी गई है।

तीन पेजका शुद्धिपत्र भी साथमें लगा हुआ है, जिसमें पिछले तीनों खंडों में रहनेवाली प्रेस आदि की अशुद्धियोंको क्रमसे खंडवार शुद्ध किया गया है। ग्रन्थका अनुवाद अच्छा हुआ है और वह पढ़नेमें रुचिकर मालूम होता है।

ग्रन्थके अन्त में ६ परिशिष्ट दिये गये हैं जिन के नाम इस प्रकार है—

दव्वपरूवणासुत्ताणि, अवतरण - गाथा - सूची, न्यायोक्तियाँ, ग्रन्थोल्लेख, पारिभाषिक शब्दसूची और मूड़बिद्रीकी ताडपत्रीय प्रतियोंके मिलान। ये सभी परिशिष्ट बड़े उपयोगी है और परिश्रमसे तैयार किये गए हैं। अवतरण-गाथा-सूचीमें 'आगमो ह्याप्तवचनं० पूर्वापरविरुद्धादे० रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा', ये सभी संस्कृत पद्य दिगम्बरीय 'आप्तस्वरूप' नामक ग्रंथके है जो बड़ा ही महत्वपूर्ण है। और माणिकचंद्र दि० जैन ग्रन्थमाला के ग्रन्थ नं० २१ (सिद्धान्तसारादिसंग्रह) मे मुद्रित हो चुका है। इस ग्रन्थका कोई नामोल्लेख साथमें नहीं किया गया, जिसके उल्लेखकी जरूरत थी—केवल प्रथम पद्यके सम्बन्धमें इतना सूचित किया है कि वह अनुयोगद्वार टीकामें पाया जाता है। इसी तरह 'तिण्णि सहस्सा सत्त य' नाम की गाथा जो सर्वार्थसिद्धिमें 'सत्संख्या' इत्यादि सूत्रकी टीकामें उद्धृत हुई है, उसका कोई उल्लेख न करके श्वे० अनुयोगद्वार का ही उल्लेख किया गया है। इन दोनों दिगम्बर ग्रन्थों का उल्लेख टिप्पण तथा उक्त सूचीमें जरूर होना चाहिये था।

संक्षेपमें यह ग्रन्थ खूब उपयोगी बनाया गया है। कागज, छपाई, सफाई गैटअप सब अपटुडेट है और जिल्द सुन्दर बँधी हुई है। इस सुन्दर संस्करणके लिये सम्पादक महोदय बधाईके पात्र हैं। समाजको चाहिये कि वह ऐसे ग्रन्थ रत्नोंको खरीद कर अपने यहाँके मंदिरोंमें विराजमान करें जिससे ट्रस्ट फंडके संचालकोंका उत्साह बढ़े, उन्हें अर्थसंकट उपस्थित न हो और ग्रन्थके अगले खण्ड और भी अधिक उत्तमताके साथ प्रकाशित किये जा सकें।

२—पंचम षष्ठम कर्मग्रन्थ सटीक—मूललेखक, देवेन्द्रसूरि और चन्द्रर्षि महत्तर। टीकाकार, देवेन्द्र सूरि और मलयगिरि। सम्पादक मुनि श्रीकांतिविजय जी और चतुरविजयजी। प्रकाशनस्थान, 'श्रीआत्मानन्दजैनसभा भावनगर'। पृष्ठ संख्या, ३४४। बड़ा साइज मूल्य सजिल्द प्रतिका ४) रु०।

प्रस्तुत ग्रंथमें दो कर्मग्रंथोंका संग्रह है। इनका विषय नाममें ही स्पष्ट है। उनमेंसे पंचम कर्मग्रंथका नाम है 'शतक' और दूसरेका नाम है 'सप्ततिका'। शतक नामक कर्मग्रंथके कर्ता देवेन्द्रसूरि हैं, जिसकी कुल गाथा संख्या १०० है। आपकी इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी साथमें मुद्रित है जिसके अवलोकन करनेसे उक्त कर्मग्रंथका विषय स्पष्ट रूपसे समझमें आजाता है। देवेन्द्रसूरि कर्मसिद्धान्तके अच्छे विद्वान थे। इन्होंने प्राचीन कर्मसाहित्यका आलोडन करके उक्त कर्मग्रंथोंका संकलन किया है। इस पंचम कर्मग्रंथमें 'ध्रुव बन्धिन्य' आदि बारह द्वार कहे गये हैं, क्षेत्र-विपाक, जीवविपाक, भवविपाक और पुद्गलविपाक रूप चार विपाकोंका, तथा प्रकृति, स्थिति-अनुभाग और प्रदेशरूप चारों बंधोंका और बन्धके स्वामियों का कथन दिया हुआ है। अपनी स्वोपज्ञ वृत्तिमें इन का विस्तृत विवेचन किया गया है।

द्वितीय कर्मग्रंथ 'सप्ततिका' नामक प्रकरणके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर कहे जाते हैं, जिसकी कुल गाथा संख्या ७२ है। परन्तु उक्त सप्ततिका प्रकरणके संकलन कर्ता श्वेताम्बरीय पंचसंग्रहके कर्ता चन्द्रर्षि महत्तर नहीं है। इसे प्रस्तावनामें मुनि श्री पुण्यविजयजीने अनेक युक्तियोंसे सिद्ध किया है। मैंने भी इस बातको 'श्वेताम्बर कर्मग्रंथ और दि० पंचसंग्रह' शीर्षक अपने लेखमें दिखलाया था, जो अनेकान्तके तृतीय वर्षकी ६ ठी किरणमें मुद्रित हुआ है। इस सप्ततिका ग्रन्थ में बंध, उदय, सत्ता और प्रकृति स्थानोंका कथन किया गया है। इसके टीकाकार आचार्य मलयगिरिने उक्त विषयोंका अपनी टीकामें अच्छा स्पष्ट एवं विशद वर्णन दिया है।

दोनों ही कर्मग्रन्थोंका संशोधन और सम्पादन अच्छा हुआ है। इस संस्करणमें यह खास विशेषता पाई जाती है कि कर्मग्रन्थोंके विषयका दिगम्बरीय मूलाचार, गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्डके साथ तुलना करके एक तुलनात्मक परिशिष्ट लगाया गया है, जिसे न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीने बड़े परिश्रम से तैयार किया है। इससे कर्मग्रन्थोंका तुलनात्मक अध्ययन करने वाले रिसर्च स्कालरोंको विशेष सहायता मिल सकती है। ग्रंथ विद्वानोंके लिये संग्रहके योग्य है।

३—विश्ववाणी—सम्पादक, पं० विश्वम्भरनाथ। प्रकाशनस्थान, विश्ववाणी कार्यालय साउथमलाका, इलाहाबाद, वार्षिक मूल्य ६) रु०, एक अंकका ।≈)।

विश्ववाणी हिन्दी साहित्य संसारमें बड़ी सुन्दर पत्रिका है। 'भारतमें अंग्रेजी राज्य' के रचयिता पं० सुन्दरलालजीकी संरक्षकतामें यह पत्रिका जनवरी सन १९४१ से उदित हुई है। इसके पांच अंक हमारे सामने हैं। इसे भारतके प्रायः सभी प्रमुख विद्वानों का सहयोग प्राप्त है। यह पत्रिका भारतीय संस्कृति की एकताका प्रतीक है, और हिन्दु-मुसलिम एकता को सफल बनाना ही इसका विशुद्ध लक्ष्य है। प्राचीन इतिहास पर भी वह कुछ थोड़ा थोड़ा प्रकाश डालती रहती है। लेखों, कहानियों और कविताओंका चुनाव अच्छा रहता है। प्रायः सभी लेख पठनीय होते हैं। खासकर मंजरअली सोख्ताकी 'आज़ाद हिन्दुस्तान में न फौज होगी न हथियार होंगे' नामक लेखमाला बड़ी विचारपूर्ण है। प्रथम अङ्कमें सम्पादककी 'दाराशिकोह' वाली कविता बड़ी सुन्दर है। पत्रिका का प्रत्येक अंक संग्रहणीय होता है। इस तरहकी विचारपूर्ण सामग्रीका संकलन कर प्रकाशित करनेके लिये संपादक महोदय बधाईके पात्र हैं।

—परमानन्द शास्त्री

दिगम्बर-जैनग्रन्थ-सूची

[लेखक—श्री अगरचंद नाहटा, सं० 'राजस्थानी']

भारतीय साहित्यमें दिगम्बर जैन साहित्यका भी महत्वपूर्ण स्थान है। पर बड़े ही खेदकी बात है कि अद्यावधि इस विशाल एवं विशिष्ट साहित्यके इतिहास की तो बात ही क्या! प्रामाणिक ग्रन्थसूची तक भी प्रकाशित नहीं हुई। दि० जैन समाजमें न धनकी कमी है न विद्वानोंकी, फिर भी ऐसा आवश्यक कार्य अभी तक सम्पन्न नहीं हुआ, यह उनके लिये लज्जाकी बात है! श्वे० भंडारोंकी शोध खोजकी अपेक्षा दि० ग्रंथों की खोज ज्यादा सुगम है; क्योंकि श्वे० ग्रन्थ भंडार अधिकांश संघसत्ताके होनेसे कई ट्रस्टी आदि होते हैं और उन सबका एकत्र होकर भंडार खोलना बहुत कठिन होता है तथा जो ग्रन्थ-भंडार व्यक्तिगत मालिकी-यतियों आदिके कब्जेमें है उनका देखना तो और भी कठिन होजाता है—दिखावें या न दिखावें उनकी इच्छा पर निर्भर है; तब दि० भंडार अधिकांशत: दि० जैनमंदिरोंमें ही हैं और उनकी देख रेख पर प्राय: एक ही व्यक्ति रहता है अत: देखनेमें एक व्यक्ति को समझाकर समय ले लिया जाय तो भंडार देखा जा सकता है। हाँ, व्यक्तिगत मालिकीरूप भट्टारकों के कतिपय भंडार ऐसे अवश्य हैं जिनका अवलोकन परिश्रमसाध्य है। नागौर आदिके भंडार इसी श्रेणिके हैं। दि० धनवान एवं प्रभावशाली भाइयोंका कर्तव्य है कि वे भट्टारकजी आदिको नम्र वचनोंसे उपयोगिता एवं लाभ बतलाकर उनकी सुव्यवस्था (पूरे ज्ञातव्यके साथ सूची तैयार करली जाय व देखनेवाले को मौका दिया जाय) करवावें, अन्यथा हजारों ग्रंथ नष्ट होगये और रहे सहे फिर नष्ट हो जायँगे।

श्वेताम्बर साहित्यकी बृहत् टिप्पणिकाकी भाँति* दि० जैनग्रन्थोंकी भी कई प्राचीन सूचियाँ मिलती हैं, जिनमेंसे ४ सूचियाँ पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्रीके तत्वावधानमें स्याद्वादविद्यालय बनारसमें हैं। उन्होंने उनके आधारसे "दि० जैनग्रन्थोंकी एक बृहद् सूची" नामक लेख जैनसिद्धान्तभास्करके भाग ५ कि० ४ में प्रकाशित भी किया था; पर उसमें उन सूचियोंका पूरा उपयोग नहीं किया गया। यदि वे उन सूचियों× में आये हुए समस्त दि० जैनग्रन्थोंकी एक व्यवस्थित सूची तैयार करके वे ग्रन्थ लभ्य हैं तो कहाँ पर? इसका पता व अलभ्य हों तो उसका निर्देश करके एक ट्रैक्ट प्रकाशित कर देते तो अत्युत्तम कार्य होता।

पुरानी सूचियों एवं अन्य साधनोंके आधारसे श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमीने करीब ३० वर्ष पूर्व जैनहितैषीमें "दिगम्बर जैनग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ" नामक लेख प्रकाशित किया था व उसे स्वतंत्र ट्रैक्ट रूपसे भी प्रकट किया था पर वह अब नहीं मिलता। उसके बाद अनेकों नये ग्रन्थोंका पता चला है तथा उसमें उल्लिखित अनेकों भूल भ्रान्तियोंका

---

* ऐसी एक सूची अभी मुझे भी मुनि कांतिसागरजीसे अवलोकनार्थ प्राप्त हुई है।

× सूचियोंमें उत्तर भारतके दि० ग्रन्थोंका ही उल्लेख नज़र आता है। दक्षिण भारतके महत्वपूर्ण कन्नड आदि दि० जैनसाहित्यकी कोई सूची प्रकाशित हुई नहीं देखी।

उदघाटन भी हो चुका है। नवीन अनुसंधानसे बहुत-सी ज्ञातव्य सूचनायें एवं साधन भी उपलब्ध हो चुके हैं। अतएव अब दि० ग्रन्थसूचीका कार्य बहुत शीघ्र होना आवश्यक है।

श्रीयुत प्रेमीजीके पत्रसे अभी ज्ञात हुआ कि वे अपने लेखोंका एक संग्रह प्रकाशित करनेका प्रबंध कर रहे हैं, अतएव उनके प्रकाशित "दि० जैनग्रन्थ-कर्ता और उनके ग्रन्थ" में जो कतिपय अशुद्धियाँ मेरे अवलोकनमें आई उनका यहाँ स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक समझता हूं, ताकि भविष्यमें उन भूल-भ्रान्तियोंकी पुनरावृत्ति न होने पावे :

पृ० ६ में षट्दर्शनसमुच्चयका कर्ता कुमुदचंद्र लिखा है, संभवतः वह गलत है। षट्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थ श्वे० हरिभद्रसूरिरचित है।

पृ० ८ में गुणरत्नाचार्यकी षट्दर्शनसमुच्चयकी टीका लिखी है वह तो श्वेताम्बर है।

पृ० ८ गुणभद्ररचित धन्यकुमारचरित्र लिखा है। बीकानेरमें अभी मुझे उनके 'धनदचरित्र' की एक प्रति मिली है, संभवतः ग्रन्थका नाम धन्य न होकर धनद होगा, या मुझे उपलब्ध ग्रंथ नवीन है।

पृ० ९, जगदेवकृत 'स्वप्नचिन्तामणि' ग्रंथ श्वे० है।

पृ० १० पाणिनीय काशिकावृत्तिके कर्ता जैनेन्द्र-बुद्धि बौद्ध थे ×।

पृ० ११ झाणझणका नेमिनाथकाव्य श्वे० है एवं पृ० ३९ में उल्लिखित विक्रमरचित नेमिदूत और वह एक ही है। किसी किसी प्रतिमें कर्ता 'झांझण' लिखा मिलता है।

पृ० १२ देवप्रभकृत पांडवचरित्र श्वेताम्बर ही है।

पृ० १३ धर्मदासकृत उपदेशसिद्धान्त संभवतः श्वे० धर्मदासकी "उपदेशमाला" ही होगा।

× यह विषय अभी विवादापन्न है।　　—संपादक

पृ० १३ देवेन्द्रकृत यशोधररास भाषाका एवं श्वे० संभव है।

पृ० १६ का० श्रेयांसरास भी भाषाकृति है, कर्त्ता परिमल कौन था ? प्रति देखकर ठीक पता चलाना चाहिये।

पृ० १७ षष्टिशतकके कर्त्ता नेमिचंद्र श्वे० ही थे।

पृ० २४ भक्तामरके कर्त्ता मानतुंगसूरि भी श्वे० थे *।

पृ० २२ वाग्भट्टालंकार टीकाके कर्ता रत्नधीर श्वे० ही थे।

पृ० २४ गणरत्नमहोदधिके कर्ता वर्धमानसूरि भी श्वेताम्बर थे।

पृ० २५ वाग्भट्ट श्वेताम्बर ही थे। अष्टांग-हृदयके कर्त्ता वाग्भट्ट जैनेतर थे।

पृ० २६ विनयचंद्रकी द्विसंधान टीका नहीं है, उनके शिष्य नेमिचंद्रकी (पृ० ४५) ही है।

पृ० २९ शोभनकृत चतुर्विंशतिका श्वे० ही है।

पृ० ३३ सिन्दूरप्रकरके कर्ता सोमप्रभ श्वे० ही थे।

पृ० ३४ हेमचंद्ररचित त्रिषष्टिशलाकाचरित्र श्वे० ही है।

पृ० ३५ प्रश्नोत्तररत्नमालाकी मिलानकर कर्त्ता का निर्णय करना आवश्यक है।

पृ० ३५ चारित्रसिंह खरतरगच्छीय श्वे० थे।

पृ० ३६ कातंत्र – व्याकरणकी वृत्तिके कर्ता दुर्गसिंह जैनेतर प्रतीत होते हैं, निश्चय करके लिखना चाहिये।

पृ० ३६ देवतिलककृत कल्याणमंदिर-वृत्ति श्वे० है।

पृ० ३६ केवसुन्दरकृत भक्तामर-वृत्ति भी श्वे० है।

* यह विषय ग्रन्थकी पद्यसंख्या सहित अभी विवादापन्न है।

—सम्पादक

पृ० ३६ नरचंद्र - ज्योतिषसारके कर्ता भी श्वे० ही हैं।

पृ० पद्मप्रभसूरिका ग्रहभावप्रकाश ग्रंथ भी श्वे० है।

पृ० ३७ पार्श्वनागकी आत्मानुशासन टीका श्वे० ही प्रतीत होती है, जाँचकर लिखना चाहिये।

पृ० ३८ प्राणप्रियकाव्यके रचयिता रत्नसिंह श्वेताम्बर थे।

पृ० ३९ नेमिदूत काव्यके कर्ता विक्रम कवि भी श्वे० थे।

पृ० ३९ कातंत्रके कर्ता शर्ववर्मा जैनेतर थे *।

पृ० ३९ शाकटायन यापनीय संघके थे। शांति सूरि श्वे० संभव हैं।

पृ० ४३ जिनहर्ष खरतरगच्छके थे। श्रेणिक-चरित्र उनका अभी श्वेताम्बर भडारोंमें तो देखनेमें नहीं आया, अत: उक्त ग्रन्थको देखना आवश्यक है।

पृ० ४० में नारायण श्रीमालको तो श्वे० लिखा ही है।

इसी प्रकार अन्य अशुद्धियाँ जिन्हें जिन्हें विदित होवें वे सूचित करदें। प्रेमीजीसे अनुरोध है कि वे इस ट्रैक्टको और खोज-शोधके साथ प्रकट करें।

* यह विषय अभी विवादास्पद है। —संपादक

अपना घर
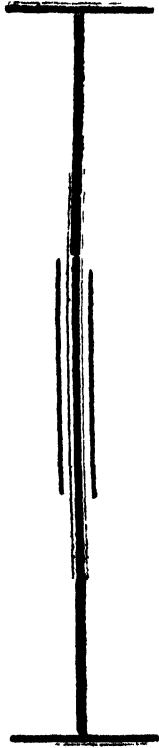
जहाँ वसन्त सदा रहता है, पतझड़ कभी न आता!
'दुख' रोता निज अध:पतन पर, सुख रहता मुस्काता!!
साम्यवादकी जहाँ पूर्णता, विमल प्रेमका नाता!
छोटे बड़े बराबर हैं सब, क्या श्रोता, व्याख्याता!!

जहाँ नहीं कटुता जीवनमें, नहीं, वासना—स्याहा!
जहाँ न दीनोंका क्रन्दन, धनिकोंकी नादिर-शाही!!
जहाँ न प्रभुका भजन, नहीं पैमाना और सुराही!
जहाँ बिगाड़ - सुधार नहीं है, जहाँ न आवा - जाही!!

नहीं किसीकी साहूकारी, जहाँ नहीं आसामी!
सब अपनी तबियतके राजा, सब अपनेके स्वामी!!
जहाँ न योगी, संन्यासी, या लोभी, क्रोधी, कामी!
आजादीने जहाँ तोड़कर रखदी, घोर - गुलामी!!

जहाँ न अपनी-अपनी घातें, जहाँ न कोई व्याकुल!
जहाँ अरुचिकर काग नहीं हैं, जहाँ न प्यारी बुलबुल!!
जहाँ न बैर-विरोध किसीमें, जहाँ न रहते मिल-जुल!
एक अलौकिकताको लेकर, रहते सभी निराकुल!!

मेरा 'अपना-घर' तो वह है, यहाँ कौन है मेरा?
खुल जाएगी आँख तभी, समझूँगा हुआ सवेरा!!
चलदूंगा तब अपने घरको, तजकर रैन - बसेरा!
जिसे आज तक अपना समझा, उखड़ेगा वह डेरा!!

—श्री 'भगवत्' जैन

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

(मूल लेखक—प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ए०, आई० ई० एस०)

(अनुवादक—पं० सुमेरचन्द जैन दिवाकर, न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी० ए०, एल० एल० बी०)

[गत किरणसे आगे]

(२) चूलामणि—यह ग्रंथ जैन कवि तोलामोलित्तेवर के द्वारा रचा गया है, जो कि प्रकटतया कार्वेटनगरके अधिपति विजयका आश्रित था। इस ग्रंथके संपादक दामोदर पिल्लेकी राय है कि यह कुछ महाकाव्योंके पूर्वका होना चाहिये। उनके निर्णयका आधार यह है कि चूलामणिके अनेक पद्य याप्परुङ्गलकारिकैके रचयिता अमृतसागरने उद्धृत किये है।

चूलामणिका आधार जिनसेन-रचित महापुराणकी एक पौराणिक कथा है। कथाके मूलनायक तिविट्टन हैं, जो जैनपरंपरामें माने जाने वाले उन नौ वासुदेवोंमेंसे एक हैं जिनमें भारत-प्रख्यात कृष्ण भी एक हैं। काव्य सौंदर्यमें चूलामणि चिंतामणिके समान है। इसमें कुल १२ सर्ग और २१३१ पद्य हैं। कथा इस प्रकार है। पोदनपुर राजधानी वाले सुरमैदेशके नरेश प्रजापतिकी मृगपति (मृगावती ?) और जयवती नामकी दो मुख्य रानियां थीं। कथानायक तिविट्टन् महादेवी मृगपतिका पुत्र था और विजय जयवतीका पुत्र था। दोनोंमें विजय बड़ा था। विजय और तिविट्टन् पूर्णतया बलराम और कृष्णके समान थे। इनमें पहिला शुक्लवर्ण और द्वितीय कृष्णवर्ण था। एक भविष्यवक्ताने महाराज प्रजापतिसे कहा कि तुम्हारा पुत्र तिविट्टन् शीघ्र ही एक विद्याधर-राजकुमारीसे विवाह करेगा। रादानूपुरके विद्याधर नरेशकी स्वयंप्रभा नामकी एक अतीव सुन्दर कन्या थी। एक भविष्यवक्ताने इस विद्याधर नरेशसे भी कहा था कि तुम्हारी कन्या स्वयंप्रभा पोदनपुरके क्षत्रिय राजकुमारसे विवाह करेगी। विद्याधर नरेशने अपने एक मंत्रीको प्रजापति महाराजके पास इस आशयका पत्र देकर भेजा कि मैं अपनी कन्या तिविट्टन्को ब्याह देनेको तैयार हूं। पोदनपुरके नरेश प्रजापति यद्यपि विद्याधर नरेशके द्वारा प्रेषित विवाह प्रस्तावसे पहले आश्चर्य में पड़ गये, किन्तु उन्होंने विवाहकी स्वीकृति देदी। इतनेमें यह बात विद्याधरोंके महाराज अश्वग्रीवको मालूम हुई। जिनके अधीन राजा प्रजापति और स्वयंप्रभाके पिता दोनों थे। सम्राट् अश्वग्रीवने तिविट्टनके पितासे नियत कर मांगा। विद्याधर नरेशके कोपसे डर कर राजा प्रजापतिने तत्काल हां कर दे देनेकी आज्ञा दी, किन्तु उनके पुत्र तिविट्टन्ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने विद्याधर महाराजकी राजाज्ञा से इंकार कर दिया और दूतको यह कह कर वापिस लौटा दिया कि अबसे कोई कर नहीं दिया जायगा। अश्वग्रीवके दरबारका भक्त एक विद्याधर मंत्री इस जिद्दी क्षत्रिय तरुण तिविट्टन्को किसी छलसे मारना चाहता था। उसने सिंहका रूप धारण किया और प्रजापति नरेशके राज्य सुरमैके पशुओंको उसने नष्ट किया। प्रजापतिके पुत्र तिविट्टन और विजय सिंहको मारनेके लिये भेजे गये। सिंहका रूपधारण करने वाला विद्याधर मंत्री चालाकीसे तिविट्टन्को एक गुफा में ले गया। तिविट्टन्ने सिंहका गुफामें पीछा किया। वहां एक असली सिंह था जिसने मायाके सिंहको खा लिया और वह तिविट्टन्को भी खाना चाहता था। तिविट्टन इससे भयभीत नहीं हुआ। असली सिंहके मुंहमें विद्याधर सिंह गायब हो गया था इस लिये उसने असली सिंहके मस्तकको पकड़ा और उसे सरलतासे मार डाला। स्वयंप्रभाके पिता,

गदानुपुरके नरेशको भविष्यवक्ताने जो कहा था उसमें सिंहके मारनेका भी वर्णन था। वह स्वयंप्रभा विवाहमें तिविट्टन्को दी जाने वाली थी इस लिये गदानुपुरके नरेश अपनी कन्या स्वयंप्रभाके साथ पोदनपुरको रवाना हुए। वहां विद्याधर कन्या वीर तिविट्टन्को व्याह दी गई। विद्याधर महाराज अश्वग्रीव क्रोधसे आगबबूला हो गये, क्योंकि उनके अधीन नरेशके पुत्रने उनके दूतके साथ दुर्व्यहार किया था और उनका वह क्रोध विद्याधर कन्याके साथ विवाह होनेसे और भी बढ़ गया। वह इस विचारको पसन्द नहीं करता था कि एक साधारण क्षत्रिय राजकुमार और उसमें भी उनके आश्रितका पुत्र उनकी उज्ज्वल जातिकी विद्याधर राजकुमारीसे विवाह करे। वह अपनी बलशाली सेनाके साथ तिविट्टन पर चढ़ आया। एक युद्ध आरंभ हुआ। तिविट्टन तो वासुदेव था उसके पास दिव्य चमत्कारिणी शक्तियां थीं। उसने अपने चक्रसे विद्याधर-सेनाको एक दम हरा दिया और अंतमें स्वद विद्याधर-नरेश अश्वग्रीवको ही मार डाला। इस विजयका फल यह हुआ कि तिविट्टनके श्वसुर सम्पूर्ण विद्याधरभूमिके एकछत्र स्वामी हो गये। तिविट्टनने अपने पितासे जो राज्य प्राप्त किया उसमें वह अपनी विद्याधरी स्वयंप्रभा तथा अन्य अनेक सहस्र रानियोंके साथ सुखपूर्वक रहने लगा। इस विद्याधर-पत्नी स्वयंप्रभासे उसको अमृतसेन नामके पुत्रकी प्राप्ति हुई। उसने अपने साले अर्ककीर्तिको अपनी बहिन व्याही और उसकी बहिनसे सुदारै नामकी एक लड़की उत्पन्न हुई और एक पुत्र भी। तिविट्टनकी एक ज्योतिमाली नामकी दूसरी कन्या थी जिस के विवाहके लिए उसने स्वयंवरकी घोषणा की। इस कन्या ने अपने मामा अर्ककीर्तिको पति चुना और विद्याधर-राजकुमारी (सुदारै) ने उस (तिविट्टन्) के ही पुत्र अमृतसेनको पसन्द किया। इस प्रकार इन दो विवाहोंसे पोदनपुर और विद्याधरके राजवंशोंके बीचका संबंध और मजबूत हो गया था। इस प्रकार जब दोनों देश सुखमें थे और प्रजाजन समृद्धिका अनुभव कर रहे थे तब वृद्ध नरेश प्रजापतिने राज्यको पुत्रके जिम्मे छोड़कर साधुवृत्ति अंगीकार की और अपना अवशिष्ट जीवन योग और ध्यानमें बिताया। इस जिनदीक्षा और आत्मीक तपश्चर्याके फलस्वरूप राजा प्रजापति संसारसे छूटे और उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। इस प्रकार पंचलघुकाव्योंमें चूलामणिकी कथा समाप्त होती है जो कि पंचलघुकाव्योंमें अंतर्भूत एक मुख्य ग्रंथ है।

नीलकेशी—यह भी पंचलघुकाव्योंमें एक है जो स्पष्टतया एक जैन दार्शनिक कविकी रचना है, जिसके विषयमें हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। यह भारतीय दर्शनशास्त्र से संबंध रखने वाला एक तर्क-पूर्ण ग्रंथ है। और इस पर वामनमुनि-रचित समयदिवाकर नामकी एक बहुत बढ़िया टीका है। ये वामनमुनि वे ही हैं जो कि अन्य साहित्यिक ग्रंथ मेरुमंदिरपुराणके रचयिता हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नीलकेशी बौद्धोंके उस कुण्डलकेशी ग्रंथके प्रतिवाद में है जो कि दुर्भाग्यसे इस समय लुप्त हो गया है। यह कुण्डलकेशी पंचमहाकाव्योंमें गर्भित था। यद्यपि इस नाम का तामिलकाव्य संसारसे नष्ट होगया किन्तु बौद्धोंके ग्रंथमें पाई जाने वाली कुण्डलकेशीकी कथा मात्र इसलिये नीचे दी जाती है ताकि यह मालूम हो सके कि नीलकेशीकी कथा कुण्डलकेशीके सांचेमें ढली हुई है और वह कुण्डलकेशीके दार्शनिक विचारोंका खंडन करनेके लिए निर्मित हुई है।

बौद्ध पुरावृत्त कथाओं (The Buddist Legends) से ली हुई कुण्डलकेशीकी कथा इस प्रकार है:—

राजगृहीके एक धनी वणिककी प्रायः षोडश वर्षकी अवस्थाकी इकलौती कन्या थी। वह अत्यंत रूपवती और देखनेमें सुन्दर थी। जब स्त्रियाँ इस अवस्थाको पहुँचती हैं तब वे संतप्त होती हैं और पुरुषोंकी आकांक्षा करती हैं।

उसके माता पिताने अपने राजकीय-वैभव-संपन्न सात मंजला महलके ऊपरी भागके एक कमरेमें उसे स्थान दिया था और सेवाके लिये उसके पास एक दासी दी थी।

एक दिन वहाँका एक संपन्न तरुण डाकेके इलज़ाममें पकड़ा गया। उसके हाथ पीठकी ओर बँधे थे और वह वध्य-भूमिको ले जाया जारहा था और प्रत्येक चौराहेपर उस पर कोड़ोंकी मार लगाई जाती थी। वणिक कन्याने भीड़की आवाज सुनी और अपने मनमें कहा 'यह क्या है?' उसने महलके शिखरसे नीचेकी ओर दृष्टि डाली और उसे देखा।

वह तत्काल ही उस पर आसक्त हो गई। वह उसके लिये इतनी अधिक आसक्त हो गई थी कि वह अपने बिस्तर पर लेट गई और खाना पीना बंद कर दिया। उसकी माताने पूछा "प्यारी बेटी! इसका क्या मतलब है? उसने कहा" जो डाका डालते पकड़ा गया और जो सड़कों परसे ले जाया गया। अगर मुझे वह तरुण प्राप्त हो जाय तभी मेरा जीवन होगा, अन्यथा मैं यहाँ अभी ही मर जाऊंगी।" माताने कहा 'मेरी बेटी! ऐसा मत करना; तेरे लिए दूसरा वर प्राप्त होगा जो कुल वंश और संपत्तिमें हमारे समान है।' उसने कहा 'मैं तो किसी दूसरेको पसंद नहीं करती यदि मुझे यह पुरुष प्राप्त नहीं होता तो मैं मर जाऊंगी।" अपनी पुत्रीको शान्त करनेमें असमर्थ हो माताने पितासे कहा, किन्तु पिता भी अपनी पुत्रीको संतुष्ट करनेमें असमर्थ रहा। माताने सोचा अब क्या करना चाहिए। उसने सहस्र मुद्राएं उस राजकर्मचारीके पास पहुँचाई जिसने डाकूको पकड़ा था और जो उसे वध्यभूमिको अपने साथ ले जा रहा था। उससे कहा गया 'यह रुपया लो और डाकूको मेरे पास पहुँचा दो। राजकर्मचारीने कहा 'बहुत अच्छा'। उसने धन ले लिया और डाकूको छोड़ दिया, दूसरे आदमीको पकड़कर फाँसी दे दी और राजाको संदेश भेज दिया—'महाराज डाकू मार डाला गया'। **(क्रमशः)**

आत्म-गीत

कुछ लोग हमें 'कवि' कहते हैं!

पर, हममें रसका स्राव कहाँ?
शब्दोंमें तेज, प्रभाव कहाँ?
भावोंकी ओर झुकाव कहाँ?
शब्दों पर, लयपर बहते हैं!!

है नहीं कल्पना की उड़ान!
पिंगलका उसमें नहीं ज्ञान!
हैं शून्य कि जैसे आसमान!
मन-ही-मन, मनको दहते हैं!!

है पूर्व-जन्मका एक शाप!
या कहें आजका इसे पाप!
इच्छानुसार समझिए आप!
हम तो प्रतिदिन ही सहते हैं!!

पाएँ कैसे हम आत्म-तोष!
बाक़ी है मनमें कहाँ जोश?
लिखनेका भी है नहीं होश!
फिर भी कुछ लिखते रहते हैं!!
कुछ लोग हमें 'कवि' कहते हैं!!

श्री 'भगवत्' जैन

जेबकट

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

—**********—

उसके सीनेमें भी धड़कता हुआ दिल था। लेकिन मजबूरियोंने उसे बुरा बना दिया था! वह था—जेबकट! अपने फ़न का पूरा उस्ताद! आप चाहे कितने ही चालाक क्यों न बनते हों अपने दिल में! पर, वह था जो आपको भी चकमा न देदे तो अपना नाम बदल डाले! बनियानकी भीतरी-जेब से नोट निकाल ले और आपको यह भी शनाख्त न हो पाए कि क्या हुआ? नोटोंकी बात छोड़िये; क्योंकि वे चुप रहते हैं! रुपये-पैसों तकको वह इस सफ़ाई से धाड़ लेता कि—वाह! वे तो ज़रा-सा छेड़ने पर ही चिल्ला उठते हैं न? फिर भी वह उसके पास पहुँच जाते और किसीको पता तक न चल पाता! हाथकी सफ़ाई उसे याद थी, और अच्छी तरह!

घर आते ही उसने दिन-भरकी कमाईको देखना शुरू किया—'नोट, रुपये, पैसे, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी—तालीका गुच्छा, डायरी, और कुछ कागजात!'

नगद-नारायण सँभालके रक्खे, और फालतू चीजें एक ओर पटक दीं! घरमें तरह तरहकी चीजों का 'अजायब-घर'-सा बन गया था! जुदा-जुदा रंग-रूपकी, छोटी-बड़ी, रूल-पैंसिलोंका ढेर कुछ न होगा तो पचास पैंसिलोंसे क्या कमका होगा?...

वह रोटी-पानीसे फ़ारिग हो, बीड़ी सुलगाता हुआ, आ बैठा उन फ़ालतू चीजोंके पास! वहीं, जमीन पर ही—टूटे सन्दूकके सहारे—अधलेटा हो, देखने लगा—एक एक चीज!

डायरी उठाई और पटक दी! किसी मुकदमेबाज की तारीखें और मुकदमेके नम्बर नोट थे!...

यह किसी गरीबका दस्तावेज़ था—ढाईसौ रुपये का। मियादके दो ही दिन बाकी थे। शायद दावा दायर होनेके लिए ही तिजोरीकी कैदसे जेबकी हवालातमें आया था!

बीड़ीकी राख झाड़ते हुए, वह हँसा, फिर आप ही आप दस्तावेज़ फाड़ते और बीड़ी उस पर रखते हुए बोला—'चूसलो किसी गरीबका खून! ये आये ढाईसौ रुपये?'...

वह कागज था किसी नये कविकी कविताकी मश्क! कटा-पिटा! सुधारके इन्तजारमें! पढ़ा ही न गया! जलती आगमें इसे भी फेंकते हुए लिफ़ाफ़ा उठाया! ऊपर लिखा था—'बहुत ज़रूरी!' नीचे—पाने वालेका पता, बन्द था। शायद पाने वालेके हाथों तक न पहुँचते पहुँचते बीचमें ही यहां आगया था। दस्ती खत था, डाकडिलेवरी नहीं।

खोला। और पढ़ने लगा—

प्यारे!

तुम मेरे हो और मैं तुम्हारी। आजसे नहीं, उन दिनोंसे जब तुम और मैं एक ही स्कूलमें किताबें पलटा करते थे। तुम्हें याद होगा, कि तुमने मुझे वचन दिया था—अन्नपूर्णा, शादी मैं तुम्हारे ही साथ करूँगा, नहीं तो करूँगा ही नहीं! इसके बाद बहुत कुछ हुआ, सब तुम्हें मालूम है।

अब तुमने चिट्ठीका उत्तर तक देना छोड़ दिया है। कई चिट्ठियाँ दे चुकी। आज अब शर्म छोड़कर

आखिरी चिट्ठी भैय्याके हाथ भेजती हूं। मुझे उम्मीद है, तुम यह भी जानते होगे, कि यह आखिरी चिट्ठी क्यों है ?—मेरे बाप—माँ तो हैं ही कहाँ ?—कुछ पैसे के लोभके सबब मेरी शादी एक पचपनवर्षके बुड्ढेके साथ करना चाहते हैं। और मैं अब शादीसे मौतको ज्यादा पसन्द करती हूँ। तुम मुझसे रूठ चुके हो, मेरी किस्मत भी रूठ रही है। अब एक ही उपाय रहा है—वही करना मैंने तो तै किया है। और जब तक यह चिट्ठी तुम्हारे हाथोंमें पहुँचेगी, शायद तब तक मैं कहांसे कहां पहुंच जाऊँ ? कोई नहीं जानता। हाँ, तुमसे एक प्रार्थना है, मान सको तो मेरी आत्मा को सुख मिलेगा कि 'तुम अपनी शादी जरूर कर लेना ! ताकि तुम्हारा हृदय स्त्री-हृदयकी गहराई तक पहुँच सके—तुम जान सको स्त्रीका मन कितना नरम होता है ! वह जिसे पति मान लेती है, फिर दूसरेकी ओर आँख उठाकर देखना भी पाप समझती है। शादी तो दूसरी बात है। तुम चाहे न मानो पर मैं तुम्हारी हूँ और तुम्हारे नामको लेते लेते, दूसरे पाप से बचनेके लिये, जा रही हूँ।

तुम्हारी—'अन्ना'

जेबकटका मन जाने कैसा हो उठा, वह पागलकी तरह उस लम्बे कागजको उलट-पलट कर देखने लगा—आँखें उसकी भरी हुई थीं। आँसू बहजानेका रास्ता देख रहे थे ! वह बोला—'चिच ! हत्या कर रही है बेचारी ! और उस पत्थरका पता भी नहीं मिल सकेगा ! आज सुबहकी लिखी चिट्ठी है—आज की तारीखकी ! अब साँझ होने आई, मर न चुकी हो बेचारी अन्ना ! काश ! यह चिट्ठी वक्त पर उसे मिल जाती, जरूर बचाने जाता !

पर, मैं पैसेके लोभमें उसकी जान चुरा लाया ! हत्यारा······पापी !

जेबकट लिफ़ाफ़ा जेबमें डालता हुआ—भागा ! जैसे अन्नाको जीवन लौटाने जा रहा हो !

× × × ×

हेमने चिट्ठी पढ़ी तो रो उठा। बोला—'तुम अन्नाके भाई हो ? नहीं, हत्यारे हो ! इतनी देरसे चिट्ठी क्यों लाये ? क्या 'बहुत जरूरी' चिट्ठियाँ इतनी लेट दी जाती हैं किसीको ?'

जेबकट चुप !

हेमने आवाज दी—'बंशी ! 'कार' लाओ, सुना जरा जल्दी !' फिर बोला—हाँ, तुम अन्नाके भाई हो, इसलिए कुछ नहीं कहता—वरन् वरनः मारे-मारे ठोकरोंके दम निकाल देता—समझे ? मुद्दत पीछे एक चिट्ठी मिली वह भी यह ! और इतने देरसे। उसने और भी चिट्ठी डाली होंगी, पर मैं यहाँ था कहाँ ? मैं था—शिमले ! घर वाले ऐसी चिट्ठियाँ काहेको भेजने लगे थे मेरे पास ! तभी तो हो रही है न, यह आत्म-हत्या !'

'कार' में बैठे ! हेमने कहा—'क्या नाम तुम्हारा अन्नाके भाई ! तुम भी चलो, साथ-साथ ! और काम फिर होते रहेंगे !'

जेबकट बैठ गया—गुम्म, चुप ! कार बढ़ी ! हेम चिल्लाया—'ठहरो डाक्टरको साथ ले लेने दो ! गांव का मामला, वहाँ हकीम भी नहीं मिलेगा ? क्याकैसा है, कौन जाने ?'

फिर जेबकटसे पूछा—'क्यों जी, जब घरसे चले थे, तब तो ठीक थी न ?'

उसने धीरेसे कह दिया—'हाँ।'

हेम बोला—'चिट्ठी देरसे क्यों दी, क्या करते रहे ?'

'अन्नाने काम जो बना दिये थे ढेरके ढेर !'—जेबकटने कहा।

'यह बहुत जरूरी था सो ?'—इसी वक्त बेग लेकर डाक्टर साहब आगए, 'कार' दौड़ने लगी !

× × × ×

आकर देखा तो हेम वगैरा 'सन्न' रह गए ! घर में रोया-राट पड़ रहा है ! गाँवका गाँव जमा है ! हर मुँह पर एक ही फ़िकरा—'अन्ना' ने जहर खा लिया है। डोकरा जो उसे साठवर्षके बुड्ढेके साथ ब्याहे दे रहा था !'

दो घण्टे, कामिल दो घण्टे मिहनत करनेके बाद डाक्टरने हेमसे कहा—'अब काफी कामयाबीकी उम्मीद है—हेम बाबू !'

सब लोग चुप, देख रहे थे !

आध घण्टे बाद—'अन्ना' ने आँखें खोलीं। हेम का मन फूल उठा, और उससे कुछ ही कम जेबकटका !

'ग़नीमत रही कि वक्त पर पहुँच सका, नहीं तुम्हारे भाई साहबने तो ......?' हेमने जेबकटकी ओर इशारा किया।

'मेरे भैय्या !'—अन्नाने उँगली दाँतोंमें दबाते हुए कहा।

जेबकट बोला—'हाँ, अन्ना ! मैं भी तुम्हारा एक भाई हूं ! लेकिन बदनसीबीसे भला आदमी नहीं, एक जेबकट हूं।'

वीरशासन-जयन्ती-उत्सव

पिछले वर्षोंकी भांति इस वर्ष भी वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा जि० सहारनपुरमें वीर-शासन-जयन्तीका उत्सव समारोहके साथ मनाया जायगा। इस वर्ष श्रावण-कृष्णा-प्रतिपदाकी पुण्य तिथि ६ जुलाईको अवतरित हुई है। यह तिथि वह पवित्र तिथि है जिस दिन प्रातः सूर्योदयके समय भारतके गौरव एवं महाविभूतिस्वरूप भगवान् महावीरने केवल-ज्ञानोत्पत्तिके पश्चात् लोकहितार्थ अपना उपदेश प्रारम्भ किया था और उसके द्वारा धर्म-अधर्मकी यथार्थ परिभाषा बतला कर तथा तत्त्व-अतत्त्वका ठीक भेद समझाकर अज्ञानान्धकारमें भूले-भटकते हुए प्राणियोंको सन्मार्ग दिखलाया था, उनके वहमों-मिथ्याविश्वासोंको दूर भगाकर उनकी कुप्रवृत्तियोंको सुधारनेका सातिशय प्रयत्न किया था और अन्याय-अत्याचारोंसे पीड़ित एवं आकुलित जनताको सान्त्वना देकर, उसके उद्धारका नेतृत्व ग्रहण करते हुए, विश्वभरको सुख-शान्तिका सच्चा सन्देश सुनाया था। अथवा यों कहिये कि जिस दिन भ० महावीरका धर्मचक्र प्रवर्तित हुआ था—दिव्यध्वनि-द्वारा उनके शासनतीर्थकी उत्पत्ति हुई थी, जो कि प्राणिमात्रके लिये हितरूप है। कृतज्ञता और उपकार-स्मरण आदिकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि दूसरी जन्मादि-तिथियोंसे कितने ही अंशोंमें अधिक महत्व रखती है; क्योंकि दूसरी पंचकल्याणक तिथियां जब व्यक्तिविशेषके निजी उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती हैं तब यह तिथि पीड़ित, पतित और मार्ग-च्युत जनताके उत्थान एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध रखती हैं, और इस लिये अपने हितमें सावधान कृतज्ञ जनताके द्वारा खास तौरसे स्मरण रखने तथा महत्व दिये जानेके योग्य है। इसी तिथिसे पहले भारतवर्षमें नये वर्षका प्रारम्भ हुआ करता था। इस दिन हमें अपने महोपकारीके उपकारोंका स्मरण करते हुए वीशासनकी महत्ताका विचारकर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करना चाहिये और लोकमें प्रेमपूर्वक महावीर शासनके प्रचारका—महावीर सन्देशको फैलानेका—शक्तिभर उद्योग करना चाहिये, जिससे लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि होसके।

वीरसेवामन्दिरमें उत्सवका प्रारम्भ ६ जुलाई बुधवारको दिनके दो बजे होगा, जिसमें अनेक विद्वानोंके महत्वपूर्ण भाषण होंगे। अतः सर्वसाधारणको शामिल होकर उत्सवमें भाग लेना चाहिये। जो लोग शामिल न होसकें उन्हें अपने अपने स्थानोंपर उत्सव मनाकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये।

निवेदक

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

नयामन्दिर देहलीके कुछ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची

देहलीके मुहल्ले धर्मपुरामें 'नया मन्दिर' नामसे एक पुराना बादशाही वक्तका बना हुआ लाखोंकी लागतका विशाल जैन मन्दिर है, जिसमें हस्तलिखित ग्रंथोंका एक अच्छा बड़ा भण्डार है। इस शास्त्र-भण्डारके प्रबन्धक ला० रतनलालजी आदि अच्छे उदारचेता सज्जन हैं, समयकी गति-विधिको समझते हैं—उपयोगिता-अनुपयोगिताको परखते हैं; और इसीसे दूर दूरके भी अनेक विद्वान समय-समय पर इस शास्त्रभण्डारसे अच्छा लाभ उठाते रहे हैं और अनेक ग्रन्थोंके संशोधन-प्रकाशनादिमें यहांके ग्रंथोंसे काफी सहायता मिलती रही है। मैंने स्वयं इस शास्त्रभण्डारसे बहुत कुछ लाभ लिया है और ले रहा हूं, जिसके लिये सभी प्रबन्धक महाशय मेरे धन्यवादके पात्र हैं। और उनसे भी अधिक धन्यवादके पात्र हैं बाबू पन्नालालजी अग्रवाल तथा ला० जौहरीमलजी सर्राफ, जिनकी कृपासे मुझे ग्रंथोंके देखनेमें यथेष्ट सुविधाएँ प्राप्त होती रही हैं, और जो अनेकबार अपना खर्च तक लगाकर ग्रंथोंको मेरे पास पहुँचाते रहे हैं।

इस भण्डारमें मुद्रित ग्रंथोंके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रंथोंकी संख्या सब मिलाकर १८०० के करीब है, जिसमें दिगम्बर-श्वेताम्बर जैनों तथा अजैनोंके भी अनेक विषयोंके ग्रन्थ शामिल हैं और वे संस्कृत, प्राकृत-अपभ्रंश तथा हिन्दी आदि अनेक भाषाओंको लिये हुए हैं। अनेक ग्रंथोंकी कई कई प्रतियां भी हैं। इस शास्त्रभण्डारकी पहले एक साधारण सूची बनी हुई थी, अब उसे कुछ व्यवस्थितरूप देकर नई सूची तय्यार कराई गई है। यद्यपि यह नई सूची भी बहुत कुछ अधूरी एवं त्रुटिपूर्ण है और इस बातको सूचित करती है कि इसको तय्यार करानेसे पहले इस विषयके किसी योग्य विद्वानसे परामर्श नहीं किया गया; फिर भी यह पहली सूचीसे बहुत कुछ अच्छी बन गई है, और इसके अनुरूप ही अलमारियोंमें ग्रंथोंकी व्यवस्था हो जानेसे उनके निकालने-देखनेमें कितनी ही सुविधा हो गई है।

हस्तलिखित ग्रन्थोंकी इस नई सूचीकी एक पेज-टु-पेज कापी उक्त बाबू पन्नालालजीने अपने हाथसे उतारकर मुझे इस लिये दी है कि मैं उसे देखकर यह नोट करलूं कि उसमें कौन कौन ग्रंथ ऐसे हैं जिनको मैंने अभी तक नहीं देखा अथवा जिनका मैं किसी समय अपने लेखादिकमें उपयोग कर सकता हूं। साथ ही, यह अनुरोध किया है कि यदि उचित समझा जाय तो इस भंडारके ग्रंथोंका कुछ परिचय अनेकान्तके पाठकोंको दे दिया जाय, जिससे विद्वान लोग तुलनादि के अवसरों पर उन ग्रंथप्रतियोंका उपयोग कर सकें और जहां जो ग्रंथ न हो वहांके भाई उसकी कापी करा सकें। तदनुसार इस सूची परसे मैंने संस्कृत-प्राकृतादि ख़ास ख़ास ग्रन्थोंकी एक संक्षिप्त सूची पं० परमानन्द जैन शास्त्री वीरसेवा-मन्दिरसे तय्यार कराई है, जिसे पाठकोंके अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है। आशा है इससे पाठकोंको कितनी ही जानने योग्य बातें मिलेंगी और कितनों ही को अपने अपने यहांके भंडारोंके कुछ प्रमुख तथा अप्रसिद्ध ग्रंथोंका परिचय निकालने की प्रेरणा भी होगी। यदि हमारे साहित्यप्रेमी भाई अपने अपने यहांके शास्त्रभंडारोंकी सूचियां थोड़ासा परिश्रम करके प्रकट कर देवें अथवा वीरसेवामन्दिर सरसावाको भेजदेवें तो दिगम्बर ग्रन्थोंकी उस विशाल एवं मुकम्मल सूचीका आयोजन सहज ही में हो सकता है, जिसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है और जिसका काम दिगम्बर धनिकोंकी लापर्वाही तथा ऐसे उपयोगी कामोंका महत्व न समझनेके कारण वर्षों से पड़ा हुआ है। और इसीसे भाई अगरचन्दजी नाहटाने, इसी किरणमें प्रकाशित 'दिगम्बरजैनग्रन्थसूची' नामक अपने लेखमें, इसके लिये दिगम्बर समाजको भारी उलहना दिया है, और वह ठीक ही है। दिगम्बर समाजको उस पर ध्यान देकर अपने कर्तव्यको शीघ्र पूरा करना चाहिये। अस्तु; इस सूचीमें सटीक, सटिप्पण, सवृत्ति जैसे शब्दोंका प्रयोग संस्कृत टीका-टिप्पणादिको सूचित करनेके लिये है और 'भाषाटीका' का अभिप्राय हिन्दी भाषा टीकासे है; टीकाकारादिका नाम मूलकारके बाद दे दिया है। जहां ग्रन्थका नाम टीका-प्रधान है वहां मूलकार तथा मूलकी भाषाके उल्लेखको छोड़ भी दिया है। और जहां जो बात मूलसूची परसे उपलब्ध नहीं हुई वहां इस सूचीमें × यह चिन्ह लगा दिया है। ऐसे स्थल ग्रंथप्रतियों परसे जांचने योग्य है—खासकर ग्रंथकारोंके नाम तथा भाषाके विषयमें। ग्रंथोंके नम्बर विभागक्रमादिककी गड़बड़को लिये हुए कुछ विचित्र तथा अधूरे जान पड़े—कोई एक अच्छा क्रम नहीं पाया गया—इससे उन्हें छोड़ दिया गया है, और इस सूचीमें ग्रंथोंको अकारादि क्रमसे दे दिया है। इससे पाठकोंको अभिलषित ग्रंथका नामादिक मालूम करनेमें सुविधा रहेगी।

—सम्पादक

ग्रन्थ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	लिपि-संवत्
तत्त्वकौस्तुभ (राजवार्तिक-टीका)	अकलंकदेव, पं० पन्नालालसंघी	सं०, हिन्दी	१०४२	१९३१
तत्त्वज्ञानतरंगिणी	भ० ज्ञानभूषण	,,	२४	×
तत्त्वदीपिका (प्रवचनसारवृत्ति)	अमृतचन्द्राचार्य	,,	१०५	×
तत्त्वसार	देवसेन	प्राकृत	५	×
तत्त्वानुशासन	नागसेन (रामसेन)	संस्कृत	३०	१९८०
तत्त्वार्थटीका	सकलकीर्ति	,,	११८	×
,,	कनककीर्ति	,,	९९	१७८५
तत्त्वार्थरत्नप्रभाकर-वृत्ति (त. सू. टी.)	प्रभाचन्द्र	संस्कृत	१०१	×
तत्त्वार्थरत्नमाला (राजवार्तिक टीका)	पं० पन्नालाल न्यायदिवाकर	संस्कृत, हिन्दी	१५०६	१९७९
तत्त्वार्थराजवार्तिक	अकलंकदेव	संस्कृत	५२९	×
तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि)	पूज्यपाद	,,	९२	१७२९
,, (तत्त्वार्थसूत्र टीका)	श्रुतसागर	,,	२६६	१७९२
,, (सर्वार्थसिद्धि टीका)	प्रभाचन्द्र	,,	५८	१९९०
तत्त्वार्थसुखबोधवृत्ति	पं० योगदेव	,,	१४८	×
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	विद्यानन्दाचार्य	,,	४२१	१९००
तत्त्वार्थसार	अमृतचन्द्राचार्य	,,	३०	×
तत्त्वार्थसूत्र (सुनहरी अक्षर)	उमास्वामी	,,	१८	१९४८
तत्त्वार्थसूत्र (टिप्पण)	हर्षचंद्र	,,	२२	१८९३
तात्पर्यवृत्ति (प्रवचनसारटीका)	जयसेन	,,	१८६	१८०४
त्रिभंगीसार (सटीक)	नेमिचंद्र सि० च०, गुणभद्र	प्रा०, संस्कृत	१४	×
त्रिलोकसार (मूल)	,,	प्राकृत	३५	×
त्रिलोकसार (सटीक)	नेमिचंद्र, माधवचंद्र त्रैविद्य	,, ,,	७२	१५७४
,, (सटिप्पण)	,, , ×	,, ,,	६७	×
त्रिलोक दीपक	पं० वामदेव	संस्कृत	६७	१८२७
त्रिलोकप्रज्ञप्ति (तिलोयपण्णत्ती)	यतिवृषभाचार्य	प्राकृत	२०४	×
त्रिवर्णाचार	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	२१	×
त्रिवर्णाचार	भ० सोमसेन	,,	८५	१८६६
दशभक्तिसंग्रह	कुन्दकुन्द, पूज्यपाद	प्रा०, संस्कृत	७३	×
दर्शनसार	देवसेन	,,	३	×
दशलक्षण पूजा	सुमतिसागर	× संस्कृत	१३	×
दशलक्षणजयमाल (सटिप्पण)	रइधू कवि, ×	अपभ्रंश	३०	१९११
देवागम स्तोत्र (सवृत्ति)	समंतभद्राचार्य, वसुनन्दी	संस्कृत	९२ (?)	१९२८
दोहा सुप्रभाचार्य	सुप्रभाचार्य	अपभ्रंश	२३	१८३५
द्रव्यसंग्रह (सटीक)	नेमिचंद्र सि० च०, ब्रह्मदेव	प्रा०, संस्कृत	६१	१६११

ग्रन्थका नाम	ग्रन्थकार नाम	भाषा	पत्रसंख्या	लिपि-संवत्
द्रोपदी-प्रबन्ध	जिनसेनाचार्य	संस्कृत	२४	१६०२
द्विसंधानकाव्य (सटीक)	महाकवि धनंजय, नेमिचंद्र	संस्कृत	२२६	१९४५
धनंजय-नाममाला	महाकवि धनंजय	,,	१४	×
धन्यकुमारचरित्र	भ० सकलकीर्ति	,,	३६	१६२१
धम्मरसायण	पद्मनंदि	प्राकृत	६	१९०२
धर्मपरीक्षा (भाषा टीका)	अमितगति, चौ० पन्नालाल	,, , हिन्दी	२०३	१९५८
धर्मप्रश्नोत्तर (श्रावकाचार)	भ० सकलकीर्ति	,,	६६	×
धर्मशर्माभ्युदय (काव्य)	महाकवि हरिचंद्र	,,	१३६	×
धर्मसंग्रहश्रावकाचार	पं० मेधावी	,,	८२	१८७४
धवला (षट्खण्डागम टीका)	मू० भूतवलि, पुष्पदन्त टी० वीरसेन	प्राकृत प्रा०, संस्कृत	२०२२	१९९३
नंदिसंघ गुर्वावली	×	संस्कृत	१०१-१०६	×
नंदिसंघ विरुदावली	×	,,	६-१४	×
नयचक्र (भाषा टीका)	देवसेन सूरि, ×	प्रा०, हिंदी	१४	×
नागकुमारचरित्र	मल्लिषेणाचार्य	संस्कृत	१९	१८६१
नाटक समयसारकलशा (भा० टीका)	अमृतचंद्राचार्य, राजमलपांडे	सं०, हिंदी	३७६	१८६७
नियमसार (तात्पर्यवृत्ति)	कुन्दकुन्दाचार्य, पद्मप्रभ मलधारी	प्रा० संस्कृत	७७	१८६१
नेमिनाथपुराण	ब्र० नेमिदत्त	संस्कृत	१५४	×
न्यायदीपिका	धर्मभूषण (अभिनव)	संस्कृत	२३	१७४६
पद्मचरित (पद्मपुराण)	रविषेण	संस्कृत	२४६	१७७५
पद्मचरित (टिप्पण)	श्रीचंद्रमुनि	,,	५८	१८९४
पद्मनंदिपंचविंशतिका (मूल)	पद्मनन्द्याचार्य	,,	११६	१५९५
,, ,, (सटीक)	,, , ×	,,	१६६	१७६१
पद्मपुराण (भाषा टीका)	रविषेण, पं० दौलतराम	संस्कृत, हिंदी	४३६	१९०६
पद्मावतीकल्प	मल्लिषेणाचार्य	,,	१९	×
,, (सटीक)	,, , ×	,,	८८	×
,, (भाषा टीका)	,, , पं० चन्द्रशेखर शा०	,, हिंदी	६६	×
पद्मावती लघुस्तोत्र	मल्लिषेणाचार्य	,,	१	×
परमात्मप्रकाश (मूल)	योगीन्दुदेव	अपभ्रंश	१८	१८००
,, (सटिप्पण)	,, , अमरचंद दीवान	,, , संस्कृत	८८	१८८५
परमार्थोपदेश	भ० ज्ञानभूषण	संस्कृत	१२	×
परीक्षामुख (मूल)	माणिक्यनंदी	,,	६	×
पंचपरमेष्ठी पूजा	भ० ज्ञानभूषण	,,	४१	×
,,	भ० शुभचंद्र	,,	२६	×
पंचसंसार निरूपण	भ० शुभचन्द्र	संस्कृत	२२	×
पंचास्तिकाय (मूल)	कुन्दकुन्दाचार्य	प्राकृत	८	१९११
,, (तत्त्वदीपिका टीका)	,, , अमृतचन्द्र	प्रा०, संस्कृत	६४	×

ग्रन्थ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	लिपि-संवत्
श्रुतस्कंधपूजा (सरस्वती पूजा)	श्रुतसागर	संस्कृत	२२	×
श्रेणिकचरित्र	भ० शुभचंद्र	,,	१०६	१८०७
सज्जनचित्तवल्लभ	मल्लिषेणाचार्य	,,	५	×
सप्तव्यसनचरित्र	भ० सोमकीर्ति	,,	५८	१७६५
समयसार (सटीक)	कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचंद्र	प्राकृत, संस्कृत	६४	१८६२
समयसार (तात्पर्यवृत्ति टीका)	,, , जयसेन	,, ,,	११५	१६६०
समयसारकलशा	अमृतचंद्र	संस्कृत	१६	×
समयसारकलशा (सटिप्पण)	अमृतचन्द्र , ×	संस्कृत	७६	१८७२
सम्यक्त्वकौमुदी (भाषा टीका)	× ×	सं०, हिन्दी	११५	१७६३
समाधितंत्र (समाधिशतक)(मूल)	पूज्यपाद	,,	६	१८८३
,, (सटीक)	,, , प्रभाचन्द्र	,, ×	१२	×
सर्वार्थसिद्धि (भाषा टीका)	पूज्यपाद, पं० जयचंद्र	संस्कृत, हिन्दी	४२३	१८६७
सहस्रनाम सटीक (अंतिम पत्र नहीं)	मू० पं० आशाधर, टी० श्रुतसागर	संस्कृत	१५२	×
सागारधर्मामृत (स्वो० टीका सहित)	पं० आशाधर	,,	१८६	×
सामायिक क्रिया	×	,,	४०	×
सारचौवीसी	भ० सकलकीर्ति	,,	११५	×
सारसमुच्चय	कुलभद्र	,,	१२	×
सार्धद्वयद्वीपपूजा	×	,,	६६	१६२३
सिद्धचक्र कथा (माहात्म्य)	पं० नरसेन	प्राकृत	४३	१६११
,,	भ० शुभचन्द्र	संस्कृत	८	१८२५
सिद्धचक्रपूजा (स्वो० टीका सहित)	पं० आशाधर	,,	४	×
सिद्धान्तसारदीपक	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	२२७	१७३५
सिद्धिप्रिय स्तोत्र (सटीक)	देवनन्दी	,,	१०	१८७१
सुकुमालचरित्र	भ०सकलकीर्ति	,,	३२	१८२६
सुदर्शनचरित्र	,, ,,	,,	३७	१८२१
,, ,,	भ० विद्यानन्दि	,,	२१	१७७६
सुभाषितरत्नसन्दोह	अमितगति	,,	४७	×
सुभाषितार्णव	×	,,	४३	×
सुभाषितावली	भ० सकलकीर्ति	,,	४१	१८०८
सुभूमचरित्र	भ० रत्नचंद्र	,,	३४	×
सुलोचनाचरित्र (खंडित)	देवसेन	प्राकृत	२ से १६८	×
सोलहकारण जयमाल (सटिप्पण)	रइधूकवि	अपभ्रंश	३०	१६११
स्नपनविधि (बृहत्)	भ० अभयनन्दी	संस्कृत	१ से २२	×
स्वप्नमहोत्सव (बृहत्)	,,	,,	२४५से२५१	×
स्वयंभूपाठ (लघु)	देवनन्दी	,,	१७७-१७६	×
स्वयंभूस्तोत्र (बृहत्)	समन्तभद्र	,,	१०	×
,, (सटीक)	,, , प्रभाचंद्र	,,	७०	×
स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा (सटीक)	स्वामिकुमार, भ० शुभचंद्र	प्रा०, संस्कृत	३११	१७६६
,, ,, (सटिप्पण)	,, , ×	,, ,,	१६८	१७७२

ग्रन्थ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	लिपि संवत्
हनुमानचरित्र	ब्र० अजित	,,	८०	×
हरिवंशपुराण	जिनसेनाचार्य	,,	३६१	१७८५
,,	ब्र० जिनदास	,,	१६७	१७७२
२ श्वेताम्बर जैनग्रन्थ				
अजितशांतिविवरणवृत्ति	जिनवल्लभसूरि, गोविन्दाचार्य	प्रा०, संस्कृत	१ से ७	×
अध्यात्मोपनिषद्	हेमचन्द्रसूरि	संस्कृत	८१	×
अनेकार्थसंग्रह (कोष)	,,	,,	८१	१८८८
आचाराङ्ग सटीक	सुधर्मस्वामी, शीलाकसूरि	प्रा०, संस्कृत	३१२	१८६३
उपदेशकुलक (सटिप्पण)	×	,, ×	४	×
उपदेशमाला	धर्मदासगणी	,,	५३	१६८०
उल्लासिकस्तोत्रवृत्ति (अजितशांति-जिनस्तव)	जिनवल्लभसूरि, धर्मतिलकमुनि	प्रा०, संस्कृत	७ से १३	×
कल्पसूत्र (गुजराती टीका)	×	प्राकृत, गुजराती	६६	१६८५
कल्याणमंदिरवृत्ति	कनककुशलसूरि	संस्कृत	१२	१७५५
,, ,,	श्रीऊकेशगणी	,,	३१	×
जैनेन्द्रव्याकरणबालबोधिनीप्रक्रिया	हेमचन्द्राचार्य, वीरसिंह	,,	१०६	१६८२
ज्योतिप्रकाश (जैनपंचागरचना)	हीरविजयसूरि	,,	५१	×
तत्त्वार्थटीका (भाष्यानुसारिणी)	उमास्वाति, सिद्धसेनगणी	,,	७७५	१८७४
धर्मोपदेशरत्नमाला (सटिप्पण)	नेमिचन्द्रभंडारी	प्राकृत	३०	१८७३
,, (षष्ठीशतक)	,,	,,	७	१७६६
नवतत्त्वप्रकरण	×	,,	१२	×
नेमिनिर्माणकाव्य	वाग्भट्ट	संस्कृत	१००	१८६८
पंचनिर्ग्रन्थीसूत्र	×	प्राकृत	६	१६६०
पारतंत्र्यस्तववृत्ति	जिनदत्तसूरि	प्रा०, संस्कृत	२२से२५	×
पिंडविशुद्धि	गणी देवविजय	प्राकृत	४	×
प्राकृतछन्दकोष (सटीक)	रत्नशेखरसूरि, चन्द्रकीर्ति	,,	११	१६६१
भयहरस्तोत्रवृत्ति (अभिप्रायचंद्रिका)	मानतुङ्गसूरि, जिनप्रभसूरि	,,	१४-१६	×
रत्नाकरावतारिका (प्रमाणनयतत्त्वा०टी०)	देवसूरि, रत्नप्रभाचार्य	संस्कृत	८६	×
लघुनाममाला	हर्षकीर्तिसूरि	,,	१४	१८११
वर्द्धमानस्तुति	हेमचन्द्र, सिद्धसेन	,,	२	१७०६
वाग्भट्टालंकार	वाग्भट	,,	१५	१८७१
विचारषट्त्रिंशतिकासूत्र (सटि०खंडित)	जिनहंसाचार्य, यशसोम	प्राकृत	८	×
विदग्धमुखमंडनसावचूरि	धर्मदास	,,	७	१४३५
विवेकविलास	जिनदत्तसूरि	संस्कृत	८४	×
शब्दानुशासन (खंडित)	हेमचन्द्राचार्य	प्राकृत	५६	१७६५
षड्दर्शनसमुच्चय (मूल)	हरिभद्रसूरि	,,	५	१८६६
,, ,, (सटीक)	,, , देवप्रभ	,,	३३	१७६१
संग्रहणीप्रकरण (अतिजीर्ण)	×	,,	३३	×
सूक्तिमुक्तावलि (मूल)	सोमप्रभाचार्य	संस्कृत	१५	१८८६

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	लिपि-संवत्
सूक्तिमुक्तावली (सटीक)	सोमप्रभाचार्य, हर्षकीर्तिसूरि	संस्कृत	३४	१७६१
,, (सावचूरि)	,, , विजयभुज	,,	१०	×
स्मरण स्तोत्र (सटीक)	जिनदत्तसूरि, जयसागरगणी	,,	१६से २२	×
स्याद्वादमंजरी (हेमचंद्र-द्वात्रिंशिकावृत्ति)	मल्लिषेणसूरि	,,	१३७	१७५६
हैमीनाममाला (अभिधानचिन्तामणि)	हेमचन्द्राचार्य	प्राकृत	६३	×
३ अजैनग्रन्थ				
अमरकोष	अमरसिंह	संस्कृत	७१	१८६६
एकाक्षरी नाममाला	×	,,	२	×
कर्णामृतपुराण (खंडित)	केशवसेन कृष्णजिष्णु	,,	१ से १००	×
कर्पूरमंजरी नाटक	राजशेखर	,,	१७	१५०७
कालज्ञान	श्रीधन्वंतरि	,,	६	१७३०
,,	शम्भूकवि	,,	१६	१८६५
किरातार्जुनीय	महाकवि भारवि	,,	६३	×
कुमारसंभव	,, कालिदास	,,	५१	१६६५
कुवलयानन्द-कारिका	पं० कुवलयानन्द	,,	१८	×
चाणक्यनीति	चाणक्यमंत्री	,,	२०	×
तर्कसंग्रह	अन्नंभट्ट	,,	७	१८७०
तर्कसंग्रह-दीपिका	,,	,,	१६	×
द्विरूपकोश	महेश्वरकवि	,,	१३	×
नीतिशतक (सटीक)	भर्तृहरि	,,	२४	×
प्राकृतशब्दलक्षण (व्याकरण)	चंड	प्रा० गद्य	६	×
प्रबोधचन्द्रिका	वैजलभूपति	संस्कृत	१६	×
प्रस्तावसागर (सुभाषित)	पं० भगीरथ	,,	१२६	×
बृहज्जातक (सटीक २ अध्याय खंडित)	(वराहमिहिर)	,,	१ से २४	×
बृहज्जातक उपसंहार	×	,,	१०१-१३७	×
भर्तृहरिशतकत्रिक (मूल)	भर्तृहरि	,,	४७	×
मदनपालनिघंटु (वैद्यक)	मदनपाल	,,	७६	१८६६
माधवनिदान (जीर्ण)	माधवाचार्य	,,	१७०	×
,, (सटीक जीर्ण खंडित)	,, , रैशर्म	,,	१३४	१७६०
मेघदूत (काव्य)	कालिदास	,,	१७	×
मेदिनीकोष	(मेदिनीकर)	,,	७४	१८८५
योगशतक (वैद्यक)	×	,,	२४	१६०६
रघुवंश २ सर्ग	कालिदास	,,	१२	×
लीलावती	भास्कराचार्य	,,	१२	×
,, (सटीक)	,, ×	,,	१६	×
वाराही संहिता (खंडित)	वराहमिहिर, भट्टोत्पल	,,	६४२	१७४७
वैद्यजीवन	लोलिम्बराज	,,	५२	१८६५
वैद्यकरसयोगसंग्रह-सुभाषितसंग्रह	×	,,	११	×

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	लिपि-संवत्
वैयाकरणभूषणसार (सवृत्ति)	कौंडभट्ट, ×	संस्कृत	४५	×
वैराग्यशतक (सटीक)	भर्तृहरि	,,	२३	×
वोपदेवशतक	वोपदेवकवि	,,	११	१८९७
वृत्तरत्नाकरसेतु	केदारभट्ट	,,	७	१८७०
वृत्तरत्नाकर (सटीक)	,, , पं० हरिभास्कर	,,	२७	×
शिशुपालवध (काव्य)	माघकवि	,,	१२४	×
शीघ्रबोध (सटीक)	पं० काशीनाथभट्ट	सं०, पद्य	१५	१७८३
षट्पंचासिका टीका (ज्योतिषग्रन्थ)	पं० काशीनाथ	प्राकृत	१ से ६३	×
श्रुतबोध	कालिदास	संस्कृत	४	१८९१
शृङ्गारशतक (सटीक)	भर्तृहरि, ×	,,	२४	×
सारस्वत व्याकरण	×	संस्कृत	१०से१५	×
,, बृहद्प्रक्रिया	अनुभूतिस्वरूप आर्य	संस्कृत	६३	१८७६
,, ,,	पद्माकरभट्ट	,,	८४	×
सिद्धान्तकौमुदी पूर्वार्ध	भट्टोजीदीक्षित	संस्कृत	११४	×
,, ,, उत्तरार्ध	,,	संस्कृत	८०	×
,, चन्द्रिका पूर्वार्ध	श्रीरामभद्राश्रम	संस्कृत	५६	×
,, ,, ,,	,,	संस्कृत	१८	×
,, ,, विभक्त्यर्थ	रामाश्रम	संस्कृत	१६	×
स्वप्नफल	व्यासऋषि	,,	४	×
स्वप्नावली (स्वप्नफल भाषाटीका)	,, , ×	संस्कृत, हिन्दी	६	×
हठयोगप्रदीप (खंडित)	×	संस्कृत	७२	×
४ संदिग्ध-सम्प्रदाय-ग्रंथ				
अनेकार्थ-ध्वनि मंजरी	(क्षपणक)	संस्कृत	११	१८३२
निमित्तशास्त्र	ऋषिपुत्र	प्रा०, पद्य	९	१८०६
न्यायपंजिका (काशिकावृत्ति) ८ अध्याय, अलग अलग पत्रोंमें	जिनेन्द्रबुद्धि	संस्कृत	तीसरे अ०को छोड़कर ७०४	×
शान्तिनाथचरित्र	राजसुन हिन्दू ?	प्राकृत	१५३	१५८८
षट्पंचाशिका (सटिप्पण)	×	संस्कृत	५	१६५८
सिद्धि (खेटसिद्धि) ज्योतिष	खेटाचार्य	संस्कृत	२३	×

नोट— इस सूचीमें प्रधानतया संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थोंको ही ग्रहण किया गया है; ऐसे ग्रन्थोंमेंसे जिनके साथ भाषाटीका भी लगी हुई हैं उनमेंसे भी कुछको ले लिया है, शेषको छोड़ दिया है। मात्र हिन्दी आदि दूसरी भाषाओंके ग्रन्थोंको इस सूचीमें शामिल नहीं किया गया है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके भी कितने ही साधारण ग्रन्थोंको छोड़ दिया है। जिन ग्रन्थोंकी अनेक प्रतियाँ हैं उनमेंसे लिपि-सम्वत्की दृष्टिसे जो पुरानी जँची, अथवा जो लिपि-सम्वत्को लिये हुए पाई गई उसे ही प्रायः यहाँ ग्रहण किया गया है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा ता० १०-६-१९४१

'अनेकान्त' पर लोकमत

२८ न्यायाचार्य पं० दर ारीलाल जैन कोठिया, ऋषभब्रह्मचर्याश्रम मथुरा—

"अनेकान्तको मैं गौर पूर्वक देखा करता हूं। श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजीके विद्वत्तापूर्ण एवं खोजपूर्ण लेखों, निबन्धों, प्रकरणों, व्याख्याओंको मैं कई वर्षसे सुरुचिपूर्वक पढ़ता आरहा हूं। उनकी भावभंगी तथा शब्द-विन्यास साधारण व्यक्तिके लिये भी मुग्ध कर देने वाला होता है। उनके लेखोंको पढ़ लेनेपर भी छोड़नेको जी नहीं चाहता है। 'मेरीभावना' तथा 'समन्तभद्र' ने तो उन्हें यशस्वी एवं अमर बना दिया है। पंडितजीकी ही यह विचित्र सूझ है कि अनेकान्तके मुखपृष्ठ पर 'जैनीनीति' का गोपिकाके समन्वयका सुन्दर चित्र खींचा है। पंडितजीकी ऐसी साहित्य-सेवाओंमें आकर्षित हो मैंने गतवर्ष अपने "जैनसाहित्यकी खोज" लेखमें जैनमित्रके २६वें अंकमें पंडितजीके प्रति निम्न उद्गार प्रकट किए थे:—"पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार जैसी विभूति जैनसंसारको भी प्राप्त हैं। इन्होंने अपने जीवन भर जैनसाहित्यकी अपूर्व सेवा की है और विश्राम की अवस्थामें भी कठोर परिश्रम करते आरहे हैं। इनके सत्प्रयत्नसे ही प्रकाशित आचार्य कृतियोंके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त हुआ।" जिनेन्द्रसे प्रार्थना है पंडितजी दीर्घायु होकर जैनसाहित्यकी अधिकाधिक सेवा करें।

आपका लेख "तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज" शीर्षक भी नव्य एवं महत्वपूर्ण है इसमें अभी शब्द-साम्यकं खोज की ओर जरूरत है। जहां तक हो तत्त्वार्थसूत्रके सभी बीज शब्दोंमें ही मिलें तो अत्युत्तम है। आशा है इस विषयमें भी आप प्रयत्न शील होंगे।"

२९ ब्र० शीतलप्रसाद, अजिताश्रम, लखनऊ—

"यह पत्र बिना मतभेदके सर्व जैन विद्वानोंके विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित करता है। इसमें सब विद्वानोंके व सर्व-साधारणके पढ़ने योग्य लेख होते हैं, जिनसे धार्मिक भाव और सामाजिक उत्थान दोनोंकी तरफ़ पाठकोंका ध्यान जा सकता है। यह अपने ढंगका निराला ही पत्र है। सम्पादन बड़ी योग्यतासे किया जाता है। सर्व जैनोंको आर्थिक मदद देनी चाहिये. जिससे कि यह बराबर जारी रहकर श्री महावीर भगवानका उपदेश जनताको पहुँचाता रहे। हम इसकी उन्नति चाहते हैं। आध्यात्मिक लेख भी रहने चाहियें।"

३० श्री हजारीलाल बांठिया, बीकानेर—

" मईका अंक पढ़कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई। 'ग्रीष्म-परिषह-जय' रंगीन चित्रसे इस अंककी शोभा दूनी होगई है। जैसा इसका नाम है 'अनेकान्त' वैसे ही इसमें अच्छे अच्छे लेख रहते हैं। मुखपृष्ठ तो इतना आकर्षित है कि कहते ही नहीं बनता है।

पत्रकी विचारधारा स्फूर्ति प्रदान करनेवाली है। सचमुच जैनपत्रोंमें सर्वोच्च कोटिका है। यदि किसीको जैन समाज की सच्ची सेवा करनी हो तो इस पत्रको अवश्य अपनावे। जैन जाति इसे तन-मन-धनसे मदद दे, जिससे पत्र दीर्घायु होकर अपने उद्देश्य और नीतिमें सफल हो। मैं पत्रकी हृदयसे उन्नति चाहता हूं।"

३१ संपादक 'जैनमित्र', सूरत—

" ...इसके मुख्य पृष्ठपर जैनी नीतिका द्योतक सप्तभंगीका रंगीन चित्र बहुत ही मनोहर है। इसमें " एकेना-कर्षन्ती" श्लोक को मूर्तस्वरूप देकर मुख्तार सा० ने अपनी उच्च कल्पना-शक्तिका परिचय दिया है। इस अङ्कमें कुल ३३ लेख कविता आदि हैं। २-३ सामान्य लेखोंको छोड़कर शेष सभी अध्ययन और मनन करने योग्य हैं।

पं० परमानन्दजी शास्त्रीका "तत्त्वार्थ सूत्रके बीजोंकी खोज" शीर्षक लेख इस अंकका सबसे महत्वपूर्ण लेख है। यह २१ पृष्ठोंमें पूर्ण हुआ है। शास्त्रीजीने यह लेख बहुत ही परिश्रम, खोज और समयके बाद लिखा मालूम होता है। प्रारंभमें आपने अनेक युक्तियों और प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया है कि तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता उमास्वामी दिगम्बराचार्य थे, न कि श्वेताम्बराचार्य। और आपने पं० सुखलालजीकी उस मान्यताका भली भांति खण्डन कर दिया है जिससे उनने तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी हिन्दी टीकामें उमास्वामीको श्वेताम्बर सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है.......।

अनेकान्त एक ऐसा पत्र है जिस पर जैन समाज गौरव कर सकती है। जैनमित्रके पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि वे इसके ग्राहक बन जाँय।"

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं--

* १२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
* १०१) बा० अजितप्रशादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
  १०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
  १००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
* १००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
* १००) बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नंदलाल जैन, कलकत्ता।
  १००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
  १००) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
  १००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
  १००) बा०जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान, पानीपत।
* ५०) ला०दलीपसिंह कागज़ी और उनकी मार्फत, देहली।
  २५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई।
* २५) ला० रूडामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
* २५) बा०रघुवरदयालजी जैन, एम.ए. करौलबाग़, देहली।
* २५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
  २५) ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा जिला मुजफ्फरनगर।
  २५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन, सहारनपुर।
* २५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
  २५) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनाने में अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

वीरशासन-जयन्ती-उत्सवके सभापति

इस वर्ष वीरसेवामन्दिर सरसावा में ता० ९ व १० जुलाई को दो दिन जो वीरशासन-जयन्ती का उत्सव मनाया जायगा उसके सभापति बा० जयभगवान जी जैन, बी० ए० एल एल० बी० वकील पानीपत होंगे, जोकि प्रकृतिसे सौम्य तथा सज्जन स्वभावके होनेके साथ साथ बड़े ही अध्ययनशील एवं विचारशील विद्वान हैं और अच्छे वक्ता व लेखक हैं। आपकी लेखनीसे अनेकान्तके पाठक परिचित हैं। आपकी स्वीकारता प्राप्त हो चुकी है। आशा है सर्व-साधारण जन जल्सेमें पधारकर आपके तथा दूसरे विद्वानोंके महत्वपूर्ण भाषणोंसे जरूर लाभ उठावेंगे।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

अनेकान्तकी अगली किरण

वीर-शासन-जयन्तीके कार्यभारके कारण अनेकान्तकी अगली किरण बन्द रहेगी और उसकी पूर्ति ६ठी-७वीं किरण को संयुक्त निकाल कर की जावेगी। संयुक्त किरण अगस्त मासमें प्रकाशित होगी। पाठकगण नोट कर लेवें।

विलम्बका कारण

अनेकान्तकी इस किरणके प्रकाशनमें कोई दो सप्ताहका विलम्ब हो गया है, जिसका प्रधान कारण टाइटिल पेजका मुरारी फाइनआर्ट वर्क्स देहलीसे छपकर न आना है। छपने का आर्डर १ली जूनको दिया गया था और ७ ता० तक छाप कर भेजनेको लिखा गया था। अपने लिखे अनुसार काम देनेके आर्डरको स्वीकार करते हुए मुरारी प्रेसने ता० ३ को यहां तक लिखा था "कि आपका कार्य प्रारम्भ कर दिया गया है" परन्तु फिर बादको नहीं मालूम प्रेसमें क्या गड़बड़ी हुई जिससे न तो टाइटिल छपकर आया और न अपने पत्रों का उत्तर ही मिला। इस बीचमें कई बार बाबू पन्नालाल जी अग्रवालको देहली लिखना पड़ा, वे कई बार प्रेसमें गये टेलीफोन किया और जल्दी टाइटिल भेजनेकी प्रेरणा की, तब कहीं जाकर २४ जून को देहलीसे टाइटिलका पार्सल रवाना हुआ और २६ जूनको अपनेको मिला टाइटिलके इस विलम्बके कारण हमें जो भारी परेशानी उठानी पड़ी है उस का कुछ भी जिक्र न करते हुए हम अपने प्रेमी पाठकोंसे उस प्रतीक्षाजन्य कष्टके लिये क्षमा चाहते हैं, जो इस बीचमें उन्हें उठाना पड़ा है और बाबू पन्नालालजीको भी जो कष्ट उठाना पड़ा है, उसके लिये भी क्षमा-प्रार्थी हैं।

--प्रकाशक

मुद्रक और प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री, वीरसेवामन्दिर, सरसावाके लिये
श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तवके प्रबन्धसे श्रीवास्तव प्रिंटिंग प्रेस, सहारनपुरमें मुद्रित।

Registered No A 731

अनेकान्त
एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥
जै
नी
नी
ति
अनेकान्तात्मिका
गुणमुख्य-कल्पा
स्याद्वादरूपिणी
विविधनयापेक्षा
सप्तभंगरूपा
सम्यग्वस्तु-ग्राहिका
अनेकान्तात्मक
वस्तुतत्त्व
स्यात्
उभय तत्त्व
अनुभय तत्त्व
वर्ष ४
किरण ६-७
विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥
सम्पादक – जुगलकिशोर मुख्तार

विषय-सूची

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४) वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर (जुलाई-अगस्त

किरण ६-७ (श्रावण, भाद्रपद, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९८) १९४१

समन्तभद्रकी अर्हद्भक्तिका रूप

(उन्हींके शब्दोंमें)

> सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते ।
> हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ॥
> सुस्तुत्यां व्यसनं शिरोनतिपरं सेवेदृशी येन ते ।
> तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते ॥ —जिनशतक

'हे भगवन ! आपके मतमें अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाए हुए है—हृदयमें सदैव आपका ही स्मरण बना रहता है—, मैं पूजन—अनुकूल वर्तनादिरूपमें आराधन—भी आपका ही करता हूं, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाञ्जलि करनेके निमित्त हैं, मेरे कान आपकी ही गुणकथाको सुननेमें लीन रहते हैं—विकथाओंके सुननेमें कभी प्रवृत्त नहीं होते—, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती हैं—सदैव आपकी वीतराग विज्ञानमय छवि ही मेरी आँखोंके सामने घूमा करती है और मैं उसीका ध्यान किया करता हूँ—, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी सुन्दर स्तुतियोंके—देवागम, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र, स्तुतिविद्या जैसे स्तवनोंके—रचनेका है, और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमें तत्पर रहता है,—कुदेवोंके आगे वह कभी नहीं झुकता—; इस प्रकारकी चूंकि मेरी सेवा (भक्ति) है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन (भजनाऽऽराधन) किया करता हूं—इसी लिये हे तेजःपते ! (केवलज्ञानस्वामिन !) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूं, और सुकृती (पुण्यवान्) हूं।'

नेमिनिर्वाण-काव्य-परिचय

(ले०—पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य)

प्राचीन कवियोंमें 'वाग्भट' का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये मात्र कवि ही नहीं थे किन्तु अलंकार-शास्त्रके प्रौढ़ विद्वान् भी थे। इनकी सफल लेखनी-द्वारा लिखे गये 'वाग्भटालंकार' का जैन-अजैन दोनों समाजोंमें पर्याप्त प्रचार व सन्मान है। इन्हीं कविकी प्राञ्जल लेखनीसे 'नेमिनिर्वाण' काव्य भी लिखा गया है, जिसकी रचना अत्यन्त सुन्दर है। वाग्भटने 'नेमिनिर्वाण' काव्यके अनेक उदाहरण अपने वाग्भटालंकारमें उद्धृत किये हैं। नेमिनिर्वाण काव्य निर्णय-सागर प्रेस बम्बईसे प्रकाशित हो चुका है, इसमें १५ सर्ग हैं और सब मिला कर ६५८ पद्य हैं। इसमें बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान्का जन्मसे लेकर निर्वाण-मुक्ति प्राप्ति तकका जीवन चरित्र दिया गया है। यद्यपि नेमिनाथ स्वामीका जीवन-चरित्र नेमिपुराण तथा हरिवंशपुराण आदि में भी पाया जाता है परन्तु सरस-सुभग रीतिसे वर्णन करने वाला प्रायः यही एक महाकाव्य है।

यशस्तिलक, द्विसन्धान और पार्श्वाभ्युदय जैसे कुछ काव्य ग्रन्थोंको छोड़कर प्रायः सभी जैनसाहित्य और काव्यग्रन्थ संस्कृत टीकासे शून्य हैं। इसलिये आज-विकाशवादके समय भी उनका पर्याप्त प्रचार नहीं हो रहा है। हमारे समाजका ध्यान धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्रके ग्रन्थोंके प्रकाशनकी ओर अग्रसर हुआ है इस बातकी प्रसन्नता है, परंतु काव्य और व्याकरण शास्त्रके उत्तम प्रकाशनोंकी ओर उस का ध्यान बिल्कुल भी नहीं है यह देख कर अत्यन्त दुःख होता है! यदि निर्णयसागर प्रेस बम्बईके उदारमना मालिक पाण्डुरङ्ग जावजीने अपनी काव्यमालासे चन्द्रप्रभ, धर्मशर्माभ्युदय, यशस्तिलकचम्पू, द्विसन्धान आदि जैन काव्यग्रन्थो को प्रकाशित न कराया होता तो शायद ही वे ग्रन्थ इस समय हम लोगोंके दृष्टिगत होते।

यदि समस्त जैन काव्य और साहित्यग्रन्थोंके सटीक संस्करण प्रकाशित हो जावें तो उनका प्रचार अजैन यूनिवर्सिटियोंसे अनायास ही हो सकता है। तथा पढ़ने वाले जैन-अजैन छात्र भारी कठिनाईसे बच सकते हैं। संस्कृत भाषामें जैन छात्रोंकी अव्युत्पत्तिका मुख्यकारण काव्यग्रन्थो की टीकाका अभाव भी माना जा सकता है। प्रायः सभी विद्यालयोंके अध्यापक हिन्दी अर्थ बता कर काव्यग्रन्थोंकी पढ़ाई समाप्त कर देते हैं। समास, अलंकार, रस, ध्वनि छन्द आदिकी तरफ उनकी दृष्टि नहीं जाती। यदि कोई परिश्रमी अध्यापक इन सब विषयोंको बतलाता भी है तो बिना आधारके छात्रगण उसकी धारणा नहीं रख पाते, इस लिये अध्यापकका परिश्रम व्यर्थ होता है। आज जैनसमाज में अनेक साहित्याचार्य तथा काव्यतीर्थ विद्वान् विद्यमान हैं, जो साहित्य विषयके प्रौढ़ विद्वान् माने जा सकते हैं, उनकी लेखनीसे समस्त काव्यग्रन्थोंकी टीकाएं बनवाई जा सकती हैं, परन्तु उनके प्रकाशनके लिये कोई संस्था अग्रसर नहीं हो रही है। जिन संस्थाओंका प्रयोजन सिर्फ पैसा प्राप्त करना है उन संस्थाओंसे तो इनके प्रकाशनोंकी आशा रखना व्यर्थ है; क्योंकि वर्तमानमें उन ग्रन्थोंकी बिक्री कम होती है, जिससे प्रकाशकोंका पैसा उनमें रुक जाता है। हां, किन्हीं निःस्वार्थ संस्थाओंसे, जिनका उद्देश्य पैसा कमानेकी अपेक्षा प्रचार ही अधिक हो, यह काम हो सकता है। साधारण जनतामें प्रचार हो इस खयालसे हिन्दी टीकाएं भी साथ में दे दी जावें तो अधिक प्रचार हो सकता है। क्या कोई संस्था इस आवश्यक कार्यकी तरफ अपनी दृष्टि डालेगी?

आज बाजारमें मेघदूतकी २५-३० टीकाएं बिक रही है परन्तु 'पार्श्वाभ्युदय' को कौन जानता है? वर्षों पहिले बम्बईसे उसका एक सटीक संस्करण प्रकाशित हुआ था जो कि बहुत अशुद्ध छपा हुआ है। 'विक्रान्तकौरव' कितना सुन्दर नाटक है परन्तु उसका प्रचार अत्यन्त अल्प है। उसका एक संस्करण माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ है परन्तु वह भी अशुद्ध है। 'अलंकारचिन्तामणि' नवीन और प्राचीन शैलीका संमिलित लक्षणग्रन्थ है, परन्तु

वह कितना अशुद्ध और असंस्कृत हो कर छपा है इसे कौन नहीं जानता? अच्छे २ विद्वान् भी उसके पढ़नेसे मुंह मोड़ते हैं। 'गद्यचिन्तामणि' क्या 'कादम्बरी' से कम है? 'धर्मशर्माभ्युदय' क्या 'शिशुपालवध' से बढ़ कर नहीं है? और क्या 'यशस्तिलकचम्पू' दुनियाके समस्त काव्यग्रन्थों में बेजोड़ नहीं है? 'चन्द्रप्रभचरित' 'किरातार्जुनीय' से सुन्दर है तथा 'नेमिनिर्वाण' भी बहुत सुन्दर काव्य है, फिर इसका सातवां सर्ग तो सर्वथा मौलिक और मनोहर है।

मैंने, कुछ वर्ष पहले, नातेपोतेसे निकलने वाले शान्तिसिन्धुमें महाकवि हरिचन्द्ररचित 'धर्मशर्माभ्युदय' के सरस और गम्भीर श्लोकोंका परिचय प्रकाशित कराया था जो लगातार कई अंकोंमें प्रकाशित हुआ था। उसके प्रकाशन का मात्र यही उद्देश्य था कि समाज उसकी महत्ताको समझ कर उसके प्रकाशनकी ओर आकृष्ट हो। उसी उद्देश्यको लेकर आज अनेकान्तके पाठकोंके सामने 'नेमिनिर्वाण' काव्यके कुछ श्लोकोंका परिचय रख रहा हूँ। आशा है उससे पाठकोंका कुछ मनोरंजन होगा और इस तरह वे उसके रचयिता वाग्भट महाकविके वैदुष्यसे कुछ परिचित हो सकेंगे।

प्रथम सर्गमें भगवान् पुष्पदन्तका स्तवन करते हुए महा कविने लिखा है—

भूरिप्रभानिर्जितपुष्पदन्तः करायतिन्यक्कृतपुष्पदन्तः।
त्रिकाल वागतपुष्पदन्तः श्रेयांसि नो यच्छतु पुष्पदन्तः॥

'जिनके दाँतोंने अपनी विशाल प्रभासे पुष्पोंको जीत लिया है, जिनके हाथोंकी लम्बाईने पुष्पदन्त[1] (दिग्गज) को—उसके शुण्डादण्डको—तिरस्कृत कर दिया है और जिनकी सेवामें पुष्पदन्त[2]—सूर्यचन्द्रमा—त्रिकाल उपस्थित होते हैं वे पुष्पदन्त भगवान् हम सबको कल्याण प्रदान करें।'

इस श्लोकमें 'पादान्तयमक' अलंकार कितना स्पष्ट है? शब्दालंकारकी अपेक्षा अर्थालंकारका मूल्य अधिक अवश्य है परन्तु शब्दालंकारकी रचनामें कविको जितनी कठिनाईका अनुभव करना पड़ता है उतनी कठिनाईका अनुभव अर्थालंकारकी रचनामें नहीं करना पड़ता। प्राचीन साहित्यकारोंने अर्थालंकारके साथ शब्दालंकारका भी खूब वर्णन किया है; परन्तु नवीन साहित्यकारोंने शब्दालंकारको काव्यान्तर्गडुभूततया—काव्यके अन्दर गलगण्डके समान निःसार होनेके कारण उपेक्ष्य बतलाया है। इसका मुख्य कारण रचना-काठिन्य ही प्रतीत होता है; क्योंकि अलंकार का मुख्य उद्देश्य विच्छित्ति—चमत्कार द्वारा काव्यको अलंकृत करना होता है, जो कि शब्दालंकारमें भी संनिहित रहता है। वाग्भट कवि जिस प्रकार अर्थालंकारोंकी रचनामें सिद्धहस्त थे उसी प्रकार शब्दालंकारोंकी रचनामें भी सिद्ध हस्त थे। यही बात है कि उन्होंने अपने अलंकार ग्रन्थमें यमकालंकारका खूब वर्णन किया है और विशेषता यह है कि उसके प्रायः समस्त उदाहरण निजके ही दिये हैं।

भगवान् श्रेयांसनाथके स्तवनमें श्रेयांसनाथ और गरुड़का श्लेष देखिये कितना सुंदर है:—

सुवर्णवर्णद्युतिरस्तु भूत्यै,
श्रेयान् विभुर्वो विनताप्रसूतः।
चक्रेऽन्तरं यो सुगतिं ददानो,
विष्णोः सदा नंदयति स्म चेतः॥ ११॥

"जिनके शरीरकी कांति सुवर्णके समान उज्वल थी, जो भक्त पुरुषोंको स्वर्ग अपवर्ग आदि उत्तम गतिको देने वाले थे, तथा जो स्व-समानकालिक नारायणके चित्तको हमेशा प्रसन्न किया करते थे—हितका उपदेश देकर आनंदित किया करते थे—, वे विनतामाताके पुत्र श्रेयांसनाथ स्वामी तुम सबकी विभूति—केवल ज्ञानादि सम्पत्ति—के लिये हों—उनके प्रसादसे तुम्हें विभूतिकी प्राप्ति होवे।"

श्लोकका प्रकृत अर्थ ऊपर लिखा जा चुका है, अब अप्रकृत अर्थ देखिये, जो श्लोकगत प्रत्येक शब्दोंके प्रायः द्व्यर्थक होनेसे स्वयमेव प्रकट हो जाता है। संस्कृत साहित्यमें विनता सुतका दूसरा अर्थ गरुड़ प्रसिद्ध है। अजैन समाजमें प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण गरुड़ पक्षीके ऊपर यान—सवारी किया करते थे तथा जैन समाजमें भी श्रीकृष्णको गरुड़वाहिनी विद्याका उपयोग करने वाला माना है। विष्णुका अर्थ श्रीकृष्ण संस्कृतके समस्त कोशोंमें प्रसिद्ध है। इस तरह श्लोकका दूसरा अप्रकृत अर्थ नीचे लिखे अनुसार हो जाता है—

"जिसके शरीरकी आभा सुवर्णके समान पीतवर्ण है,

---

१ 'पुष्पदन्तस्तु दिङ्नागे जिन-भेदे गणान्तरे' इति हेमः
२ 'पुष्पदन्तौ पुष्पवन्तावेकोक्त्या शशिभास्करौ' इति हैमः

जो विभु है--वि-पक्षियोंसे भु-उत्पन्न है, श्रेयान्-कल्याण रूप है तथा उच्चैस्तरां--अत्यंत ऊँचे आकाशमें सुन्दर गमनको देता हुआ--विष्णु--श्रीकृष्णके चित्तको हमेशा आनंदित करता है वह विनतासुत-वैनतेय-गरुड़ तुम सब को भूतिका देने वाला हो।"

यद्यपि जैनसिद्धांतके अनुसार गरुड़से विभूति प्राप्तिकी इच्छा करना असंगत मालूम होता है तथापि वर्णनकी संगति जैनेतर मान्यताओंके अनुसार हो सकती है। कवि लोग अपने काव्योंमें वही लिखते हैं जो कि कवि-सम्प्रदायमें--काव्यजगत्में प्रसिद्ध होता है। धार्मिक मान्यताओंकी ओर उनका विशेष लक्ष्य नहीं रहता।

विमलनाथका स्तवन लिखते हुए कविने लिखा है--

वन्दामहे पादसरोजयुग्ममन्तः कृपालोर्विमलस्य तस्य।
यश्चापपष्ट्या कलिताङ्ग यष्टिस्तथापि पार्श्वस्थितकोलराजः

"मैं उन दयालु विमलनाथ भगवान्के दोनों चरण कमलोंकी वंदना करता हूँ जिनका शरीर यद्यपि साठ धनुष से सहित था तथापि उसके पास शूकरराज विद्यमान रहता था।"

यहाँ कविने विमलनाथ स्वामीको अंत: कृपालु--दया से पूर्ण हृदयवाला बतलाया है उसका उत्तरार्धमें कितना अच्छा विवरण किया है--भगवानका शरीर एक, दो, नहीं किंतु साठ धनुषोंसे सहित था--शिकारके पर्याप्त साधनोंसे सहित था और मारने योग्य शूकर भी पास ही विद्यमान रहते थे फिर भी वे किसीकी शिकार नहीं करते थे। उनका शरीर धनुषोंसे सहित होने पर भी इतना सौम्य-सुहावना बन चुका था कि शूकर आदि भीरु प्राणी भी उनके पास, पास ही नहीं किन्तु शरीरसे संगत होकर भी भयका अनुभव नहीं करते थे।

इस श्लोकका वर्णनीय वृत्त सिर्फ इतना है --

'मैं उन विमलनाथ स्वामीके चरणोंकी वंदना करता हूं जिनका शरीर साठ धनुष ऊँचा था और शूकरके चिह्न से चिह्नित था।' परंतु कविने उसे जिस रोचक ढंगसे प्रकट किया है उसे देखते ही बनता है। सुन्दर अलंकार धारण करने पर किसी अल्हड़-गौराङ्ग-ग्रामीण युवतीके शरीरकी आभा जिस तरह चौगुनी होजाती है उसी तरह अलंकारसे अलंकृत होनेके कारण इस मामूलीसे वृत्तकी शोभा कई गुणी अधिक हो गई है।

शांतिनाथ तीर्थंकरसे शांतिकी प्रार्थना करते हुए कविराज क्या लिखते हैं? देखिये--

शान्तिं स वः शान्तिजिनः करोतु,
विभ्राजमानो मृगलाञ्छनेन
शशीव विश्वप्रमदैकहेतु-
र्यः पापचक्रव्यथको बभूव ॥ १६ ॥

वे शांतिनाथ भगवान् तुम सबको शांति करें--अशांति उत्पादक राग-द्वेषको नष्ट कर वीतरागभाव प्राप्त करनेमें सहायक हों--जो कि चंद्रमाकी तरह मृगरूप चिह्नसे सहित हैं, समस्तसंसारके कल्याणकारण हैं और पापसमुदाय को--अशुभ कर्मोंके समूहको नष्ट करने वाले हैं। (पक्षमें) पापी चकवाक पक्षीको दुःख देने वाले हैं--प्रेयसी-चकवाकीसे वियुक्त कर दुःख पहुँचाने वाले हैं'।

जैन शास्त्रोंमें भगवान् शान्तिनाथके हरिणका चिन्ह माना गया है और चन्द्रमा मृगाङ्क (हरिणाङ्क) मृग-चिन्ह से सहित प्रसिद्ध है ही। जिस तरह चन्द्रमा बाल-वृद्ध-युवा सभीको आह्लादकाका कारण है उसी तरह भगवान् शान्तिनाथ भी संसारगत जीवोंको आह्लादके कारण थे; जिस तरह चन्द्रमा पापी चकवोंको उनकी प्रिय चकवियोंसे जुदा कर दुखी करता है (क्यों कि रातमें चकवा-चकवियोंका विरह हो जाता है) उसी तरह शान्तिनाथ भगवान् भी पापचक्र--पापोंके समूहको व्यथित्--नष्ट करने वाले थे। इस प्रकार इस श्लोकमें चन्द्रमा और शान्तिनाथमें उपमान-उपमेय-भाव होनेसे उपमालंकार स्पष्ट हो जाता है। मृगलाञ्छन और पापचक्रका श्लेषरूपक उसको भारी अवलम्बन पहुँचाता है।

अठारहवें तीर्थंकर अरनाथका स्तवन करते हुए कविने श्लेषानुप्राणित विरोधाभास अलंकारका कितना सुन्दर उदाहरण बनाया है। देखिये--

अराय तस्मै विजितस्मराय,
नित्यं नमः कर्मविमुक्तिहेतोः।
यः श्रीसुमित्रातनयोऽपि भूत्वा,
रामानुरक्तो न बभूव चित्रम् ॥ १८ ॥

"कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेके उद्देश्यसे मैं कामव्यथा को जीतने वाले उन अरनाथ स्वामीको नमस्कार करता हूं जो सुमित्राके तनय—लक्ष्मण—होकर भी रामचन्द्रजीमें अनुरक्त नहीं हुए थे यह आश्चर्यकी बात है! [परिहार पक्षमें—सुमित्रा माताके पुत्र होकर भी रामाओं—स्त्रियोंमें अनुरक्त नहीं हुए थे]।

लक्ष्मण रामचन्द्रजीमें कितने अनुरक्त थे—उनके कितने भक्त थे? यह रामायण या जैन पद्मपुराण देखने वाले अच्छी तरह जानते हैं परन्तु कविने यहां उन दोनोंमें अनुरक्तिका अभाव बतलाया है जिससे विरोधाभास अलंकार अत्यन्त स्पष्ट हो गया है सुमित्रा और राम-रामा शब्दों के श्लेषसे विरोधालंकारकी शोभा अत्यन्त प्रस्फुटित हो उठी है।

विरोधाभास अलंकारका दूसरा नमूना भी देखिये—

तपः कुठार-क्षत-कर्मवल्लि—
मल्लिर्जिनो वः श्रियमातनोतु।
कुरोः सुतस्यापि न यस्य जातं,
दुःशासनत्वं भुवनेश्वरस्य॥ १९॥

'तप रूप कुठारके द्वारा कर्मरूप बेलको काटने वाले वे मल्लिनाथ भगवान् तुम सबकी लक्ष्मीको विस्तृत करें जो कुरुराजके पुत्र होकर भी दुःशासन नहीं थे, (पक्षमें) दुष्टशासन वाले नहीं थे।'

मल्लिनाथ भगवान् कुरुराजके पुत्र तो थे परन्तु दुःशासन नहीं थे यह विरोध है जिसका बादमें परिहार हो जाता है। मल्लिनाथ स्वामीके पिताका नाम भी कुरुराज था इसलिये वे कुरुराजके पुत्र तो कहलाये परन्तु दुःशासन नहीं थे—उनका शासन दुष्ट नहीं था—उनके शासनमें सभी जीव सुख शान्तिसे रहते थे। यहाँ, तप और कुठार, तथा कर्म और वल्लिका रूपक एवं वल्लि और मल्लिका अनुप्रास भी दर्शनीय है। (क्रमशः)

आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्रीका सन्देश

[वीरसेवामन्दिरमें वीरशासन-जयन्तीके अवसर पर प्राप्त और पठित]

"भगवान महावीरने लगभग पच्चीस सौ वर्ष पूर्व जिस परिस्थितिमें अपना उपदेश दिया था आज संसारकी परिस्थिति बहुत कुछ वैसी ही हो रही है। उस समय अनार्य देशोंमें सभ्यताका प्रादुर्भाव नहीं हुआ था एवं आर्यदेश भारतवर्षमें हिंसाका पूर्ण साम्राज्य था। उस समय भारतवर्ष में वेदोंके नाम पर अनेक हिंसामयी यज्ञयाग किये जाते थे जिससे क्षत्रियोंकी स्वाभाविक कठोरता क्रमशः उनके हृदयों से दूर होकर ब्राह्मणोंके हृदयोंमें प्रविष्ट कर गई थी और ब्राह्मणोंके हृदयोंकी स्वाभाविक कोमलता-क्षत्रियोंके हृदयोंमें घर बना चुकी थी, इसी लिये क्षत्रियोंके अन्दरसे ब्राह्मणोंके हिंसामयी यज्ञ-याग एवं उनकी समाज व्यवस्थाके विरुद्ध इतना भयंकर आन्दोलन किया गया कि अन्तमें भगवान महावीर स्वामीने उन हिंसामयी यज्ञ-यागोंको पूर्णतया बंद कराकर उस सामाजिक व्यवस्थाको भी उलट दिया।

आज योरुपका महासंग्राम तमाम विश्वमें फैल चुका है। भारतवर्षके दोनों कोने अदन और सिंगापुर भी उससे अछूते नहीं बचे हैं। महात्मागांधीने युद्धके आरम्भमें ही हिटलर और मिस्टर चर्चिल दोनोंसे अनुरोध किया था कि वे अपनी अपनी समस्याओंको अहिंसा द्वारा सुलझालें, किंतु रक्तके प्यासोंके कानों पर उस समय जूं तक न रेंगी। मेरा विश्वास है कि संसारमें स्थायी शान्ति केवल अहिंसात्मक आन्दोलन द्वारा ही की जा सकती है। महात्मागांधीके अनुरोधके ठुकराए जानेसे यह स्पष्ट है कि उनकी बातके ठीक होने पर भी उनमें तपकी कमी है, यदि महात्मागांधीमें तपकी कमी न होती तो मिस्टर चर्चिल या हिटलर दोनोंमेंसे किसीको भी उनका अनुरोध टालनेका साहस न होता। आज भगवान महावीरकी शासन-जयन्तीके अवसर पर हमको इस बातकी आवश्यकता है कि हम उन भगवानके अहिंसाधर्मकी पूर्ण प्रतिष्ठा अपनी आत्मामें करें। यदि हम यह कर सके तो निश्चयसे हम वह काम कर सकेंगे जो महात्मागांधीके किये भी न हो सका, और उस समय तमाम संसारमें भगवान महावीर स्वामीकी जयके साथ साथ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का दृश्य उपस्थित होगा।"

निश्चय और व्यवहार

(ले० ब्र० छोटेलाल जैन)

पदार्थ अनन्त धर्मात्मक है, उसका ज्ञान प्रमाण और नयोंके द्वारा ही होता है। जो पदार्थके सर्वदेश को कहे—जनावे उसे 'प्रमाण', और जो पदार्थके एक देशको कहे—जनावे उसे 'नय' कहते हैं। वे नय दो हैं—एक निश्चय, दूसरा व्यवहार। निश्चय नय वस्तुके किसी असली अंशके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको, तथा व्यवहार नय किसी निमित्तके वशसे एक पदार्थ को दूसरे पदार्थरूप जानने वाले ज्ञानको कहते हैं। पदार्थ और वचनका वाच्य वाचक सम्बन्ध होनेसे वचनको भी उपचारसे नय कहा है। इन दोनों नयों के उपदेशको ग्रहण करनेके लिये नीचेकी गाथा बड़ी मार्मिक है—

जो जिणमयं पविज्जह, तो मा ववहार-णिच्छयं मुंच।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण तच्चं च॥

अर्थात्—यदि तू जिनमतमें प्रवर्तन करता है तो व्यवहार और निश्चयको मत छोड़। यदि निश्चयका पक्षपाती होकर व्यवहारको छोड़ देगा, तो रत्नत्रयस्वरूप धर्मतीर्थका अभाव हो जायगा और व्यवहारका पक्षपाती होकर निश्चयको छोड़ देगा, तो शुद्ध तत्त्व स्वरूपका अनुभव होना दुस्तर है। इसलिये पहले व्यवहार तथा निश्चयको अच्छी तरह जान लेना पश्चात् यथायोग्य अंगीकार करना।

मुनि-श्रावकाचार प्रवृत्तिरूप शुभोपयोगको जो धर्म कहा है वह वास्तवमें साक्षात् धर्म नहीं, धर्मका कारण है। कारणमें कार्यका उपचारकर व्यवहार नय से उसे धर्म कहा है। निश्चयसे शुद्ध धर्म रागादि रहित (वीतराग) केवल निवृत्तिरूप आत्माका शुद्धोपयोग परिणाम ही है और वही सर्वथा उपादेय है।

प्रश्न—शुभोपयोग आस्रव और बंधस्वरूप, तथा शुद्धोपयोग संवर और निर्जरास्वरूप है, फिर उनका कारण कार्य कैसा?

उत्तर—शुभोपयोग अशुभोपयोगके समान शुभोपयोगका बाधक नहीं, यदि शुभोपयोगी जीव पुरुषार्थ करे तो शुद्धोपयोग प्राप्त कर सकता है। तथा वह शुद्धात्माओंका सांकेतिक भी है। यही कारण है कि उसे शुद्धोपयोगका उपचारसे कारण कहा है। शुद्धोपयोग प्राप्त करनेका मार्ग शुभोपयोग ही है। श्री पूज्यपाद स्वामीने समाधितंत्रमें कहा है—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं, व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी, व्रतान्यपि ततस्त्यजेत्॥

अर्थात्—अव्रतोंसे पाप, और व्रतोंसे पुण्य, तथा दोनोंके अभावसे मोक्ष होता है। अतः मोक्षार्थीको अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ना चाहिये। किन्तु उनके छोड़नेका क्रम बताते हुए कहते हैं—

अव्रतानि परित्यज्य, व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य, परमं पदमात्मनः॥

अर्थात्—पहले अव्रतोंको त्यागकर व्रतोंमें निष्ठित होना, पश्चात् व्रतोंको भी छोड़कर परमात्मपदमें स्थित होजाना चाहिये।

अव्रतोंकी तरह व्रत छोड़े नहीं जाते, किन्तु छूट जाते हैं। शुद्धोपयोग प्राप्त होने पर शुभ विकल्पोंका भी अभाव होजाता है, यही उनका छूटना है।

वचन और कायके व्यापारका विषयोंसे निवृत्त

होना बाह्य (द्रव्य) चारित्र, और मन (आत्मा) का रागादि कषायोंसे निवृत्त होना आभ्यंतर (भाव) चारित्र है। बाह्य चारित्र होने पर आभ्यंतर चारित्र होता ही है ऐसा नियम तो नहीं है। किन्तु आभ्यंतर चारित्र होने पर बाह्य चारित्र अवश्य होता है यह नियम है।

जिस तरह केवल बाह्य चारित्रको ही मोक्षका कारण मानना मिथ्या है, उसी तरह उसे सर्वथा कारण न मानना भी मिथ्या है।

अव्रतसम्यग्दृष्टि जीव चारित्रमोहोदयके वश उपरितन गुणस्थान चढ़नेकी अशक्तिके कारण अशुभसे रक्षा करने तथा शुद्धोपयोग रूप ध्येयकी प्राप्तिके लिये शक्ति संचय करनेका साधन समझ, अपद जानता हुआ भी, शुभमें ठहर जाता है। किन्तु उसके आशय में उपादेयता नहीं। अतः शुभाचार सर्वथा मिथ्या नहीं, उसे उपादेय मानना मिथ्या है।

धान्य पैदा करनेके लिये खेत जोतना, कचरा निकालना, खाद्य और पानी देना, बाड़ लगाना आदि सब बाह्य साधन हैं; किन्तु अंकुर बीजमें ही उत्पन्न होगा. इन साधनोंमें नहीं। तो भी इन साधनोंके बिना—कोठीमें रक्खे हुए धान्यसे ही अंकुरोत्पत्ति नहीं हो सकती।

पलाल होकर धान्य न भी हो, किन्तु धान्य बिना पलालके नहीं होगा। उसी तरह बिना शुभोपयोगके शुद्धोपयोग होना भी असंभव है।

श्रीअकलंकदेवने स्वरूपसम्बोधनमें रत्नत्रयका स्वरूप वर्णन करनेके बाद कहा है—

तदेतन्मूलहेतोः स्यात्कारणं सहकारकम्।
तद्बाह्यं देशकालादि तपश्च बहिरङ्गकम्॥

अर्थात्—मोक्षका मूल कारण रत्नत्रय और सहकारी कारण बाह्य देश-कालादि या बाह्य तप समझने चाहियें। अतएव बिना उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

जो अज्ञ मानव व्रत-शील संयमादि शुभोपयोग (पुण्य) रूप व्यवहार धर्मको अशुभकी तरह बन्धजनक सर्वथा हेय समझते हुए, उसे त्यागकर स्वेच्छाचारी विषयासक्त होकर, अव्रत (पाप) रूप प्रवृत्ति करते हैं वे जीव मानों जीवन-रक्षणके हेतु स्वास्थ्यप्रद कड़वी औषधिको त्यागकर प्राणनाशक मीठा हलाहल पान करते हैं।

श्रीअमृतचन्द्राचार्यने इस विषयमें समयसारके कलशमें अच्छा कहा है—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं,
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः॥

अर्थात्—जहाँ प्रतिक्रमण (दोषोंका शुद्धिरूप 'पुण्य') को भी 'विष' कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण (सदोषावस्थारूप 'पाप') 'अमृत' कैसे हो सकता है। अतः हे भाई! प्रमादी होकर नीचे नीचे क्यों गिरता है? निष्प्रमादी होकर ऊँचा ऊँचा क्यों नहीं चढ़ता?

इसी विषयको श्री पं० भागचन्द्रजीने अपने एक पदमें यों दर्शाया है—

परिणति सब जीवनकी तीन भाँति बरनी।
एक पुण्य, एक पाप, एक राग हरनी॥ १॥ टेक॥
तामें शुभ अशुभ अन्ध, दोय करैं कर्म बन्ध।
वीतराग परिणति ही भवसमुद्र-तरनी॥ २॥
जावत शुद्धोपयोग, पावत नाहीं मनोग।
तावत ही करन जोग पुण्य करनी॥ ३॥
त्याग शुभ क्रिया कलाप, करो मत कदाच पाप।
शुभमें मत मगन हो, न शुद्धता बिसरनी॥ ४॥
ऊँच ऊँच दशा धार, चित प्रमादको बिडार।
ऊँचली दशा तैं मत गिरो अधो धरणी॥ ५॥
भागचन्द्र या प्रकार, जीव लहैं सुख अपार।
याके निरधार स्याद्वादकी उचरनी॥ ६॥

लिखनेका आशय यही है कि शुभाचारका तब तक अवश्य ही पालन करते रहना चाहिये, जब तक कि निश्चय नयके अनुसार वह धर्मरूप अवस्था सिद्ध न होजाय जो आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें बतलाई गई है।

———

किसको कहें—'हमारा है !'

[ले०—श्री 'भगवत्' जैन]

ज़्यादह अपने जीवनसे भी,
हम जिनकी खैर मनाते हैं !
जिस शिशुको अपना कह-कह कर,
हम फूले नहीं समाते हैं !
शादी होकर आते-आते, वह भी होजाता न्यारा है !
हम किसको कहें—'हमारा है !'

जब तक रहती कुछ स्वार्थ-गंध,
साथी अनेक दिखलाते हैं !
मिटते ही उसके देखा है—
'तनहा' अपनेको पाते हैं !
वे वफ़ादार प्रेमी भी सब, कर जाते कहीं किनारा है !
हम किसको कहें'—हमारा है !'

पैसा मुट्ठीमें है तब तक,
कहते-'हम सभी तुम्हारे हैं !'
मुट्ठी खुलते ही बनजाते,
सब हृदय-हीन, हत्यारे हैं !!
हम जिसे मानते 'अपना' थे, रे ! वही चलाता आरा है !
हम किसको कहें—'हमारा है !'

जब साथ जवानी थी इसके,
सोलह-आने था अपना 'तन' !
अब आज बुढ़ापा आया तो,
इसको भी सूझा परिवर्तन !!
तब यह घर-भर का पोषक था, अब लाठी इसे सहारा है !
हम किसको कहें—'हमारा है !'

ख़िदमत इसकीमें लगे रहे, अनजाने भी तकलीफ़ न दी !
उलटी एहसान - फ़रामोशी, या करता है यह आज बदी !!
निर्मोही आँखें फेर रहा, जब बजा कूँच-नक्क़ारा है !—हम किसको कहें'—हमारा है !

वीरकी शासन-जयन्ती

वीरकी शासन-जयन्तीका सुखद शुभ समय आया !
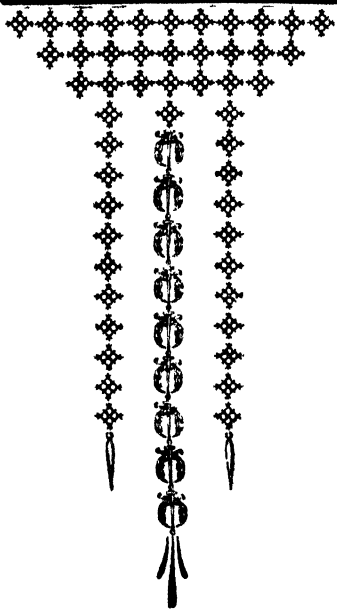
प्रबल अत्याचार, पापाचारका था भार भूपर,
भूलकर सत्पथ, कुपथपर चल रहे थे जब सभी नर ;
सुजन भी हिंसा-कुचालीकी कुटिलतामें फँसे थे,
और नेता नामकी लिप्सा-दुराशामें धँसे थे।

पीड़ितों, पतितों, अछूतोंके लिये जब था न साया !
तब अहिंसा धर्मका उस वीरने पादप लगाया !!

जीव, थिर-जंगम सभीका हितभरा जो तीर्थ पावन,
धन्य है यह वीरका सन्देश वाहक मास सावन ;
ज्ञानकी वर्षा हुई, विज्ञानकी आई हवाएँ,
फैल फिर संसार-उपवनमें गई विद्या-लताएँ।

तृषित, आकुल प्राणियोंको शांतिमय मृदु-पय पिलाया !
और फिर लाकर उन्हें आचार-आसन पर बिठाया !!

न्याय भी अन्यायके ही पक्षमें जब बोलता था,
घोर हिंसा-विष, अहिंसा-सुधा-रसमें घोलता था ;
सबल, निर्बलको हड़पनेमें न था संकोच लाता,
सोरहे थे सब पड़े तब, कौन फिर किसको जगाता ?

दूर कर तमको प्रभाकर वीरका सु-विकास छाया !
वीरकी शासन-जयन्तीका सुखद शुभ समय आया !!*

श्री पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

* यह कविता ६ जुलाईको वीरसेवामंदिरमें उत्सवके समय पढ़ी गई।

तामिल भाषाका जैनसाहित्य

[मूललेखक—प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ए० आई० ई० एस०]
(अनुवादक—सुमेरचन्द्र जैन दिवाकर, न्यायतीर्थ, शास्त्री, बी० ए०, एल-एल० बी०)

[गत किरण से आगे]

व्यापारीने अपनी कन्याका विवाह इस डाकूके साथ कर दिया। उस स्त्रीने अपने पतिके प्रेमको स्वाधीन करनेका निश्चय किया। उसी समयसे वह सम्पूर्ण आभूषणोंसे अपने आपको सुसज्जित करने लगी थी, वह अपने पतिके लिए स्वयं भोजन बनाती थी। कुछ दिनके बीतने पर उस डाकूने अपने मनमें सोचा, 'मैं कब इस स्त्रीको मार सकूँगा, इसके जवाहरातोंको ले सकूँगा, उन्हें बेच सकूँगा और इस तरह किसी खास सरायमें भोजन करनेके योग्य हूंगा? अच्छा! इसका यह मार्ग है।'

यह सोचकर वह अपने बिस्तरपर लेट गया, और उसने भोजन करनेसे इन्कार कर दिया। वह उसके पास आई और पूछने लगी 'क्या आपको कोई पीड़ा है?' उसने उत्तर दिया बिल्कुल नहीं।' स्त्रीने कहा, 'तब क्या मेरे माता-पिता आप पर नाराज़ होगए?' 'नहीं प्रिये! वे मुझ पर अप्रसन्न नहीं हैं', उसने कहा। पत्नीने पूछा 'तब फिर क्या बात है?' उसने कहा 'प्रिये! उस दिन जब मैं बन्धनबद्ध होकर नगर मेंसे लेजाया गया था, तब मैंने डाकुओंकी चट्टानपर अधिवास करने वाली देवीके समक्ष बलि चढ़ानेकी प्रतिज्ञा कर अपने प्राणोंको बचाया था। उसीकी दैवीशक्तिके प्रसादसे मैंने तुम्हें अपनी पत्नीके रूपमें प्राप्त किया। मैं इस विचारमें था, कि मैं देवीके आगे बलिदान करनेके बारेमें कीगई अपनी प्रतिज्ञा का किस प्रकार पालन करूँगा? उसने कहा 'नाथ! आप चिन्ता न कीजिये; मैं बलिदानकी व्यवस्था कर लूँगी।' कहिये! क्या आवश्यकता है? डाकूने कहा 'मधुमिश्रित चावलका मिष्टान्न तथा लाजपुष्प-समन्वित पंच प्रकारके पुष्प चाहियें।' पत्नीने कहा 'नाथ! बहुत अच्छा, मैं भेटकी सामग्री तैयार किये लेती हूँ।'

पूजाकी सब सामग्रीको तैयार कर उसने अपने पतिसे कहा— आइये चलें।' पतिने कहा 'प्रिये! तुम्हारे कुटुम्बियों को पीछे ही रहना चाहिये। तुम बहुमूल्य वस्त्रोंको पहिनलो, बहुमूल्य मणियोंसे अपने आपको भूषित करो, और तब हम लोग आनन्दपूर्वक हँसते और क्रीड़ा करते हुए चलेंगे।' पत्नीने ऐसा ही किया। जब वे पर्वतकी तलहटीमें पहुँचे, तब डाकूने कहा 'प्रिये! अब यहांसे हम दोनों ही आगे जावें, हम बाकी साथियोंको एक गाडीमें वापिस भेज देंगे। तुम पूजाकी सामग्री वाले पात्रको अपने हाथमें लेलो और खुद लेकर चलो, पत्नीने वैसा ही किया।

डाकूने उसे अपनी भुजाओंमें पकड़ कर पर्वत पर चढ़ना शुरू किया और वे अन्तमें डाकुओंकी चट्टान पर पहुँच गये। इस पर्वत पर एक ओरसे ही चढ़ सकते थे, किन्तु दूसरी ओर एक सीधी चट्टान है, जिस परसे डाकू लोग नीचे फेंके जाते हैं, और भूतल पर पहुँचनेके पूर्व ही वे खण्ड खण्ड हो जाते हैं, इस कारण इसे 'डाकुओंकी चट्टान' कहते हैं। इस शैलके शिखर पर चढ़कर स्त्रीने कहा 'नाथ! बलि चढ़ाइये।' पतिने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसने पुनः पूछा 'नाथ! आप क्यों चुप हैं?' इस पर उस डाकूने कहा 'इस बलिकर्मसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैंने यहां बलिकी सामग्री सहित तुम्हें लानेमें छल किया है।' उसने पूछा 'तब आप मुझे यहां किस लिए लाए?' उस डाकूने कहा 'तुम्हारे प्राण हरण करनेको, तुम्हारे रत्नोंको लेनेको तथा भाग जानेको मैं तुम्हें लाया हूँ।'

मरणसे भीत होकर उसने कहा—'स्वामिन् ! मेरे रत्न और मेरा शरीर आपके ही हैं, आप इस प्रकार क्यों कहते हैं ?' उसने बारबार यह अभ्यर्थना की कि 'ऐसा मत कीजिये।' किन्तु उस डाकूका एक ही उत्तर था कि 'मैं तुमको मार डालूँगा।' उसने पूछा 'आखिर ! मेरे प्राण लेनेसे आपको क्या लाभ होगा ?' इन रत्नोंको ले लीजिये और मेरे प्राणोंकी रक्षा कीजिये। इसके बाद मुझे माताके समान मानना, अथवा नहीं तो मुझे अपनी दासी और अपने लिये सेवा करने वाली रहने देना। यह कहकर उसने एक पद्य पढ़ा जिसका भाव यह था—'इन स्वर्णके कड़ोंको लो, मणि जड़ित सारे आभूषण लो, मेरा सर्वस्व लेलो, और मेरा स्वागत करो, अथवा मुझे अपनी दासीके रूपमें पुकारो।'

यह सुनकर डाकूने उससे कहा—'तुम्हारे ऐसा करनेपर यदि मैं तुम्हें जीवित छोड़ दूंगा, तो तुम जाकर अपने माता-पितासे सब हाल कहोगी। अतः मैं तुम्हें मार डालूंगा। बस इतनी ही बात है। अब अधिक सन्ताप मत करो।' इसके बाद उसने इस भाव वाला पद्य पढ़ा—'अब तुम अधिक दुःखी मत होओ। अपनी चीज़ोंको शीघ्र ही बांध लो, अब तुम्हें बहुत काल तक जीवित नहीं रहना है, मैं तुम्हारा सर्वस्व हरण करूंगा। उस स्त्रीने अपने मनमें विचार किया 'कितना शरारती कृत्य है यह!' अस्तु, बुद्धिमत्ता पकाने और खानेकी चीज़ नहीं है, किन्तु उसका मतलब यह है कि लोग कार्य करनेके पूर्वमें सोच-समझकर काम करें। अच्छा, मैं इसके साथ निबटनेका मार्ग सोचूंगी। यह विचार कर उसने डाकूसे कहा—'प्राणनाथ ! जब उन लोगोंने डकैती करते हुए तुम्हें पकड़ा था और तुम्हें सड़कपरसे वे ले जा रहे थे, तब मैंने अपने माता-पितासे कहा था, उससे उन्होंने सहस्र मुद्राओंको लांच रूपमें देकर तुम्हें छुड़ाया था और तुम्हें अपने महलमें स्थान दिया। तबसे मैं तुम्हारी हितैषिणी रही हूं, आज मुझे आपकी पूजा करनेका अवसर प्रदान करने की कृपा कीजिये।' उस डाकूने कहा 'प्रिये ! बहुत अच्छा।' फिर वह चट्टानके कोनेके समीप खड़ा हो गया, ताकि वह स्त्री उसकी पूजा-वन्दना कर सके।

उस स्त्रीने डाकूके चारों ओर घूमकर तीन परिक्रमायें कीं। इस कार्यमें उसने डाकूको अपने दाहिने हाथकी ओर रखा था और चार स्थानोंमें उसे प्रणाम किया था। इसके अनन्तर उस स्त्रीने कहा 'नाथ ! यह अन्तिम अवसर है जब कि मैं आपका दर्शन करूंगी, अब आगे न आप मुझे देखोगे और न मैं आपको देखूंगी।' इतना कहकर उसने उसका आगे पीछेसे आलिंगन किया। पश्चात् उसके पीछे खड़ी होकर, जबकि वह चट्टानकी कली (किनार) के पास खड़ा था, उसने अपना एक हाथ उसके कंधे पर और दूसरा पीठ पर रखकर उसे चट्टान परसे नीचे ढकेल दिया। इस प्रकार वह डाकू पर्वतकी गहरी खाईमें गिरा और भूतल पर पड़ते ही टुकड़े टुकड़े हो गया। उस डाकूपर्वतके शिखर पर निवास करने वाली देवीने इन दोनोंके कार्योंका अवलोकन किया और उस महिलाका गुणगान करते हुए एक पद्य कहा, जिसका भाव यह था कि—'बुद्धिमता केवल पुरुषोंकी ही संपत्ति नहीं है। स्त्री भी बुद्धिमती होती है और वह यदा कदा उसका प्रदर्शन करती है।'

डाकूको चट्टानसे गिरानेके अनन्तर उस स्त्रीने अपने मनमें सोचा—अगर मैं घर जाऊंगी तो घरके लोग मुझसे पूछेंगे, तुम्हारा पति कहां है ? इसके उत्तरमें यदि मैं यह कहूं कि मैंने उसे मार डाला, तो वे अपने वचन-बाणोंसे मुझे छेद डालेंगे और कहेंगे 'हमने इस दुष्टको बचानेको सहस्रमुद्राओं की लांच दी और अब तुमने उसे मार डाला !' कदाचित् मैं यह कहूं कि 'वह मेरे रत्नोंके हेतु मेरा प्राण हरण करना चाहता था' तो लोग मेरा विश्वास नहीं करेंगे। अब तो घरसे मेरा सम्बन्ध समाप्त हो चुका।' उसने अपने जवाहरातोंको फेंक करके जङ्गलका रास्ता लिया और कुछ काल पर्यन्त पर्यटन

करके साध्वियोंके एक आश्रममें आ आश्रय लिया। उसने विनीत भावसे साध्वीको प्रणाम करके कहा 'भागिनी! मुझे अपने संघमें साध्वीके रूपमें स्थान दीजिये।' इससे उस साध्वीने उसको भिक्षुणी बना साध्वीके रूपमें अपने संघमें ले लिया।

जब वह साध्वी होगई, तब उसने पूछा 'भागिनी! आपके धार्मिक जीवनका ध्येय क्या है?' उसे बताया गया कि हमारे धार्मिक जीवनका उद्देश्य यह है, कि 'कसीनों' (Kasinas) के प्रयोग द्वारा आध्यात्मिक आनन्दकी वृद्धि की जाय अथवा धर्मके सहस्र नियमोंका स्मरण किया जाय।' उसने कहा 'पूज्य बहिन! आध्यात्मिक सुख तो मुझे नहीं प्राप्त हो सकेगा, किन्तु मैं धर्मके सहस्र नियमोंको अच्छी तरह याद कर सकूंगी। जब वह उन धर्मके नियमोंको याद कर चुकी तब उन्होंने उससे कहा— अब तुमने प्रवीणता प्राप्त करली है, तुम गुलाब और सेवोंसे (Rose and apple) परिपूर्ण भूमिमें पूर्णतया विचरण करो और ऐसे व्यक्तिको खोजो, जो तुम्हारे साथ प्रश्नोत्तर कर सके।

इस तरह उस संघकी साध्वियोंने एक गुलाब-सेबके पेड़की शाखाको उसके हाथोंमें देकर इन शब्दोंके साथ उसे विदा किया—'बहिन! जाओ, अगर कोई गृहस्थ तुम्हें प्रश्नोत्तरमें पराजित करदे, तो तुम उसकी दासी हो जाना। अगर कोई साधु पराजित करदे, तो उसके संघमें साध्वी बन जाना और अपना नाम 'गुलाब-सेब वाली साध्वी' रखना।' उसने तपोवनको छोड़कर एक स्थानसे दूसरे स्थानकी ओर प्रस्थान किया, वह जिस व्यक्तिको देखती उसीसे प्रश्न पूछती। उसके साथ प्रश्नोत्तरमें प्रतिद्वंद्विता करनेमें कोई भी समर्थ न हुआ। वास्तवमें उसे इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, कि जब लोग यह सुनते थे कि 'गुलाब-सेब वाली साध्वी' इधर आती है, तो वहांसे भाग खड़े होते थे।

किसी नगर अथवा ग्रामके भीतर भिक्षाके लिए प्रवेश करनेके पूर्व वह ग्राम-द्वारके समक्ष एक रेतका ढेर इकट्ठा कर उसमें अपने गुलाब-सेबकी शाखाको लगा दिया करती थी। इसके अनन्तर वह यह घोषणा करती थी कि—'जो कोई मेरे साथ प्रश्न-उत्तर करनेमें समर्थ हो वह अपने चरणोंके नीचे इस गुलाब-सेबकी शाखाको दाबे।' ऐसा कहकर वह ग्राममें प्रवेश करती थी। उस स्थानके पाससे आनेकी किसी की भी हिम्मत नहीं पड़ती थी। जब एक शाखा सूख जाती थी, तब वह दूसरी ताजी शाखा खोज लिया करती थी।

इस प्रकार विहार करते हुए वह सावट्ठी (श्रीवस्ती) पहुंची, वहां नगर द्वारके आगे वह शाखा लगाई और सदा की भांति अपना चेलेंज घोषित कर भिक्षाके लिये वह नगर में गई। कुछ नौजवान बालकोंका एक झुण्ड शाखाके चहुं ओर एकत्रित हो गया और इस बातकी प्रतीक्षा करने लगा कि अब आगे क्या होता है? इतनेमें महान् साधु सारिपुत्रने जो परिभ्रमण करके सुबहका आहार ले चुके थे और नगरसे बाहर जा रहे थे, उन बालकोंको शाखाके आस पास खड़ा हुआ देखा। और उनसे पूछा 'इसका क्या मतलब है?' बालकोंने साधुजीको बातें समझाईं। साधुने कहा 'बालको आगे जाओ और उस शाखाको अपने पैरोंसे रौंद डालो।' उन बालकोंने कहा 'पूज्यवर! हमें ऐसा करनेमें भय मालूम पड़ता है।' 'मैं प्रश्नोंका उत्तर दूंगा, तुम लोग आगे बढ़ो और शाखाको पद-दलित करो।' साधुके इन शब्दोंसे बालकों में उत्साहका संचार हो गया। उन्होंने तत्काल ही ज़ोरसे चिल्लाते हुए और धूलिको उड़ाते हुए उस शाखाको पद-दलित किया।

जब साध्वी लौटी तब उसने उनको बुरा भला कहा। वह बोली मैं तुम लोगोंके साथ प्रश्न-उत्तर नहीं करना चाहती। तुमने अपने पैरोंसे वृक्षकी शाखाको क्यों रौंदा? उत्तरमें उन बालकोंने कहा हमारे साधु महाराजने ऐसा करनेको कहा था। साध्वीने साधुसे पूछा 'महाराज! क्या

आपने उनको मेरी शाखाको पद-दलित करनेकी आज्ञा दी थी?' साधुने कहा 'हां बहिन!' तब उसने कहा 'मुझसे प्रश्नोत्तरोंमें प्रतिद्वंदिता कीजिये।' साधुने कहा 'बहुत अच्छा! मैं ऐसा ही करूंगा।'

जब संध्याकी वेला आई, तब वह भिक्षुणी प्रश्न करने के लिए साधुके आराम स्थल पर पहुंची। सारे नगरमें हलचल मच गई। लोग आपसमें कहने लगे 'चलो चलें, इन दोनों विद्वानोंका वार्तालाप सुनें। लोगोंने साध्वीके साथ नगरसे आचार्य श्रीके निवास स्थल तक पहुंचकर उन्हें प्रणाम किया और विनय पूर्वक वे एक ओर बैठ गये।

साध्वीने साधुसे कहा 'पूज्यवर! मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहती हूं?' साधुने कहा 'पूछिये।' तब उसने धर्म के सहस्र नियमोंको पूछा। साधुने ठीक ठीक उत्तर दिया। तब आचार्यने उससे पूछा 'तुमने केवल ये थोड़ेसे प्रश्न पूछे, क्या कुछ और पूछना है?' उसने कहा 'पूज्यवर! बस इतना ही पूछना है?' इस पर साधुने कहा 'तुमने तो बहुतसे प्रश्न पूछे, अब मैं तुमसे केवल एक ही प्रश्न पूछता हूं, क्या आप उत्तर देंगी। भिक्षुणीने कहा 'अपना प्रश्न कहिये।' आचार्य ने पूछा 'एक क्या है?' तब वह अपने मनमें कहने लगी 'यह प्रश्न है जिसका उत्तर देनेके योग्य मुझे होना चाहिये।' किन्तु उत्तर न जाननेसे उसने साधुसे पूछा 'महाराज वह क्या है?' आचार्यने कहा 'बहिन, यह तो बुद्धका प्रश्न है।' तब साध्वीने कहा 'महाराज! मुझे भी उत्तर बताइये।' इस पर साधुने कहा 'अगर तुम हमारे संघमें शामिल होगी तो मैं तुम्हें उत्तर बताऊंगा।' उसने कहा 'अच्छा, मुझे संघमें शामिल कीजिये।' साधु महाराजने साध्वियोंको सूचना दी और उसे संघमें भरती किया गया। जब वह संघमें शामिल करली गई तब उसने सब नियमोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा की। उसका नाम 'कुण्डलकेशी' रखा गया और कुछ दिनों के बाद वह दिव्य शक्तियोंसे विभूषित अर्हन् होगई।

'सभ्य-भवन' में इस घटना पर साधुओंमें विवाद छिड़ गया—'कुण्डलकेशीने धर्मका थोड़ा ही ज्ञान प्राप्त किया था फिर भी उसे संघमें स्थान मिलनेमें सफलता मिली। इसके सिवाय वह एक डाकूके साथ प्रचण्ड युद्ध करते हुए और उसे पराजित करते हुए यहां आई है।' इतनेमें आचार्य महाराज आये और उन्होंने पूछा "भिक्षुओ! यहां बैठे बैठे किस विषय पर विवाद कर रहे हो?" साधुओंने सब हाल कहा। इस पर गुरुदेव बोले—'भिक्षुओ! हम धर्मका निश्चय नहीं करते, मैंने थोड़ा अथवा बहुत धर्म सिखाया है। अर्थहीन सौ वाक्योंमें कोई विशेषता नहीं है, किन्तु धर्मका एक वाक्य अच्छा है। जो सब डाकुओं पर विजय प्राप्त करता है वह कुछ भी विजय लाभ नहीं करता, किन्तु जो अपनी आत्माका पतन करनेवाले डाकुओंको पराजित करता है, यथार्थमें उसीकी ही विजय है।' यहां प्रसंगोचित धर्मका स्वरूप समझाने वाला एक भावपूर्ण पद्य उन्होंने पढ़ा जिसका आशय इस प्रकार है -

'कोई व्यक्ति भले ही भावहीन सौ पद्योंके वाक्योंको पढ़े किन्तु धर्मका एक वाक्य भी अच्छा है जिसे सुनकर मनुष्य शान्ति लाभ करे। यद्यपि कोई व्यक्ति युद्धमें सहस्र मनुष्योंको हजार बार पराजित करे, किन्तु जो अपनी आत्मा को जीतता है वह सबसे बड़ा विजेता है।'

नीलकेशी, जोकि तामिल भाषाके पंच लघुकाव्योंमें एक है, वह स्पष्टतया बौद्ध ग्रन्थ कुण्डलकेशीके उत्तररूपमें है, जैसाकि इसके लेखकने स्वयं सूचित किया है। इसका कथानक पौराणिककथाओंमेंसे नहीं लिया गया है। सम्भवतः यह कथा ग्रंथकारकी काल्पनिक कृति है। इसका उद्देश्य दार्शनिक विवादके लिये भूमिका निर्माण करना था। यह ग्रन्थ अब तक प्रकाशमें नहीं आया। वर्तमान लेखक इस अपूर्व ग्रंथका एक संस्करण प्रकाशमें करनेके प्रयत्नमें हैं जोकि प्रेसमें है। कुछ मासमें जनताके सामने आ जायगा*। यह कथा पार्सी-

* यह ग्रन्थ अब प्रकाशित होकर जनताके सामने आ चुका है, ऐसा 'भास्करमें' निकली समालोचनासे प्रकट है।— सम्पादक

नाडु नामक विख्यात पांचालु देशमें सम्बद्ध है। इस देशके अधिपति महाराज समुद्रसार थे और उनकी राजधानी थी पुण्ड्रवर्धन। इस नगरके बाहर एक श्मशान भूमि है जिसे पत्तलैयम् कहते हैं। वहां कालीका एक प्रसिद्ध मन्दिर है। उस मन्दिरके समीप मुनिचंद्र नामके योगी विद्यमान हैं। एक दिन कुछ नागरिक थोड़े पशु और पक्षी कालीको चढ़ाने के लिये वहां साथ ले आये। जैन- आचार्य ने इस विचित्र बलिदानका कारण उन लोगोंसे पूछा; उन लोगोंने कहा कि ये पशु-पक्षी कालीके आगे बलि दिये जायगें क्योंकि काली के प्रसादसे महारानीको एक बच्चेकी प्राप्ति हुई है। जैन आचार्यने उन लोगोंसे कहा कि "अगर तुम पशु और पक्षियोंकी मृत्तिकासे बनी हुई मूर्तियोंको कालीके मन्दिरमें चढ़ाओगे तो देवी पूर्णतया सन्तुष्ट होगी। यह विधान कालीको सन्तुष्ट करने और तुम्हारी प्रतिज्ञाओंको पूर्ण करने के लिये पर्याप्त होगा। इसके सिवाय बहुतसे प्राणी मृत्युके मुखसे बच जायगे तुम भी अपने आपको हिंसाके पापसे बचा सकोगे। इस उपदेशका लोगों पर बहुत अच्छा असर पड़ा। अतः वे अपने सब पशुओंको अपने अपने घर वापिस ले गये। लोगोंके इस व्यवहारसे कालीदेवी अत्यन्त क्रुद्ध होगई। उसने यह अनुभव किया कि मैं जैन मुनिकी उच्च आध्यात्मिक निपुणताके कारण उनको भयभीत करनेमें असमर्थ थी। किन्तु अब उसने यह चाहा कि उन मुनिश्री को काली मन्दिरके अहातेसे बाहर भगादूं ताकि वे नित्य होने वाले यहांके यज्ञमें बाधा न डालें। अतः वह दक्षिण देशकी अपनी सरदारनी नील केशीकी खोजमें निकली जिस के सामने जैन मुनिके द्वारा काली मन्दिरकी नित्यकी पूजा तथा बलिमें डाली जानेवाली बाधा-विषयक शिकायत रक्खी गई। महान नीलकेशीने इस जैन मुनिसे पिण्ड छुड़ाने और पुंड्रवर्धन नगरमें कालीके मन्दिरकी पूजा तथा बलिदान को बराबर जारी करनेके लिये उत्तरकी ओर प्रस्थान किया। वहां मुनिचन्द्राचार्यको हटानेकी आशासे नीलकेशीने अनेक प्रकारकी भयावह परिस्थितियां उत्पन्नकीं, किन्तु मुनिराजको डरानेके सकल उपाय विफल हुए। वे ऐसे व्यक्ति नहीं थे जो सरलतासे अलग किये जा सकें। वे अपने ध्यानमें दृढ़ताके साथ निमग्न थे और कितनी ही भयानक समीपवर्ती परिस्थितियां उनके शांत और गंभीर ध्यानमें बाधा नहीं पहुँचा सकती थीं। वे अपने कार्यमें इस प्रकार निमग्न थे, मानों उनके आसपास कुछ हुआ ही नहीं, तब नीलकेशीने सोचा कि साधुको उचित अथवा अनुचित उपायोंसे जीतनेका एक ही मार्ग है और वह यह है—कि वे अपनी आध्यात्मिक साधनासे डिगाए जांय और उनका ध्यान वैषयिक सुखोंकी ओर आकर्षित किया जाय—उसने सोचा कि उन मुनिराज की तपश्चर्याको डिगानेका यह निश्चित मार्ग है। इस बात को दृष्टिमें रख कर उसने उस प्रदेशकी राजकन्यकाकी सुन्दर मुद्रा बनाकर योगिराजके समक्ष अपनी शृंगारचेष्टाएँ आरम्भ करदीं। साधुको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये उसने वेश्या जैसी वृत्ति आरम्भ करदी। उसका यह प्रयत्न भी असफल रहा। इतनेमें मुनिचन्द्राचार्यने उसे स्वयं सब वास्तविक बातें सुनादीं। उन्होंने उसे बताया कि "तू यथार्थ में राजपरिवारकी राजकुमारी नहीं है, किन्तु तू देवताओंकी स्वामिनी है और मुझे डराकर इस स्थानसे अलग करना चाहती है ताकि पशुओंका बलिदान निरन्तर चालू हो जाय इस स्पष्ट भाषणसे योगीकी महत्ता और बुद्धिमत्ता उस पर अंकित हो गई और उसने उनके समक्ष यह स्वीकार किया कि जो कुछ आपने कहा वह सत्य है आप मेरा अपराध क्षमा कीजिये। अब मुनिराज उसे क्षमा प्रदान कर चुके तब कृतज्ञतावश उसने भविष्यमें विशेष कल्याणकारी और पवित्र जीवन बितानेकी इच्छा प्रकट की। उसने उनसे कहा "मुझे अहिंसाके मूल सिद्धान्तोंका शिक्षण देनेकी कृपा कीजिये" अब उसने अहिंसा धर्मके पवित्र सिद्धान्तोंको सुना,

तब वह अत्यन्त अनुगृहीत हुई और उसने मुनिराजसे नम्रतापूर्वक पूछा कि "मैं किस प्रकार उच्च कोटिकी कृतज्ञता प्रकाशन कर सकूंगी" । तब मुनिराजने उसे सर्वोच्च ढंगसे कृतज्ञता प्रकाशनके लिये यह बताया कि तुम्हें इस प्रदेश में अहिंसाके तत्वका प्रचार करना होगा, तब उसने इसे स्वीकार किया और मानव मुद्राको धारण कर अहिंसा सिद्धान्तको प्रचारित करनेमें उसने अपना समय लगाया। यही इस ग्रन्थके 'धर्मनूउरैचरुक्कम्" नामके प्रथम अध्याय का वर्णित विषय है।

कुण्डलकेशी-वादचरुक्कम् नामके दूसरे अध्यायमें बुद्ध धर्मकी प्रतिनिधि कुण्डलकेशीके साथ नीलकेशीका वादविवाद वर्णित है। स्वभावतः इस विवादमें नीलकेशीकेद्वारा कुण्डलकेशीके पराजयका वर्णन है कुण्डलकेशी अपनी पराजय स्वीकार करती है और अहिंसाके सिद्धान्तोंको मंजूर करती है। नीलकेशी कुण्डलकेशीसे यह ज्ञात करती है कि उसके गुरु अर्हचन्द्र नामके बौद्धविद्वान हैं।

तीसरे अध्यायमें अर्हचन्द्रके साथ विवादका वर्णन है, जो विवादमें अपनी पराजय स्वीकार करता है। नीलकेशीके अहिंसा धर्मको स्वीकार करके अर्हचन्द्रने उसका ध्यान 'मोक्कल' की ओर आकर्षित कराया, जो कि गौतम शाक्यमुनिके प्रधान शिष्योंमें था और बौद्धसंघके आदि संस्थापकों मेंसे एक था।

(क्रमशः)

मीठे बोल

मीठे मीठे बोल बोल रे! मीठे मीठे बोल!

[१]

इस जिह्वामें अमृत भरले
बिखरादे, जग बसमें करले
मर कर भी जो तेरा जीवन बने अमर अनमोल
बोल रे! मीठे मीठे बोल!

[२]

धन-जन पर अभिमान न कर तू
नश्वर हैं, कटु गान न कर तू
उड़ जायेगा प्राण पपीहा रह जायेगा बोल
बोल रे! मीठे मीठे बोल!

[३]

स्वरमें सुन्दर शक्ति निराली
जीवनमें भर देती लाली
मिट जाते दुख, उठतीं हियमें प्रेम हिलोरें लोल
बोल रे! मीठे मीठे बोल!

[४]

कड़वे बोल बड़े दुख-दाता
जोड़ अरे! मृदुतासे नाता
विषकी छोड़ विषमता प्राणी! वाणीमें मधु घोल
बोल रे! मीठे मीठे बोल!

श्री 'कुसुम' जैन

पर्यूषणपर्वके प्रति

(ले०—पं० राजकुमार जैन साहित्याचार्य)
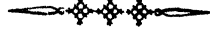
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[१]

था समय विद्रूपतम, जब क्रोध-दावानल, धधकते—
बाहु-युगमें भर जगत्को सब तरह झुलसा रहा था,
कुसुम-सम सुकुमार अन्तर्वृत्तियोंका खून करके,
खूनकी दो बिन्दुओंसे ताप निज सहला रहा था,
तब, क्षमा - पीयूष - धाराको बहा करके जगत्का
ताप मेटा था, न, पर, अब वह कहीं माधुर्य-धारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[२]

मान-दारुण-वारुणीमें, आज हम भूले पड़े हैं,
ऐंठमें निःसार ठूँठोंसे, अचल अकड़े खड़े हैं,
चाहते—यह निखिल जग पैरों पड़े, फिर भी न देखें,
नज़र भर करके, हमारा सामना कर कौन सकता ?
आज, मार्दव-सिद्धिरस वह ताकमें रक्खा पड़ा है,
रो रहा दुर्भाग्य पर अपने तथा जगके बिचारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[३]

मोहनी माया, अनूठे राग-रँग दिखला रही है,
वेष-भूषासे सभी संसार-को फुसला रही है,
खूब जोरोंसे गरम, बाज़ार, छल का, हो रहा है,
कौड़ियोंके मोल, नर, आर्जव अनोखा खो रहा है,
बन चतुर-चालाक भोलोंको भुलाते जा रहे हैं,
दिख रहा केवल कपट ही कपटका दुर्भग नज़ारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[४]

विश्वका कल्याण-कर वह सत्य, हमसे उठ चुका है,
इस कुपथ पर आज, जग दो पग अगाड़ी बढ़ चुका है,
भद्रनैतिकता, न जाने, कौन कोने छिप गई है,
कौनसे गिरि-गह्वरोंकी बन्दिनी वह हो चुकी है,
एकदा जिसने किया था पूत, हम सबको स्फटिक-सा,
लुप्त बिलकुल हो चुकी है, वह मधुर विश्रम्भ-धारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[५]

कालसे कवलित निखिल जग, जीर्ण होता जा रहा है,
पर, अतल तृष्णा, ज़रा भी जीर्ण-शीर्ण नहीं दिखाती,
लोभका साम्राज्य, भूतल पर निरंकुश छा रहा है,
चाहता जन—'विश्वकी माया, चरण-चुम्बन करे मम,
मैं अकेला ही सकल, सम्पत्तिका स्वामी कहाऊँ,
जानले दुनिया यहाँ, परका नहीं बिलकुल गुज़ारा !'
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[६]

आज, हम सब इन्द्रियोंके दास पूरे हो चुके हैं,
खो चुके हैं आश—गिर कर भी उठेंगे क्या कभी हम,
एक दिन था, जब हमारी इन्द्रियाँ थीं पूर्ण शासित,
आज तो वे कर चुकीं जग पूर्णतः निज पाश-पाशित,
प्राणियोंके प्राणका संत्राण भी कुछ उठ चला है,
बहरही जगमें असंयमकी प्रबल विकराल धारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा !

[७]

आज, तपके नाम पर मिथ्यात्व-ताण्डव हो रहे हैं,
साधु बन पाखण्डि-जन, पाखण्ड-मण्डन कर रहे हैं,
कर रहे अपना पुजारी विश्वको, देकर दिलासा,
बैठ प्रस्तर-नावमें खुदको तथा जगको डुबोते,
कामनाओंको दबानेका न हममें आत्म-बल है,
चाह-ज्वालामें निरन्तर जल रहा संसार सारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[८]

"त्यागका मत नाम लेना, पास मेरे कुछ नहीं है,
आपको देने न मैंने सम्पदा यह जोड रक्खी,
जाइये श्रीमान् उनके पास—जो हमसे बड़े हैं,
क्या हमारे ही यहाँ खाता लिखा रक्खा तुम्हारा ?"
त्यागकी इस दुर्दशा पर आँसुओंकी धार बहती,
मूर्ख प्राणीने न इसके तत्त्वको पलभर निहारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[९]

मञ्जु-मूर्च्छासे जगत् मूर्च्छित विकल-मति हो रहा है,
दासताओंकी जटिल जंजीरमें जकड़ा पड़ा है,
गिर रहा है, चीखता है, और करुण कराहता है,
पर न निज मनको जगतकी, कामनाओंसे हटाता,
आज आकिञ्चन बिना, जग यह अकिञ्चन हो रहा है,
खोजता, फिरता, भटकता, पर, न कुछ मिलता सहारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[१०]

वासनाओंका अनुग संसार पागल हो रहा है,
मातृ, भगिनी, गेहिनीका भेद-भाव भुला रहा है,
सत्य-शिव-चारित्र-निष्ठा का पड़ा शव सड़ रहा है,
चढ़ रहा है मोह-मदिरा का नशा निजको भुलाए,
चारु चिन्तामणि हमारा ब्रह्मचर्य चला गया है,
हो गया चौपट हमारी जिन्दगीका खेल सारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

[११]

मोह-ममतामें फँसा जग आत्म-धनको खो रहा है,
वंचनाओंके जुटानेमें प्रपंच सँजो रहा है,
धर्मकी बस कान्त माया ही पकड़ रक्खी जगत्ने,
स्वात्मके सौन्दर्यका दर्शन, न अब तक कर सका यह,
पुण्य पर्यूषण, अरे, साकार होकर के पुनः तुम,
धर्मका शुभ मर्म, जड जन को बता जाओ दुबारा !
पुण्य पर्यूषण, कहो, कैसे करें स्वागत तुम्हारा ?

अज्ञातवास

छिपा रहा हूँ मैं अपने को !

दुनियाकी पैनी नजरोंसे
जासूसोंसे, गुप्तचरोंसे
बचकर बिता रहा हूँ जीवन, मूर्तिमान करने सपनेको
छिपा रहा हूँ मैं अपने को !

झूठ दिखाए, साँच दिखाए
कोई कितनी आँच दिखाए
तपा हुआ है सोना, तो भी उद्यत है फिर फिर तपनेको
छिपा रहा हूँ मैं अपने को !

पीड़ा पहुँचाती, दुख देती, हुई जा रही कुन्दी रेती
काट-छाँट कर रहा जौहरी, चुप है मणि, तुलने-नपनेको
छिपा रहा हूँ मैं अपने को !

— श्री 'यात्री'

जीवनकी पहेली

[लेखक—श्री बाबू जयभगवान जैन, बी० ए०, वकील]
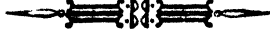
[गत किरण नं० ३ से आगे]

जीवनवादकी पांच श्रेणियाँ—

जीवन-सम्बन्धी उन समस्त वादों (theories) को जो आजतक तत्त्वज्ञोंके दिमाग़में आए हैं, यदि विकासक्रमसे श्रेणीबद्ध किया जाय, तो वे निम्न पांच श्रेणियोंमें तकसीम हो सकते हैं—१ संशयवाद, २ अज्ञानवाद, ३ विपरीतवाद, ४ एकान्तवाद, ५ विनयवाद।

१ संशयवाद (Theory of scepticism)—

कुछ विचारक ऐसे हैं, जो जिज्ञासासे प्रेरे हुए जीवनके समस्त अनुभवों, समस्त तथ्योंको विवेकरहित इकट्ठा कर डालते हैं। वे अनुभूति (Cognition) के मार्गोंमें भेद करना नहीं जानते। वे इसके बुद्धिज्ञान, (Intellect) और निष्ठाज्ञान (Intuition) कहलानेवाले बाहरी और भीतरी द्वारोंमें भेद करना नहीं जानते। वे इन ज्ञानोंसे बताये हुये तथ्योंमें भेद करना नहीं जानते। वे इन तथ्योंके प्रामाणिक और अप्रामाणिक रूपोंमें भेद करना नहीं जानते। वे श्रेणीबद्ध तथ्योंकी पारम्परिक सम्बन्ध—पारस्परिक उपयोगसे व्यवस्था करना नहीं जानते। उनकी सापेक्षिक स्थान—सापेक्षिक क्रमसे संगति मिलाना नहीं जानते। वे हर एक अनुभवको एक जुदा अनुभव (an isolated experience) मान लेते हैं। वे हर एक तथ्यको एक जुदा तथ्य (an isolated fact) मान लेते हैं। वे इन सबको जुदा जुदा मानकर उनका एक जटिल जमघट (confused mass) बना डालते हैं, जिसमें बौद्धिक और नैष्ठिक, प्रामाणिक और अप्रामाणिक वैज्ञानिक और काल्पनिक सब ही प्रकारके तथ्य शामिल होजाते हैं। ऐसा करने पर वे जीवन-तत्त्वको खोजते हुए भी उसे नहीं खोज पाते, जीवन-शंकाओंको सुलझाते हुए भी उन्हें नहीं सुलझा पाते। वे जितना जितना इस जमघटमेंसे जीवनको खोजनेका उद्यम करते हैं, उतना ही उतना मार्गको खो बैठते हैं। वे जितना जितना शंकाओंसे बाहिर निकलनेका परिश्रम करते हैं, उतना ही उतना गहरे गड्ढमें फँस जाते हैं। हताश होकर वे चीख़ उठते हैं—

"यह खोज सब व्यर्थ है, यह परिश्रम सब निष्फल है, यह जीवन जाननेकी चीज़ नहीं, यह खोजनेकी चीज़ नहीं, यह अत्यन्त जटिल और पेचीदा है। यह आदिसे आख़ीर तक संदेहोंका स्थान है, शंकाओंका निवास है। इसे किसी प्रकार भी निश्चय नहीं किया जा सकता। यदि इसके बारेमें कोई मत निश्चित किया जा सकता है तो यही कि यह अनिश्चित है, यह सन्दिग्ध है।"

ऐसा कहकर वे अपनी खोजको छोड़ बैठते हैं; परन्तु, ऐसे संशयवादि-विचारक संशयवादको निश्चित करने पर भी, खुद कभी निश्चितमती नहीं होते। वे खोज छोड़ने पर भी कभी शान्तचित्त नहीं होते। वे सदा शंका-शूलोंसे भिदते ही रहते हैं। वे विभिन्न धाराओंके बीच झूलते ही रहते हैं। इनकी दशा बड़ी ही दयनीय है।

२ अज्ञानवाद—

कुछ विचारक इस प्रकार शंकाशूलोंसे भिदना नहीं चाहते। वे जीवन-सम्बन्धमें इस प्रकार अनिश्चितमती

रहना नहीं चाहते। ये किसी न किसी प्रकार इस गुत्थीको सुलझाना ही चाहते हैं। इनकी गवेषणा-बुद्धि अधिक वैज्ञानिक है। ये प्रमाण और अप्रमाणके भेदोंको जानते हैं। ये भूल-भ्रान्तियोंसे, कल्पना-स्वप्नोंसे तथ्योंको पृथक् करना जानते हैं। ये विविध तथ्योंकी कारणकार्य-सम्बन्धसे व्यवस्था करना भी जानते हैं। ये अपेक्षावादसे उनकी संगति मिलाना भी जानते हैं। परन्तु ये अनुभूतिके केवल बाहरी मार्गको ही अनुभूतिका मार्ग मानते हैं। ये उसके नित्य काममें आनेवाले, नित्य अभ्यासमें आनेवाले इन्द्रियज्ञान, बुद्धिज्ञानको ही प्रमाण समझते हैं।

इनके लिये इन्द्रियज्ञान, बुद्धिज्ञानसे अतिरिक्त अनुभूति (cognition) का और कोई मार्ग ही नहीं है। इसलिये ये इन्द्रियज्ञान, बुद्धिज्ञान (perception and Intellect) द्वारा ही जिज्ञासागम्य समस्त तत्त्वों (substances) को जानना चाहते हैं, शंकागम्य समस्त तथ्यों (facts) का निर्णय करना चाहते हैं और अनुभूति-गम्य समस्त अनुभवों (experiences) की व्याख्या करना चाहते हैं।

इन्हें पता नहीं कि इन्द्रियज्ञान (perception) केवल बाहरी लोकको दिखानेवाला है, बाहरी लोकमें भी केवल प्रकृति-लोकको दिखानेवाला है, प्रकृति-लोकमें भी केवल स्थूल-लोकको दिखानेवाला है। और बुद्धिज्ञान (Intellect) केवल काल-क्षेत्र-परिमित तथ्योंको बतानेवाला है। आदि-अन्त-सहित चीज़ोंको सुझानेवाला है। विभिन्नतामय, विरोधमय बातोंको दर्शानेवाला है।

परन्तु अनुभूतिका क्षेत्र, जिज्ञासाका क्षेत्र, शंकाका क्षेत्र, बाहरी लोक तक ही सीमित नहीं, काल-क्षेत्र तक ही परिमित नहीं। इस अनुभूति-क्षेत्रमें बहुतसे तत्त्व ऐसे हैं, इस शंका-क्षेत्रमें बहुतसे तथ्य ऐसे हैं, जिनका बाहरी लोकसे कोई सम्बन्ध नहीं, जिनकी बाहरी पदार्थोंसे कोई तुलना नहीं, जो काल-क्षेत्रसे परिमित नहीं, जो आदि और अन्तसे सीमित नहीं, जो विभिन्नताको समानेवाले हैं, विरोधका एकीकरण करनेवाले हैं, जो एक छोर पर अनन्तताको, दूसरे छोर पर सूक्ष्मताको छूनेवाले हैं, जो नितान्त अद्भुत और असाधारण हैं। इनके बोधके लिये, इनकी व्याख्याके लिये, इनके निर्णयके लिये, इन्द्रिय और बुद्धिज्ञान दोनों अपर्याप्त हैं। इनके बोध, इनकी व्याख्या, इनके निर्णयके लिये अनुभूतिका दूसरा ही मार्ग है, वह मार्ग जिसका नाम विशुद्धज्ञान है, श्रुतज्ञान है, अन्तर्ज्ञान (intuition) है।

ऐसे विचारक जब इन्द्रियोंसे देखते हुए भी जीवन-सरीखी चेतनामयी सत्ताको नहीं देख पाते, बुद्धिसे समझते हुए भी जीवन-सरीखी अलौकिक सत्ताको नहीं समझ पाते, तो ये बहुत विकल होते हैं, ये इसकी अज्ञानताका कारण अपनी मूढ़तामें न देखकर जीवनतत्त्वकी शून्यतामें देखने लगते हैं, इसकी यदृच्छामें देखने लगते हैं, इसकी अज्ञेयतामें देखने लगते हैं। इस प्रकार ये तीन वादों द्वारा जीवनकी व्याख्या करने लगते हैं--(अ) शून्यवाद वा भ्रमवाद, (आ) यदृच्छावाद, (इ) अज्ञेयवाद।

(अ) शून्यवाद वा भ्रमवाद—

इनमेंसे बहुतसे तो अपनी विकलता दूर करनेके लिये जीवन-तत्त्वसे ही इनकार कर देते हैं। 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसरी'। ये धारणा बना लेते हैं, कि जो तत्त्व इन्द्रिय और बुद्धिसे अज्ञात है वह सब असत् है। जो तथ्य इनसे निर्णय ही नहीं हो सकता, जो अनुभव इनसे व्याख्यात ही नहीं हो सकता, वह सब भ्रमजाल है, बुद्धिका विकार है, कल्पनाका पसारा है। वह शून्यके सिवा कुछ भी नहीं। वह जीवन यदि कोई तत्त्व होता, तो वह ज़रूर दृष्टिमें आता, ज़रूर बुद्धिमें आता। चूंकि वह दृष्टिमें नहीं आता, बुद्धिमें नहीं आता, अतः जीवन सब असत्य है, सब शून्य है, उसकी प्रतीति सब भ्रम है।

इस प्रकार इनकार-द्वारा ये समस्याका सहजमें ही उल्लंघन तो करना चाहते हैं, परन्तु ये उसका उल्लंघन नहीं कर पाते। इस प्रकार धारणा-द्वारा ये शंकाओंको पीछे तो छोड़ना चाहते हैं, परन्तु शंकाएँ इनका पीछा नहीं छोड़तीं, वे पूछती ही रहती हैं—

"यदि जीवन भ्रमके सिवा और कुछ भी नहीं, तो उसमें भ्रमकी प्रतीति क्यों? उसमें तर्क-वितर्कणा क्यों? उसमें मतोंकी निश्चिति क्यों?"

ज्ञाताके वास्तविक होने पर ही, उसमें भ्रमकी प्रतीति हो सकती है, उसमें तर्क-वितर्कणा हो सकती है, उसमें मतोंकी निश्चिति हो सकती है।

जब ज्ञाता स्वयं भ्रम है, वक्ता स्वयं भ्रम है, तो उस की भ्रमधारणा भ्रमसे बेहतर कैसे हो सकती है, उसका भ्रमवाद भ्रमसे बेहतर कैसे हो सकता है?"

इस प्रकार जीवनको भ्रम माननेसे, जीवन तो भ्रमसिद्ध नहीं होता, परन्तु भ्रमवाद ज़रूर भ्रम सिद्ध होजाता है।

जीवनको भ्रम कहना, मानो भ्रमके अर्थमें अनभिज्ञता प्रकट करना है। भला भ्रमकारके बिना भ्रम कहां? दूसरी सत्ताके बिना भ्रम कहां? भ्रम-उत्पत्तिके लिये कमसे कम दो समान भासनेवाली, परन्तु वास्तवमें विभिन्न चीज़ोंकी आवश्यकता है। सत्ताके सर्वथा अभावमें, वा एक ही सत्ताके सद्भावमें भ्रमकी व्याख्या ही नहीं बनती। यदि इन्द्रियोंसे दीखनेवाली, बुद्धिसे सूझनेवाली बाहरी सत्ताके अतिरिक्त, काल-क्षेत्र-परिमित सत्ताके अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नहीं है, तो उससे विलक्षण काल-क्षेत्र-अविच्छिन्न भीतरी सत्ता की प्रतीति कैसे हो जाती है? सांपमें रस्सी और रस्सीमें सांपकी भ्रान्ति इसी लिये सम्भव है कि लोकमें सांप और रस्सी सरीखी दो समान भासनेवाली परन्तु विभिन्न वस्तुएँ मौजूद हैं। यदि लोकमें सांप ही सांप होता, अथवा रस्सी ही रस्सी होती, तो एकमें दूसरेकी भ्रान्तिका होना नितान्त असंभव था।

जो सर्वथा असत्य है, उसकी कोई भी प्रतीति नहीं, कोई भी भ्रान्ति नहीं, कोई भी निश्चिति नहीं। भ्रान्ति और निश्चिति उसीकी होती है, जो किसी प्रकार सत्य हो, किसी प्रकार सत्ताधारी हो।

यदि जल स्वयं कुछ भी न होता, तो उसका मरीचिका बनकर मरुस्थलमें आभास भी न होता, यदि कस्तूरी स्वयं कुछ भी न होती, तो उसका सुवास बनकर वनवृक्षोंमें धोखा भी न होता। यदि जीवन स्वयं कुछ भी न होता, तो उस का अदृष्ट चेतना बनकर दृश्य लोकमें भ्रम भी न होता।

असत्यका अर्थ सर्वथा शून्य नहीं है, सर्वथा अभाव नहीं है। चूंकि सर्वथा शून्य तो कोई चीज़ नहीं, न उसकी कोई संज्ञा है, न उसकी कोई संख्या है, न उसका कोई लक्षण है, न उसका कोई प्रयोजन है। असत्यका अर्थ है—सापेक्षिक शून्य वस्तु, सापेक्षिक अभावरूप वस्तु, अर्थात् वह वस्तु जो कुछ है तो जरूर, परन्तु वह उस जगह मौजूद नहीं, उस समय मौजूद नहीं, उस तरह मौजूद नहीं जिस जगह, जिस समय, जिस तरह उसका आभास होरहा है।

भ्रान्तिका अर्थ सर्वशून्यका ज्ञान नहीं, सर्व अभावका ज्ञान नहीं। चूंकि सर्वशून्य वा सर्व अभाव तो कोई वस्तु ही नहीं, उसका ज्ञान कैसा? भ्रान्तिका अर्थ अवस्तुका ज्ञान नहीं, बल्कि वस्तुका अतद्ज्ञान है। अर्थात् वह ज्ञान जो वस्तुको उसके अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल, अपने भावमें न देखकर उसे अन्य द्रव्य, अन्य क्षेत्र, अन्य काल, अन्य भावमें देखना है।

सांपकी भ्रान्तिका यह अर्थ नहीं कि सांप कोई चीज़ ही नहीं—बल्कि सांपकी भ्रान्तिका यह अर्थ है कि सांप वस्तु तो ज़रूर है, परन्तु वह उस स्थान, उस काल, उस चीज़में मौजूद नहीं, जहां उसका आभास हो रहा है।

इस प्रकार भ्रान्तिशून्यका प्रमाण नहीं, सत्ताका प्रमाण

है। एक सत्ताका प्रमाण नहीं, दो सत्ताका प्रमाण है। एक उस सत्ताका जिसमें कि भ्रान्ति हो रही है, दूसरी उस सत्ताका, जिसकी कि भ्रान्ति हो रही है।

इस तरह जीवनकी भ्रान्ति जीवन-तत्त्वकी निषेधक नहीं, जीवनतत्त्वकी पोषक है। जीवनकी भ्रान्ति स्वयं इस बातका प्रमाण है, कि जीवनतत्त्व कुछ वस्तु जरूर है, इतना ही नहीं, वह इस बातका भी प्रमाण है कि जीवनतत्त्व दृश्य तत्त्वसे कोई विलक्षण तत्त्व है, काल-क्षेत्र-परिमित तथ्यसे कोई विलक्षण तथ्य है, विभिन्नतामय चीज़ोंसे कोई विलक्षण चीज़ है।

जीवन भ्रम नहीं, जीवन शून्य नहीं, यह वास्तविक चीज़ है, यह बाहरी सत्तासे भी अधिक सच्ची चीज़ है। यह बाहरी चीज़ोंको दिखाने वाली, बताने वाली, सुझाने वाली चीज़ है। इसके बिना बाहरी दुनियां कहां? सचाई और झुटाई कहां? निश्चिति और भ्रान्ति कहां? यह सचाई की सचाई है। यह सदा जगने वाली ज्योति है। यह स्पष्ट से स्पष्ट है, प्रत्यक्षसे प्रत्यक्ष है, पाससे पास है। यह अपनेसे अपनी है। यह तो स्वयं 'आप' है, 'आत्मा' है, 'अहं' है, 'मैं' है।

(आ) यदृच्छावाद—(Theory of chance)

इस प्रकारकी तर्कसे हार कर कुछ विचारक निश्चय करते हैं कि जीवनतत्त्व जो इन्द्रिय और बुद्धिसे अज्ञात है, वह असत्य तो नहीं है, भ्रम तो नहीं है, शून्य तो नहीं है, वह कुछ है तो जरूर, परन्तु वह यों ही एक आकस्मिक घटना है, एक इत्तिफाकिया चीज़ है, एक बिना सिर-पैरकी वस्तु है, जो यों ही आती है, यों ही चली जाती है। वे इस प्रकारका निश्चयकर अपने अज्ञानको शान्त कर लेते हैं, इसे एक निश्चित सिद्धान्त मान लेते हैं।

परन्तु तर्कणा यहां पहुँच कर भी शान्त नहीं होती। वह बराबर पूछती रहती है—इत्तिफाक़में निश्चिति कहां, यदृच्छामें ज्ञान कहां? ये सब अज्ञानके ही नाम हैं। जब किसी चीज़का मूल तत्त्व मालूम नहीं होता, उसका पूर्वापर सम्बन्ध मालूम नहीं होता, उसका शील-स्वभाव मालूम नहीं होता, उसका कार्यक्रम मालूम नहीं होता, तो उस चीज़को एक अलग थलग घटना (Isolated fact) मानकर इत्तिफाकिया कह दिया जाता है। उसे आकाशबेल की तरह बिना सिर-पैरकी सत्ता मान कर यदृच्छा कह दिया जाता है। वास्तवमें वह चीज़ इत्तिफ़ाकिया घटना नहीं, बिना सिर-पैरकी सत्ता नहीं, उसका मूल पूर्वमें डूबा हुआ है, अनादिमें डूबा हुआ है, और उसका सिर भविष्यमें छिपा हुआ है, अनन्तमें छुपा हुआ है।

जो बादल आकाशमें घूम रहा है, क्या वह एक आकस्मिक घटना है? नहीं, उसका मूल जलमें डूबा हुआ है, उसका सिर सागरमें छुपा हुआ है, और इस जल और सागरमें एक तान्ता बँधा हुआ है, जिसका कभी विच्छेद नहीं। यह जल हजार रंगरूपोंमेंसे गुजरे, हज़ार जगह घूमे फिरे, परन्तु इसका मूल तत्त्व सब जगह उसी तरह बना है। यह अविनाशी है। आदि-अन्त-रहित है।

बालक जो इसके सिलसिलेको नहीं जानते, इसके मूलतत्त्वको नहीं जानते, वे इस बादलको एक आकस्मिक घटना कहते हैं। परन्तु यह आकस्मिक घटना नहीं। यह तो ज़ंजीरकी एक कड़ी है। यह तो चक्रका एक फेर है।

यही हाल जीवनतत्त्वका है, जीवनके एक अनुभवको लेकर, उन्हें पृथक २ समझकर जीवनमें यदृच्छाकी कल्पना की जाती है; परन्तु वह अनुभव अलग-थलग चीजें नहीं। जीवमें हज़ार विज्ञान जगें, हज़ार तर्क उठें, हज़ार वेदनाएँ पैदा हों, हजार कामनाएँ उदय हों; परन्तु वह बिखरी हुई चीज़ें नहीं, वे बिना सिर-पैरकी चीजें नहीं। वे सब एक सूत्रमें बँधे हुए हैं, एक 'अहं' में समाये हुए हैं। वे सब 'अहं' सागरकी उठने और बैठने वाली लहरें हैं, वे सब 'अहं'

स्कन्धसे उगने और आने वाली शाखायें हैं। 'अहं' इन सबमें ओत-प्रोत है। 'अहं' इन सबमें बहुत होते हुए भी एक है। विभिन्न होते हुए भी अद्वितीय है, विभक्त होते हुए भी अविभक्त है, अनित्य होते हुए भी नित्य है, इसका कभी नाश नहीं होता, फिर जीवन आकस्मिक घटना कैसे हो सकती है ?

इस 'अहं' को हजार हालतोंमेंसे गुजारें, हजार जगह घुमाये फिरायें, हजार रंग रूपोंमें रक्खें, हजार भूलभुलइयों मे डालें, हजार नाम रक्खें, परन्तु इस 'अहं' का कहीं विच्छेद नहीं, वह हरदम उसी तरह बना है, जन्मसे मरण तक, बचपनसे बुढ़ापे तक वही एक 'अहं' जारी है। फिर यह जीवन आकस्मिक घटना कैसे हो सकती है ?

जो अज्ञानी जीवनके इस 'मम' तत्त्वको नहीं जानते, इसके अहंतत्त्वको नहीं जानते वे ही पृथक् पृथक् अनुभवोंके आधार पर, भिन्न भिन्न हालतोंके आधार पर जीवनको आकस्मिक घटना कहनेको तैयार होते हैं। परन्तु वास्तवमें जीवन पृथक् पृथक् अनुभव नहीं, भिन्न भिन्न अवस्था नहीं, अनेक अनुभवों, अनेक अवस्थाओंका समुच्चय नहीं, वह तो इन सबका एकीकार 'अहं' है, ममकार 'अहं' है।

(इ) अज्ञेयवाद (Theory of Agnostic Realism)—

उपर्युक्त प्रकारकी तर्कणासे मुठभेड़ होने पर, कुछ विचारक निश्चय करते हैं, कि जीवन-तत्त्व कोई आकस्मिक घटना नहीं। वह एक सारभूत वस्तु है, परन्तु वह अज्ञेय है। उसके सम्बन्धमें कुछ भी जाना और बूझा नहीं जा सकता, कुछ भी कहा और सुना नहीं जा सकता।

वह अज्ञेय है, इसीलिये वह इन्द्रियोंसे दिखाई नहीं देता, बुद्धिसे समझमें नहीं आता। जो अज्ञेय है, वह अज्ञात है। जो अज्ञात है, वह अज्ञेय है।

इस प्रकार मत निश्चित कर, ये शंकाओंको खतम हुआ समझने लगते हैं। परन्तु शंकायें वहां पहुंचकर भी खतम नहीं होतीं। वे बराबर पूछती रहती हैं—

यदि जीवन सत्य है, तो वह अज्ञेय कैसे ? 'सत्य' और 'अज्ञेय' दोनों परस्पर विरोधी चीजें हैं, वे एक दूसरेका विशेषण नहीं हो सकतीं। ये एक दूसरेमें वास नहीं कर सकतीं।

बिना ज्ञेय हुए, सत्यकी प्रतीति नहीं बनती, सत्यकी धारणा नहीं बनती, फिर बिना ज्ञेय हुए जीवनकी प्रतीति कैसे ? जीवनकी धारणा कैसे ?

अपनी मूढ़तावश, अपनी अज्ञानतावश, किसी वस्तुका अज्ञात (unknown) होना एक बात है, परंतु उसका स्वभावतः अज्ञेय (unknowable) होना दूसरी बात है। जो वस्तु अज्ञानतावश आज अज्ञात है, वह अज्ञानता दूर होने पर कल ज़रूर जानी जा सकती है, परन्तु जो वस्तु अज्ञेय है, वह अज्ञानता दूर होने पर भी कभी नहीं जानी जा सकती। इसलिये जो अज्ञात है वह अज्ञेय नहीं।

जो चीज जानी ही नहीं जा सकती, जिसकी प्रतीति ही नहीं हो सकती, उसमें सत्यकी कल्पना भी कैसे की जा सकती है ? सत्यकी कल्पना उसी वस्तुमें हो सकती है, जो किसी प्रकार भी अनुभूतिमें आने वाली हो, प्रतीतिमें आने वाली हो।

अर्थात् जो अज्ञेय है, वह असत्य है, जो ज्ञेय है वह सत्य है। अज्ञेयताकी व्याप्ति असत्यके साथ है, और ज्ञेयताकी व्याप्ति सत्यके साथ है। इसलिये जो सत्य है वह ज्ञेय है, जीवन भी एक सत्य है, वह ज्ञेय ज़रूर है।

यदि जीवन ज्ञेय नहीं, तो उसमें 'अहं' प्रतीति क्यों ? उसमें अपनेको जाननेकी जिज्ञासा क्यों ? यह प्रतीति व्यर्थ नहीं, यह जिज्ञासा व्यर्थ नहीं, यह बात भ्रमवादमें सिद्ध हो चुकी है। अत जीवन अज्ञेय नहीं। (क्रमशः)

कलाकार ब्रह्मगुलाल

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

[१]

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दीके दर्म्यानका जिक्र है।—

परिस्थितियोंसे विवश होकर पद्मनगर और क्षत्रिय वृत्ति दोनोंका परित्याग कर लोग टापेमें आ बसे थे! वणिक् वृत्ति अब इनकी जीविका थी! आचरणके उच्च और भावनाके शुद्ध थे—सब।

यह थे—'पद्मावतीपुरवाल!' इन्हींमेंसे कुछ लोग 'पाण्डे' कहलाए! शायद वे कुछ अधिक विशिष्ट थे। जैसे—अंग्रेजोंमें—पादरी, मुसलमानोंमें—मौलवी-या हिंदुओंमें—पण्डित।

और इन्हींमें एक थे—'हल!' बड़े शांत, सभ्य और मिलनसार। महाराजके विशेष कृपा-पात्र। महाराजकी कृपा इसलिए इन पर नहीं थी, कि यह चापलूस या 'हाँ-में-हाँ मिलाने वाले' मुसाहिब हों, वरन इस लिए थी महाराजने स्वयं अपने-हाथों इन्हें विवाह-सूत्रमें बँधवाया था। जबकि 'हल' का सारा परिवार आगमें जल मरा था, 'अपना' कहने लायक दुनियाँमें कोई बाक़ी नहीं बचा था।

और तबसे अबतक महाराजकी दया हलके प्रति घनी होती आई है। हलकी आंखें इस उपकारके सबब ऊपर नहीं उठ पाई हैं। महाराजकी चेष्टा ही, उनके वंशसंचालनमें प्रमुख है, गति है।...

ब्रह्मगुलालके जन्मोत्सवमें महाराजने काफ़ी सहयोग दिया। खुशियां मनाई गई, दान दिए गए। वह सब-कुछ हुआ, जो एक समृद्धि शालीके घर पुत्र होने पर होता है।

वैभवके प्रकाशमें, दुलारकी गोदीमें और माता-पिता आदिकी उत्सुक और आनंद-भरी नज़रोंकी देख-रेखमें—ब्रह्मगुलाल कुमारने शैशव-प्रभातको पार कर, यौवनकी दोपहरीमें प्रवेश किया।

दिलमें अरमान थे, आँखोंमें नशा। नज़र फिरा कर देखा तो सब ओर मधुरता ही मधुरता थी। खुली मुट्ठी, साधनोंका समागम, और स्वातंत्र्य-प्रवृत्ति। कमी किसकी थी—उसे? सारा परिवार उसकी इच्छापूर्तिके लिए सामने खड़ा था। उसकी खुशीमें सबकी खुशी समा गई थी।

स्कूलमें, जहीन लड़कोंमें उसका नाम रहा। बाहर आ; चतुर, योग्य और विद्वानोंमें उसने स्थान पाया। ज्योतिषका अच्छा जानकार था, तो साहित्यका पण्डित! आध्यात्मिकताका भी उसने काफ़ी परिज्ञान किया था।...

लेकिन इस वक्त वह नव-युवक था—सिर्फ नवयुवक। बाक़ी सब कुछ पीछे था। मुमकिन है बहुत पीछे भी रहा हो।

वह ऐसी 'अवस्था' से गुज़र रहा था—जिसे दुनियाँ वाले 'जवानी-दीवानी' के नामसे पुकारते हैं। जब कि दिलकी आवाजको ठुकराना मनुष्यके लिए कठिन होता है। जब कि जगत्की सारी चीजें सरस

और सुंदर मालूम देने लगती हैं।

और फिर दिल ?—दिल ही तो है ! चाहे जिधर ढुलक जाए ? वह उम्रकी कैदमें रहता ही कब है ? रहता तो क्या, आधी दर्जन बच्चोंके बाप, कांपते-हाथ-पैर, हिलती हुई गर्दन वाले बुड्ढे शादियां कर सकते ?··· नहीं न ?

ब्रह्मगुलालका दिल भी एक ओर बहक ही गया। वह अभिनय करने लगा। यानी स्वाँग भरने लगा—कभी कुछ, कभी कुछ। 'बहुरूपिया' होते हैं, न ? उसी तरह।

दिल ही तो है, उसके लिए कहा क्या जाय ? आप पढ़ते हैं, अखबारोंमें—फलाँ देशके बादशाहको डाकके पुराने टिकट रखनेका शौक़ है, फलाँको पुराने सिक्के। और अमुकको कुत्ता पालनेका और अमुकको मधु-मक्खियाँ ! यह सब क्या है ?—दिल ही तो है।

उस पर ब्रह्मगुलाल था—अंधेरे घरका एक मात्र उजाला। हाथोंहाथ पल कर बड़ा होने वाला—नौ जवान ! वह नया था, उसकी इच्छाएँ नई थीं, और उसके लिए दुनियाकी हर बात नई।

प्रारम्भकी दो-एक बार तो उसके इस विचित्र शौक़, अजीब वेश-भूषा और अभिनय-पटुता पर माता-पिता भी खुश हुए। पर, वह इस खुशीको ज्यादावक्त तक कायम न रख सके। क्यों ? कि उनकी दृष्टिमें यह जघन्य-कार्य था—उनकी प्रतिष्ठा, मर्यादाके विरुद्ध।

लेकिन असंख्य नगर-निवासी उसकी कला पर मुग्ध थे। भरपूर प्रोत्साहन, मुक्त-कण्ठकी प्रशंसा उसे दिन-दिन मिलने लगी। वह जिस वेषको रखता, फबा देता। अच्छे-अच्छे चालाक भी चक्करमें आए बगैर न रहते। अगर वह पहिचान पाते तो इससे, कि 'यह ब्रह्मगुलाल होगा।' या इससे कि उसके साथ दोचार लड़के, या लड़कों की-सी तबियत वाले दो चार आदमी होते।

उस दिन 'अर्धनारीश्वर' बना तो दर्शक एकटक रह गए। क्या रूप था ? दर्शकोंकी भीड़में जैसे तूफान आगया। बूढ़े-बच्चे, लड़के-लड़कियां और पर्देमें रहने वालीं स्त्रियां तक भी, 'वाह-वाह' कर उठे।

ब्रह्मगुलालकी पत्नी भी कम खुश न हुई। थोड़ा गर्व भी हुआ—उसे ! उसका पति कितना चतुर, कितना लोकप्रिय है—इस बातका। उस बेचारीके पास इतनी बुद्धि कहां थी कि बहुरूपियेपनका अध्ययन करती, कि इसका समाजमें—सभ्य समाजमें क्या स्थान है ?···

लोगोंकी प्रेरणा और अपनी कुशल कला पर संतोषित ब्रह्मगुलाल राज-दर्बार पहुँचा। सारे सभासद मंत्रमुग्धकी तरह देखने लगे। हर जुबान पर कलाकी प्रशंसा थी, ब्रह्मगुलालकी तारीफ़ थी।

महाराज भी मुस्कराये।

ब्रह्मगुलालके वेष-परिवर्तन पर, या उसकी निश्च-प्रवृत्ति पर ?—यह किसे मालूम। महाराजने ब्रह्म-गुलालके बारेमें यों सुन तो बहुत पहलेसे रक्खा था, लेकिन देखनेका मौका आज ही मिला था।

बोले—'खूब हो भई, ब्रह्मगुलाल।'

× × ×

[२]

पिताने समझाया, माताने मना किया। और भी दो चार बड़े-बूढ़ोंने कहा, कि—'यह काम छोड़ दो ब्रह्मगुलाल। इससे तुम्हारे पिताकी आँखें नीची होती हैं। जिसे तुम नामवरी समझते हो, असलमें वह बदनामी। है इसलिए कि यह कृत्य कुलीनोंमें बुरा समझा जाता है। और जो नामवरी करने वाले हैं,

वे स्वयं इसे करते, लेकिन तुम्हारा हौंसला ही बढ़ाते रहते हैं। क्योंकि उन्हें तुममें कुछ खास मुहब्बत नहीं। अपना मनोरञ्जन क्यों छोड़ें ? उन्हें तुम्हारे सुधार-बिगाड़से क्या ?'

ब्रह्मगुलाल सबकी सुनता और चुप रहता। उत्तर देनेकी ग़लती वह न करता। वजह इसकी यह कि वह अब इस रास्तेसे हट नहीं सकता था। और तब, नकारात्मक उत्तर बुजुर्गोंका अपमानके रूपमें होता, जो उसे मंजूर न था।

कभी सोचता भी कि बंद करदे यह बहुरूपियापन। पर, जब बराबरके चार यार-दोस्त मिलते तो, सोचना सोचने-भर ही रह जाता, क्रियात्मक न बनता।

और यों, वह बराबर अपने काममें आगे बढ़ता गया,सहकारी था—'मथुरामल।' जो दोस्त था, जिगरी-दोस्त ! 'कृष्ण-बलदेव' राम-रावण, आदि कितने ही अभिनय ऐसे होते जिनमें उसको भी भाग मिलता।

अभिनय-कला पराकाष्ठाको पहुंच रही थी। किसी दिन 'सीता बनवास' था तो किसी दिन 'चीर-हरण'। 'धेनु-चरावन-लीला' हुई कल, तो आज 'कंस-वध'।

जब एक दिन घोड़ा बन कर आया तो जनता दंग रह गई। एक सिरेसे दूसरे छोर तक—'कमाल है।'—वाह, क्या बात है ?'—की आवाज़ गुँज उठी।

सारा राज दर्बार प्रशंसक बन चुका था, उसी तरह जैसी कि नगरमें धूम थी। लोग उत्सुकतासे प्रतीक्षा करते—'देखें, आज क्या रूप बन कर आता है ? और जब 'रूप' सामने आता तो कलेजा बाँसों उछलने लगता—मारे खुशीके। बच्चे ही नहीं, बड़े बड़े भी खाना-पीना भूल बैठते। चाहते—देखते ही रहें। क्या हू-बहू नकलकी है ? सुख मिलता उन्हें उसके दर्शनसे।

महाराज भी मुस्कराते तो जरूर अगर कुछ कह न पाते तो। लेकिन युवराज तो जी-खोल प्रशंसा करता। उसे इतना पसन्द आता यह सब, कि कुछ हद नहीं। मंत्री लोग भी गाहे-ब-गाहे हलकी तारीफ़ के एकाध शब्द निकाल ही बैठते। सम्भव है, कि युवराज या महाराजकी दृष्टिपर विचार करते हुए उन्हें ऐसा करना अनिवार्य हो जाता हो। पर यह ठीक है कि वे ब्रह्मगुलालके बढ़ते हुए सन्मान या प्रशंसा-पूर्ण सत्कारसे खुश नहीं थे। मनमें कुछ जलन थी,। वैसी ही, जैसी कि किसी के उत्थानमें कोइ दुष्ट जलता है। और उसे जनताकी नजरोंमें गिरानेके लिए, शत्रुता तक पर उतारू हो जाता है।

× × × ×

बनाना जितना कठिन होता है, बिगाड़ना उतना ही आसान। मंत्रियोंने जब ब्रह्मगुलालकी यशस्विता मलिन करना विचारा, तो एक आसान तर्कीब सूझ ही गई।

उन्होंने सोचा—'या तो ब्रह्मगुलालको कहना पड़ेगा कि यह स्वाँग मुझसे न होगा। या—जब स्वाँग भरके लायेगा, तो खिजालत लिए बिना वापिस न लौटेगा।'''लेकिन यह होगा तब, जब युवराज स्वयं दर्बारमें अपने मुँहसे कहना स्वीकार करलें।,

× × × ×

[२]

'रास लीला' देखनेके बाद, युवराज उठा—मुँह खुशीसे चमक रहा था—लीलाके रुचिर-मनोरञ्जनने उसे मंत्र-मुग्ध कर रक्खा था।

सभा खचाखच थी। महाराज भी सिंहासनासीन हुए मुस्करा रहे थे। कि युवराजने कहना प्रारम्भ किया—

'ब्रह्मगुलालकुमार ! मैं तुम्हारे कामसे बहुत खुश

हूँ। मुझे जो आनन्द तुम्हारे द्वारा मिल रहा है, उसे प्रकट नहीं कर सकता।'

ब्रह्मगुलालने कृतज्ञतासे सिर झुका लिया।

युवराज बोलते गए—'मेरी इच्छा है, कि तुम कल 'शेर'का रूप बनाकर लाओ! बोलो, क्या ला सकोगे?'

ब्रह्मगुलालने उसी क्षण उत्तर दिया—'मुश्किल नहीं है, युवराज! आज्ञा-पालन कर सकता हूँ—ब-शर्ते कि उस वेषमें होने वाले कुसूर माफ़ कर दिए जाएँ।'

युवराजने चलती नज़रसे एक बार मंत्री-मण्डल की ओर देखा, फिर महाराजकी ओर! तब उत्तर दिया—'हाँ! तुम्हारी यह शर्त मंज़ूर है।'

× × × ×

[४]

प्रहर-भरसे कुछ अधिक रात बीत चुकी थी।—दर्बार अब भी लगा हुआ था।, लोगोंमें एक सनसनी थी, कौतूहल था; जिज्ञासा थी और थी—उमंग।

लोगोंने देखा, आश्चर्य-चकित नेत्रोंसे देखा—जंगलका राजा अपनी मस्तानी चालसे, दहाड़ता हुआ राज-दर्बारमें प्रवेश कर रहा है। वही क़द, वही चपटी नाक, क्रूर आँखें, तीक्ष्ण नख और दुर्बल कटि! सचमुच, शेर बबर ही तो था?···

बच्चे चीख उठे, स्त्रियां डर गईं, बूढ़े काँप उठे और नौजवान दंग रह गए। यह खबर फैली न होती कि 'कल ब्रह्मगुलाल शेरका रूप धारण करेगा।'—तो अनर्थ हो जाना अवश्यंभावी था। खैर थी, कि भय अस्थायी रहा और तुरन्त मनोरञ्जनमें तब्दील हो गया।

अभिनयमें 'निजता' को खो देना ही कलाकार की महत्ता है। और ब्रह्मगुलाल था इस कलाका सिद्ध-हस्त खिलाड़ी। यही वह कारण था जो उसका अभिनय, स्वाभाविक—नैचुरल—होकर, लोकप्रियता को अनायास प्राप्त कर लेता था।

बढ़ी हुई हजामत, मैले-फटे कपड़े जैसे मनमें दीनता भर देते हैं! या—हैट, बूट, सूट, पहिनते ही दिल बादशाह बन जाता है। उसी तरह जैसा वेष धारण किया जाय वैसा ही मन भी हो उठता है। पूर्ण नहीं, तो कुछ न कुछ किसी भी दृष्टिकोणसे—वे गुण उसमें आए बिना नहीं रहते, जोकि उस रूपके लिए बहुत जरूरी हो।

नगरके अनेक कण्ठोंसे निकली हुई, प्रशंसा सुनता हुआ ब्रह्मगुलाल दर्बार पहुंचा तो सभा चकित रह गई! महाराज भी विस्मयकी दृष्टिसे देख उठे! युवराज भी समीप ही था और मंत्रि-गण भी!···

दो बार ज़ोरसे दहाड़ा! जमुहाई ली!

कि उसने देखा—'युवराजके पदसे सटा एक हिरण बँधा है—भोलाभाला, भयाकुलित! जैसे मृत्युको पास देखकर, जीवनके लिए मचल रहा हो! निरीह प्राणी!'

ओह!

अब वह समझा—शेरका रूप रखानेका रहस्य! युवराजकी कूटनीति!!

सोचने लगा—'अगर हिरणको छोड़ता हूं, उस पर दया करता हूं, तो शेरके रूपको—अपनी कलाको कलंकित करता हूं! और अगर मारता हूं—हत्या करता हूं, तो अनर्थ! पाप घोर-पाप!! संकल्पी-हिंसा!!! अपने जैनत्वको, अपनी मान्यताको और अपने आत्मधर्मको बर्बाद करता हूं! दोनों मार्ग अधम हैं! ओफ़! धोखा दिया गया, बुरा किया!'

ब्रह्मगुलाल खड़ा सोच ही रहा था, कि मंत्रियो

का इशारा पाकर, युवराज उठा, और उत्साह-भरी तेज आवाजमें बोला—

'तू सिंह है या गीदड़ ? जो सामने खड़ी हुई शिकार को देखकर भी चुप बैठा है ! धिक्कार है ऐसी जिंदगी को, व्यर्थ ही माताने पैदाकर दुनियाँके सामने रक्खा !'

ब्रह्मगुलाल तिलमिला गया—मारे क्षोभके ! भरी सभामें, मेरे इजलास यह अपमान ? जिसने जीवनमें आधी-बात किसीकी नहीं सुनी ! जो सदा प्रशंसाके वातावरणमें खेलता-कूदता रहा ! क्या वह अपनी माँकी, अपनी, और शेर जैसी वीर जातिकी बदनामी सुनता रहे ? जिसकी कि खाल ओढ़कर वह प्रतिनिधि बना खड़ा है ।

वह नौजवान था । उसकी रग रगमें गर्म खून था, स्वाभिमानकी मनुष्यता थी ! और इतने पर भी वह बना हुआ था—जंगलका राजा, जो निडरतामें अपनी सानी नहीं रखता ।

क्रोधमें भरा हुआ वह एक उछालमें युवराजके समीप जा पहुँचा । और तीक्ष्ण-नखोंकी एक थापसे जीते-जागते, बोलते-चालते, राजकुमारका काम तमाम कर दिया ।

खूनकी धारा बह उठी ।···

सारी राज-सभा, सारा राज परिवार 'हाय !' कर उठा ।···

आर्त्तनाद !

करुण-रुदन !!

तीव्र-शोक !!!

पागलोंकी तरह महाराज चिल्लाये—'मेरा बच्चा !' और फिर बेहोश ।

हिरण डोरीमें बँधा, विकलतासे चक्कर काट रहा है ! युवराजका आहत, निर्जीव-शरीर खूनमें लथ-पथ जमीन पर ऐसे पड़ा है—जैसे जादूगरने जादूके बलसे कत्लकर भीड़में डाल दिया हो ।

खूनमें सने पंजे लेकर ब्रह्मगुलाल सभा-भवनसे बाहर निकल गया ।

कुहराम आकाश-भेदने लगा ।

× × × ×

[५]

नगर-भरमें श्मशान-उदासी ! न कहीं—नाच रंग, न उल्लास-विलास ।

ब्रह्मगुलालके अभिभावक कष्टमें पड़ गए—सोचते-विचारते ही दिन बीतता ।—'न जानें क्या होगा ?'

सब यही कहते—'बुरा हुआ, बहुत बुरा । इससे ज्यादा और होता भी क्या ? अकेला बेटा था, राज्य का उत्तराधिकारी ।'

और ब्रह्मगुलालको भी कुछ कम पश्चाताप नहीं था।'···क्या होगा ?' इसका डर तो उसके दिलमें नहीं था । लेकिन पीड़ा इसकी बहुत थी कि बेचारे राज-कुमारका सर्वनाश उसके हाथों हुआ । इरादतन कत्ल उसने नहीं किया, मारना अभीष्ट नहीं था । पर, शायद उसे मरना था इसीके हाथ । आगया क्रोध, फिर सँभाले न सँभला । और वही होकर रहा, जो न होना चाहिए था—हर्गिज़ नहीं ।···

दो, तीन दिन बीत गए ।—

अन्त:पुरका रुदन कुछ क्षीण हुआ ! महाराजके आँसू कुछ थमे ! चित्तमें थोड़ी दृढ़ता आई ! पिछले दिनों बड़े-बड़े विद्वानोंने असार-संसारकी व्याख्या महाराजको समझाई है । चोटखाये दिलोंने अपना रोना रोकर, महाराजकी पीड़ाको हल्का करनेका यत्न किया है । और महाराजने स्वयं भी अपना कर्तव्य

महसूस किया है, कि उन्हें व्यर्थ रोना नहीं, रोतोंको चुप करना चाहिए। घरमें वह 'बड़े' जो हैं।

प्रधान-सचिव बोले—'रोनेसे अगर कोई लौट आता होता तो लोग मौतसे डरते ही क्यों? तीन दिनमें इतना रोया गया है कि उसे अनिच्छा भी लौट आना पड़ता। पर, गया हुआ कभी, किसीका लौटा है? ऐसे ही दुखोंका नाम तो दुनियाँ है। जो सामने आता है, भोगना ही पड़ता है—रोकर भोगो, या हँसकर। पर, यह जरूर है; किया बहुत बुरा।'

महाराजने धीरेसे पूछ दिया—'किसने?'

'किसने?—इसी ब्रह्मगुलालने, और किसने। क्या उसे यह चाहिए था? आपतो उसके बापकी शादी कराकर वंश-चलवाएँ। और वह आपके वंशका निर्मूल करे। है न, कृतघ्नता। इससे बुरा और वह कर क्या सकता था?'

'पर, मेरा ख़याल है—बुरा किया है, वह मेरे भाग्यने। नहीं, उससे शेरका रूप रखनेको कहा ही क्यों जाता? और कहा ही गया, तो उसकी अपराध-क्षमाकी शर्त क्यों मंजूर होती? क्यों, है न?'

'हाँ! यह तो ठीक है! लेकिन महाराज! ऐसे आदमीका नगरमें रहना कदापि उचित नहीं। खूनी है, हत्यारा है—क्या ठीक, कब-क्या कर डाले?'

'लेकिन अब यों, इस तरह दण्ड देना भी तो अन्याय है, बदनामीका कारण है। लोग कहेंगे—अधिकार-मत्ताके ग़रूरमें इन्साफ भी भूल बैठे। कुसूर मांफ करने पर भी—उसे सजा दी, जिसका कि हक़ नहीं था।'

'यों नहीं, इसकी एक तर्कीब है—बड़ी खूबसूरत। वह, यह कि उसे 'दिगम्बर-साधु' का पवित्र-रूप रख कर आनेका हुक्म दिया जाए। फिर अगर वह उसे बदलता है, तो राजका अपराधी है, क्योंकि वह मुनि-धर्मके विरुद्ध चलता है, उसका अपमान करता है। और नहीं बदलता, तो नगर त्याग ही जाता है।'

चाल महाराजके मनमें समागई। बोले—'हाँ, यह ठीक है।'

× × × ×

'ब्रह्मगुलाल आज्ञा मिलते ही दर्बारमें उपस्थित हुआ! सिर नवा कर एक ओर खड़ा हो गया। महाराज कहने लगे—

'ब्रह्मगुलाल! जो हुआ है, वह बहुत दुखदाई हुआ है। उससे मेरा हृदय बहुत दुख गया है। मैं प्रतिक्षण अपनेको युवराजके पास जाता हुआ अनुभव करता हूं। मोह की प्रबलताने मुझे हतबुद्धि कर दिया है। तुम दिगम्बर-साधुका रूप रख कर लाओ, और मेरे विकल-हृदयको वैराग्य-रससे सन्तोषित करो।...'

ब्रह्मगुलाल क्षणभर चुप रहा!

राजकुमारकी दुखद-मृत्युकी स्मृतिने सजग होकर उसकी आँखोंमें आंसू भर दिए। महाराजकी शोक-शील मुद्राने भी उसे कम मर्माहत न किया।

गद्गद् कण्ठसे बोला—'जैसी आज्ञा।'

और लौट आया!

× × × ×

[६]

घर आया तो देखा—सब सगे-सम्बन्धी लौटने की प्रतीक्षामें बैठे हुए भविष्य की चिन्ता कर रहे हैं! तरह-तरहकी क़यास बन्दियाँ हो रही हैं! मुंह सबके उतरे हुए हैं।

स-कुशल ब्रह्मगुलालको लौटते देख, कुछ खुश तो जरूर हुए। लेकिन मनका भय दूर न हो सका—'न जानें क्या हुक्म हुआ हो?'

पूछने पर ब्रह्मगुलालने सविस्तार राज-आज्ञा सुना दी। और कहा—'आप सब लोग मौजूद हैं। कहिए, मुझे अब क्या करना चाहिए? दो रास्ते हैं—

या तो जन्म-भूमिका त्याग, या साधुता स्वीकार ?'

देर तक ऊहापोह होता रहा। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ।....

मथुरामल बोले—'स्वांग रखनेमें हर्ज क्या है ? मेरा तो खयाल है कि इसमें अच्छाई ही है, बुराई नहीं। महाराज शान्त हैं, तथा और शान्त ही होना चाहते हैं। जो अपने हुए अपराधके लिए शुभ है।'

'उनकी यह आज्ञा तो सर्वथा उचित है। दग्ध-हृदयको सन्तोष मिलना ही चाहिए। फिर जन्मभूमि त्यागका सवाल उठता ही कहां है ? उनकी इच्छानुकूल स्वांग रखनेमें अड़चन क्या है ? प्रत्यक्ष तो मालूम नहीं देती कुछ।'

ब्रह्मगुलालने गंभीर होकर कहा—'मेरे लिए तो कोई दिक्कत नहीं हैं। मैं पूछता सिर्फ इसलिए हूँ पीछे फिर आप लोग मुझे घरमें रहनेके लिए मजबूर न करें। क्यों कि...।'

बात काट कर पूछा गया—'क्या ?'

'इसलिए कि मैं साधुताको स्वांगका रूप देकर दूषित न कर सकूंगा। जिसके लिए इन्द्र-अहमिन्द्र जैसी महान आत्माएँ तरसती हैं।'

सबने अलग हट-हट कर, सलाह-मशविरा कर, तय किया—'लड़कपन है, समझता क्या है अभी। फिलहाल राज-आज्ञाका पालन होने दो, राजा प्रसन्न हो जाएँ, बस। फिर पीछे समझा-बुझा लेंगे। साधुतामें सुख तो है नहीं, जो वहां रम सकेगा। तलवारकी धार पर चला जाए, जैसी होती है। और ऐसे सैलानी क्या साधु बन भी सकते हैं ?'

और कहा गया—'हमें सब-कुछ मंजूर है। तुम राजाज्ञाका पालन करो।'

'ठीक ! अक्सर ऐसे शुभ-कार्योंमें घर वाले ही बाधक हुआ करते हैं। पर, मेरा सौभाग्य है कि मुझे मेरे घर वाले खुशीसे इजाज़त देते हैं।'—ब्रह्मगुलालने प्रसन्नतासे उत्तर दिया।

एकान्तमें स्त्रीसे पूछा तो वह बोली—'और सब क्या कहते हैं ?'

'सबने कह दिया है।'

'...तो, मैं क्या दूसरी बात कह सकती हूं—बन जाओ।'

× × × ×

[७]

रातभर !—

ब्रह्मगुलाल संसारकी अथिरता और जीवकी अशरणता पर गंभीरता-पूर्वक सोचता-विचारता रहा। हृदयमें वैराग्यकी ज्योति उद्दीप्त हो उठी थी। मोह-ममतासे दूर—बहुत दूर—जा चुका था—वह।

सुबह हुआ ! ब्रह्मगुलालको लगा—जैसे आजका प्रभात कहीं अधिक ज्योतिमान् है। अंधकारको हरनेकी अधिकसे अधिक क्षमता रखता है। अपूर्व-चमकसे निकला है आजका सूरज। ठीक उसके मनकी तरह उल्लासमय।

मन्दिर पहुँचा। भगवानके पवित्र श्रीपदोंमें, सविनय प्रणाम कर, सिर नवाया; और स्तुतिकी। देरतक उनकी शान्ति, और कल्याणकारी छविको निरखता रहा—अतृप्तकी तरह। और न जाने क्या-क्या प्रार्थनाएँ कर बाहर आया—आंगनमें।

नगरनिवासियोंके ठठ लग रहे थे। आते ही ज़रा लम्बे स्वरसे कहना शुरू किया—

'समाजके कर्णधार ! मैं भगवानके सन्मुख, आप लोगोंको साक्षी देकर भवबन्धन-विमुक्त करने वाली भगवतीदीक्षा ग्रहण करता हूं। दुःख है, कि दुर्भाग्य-

वश गुरुका समागम नहीं है, और न मुझे प्रतीक्षाका समय।'

देखते-देखते ब्रह्मगुलालने मोह-ममताकी तरह ही, वस्त्राभूषणका भी परित्याग कर दिया!...एक-दम प्राकृतिक !!...दिगम्बर !!!

भीड़के. श्रद्धासे मस्तक झुक गए!

सबके मुँहसे निकला—'धन्य'!

और दूसरे ही क्षण-वासना-विजयी साधु ईर्या-पथ निरखते राज-द्वारकी ओर जा रहे थे!

× × × ×

नरपुंगव दिगम्बर-साधु ब्रह्मगुलालने कहा—'राजन! मोही-जीवकी स्वान-वृत्ति है। वह लाठी मारने वालेको नहीं, बल्कि लाठीको काटता है। निमित्तको दोष देना नादानी है। असलमें भाग्य वह वस्तु है, जो निमित्तको ठेलकर आगे ले आती है। भाग्य और निमित्त दो बड़ी शक्तियाँ हैं—जिनके सामने बेचारा ग़रीब-प्राणी खिलौनामात्र रहजाता है!'

'दुनियामें कौन किसका पुत्र है, कौन किसका पिता? सब अपने भाग्यको लेकर आते; और चले जाते हैं। माँकी गोदमें लेटा हुआ बच्चा मर जाता है, और माँ देखती रहती है, बचा नहीं पाती। विवश मजबूर जो होता ज ता है, देखती रहती है। क्यों? भाग्य और निमित्तके आगे वह कुछ कर नहीं सकती—इसलिए!'

देर तक उपदेश चलता रहा। महाराज और सारा राजपरिवार, सारी राजसभा लगन और श्रद्धा के साथ सुनती रही।

महाराजके मनकी कालौंच धुल गई। पीड़ा भूल गए। दुनियाके स्वरूपको ज्ञानके दृष्टिकोणने बदल दिया। सोचने लगे—'कितना महान् है, यह ब्रह्म-गुलाल! नगर इस पर गौरव कर सकता है। राज्य का भूषण है यह!'

मंत्री विचारने लगे—'सच्चा-कलाकार है ब्रह्म-गुलाल! जिस वेषको अपनाता है, पूरा कर देता है, कभी नहीं छोड़ता। राज्यमें ऐसे कलाकारका रहना गर्वकी बात है।'

साधुताके तेजके आगे महाराजने सिर झुका दिया। गद्गद्-स्वरमें बोले—मेरे हृदयका पाप पुंछ गया, मैं स्वच्छ-हृदय होकर कहता हूं कि मैं तुमसे प्रसन्न हूं। बोलो, क्या चाहते हो? जो चाहो लो, और आनन्दसे रहो।'

ब्रह्मगुलालने उत्तर दिया—'आपके निमित्तसे मुझे वह चीज़ मिल चुकी है जो स्वर्ग-अपवर्गके सुख प्रदान करती है। उसे पाकर अब मुझे किसी चीजकी इच्छा नहीं है—राजन! मैं घरकी चहार-दीवारीमें नहीं, आत्म-विकासकी मुक्तिवायुमें विहार करूँगा।'

× × × ×

[८]

माँने, बापने, स्त्रीने सबने जी-तोड़ कोशिश की, पर ब्रह्मगुलालने साधुताका त्याग करना स्वीकार न किया। वह शहरसे दूर, वनमें आत्म-आराधनाके लिए बैठ गया।

खबर पहुँची—'घर चलो! रोटी तैयार है।'

बोला—'मेरा घर तो वह है, जहाँ 'मरण' ने दर्वाजेमें झाँक कर भी नहीं देखा! जाओ, मुझे विज्ञानकी ओर बढ़ने दो।'

उधर—

स्त्रीने अपने आराध्य मथुरामलको खिजाया—'इसीका नाम है दोस्ती? दोस्त भूखा-पियासा बीहड़ में बैठा है और आप घरमें मौजकी गुज़ार रहे हैं!

उसकी बहू रोते रोते जान दिए दे रही है। लिवा न लाओ—जाकर ! तुम्हारी तो मान लेगा।'

'बहुत कह चुका, कुछ बाकी नहीं रहा। जिद्दी है न ?—हमेशाका ?'

'फिर भी, एक बार और हो आओ हर्ज क्या है? शायद अब समझमें आजाय।'

मथुरामल चुप रहे—क्षण-भर ! फिर बोले—'जाता हूं, अगर वह न आया, तो मेरे लौटनेकी भी आशा न करना।'

—और चल दिए !

मथुरामलकी बातें ब्रह्मगुलालने सुनीं और फिर गंभीर स्वरमें बोला—'भाई ! यह वह स्वाँग है, जो एक बार रख लेने पर बदला नहीं जाता। क्यों व्यर्थ मुझे अ-कल्याणकी ओर लेजाना चाहते हो ? देव-दुर्लभ इस भगवती-दीक्षाको ग्रहण कर त्यागना, क्या मनुष्यता है ?'

मथुरामलने जैसे आत्म समर्पण कर दिया ! चरणोंमें माथा टेकते हुए बोले—'तो ऐसी देवदुर्लभ-वस्तु अकेले तुम्हारे ही बाँटमें रहे, यह मुझे बर्दाश्त नहीं ! इसलिए कि मैं तुम्हारा दोस्त रहा हूं, मेरा बहुत-कुछ तुम पर अधिकार है।'

× × × ×

जीवन-धारा
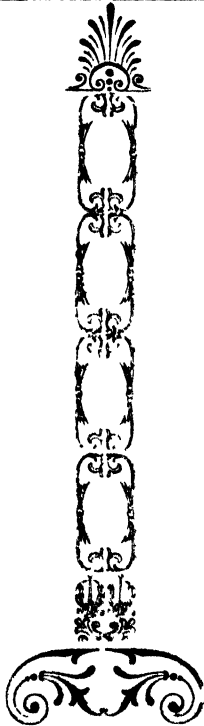
बहती है जीवन की धारा !

मलिन कहीं पर, विमल कहीं पर !
थाह कहीं, तो अतल कहीं पर !
कहीं उगाती, कहीं डुबोती दायाँ बायाँ कूल-किनारा !!
बहती है जीवन की धारा !

तैर रहे कुछ, सीख रहे कुछ !
हँसते हैं कुछ, चीख रहे कुछ !
कुछ निर्मम हैं लदे नाव पर, खेता है नाविक बेचारा !!
बहती है जीवन की धारा !

साँस साँस पर थकने वाले !
पार नहीं जा सकने वाले !
उब-डुब उब-डुब करने वाले, तुम्हें मिलेगा कौन सहारा ?
बहती है जीवन की धारा !

—'यात्री'

क्या पर्दा सनातन प्रथा है?

(लेखिका—श्री ललिताकुमारी जैन पाटणी, 'विदुषी' प्रभाकर)

लोगोंके सामने जब यह प्रश्न उठता है कि स्त्रियां पर्दा करें या न करें तो जो लोग एक ही साथ यह कह उठते हैं कि 'करें और ज़रूर करें' वे अपनी बातको पुष्ट करनेके लिए सबसे पहले यही युक्ति पेश करते हैं कि स्त्रियां आज ही कोई नया पर्दा नहीं करने लगी हैं जो इसके करने या न करनेका सवाल उठाया जाय। पर्दा-प्रथा हमारे बड़े-बूढ़े पुरखाओंसे चली आ रही है। हमारी मांने पर्दा किया, दादीने पर्दा किया, बड़ी दादीने पर्दा किया और पड़दादियोंकी दादी पड़दादियोंने किया। इस तरह आगे बढ़ते ही चले जाइए। पर्दा करनेका क्रम बीचमें कहीं न टूटा और न अब टूट ही सकता है।

नहीं कहा जा सकता ऐसी बेढंगी युक्तियां देने वालोंका संसार कब और कहांसे शुरू होता है—इनकी पांच सात पीढ़ी पहलेसे या इससे भी पहले। असलमें हमारे समाजमें फैले हुए रीति-रिवाजोंके सम्बन्धमें हम लोगोंमें ऐसी ही ग़लत धारणाएँ फैली हुई हैं जिनके कारण वे नष्ट नहीं किए जा सकते। आम लोग, उनके सामने जो पद्धति उनकी एक दो पीढ़ियोंसे चली आ रही होती है उसको प्राचीन और सनातन मान बैठते हैं। और जब उसके दूर करनेका सवाल खड़ा होता है तो एकदम आग-बबूला हो उठते हैं—ठीक उसी तरह जैसे कोई उनकी मौरूसी जायदादको ज़ब्त करने या उनसे छीननेकी कोशिश कर रहा हो। यहां तक कि, चूंकि उनकी धारणाके अनुसार कोई रिवाज सनातन है, वे इसके सम्बन्धमें हलकीसी टीका-टिप्पणी भी बरदाश्त नहीं कर सकते। यही बात आज जब कभी पर्दा-प्रथा उठाने का सवाल खड़ा होता है तो सबसे पहले सामने आती है।

लोग यही समझते हैं यह प्रथा अनादिकालसे चली आ रही है। कुछ अर्से पहले भी पर्दा-प्रथाका अस्तित्व समाज में था या नहीं यदि इस पर हम थोड़ासा भी विचार करें तो आसानीसे समझमें आ सकता है। फिर हम भूलकर भी यह न मानें कि पर्दा-प्रथा सनातन प्रथा है और इसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए।

जहां तक इतिहास साक्षी है यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि पर्दा-प्रथा किसी भी तरह सनातन प्रथा सिद्ध नहीं हो सकती। वेद, रामायण, महाभारत, इतिहास, पुराण और शास्त्र ही इस बातको सिद्ध करते हैं कि प्राचीन कालमें स्त्रियां पर्दा नहीं करती थीं, पुरुषोंके साथ यज्ञमें बैठती थीं, होम करती थीं, शास्त्रोंमें पारंगत होती थीं, शास्त्रार्थ करती थीं, लड़ाईके मैदानमें जाती थीं, तलवार और बाणोंके जौहर दिखाती थीं, सभाओंमें व्याख्यान देती थीं और धर्मके प्रचार के लिए देश-विदेशमें भी घूमती थीं।

क्या लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और कालीने पर्दा किया था? क्या गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा घूंघटकी आड़में रहीं थीं?

हमें जैनधर्मकी प्रसिद्ध सतियों और आदर्श वीराङ्गनाओं के जीवनचरित्रमें कहीं भी पर्देका नाम नहीं मिलता है। सती अंजना, धारिणी, चन्दनबाला, सुभद्रा, राजुल, ब्राह्मी, सुन्दरी, कलावती, जयन्ती आदि किसी भी सतीके जीवन-चरित्रमें पर्देका उल्लेख नहीं है, बल्कि उन्होंने अपने जीवनमें ऐसे ऐसे साहस और वीरतापूर्ण कार्य किए हैं, जिनसे पर्दा-प्रथाकी प्राचीनता पर एक असह्य चोट पड़ती है। किसीने अपना जीवन सिंहनीकी भांति जंगलोंमें बिताया, किसीने

देवोंसे पूजा प्राप्त की, किसीने ब्रह्मचारिणी होकर जगतको सदुपदेश दिया, किसीने अपने शीलकी महिमासे स्त्री-जाति का मुख उज्ज्वल किया और लोग उसके दर्शनोंसे अपने नेत्रोंको सफल समझने लगे।

कैकेयी दशरथके साथ युद्धक्षेत्रमें जाती थी, यह बात आज स्त्रीजातिके साहसका बखान करते हुए बड़े उत्साह और गर्वके साथ कही जाती है। सीताने रामके साथ चौदह वर्ष तक बनमें रहकर उनके कष्टोंमें साथ दिया। यादवोंके द्वारा अर्जुन के घिर जाने पर सुभद्रा अर्जुनकी सारथी बनी थी। वनवास के समय द्रोपदी अर्जुनके साथ रही।

देवी भारती मंडनमिश्र और शंकराचार्यके शास्त्रार्थमें मध्यस्थ बनी और मंडनमिश्रके हार जाने पर उसने स्वयं शास्त्रार्थ किया। अशोकके ज़मानेमें राजकुमारियों व अन्य स्त्रियोंने दूर दूर देशोंमें जाकर बौद्धधर्मका प्रचार किया।

हर्षकी विधवा बहिन राज्यश्री ह्वेनसांगका व्याख्यान सुनने राजसभामें बैठती और वार्तालाप करती थी। मुहम्मद बिन कासिमने जब सिन्ध पर हमला किया तब राजा दाहिर की रानीने स्वयं शस्त्र धारण कर शत्रुओंका सामना किया। महारानी दुर्गावतीने युद्धमें अपना कौशल दिखाया। महारानी लक्ष्मीबाईने रणचण्डीकी भांति अंगरेज़ोंका मुकाबिला किया। अहिल्याबाईने खुले मुंह राजसिंहासन पर बैठकर शासन किया।

इस अवस्थामें यह मानना कि पर्दा सनातन प्रथा है एक बहुत ही उपहास-जनक बात है। बल्कि हमें इस बात पर अफ़सोस और दुःख प्रकट करना चाहिए कि जिस भारतमें ऐसी ऐसी आदर्श स्त्रियां हो चुकी हैं, आज उसी भारतमें उनकी ही पुत्रियोंको पर्देकी चहारदीवारीमें बन्द रहना पड़ता है और वे अपना जीवन भेड़ोंकी भांति कायरतासे बिता रही हैं। मुख कान्तिहीन है, साहस नाममात्रको भी नहीं है। बिल्ली और चूहेकी खटपटसे हृदय धड़कने लगता है। किसी भी आफ़तको झेलनेकी सामर्थ्य नहीं है। मुंह पर ज़र्दी छाई हुई है और शरीर रोगोंका स्थान बना हुआ है। यदि किसी शास्त्रमें, पुराणमें या ग्रन्थमें यह लिखा हुआ मिल भी जाय कि अमुक स्त्रीने पर्दा किया था वह पर्दा करती थी तो उसका कोई महत्व नहीं है। बल्कि मैं तो यहां तक कहूंगी कि यदि वेद, पुराण और स्मृतियों अथवा शास्त्रोंसे ही पर्दा-प्रथाकी प्राचीनता सिद्ध होजाय और ढेरके ढेर स्त्रियोंके उदाहरण उनमें मिलने लगें जो पर्दा करती थीं और यह बात भी प्रमाणित होजाय कि पर्दा-प्रथा अनादिकालसे चली आ रही है तो भी हमें इसके उखाड़नेके लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए। यह हमारी कितनी मूर्खता है कि हम किसी भी पद्धतिको उसके गुण-अवगुण विचारे विना केवल इसी बात पर मानने लगे हैं कि वह हमारे पूर्वजोंकी चलाई हुई है अथवा पुरानी है। कोई चीज़ पुरानी होनेपर भी अहितकर हो सकती है और नई होने पर भी लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। प्राचीन कालसे तो बहुतसी पद्धतियां चली आ रही हैं। झूठ बोलना, चोरी करना भी अनादि कालसे चला आ रहा है। पाप उतना ही पुराना है जितना पुण्य। धर्म और अधर्म भी साथ साथ चले आ रहे हैं। कर्म और आत्माका सम्बन्ध अनादि है। लेकिन कोई यह नहीं कह सकता कि भाई झूठ बोलना तो तुम्हारे पुरखोंसे चला आ रहा है अतः तुम भी झूठ बोला करो। पाप करनेके लिए कोई उपदेश नहीं देता है और न इसका कोई समर्थन ही करता है। कर्म और आत्माका सम्बन्ध कितना गहरा और अनादि है पर फिर भी आत्मा कर्मोंसे छुटकारा पाने के लिए सतत लालायित रहता है। कोई पद्धति या रस्म चाहे कितनी ही पुरानी क्यों न हो अगर उसे बुद्धि और युक्ति कबूल नहीं करती है तो उसे फौरन ही छोड़ देना चाहिए। आज पर्देके सम्बन्धमें भी यही बात है।

इसलिए प्राचीन भारतमें पर्दा था यह मानकर पर्देको जारी रखना और उसका समर्थन करना बहुत बड़ा अज्ञान और हठ है।

प्राग्वाट जातिका निकास

(ले०—श्री अगरचन्द नाहटा)
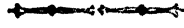
श्रद्धेय ओझाजीने अपने "विमलप्रबन्ध और विमल" नामक लेख* में विमलप्रबन्धकी समालोचना करते हुए प्राग्वाट वंशके बारेमें निम्न शब्द लिखे हैं:—

"श्रीमालके पूर्वमें उनके निवास करनेके कारण उनका प्राग्वाट (पोरवाड़) कहलाना, ये सारी बातें कल्पित हैं।"

"प्राग्वाट तो मेवाड़के एक विभागका पुराना नाम था। जैसाकि शिलालेखादिमें पाया जाता है। वहांके निवासी भिन्न भिन्न जगहोंमें जाकर रहे, जहाँ वे अपने मूल निवासस्थानके कारण 'प्राग्वाट' कहलाते रहे।"

अर्थात् प्राग्वाट कहलानेका कारण श्रीमालके पूर्व निवास करनेका न होकर मेवाड़के प्राग्वाट प्रदेशमें मूल निवास स्थान होना है।

पर नीचे लिखे ऐतिहासिक प्रमाण-पंचकसे उनका मत संशोधनीय प्रतीत होता है:—

(१) सीरोही राज्यके कायद्रा (कासहद) ग्रामके जैन मंदिरके आसपासकी देवकुलिकाओंमेंसे एकके द्वार पर यह लेख उत्कीर्ण है—

"श्रीभिल्लमालनिर्यातः प्राग्वाटः वणिजां वरः।
श्रीपतिरिव लक्ष्मीयुग्गोलच्छीराजपूजितः।
आकरो गुणरत्नानां, बन्धुपद्मदिवाकरः।
जज्जुकस्तस्यपुत्रः स्यात् नम्मरामौ ततोऽपरौ।
जज्जुसुतगुणाढ्येन वामनेन भवाद्भयम्।
दृष्ट्वा चक्रे गृहं जैनं मुक्त्यै विश्वमनोहरम्।"
सम्वत् १०९१।

—प्राचीन जैनलेख-संग्रह लें० ४२७

(२) सं० १२०१ ज्येष्ठशुक्ला १ की (मं० विमलके कुटुम्बकी) प्रशस्ति—

"श्रीश्रीमालकुलोत्थनिर्मलतरप्राग्वाटवंशाम्बरे।
आजन्मशीतकरोपमो गुणनिधिः श्रीनिन्नकाख्यो गृही।"

—अर्बुदगिरि-लेखसंदोह

(३) सं० १२२३ लि० हरिभद्रसूरिकृत चन्द्रप्रभस्वामी चरित्रमें—

"सिरिमालपुरुब्भवपोरुयाडवंसे सु-वाणिओ सगुणो।
मुत्तामणिव्वनिन्नय अभिहाणो ठक्कुरो आसि॥
गइपयडी होउ सिरीचंद्रीण कहिय भाविसुरच (?) इओ।
सो सिरिमालपुराओ पत्तो गंभूय नयरीए॥

—पाटण-जैनभंडार-सूची पृ० २५३

(४) सं० १२२६ फाल्गुण वदि ३ बीजोल्याके शिलालेखमें—

"निर्गतो प्रवरो वंशो देववृन्दैः समाश्रितः।
श्रीमालपत्तने स्थाने स्थापितः शतमन्युना॥३०॥
श्रीमालशैलप्रवरात्मूलपूर्वोत्तरः सत्त्वमुहः सुवृत्तः।
प्राग्वाटवंशोस्ति बभूव तस्मिन्मुक्तोपमो वैश्रवणाभिधानः॥३१॥

(५) सं १२३६ लि० नेमिचन्द्रसूरिकृत महावीरचरित्र की लेखनप्रशस्तिमें—

"प्राच्यां वाटो जलधिसुतया कारितः क्रीडनाय।
तत्रान्मैवप्रथमपुरुषो निर्मितोऽध्यक्षहेतोः।

* प्र० 'सुधा' वर्ष २ खंड १ सं० १ श्रावण ३०६ तु० सं० 'राजपूतानेका इतिहास' की पहिली जिल्दमें भी उन्होंने इसी का पुनः समर्थन किया है।

तत्संतानप्रभवपुरुषैः श्रीभृतैः संयुतोयं ।
प्राग्वाटाख्यो भुवनविदितस्तेन वंशः समस्ति ॥१॥

—पाटणभंडार-सूची पृ० २८६

उपर्युक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि पोरवाड़ोंका उद्गम स्थान श्रीमाल ही है विमलप्रबन्धका उल्लेख कल्पित नहीं होकर पूर्वपरम्पराके आधारसे लिखा ज्ञात होता है। अतः मुनि जयन्तविजयजीने नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका भा० १८ अ० २ पृ० २३६ में ओझाजीके कथनकी संगति बैठानेके लिए "सेठ नीनाकी माता श्री श्रीमाल ज्ञातिकी और पिता पोरवाड़ ज्ञातिके थे" लिखकर जो कल्पना की वह भी अनावश्यक प्रतीत होती है। मुनिश्रीने लिखा है कि 'श्री श्रीमालकुलोत्थ' है इसकी जगह यदि 'श्री श्रीमालपुरोत्थ' होता तो इसका अर्थ ठीक प्रकारसे संगत हो सकता था ‡ अर्थात् भिन्नमाल नगर से पोरवाड़ जाति उत्पन्न हुई।" और उपर्युक्त प्रमाणोंमें चन्द्रप्रभचरित्रकी प्रशस्तिमें, जो कि उसी विमलके वंशकी है, "सिरिमालपुरुब्भव" स्पष्ट पाठ है। अतः अन्य कल्पनाकी कोई गुंजाइश ही नहीं विदित होती।

‡ इस सम्बन्धमें मुनि जिनविजयजी अपने पत्रमें लिखते हैं कि मेरे विचारमें प्राग्वाट वर्तमान सीरोही राज्यका पूर्वभाग है जो आबूसे लेकर उत्तरमें नाडोल तक चला गया है। श्रीमालके परगनेसे यह ठीक पूर्वमें है, इसीलिए इसे श्रीमाल वालोंने प्राग्वाट कहकर उल्लिखित किया है।

एक प्रश्न

क्यों दुनिया दुखसे डरती है?
दुखमें ऐसी क्या पीड़ा है, जो उसकी दृढ़ता हरती है?

हैं कौन सगे, हैं कौन ग़ैर, कितने, क्या हाथ बँटाते हैं?
सुखमें तो सब अपने ही हैं, दुखमें पहिचाने जाते हैं!
'अपने'-'पर' की यह बात सदा, दुखमें ही गले उतरती है!
क्यों दुनिया दुखसे डरती है?

दुख तो ऐसा है महामंत्र, जो ला देता है सीधापन!
सारे विकार, सारे विरोध तज प्राणी करता प्रभु-सुमिरन!
हर साँस नाम प्रभुका लेता, भूले भी नहीं बिसरता है!
क्यों दुनिया दुखसे डरती है?

दुनयाकी सारे बड़े ऐब, दुखियाको नहीं सताते हैं!
सुखमें डूबे इन्सानोंको बेशक हैवान बनाते हैं!
दुख सिखलाता है मानवता, जो हित दुनियाका करती है!
क्यों दुनिया दुखसे डरती है?

पतझड़के पीछे है बसन्त, रजनीके बाद सवेरा है!
यह अटल नियम है—उद्गमके उपरान्त सदैव बसेरा है!
दुख जानेपर सुख आएगा, सुख-दुख दोनोंकी धरती है!
क्यों दुनिया दुखसे डरती है?

[श्री 'भगवत्' जैन]

वीरसेवामन्दिरमें वीरशासन-जयन्ती-उत्सव

इस वर्ष वीरसेवामन्दिर सरसावामें श्रावण कृष्णा प्रतिपदा और द्वितीया ता० ९-१० जुलाई सन् १९४१ दिन बुधवार-गुरुवारको वीरशासन-जयन्तीका उत्सव गतवर्षसे भी अधिक समारोहके साथ मनाया गया। नियमानुसार प्रभात फेरी निकली, झंडाभिवादन हुआ, मध्याह्नके समय गाजेबाजे के साथ जलूस निकला और फिर ठीक दो बजे जल्सेका कार्य प्रारम्भ हुआ। मनोनीत सभापति बाबू जयभगवानजी वकील पानीपतके कुछ अनिवार्य कारणोंकी वजहसे न आसकने कारण श्री जैनेन्द्र गुरुकुल पंचकूलाके अधिष्ठाता पं० कृष्णचन्द्रजी जैन दर्शनशास्त्रीके सभापतित्वमें जल्सेका कार्य शुरु हुआ और वह दोनों दिन दोनों वक्त बड़े भारी आनन्दके साथ सम्पन्न हुआ। जल्सेमें बाहरसे सहारनपुर, रुड़की, देवबन्द, तिसा, मुजफ्फरनगर, मेरठ, देहली, सुनपत, अब्दुल्लापुर, जगाधरी, पंचकूला और नानौता आदि स्थानोंसे अनेक सज्जन पधारे थे, जिनमें बा० सूरजभानजी वकील, न्यायाचार्य पं० माणिकचन्द जी (सकुटुम्ब), पं० जयचन्द्रजी आयुर्वेदाचार्य, बा० माईदयालजी बी०ए०, बा० वीरचन्दजी वकील, बा० कौशलप्रसादजी, पं० धरणीन्द्रकुमारजी शास्त्री, पं० मुन्नालालजी, पं० सुमेरचन्दजी न्यायतीर्थ, बा० मोतीरामजी फोटोग्राफर, ला० रूडामलजी, ला० इन्द्रसैनजी, भगतसुमेरचन्दजी, पं० काशीरामजी 'प्रफुल्लित', श्रीमती भगवतीदेवी और श्रीमती जयवन्तीदेवी के नाम मुख्य हैं। पं० मुन्नालालजी समगौरिया प्रचारक जैन अनाथाश्रम देहली मय अपनी गायन मंडलीके पधारे थे।

मंगलाचरण, तिथि-महत्व और आगत पत्रोंका सार सुनानेके अनंतर सभामें भाषणादिका कार्य प्रारंभ हुआ, जिसमें सभाध्यक्ष पं० कृष्णचन्द्रजी जैन दर्शनशास्त्री, पं० धरणेन्द्रकुमारजी शास्त्री, पं० सुमेरचन्द्रजी न्यायतीर्थ, पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, चि० ब्राह्मीदेवी पोती पं० माणिकचन्द्रजी, पं० काशीरामजी शर्मा, पं० ओमप्रकाशजी शर्मा, बा० माईदयालजी, बा० कौशलप्रसादजी, पं० शंकरलालजी न्यायतीर्थ, पं० मुन्नालालजी समगौरियाने भाग लिया और अनाथालय देहलीके जैन कुमारों आदिके हृदयग्राही गायन हुए।

भाषण सब ही अच्छे प्रभावके एवं महत्वके हुए हैं। सभाध्यक्ष पं० कृष्णचन्द्रजी दर्शन शास्त्रीने वीरशासन जयन्ती का इतिहास बतलाते हुए इस बातको खासतौरसे बतलाया कि मुख्तार श्री पं० जुगलकिशोरजीने सबसे पहले सन् १९३६ में धवला और तिलोयपण्णत्ती परसे वीरशासन जयन्तीकी तिथिको मालूम करके उसे सबसे पहले उत्सवके रूपमें परिणत किया है और उसके प्रचारमें काफी प्रयत्न किया है; उसीका फल है कि हम लोग वीरशासन जयन्तीके महान् आदरणीय कल्याणकारी दिवसको जान सके हैं। और हमें हर्ष है कि इस महान पर्वका प्रचार भी समाजमें अब यथेष्ट-रूपसे होने लगा है। इसका सारा श्रेय मुख्तार साहब और उनके वीरसेवामन्दिरको है। वीरसेवामन्दिरकी स्थापनासे पहले वीरशासन जयन्तीको कोई जानता भी नहीं था। बा० कौशलप्रसादजी मैनेजिंग डायरेक्टर भारतआयुर्वेदिक केमिकल्स सहारनपुरके भाषण तो बड़े ही ओजपूर्ण और असर कारक थे। उन्होंने अपना भाषण देते हुए यह भी बतलाया कि मुख्तार साहबकी कृति 'मेरी भावना' ने तो संसारमें बड़ा ही सम्माननीय स्थान प्राप्त किया है, उसीमें आध्यात्मिक मदहके कारण पांच हजार जन समूह नदीके किनारे एक

साथ बैठकर मेरी भावनाका जब पाठ करते हैं उस समयका दृश्य बड़ा ही रमणीय मालूम होता है और हृदय आनन्द विभोर हो उठता है। वास्तवमें यह भावना मानव जीवनको आदर्श बनानेमें बड़ी ही सहायक है।' इन सब भाषणोंमें वीरशासनके महत्वका दिग्दर्शन करानेके साथ साथ वीरके पवित्रतम शासन पर अमल करने और जैन साहित्यके संरक्षण प्रकाशन एवं प्रचारका कार्य करनेके लिये विशेष जोर दिया गया। और वीरशासनके अहिंसा आदि खास सिद्धान्तोंका इस ढंगसे विवेचन किया गया कि उपस्थित जनता उससे बड़ी ही प्रभावित हुई और सभीके दिलों पर यह गहरा प्रभाव पड़ा कि हम वीरशासनकी वास्तविकचर्यासे बहुत दूर हैं और उसे अपने जीवनमें ठीक ठीक न उतार सकनेके कारण इतनी अवनत दशाको पहुँच गए हैं। वीरके शासन पर अमल करना तो दूर उनके शासन सिद्धान्तोंसे भी हमारे भाई अधिकांशत: अपरिचित ही हैं। यही कारण है कि हम में ईर्षा, द्वेष, अहंकार और विरोध इतनी अधिक मात्रामें आगए हैं। स्वार्थतत्परताने तो हमें और भी अधिक पतित बनानेका प्रयत्न किया है। और पारस्परिक फूटने हमें सब तरफसे घेर लिया है। न हममें प्रेम है और न संगठन। वीरशासनके समुदार सिद्धान्तोंका यथार्थ परिज्ञान न होनेसे उसका यथेष्ट प्रचार भी नहीं हो सका है। उस सिद्धान्तके प्रतिपादक शास्त्रोंका हम यथेष्ट संरक्षण भी नहीं कर सके हैं। वीरशासनका प्रतिपादक बहुतसा प्राचीन आगम साहित्य यद्यपि हमारी लापरवाही आदिसे नष्ट हो गया है और जो कुछ इस समय अवशिष्ट है वह उन काल कोठरियोंमें बन्द पड़ा है जहां वायुका स्पर्श भी नहीं है और जो दीमक-चूहों आदिका भक्ष्य हो रहा है। जब कि विदेशीय विद्वान् हमारे साहित्यकी प्राप्ति तथा प्रकाशित करनेके लिये लाखों रुपया खर्च करते हैं तब हमें इतनी भी खबर नहीं है कि हमारा साहित्य कितना है, क्या क्या है, किस किसके द्वारा निर्मित हुआ है और कहां किस दशामें पड़ा हुआ है? फ्रांस, जर्मन आदि देशोंने साहित्यके प्रकाशनमें जो महत्वपूर्ण कार्य किया है उसीका फल है कि वे देश समुन्नत देखे जाते हैं। जिस देश या जातिका साहित्य और इतिहास नहीं वह देश और जाति कभी भी समुन्नत नहीं हो सकती है। जैन साहित्य कितना विशाल और महत्वपूर्ण है इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं। जैनसाहित्य भारतीय साहित्यमें अपना प्रमुख स्थान रखता है। जब तक जैन इतिवृत्तका संकलन न होगा तब तक भारतीय इतिहासका संकलन भी अधूरा ही रहेगा, इसे अच्छे, अच्छे चोटीके विद्वान मानने लगे हैं। जैनियोंकी पुरातत्व-विषयक विपुल सामग्री यत्र तत्र बिखरी हुई पड़ी है। हमारे श्वेताम्बर भाइयोंका ध्यान इस ओर बहुत कुछ गया है परन्तु दिगम्बर समाजका अपने साहित्य और इतिहासके प्रकाशनादिकी ओर कोई विशेष लक्ष्य नहीं है, वह उससे प्राय: उपेक्षा किये हुए है। ऐसे कार्योंमें उसे कोई खास दिलचस्पी नहीं है। यही कारण है कि दिगम्बर समाज अपने ग्रंथोंकी एक मुकम्मल सूची भी अभी तक नहीं बना सका है। जो साहित्य समाजमें प्राण प्रतिष्ठाका कारण होता है और जो वीर शासनके सिद्धान्तोंके जाननेका अनुपम साधन है, उसके प्रति उपेक्षा होना मानों वीरशासनकी अवहेलनाका करना है। जैनसाहित्यका प्रकाशन एवं प्रचार किए बिना वीरके दिव्यशासनका जनताको यथार्थ परिज्ञान कैसे हो सकता है? अतः वीरके अनुयायियोंका परम कर्तव्य है कि वे तन-मन-धनसे जैनसाहित्यके प्रकाशन एवं प्रचारित करने का प्रयत्न करें और अपने साहित्यकी एक मुकम्मल सूची तय्यार करानेका भी प्रयत्न करें जिससे जनता सहज ही में जैनसाहित्यसे परिचित हो सके। दिगम्बरोंमें इस विषयकी भारी कमीको महसूस करते हुए उपस्थित जनताने दिगम्बर जैन ग्रंथोंकी एक मुकम्मल सूची बनानेके लिये वीरसेवामंदिर के संचालकोंसे अनुरोध किया और उसे शीघ्र कार्यमें परिणत

करनेके लिये निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया।—

"प्रत्येक जाति और देशके लिये उसके साहित्यका संरक्षण और प्रचार अत्यंत आवश्यक है। वीरशासनके प्रतिपादक जैनशास्त्रोंके यथेष्ट संरक्षण और प्रचारकी बात तो दूर, उनकी कोई मुकम्मल सूची भी अभी तक तय्यार नहीं हुई है, जिससे जैनसाहित्यका पूर्ण परिचय तथा उपयोग हो सके। हमें यह जानकर प्रसन्नता है कि श्वेताम्बर समाजने अपने ग्रंथोंकी अनेक विशालकाय सूचियां तय्यार करके प्रकाशित की हैं, परन्तु दिगम्बर समाजकी तरफसे इस दिशा मे कोई उल्लेखनीय प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ है, जिसके होनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। अतः वीरशासन-जयन्तीके पुनीत अवसर पर एकत्र हुई जैन जनता इस भारी कमीको महसूस करती हुई यह प्रस्ताव करती है कि सम्पूर्ण दि० जैन ग्रंथोंकी एक मुकम्मल सूची तय्यार की जाय और वीर-सेवामन्दिरके संचालकोंसे यह अनुरोध करती है कि वे इस महान् कार्यको शीघ्रसे शीघ्र अपने हाथमें लेवें। साथ ही, समाजसे प्रार्थना करती है कि वह वीरसेवामन्दिरको इस अत्यावश्यक शुभकार्यमें उदारतापूर्ण सहयोग प्रदान करे।"

प्रस्तावक बाबू कौशलप्रसाद
समर्थक—बा० दीपचंद वकील
अनुमोदक—बाबू माईदयाल

[यहां पाठकोंको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि इस प्रस्तावके पास होनेके कुछ दिनों बाद ही जब अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिर देहली गये तो उन्हें ला० धूमीमल धर्मदास जी की फर्मके मालिक ला० जुगलकिशोरजी कागज़ीने, जो बड़े ही सज्जन तथा धर्मात्मा हैं, इस कार्यके लिये एक हज़ार रुपयेकी सहायताका वचन दिया है। और देहली जानेसे पहले एक दूसरे महानुभावकी ओरसे भी अच्छी सहायताका आश्वासन मिला है, जिसकी रकम निश्चित होने पर उसे प्रकट किया जायगा। इससे यह प्रस्ताव शीघ्र ही कार्यमें परिणत होता हुआ नज़र आता है।]

अन्तमें पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवा-मन्दिरने स्थानीय तथा बाहरसे पधारे हुए सज्जनोंका और खासकर सभापति महोदयका आभार प्रकट किया और अपनी तथा वीरसेवामन्दिरकी ओरसे सबको धन्यवाद दिया। इस तरह यह उत्सव वीर भगवान और उनके शासनकी जयध्वनिके साथ बड़े ही आनन्दपूर्वक समाप्त हुआ।

हां, एक बात और भी प्रकट कर देनेकी है और वह यह कि ता० १० जुलाईको जैनमहिलाओंने भी एक सभा वीरसेवामंदिरमें श्रीमती जयवन्तीदेवीके नेतृत्वमें की, जिसमें अनेक महिलाओंके प्रभावशाली भाषण हुए, वीर-शासनजयंतीका महत्व बतलाया गया और उसके प्रति स्त्री-कर्तव्यको दर्शाया गया। —परमानन्द जैन शास्त्री

कमल और भ्रमर

ऊषा अपनी स्वर्णाभा से मुस्करा रही थी कि इतनेमें ही दिनेशका उदय हुआ!....

और, वसुधा हँस रही!

बागके निकट वाले तालाब पर मैं टहल कर लौट रहा था! पास ही एक अद्भुत दृश्य दिखाई दिया!

—एक अस्फुट कमल पर चार भौंर गुनगुनाते हुए मँडरा रहे थे......शायद........किसी प्रियकी प्रतीक्षामें....या....मधु-लालसामें....!!

सहसा कमल खिला, और उसकी गोदसे अपने एक मृत बन्धुका शव उन्हें उपहारमें मिला!

भौंरोंने धीरजसे उसे उठाया, परन्तु वह छूट कर पानीमें जा रहा!........वे फिर स्तब्ध हो गुनगुनाने लगे!

चेष्टा करके भी मैं समझ नहीं पाया—
वह उनका गुञ्जन था या रोदन!!

—जयन्तीप्रसाद जैन शास्त्री

'सयुक्तिक सम्मति' पर लिखे गये उत्तरलेखकी निःसारता

(लेखक—पं० रामप्रसाद जैन शास्त्री)

जैनसिद्धान्त भास्कर भाग ८ किरण १ मे प्रो० जगदीशचन्द्रका 'तत्वार्थभाष्य और अकलंक' नामका एक लेख निकला है। वह लेख अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ मे मेरे द्वारा लिखे गये 'सयुक्तिक सम्मति' लेखका प्रतिवाद है। उस लेखमे सयुक्तिक सम्मतिको जो 'युक्तिविहीन' और 'भ्रमोत्पादक' बतलानेका साहस किया गया है वह एक निःसत्व लोकातिक्रमिक साहस है। लेखमे लेखकने पहले तो अनेकान्त-संपादक पर अपने असत्य और घृणित ये उद्गार प्रकट किये हैं कि—"अपने विरुद्ध सयुक्तिक लेखोंको तो अनेकान्तमें छापनेके लिए भरसक टालमटोल की जाती है और पत्रोंका उत्तर तक नहीं दिया जाता तथा इस तरहके युक्तिविहीन भ्रमोत्पादक लेखोंको सयुक्तिक बताकर अपनी 'वाह वाह' की घोषणाकी जाती है।" वास्तवमे देखा जाय तो लेखकका इस प्रकार लिखना एक क्रोध वृत्तिको लिए हुए है और असत्य भी है। क्रोधवृत्ति तो उक्त लिखावटसे टपकी पड़ती है और उसका कारण यह है कि—प्रो० सा० के सब लेखों पर पानी फेरने वाली 'सयुक्तिक सम्मति' अनेकान्तमे प्रकाशित होगई, इससे आपको मार्मिक दुःख पहुँच कर क्रोध हो आया। और असत्यपना इसमें प्रकट है कि—जब अनेकान्तमें आपके कई लेख प्रकाशित होगये है और प्रकाशित न करनेकी जब कोई सूचना संपादकजीकी तरफसे आपके पास नहीं गई है तब 'सयुक्तिक लेखोको न छापनेका' आरोप लगाना कहां तक सत्य है, यह सब समझदारोंकी समझसे बाहरका विषय नहीं है। बल्कि अनेकान्तके संपादक तो 'सयुक्तिक सम्मति' लेखके एक टिप्पणमें (पृ० ८६ पर) साफ सूचित करते हैं कि—"यह लेख[1] 'प्रो० जगदीश चन्द्र और उनकी समीक्षा' नामक सम्पादकीय लेख के उत्तरमें लिखा गया है, और इसे अनेकान्तमें प्रकाशनार्थ न भेजकर श्वेताम्बर पत्र 'जैनसत्यप्रकाश' में प्रकाशित कराया गया है।" इस संपादकीय टिप्पण से अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है कि लेखकने अनेकान्त-संपादकके ऊपर जो आक्षेप किया है वह बिलकुल असत्य है और लोगोंको भ्रम पैदा करने वाला वाग्-जाल है। आगे चलकर प्रो०सा० ने बिना विचारे ही जो यह लिख दिया है कि—"लेखाङ्क (३) को अच्छी तरह नहीं पढ़ा और जल्दीमे आकर वे सम्मति देने बैठ गये" वह न मालूम किस आधारको लिये हुए है, जबकि आपके उक्त लेखाङ्क (३) की सभी चर्चाओंका सयुक्तिक सम्मतिमे विस्तारसे खंडन है। हाँ, यदि आपने उसे अस्वीकार कर दिया तो उसका अर्थ क्या यह होगया कि लेखाङ्क (३) पढ़ा ही नहीं? नहिं मालूम यह कैसी विचित्र आविष्कृति है! इसके आगे सयुक्तिक सम्मति लेखके लेखककी दलीलोंको जो 'हास्यास्पद' लिख मारा है वह तो अपने दिलके फफोड़े फोड़ने जैसा ही कार्य जान पड़ता है। क्योंकि उन दलीलोंके खंडनके लिये आपने जो प्रयास किया है उसकी सारता या निस्सारता इस लेख द्वारा प्रमाणित होनेसे लेखककी हास्यास्पदता या अहास्यास्पदता स्वयमेव ही प्रकट हो जायगा। अतः उसके लिये जब

१ लेखाङ्क नं० ३, जिसपर मेरी ओरसे 'सयुक्तिक सम्मति' लिखी गई।

तक दूसरी तरफसे प्रत्युत्तर न आजाय तब तक क्रोधावेशमें आकर अपनी सर्वेसर्वा सत्यपनेकी डींग मारना व्यर्थ है।

विद्वद्दृष्टिमें जो तत्त्व निर्णय-विषयक लेख लिखे जाते हैं उन पर विचार-विनिमय होनेमें ही तत्त्व निर्णय होता है। विचार-विनिमयमें यदि क्रोधकी मात्राका समावेश होजाय तो वह विचार विनिमय नहीं रह जाता किन्तु वह तो अहंपनेकी गंधको लिये हुए एक आज्ञासी होजाती है कि जो हमने लिखा है वह ही माना जाय; परन्तु ऐसी बातें तत्त्वनिर्णयकी बाधक हैं। पं० जुगलकिशोर जीने न मुझसे अपने लेख पर कोई सम्मति मांगी है, न इस विषयकी जानकारीके लिये मुझे कोई पत्र ही लिखा है और न मेरी सम्मतिको अपनी ओरसे 'सयुक्तिक' ही बतलाया है; जैसाकि प्रो० साहब उनपर मिथ्या आरोप करते हुये लिखते हैं। 'सयुक्तिक' विशेषण मेरा खुदका प्रयुक्त किया हुआ है। हां, पं० नाथूरामजी प्रेमीने एक दिन मुझसे पूछा था कि अनेकान्त में तत्त्वार्थसूत्रके विषय को लेकर जो लेखमाला चल रही है वह देखी है क्या? मैंने उसके उत्तरमें कहा कि जब अनेकान्त मेरे पास आता ही नहीं तो क्या देखूं। इस वार्तालापके बाद पं० परमानन्दजी शास्त्रीका मेरे पास एक पत्र आया, उसमें लिखा था कि अनेकान्त-सम्बन्धी तत्त्वार्थसूत्र की चर्चा पढ़ी होगी उसके विषयमें आपका क्या अभिप्राय है। जिस दिन यह पत्र मेरे पास आया था उस दिन पं० नाथूरामजी प्रेमीके साथ प्रो० महाशय भी सरस्वती-भवनमें पधारे थे, और वे इसलिये पधारे थे कि राजवार्तिककी कोई पुरानी हस्तलिखित प्रति ऐसी मिल जाय जिसमें कि पं० जुगलकिशोरजीके लेखके विरुद्ध कोई बात हाथ लगे। परन्तु सरस्वती-भवनमें वैसी कोई प्रति न होनेसे 'श्रुतसागरी' और 'तत्त्वार्थसूत्र पर प्रभाचन्द्र-टिप्पण' ये दो ग्रन्थ उनको दे दिये थे, तथा पं० परमानन्दजीके पत्रके विषयकी बात भी उस समय आगई थी। उस विषयको लेकर हँसते हुए प्रो० साहबने कहा था कि बिना पढ़े ही सम्मति दे डालिये! इसके उत्तरमें मैंने यह ही कहा कि बिना पढ़े भी कहीं सम्मति दी जाती है? अस्तु, वे हँसते हुए चले गये और कुछ दिन बाद उन्होंने अपना लेखाङ्क (३) सम्मतिके लिये मेरे पास भेजा। मुझे जैसी सम्मति सूझी वह लिखकर अनेकान्तमें छपनेको भेज दी।

इस सब वृत्तान्तके लिखनेका अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि पं० जुगलकिशोरजीने मुझसे अपने लेखों पर कुछ भी सम्मति नहीं माँगी है किन्तु प्रो० महाशयने ही सम्मति माँगी है। अतः आपने जो यह लिखा है कि—"पं० जुगलकिशोरजीने प्रस्तुत चर्चापर विद्वानोंकी सम्मति छापनेका श्रीगणेश किया है। अतएव यदि मैं भी यहाँ कुछ विद्वानोंकी सम्मति प्रकाशित करदूं तो अप्रासंगिक न होगा।" वह सब लिखावट कटाक्षमय इस बातकी सूचक है कि पं० जुगलकिशोरजी प्रेरणा करके अपने प्रस्तुत चर्चाके विषय पर सम्मतियां मँगा रहे हैं और उसका 'सयुक्तिक सम्मति' से श्रीगणेश कर दिया है। परन्तु मुझे तो अपनी सम्मतिके बाद कोई खास सम्मति उनके लेख पर ऐसी देखनेको नहीं मिली जोकि खास उसी विषयको लिये हुए हो और जिससे यह जाहिर होता हो कि सम्पादक अनेकान्त उस विषयका कोई खास प्रयत्न कर रहे हैं। और मैंने जो सम्मति भेजी है वह असलियतमें उनकी प्रेरणाका कोई परिणाम नहीं है। किन्तु प्रो० सा० की प्रेरणाके निमित्तको पाकर सत्य बात क्या है इस विषयको युक्ति पुरस्सर चर्चाको लिये हुए है। मेरे लेखमें साम्प्रदायिकताकी जिनको गंध

आती है वे खुद ही साम्प्रदायिक जान पड़ते हैं, क्यों कि जो जैसा होता है उसको वैसी गंध आया करती है। परन्तु खेद है कि प्रो०सा० यदि मुझे साम्प्रदायिक समझते थे तो उन्होंने अपना लेख मेरे पास सम्मति के लिये क्यों भेजा? क्या लेखको बिना पढ़े ही अनुकूल सम्मति दे देनेके अभिप्रायसे ही वह भेजा गया था? अस्तु; आपने मेरे लेखके उत्तरके साथ जो कुछ सम्मतियां प्रकाशित की हैं वे सब युक्तिशून्य तथा आपकी प्रेरणापूर्वक लिखाई होनेसे इस विषय में बेकार हैं; क्योंकि निर्णयात्मक विषयमें युक्तिशून्य सम्मतियाँ विद्वद्दृष्टिमें प्रामाणिक नहीं गिनी जातीं; पं० महेन्द्रकुमारजीने जो अपनी सम्मतिमें न्याय-कुमुदचन्द्र द्वितीय भागकी प्रस्तावनाकी बात लिखी है उसके सामने आने पर उसका विचार किया जायगा। दूसरे मेरे 'सयुक्तिक सम्मति' लेख पर पं० सुमेरचंद्र जीकी सम्मति मेरी बिना प्रेरणाके ही जैनगजटमें प्रकाशित हुई है उसे भी आप पढ़लें। प्रेरणा करके यदि सम्मतियां इधरसे प्रकट कराई जायँ तो सैंकड़ों की तादादमें मिल सकती हैं, परन्तु हमको मात्र प्रेरणात्मक खुशामदी सम्मतियोंकी अभिलाषा नहीं है, यहाँ तो युक्तिवादकी अभिलाषा है। अतः मैं आपकी और आपके सम्मतिदाताओंकी युक्तिपूर्ण सम्मतियां चाहता हूं; क्योंकि विद्वद्दृष्टि इसी बात की इच्छुक है।

अब आपके उत्तरलेखका कलेवर किस युक्तियुक्त अन्तस्तत्वकी गहराईको लिये हुए है उसका विचार करते हुए उसकी निःसारताको व्यक्त किया जाता है—

(१) अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय

इस प्रकरणमें सयुक्तिक सम्मतिके मेरे आक्षेपको जो रूप देकर उसका उत्तर लिखनेका प्रयत्न किया गया है वह प्रो० सा० का प्रायः मनघड़ंत है और उससे ऐसा मालूम होता है कि या तो आपने सयुक्तिक लेखको पूर्णविचार तथा गौरके साथ पढ़ा ही नहीं है, यों ही जल्दबाजीमें आकर चलता-फिरता ऊटपटांग उत्तर लिख मारा है। अथवा मेरे आक्षेपका ठीक उत्तर आपके पास नहीं था, और उत्तर देनामात्र आपको इष्ट था; इसलिये मेरे आक्षेपको अपने साँचे में ढालकर आपने उत्तर लिखनेका यह ढोंग किया है। इसीसे उस सयुक्तिक सम्मतिके "अतः पं०जुगलकिशोर जीने नं० १ के संबंधमें जो समाधान किया है वह जैनेतर (अन्यधर्मी) के आक्षेप-विषयक राजवार्तिक-मूलक शंकासमाधानके विषयको लिये हुए उत्तर है" इत्यादि बहुतसे वाक्योंको, जो मेरे आक्षेपके अङ्गभूत थे, छोड़कर आप उत्तर लिखने बैठ गये हैं! यह नीति आपकी 'नापाक हो तो मत पढ़ नमाज़' इस वाक्य मेंसे 'नापाक हो तो' ये शब्द छोड़कर केवल मत पढ़ नमाज'को लेकर उसका खण्डन करने अथवा अपने अनुकूल उपयोग करने जैसी है, और इसलिये छलको लिये हुए जान पड़ती है। इसके लिये अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ के पृ० ८६ पर दिये हुए मेरे आक्षेपको और जैनसिद्धान्त भास्कर भाग ८ किरण १ पृष्ठ ४४ पर दिये हुए उसके प्रोफेसरीरूप तथा उत्तरको सामने रखकर यदि पढ़ा जायगा तो पाठकों को मालूम पड़ जायगा कि तथ्यातथ्य क्या है? अस्तु।

इस विषयमें प्रो०सा०के उत्तरकी जो निस्सारता है वह यह है कि—मुद्रित राजवार्तिक पत्र २४३पर 'गुण-पर्ययवद् द्रव्यं' इस सूत्र-सम्बंधी जो दूसरी वार्तिक "गुणाभावादयुक्तिरिति चेन्नार्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्" इस रूपमें पाई जाती है उसके भाष्यमें अकलंकदेव लिखते हैं कि—"गुणा इति संज्ञा तंत्रा-

न्तराणां आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितो(त)यमेव तत्त्वं—अतश्च द्वितो(त)यमेव तद्द्वयापदेशात्' इत्यादि। इस पाठमें 'तंत्रान्तराणां' 'आर्हतानां तु' ये वचन सूचित करते हैं कि यह गुणके अभावकी शंका तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर की गई है और वह समस्त जैन शासनको लक्ष्यमें रखकर की गई है। ऐसी दशा में यदि अकलंक इस तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथमें अतिरिक्त किसी अतिप्राचीन पूर्ववर्ती ग्रंथका प्रमाण न देकर जिस ग्रंथ पर टीका लिख रहे हैं उस ग्रंथका प्रमाण देते तो यह स्पष्ट आक्षेप रहता कि इस ग्रन्थमें पूर्व जैनशासनमें 'गुण' का कथन न होनेसे दूसरे अन्य संप्रदायके ग्रन्थोंसे यहाँ 'गुण' शब्द लाकर रक्खा गया है। इस आक्षेपको मनमें रखकर ही अकलंकदेव ने यह समाधान दिया है कि जिससे शंकाकारको शंका करनेकी फिर कोई गुँजाइश ही न रहे। जब वहाँका स्थल ऐसा है अर्थात् गुणके विषयमें अन्य-वादीका आर्हतमत पर आक्षेप है तब 'उसी ग्रन्थके ऊपर किये गये आक्षेपका उत्तर उसी ग्रन्थ द्वारा नहीं किया जाता'—इत्यादि कथन जो सयुक्तिक सम्मतिमें लिखा गया है वह पूर्णतया सुसंगत है। हाँ यदि विशेषताको लिये हुए शंका न होती तो आपका इस विषयका उत्तर ठीक समझा जाता—परन्तु यहाँ तो स्पष्ट 'तंत्रान्तराणां' 'आर्हतानां तु' इन शब्दोंकी विशेषताको लिये हुए शंका है, फिर यह कैसे समझा जाय कि आपने जो उत्तरमें लिखा है वह सत्य है? आपने जो यह लिखा है कि—"गुण (गुणार्थिकनय) के विषयमें कुछ श्वेताम्बर जैन आचार्योंका मतभेद भी है" वह बिलकुल निरर्थक है; क्योंकि जब राजवार्तिकमें 'तंत्रान्तराणां' 'आर्हतानां तु' ये शब्द स्पष्ट पाये जाते हैं तो जैनोंके यहांकी शंकाको स्थान ही कहाँ रहता है? अतः आपका उक्त लिखना कैसे संगत हो सकता है, इस पर आप स्वयं विचार करें।

दूसरी बात जो आपने यह लिखी है कि 'गुण-पर्ययवद्द्रव्यं' सूत्र तक तत्त्वार्थसूत्रमें 'गुण' के विषय में शंका नहीं की गई है सो उसका जवाब यह है कि जिस जगह गुणकी बात तत्त्वार्थसूत्रमें आती वहीं तो इस शंकाको अवकाश था। जैनोंने तो द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक ये दो ही नय माने गये हैं, गुणार्थिक नय माना ही नहीं है। अतः जैनोंके यहां तो इस शंका को अवकाश किसी कालमें भी संभवित नहीं है। सभी जैन भेदाभेद-वृत्तिको लिये हुए पदार्थका निरूपण करते हैं। क्या आपकी दृष्टिमें श्वेताम्बरोंके यहां भेदाभेदवृत्तिसे अर्थात् स्याद्वादकी नीतिसे पदार्थका निरूपण नहीं है? मेरी समझसे तो इस न्यायको वे भी मानते हैं, आप न मानें तो दूसरी बात है। अच्छा, आपने जो श्वेताम्बर मतमें 'गुण' (गुणार्थिक नय) के विषयका मतभेद जिन आचार्योंका बतलाया है उन आचार्योंका तथा वहांके इस विषयका निरूपण तो करिये, तथा उसका संबंध 'तंत्रान्तराणां' और 'आर्हतानां तु' ये शब्द लेकर राजवार्तिकके पाठ के साथ सम्बद्ध करके बतलाइये कि यह शंका अन्य धर्मियोंकी की हुई नहीं है किंतु श्वेताम्बरी जैनोंकी है। जब तक यह सब बात नहीं बतलायेंगे तब तक आपके वचन निर्हेतुक रूपमें कैसे प्रमाण माने जा सकेंगे और कैसे यह समझ लिया जायगा कि वे छल-रहित सत्यताको लिये हुए हैं?

आगे इसी प्रकरणके दूसरे पैरेमें, "स्वयं सम्मति लेखकने 'तद्भावाव्ययं नित्यं' 'भेदादणुः' आदि सूत्रोंके उल्लेखपूर्वक राजवार्तिकगत ऐसे बहुतसे स्थलों को स्वीकार किया है जहां पूर्वकथित सिद्धिमें आगेके

सूत्र उपन्यस्त है” इत्यादि वाक्योंको लिखकर मेरे प्रतिज्ञावाक्य अथवा आक्षेपके खंडनके लिये जो प्रयास किया गया है वह केवल उस विषयकी अजानकारी या छल वृत्तिका परिणाम है । कारण कि, जिन स्थलोंको प्रो० साहबने चुनकर लिखा है उनमें से कोई भी ऐसा स्थल नहीं है जहाँ जिस ग्रन्थके ऊपर आक्षेप है उसका उसी ग्रंथके उत्तर भागसे समाधान दिया गया हो। उदाहरणके तौरपर 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रके राजवार्तिकमें आये हुए 'तद्भावाव्ययो नित्यत्वं' इस वार्तिक नम्बर नं० २ (पत्र १९७) के भाष्यद्वारा यह आशय प्रकट किया गया है कि जो नित्यका आपको वार्तिक द्वारा लक्षण किया जारहा है वह आपका मनगढ़ंत लक्षण है या उसमें सूत्रकारकी भी सम्मति है ? ऐसी शंकाकी संभावनाकी निवृत्त्यर्थ ही सूत्रकारके सूत्रको अकलंकदेवने उपन्यस्त किया है। यहांपर शंकाका जो विषय है और जो उसके समाधानका विषय है वे दोनों एक ही ग्रन्थपर आधार नहीं रखते अर्थात् जिस ग्रन्थ पर आक्षेप है उसी ग्रंथके वाक्यद्वारा उसका समाधान नहीं किया गया है। राजवार्तिकमें किये गये नित्यके लक्षणपर शंकाके समाधानका उत्तर अकलंकने अपने वचनमें प्रमाणता लानेके लिये तत्त्वार्थसूत्रके 'तद्भावाव्ययं नित्यं' सूत्रद्वारा दिया है। इसी तरह राजवार्तिकके इसी १९७ वें पृष्ठपर उक्त 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रकी तीसरी वार्तिकके विषयको लेकर आठवीं वार्तिकके भाष्यमें 'कालश्च' सूत्रको उपन्यस्त किया है वहाँ भी वृत्ति-विषयक शंकाका समाधान है, क्योंकि वृत्ति दूसरी वस्तु है और सूत्र दूसरी वस्तु है। अतः यहां और नित्यके लक्षणमें उसी ग्रन्थ पर किये गये आक्षेपका उत्तर उसी ग्रंथसे न होनेके कारण मेरे प्रतिज्ञावाक्य अथवा आक्षेपके खंडनका जो प्रयास प्रो० सा० ने किया है वह न मालूम किस विकृतदृष्टि का परिणाम है !

मालूम होता है सयुक्तिक सम्मतिमें मैंने जो प्रतिज्ञावाक्य 'जिस ग्रंथ पर राजवार्तिक टीका लिखी जारही है उसी ग्रन्थके ऊपर किये गये आक्षेपका उत्तर' इत्यादि रूपसे लिखा है उसका ठीक अभिप्राय ही उत्तरलेखककी समझमें नहीं आया है और इसका कारण यही है कि आप आवेशमें आकर जल्दबाजी से बिना कोई गंभीर विचार किये चलता फिरता उत्तर लिखने बैठ गये हैं ! अच्छा, आपने मेरे लेखका आगेका भाग न पढ़ा और न उद्धृत किया तो न सही, परंतु जो वाक्य आपने आक्षेप रूपसे उद्धृत किये हैं उनका भी जो अर्थ आपने समझा है वह क्या किसी हालतमें हो सकता है ? उस वाक्यके मतलबको जरा सद्बुद्धिसे गौरके साथ समझिये। यद्यपि उसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है फिर भी शब्दशः स्पष्टीकरण पाठकोंकी जानकारीके लिये इसलिये किया जाता है कि उनपर आपके लेखकी असलियत और पोल भलीभांति खुल जाय। उन प्रतिज्ञारूप मेरे वाक्योंका स्पष्टीकरण यह है—जिस ग्रन्थपर अर्थात् प्रकृतमें तत्त्वार्थसूत्र पर किये गये आक्षेप (गुणाभाव) का उत्तर (द्रव्याश्रया निर्गुणागुणाः) उसी ग्रंथद्वारा नहीं किया जाता —अर्थात् उसी ग्रंथका समझ कर वह 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' वाक्य प्रकरणमें नहीं दिया है किंतु दूसरे ग्रंथका समझ कर दिया गया है। यदि उसी ग्रंथ का उत्तर भाग समझकर यह वाक्य प्रमाणमें उद्धृत किया जाता तो ग्रन्थकर्तापर यह आक्षेप उपस्थित होता कि गुणका लक्षण और 'गुण' ये दोनों इसी ग्रन्थकर्ता के द्वारा बनाये गये अथवा लाये गये हैं, जैन शासन

की वस्तु नहीं हैं किन्तु परमतमे लायी गयी चीजें हैं। ऐसा आक्षेप सूत्रग्रन्थ पर होना अयुक्त है, इसीलिए मैंने राजवार्तिकका आश्रय लेकर सयुक्तिक सम्मति में जो यह लिखा है कि उसके लिए उस ग्रन्थके पूर्ववर्ती ग्रन्थके प्रमाणकी आवश्यकता होती है, वह सब मेरा लिखना न्यायसंगत है। क्योंकि उसका स्पष्ट उत्तर ऊपर उधृत राजवार्तिकका पाठ ही स्वतः दे रहा है। अतः मेरा जो प्रतिज्ञा वाक्य है वह अखंड्य है और यथार्थ है।

यहाँ पर एक बात और भी नोट कर देनेकी है और वह यह है कि—तत्त्वार्थसूत्रमें 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' इस सूत्रसे पहले कहीं भी जैसे 'गुण' का कथन या नाम नहीं आया है उसी प्रकार 'पर्याय' का भी नहीं आया है। ऐसी हालतमें शंकाकारने पर्याय-विषयक शंका न करके गुण-विषयक शंका की तथा आगे चल कर यह कहा कि—आर्हतमतमें द्रव्य और पर्याय ये दो ही माने हैं गुण माना नहीं फिर 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' यह कथन कैसा? इस प्रकारकी शंका सूचित करती है कि शंकाकार पर्यायका कथन जैन धर्ममें पहलेसे मानता है, गुणका कथन पहलेसे नहीं मानता। अतएव उसको उस 'गुणपर्यायवद्द्रव्यं' वाक्यके 'गुण' शब्दके ऊपर शंका होगई परन्तु पर्याय-विषयक शंका नहीं हुई। इससे भी पता चलता है कि उस शंकाका अभिप्राय गुणका लक्षण पूछना नहीं है किंतु गुणका असद्भाव द्योतन करना है। और उसका समाधान अकलंक द्वारा उसके (गुणके) सद्भावका—जैनशासनमें पहलेसे उसकी मान्यताका प्रतिपादन है, और पूर्व सद्भावका प्रतिपादन उसी ग्रन्थद्वारा नहीं बनता जिस पर कि आक्षेप और शंका होती हैं किंतु उसका समाधान उसके पूर्ववर्ती दूसरे ग्रन्थों द्वारा ही हुआ करता है। राजवार्तिकमें यह सब विषय स्पष्ट है। यदि वहां पर वैसी बात न होती तो पर्याय के विषयमें भी वैसी शंका अवश्य की जाती; परन्तु वह तो राजवार्तिकके द्वारा की नहीं गई है। अतः स्पष्ट है कि 'जिस ग्रन्थ पर राजवार्तिक टीका लिखी जा रही है उसी ग्रन्थके ऊपर किये गये आक्षेपका उत्तर' इत्यादि रूपसे मेरे प्रतिज्ञा-वाक्यकी जो रचना है वह सर्वथा योग्य और निरापद है।

इस सब प्रकृत विषयका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—राजवार्तिकमें यह बात किसी स्थलमें नहीं आई है कि जिस ग्रन्थ पर आक्षेप किया गया है उसका समाधान उसी ग्रन्थके उत्तर वाक्यसे दिया गया हो। इस विषयके जो तीन स्थल बतलाये गये हैं उनमेंसे एकमें भी यह बात घटित नहीं होती है। क्योंकि गुण-विषयकी शंका तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर है, उसका समाधान द्वितीय वार्तिकके 'अर्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्' इस अंश द्वारा तथा इस अंशकी "उक्तं हि अर्हत्प्रवचने—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इति। अन्यत्र चोक्तं 'गुण इति दव्वविधाणं' इत्यादि व्याख्यामें उपन्यस्त हुए दूसरे ग्रंथोंके वाक्यों द्वारा किया गया है। और नित्यके लक्षणका आक्षेप राजवार्तिकके ऊपरका है उसका समाधान राजवार्तिकसे पृथक् मूल ग्रंथ तत्त्वार्थके सूत्रद्वारा किया गया है। तथा इसी प्रकार द्रव्योंके पंचत्वकी शंका 'वृत्त' पर है उसका समाधान तत्त्वार्थसूत्रके 'कालश्च' सूत्र द्वारा किया गया है। ये तीनों स्थल राजवार्तिकमें ऐसे हैं कि जिस ग्रंथ पर शंका की गई है उसके समाधानके विषय दूसरे ही ग्रंथ हैं। फिर नहीं मालूम इतना स्पष्ट कथन राजवार्तिकमें होते हुए भी, उसी बातका उल्लेख सुयुक्तिक सम्मतिमें होने पर एक प्रोफेसर जैसे जिम्मेदार लेखकके द्वारा ऐसा क्यों लिखा गया कि—"स्वयं सम्मति-लेखकने 'तद्भावाव्ययं नित्यं' 'भेदादणुः' आदि सूत्रोंके उल्लेख पूर्वक राजवार्तिकगत ऐसे बहुत से स्थलोंको स्वीकार किया है जहाँ पूर्वकथित सिद्धिमें आगेके सूत्र उपन्यस्त हैं" (अर्थात्—उसी ग्रंथपर किये गये आक्षेपोंका समाधान उसी ग्रंथद्वारा माना है और ऐसा होनेसे आक्षेपमें जो प्रतिज्ञा-वाक्य दिया है उसका खंडन होगया)? क्या यह जानबूझकर असलियतपर पर्दा डालना, और दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकना नहीं है? प्रो०सा०का यह कृत्य कहांतक न्यायसंगत है इसका निर्णय सहृदय पाठक स्वयं ही करें तथा भास्करके वे संपादकचतुष्टय भी करें जिन्होंने

कोई गंभीर विचार किये बिना ही ऐसे भ्रमात्मक अनर्थकारी लेखको झटसे प्रकाशित कर दिया है।

इसी प्रकरणके तीसरे पैरेमें प्रो० सा० लिखते हैं कि—"'अर्हत् प्रवचन' का अर्थ 'तत्वार्थसूत्र' ही हो सकता है, भाष्य नहीं, इसका उत्तर भी लेखांक (२) में शास्त्रोंके उद्धरण-पूर्वक दिया जा चुका है।" यह सब लिखावट भी आपकी सर्वथा अयुक्त है। कारण कि, वादीको उत्तर जब वादीके सम्मत शास्त्रों द्वारा दिया जाता है तब वह उत्तर सयुक्तिक समझा जाता है न कि उत्तर देनेवालेके सम्मत शास्त्रों द्वारा दिया गया उद्धरणरूपका उत्तर। क्या कहीं पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानंद जैसे दिगम्बर आचार्योंने भी भाष्यको 'अर्हत् प्रवचन' माना है? यदि नहीं माना है तो फिर उत्तरदाता-सम्मत उन ग्रंथोंका उद्धरण वादीके समाधानमें किस कामका? वास्तवमें देखा जाय तो अकलंकने न कहीं तत्वार्थसूत्रको अर्हत् प्रवचन माना है और न श्वेताम्बर मान्य भाष्यको ही। किंतु वे तो 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' इस उदाहरणके साथ किसी दूसरे ही ग्रंथका उल्लेख कर रहे हैं और वह ग्रंथ पं० जुगलकिशोरजीके कथनानुसार उक्त द्वितीय वार्तिकमें उल्लेखित 'अर्हत्प्रवचनहृदय' से भिन्न नहीं हो सकता। व्याख्यामें उदाहरणके साथ 'अर्हत्प्रवचन' नामका प्रयोग उसीका संक्षिप्तरूप अथवा लेखकोंकी कृपासे कुछ अशुद्धरूप जान पड़ता है। अन्यथा, यह नहीं हो सकता कि अकलंक अपने वार्तिकमें मुख्यरूपसे जिस ग्रन्थका गुणके कथनके लिये प्रमाणरूपसे नामोल्लेख करें व्याख्यामें उसका उदाहरण न देकर—उसका वाक्य उद्धृत न करके—किसी दूसरे ही ग्रन्थका वाक्य उद्धृत करने लगें। अतः अकलंकके हिसाबसे तो न वह सूत्रपाठ ही 'अर्हत्प्रवचन' है जिस पर कि वे राजवार्तिक लिख रहे हैं और न वह 'श्वेताम्बर भाष्य' ही। इसलिये पं० जुगलकिशोरजीने अपने नं० १ के वक्तव्यमें 'अर्हत् प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय ये तत्वार्थ भाष्यके तो क्या मूल सूत्रके भी उल्लेख नहीं हैं' जो यह बात लिखी है वह सत्य है। क्योंकि हम प्रो०सा० मान्य उन ग्रन्थोंको इस विषयमें प्रमाण नहीं मानते जिनका कि उनने उद्धरण दिया है। प्रतिपक्षी को तो प्रतिपक्षिसम्मत ही उद्धरण देना न्यायसंगत होता है।

सयुक्तिक सम्मतिमें तत्वार्थसूत्रको जो अर्हत्प्रवचन लिखा गया है वह 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' को मनमें स्थापित करके लिखा गया है। उसका असली तात्पर्य यह है कि प्रतिपक्षी अपने मनमें भले ही खुश होले कि यह मेरी मतलबकी बात है परन्तु वास्तवमें वह बात नहीं है, इसी रीतिके न्यायको 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' कहते हैं। उसी न्यायको लक्ष्यमें रखकर सयुक्तिक सम्मतिमें 'दूसरे कदाचित् थोड़ी देरके लिये यह भी मान लिया जाय' इत्यादि वाक्यों द्वारा उत्तर दिया गया है। इसका अभिप्राय स्पष्ट यह है कि—तत्वार्थसूत्र और तत्वार्थभाष्य दोनों ही अर्हत्प्रवचन नहीं हैं किंतु अकलंककी दृष्टिमें वहाँ दूसरा ही ग्रन्थ विवक्षित है, जिसकी चर्चा ऊपर आचुकी है। शायद इसके लिये यह कहा जाय कि वह अर्हत्प्रवचन या अर्हत्प्रवचनहृदय ग्रन्थ तो अभी उपलब्ध नहीं फिर यह कैसे प्रमाण माना जाय कि अकलंकदेवका अभिप्रेत वह दूसरा ग्रन्थ है? इसका समाधन यह है कि अकलंकने—'गुण इतिदव्वविधानं' इत्यादि गाथा जिस ग्रन्थकी उपन्यस्त की है वह ग्रंथ भी तो आज उपलब्ध नहीं है; ऐसी अवस्थामें 'अन्यत्र चोक्तं' पदके साथ दी हुई यह गाथा भी तब क्या नहीं माननी चाहिये? कदाचित् यह कहा जाय कि—'अर्हत् प्रवचन' नामसे प्रसिद्ध श्वेताम्बर तत्वार्थसूत्र और उसका भाष्य प्रसिद्ध है अतः अनुपलब्धीयकी कल्पनाका प्रयास भी क्यों? इसका समाधान यह है कि—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' यह भाष्यका तो पाठ है नहीं, इस बातको स्वयं प्रो० सा० ने भी स्वीकार किया है तब आपके ही वचनोंसे यह बात तो साफ निकल आती है कि अकलंककी दृष्टिसे इस प्रकरणमें भाष्य 'अर्हत्प्रवचन' नहीं हो सकता। रही सूत्रकी बात, उसके लिये समाधान ऊपर दिया ही जा चुका है।

अतः इस प्रकरणमें उत्तररूपसे प्रो०सा०ने जो कुछ लिखा है उसमें कुछ भी सार नहीं है। (क्रमशः)

जीवन-नैय्या

(ले०—श्री आर० के०, आनन्दप्रकाश जैन 'विह्वल')

(१)

मेरे गुरुने कहा था कि तेरी नौका टूटते ही तेरा जीवन भी समाप्त हो जायगा।

उस समय मेरी अवस्था २० वर्षकी थी। नई आशाएँ, उमंगें हृदयमें स्थान ले रही थीं। शीतल समीरके हलन-चलन का अनुभव मैं बड़ी व्याकुलतासे करता था। ठंडे पवनके झकोरे मनको एक नई सी वस्तु प्रदान करते थे। उस समय मेरा मन किसी आधारको ढूंढनेमें व्यस्त था।

और मैं चला जारहा था एक नौकामें नदीकी उत्ताल तरंगोंसे टकराता हुआ! छोटी छोटी लहरें मेरी नावसे टकरा कर अपना परिचय दे रही थीं। मुझे मालूम भी नहीं हो पाया कि कब मेरी सुव्यवस्थित नौका नदी, नाले और समुद्र लाघती हुई एक नये वायुमण्डलमें प्रवेश कर गई! एक नये वातावरणमें आनेका मुझे भान हुआ। आशाओंका उद्गम स्थान रिक्त नहीं था।

मगर मेरी नाव तो अभी थपेड़े खानेसे रुकती नहीं! मेरे आकुल प्राण छटपटाने लगे! ओह! ये लहरें क्या कभी समाप्त नहीं होंगी? मेरी नाव क्या कभी थलका मुख नहीं देखेगी! इस समुद्रका क्या कभी अन्त नहीं होगा? परन्तु मुझे मालूम नहीं था कि अभी तो समुद्र बहुत विस्तीर्ण है, अथाह है! अभी लहरें भी तो संख्यातीत हैं! अभी तो मेरे प्राण भी अपनी पूरी उत्तेजनासे नहीं छटपटाये! फिर मैं किनारेका अनुभव करनेका अधिकारी कैसे हूँ?

योंही यह 'जीवन-नैय्या' चलती रही। भाव रूपी तरंगों से हलके-भारी थपेड़े खाती हुई!

यकायक एक परिवर्तन हुआ और मैंने पहले पहल थलकी शुष्क किन्तु मीठी, हृदयमोहिनी वायुका सेवन किया। मेरा हृदय आशासे प्रफुल्लित हो उठा, मुझे अब किनारा मिलेगा न! और थलका उपभोग भी तो मैं बीस वर्षके सामुद्रिक जीवनके उपरान्त करूंगा। शैशवावस्थासे किशोरावस्थाका आभास जब आता है तो नई नवेली वधूकी भाँति कोमल लगता ही है।

बिना प्रयत्नके ही लहरोंके प्रभावने मुझे थल पर ला खड़ा किया। (आयु क्या कुछ विचारती है?) उत्तेजनामें मैं कूद पड़ा। कूदनेमें शीघ्रता हुई। हृदयमें एक धक्का-सा महसूस हुआ (वासनाका प्रबल वेग उत्पीड़ित होनेके प्रथम हृदय धड़कता है) और मैं किनारे पर मदहोश-सा लुढ़क पड़ा! भावावेशके समय कुछ भान नहीं होता। ऐसा ही मैं था। यौवनावस्थाके सूर्यसमान तापका अनुभव करता हुआ मैं कितनी ही देर तक थलकी उष्ण देह पर बेसुधसा पड़ा रहा। जल, थलका अनुभव कहाँ था?

(२)

और जगनेके पश्चात् एक नई उत्तेजना मैंने अनुभव की। निपट स्वप्नकी भाँति, भावनाओंकी तरंगोंमें डूबता-उतराता एक युवतीके अङ्कका स्पर्श था जो हृदयमें स्पन्दन उत्पन्न कर रहा था (ये सब भावनाओंके ही तो खेल हैं)। वह मुझे बच्चोंकी तरहसे थपक थपक कर सुला रही थी। जाने क्यों? (अब जानता हूँ स्नेहावेशमें नहीं)। और तब भी मैं बच्चा नहीं था। बीस वर्ष शैशवसागरकी वायुका मैं उपभोग कर चुका था और यह भी उसी सागरका किनारा था, किन्तु वास्तवमें क्या मैं मनसे भी किशोर था?

पलकें ऊपरको उठा कर मैंने देखा कि एक नवेली सी अपने अङ्कमें मेरा सिर रक्खे मेरी ओर देख कर मंद मंद मुसका रही थी। फूलोंसे भी अधिक कोमल कपोलों पर

गुलाबकी अरुणिमा दौड़ रही थी, जिसमें नव अत्युक्ति नहीं थी (अब है)। गुलाबकी कलियोंसे उसके नासापुटोंसे निकली उष्ण श्वासका अनुभव मुझे हुआ। कितना सुन्दर लगता था उसका वह भास मुझे?

यकायक उठ कर वह बोल उठी 'आओ'! और मैं मन्त्र-मुग्धकी भाँति उसके पीछे चलनेको प्रस्तुत हो गया! एक गहरी निगाह अपनी नौका पर और फिर समुद्रके अतल गर्भकी ओर दृष्टिपात कर उसकी उत्ताल तरंगोंमें अपनी उत्तेजनाकी दो बूंदें डाल कर मैं उसके पीछे चल दिया!

हम चले जा रहे थे, भूले हुए से। हाँ! भूले हुएसे, अब तो यही कहना पड़ेगा। हो सकता है वह रमणी अपने हृदयमें कुछ विहँस-सी रही हो। सन्ध्यासे प्रातः, और प्रातः से सन्ध्या यही हमारा काम था। यकायक पैरमें एक ठोकर लगी, किसीके कराहनेका शब्द सुन पड़ा। कुछ विचलित-सा होकर मैंने निहारा—

'बाबू'! 'सुनते हैं आप'।

मैंने दिशा-शब्द पर ध्यान दिया। संध्याकी धूमिल, छाया-सी क्लान्त व जर्जर देह लिये एक वृद्ध मेरा मार्ग अटकाये पड़ा था। उसके नेत्रोंको शून्यमें देखते देखते दो श्वेत डोरोंका आश्रय लेना पड़ा था। उन्हीं दो श्वेत डोरोंके इङ्गितसे उसने मुझे बुलाया। मैंने युवतीकी ओर निगाह उठाई, उसके अधर क्रोधसे लाल थे। अग्निके बीच लपट सी उठती अपनी भौहोंके इशारेसे उसने मुझे चलते रहनेका आदेश दिया। मैं चलता ही था कि उस वृद्धका निराशाभरा स्वर निकला—"इस धर्मानुचरकी भी कुछ सुन लेता बच्चा!"

और फिर दूर निकला हुआ मुझे देख कर उस बुड्ढेने चिल्ला कर कहा—"ध्यान रखना, इसका नाम 'माया' है!"

'माया', मन ही मन दोहरा कर मैं फिर पथ पर बढ़ा। रमणीके पीछे (या अब यों कहो 'माया' के पीछे)! यकायक मैं विचलित सा होकर खड़ा हो गया। मेरा मन अट्टहास कर उठा! पासके वृक्ष पर बैठा उल्लू ज़ोरसे बोल कर उड़ गया!

और अगली पौड तक मैं फिर खिंच चला, जब तक कि एक और अनुभवी नेत्रोंसे युक्त, उन्नत ललाटसे सुशोभित वृद्धने मुझे रोक नहीं लिया। एक शान्त मगर उच्च ध्वनि मेरे कर्ण-कुहरोंमें प्रवेश कर गई, किन्तु कितनी विकट! "नगरकी प्रसिद्ध वेश्याके संग तू बच्चे कहांको?" युवतीके मुखसे एक भद्दी सी गाली निकल गई! मैं पथकी कंटीली झाड़ियों पर पैर रखता अविश्रान्त-सा चलता ही रहा! मुझे ज्ञात नहीं था कि अपना 'मोह' नामक मंत्र वह 'माया' तन्त्री मुझमें प्रथम ही फूंक चुकी थी!

और हाय, अब भी मेरे नेत्र नहीं खुले थे! बार बारकी चेतावनी पाकर भी मैं सम्हला नहीं था! मुझे क्या ज्ञात था कि मैं एक विकराल कंटीली गुफामें फेंका जारहा हूँ। परन्तु बार बारकी चेतावनी पाषाण पर पानी गिरानेका काम कर रही थी। और भी इसी प्रकारमें कई स्थान पर टोका गया।

"याद रखना इस नगरीका नाम 'त्रास····", जिसे आगे न सुन सका था।

"समझो रे, भैय्यारे" "अरे रे, सुनो रे" गम्भीर ताल पर पद ठोकता यह पद मैं अविचलित होकर कई बार सुन चुका था।

'धर्मकी शाखाएँ बहुत हैं'
'बहुत विस्तृत'
'बहुत लम्बी'

(३)

'माया' मुझे अपनी ओर उत्तरोत्तर लिये जा रही थी। मुझे ऐसा आभास हुआ था कि मानों मैं एक रज्जु में बँधा जा रहा हूँ! एक चित्र लिखित-सा कार्य कर रहा हूँ! वह मुझे लिये ही जाती थी!!

दूरसे मैंने देखा एक नगरीका सुन्दर चमकता फाटक, बहुत ऊँचा सोनेके पत्तरोंसे जड़ा हुआ! मेरे पैर दर्द कर रहे थे। आश्चर्य मैं देख रहा था कि वह रमणी थकी नहीं

थी। उसके पैरोंमें, कोमल होते हुये भी, छाले नहीं पड़े थे। वह अविचलित थी। फाटकके बाहर पहुँच कर मैं ठिठका! नगरीके बाहर एक बड़ा विस्तीर्ण—विशाल देवमन्दिर पीली पीली ध्वजाओंसे सुशोभित, भूले भटके यात्रियोंको 'धर्म' रूपी छाया देनेके लिये खड़ा था। उसकी पीली ध्वजासे सुशोभित हीरक कलश युक्त चोटी अपने प्रामाणिक होनेका प्रमाण स्वयं दे रही थी। एक विस्तृत ललाट युक्त वृद्ध मुखद्वार पर खड़ा था, मानो यात्रियोंका आह्वान कर रहा हो। उसकी भुजायें विशाल थीं। नेत्र खूब चौड़े। एक महापुरुष-सा दिव्य तेज उसके तनसे निकल रहा था। उस ने मुझे पुकारा!………

'मत ठहरो' 'मत ठहरो' कह कर उस रमणीने मुझे नगरके फाटकके अन्दर धकेल दिया! मुझे धकेलनेमें सहायता देकर बन्द होते हुए फाटकके ऊपर बाहरकी ओर उसी महापुरुषके इङ्गित करने पर मैंने देखा कि उस नगरी का नाम लिखा है। और वह इस रूपमें अंकित था—

'वासना'

महापुरुषके पास मेरे सम्हल जानेका यही अन्तिम प्रयत्न था। किन्तु हाय रे मैं मूढ़ बुद्धि! और घूम कर मैंने उसी फाटककी दरारोंसे देखा, ज़रा भी न थकी, आभासित वह रमणी, कूदती, उछलती, तरङ्गों-सी मदमाती, उसी समुद्रके किनारे मेरी नौकाके पास दौड़ी चली जा रही थी। कदाचित् मेरे ही जैसे किसी और युवकको फाँसने। वह 'माया' थी न! हाहाकार कर! मेरा अन्तर रो उठा! तत्पश्चात् ऊपर जो निगाह उठाई तो मैं आत्म-विस्मृत सा हो गया! नगरकी उच्च अट्टालिकाएं गर्वसे अपना शिर ऊँचा किये खड़ी थीं मुझे आभास हुआ मानो मैं स्वर्गमें आगया हूँ! बाहर फाटक पर अंकित शब्दकी कटीली सुनहरी आभाको मैं बिल्कुल भूल गया! और फिर मुझे अपना लम्बा वक्षःस्थल दिखाते हुए पथका ध्यान हुआ, उसी छटा से मैंने उस पर फूल बिखरे हुए देखे। एक फूल पर पग रखते ही मैं चिहुक गया। अपना काँटा चुभा कर मुस्करित फूल मानो मेरी ओर विहँस कर कह रहा था—"यह वासना का पथ है, इतना सहल नहीं जितना तुम समझते हो। यहा धर्म और ईमान सबको ठुकराती हुई मायाके साथ तुम जैसोंका आना रहता है! यह वासनाका पथ है! हूं!" और उसी प्रकार मैं आत्मविस्मृत-सा, खोया-सा उस पथ पर दौड़ गया! नन्हें नन्हें फूल मेरे पैरोंके नीचे अपनी स्मृति छोड़ छोड़ कर कुचल गये! एक घने विस्तृत बाज़ार से गुज़रते हुए मैंने देखा कि दोनों तरफ़ लम्बी लम्बी कतारोंमें बैठी हुई यौवनका सौदा यौवनसे करने वालीं मेरा आह्वान कर रही हैं। उस 'माया' से भी अधिक, मोहकी 'चेरियाँ' वे सुन्दरियाँ, गुलाबी कपोलोंसे चुम्बनका आह्वान करतीं हुई वे रमणियाँ, नाचती थिरकती आँखोंसे बोलतीं वे पुतलियाँ, कोमल अंग लिये हुए उन हाटों पर बैठीं मुझे बड़ी भली मालूम हुईं।

यकायक पचासों मनुष्योंने मुझे घेर लिया। छीना झपटी शुरु हुई और उसी कोलाहलमें एकका रूमाल नीचे गिर पड़ा, कोने परके दो अक्षरोंको बड़ी कठिनतासे छिपाते हुए उन्होंने मुझे उन रमणियोंके बीचमें धकेल दिया। मुझे मालूम हुआ वे दलाल थे, वेमतलबके बिचोलिये? जिनकी स्पष्टता उन 'मोह' नामक दो अक्षरोंमें मैंने बड़ी तत्परतासे पढ़ी थी और तुरंत ही मैं वासना नगरीकी उन रमणियोंमें रम गया!

बहुत दिन पश्चात् सूर्य मुझे निकलता मालूम दिया। उसहीकी किरणोंमें मैंने देखा कि मैं वासना नगरीकी परछाँई से भी दूर एक निर्जन वनमें कीचड़के अथाह कुण्डमें पड़ा हूँ। सूर्यकी किरणें कहीं कहीं—अपना प्रकाश डाल रही थीं, वरना सब ओर अन्धकार मुँह बाये खड़ा था! कीचड़ पर एक क्रमसे बिल्कुल बिजलीके लट्टुओंकी तरह बुलबुले

क्रम क्रमसे उठते और एक दम बन्द हो जाते थे। इस क्रम को मैंने पढ़ा :—

'पाप-पङ्क'

इन्हीं दो शब्दोंसे मैं उस क्रमको आहिस्ता आहिस्ता बनते व एकदम बिगड़ जाते देख रहा था। आसमान पर धुएँ सी किसी वस्तुसे बनता और बिगड़ता एक शब्द मैं देख रहा था। एक बार वह बनता था और मिट कर फिर दुबारा दूनी स्पष्टतासे अंकित हो जाता था—

'नरक'

मैं पढ़ पढ़ कर जिसे काँप ऊठता था!

मृत्यु-जैसी दारुण व्यथासे मैं छटपटा रहा था! हज़ारों लाखों कीड़ोंसे पाप कुण्डका एक बित्ता भरा पड़ा था। छोटेसे छोटे व बड़ेसे बड़े, गुलमुंडेसे खाकर बिलबिलाते हुए हज़ारों बिच्छुओंसे कटता हुआ मेरा तन बुरी तरहसे घायल हो गया था। ऊपर सागर तट पर आच्छादित हज़ारों वृक्षों पर का एक एक पत्ता गिर कर असिधाराका काम कर रहा था। भूखसे मैं विकल था, प्यासने तालू और जीभको ज़ोरके साथ चिपका दिया था। कीचड़की अथाह बदबूसे मेरी नाक फटी जा रही थी। मानों मैं मैलेके अथाह कुण्डमें पड़ा था। मेरी भूख ऐसी थी कि एक दम लाखों मन गेहूं बैठा बैठा मैं फाँक जाता मगर वहां न तो कोई दानेको पूछने आया, न पानीको। मेरे जैसे करोड़ों पुरुषोंके चीत्कारोंसे मिलकर मेरा रुदन कुछ नहींके बराबर मालूम पड़ रहा था। यकायक एक मगरमच्छ मुझे खा जानेके लिये दौड़ा। उसके दाँतोंमें किचकिचाकर दारुण व्यथा मैंने भोगी! मैं समझा था कि मेरी इहलीला समाप्त होगई। मगर मानों जादूके ज़ोरसे सब काम हो रहा था। मैं तो वहीं पड़ा था। उसी करुण-क्रन्दनको निकालता हुआ। मेरे शरीर में छलनीकी तरहसे हज़ारों छेद हो गये थे। कीचड़के थाह समुद्रमें मैं बराबर बहता हुआ चला जाता था, उसी दारुण दुखको भोगता हुआ। मुझे यह ज्ञात नहीं था कि मेरी इह-लीला कब समाप्त होगी। ओह? यह दुख तो मृत्यु-दुखसे लाखों गुणा भयङ्कर था!

अचानक मेरी कल्पनामें एक दिव्य तेजस्वी महापुरुषका प्रादुर्भाव हुआ। जैसे किनारे पर खड़े हुए वे मुझे उपदेश की अमृत वर्षासे सिंचित कर रहे हों—'मेरे बच्चे! तूने समझते हुए भी नहीं समझा!' मैंने देखा ये तो मन्दिरके वेही पुजारी महापुरुष हैं। उनकी प्रतिक्रिया मानों अब भी अन्धकारमें आलोक प्रकाशित कर रही है। एक तेज उनके शरीरसे निकल कर अब भी इस सघन अन्धकारको प्रकाश में बदल रहा था। उनकी दिव्य छटासे मेरी आँखें बन्द हो गयीं।

परन्तु, हाय! अब किसीके बसकी बात नहीं रह गयी थी! मैंने उनको कल्पित किया ही था कि 'कर्मयोग' से मैं उस कीचड़ में और ज़्यादह फ़िसल गया। महापुरुषकी नासिकामें गहरा निःश्वास मानों मुझे निकलता हुआ भासित हुआ। दूर पर मैंने देखा कि मेरी नावके टूटे हुए बिखरे तख़्ते एक भयंकर स्मृतिकी याद दिलाते हुए सहस्रों टुकड़ों में टूट २ कर कीचड़में धसे जारहे थे, उस अथाह कुण्डमें विलीन हो रहे थे।

और मेरे गुरुने कहा था कि मेरी नौका टूटते ही····

तो क्या मैं दूसरे जन्ममें था? मेरा मन चीत्कार कर उठा!!

और इसी प्रकार संसारी, समुद्रके शैशवमें बहकर यौवन रूपी थल पर आता है। उस उष्ण थल प्रदेश पर 'माया' उसे फँसानेको पहले ही से तय्यार बैठी रहती है। 'धर्म' के अनुचरों व उनके आदेशोंको वह केवल ढोंग समझता है। जो सँभला सो अनन्तकाल तक अपनी भव्य जीवनियाँ सुन्दरतासे बिताता चलता है। नहीं तो, फिर 'माया' उसे 'वासना' के गहरे गड्ढेमें फेंक कर निश्चिन्तता से उसके जैसे और मनुष्योंको फँसानेका कार्य करने लगती है। जहाँ 'वासना' में फँसा तो फिर वह रमणियोंके द्वारा मृत्यु और नरक से भी बदतर अवस्थाके लिये तत्पर किया जाता है और तब उसके बसकी बात नहीं रह जाती। और वह दारुण दुःख क्या है? हज़ार बार आचार्योंके व्याख्या करने पर भी पूर्णरूपसे उस 'नरक' की तुलना नहीं हो सकी और न उसकी व्याख्या।

महाकवि पुष्पदन्त

[लेखक—श्री पं० नाथूराम प्रेमी]

[इस महाकविका परिचय सबसे पहले मैंने अपने 'महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण' शीर्षक विस्तृत लेखमें दिया था[1]। परन्तु उसमें कवि के समयपर कोई विचार नहीं किया जा सका था। उसके थोड़े ही समय बाद अपभ्रंश भाषाके विशेषज्ञ प्रो० हीरालालजी जैनने 'महाकवि पुष्पदन्तके समय पर विचार'[2] शीर्षक लेख लिखकर उस कमीको पूरा कर दिया और महापुराण तथा यशोधरचरित के अतिरिक्त कविकी तीसरी रचना नागकुमारचरित का भी परिचय दिया। फिर सन् १९२६ में कविके तीनों ग्रन्थोंका परिचय समय-निर्णयके साथ मध्य-प्रान्तीय सरकार द्वारा प्रकाशित 'कैटलाग आफ मेनु० इन सी० पी० एण्ड बरार' में प्रकाशित हुआ। इसके बाद पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारका 'महाकवि पुष्पदन्तका समय' शीर्षक लेख[3] प्रकट हुआ, जिसमें कौंधलाके भंडारसे मिली हुई यशोधरचरित की एक प्रतिके कुछ अवतरण देकर यह सिद्ध किया गया कि उक्त काव्यकी रचना योगिनीपुर (दिल्ली) में वि० सं० १३६५ में हुई थी, अतएव पुष्पदन्त विक्रम की चौदहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं। इस पर प्रो० हीरालालजीने फिर 'महाकवि पुष्पदन्तका समय'[4] शीर्षक लेख लिखकर बतलाया कि उक्त प्रतिके अवतरण ग्रंथके मूल अंश न होकर प्रक्षिप्त अंश जान पड़ते हैं, वास्तवमें कविका ठीक समय नवीं शताब्दी ही है। इसके बाद सन् १९३१ में कारंजा जैनसीरीज में यशोधरचरित प्रकाशित हुआ और उसकी भूमिका में डा० पी० एल० वैद्यने कौंधलाकी प्रतिके उक्त अंशको और उसी प्रकारके अन्य दो अंशोंको वि० सं० १३६५ में कण्हड़नन्दन गन्धर्वद्वारा ऊपरसे जोड़ा हुआ सिद्ध कर दिया और तब एक तरहसे उक्त समयसम्बन्धी विवाद समाप्त हो गया। इसके बाद नागकुमारचरित और महापुराण भी प्रकाशित हो गये[5] और उनकी भूमिकाओंमें कविके सम्बन्ध की और भी बहुत सी ज्ञातव्य बातें प्रकट हुईं। संक्षेपमें यही इस लेखकी पूर्वपीठिका है, जो इस विषयके विद्यार्थियोंके लिए उपयोगी समझ कर यहाँ दे दी गई है। प्रत्युत लेख पूर्वोक्त सभी सामग्रीपर लक्ष्य रखकर लिखा गया है और इधर जो बहुतसी नई नई बातें मालूम हुई हैं, वे सब शामिल कर दी गई हैं। कविके स्थान, कुल, धर्म आदिपर बहुत सा नया प्रकाश डाला गया है। ऐसी भी अनेक बातें हैं जिन पर पहलेके लेखकोंने कोई चर्चा नहीं की है। मैंने इस बातका प्रयत्न किया है कि कविके सम्बन्ध की सभी ज्ञातव्य बातें क्रमबद्ध रूपसे हिन्दीके पाठकों

१ जैनसाहित्य-संशोधक खंड २ अंक १ (सन् १९२४)।
२ जैनसाहित्य-संशोधक खंड २ अंक २।
३ जैनजगत् १ अक्टूबर सन् १९२६।
४ जैनजगत् १ नवम्बर सन् १९२६।
५ महापुराणके दो खंड छप चुके हैं और अन्तिम तीसरा खंड भी लगभग तैयार हो गया है।

के समक्ष उपस्थित हो जायँ। इसके लिखनेमें सज्जनोत्तम प्रो० हीरालाल जैन और डा० ए० एन० उपाध्यायकी सूचनाओं और सम्मतियोंसे लेखकने यथेष्ट लाभ उठाया है।]

१—अपभ्रंश-साहित्य

महाकवि पुष्पदन्त अपभ्रंश भाषाके कवि थे। इस भाषाका साहित्य जैनपुस्तकभंडारोंमें भरा पड़ा है। अपभ्रंश बहुत समय तक यहाँकी लोकभाषा रही है और इसका साहित्य बहुत ही लोकप्रिय रहा है। राजदरबारोंमें भी इसकी काफी प्रतिष्ठा था। राजशेखरकी काव्य-मीमांसासे पता चलता है कि राजसभाओंमें राज्यासनके उत्तरकी ओर संस्कृत कवि, पूर्वकी ओर प्राकृत कवि और पश्चिमकी ओर अपभ्रंश कवियोंको स्थान मिलता था। पिछले २५-३० वर्षोंसे ही इसकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित हुआ है और अब तो वर्तमान प्रान्तीय भाषाओंकी जननी होनेके कारण भाषाशास्त्रियों और भिन्न भिन्न भाषाओंका इतिहास लिखनेवालोंके लिए इस भाषाके साहित्यका अध्ययन बहुत ही आवश्यक हो गया है। इधर इस साहित्यके बहुतसे ग्रन्थ भी प्रकाशित हो गये हैं और हो रहे हैं। कई यूनीवर्सिटियोंने अपने पाठ्य-क्रममें अपभ्रंश ग्रंथोंको स्थान देना भी प्रारंभ कर दिया है।

पुष्पदन्त इस भाषाके एक महान् कवि थे। उनकी रचनाओंमें जो ओज, जो प्रवाह, जो रस और जो सौन्दर्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भाषापर उनका असाधारण अधिकार है। उनके शब्दोंका भंडार विशाल है और शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनोंसे ही उनकी कविता समृद्ध है। उनकी सरस और सालंकार रचनायें न केवल पढ़ी ही जाती थीं, वे गाई भी जाती थीं और लोग उन्हें पढ़ सुनकर मुग्ध हो जाते थे। स्थानाभावके कारण रचनाओंके उदाहरण देकर उनकी कला और सुन्दरताकी चर्चा करनेसे विरत होना पड़ा।

२—कुल-परिचय और धर्म

पुष्पदन्त काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम केशवभट्ट और माताका मुग्धा देवी था।

उनके माता पिता पहले शैव थे, परन्तु पीछे किसी दिगम्बर जैन गुरुके उपदेशामृतको पाकर जैन हो गये थे और अन्तमें उन्होंने जिन-संन्यास लेकर शरीर त्यागा था। नागकुमारचरितके अन्तमें कविने और और लोगोंके साथ अपने माता पिताकी भी कल्याणकामना की है और वहाँ इस बातको स्पष्ट किया है*। इससे यह भी अनुमान होता है कि कवि स्वयं भी पहले शैव होंगे।

कविके आश्रयदाता महामात्य भरतने जब उनसे महापुराणके रचनेका आग्रह किया, तब कहा कि तुमने पहले भैरवनरेन्द्रको माना है और उसको पर्वतके समान धीर वीर और अपनी श्रीविशेषसे सुरेन्द्रको जीतनेवाला वर्णन किया है। इससे जो मिथ्यात्वभाव उत्पन्न हुआ है, इस समय उसका यदि तुम प्रायश्चित्त कर डालो, तो तुम्हारा परलोक सुधर

* सिवभत्ताइं मि जिणसरणासें, वे वि मयाइं दुरियणिण्णासें।
बंभणाइं कासवरिसिगोत्तइं, गुरुवयणामयपूरियसोत्तइं।
मुद्धाएवी केसवणामइं, महु पियराइं होंतु सुहधामइं।
[संस्कृत-छाया—
शिवभक्तौ अपि जिनसंन्यासेन द्वौ अपि मृतौ दुरितनिर्णाशेन।
ब्राह्मणौ काश्यपऋषिगोत्रौ गुरुवचनामृतपूरितश्रोत्रौ।
मुग्धादेविकेशवनामानौ मम पितरौ भवता सुखधामनी ॥]
'गुरु' शब्दपर मूल प्रतिमें 'दिगम्बर' टिप्पण दिया हुआ है।

जाय × इससे भी मालूम होता है कि पहले पुष्पदन्त शैव होंगे और शायद उसी अवस्थामें उन्होंने भैरव-नरेन्द्रकी कोई यशोगाथा ÷ लिखी होगी।

स्तोत्रसाहित्यमें 'शिवमहिम्न स्तोत्र' की बहुत प्रसिद्धि है। उसके कर्त्ताका नाम 'पुष्पदन्त' है। असंभव नहीं जो वह इन्हीं पुष्पदन्तकी उस समयकी रचना हो जब वे शैव थे। जयन्तभट्टने इस स्तोत्रका एक पद्य अपनी न्यायमंजरीमें 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किया है। यद्यपि अभी तक जयन्तभट्टका ठीक समय निश्चित नहीं हुआ है, इस लिए जोर देकर नहीं कहा जा सकता। फिर भी संभावना है कि शिवमहिम्न इन्हीं पुष्पदंतका हो।

उनकी रचनाओंसे मालूम होता है कि जैनेतर साहित्यसे उनका प्रगाढ़ परिचय था। उनकी उपमायें और उत्प्रेक्षायें भी इसी बातका संकेत करती हैं। ‡

अपने ग्रंथोंमें उन्होंने इस बातका कोई उल्लेख नहीं किया कि वे कब जैन हुए और कैसे हुए, अपने किसी जैनगुरु और सम्प्रदाय आदिकी भी कोई चर्चा उन्होंने नहीं की, परन्तु ख्याल यही होता है कि वे भी पहले अपने माता पिताके ही समान शैव होंगे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे माता-पिताके जैन होनेके बाद जैन हुए या पहले। परन्तु इस बातमें संदेहकी गुंजाइश नहीं है कि वे दृढ़ श्रद्धानी जैन थे।

× णियसिरिविसेसणिज्जियसुरिंदु, गिरिधीरु वीरु भइरवणरिंदु।
पइं मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ, उप्पण्णउ जो मिच्छत्तभाउ।
पच्छित्तु तासु जइ करहि अज्जु, ता घडइ तुज्झु परलोयकज्जु।

÷ आगे चलकर बतलाया है कि यह यशोगाथा शायद 'कथा-मकरन्द' होगा और इस ग्रन्थका नायक भैरव-नरेन्द्र। यह भैरव कहाँके राजा थे, अभी तक पता नहीं लगा।

‡ बलिजीमूतदधीचिपु सर्वेषु स्वर्गतामुपगतेषु।
सम्प्रत्यनन्यगतिकस्त्यागगुणो भरतमावसति॥ आदि।

उन्होंने जगह जगह अपनेको जिनपदभक्त, व्रतसंयुक्त, विगलितशंक आदि विशेषण दिये हैं [1] और 'पंडित-पण्डितमरण' पानेकी तथा बोधि—समाधिकी आकांक्षा प्रकट की है [2]।

'सिद्धान्तशेखर' [3] नामक ज्योतिष ग्रंथके कर्त्ता श्रीपति भट्ट नागदेवके पुत्र और केशवभट्टके पौत्र थे। ज्योतिषरत्नमाला, दैवज्ञवल्लभ, जातकपद्धति, गणित-तिलक, [4] बीजगणित, श्रीपति-निबंध, श्रीपतिसमुच्चय, श्रीकोटिदकरण, ध्रुवमानसकरण आदि ग्रंथोंके कर्त्ता भी श्रीपति हैं। वे बड़े भारी ज्योतिषी थे। हमारा अनुमान है कि पुष्पदन्तके पिता केशवभट्ट और श्रीपतिके पितामह केशवभट्ट एक ही होंगे [5]। क्योंकि एक तो दोनों ही काश्यप [6] गोत्रीय हैं और दूसरे दोनोंके समयमें भी अधिक अन्तर नहीं है [7]।

१ जिणपय भत्ति धम्मासत्ति। वयसंजुत्त उत्तमसत्ति। वियलिय-संकि अहिमाणंकि।

२ मग्गियपंडियपंडियमरणं। आ० पु० के अन्तमें।

३ यह ग्रन्थ कलकत्तायूनीवर्सिटीने अभी हाल ही प्रकाशित किया है।

४ गणिततिलक श्रीसिंहतिलकसूरिकृत टीकासहित गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीजमें प्रकाशित हुआ है।

५ भट्टकेशवपुत्रस्य नागदेवस्य नन्दनः, श्रीपती रोहिणीखंडे ज्योतिःशास्त्रमिदं व्यधात्। —ध्रुवमानसकरण।

६ ज्योतिषरत्नमालाकी महादेवप्रणीत टीकामें श्रीपतिका काश्यप गोत्र बतलाया है—"काश्यपवंशपुण्डरीकखण्ड-मार्तण्डः केशवस्य पौत्रः नागदेवस्य सूनुः श्रीपतिः संहिता-र्थमभिधातुमिच्छुराह।"

७ महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीने अपनी 'गणित-तरंगिणी' में श्रीपतिका समय श० सं० ९२१ बतलाया है और स्वयं श्रीपतिने अपने 'धीकोटिदकरण' में अहर्गण-साधनके लिए श० सं० ९६१ का उपयोग किया है जिससे अनुमान होता है कि वे उक्त समय तक जीवित थे। ध्रुवमानसकरणके सम्पादकने श्रीपतिका समय श० सं०

केशवभट्टके एक पुत्र पुष्पदन्त होंगे और दूसरे नागदेव। पुष्पदंत निष्पुत्र-कलत्र थे, परंतु नागदेवको श्रीपति जैसे महान ज्योतिषी पुत्र हुए। यदि यह अनुमान ठीक हुआ तो श्रीपतिको पुष्पदन्तका भतीजा समझना चाहिए।

पुष्पदन्त मूलमें कहाँके रहनेवाले थे, उनकी रचनाओंमें इस बातका कोई उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उनकी भाषा बतलाती है कि वे कर्नाटकके या उससे और दक्षिणके तो नहीं थे। क्योंकि एक तो उनकी सारी रचनाओंमें कनड़ी और द्रविड़ भाषाओंके शब्दोंका अभाव है, दूसरे अब तक अपभ्रंश भाषाका ऐसा एक भी ग्रंथ नहीं मिला है जो कर्नाटक या उसके नीचेके किसी प्रदेशका बना हुआ हो। अपभ्रंश साहित्यकी रचना प्रायः गुजरात, मालवा, बरार और उत्तरभारतमें ही होती रही है। अतएव अधिक संभव यही है कि वे इसी ओरके हों।

श्रीपती ज्योतिषी रोहिणीखंडके रहनेवाले थे और रोहिणीखंड बरारका 'रोहिणीखेड' नामक गाँव जान पड़ता है। यदि श्रीपति सचमुच ही पुष्पदन्तके भतीजे हों, तो पुष्पदन्त भी बरारके ही रहनेवाले होंगे।

बरारकी भाषा मराठी है। अभी रा० बा० तगारे एम० ए०, बी० टी० नामक विद्वान्ने पुष्पदन्तको प्राचीन मराठीका महाकवि बतलाया है* और उन की रचनाओंमेंसे बहुतसे ऐसे शब्द चुनकर बतलाये हैं, जो प्राचीन मराठीसे मिलते जुलते हैं। ×मार्कण्डेयने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में अपभ्रंश भाषाके नागर, उपनागर और व्राचट ये तीन भेद किये हैं। इनमेंसे व्राचटको लाट (गुजरात) और विदर्भ (बरार) की भाषा बतलाया है।

श्रीपतिने अपनी 'ज्योतिषरत्नमाला' पर स्वयं एक टीका मराठीमें लिखी थी, जो सुप्रसिद्ध इतिहासकार राजवाड़ेको मिली थी और सन १९१४ में प्रकाशित हुई थी। मुझे उसकी प्रति अभी तक नहीं मिल सकी। उसके प्रारंभका अंश इस प्रकार है—"ते या ईश्वररूपा कालाते मि। ग्रंथुकर्त्ता श्रीपति नमस्कारी। मी श्रीपति रत्नाचि माला रचिता।" इसकी भाषा ज्ञानेश्वरी टीका जैसी है। इससे भी अनुमान होता है कि श्रीपति बरारके ही होंगे और इस लिए पुष्पदंतका भी वहींका होना सम्भव है।

सबसे पहले पुष्पदंतको हम मेलाड़ि या मेलपाटी के एक उद्यानमें पाते हैं और फिर उसके बाद मान्यखेट में। मेलाड़ि उत्तर अर्काट जिलेमें है जहाँ कुछ कालतक राष्ट्रकूट महाराजा कृष्ण तृतीयका सेनासन्निवेश रहा था और वहीं उनका भरत मंत्रीसे साक्षात होता है। निजाम-राज्यका वर्तमान मलखेड़ ही मान्यखेट है।

यद्यपि इस समय मलखेड़ महाराष्ट्रकी सीमाके अन्तर्गत नहीं माना जाता है, परन्तु बहुतसे विद्वानों का मत है राष्ट्रकूटोंके समयमें वह महाराष्ट्रमें ही था*

---

९५० के आसपास बतलाया है। पुष्पदन्त श० सं० ८९४ की मान्यखेटकी लूट तक बल्कि उसके भी बाद तक जीवित थे। अतएव दोनोंके बीच जो अन्तर है, वह इतना अधिक नहीं है कि चचा और भतीजेके बीच संभव न हो। श्रीपतिने उम्र भी शायद अधिक पाई थी।

* देखो सह्याद्रि (मासिक पत्र) का अप्रैल १९४१ का अंक पृ० २५३५६।

× कुछ थोड़ेसे शब्द देखिए—उक्कुरड = उकिरडा (घूरा), गंजोल्लिय = गोंजलेले (दुखी), चिक्खिल्ल = चिखल (कीचड़), तुप्प = तूप (घी), पंगुरण = पांघरूण (ओढ़ना), फेड = फेडणे (लौटाना), बोक्कड = बोकड (बकरा), आदि।

* नाइल्लइ और सीलइय तथा भरतके पिता और पितामह अम्मइए तथा एयण ये नाम कर्नाटकी जैसे मालूम होते हैं, परन्तु शायद इसका कारण यह हो कि ये लोग अधिक समयसे वहाँ रहते हों और इस कारण उस प्रान्तके अनुरूप उनके नाम रखे गये हो।

और इसलिए तब वहाँ तक वैदर्भी अपभ्रंशकी पहुँच अवश्य रही होगी।

राष्ट्रकूटोंकी राजधानी पहले नासिकके पास मयूरखंडीमें थी जो महाराष्ट्रमें ही है, अतएव राष्ट्रकूट इसी तरफके थे। मान्यखेटको उन्होंने अपनी राजधानी सुदूर दक्षिणके अन्तरीप पर शासन करनेकी सुविधाके लिए बनाया था। क्योंकि मान्यखेटमें केन्द्र रख कर ही चोल, चेर, पाण्ड्य देशोंपर ठीक तरहसे शासन किया जा सकता था।

भरतको कविने कई जगह भरतभट्ट लिखा है। नाइल्लड और सीलइय भी भट्ट विशेषणके साथ उल्लिखित हुए हैं*। इससे अनुमान होता है कि पुष्पदंतको इन भट्टोंके मान्यखेटमें रहनेका पता होगा और उसी सूत्रसे वे घूमते घामते उस तरफ पहुँचे होंगे। बहुत संभव है कि ये लोग भी पुष्पदन्तके ही प्रान्तके हों और महान राष्ट्रकूटोंकी सम्पन्न राजधानीमें अपना भाग्य आजमानेके लिए आकर बस गये हों और कालान्तरमें राजमान्य हो गये हों। उस समय बरार भी राष्ट्रकूटोंके अधिकारमें था, अतएव वहांके लोगोंका आवागमन मान्यखेट तक होना स्वाभाविक है। कमसे कम विद्योपजीवी लोगोंके लिए तो पुरन्दरपुरी मान्यखेटका आकर्षण बहुत ज्यादा रहा होगा।

भरत मंत्रीको कविने 'प्राकृतकविकाव्यरसावलुब्ध' कहा है और प्राकृतसे यहां उनका मतलब अपभ्रंशसे ही जान पड़ता है। इस भाषाको वे अच्छी तरह जानते होंगे और उसका आनंद ले सकते होंगे, तभी न उन्होंने कविको इतना उत्साहित और सम्मानित किया होगा? सो भरत मंत्री भी मूलतः कविके ही प्रान्तके होंगे, ऐसा जान पड़ता है।

* नाइल्लइ और सीलइय तथा भरतके पिता और पितामह अम्मइए तथा एयण ये नाम कर्नाटकी जैसे मालूम होते हैं; परन्तु शायद इसका कारण यह हो कि ये लोग अधिक समयसे वहाँ रहते हों और इस कारण उस प्रान्तके अनुरूप उनके नाम रक्खे गये हों।

३—व्यक्तित्व और स्वभाव

पुष्पदन्तका एक नाम 'खंड' [1] था। शायद यह उनका घरू और बोलचालका नाम होगा। अभिमानमेरु [2], अभिमान चिह्न [3], काव्यरत्नाकर [4], कविकुलतिलक [5], सरस्वतीनिलय [6] और काव्यपिसल्ल [7]

१ (क) जो विहिणा णिम्मिउ कव्वपिंडु, तं णिसुणेवि सो संचलिउ खंडु। —म० पु० सन्धि १ क० ६,१

(ख) मुग्धे श्रीमदनिन्द्यखण्डसुकवेर्बन्धुर्गुणैरुन्नतः।
—म० पु० सन्धि ३

(ग) आकल्पमिदं कुतूहलवती खण्डस्य कीर्तिः कृतः।
—म० पु० स० ३६

२ (क) तं सुणेवि भणइ अहिमाणमेरु।— म०पु० १-३-१२

(ख) कं पश्यस्यभिमानरत्ननिलयं श्रीपुष्पदन्तं विना।
—म० पु० सं० ४५

(ग) णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु गुणगणमहंतु। —णा० कु० १-२-२

३ वयसंजुत्ति उत्तमसत्ति वियलियसंकि अहिमाणंकि।
—य० च० ४-३१-३

४ भो भो केसवतणुरुह णवसररुहमुह कव्वरयणरयणायर। म० पु० १-४-१०

५-६(क) तं णिसुणेवि भरहें वुत्तु ताव, भो कइकुलतिलय विमुक्कगाव। — म० पु० १-८-१

(ख) अणइ कइराउ पुप्फयंतु सरसइणिलउ।
देवियहि सरूउ वण्णइ कइयणकुलतिलउ।
—य० च० १-८-१५

७ (क) जिणचरणकमलभत्तिल्लएण, ता जंपिउ कव्वपिसल्लएण। —म० पु० १-८-८

(ख) वोल्लाविउ कइकव्वपिसल्लउ, किं तुहुं सच्चउ वप्प गहिल्लउ। —म० पु० ३८-३-५

(ग) णण्णस्स पत्थणाए कव्वपिसल्लएण पहसियमुहेण।
—णा० च० अन्तिम पद्य

(काव्यपिशाच या काव्यराक्षस) ये उनकी पदवियाँ थीं। यह पिछली पदवी बड़ी अद्भुत-सी है; परंतु इसका उन्होंने स्वयं ही प्रयोग किया है। शायद उनकी महती कवित्वशक्तिके कारण ही यह पद उन्हें दिया गया हो। 'अभिमानमेरु' पद उनके स्वभावको भी व्यक्त करता है। वे बड़े ही स्वाभिमानी थे। महापुराणकी उत्थानिकामें मालूम होता है* कि जब वे खलजनों द्वारा अवहेलित और दुर्दिनोंसे पराजित होकर घूमते घामते मेलपाटीके बाहर एक बगीचेमें विश्राम कर रहे थे, तब अम्मइय और इन्द्र नामक दो पुरुषोंने आकर उनसे कहा, आप इस निर्जन वनमें क्यों पड़े हुए हैं, पासके नगरमें क्यों नहीं चलते? इसके उत्तरमें उन्होंने कहा—"गिरिकन्दराओंमें घास खाकर रह जाना अच्छा परंतु दुर्जनोंकी टेढ़ी भौंहें देखना अच्छा नहीं। माताकी कूंखसे जन्मते ही मर जाना अच्छा परन्तु किसी राजाके भ्रू-कुंचित नेत्र देखना और उसके कुवचन सुनना अच्छा नहीं। क्योंकि राजलक्ष्मी ढुरते हुए चँवरोंकी हवासे सारे गुणोंको उड़ा देती है, अभिषेकके जलसे सुजनताको धो डालती है, विवेकहीन बना देती है, दर्पसे फूली रहती है, मोहसे अंधी रहती है, मारणशीला होती है, सप्तांग राज्यके बोझसे लदी रहती है, पिता-पुत्र दोनोंमें रमण करती है, विषकी सहोदरा और जड़-रक्त है। लोग इस समय ऐसे नीरस, और निर्विशेष (गुणावगुण-विचाररहित) हो गये हैं कि बृहस्पतिके समान गुणियोंका भी द्वेष करते हैं। इस लिए मैंने इस वन की शरण ली है और यहीं पर अभिमानके साथ मर जाना ठीक समझा है।" पाठक देखेंगे कि इन पंक्तियोंमें कितना स्वाभिमान और राजाओं तथा दूसरे हृदयहीन लोगोंके प्रति कितने ज्वालामय उद्गार भरे हैं।

ऐसा मालूम होता है कि किसी राजाके द्वारा अवहेलित या उपेक्षित होकर वे घरसे चल दिये थे

संपइ जणु णीरसु णिव्विसेसु,
गुणवंतउ जहिं सुरगुरुवि वेसु।
तहिं अम्हइं लइ काणणु जि सरणु,
अहिमाणें सहुं वरि होउ मरणु।

*............................

सोहइ परिभमंतु मेलाडिपुरु।
अवहेरिय खलयणु गुणमहंतु,
दियहेहिं पराइउ पुरुपयंतु।
णंदणवणि किर वीसमइ जाम,
तहिं बिण्णि पुरिस संपत्त ताम।
पणवेप्पिणु तेहिं पवुत्तु एव,
भो खंड गलियपावावलेव।
परिभमिरभमररवगुमगुमंति,
किं किर णिवसहि णिज्जणवणंति।
करिसरवहिरियदिच्चक्कवालि,
पइसरहि ण किं पुरवरि विसालि।
तं सुणवि भणइ अहिमाणमेरु,
वर खज्जइ गिरिकंदरि कसेरु।
णउ दुज्जनभउंहा वंकियाइं,
दीसंतु कलुसभावंकियाइं।
वर णरवरु धवलच्छिहे
होंतु म कुच्छिहे मरउ सोणिमुहणिग्गमे
खलकुच्छियपहुवयणाइं
भिउडियणयणाइं म णिहालउ सूरुग्गमे
चमराणिलउड्डावियगुणाइं,
अहिसेयधोयसुयणत्तणाइं।
अविवेयइं दप्पुत्तालियाइं,
मोहंधइं मारणसीलियाइं।
सत्तंगरज्जभरभारियाइं,
पिउपुत्तरमणरसयारियाइं।
विससहजम्मइं जडरत्तियाइं,
किं लच्छिइ विउसणिरत्तियाइं।

और भ्रमण करते हुए और बड़ा लम्बा दुर्गम रास्ता तय करके मेलपाटी (उत्तर अर्काट जिलेका एक स्थान) पहुँचे थे* । उनका स्वभाव स्वाभिमानी और कुछ उग्र तो था ही, अतएव कोई आश्चर्य नहीं जो राजा की जरा-सी भी टेढ़ी भौंहको वे न सह सके हों और इसीलिए नगरमें चलनेका आग्रह करने पर उन दो पुरुषोंके सामने राजाओं पर बरस पड़े हों । अपने उग्र स्वभावके कारण ही वे इतने चिढ़ गये और उन्हें इतनी वितृष्णा हो गई कि सर्वत्र दुर्जन ही दुर्जन दिखाई देने लगे, और सारा संसार निष्फल, नीरस, शुष्क प्रतीत होने लगा × ।

जान पड़ता है महामात्य भरत मनुष्यस्वभावके बड़े पारखी थे, उन्होंने कविवरकी प्रकृतिको समझ लिया और अपने सद् व्यवहार, समादर और विनयशीलतासे सन्तुष्ट करके उनसे वह महान कार्य करा लिया जो दूसरा शायद ही करा सकता ।

राजाके द्वारा अवहेलित और उपेक्षित होनेके कारण दूसरे लोगोंने भी शायद उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया होगा, इसलिए राजाओंके साथ साथ औरोंसे भी वे प्रसन्न नहीं दिखलाई देते; परन्तु भरत और नन्नकी लगातार प्रशंसा करते हुए भी वे नहीं थकते ।

उत्तरपुराणके अन्तमें उन्होंने अपना परिचय इस रूपमें दिया है—"सिद्धिविलासिनीके मनोहर दूत, मुग्धा देवीके शरीरसे संभूत, निर्धनों और धनियोंको एक दृष्टिसे देखनेवाले, सारे जीवोंके अकारण मित्र, शब्दसलिलसे बढ़ा हुआ है काव्यस्रोत जिनका, केशवके पुत्र, काश्यपगोत्री, सरस्वती-विलासी, सूने पड़े हुए घरों और देवकुलिकाओंमें रहनेवाले, कलिके प्रबल पापोंके पटलोंसे रहित, बेघरबार और पुत्रकलत्रहीन, नदियों वापिकाओं और सरोवरोंमें स्नान करनेवाले, पुराने वस्त्र और बल्कल पहिननेवाले, धूलधूसरित अंग, दुर्जनोंके संग से दूर रहने वाले, जमीन पर सोनेवाले और अपने ही हाथोंको ओढ़नेवाले, पंडित-पंडित-मरणकी प्रतीक्षा करनेवाले, मान्यखेट नगरमें रहनेवाले, मनमें अरहंतदेवका ध्यान करनेवाले, भरतमंत्री द्वारा सम्मानित, अपने काव्यप्रबंधसे लोगोंको पुलकित करने वाले, पापरूप कीचड़ जिन्होंने धो डाला है, ऐसे अभिमानमेरु पुष्पदन्तने, यह काव्य जिन पदकमलों में हाथ जोड़े हुए भक्तिपूर्वक क्रोधनसंवत्सरकी असाढ़ सुदी दसवींको बनाया* ।

* देखो पिछले उद्धरण ।

× जो जो दीसइ सो सो दुज्जणु, णिप्फलु णीरसु जे सुक्कउ वणु ।

* सिद्धिविलासिणिमणहरदूएं,
मुद्धाएवीतणुसंभूएं ।
णिद्धणसधणलोयसमचित्तें,
सव्वजीवणिक्कारणमित्तें ॥ २१
सद्दसलिलपरिवड्ढियसोत्तें,
केसवपुत्तें कासवगोत्तें ।
विमलसरासइजणियविलासें,
सुण्णभवणदेवउलणिवासें ॥ २२
कलिमलपबलपडलपरिचत्तें,
णिग्घरेण णिप्पुत्तकलत्तें ।
णइ-वावी-तलाय-सरण्हाणें,
जर-चीवर-वक्कल-परिहाणें ॥ २३
धीरें धूली-धूसरियंगें,
दूरयरुज्झिय-दुज्जणसंगें ।
महि सयणयलें करपंगुरणें,
मग्गियपंडियपंडियमरणें ॥ २४
मण्णखेडपुरवरे णिवसंतें,
मणे अरहंतदेव झायंतें ।

इस परिचयसे कविकी प्रकृति और उसकी निस्संगताका हमारे सामने एक चित्र-सा खिंच जाता है। एक बड़े भारी साम्राज्यके महामंत्री द्वारा अतिशय सम्मानित होते हुए भी वे सर्वथा अकिंचन और निर्लिप्त ही जान पड़ते हैं। नाममात्रके गृहस्थ होकर एक तरहसे वे मुनि ही थे।

एक जगह वे भरत महामात्यसे कहते हैं कि "मैं धनको तिनकेके समान गिनता हूं। उसे मैं नहीं लेता। मैं तो केवल अकारण प्रेमका भूखा हूं और इसीसे तुम्हारे महलमें रहता हूं*।" मेरी कविता तो जिन-चरणोंकी भक्तिसे ही स्फुरायमान होती है, जीविका निर्वाहके ख्यालसे नहीं×।

इस तरहकी निष्पृहतामें ही स्वाभिमान टिक सकता है और ऐसे ही पुरुषको 'अभिमानमेरु' पद शोभा देता है। कविने एक दो जगह अपने रूपका भी वर्णन कर दिया है, जिससे मालूम होता है कि उनका शरीर बहुत ही दुबला पतला और साँवला था। वे बिल्कुल कुरूप थे परन्तु सदा हँसते रहते थे‡

भरहमणणाणजें णयणिलएं,
कव्वपबंधजणियजणपुलएं ॥ २५
पुप्फयंतकइणा धुयपंकें,
जइ अहिमाणमेरुणामंकें ।
कयउ कव्वु भत्तिए परमत्थें,
जिणपयपंकयमउलियहत्थें ॥ २६
कोहणसंवच्छरे आसाढए,
दहमए दियहे चंदरुइरूढए ।

जब बोलते थे तो उनकी सफेद दन्तपंक्तिसे दिशाएँ धवल हो जाती थीं+। यह उनकी स्पष्टवादिता और निरहंकारताका ही निदर्शन है, जो उन्होंने अपनेको कुरूप कहनेमें संकोच न किया।

पुष्पदन्तमें स्वाभिमान और विनयशीलताका एक विचित्र सम्मेलन दीख पड़ता है। एक ओर तो वे अपनेको ऐसा महान कवि बतलाते हैं जिसकी बड़े बड़े विशाल ग्रंथोंके ज्ञाता और मुद्दतसे कविता करनेवाले भी बराबरी नहीं कर सकते×। और सरस्वती देवीसे कहते हैं कि अभिमानरत्ननिलय पुष्पदन्तके बिना तुम कहाँ जाओगी—तुम्हारी क्या दशा होगी‡? और दूसरी ओर कहते हैं कि मैं दर्शन, व्याकरण, सिद्धान्त, काव्य, अलंकार कुछ भी नहीं जानता, गर्भमूर्ख हूँ। न मुझमें बुद्धि है, न श्रुत-संग है, न किसीका बल है=।

भावुक तो सभी कवि होते हैं परन्तु पुष्पदन्तमें यह भावुकता और भी बढ़ी चढ़ी थी। इस भावुकता

* धणु तणुसम मज्झु ण तं गहणु, णेहु णिक्कारिमु इच्छामि ।
देवीसुअ सुदणिहि तेण हउं, णिलए तुहारए अच्छामि ॥
—२० उत्तर पु०

× मज्झु कइत्तणु जिणपयभत्तिहें,
पसरइ णउ णियजीवियवित्तिहें ।—उ० पु०

‡ कसणसरीरें सुद्धकुरूवें मुद्धाए गिगब्भसंभूवें । ११—उ०पु०

‡ णण्णस्स पत्थणाए कव्वपिसल्लेन पहसियमुहेण, णायकुमारचरित्तं रइयं सिरिपुप्फयंतेन ॥—णायकुमार च०
रहसियतुडिकइणा खंडे । —यशोधर चरित

+ सियदंतपंतिधवलीकयासु ता जंपइ वरवायाविलासु ।

× आजन्मं कवितारसैकधिषणा सौभाग्यभाजो गिरा,
दृश्यन्ते कवयो विशालसकलग्रन्थानुगा बोधत: ।
किन्तु प्रौढनिरूढगूढमतिना श्रीपुष्पदंतेन भो,
साम्यं बिभ्रति नैव जातु कविना शीघ्रं त्वत: प्राकृते: ॥
—६६ वीं संधि

‡ लोके दुर्जनसंकुले हतकुले तृष्णावसे नीरसे,
सालंकारवचोविचारचतुरे लालित्यलीलाधरे ।
भद्रे देवि सरस्वति प्रियतमे काले कलौ साम्प्रतं,
कं यास्यस्यभिमानरत्ननिलयं श्रीपुष्पदन्तं विना ॥
—८० वीं संधि

= णहु महु बुद्धिपरिग्गहु णहु सुयसंगहु णउ कासुवि केरउ बलु । —उ० पु०

के कारण वे स्वप्न भी देखा करते थे । आदिपुराण के समाप्त होजाने पर किसी कारणसे उन्हें कुछ अच्छा नहीं लग रहा था, वे निर्विण्णसे हो रहे थे कि एक दिन उन्हें स्वप्नमें सरस्वती देवीने दर्शन दिया और कहा कि पुण्यवृक्षको सींचनेके लिए मेघके तुल्य और जन्ममरण-रोगके नाश करनेवाले अरहंत भगवानको नमस्कार करो । यह सुनते ही कविराज जाग उठे और यहाँ वहाँ देखते हैं तो कहीं कोई नहीं है, और वे अपने घरमें ही हैं । उन्हें बड़ा विस्मय हुआ* । इसके बाद भरतमंत्रीने आकर उन्हें समझाया और तब वे उत्तरपुराणकी रचनामें प्रवृत्त हुए ।

कविके ग्रंथोंसे मालूम होता है कि वे महान् विद्वान् थे । उनका तमाम दर्शनशास्त्रों पर तो अधिकार था ही, जैनसिद्धान्तकी जानकारी भी उनकी असाधारण थी । उस समयके ग्रंथकर्ता चाहे वे किसी भी भाषाके हों, संस्कृतज्ञ तो होते ही थे । यद्यपि अभी तक पुष्पदन्तका कोई स्वतंत्र संस्कृत ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, फिर भी वे संस्कृत में अच्छी रचना कर सकते थे । इसके प्रमाणस्वरूप उनके वे संस्कृत पद्य पेश किये जा सकते हैं

* मणि जाएण कि पि अमणोज्जं,
कइवयदियसइं केण वि कज्जं ।
णिव्विण्णउ थिउ जाम महाकइ,
ता सिविणंतरि पत्त सरासइ ।
भणइ भडारी सुहयउ ओहं,
पणमह अरुहं सुहयउमेहं ।
इय णिसुणेवि विउद्धउ कइवरु,
सयलकलायरु ण छणससहरु ।
दिसउ णिहालइ कि पि ण पेच्छइ,
जा विम्हियमइ णियघरि अच्छइ ।
—महापुराण ३८-२

जो उन्होंने महापुराण और यशोधरचरितमें भरत और नन्नकी प्रशंसामें लिखे हैं । व्याकरणकी दृष्टिसे यद्यपि उनमें कुछ स्खलनायें पाई जाती है, परन्तु वे कवियोंकी निरंकुशताकी ही द्योतक हैं, अज्ञानताकी नहीं ।

४—कविकी ग्रन्थरचना

महाकवि पुष्पदन्तके अब तक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं और सौभाग्यकी बात है कि वे तीनों ही आधुनिक पद्धतिसे सुसम्पादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं ।

१ तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार (त्रिषष्ठिमहापुरुषगुणालंकार) या महापुराण । यह आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो खंडोंमें विभक्त है । ये दोनों अलग अलग भी मिलते हैं । इनमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंके चरित हैं । पहलेमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का और दूसरेमें शेष तेईस तीर्थंकरोंका और इनके समयके अन्य महापुरुषोंका चरित है । उत्तरपुराणमें पद्मपुराण (रामायण) और हरिवंशपुराण[1] (महाभारत) भी शामिल हैं और ये भी कहीं कहीं पृथक रूपमें मिलते हैं ।

अपभ्रंश ग्रंथोंमें सर्गकी जगह सन्धियाँ होती हैं । आदिपुराणमें ८० और उत्तरपुराणमें ४२ संधियाँ हैं । दोनोंका श्लोकपरिमाण लगभग बीस हजार है । इसकी रचनामें कविको लगभग छह वर्ष लगे थे ।

यह एक महान ग्रन्थ है और जैसा कि कविने स्वयं कहा है, इसमें सब कुछ है और जो इसमें नहीं है वह कहीं नहीं है[2] ।

१ हरिवंशपुराण जर्मनीके एक विद्वान 'आल्स डर्फ' ने रोमन लिपिमें जर्मनभाषामें सम्पादित करके प्रकाशित किया है ।

२ अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीतिः स्थितिश्छन्दसामर्थालंकृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णीतयः । किंचान्य-

महामात्य भरतकी प्रेरणा और प्रार्थनासे यह बनाया गया, इसलिए कविने इसकी प्रत्येक सन्धिके अंतमें इसे 'महाभव्वभरताणुमणिए' (महाभव्य-भरतानुमानित) विशेषण दिया है और इसकी अधिकांश सन्धियोंके प्रारंभमें भरतका विविधगुणकीर्तन किया है[3]।

जैन पुस्तकभण्डारोंमें इस ग्रन्थकी अनेकानेक प्रतियाँ मिलती हैं और इसपर अनेक टिप्पणग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमेंसे आचार्य प्रभाचंद्र और श्रीचंद्र मुनिके दो टिप्पणग्रन्थ उपलब्ध भी हैं[4]। श्रीचंद्रने अपने टिप्पणमें लिखा है—'मूलटिप्पणिकां चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणं' इससे मालूम होता है कि इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकर्ताकी लिखी हुई मूल टिप्पणिका भी थी। जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय और प्रसिद्ध रहा है।

महापुराणकी प्रथम सन्धिके छठे कड़वकमें जो 'वीर भइरवणरिंदु' शब्द आया है, उस पर प्रभाचंद्र-कृत टिप्पण है—"वीरभैरवः अन्यः कश्चिद्दुष्टः महाराजो वर्तते, कथा-मकरन्दनायको वा कश्चिद्राजास्ति।" इससे अनुमान होता है कि 'कथा-मकरन्द' नामका भी कोई ग्रन्थ पुष्पदंतने बनाया होगा जिसमें इस राजाको अपनी श्रीविशेषसे सुरेन्द्रको जीतने वाला और पर्वतके समान धीर बतलाया है। भरत-

मंत्रीने इसीको लक्ष्य करके कहा था कि तुमने इस राजाकी प्रशंसा करके जो मिथ्यात्वभाव उत्पन्न किया है, उसका प्रायश्चित्त करनेके लिए महापुराणकी रचना करो। यह बहुत करके अपभ्रंश भाषाका ही काव्यग्रंथ होगा और यह उनकी महापुराणसे पूर्वकी रचना होगी +।

२ णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित)—यह एक खंड काव्य है। इसमें ९ सन्धियाँ हैं और यह णण्णणामंकिय (नन्ननामांकित) है। इसमें पंचमीके उपवासका फल बतलानेवाला नागकुमारका चरित है। इसकी रचना बहुत ही सुन्दर और प्रौढ़ है।

यह मान्यखेटमें नन्नके मन्दिर (महल) में रहते हुए बनाया गया है। प्रारंभमें कहा गया है कि महोदधिके गुणवर्म और शोभननामक दो शिष्योंने प्रार्थना की कि आप पंचमीफलकी रचना कीजिये, महामात्य नन्नने भी उसे सुननेकी इच्छा प्रकट की और फिर नाइल्ल और शीलभट्टने भी आग्रह किया।

३—जसहरचरिउ (यशोधरचरित)—यह भी एक सुन्दर खंडकाव्य है और इसमें 'यशोधर' नामक पुराणपुरुषका चरित वर्णित है। इसमें चार सन्धियाँ हैं। यह कथानक जैन सम्प्रदायमें इतना प्रिय रहा है कि वादिराज, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर लेखकोंने इसे अपने अपने ढंगसे प्राकृत और संस्कृतमें लिखा है।

यह ग्रंथ भी भरतके पुत्र और वल्लभनरेन्द्रके

...र्यादहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते। द्वावेतौ भरतेशपुष्पदसनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥

३ ये गुणकीर्तनके सम्पूर्ण पद्य महापुराणके प्रथम खंडकी प्रस्तावनामें और जैनसाहित्य-संशोधक खंड २ अंक १ के मेरे लेखमें प्रकाशित हो चुके हैं।

४ प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण परमार राजा जयसिंहदेवके राज्य-कालमें और श्रीचन्द्रका भोजदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। देखो अनेकान्त वर्ष ४ अंक १ में मेरा लेख।

+ णियसिरिविसेसणिज्जियसुरिंदु, गिरिधीरुवीरु भइरवणरिंदु।
पइं मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ, उप्पण्णउ जो मिच्छत्तभाउ ॥
पच्छित्तु तासु जइ करहि अज्जु, ता घडइ तुज्झु परलोयकज्जु।
—म० पु० १-६-१०, ११, १२

गृहमंत्रीके लिए उन्हींके महलमें रहते हुए लिखा गया था इसलिए कविने इसके लिए प्रत्येक सन्धिके अन्तमें 'णण्णकण्णाभरण (नन्नके कानोंका गहना)*' विशेषण दिया है। इसकी दूसरी तीसरी और चौथी सन्धिके प्रारंभमें णण्णके गुणकीर्तन करने वाले तीन संस्कृत पद्य हैं ×। इस ग्रंथकी कुछ प्रतियोंमें गन्धर्व कविके बनाये हुए कुछ क्षेपक भी शामिल हो गये हैं जिनकी चर्चा आगे की जायगी। इसकी कई सटिप्पण प्रतियाँ भी मिलती हैं। बम्बईके सरस्वती भवनमें (८०४ क) एक प्रति ऐसी है जिसमें ग्रन्थकी प्रत्येक पंक्तिकी संस्कृत छाया दी हुई है जो बहुत ही उपयोगी है।

उपलब्ध ग्रंथोंमें महापुराण उनकी पहली रचना है और हमारा अनुमान है कि यशोधरचरित सबसे पिछली रचना है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति उस समय लिखी गई है जब युद्ध और लूटके कारण मान्यखेटकी दुर्दशा हो गई थी, वहां दुष्काल पड़ा हुआ था, लोग भूखे मर रहे थे, जगह जगह नरकंकाल पड़े हुए थे। नागकुमारचरित इससे पहले बन चुका होगा। क्योंकि उसमें स्पष्ट रूपसे मान्यखेटको 'श्रीकृष्णराज-करतलनिहित तलवारसे दुर्गम बतलाया है। अर्थात् उस समय कृष्ण तृतीय जीवित थे। परंतु यशोधर-चरितमें नन्नको केवल 'वल्लभनरेन्द्रगृहमहत्तर' विशेषण दिया है और वल्लभनरेन्द्र राष्ट्रकूटोंकी सामान्य पदवी थी। वह खोट्टिगदेवके लिए भी प्रयुक्त हो सकती है और उनके उत्तराधिकारी कर्कके लिए भी। महापुराण श० सं० ८८७ में पूर्ण हुआ था और मान्यखेटकी लूट ८९४ के लगभग हुई। इस लिए इन सात बरसोंके बीच कविके द्वारा उपलब्ध दो छोटे छोटे ग्रंथोंके सिवाय और भी ग्रंथोंके रचे जानेकी संभावना है।

आचार्य हेमचंद्रने अपनी 'देसीनाममाला' की स्वोपज्ञ वृत्तिमें किसी 'अभिमानचिन्ह' नामक ग्रन्थ-कर्ताके सूत्र और स्वविवृत्तिके पद्य उद्धृत किये हैं*। क्या आश्चर्य है जो अभिमानमेरु और अभिमानचिह्न एक ही हों। यद्यपि पुष्पदन्तने प्रायः सर्वत्र ही अपने 'अभिमानमेरु' उपनामका ही उपयोग किया है, फिर भी यशोधरचरितके अंतमें एक जगह अहिमाणंकि (अभिमानाङ्क) या अभिमानचिह्न भी लिखा है ×। इससे बहुत संभव है कि उनका कोई देसी शब्दोंका कोश स्वोपज्ञ टीकासहित भी हो जो आचार्य हेमचंद्रके समक्ष था।

५—कविके आश्रयदाता

महामात्य भरत

पुष्पदन्तने अपने दो आश्रयदाताओंका उल्लेख किया है, एक भरतका और दूसरे नन्नका। ये दोनों पिता-पुत्र थे और महाराजाधिराज कृष्णराज (तृतीय) के महामात्य। राष्ट्रकूट वंशका यह अपने समयका सबसे पराक्रमी, दिग्विजयी और अन्तिम सम्राट् था। इससे उसके महामात्योंकी योग्यता और प्रतिष्ठाकी कल्पना की जा सकती है। नन्न शायद अपने पिताकी मृत्युके बाद महामात्य हुए थे। यद्यपि उस कालमें योग्यतापर कम ध्यान नहीं दिया जाता था, फिर भी बड़े बड़े राजपद प्रायः वंशानुगत होते थे।

भरतके पितामहका नाम अण्णय्या, पिताका

* कोंडिएण गोत्तणहदिणयरासु, वल्लहणरिंदघरमहयरासु।
णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु कइ पुप्फयंतु।
—नागकुमार चरित १-२-२

× देखो कारंजा सीरीजका यशोधरचरित पृ०, २४, ४७, और ७५

* देखो देसीनाममाला १-१४४, ६-९३, ७-१, ८-१२-१७।

× देखो यशोधरचरित। पृ० १००, पंक्ति ३।

महामात्य भरतकी प्रेरणा और प्रार्थनासे यह बनाया गया, इसलिए कविने इसकी प्रत्येक सन्धिके अंतमें इसे 'महाभव्वभरताणुमरिणए' (महाभव्य-भरतानुमानिते) विशेषण दिया है और इसकी अधिकांश सन्धियोंके प्रारंभमें भरतका विविधगुणकीर्तन किया है[३]।

जैन पुस्तकभण्डारोंमें इस ग्रन्थकी अनेकानेक प्रतियाँ मिलती हैं और इसपर अनेक टिप्पणग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमेंसे आचार्य प्रभाचंद्र और श्रीचंद्र मुनिके दो टिप्पणग्रन्थ उपलब्ध भी हैं[४]। श्रीचंद्रने अपने टिप्पणमें लिखा है—'मूलटिप्पणिकां चालोक्य कृतमिदं समुच्चयटिप्पणं' इससे मालूम होता है कि इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकर्ताकी लिखी हुई मूल टिप्पणिका भी थी। जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय और प्रसिद्ध रहा है।

महापुराणकी प्रथम सन्धिके छठे कड़वकमें जो 'वीर भइरवणरिंदु' शब्द आया है, उस पर प्रभाचंद्र-कृत टिप्पण है—"वीरभैरवः अन्यः कश्चिद्दुष्टः महाराजो वर्तते, कथा-मकरन्दनायको वा कश्चिद्राजास्ति।" इससे अनुमान होता है कि 'कथा-मकरन्द' नामका भी कोई ग्रन्थ पुष्पदंतने बनाया होगा जिस में इस राजाको अपनी श्रीविशेषसे सुरेन्द्रको जीतने वाला और पर्वतके समान धीर बतलाया है। भरत-

यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते। द्वावेतौ भरतेशपुष्पदसनौ सिद्धं ययोरीदृशम् ॥

३ ये गुणकीर्तनके सम्पूर्ण पद्य महापुराणके प्रथम खंडकी प्रस्तावनामें और जैनसाहित्य-संशोधक खंड २ अंक १ के मेरे लेखमें प्रकाशित हो चुके हैं।

४ प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण परमार राजा जयसिंहदेवके राज्य-कालमें और श्रीचन्द्रका भोजदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। देखो अनेकान्त वर्ष ४ अंक १ में मेरा लेख।

मंत्रीने इसीको लक्ष्य करके कहा था कि तुमने इस राजाकी प्रशंसा करके जो मिथ्यात्वभाव उत्पन्न किया है, उसका प्रायश्चित्त करनेके लिए महापुराणकी रचना करो। यह बहुत करके अपभ्रंश भाषाका ही काव्यग्रंथ होगा और यह उनकी महापुराणसे पूर्वकी रचना होगी +।

२ णायकुमारचरिउ (नागकुमारचरित)—यह एक खंड काव्य है। इसमें ९ सन्धियाँ हैं और यह णरणणामंकिय (नन्ननामांकित) है। इसमें पंचमीके उपवासका फल बतलानेवाला नागकुमारका चरित है। इसकी रचना बहुत ही सुन्दर और प्रौढ़ है।

यह मान्यखेटमें नन्नके मन्दिर (महल) में रहते हुए बनाया गया है। प्रारंभमें कहा गया है कि महोदधिके गुणवर्म और शोभननामक दो शिष्योंने प्रार्थना की कि आप पंचमीफलकी रचना कीजिये, महामात्य नन्नने भी उसे सुननेकी इच्छा प्रकट की और फिर नाइल्ल और शीलभट्टने भी आग्रह किया।

३—जसहरचरिउ (यशोधरचरित)—यह भी एक सुन्दर खंडकाव्य है और इसमें 'यशोधर' नामक पुराणपुरुषका चरित वर्णित है। इसमें चार सन्धियाँ हैं। यह कथानक जैन सम्प्रदायमें इतना प्रिय रहा है कि वादिराज, वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर लेखकोंने इसे अपने अपने ढंगसे प्राकृत और संस्कृतमें लिखा है।

यह ग्रंथ भी भरतके पुत्र और बल्लभनरेन्द्रके

+ सियसिरिविसेसणिज्जियसुरिंदु, गिरिधीरुवीरु भइरवणरिंदु।
पई मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ, उप्पण्णउ जो मिच्छत्तभाउ॥
पच्छित्तु तासु जइ करहि अज्जु, ता घडइ तुज्झु परलोयकज्जु।
—म० पु० ६-९-१०, ११, १२

गृहमंत्रीके लिए उन्हींके महलमें रहते हुए लिखा गया था इसलिए कविने इसके लिए प्रत्येक सन्धिके अन्तमें 'णण्णकण्णाभरण(नन्नके कानोंका गहना)*' विशेषण दिया है। इसकी दूसरी तीसरी और चौथी सन्धिके प्रारंभमें णण्णके गुणकीर्तन करने वाले तीन संस्कृत पद्य हैं ×। इस ग्रंथकी कुछ प्रतियोंमें गन्धर्व कविके बनाये हुए कुछ क्षेपक भी शामिल हो गये हैं जिनकी चर्चा आगे की जायगी। इसकी कई सटिप्पण प्रतियाँ भी मिलती हैं। बम्बईके सरस्वती भवनमें (८०४ क) एक प्रति ऐसी है जिसमें ग्रन्थकी प्रत्येक पंक्तिकी संस्कृत छाया दी हुई है जो बहुत ही उपयोगी है।

उपलब्ध ग्रंथोंमें महापुराण उनकी पहली रचना है और हमारा अनुमान है कि यशोधरचरित सबसे पिछली रचना है। इसकी अन्तिम प्रशस्ति उस समय लिखी गई है जब युद्ध और लूटके कारण मान्यखेटकी दुर्दशा हो गई थी, वहां दुष्काल पड़ा हुआ था, लोग भूखे मर रहे थे, जगह जगह नरकंकाल पड़े हुए थे। नागकुमारचरित इससे पहले बन चुका होगा। क्योंकि उसमें स्पष्ट रूपसे मान्यखेटको 'श्रीकृष्णराज-करतलनिहित तलवारसे दुर्गम बतलाया है। अर्थात उस समय कृष्ण तृतीय जीवित थे। परंतु यशोधर-चरितमें नन्नको केवल 'वल्लभनरेन्द्रगृहमहत्तर' विशेषण दिया है और वल्लभनरेन्द्र राष्ट्रकूटोंकी सामान्य पदवी थी। वह खोट्टिगदेवके लिए भी प्रयुक्त हो सकती है और उनके उत्तराधिकारी कर्कके लिए भी। महापुराण श० सं० ८८७ में पूर्ण हुआ था और मान्यखेटकी लूट ८९४ के लगभग हुई। इस लिए इन सात बरसोंके बीच कविके द्वारा उपलब्ध दो छोटे छोटे ग्रंथोंके सिवाय और भी ग्रंथोंके रचे जानेकी संभावना है।

आचार्य हेमचंद्रने अपनी 'देसीनाममाला' की स्वोपज्ञ वृत्तिमें किसी 'अभिमानचिन्ह' नामक ग्रन्थ-कर्ताके सूत्र और स्वविवृत्तिके पद्य उद्धृत किये हैं*। क्या आश्चर्य है जो अभिमानमेरु और अभिमानचिह्न एक ही हों। यद्यपि पुष्पदन्तने प्रायः सर्वत्र ही अपने 'अभिमानमेरु' उपनामका ही उपयोग किया है, फिर भी यशोधरचरितके अंतमें एक जगह अहिमाणंकि (अभिमानाङ्क) या अभिमानचिह्न भी लिखा है ×। इससे बहुत संभव है कि उनका कोई देसी शब्दोंका कोश स्वोपज्ञ टीकासहित भी हो जो आचार्य हेमचंद्रके समक्ष था।

५—कविके आश्रयदाता

महामात्य भरत

पुष्पदन्तने अपने दो आश्रयदाताओंका उल्लेख किया है, एक भरतका और दूसरे नन्नका। ये दोनों पिता-पुत्र थे और महाराजाधिराज कृष्णराज (तृतीय) के महामात्य। राष्ट्रकूट वंशका यह अपने समयका सबसे पराक्रमी, दिग्विजयी और अन्तिम सम्राट् था। इससे उसके महामात्योंकी योग्यता और प्रतिष्ठा की कल्पना की जा सकती है। नन्न शायद अपने पिताकी मृत्युके बाद महामात्य हुए थे। यद्यपि उस कालमें योग्यतापर कम ध्यान नहीं दिया जाता था, फिर भी बड़े बड़े राजपद प्रायः वंशानुगत होते थे।

भरतके पितामहका नाम अण्णय्या, पिताका

* कोंडिण्णगोत्तणहदिणयरासु, वल्लहणरिंदघरमहयरासु।
णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु कइ पुप्फयंतु।
—नागकुमार चरित १-२-२

× देखो कारंजा सीरीजका यशोधरचरित पृ०,२४,४७,और ७५

* देखो देसीनाममाला १-१४४, ६-९३, ७-१, ८-१२-१७।

× देखो यशोधरचरित। पृ० १००, पंक्ति ३।

एय्यण और माताका श्रीदेवी था। वे कौडिन्य गोत्रके ब्राह्मण थे। कहीं कहीं इन्हें भरतभट्ट भी लिखा है। भरतकी पत्नीका नाम कुन्दव्वा था जिसके गर्भसे नन्न उत्पन्न हुए थे।

भरत महामात्य वंशमें ही उत्पन्न हुए थे× परन्तु सन्तानक्रमसे चली आई हुई यह लक्ष्मी (महामात्यपद) कुछ समयसे उनके कुलसे चली गई थी। जिसे उन्होंने बड़ी भारी आपत्तिके दिनोंमें अपनी तेजस्वितासे और प्रभुकी सेवासे फिर प्राप्त कर लिया था*।

भरत जैनधर्मके अनुयायी थे। उन्हें अनवरत-रचितजिननाथभक्ति और जिनवरसमयप्रासादस्तंभ अर्थात् निरन्तर जिनभगवानकी भक्ति करनेवाले और जैनशासनरूपी महलके स्तंभ लिखा है।

कृष्ण तृतीयके ही समयमें और उन्हींके साम्राज्यमें बने हुए नीतिवाक्यामृतमें अमात्यके अधिकार बतलाये हैं आय, व्यय, स्वामिरक्षा और राजतंत्रकी पुष्टि—"आयोव्ययः स्वामिरक्षा तंत्रपोषणं चामात्यानामधिकारः।" साधारणतः रेवेन्यूमिनिस्टरको अमात्य कहते थे। परन्तु भरत महामात्य थे। इससे मालूम होता है कि वे रेवेन्यूमिनिस्टरीके सिवाय राज्यके अन्य विभागोंका भी काम करते होंगे। राष्ट्रकूटकालमें मंत्रीके लिए शास्त्रज्ञके सिवाय शस्त्रज्ञ भी होना आवश्यक था। जरूरत होनेपर उसे युद्धक्षेत्रमें भी जाना पड़ता था।

एक जगह पुष्पदन्तने लिखा भी है कि वे वल्लभराजके कटकके नायक अर्थात् सेनापति हुए थे[१]। इसके सिवाय वे राजाके दानमंत्री भी थे[२]। इतिहासमें कृष्ण तृतीयके एक मंत्री नारायणका नाम तो मिलता है[३] जो कि बहुत ही विद्वान और राजनीतिज्ञ थे, परन्तु भरत महामात्यका अब तक किसीको पता नहीं। क्योंकि पुष्पदन्तका साहित्य इतिहासज्ञोंके पास तक पहुंचा ही नहीं।

पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें भरतका बहुत कुछ परिचय दिया है। उसके सिवाय उन्होंने उसकी अधिकांश सन्धियोंके प्रारम्भमें कुछ प्रशस्तिपद्य पीछेसे भी जोड़े हैं जिनकी संख्या ४८ है[४]। उनमेंसे छह (५, ६, १६, ३०, ३५, ४८) तो शुद्ध प्राकृतके हैं और शेष संस्कृतके। इनमेंसे ४२ पद्योंमें भरतका जो गुणकीर्तन किया गया है, उससे भी उनके जीवनपर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। उक्त सारा गुणानुवाद कवित्वपूर्ण होनेके कारण अतिशयोक्तिमय हो सकता है परन्तु कविके स्वभावको देखते हुए उसमें सचाई भी

× महमत्तवंसधयवडु गहीरु (महामात्यवंशध्वजपट गंभीर)
—म० पु० ३४ वीं सन्धिका प्रारंभ

* तीव्रापद्दिवसेषु बन्धुरहितेनैकेन तेजस्विना,
सन्तानक्रमतो गताऽपि हि रमाऽ कृष्टा प्रभोः सेवया।
यस्याचारपदं वदन्ति कवयः सौजन्यसत्यास्पदं,
सोऽयं श्रीभरतो जयत्यनुपमः काले कलौ साम्प्रतम्।
म० पु० १५ वीं सन्धि

१ सोयं श्रीभरतः कलङ्करहितः कान्तः सुवृत्तः शुचिः,
सज्ज्योतिर्मणिराकरो प्लुत इवानर्घ्यो गुणैर्भासिते।
वंशो येन पवित्रतामिह महामात्याह्वयः प्राप्तवान्,
श्रीमद्वल्लभराजशक्तिकटके यश्चाभवन्नायकः।

२ हं हो भद्र प्रचण्डावनिपतिभवने त्यागसंख्यानकर्ता,
कोयं श्यामः प्रधानः प्रवरकरिकराकारबाहुः प्रसन्नः।
धन्यः प्रालेयपिण्डोपमधवलयशो धौतधात्रीतलान्तः,
ख्यातो बन्धुः कवीनां भरत इति कथं पान्थ जानासि नो त्वम्।

३ देखो सालोटगीका शिलालेख, इं० ए० जिल्द ४ पृ० ६०।

४ बम्बईके सरस्वती भवनमें महापुराणकी जो बहुत ही अशुद्ध प्रति है उसकी ४२ वीं सन्धिके बाद 'हरति मनसो मोहं' आदि अशुद्ध पद्य अधिक दिया हुआ है। जान पड़ता है अन्य प्रतियोंमें शायद इस तरहके और भी पद्य हों।

कम नहीं जान पड़ती।

वे सारी कलाओं और विद्याओंमें कुशल थे, प्राकृत कवियोंकी रचनाओंपर मुग्ध थे, उन्होंने सरस्वती सुरभिका दूध पिया था। लक्ष्मी उन्हें चाहती थी। वे सत्यप्रतिज्ञ और निर्मत्सर थे। युद्धोंका बोझ ढोते ढोते उनके कन्धे घिस गये थे[1]।

बहुत ही मनोहर, कवियोंके लिए कामधेनु, दीन दुखियोंकी आशा पूरी करनेवाले, चारों ओर प्रसिद्ध, परस्त्रीपराङ्मुख, सच्चरित्र, उन्नतमति और सुजनोंके उद्धारक थे[2]।

उनका रंग साँवला था, हाथीकी सूंडके समान उनकी भुजायें थीं, अङ्ग सुडौल थे, नेत्र सुन्दर थे और वे सदा प्रसन्नमुख रहते थे[3]।

भरत बहुत ही उदार और दानी थे। कविके शब्दोंमें बलि, जीमूत, दधीचि आदिके स्वर्गगत हो जानेसे त्याग गुण अगत्या भरत मंत्रीमें ही आकर बस गया था[4]।

एक सूक्तिमें कहा है कि भरतके न तो गुणोंकी गिनती थी और न उनके शत्रुओंकी[5]। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि इतने बड़े पदपर रहनेवालेके, चाहे वह कितना ही गुणी और भला हो, शत्रु तो हो ही जाते हैं।

इस समयके विचारशील लोग जिस तरह मन्दिर आदि बनवाना छोड़कर विद्योपासनाकी आवश्यकता बतलाते हैं उसी तरह भव्यात्मा भरतने भी वापी, कूप, तड़ाग और जैनमन्दिर बनवाना छोड़कर यह महापुराण बनवाया जो संसार समुद्रको पार करनेके लिए नावतुल्य हुआ। भला उसकी वन्दना करने को किसका हृदय नहीं चाहता[6]।

इस महाकविको आश्रय देकर और प्रेमपूर्ण आग्रहसे महापुराणकी रचना कराके सचमुच ही भरतने वह काम किया, जिससे कविके साथ उनकी भी कीर्ति चिरस्थायी हो गई। जैनमन्दिर और वापी, कूप तड़ागादि तो न जाने कब नामशेष हो जाते।

पुष्पदन्त जैसे फक्कड़, निर्लोभ, निरासक्त और संसारसे उद्विग्न कविसे महापुराण जैसा महान काव्य बनवा लेना भरतका ही काम था। इतना बड़ा आदमी एक अकिंचनका इतना सत्कार, इतनी खुशामद करे और उसके साथ इतनी सहृदयताका व्यवहार करे, यह एक आश्चर्य ही है।

पुष्पदन्तके मित्र भरतका महल विद्याविनोदका स्थान बन गया। वहाँ निरन्तर पाठक पढ़ते थे, गाते थे और लेखक सुन्दर काव्य लिखते थे[7]।

गृह-मन्त्री नन्न

ये भरत के पुत्र थे। नन्नको महामात्य नहीं किंतु वल्लभनरेन्द्रका गृहमन्त्री लिखा है[8]। उनके विषयमें कविने थोड़ा ही लिखा है परन्तु जो कुछ लिखा है, उससे मालूम होता है कि वे भी अपने पिताके सुयो-

१ .... सींसिमकला विरकाणु कुसलु।
पाययकइकव्वरसावलुद्धु, संपीयसरासइसुरहिदुद्धु॥
कमलच्छु अमच्छरु सच्चसंधु, रणभरधुरधरणुग्घुट्ठखंधु।
इससे भी मालूम होता है कि वे सेनापति रहे थे।

२ सविलाससविलासिणिहिययथेणु, सुपसिद्धमहाकइकामधेणु।
काणीणदीणपरिपूरियासु, जसपसरपसाहियदसदिसासु॥
पररमणिपरम्मुहु सुद्धसीलु, उण्णयमइ सुयणुद्धरणलीलु।

३ कोऽयं श्यामप्रभानः प्रवरकरिकराकारबाहुः प्रसन्नः।
श्यामरुचिनयनसुभगं लावण्यप्रायमङ्गमादाय।
भरतच्छलेनसम्प्रति कामः कामाकृतिमुपेतः॥

४ बलिर्जीमूतदधीचिषु सर्वेषु स्वर्गतामुपगतेषु।
सम्प्रत्यनन्यगतिकस्त्यागगुणो भरतमावसति॥

५ धनधवलनाश्रयाणामचलस्थितिकारिणां मुहुर्भ्रमताम्।
गणनैवनास्ति लोके भरतगुणानामरीणां च॥

६ वापीकूपतडागजैनवसतीस्त्यक्त्वेह यत्कारितं
भव्यश्रीभरतेन सुन्दरधिया जैनं पुराणं महत्।
तत्कृत्वाप्लवमुत्तमं रविकृतिः (?) संसारवार्धेः सुखं
कोऽन्य..........कस्य हृदयं तं वन्दितुं नेहते॥

७ इह पठितमुदारं वाचकैर्गीयमानं
इह लिखितमजस्रं लेखकैश्चारुकाव्यं।
गतिवति कविमित्रे मित्रतां पुष्पदन्ते
भरत तव गृहेस्मिन्भाति विद्याविनोदः।

८ कुंडिल्लगुत्तणहदिणयरासु, वल्लहणरिंदघरमहयरासु। य० च०

य उत्तराधिकारी थे और कविका अपने पिताके ही समान आदर करते थे, तथा अपने ही महलमें रखते थे।

नागकुमारचरितकी प्रशस्तिके अनुसार वे प्रकृति से सौम्य थे, उनकी कीर्ति सारे लोकमें फैली हुई थी, उन्होंने जिनमन्दिर बनवाये थे, वे जिनचरणोंके भ्रमर थे और जिनपूजामें निरत रहते थे, जिनशासन के उद्धारक थे, मुनियोंको दान देते थे, पापरहित थे, बाहरी और भीतरी शत्रुओंको जीतनेवाले थे, दयावान्, दीनोंके शरण, राजलक्ष्मीके क्रीड़ासरोवर, सरस्वतीके निवास, तमाम विद्वानोंके साथ विद्या-विनोदमें निरत और शुद्धहृदय थे[1]।

एक प्रशस्तिपद्यमें पुष्पदन्तने नन्नको अपने पुत्रों सहित प्रसन्न रहनेका आशीर्वाद दिया है[2]। इससे मालूम होता है कि उनके अनेक पुत्र थे। उनके नामों का कहीं उल्लेख नहीं है।

कृष्णराज (तृतीय) के तो वे गृहमंत्री थे ही, परन्तु उनकी मृत्युके बाद खोट्टिगदेवके और शायद उनके उत्तराधिकारी कर्क (द्वितीय) के भी वे मंत्री रहे होंगे। क्योंकि यशोधरचरितके अन्तमें कविने लिखा है कि जिस नन्नने बड़े भारी दुष्कालके समय जब सारा जनपद नीरस होगया था, दुस्सह दुःख व्याप्त हो रहा था, जगह-जगह मनुष्योंकी खोपड़ियाँ और कंकाल फैल रहे थे, रंक ही रंक दिखलाई पड़ते थे, मुझे सरस भोजन, सुन्दर वस्त्र और ताम्बूलादिसे मेरी खातिर की, वह चिरायु हो[3]। निश्चय ही मान्यखेटकी लूट और बरबादीके बादकी दुर्दशाका यह चित्र है और तब खोट्टिगदेवकी मृत्यु होचुकी थी।

६—कविके कुछ परिचित जन

पुष्पदन्तने अपने ग्रन्थोंमें भरत और नन्नके सिवाय कुछ और लोगोंका भी उल्लेख किया है। मेलपाटीमें पहुँचने पर सबसे पहले उन्हें दो पुरुष मिले जिनके नाम अम्मइय और इन्द्रराय थे। ये वहाँके नागरिक थे और इन्होंने भरतमंत्रीकी प्रशंसा करके उन्हें नगरमें चलनेका आग्रह किया था। उत्तर पुराणके अंतमें सबकी शांति-कामना करते हुए उन्होंने संत, देवल्ल, भोगल्ल, सोहण, गुणवर्म, दंगइय और संतइयका उल्लेख किया है। इनमेंसे संतको बहु-गुणी, दयावान् और भाग्यवान् बतलाया है। देवल्ल संतका पुत्र था जिसने महापुराणका सारी पृथिवीमें प्रसार किया। भोगल्लको चतुर्विधदानदाता, भरतका परममित्र, अनुपमचरित्र और विस्तृतयशवाला बतलाया है। शोभन और गुणवर्मको निरन्तर जिन धर्मका पालनेवाला कहा है। नागकुमारचरितके अनुसार ये महोदधिके शिष्य थे। इन्होंने नागकुमार चरितकी रचना करनेकी प्रेरणा की थी। दंगइया और संतइया की भी शान्तिकामना की है। नाग-कुमारमें दंगइयाको आशीर्वाद दिया है कि उसका रत्नत्रय विशुद्ध हो। नाइल्ल और सीलइयका भी उल्लेख है। इन्होंने भी नागकुमारचरित रचनेका आग्रह किया था।

७—कविके समकालीन राजा

महापुराणकी उत्थानिकामें कहा है कि इस समय 'तुडिगु महानुभाव' राज्य कर रहे हैं। 'तुडिगु' शब्द पर टिप्पण-ग्रन्थमें 'कृष्णराजः' टिप्पण दिया हुआ है। कृष्णराज दक्षिणके सुप्रसिद्ध राष्ट्रकूटवंशमें हुए हैं

१ सुहतुंगभवणवावारभारणिव्वहणवीरधवलस्स।
कोंडिल्लगोत्तणहससहरस्स पयईए सोमस्स॥
जसपसरभारियभुवणोयरस्स जिणचरणकमलभसलस्स।
अणवरयरइयवरजिणहरस्स जिणभवनपूयणिरयस्स॥
जिणसासणायमुद्धारणस्स मुणिदिण्णदाणस्स।
कलिमलकलंकपरिवज्जियस्स जियदुविहवइरिणियरस्स॥
कारुण्णकंदणवजलहरस्स, दीणजणसरणस्स॥ ४
णिवलच्छीकीलासरवरस्स, वाएसरिणिवासस्स।
णिस्सेसविउसविज्जाविणोयणिरयस्स सुद्धहियस्स॥ ५

२ स श्रीमानिह भूतले सह सुतैर्नन्नाभिधो नन्दतात्।

३ जणवयनीरसि, दुरियमलीमसि, कइणिंदायार, दुसहे दुहयरि,
पडियकवालइ, णरकंकालइ, अइदुक्कालइ।
पवरागारि सरसाहारि सणिहंचेलि, वरतंबोलि,
महु उपयारिउ पुण्णिपेरिउ, गुणभत्तिल्लउ, णण्णुमहल्लउ।

और अपने समयके महान् सम्राट् थे। 'तुडिगु' उन का घरू प्राकृत नाम था। इस तरहके घरू नाम राष्ट्रकूट और चालुक्य वंशके प्रायः सभी राजाओंके मिलते हैं[1]।

वल्लभ नरेन्द्र, वल्लभराय, शुभतुंगदेव और कण्हराय नाममे भी कविने उनका उल्लेख किया है।

शिलालेखों और दानपत्रोंमें अकालवर्ष, महाराजाधिराज, परमेश्वर, परममाहेश्वर, परमभट्टारक, पृथिवीवल्लभ, समस्तभुवनाश्रय आदि उपाधियाँ उनके लिए प्रयुक्त की गई हैं।

वल्लभराय पदवी पहले दक्षिणके चौलुक्य राजाओंकी थी, पीछे जब उनका राज्य राष्ट्रकूटोंने जीत लिया तब इस वंशके राजा भी इसका उपयोग करने लगे[2]।

भारतके प्राचीन राजवंश (तृ० भा० पृ० ५६) में इनकी एक पदवी 'कन्धारपुरवराधीश्वर' लिखी है। परन्तु हमारी समझमें वह 'कालिंजरपुरवराधीश्वर' होनी चाहिए। क्योंकि उन्होंने चेदीके कलचुरि नरेश महस्राजुनको जीता था और कालिंजरपुर चेदिका मुख्य नगर था। दक्षिणका कलचुरि राजा बिज्जल भी अपने नामके साथ कालिंजरपुरवराधीश्वर पद लगाता था।

अमोघवर्ष तृतीय या बद्दिगके तीन पुत्र थे—तुडिगु या कृष्णतृतीय, जगत्तुंग और खोट्टिगदेव। कृष्ण सबसे बड़े थे जो अपने पिताके बाद गद्दीपर बैठे और चूँकि दूसरे जगत्तुंग उनसे छोटे थे तथा उनके राज्यकालमें ही स्वर्गगत हो गये थे, इस लिए तीसरे पुत्र खोट्टिगदेव गद्दीपर बैठे। कृष्णके पुत्रका भी इस बीच देहान्त होगया था और पौत्र छोटा था, इसलिए भी खोट्टिगदेवको अधिकार मिला।

कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट वंशके सबसे अधिक प्रतापी और सार्वभौम राजा थे। इनके पूर्वजोंका साम्राज्य उत्तरमें नर्मदा नदीसे लेकर दक्षिणमें मैसूर तक फैला हुआ था जिसमें सारा गुजरात, मराठी सी० पी० और निजाम राज्य शामिल था। मालवा और बुन्देलखंड भी उनके प्रभावक्षेत्रमें थे। इस विस्तृत साम्राज्य को कृष्ण तृतीयने और भी बढ़ाया और दक्षिणका सारा अन्तरीप भी अपने अधिकारमें कर लिया। कड़ाडके ताम्रपत्रोंके[3] अनुसार उन्होंने पाण्ड्य केरल को हराया, सिंहलसे कर वसूल किया और रामेश्वरमें अपनी कीर्तिवल्लरीको लगाया। ये ताम्रपत्र सई सन् ९५९ (श० सं० ८८१) के हैं और उस समय लिखे गये हैं जब कृष्णराज अपने मेलपाटीके सेना-शिबिर में ठहरे हुए थे और अपना जीता हुआ राज्य और धन-रत्न अपने सामन्तों और अनुगतोंको उदारता पूर्वक बाँट रहे थे। इनके दो ही महीने बाद लिखी हुई श्रीसोमदेवसूरिकी यशस्तिलकप्रशस्ति[4] भी इस की पुष्टि होती है[5]। इस प्रशस्तिमें उन्हें पाण्ड्य, सिंहल, चोल, चेर आदि आदि देशोंको जीतने वाला लिखा है।

देवली[6] के शिलालेखसे मालूम होता है कि उसने कांचीके राजा दन्तिगको और बप्पुकको मारा, पल्लव नरेश अन्तिगको हराया, गुर्जरोंके आक्रमणसे मध्य भारतके कलचुरियोंकी रक्षा की और अन्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। हिमालयसे लेकर लंका और पूर्वसे लेकर पश्चिम समुद्र तकके राजा उसकी आज्ञा मानते थे। उसका साम्राज्य गंगाकी सीमाको भी पार कर गया था।

चोलदेशका राजा परान्तक बहुत महत्त्वाकांक्षी था। इसके कन्याकुमारीमें मिले हुए शिलालेखमें[7] लिखा है कि उसने कृष्णतृतीयको हराकर वीरचोलकी पदवी धारण की। किस जगह हराया और कहां

---

१ जैसे गोज्जिग, बद्दिग, तुडिग, पुट्टिग, खोट्टिग आदि।

२ अरब लेखकोंने मानकिरके बल्हरा नामक बलाढ्य राजाओं का जो उल्लेख किया है, वह मान्यखेटके वल्लभराज पद धारण करने वाले राजाओंको ही लक्ष्य करके है।

३ एपिग्रेफिया इंडिका (ए० इं०) जिल्द ४ पृ० २७८।

४ वंदीगंदिएणभण-कणयपयरु महिपरिभमंतु मेलाडिणयरु।

५ "पाण्ड्यसिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य...."।

६ जर्नल बाम्बे ब्राच रा० ए० सो० जिल्द १८ पृ० २३९ और लिस्ट आफ इन्स्क्रिप्शन्स सी०पी० एण्ड बरार पृ० ८१।

७ त्रावणकोर आर्कि० सीरीज जि० ३ पृ० १४३ श्लोक ४८।

हराया, यह कुछ नहीं लिखा। इसके विरुद्ध ऐसे अनेक प्रमाण मिले हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ई० स० ९४४ (श० ८६६) से लेकर कृष्णके राज्यकालके अन्त तक चोलमण्डल कृष्णके ही अधिकारमें रहा। तब उक्त लेखमें इतनी ही सचाई हो सकती है कि सन ९४४ के आस पास वीरचोलको राष्ट्रकूटोंके साथकी लड़ाईमें अल्पकालिक सफलता मिल गई होगी।

दक्षिण अर्काट जिलेके सिद्धलिंगमादम स्थानके शिलालेखमें[1] जो कृष्णतृतीयके ५ वें राज्यवर्षका है उसके द्वारा कांची और तंजोरके जीतनेका उल्लेख है और उत्तरी अर्काटके शोलापुरम स्थानके ई० स० ९४९-५० (श० सं० ८७१) शिलालेखमें[2] लिखा है कि उस साल उसने राजादित्यको मारकर तोडयि मंडल या चोलमण्डलमें प्रवेश किया। यह राजादित्य परान्तक या वीरचोलका पुत्र था और चोलसेनाका सेनापति था[3]। कृष्णतृतीयके बहनोई और सेनापति भूतुगने इसे इसके हाथीके हौदे पर आक्रमण करके मारा था[4] और इसके उपलक्षमें उसे वनवासी प्रदेश उपहार मिला था।

ई० सन् ९१५ (शक सं० ८१७) में राष्ट्रकूट इन्द्र (तृतीय) ने परमारराजा उपेन्द्र (कृष्ण) को जीता था और तबसे कृष्णतृतीय तक परमार राष्ट्रकूटोंके मांडलिक होकर रहे। उस समय गुजरात भी परमारोंके अधीन था।

परमारोंमें सीयक या श्रीहर्ष राजा बहुत पराक्रमी था। इसने कृष्णतृतीयके आधिपत्यके विरुद्ध सिर उठाया होगा, जान पड़ता है इसी कारण कृष्णको उस पर चढ़ाई करनी पड़ी होगी और उसे जीता होगा। इस अनुमानकी पुष्टि श्रवणबेलगोलके मारसिंहके शिलालेखसे[5] होती है जिसमें लिखा है कि उसने कृष्णतृतीयके लिए उत्तरीय प्रान्त जीते और बदलेमें उसे 'गुर्जर-राज' का खिताब मिला। इसी तरह हालकेरीके[6] ई० स० ९६८ और ९६५ के शिलालेखोंमें मारसिंहके दो सेनापतियोंको 'उज्जयिनी भुजंग' पदको धारण करनेवाला बतलाया है। ये गुर्जरराज और उज्जयिनी भुजंग पद स्पष्ट ही कृष्ण-द्वारा सीयकके गुजरात और मालवेके जीते जानेका संकेत करते हैं।

सीयक उस समय तो दब गया, परन्तु ज्योंही पराक्रमी कृष्णकी मृत्यु हुई कि उसने पूरी तैयारीके साथ मान्यखेट पर धावा बोल दिया और खोट्टिगदेव को परास्त करके मान्यखेटको बुरी तरह लूटा और बरबाद किया।

पाइयलच्छिनाममालाके कर्त्ता धनपालके कथनानुसार यह लूट वि० सं० १०२९ (श० सं० ८९४) में हुई और शायद इसी लड़ाईमें खोट्टिगदेव मारे गये। क्योंकि इसी साल उत्कीर्ण किया हुआ खरडाका शिलालेख[7] खोट्टिगदेवके उत्तराधिकारी कर्क (द्वितीय) का है।

कृष्णतृतीय ई० स० ९३९ (श० सं० ८६१) के दिसम्बरके आस पास गद्दीपर बैठे होंगे। क्यों कि इस वर्षके दिसम्बरमें इनके पिता बद्दिग जीवित थे और कोल्लगल्लुका[8] शिलालेख फाल्गुन सुदी ६ शक स० ८८९ का है जिसमें लिखा है कि कृष्णकी मृत्यु हो गई और खोट्टिगदेव गद्दी पर बैठे। इससे उनका २८ वर्ष तक राज्य करना सिद्ध होता है, परन्तु किल्लूर (द० अर्काट) के वीरत्तनेश्वर मन्दिरका शिलालेख उनके राज्यके ३० वें वर्षका लिखा हुआ है! विद्वानों का खयाल है कि ये राजकुमारावस्थामें, अपने पिताके जीते जी ही राज्यका कार्य संभालने लगे थे, इसी से शायद उस समयके दो वर्ष उक्त तीस वर्षके राज्यकालमें जोड़ लिये गये होंगे।

राष्ट्रकूटोंको और कृष्णतृतीयका यह परिचय कुछ विस्तृत इस लिए देना पड़ा जिससे पुष्पदन्तके ग्रंथोंमें जिन जिन बातोंका जिक्र है, वे ठीक तौरसे समझमें आ जायँ और समय निर्णय करनेमें भी सहासता मिले। (अगली किरणमें समाप्त)

१ मद्रास एपिग्राफिकल कलेक्शन १९०९ नं० ३७५।
२ एपि० इं० जि० ५ पृ० १९५। ३ एपि० इं० जि० १९ पृ० ८३।
४ लीडनका दानपत्र, आर्किलाजिकल सर्वे आफ साउथ इंडिया जि० ४, पृ० २०१। ५ एपि० इं० जि० ५ पृ० १७९।
६ एपि० इं० जि० ११, नं० २३-३३
७ एपि० इं० जि० १२ पृ० २६३। ८ मद्रास ए० स० १९१३ नं० २३६
९ मद्रास एपिग्राफिक कलेक्शन सन् १९०२ नं० २३२।

नया मंदिर देहलीके हस्तलिखित हिंदी ग्रंथोंकी सूची
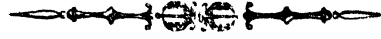
गत किरणमें इस मन्दिरके प्राय: संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके कोई ३५० प्रधान ग्रंथोंकी सूची १० पृष्ठोंमें दी गई थी; यह सूची उसमें उल्लिखित 'भाषाटीका' वाले ग्रन्थोंको छोड़कर शेष हिन्दी भाषाके ग्रन्थोंमेंसे मुख्य मुख्य ग्रन्थोंकी सूची है और मन्दिरकी उसी नई सूची पर से तय्यार कराई गई है। इसमें पाठकोंको हिन्दीके कितने ही ग्रंथोंके साथ साथ अनेक अज्ञात कवियों तथा लेखकोंका भी पता चल सकेगा।

—सम्पादक

ग्रंथ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	लिपि-संवत्
अठाईरासा	भ० विजयकीर्ति	हिन्दी पद्य	६	×
अढ़ाईद्वीपका पाठ	पं० कमलनयन	,,	१४८	१८६४
अध्यात्मपाठसंग्रह	पं० बनारसीदास	,,	८७	×
अध्यात्मबारहखड़ी	पं० दौलतराम	,,	११०	१९२८
अनुभवप्रकाश	पं० दीपचंद शाह	हिन्दी गद्य	६९	१८६३
अमरचन्द्रिका (खंडित)	पं० अमरचंद्र	,, पद्य	१५६	१८९१
अमितगति श्रावकाचार टीका (मूलसहित)	पं० भागचंद	,,	१६१	१९२२
अर्थप्रकाशिका (तत्त्वार्थ-टीका)	पं० परमेष्ठिसहाय, पं० सदासुखराय	,, गद्य	३९६	×
अर्थसंदृष्टि	पं० टोडरमल	,,	२००	×
आगम-शतक (द्यानतसंग्रह)	संग्र० पं० जगतराय	,, पद्य	१०४	×
आत्मावलोकन	×	,, गद्य	४३	१९०४
आत्मविलास	पं० गुलजारीलाल जैसवाल	,,	५०	१९२८
आदिपुराण	पं० तुलसीराम	,, पद्य	१४९	१९७०
,,	पं० दौलतराम	,, गद्य	३४३	१७३४
आराधना कथाकोष	बखतावरलाल, रतनलाल	,, पद्य	२७१	१९२७
उत्तरपुराण	कवि खुशालचंद	,,	२८२	१९०१
कर्मदहनपूजा	पं० टेकचंद	,,	७२	१९०४
कुशीलखंडन	पं० जयलालजी	,, गद्य	२६	१९८६
कृष्णबालविलास	त्यागी किशनलाल	,, पद्य	८७	१९८३
क्रियाकोष	पं० किशनसिंह	,,	८२	१९३८
,,	पं० दौलतराम	,,	१५१	१८९२
गुरुउपदेशश्रावकाचार	पं० डालूराम	,,	१९६	१९८३
चतुरचितारणी	पं० दौलतराम	,,	३९ से ४७	×
चर्चानामावलिसंग्रह	×	,, गद्य	१३५ से १४१	१९७७
चर्चाशतक	पं० द्यानतराय	,, पद्य	३१	१८५५
,, ,, टीका	पं० हरजीमल	,, गद्य	१२४	×
चर्चासमाधान	पं० भूधरदास	,,	७६	१९७७
चंद्रप्रभपुराण	पं० हीरालाल	,, पद्य	१५१	×
चेतनचरित्र	पं० भगवतीदास	,,	१८	×

ग्रंथ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	लिपि संवत
चौदह गुणस्थान यंत्र	×	हिन्दी गद्य	५२	×
चौबीस ठाणा-चर्चा	×	,,	१४७	×
चौंसठ ऋद्धिका अर्थ	पं० हरजीमल	,,	३१	१८५५
छहढाला	पं० दौलतराम	,, पद्य	१३	१९३५
छंदरत्नावली (पिंगल)	पं० अमृतराय	,,	१००	×
जंबूस्वामिचरित्र	पं० जिनदास	,,	४३	१९०२
जिनदत्तचरित्र	बखतावरलाल, रतनलाल	,,	१२६	१९४०
जिनपूजाधिकार-मीमांसा	पं० जुगलकिशोर मुख्तार	,, गद्य	४६	१९८०
जीवंधरचरित्र	पं० नथमल विलाला	,, पद्य	१७२	१९६६
जैन-अजैन-चर्चा-संग्रह	त्यागी किशनलाल	,, गद्य	१५३से ५५१	×
जैनबालबोध-त्रिशतिका	श्री गोधाजी	,,	८०	१९८२
जैनशतक	पं० भूधरदास	,, पद्य	१३	१८६१
जैनसिद्धान्तदर्पण	पं० गोपालदास वरैया	,, गद्य	९८	१९७६
ज्ञानदर्पण	पं० दीपचंद शाह	,, पद्य	३१	१८३६
ज्ञानसूर्योदयनाटक (टीका)	पं० भागचन्द	,, गद्य	६५	१९२३
ज्ञानानन्दश्रावकाचार	पं० रायमल्ल	,,	१३१	१९२९
णमोकारकल्प	×	,,	१४५से १५०	१९७७
तत्त्वार्थ-बालबोध-टीका	पं० चेतनदास	,,	१२२	१९७५
तिथिषोडशी (पखवाड़ा)	पं० द्यानतराय	,, पद्य	२२	×
तीस चौबीसी पूजा-पाठ	कवि वृन्दावन	,,	१२६	१९४३
त्रिलोकसारपाठ	कवि जवाहरलाल	,,	२७५	×
दर्शनकथा	कवि भारामल्ल	,,	४५	१९२८
दानकथा	,,	,,	२५	×
द्यानतपदसंग्रह	पं० द्यानतराय	,,	७२	१८८६
द्यानतविलास	,, ,,	,,	१५१	१९४९
धन्यकुमारचरित्र	पं० खुशालचंद	,,	४६	१९२३
धर्मपरीक्षा (भाषाटीका)	पं० मनोहरलाल	,, गद्य	८६	१९१३
धर्मदीपक (धर्मदशावतार-नाटक)	पं० पन्नालाल संघी, पं० फतेलाल	सं०हिन्दी	९३	१९४७
धर्मसार	पं० शिरोमणि	हिन्दी पद्य	७०	१७५५
धर्मोपदेशसंग्रह	पं० सेवाराम शाह	,,	२०५	१८६४
नाटकसमयसार	पं० बनारसीदास	,,	६३	१८०५
नाटकसमयसार-टीका	पं० सदासुखराय	,, गद्य	२४३	१९१४
नियमसार (भाषाटीका)	ब्र० शीतलप्रसाद	,,	१२३	१९७४
नेमिनाथचरित्र (भाषाटीका समूल)	विक्रम कवि,	सं०, हिन्दी	३२	×
नेमिनाथपुराण	पं० बखतावरलाल	हिन्दी पद्य	११९	१९१३
पद्मनंदि-पंचविंशतिका (भा० टी०)	पं० जौहरीलाल मन्नालाल	,, गद्य	३८७	१९२६
पद्मपुराण	पं० खुशालचंद	,, पद्य	२५०	१८१७

ग्रंथ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	लिपि-संवत्
परमशतक	×	हिन्दी पद्य	४	×
परमात्मपुराण (भा० टी०)	पं० दीपचंद काशलीवाल	,, गद्य	१५७	१९०३
परमात्मप्रकाश (भा० टी०)	पं० दौलतराम	,,	१४५	१९००
पंचकुमारतीर्थंकर पूजा	त्यागी किशनलाल	,, पद्य	१७	१९८६
पंचपरमेष्ठी पूजन	बखतावरसिंह, रतनलाल	,,	३२	१८९८
,, ,, पाठ	पं० डालूराम	,,	२५	१८७६
पंचमंगल	पं० रूपचंद	,,	६	×
पंचास्तिकाय (छंदोबद्ध)	पं० हीरानन्द	,,	१६०	१७२०
पाण्डवपुराण	पं० बुलाकीदास	,,	२०१	१८९२
पार्श्वपुराण	पं० भूधरदास	,,	९७	१७८९
पार्श्वविलास	पं० पार्श्वदास	,, गद्य	१६२	×
पुण्याश्रवकथाकोश (भा० टी०)	पं० दौलतराम	,,	२६०	१७७७
,, ,,	,,	,, पद्य	३७३	,,
पुष्पांजलि कथा	पं० खुशालचन्द	,,	१४	१९५५
प्रतिष्ठासार (भा. टी.)	बाबा दुलीचन्द	,, गद्य	२३०	१९८०
प्रवचनसार (,,)	पं० हेमराज	,,	१५२	१८४५
प्रवचनसार (पद्यानुवाद)	पं० हेमराज	,, पद्य	१३६	१७८१
प्रवचनसार परमागम	कवि वृन्दावन	,,	५१	×
प्रमाणपरीक्षा (भा. टी.)	पं० भागचन्द	,, गद्य	९२	१९९०
प्रमेयरत्नमाला (भा. टी.)	पं० जयचंद्र	,,	१२१	१८६६
प्रश्नोत्तर उपासकाचार	कवि बुलाकीदास	,, पद्य	८९	१७६६
प्रश्नोत्तर सज्जनचित्तवल्लभ (भा.टी.)	पं० पन्नालाल संघी	,, गद्य	१५३	×
बनारसी अवस्था	पं० बनारसीदास	,, पद्य	६०	१९०२
बनारसीविलास	,,	,,	१०८	१७०७
बीजकोष (मंत्र बीजकोष)	पं० चंद्रशेखर शास्त्री	,, गद्य	१२	×
बुद्धिप्रकाश	पं० टेकचन्द	,, पद्य	१०९	१९८०
बुधजनविलास	पं० बुधजन	,,	८४	१९२०
बुधजनसतसई	,,	,,	३६	१९०२
ब्रह्मविलास	पं० भगवतीदास	,,	१९२	१७७८
भक्तामरचरित्र	पं० विनोदीलाल	,,	२२१	×
भगवती आराधना (भा. टी.)	पं० सदासुखराय	,, गद्य	७७९	×
भद्रबाहुचरित्र	कवि किशनसिंह	,, पद्य	३६	१९२९
भूधरविलास	पं० भूधरदास	,,	७६	१९१३
महादंडक चौपाई	भ० विजयकीर्ति	,,	१३५	१८३८
महावीरपुराण	पं० विजयनाथ माथुर	,,	९९	१९०५
मंत्रसाधनविधि	×	,, गद्य	२०	१९९४
मित्रविलास	पं० घासीराम	,, पद्य	५४	×

ग्रंथ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्र-संवत्	लिपि-संवत्
मिथ्यात्वनिषेध (वचनिका)	×	,, गद्य	३४	१८३७
मुनिसुव्रतनाथ पुराण	ब्र० इन्द्रजीत	,, पद्य	७१	१९८०
मूलाचार (भाषा टीका)	पं० नन्दलाल, पं० ऋषभचन्द्र	,, गद्य	२३७	१८७९
मोक्षमार्ग प्रकाश	पं० टोडरमलजी	,,	३२३	×
यशोधरचरित्र	पं० परिहानन्द	,, पद्य	२७	१९७२
,,	पं० खुशालचन्द	,,	६०	१८३१
रत्नकरण्डश्रावकाचार (भा०टी०)	पं० सदासुखराय	,, गद्य	७६१	१७६८
रविव्रतकथा	पं० खुशालचन्द	,, पद्य	१३	१९२९
रोहिणीव्रतकथारास	भ० विशालकीर्ति	,,	२४	१६२०
वरागचरित्र	पं० लालचन्द	,,	७२	१९०५
विष्णुकुमार मुनिकथा	पं० विनोदीलाल	,,	३०	×
बीस बिरहमान तीर्थंकरपाट	कवि छत्रपति पद्मावती	,,	११	१९८०
वैराग्यशतक	कवि वासीलाल	,,	१४	१८८४
व्रतकथाकोष	पं० खुशालचन्द	,,	११२	१८२७
शान्तिनाथ पुराण	कवि सेवाराम	,,	२७२	×
शीलरासा	विजयदेवी सूरि	,,	१३	१६३६
श्रीपालचरित्र	कवि परिमल बरैया	,,	१४३	१८१८
,,	अतिसुखराय	,,	१७०	१९६२
श्रीपालविनोदकथा	पं० विनोदीलाल	,,	७१	१८१०
श्रुतपंचमीकथा (भविष्यदत्तचरित्र)	कवि बनवारीदास	,,	५८	१७ ७
श्रेणिकचरित्र	भ० विजयकीर्ति	,,	८३	१८८५
सप्तव्यसनचरित्र	सिंघई भारामल	,,	१४९	१९६५
समयसार कलसा	पं० रायमल्ल	,, गद्य	२२२	१७५५
समयसार नाटक	पं० बनारसीदास	,, पद्य	७२	१७७६
सम्यक्त्वकौमुदी	पं० जगतराम	,, पद्य	१३०	१८८५
,,	पं० जोधाराय गोधिका	,,	६८	१७८४
सम्यक्ज्ञानदीपक	क्षु० धर्मदास	,, पद्य	९०	१९७३
समाधितन्त्र (भाषा टीका)	पर्वतधर्मार्थी	,, गद्य	२१०	१७६८
सरस्वतीपूजा	पं० लक्ष्मीचन्द लशकर	,, पद्य	९	१९७६
सारचतुर्विंशति (भाषा टीका)	पं० पारसदास	,, गद्य	४४३	१९४२
सिद्धान्तसारदीपक	पं० नथमल विलाला	,, पद्य	३९६	×
सीताचरित्र	चौ० रायचन्द्र	,, गद्य	१५४	१७९१
सुकमालचरित्र (भाषा टीका)	पं० गोकलन गोलापूर्व	,, पद्य	४७	×
सुगंधदशमीकथा	पं० खुशालचन्द्र	,,	१०	१९३२
सुदृष्टितरंगिणी	पं० टेकचन्द	,, गद्य	३१६	१९०९
स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा (भा०टी०)	पं० दौलतराम	,,	७३	१८२६
हरिवंशपुराण	पं० खुशालचन्द	,,	२०४	१८४४

वीरसेवामन्दिर सरसावा, ता० ८-८-१९४१

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायक श्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रक़म सहित इस प्रकार है—

* १२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
* १०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
* १०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
  १००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन लाहौर।
* १००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
* १००) बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी जैन, कलकत्ता
  १००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
* १००) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
  १००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
* ५१) रा०ब० बा० उलफतरायजी जैन, इन्जिनियर, मेरठ।
* ५०) ला० दलीपसिंह काग़ज़ी, और उनकी मार्फत, देहली
  २५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर, बम्बई।
* २५) ला० रूडामलजी जैन, शामियानेवाले, सहारनपुर।
* २५) बा०रघुबरदयालजी जैन, एम.ए.,करोलबाग़,देहली।
* २५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
* २५) ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा (मु०न०)
  २५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन, सहारनपुर
* २५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
* २५) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

नोट—जिन रक़मोंके सामने * यह चिन्ह दिया है वे पूरी प्राप्त होचुकी हैं। व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

वीर सेवामन्दिर, सरसावा, (सहारनपुर)

वीरसेवामन्दिरको सहायता

पिछले दिनों निम्न सज्जनोंकी ओरसे वीरसेवामन्दिर सरसावाको ३२) रु० की सहायता प्राप्त हुई है, इसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं:—

१०) ला० मेहरचन्द जी जैन साइकिल डीलर, रुड़की जि० सहारनपुर। (चि० विश्वेश्वरदयालके विवाहकी खुशी में।

१०) बा० जयभगवानजी जैन बी०ए० वकील, पानीपत (पुत्री चि० प्रभादेवीके विवाहकी खुशीमें)

५) ला० मेहरचन्दजी जैन सरसावा, हाल अब्दुल्लापुर जि० अम्बाला (पुत्रके विवाहकी खुशीमें)।

५) श्रीमती भगवती देवी धर्मपत्नी ला० रूडामलजी जैन, (शामियानेवाले) सहारनपुर।

२) ला० कुलवन्तरायजी जैन रईस नकुड़ जि० सहारनपुर। —अधिष्ठाता 'वीरसेवामंदिर'

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रक़म देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओंको अनेकान्त फ्री (बिना मूल्य) या अर्धमूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक दस रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरों पर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रंथोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दे सके। स्वत: अपनी ओर से उपहार ग्रंथोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना, कराना। 'सम्पादक अनेकान्त'

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानंद शास्त्री वीरसेवामन्दिर, सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तवप्रेसमें मुद्रित।

Registered No. A-731

श्रीमद् राजचन्द्र

म० गांधीजी लिखित महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना और संस्मरण-सहित महान् ग्रंथ

Registered No. A-731

विषय-सूची

वीरसेवामन्दिरके सच्चे सहायक

श्रीमान् माननीय बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता मेरी तुच्छ सेवाओंके प्रति बड़े ही आदर-सत्कारके भावको लिये हुए हैं, यह बात 'अनेकान्त' के उन पाठकोंसे छिपी नहीं है जिन्होंने आपके विशुद्ध हृदयोंद्गारोंको लिये हुए वह पत्र पढ़ा है जो द्वितीय वर्षकी १२ वीं किरणके टाइटिल पेज पर मुद्रित हुआ है। यही कारण है कि आप मेरी अन्तिम कृतिरूप इस वीरसेवामन्दिरको बड़े प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं, उसके साथ पूर्ण सहानुभूति रखते हैं और उसकी सहायता करने-करानेका कोई भी अवसर व्यर्थ नहीं जाने देते। इस संस्थाको स्थापित करनेके कोई एक साल बाद जब मैं कलकत्ता गया तो आपने साहू शान्तिप्रसादजी जैन रईस नजीबाबादसे मुझे तीन हज़ार ३०००) रु० की सहायताका वचन 'जैनलक्षणावली' आदिकी तय्यारीके लिये दिलाया और मेरे बिना कुछ कहे ही चलते समय चुपकेसे ३००) रु० औषधालय तथा फर्नीचरके लिये भेंट किये। आप वीरसेवामन्दिरको एक बहुतबड़ी चिरस्मरणीय सहायता करना चाहते थे, परंतु दैवयोगसे वह सुयोग हाथसे निकल गया, जिसका आपको बहुत खेद हुआ। बादको आपने ५००) रु० अपने भतीजे चि० चिरंजीलालके आरोग्यलाभकी खुशीमें भेजे, १००) अपने मित्र बाबू रतनलालजी झाँझरीसे लेकर भेजे, २००) रु० अपने छोटे भाई बाबू नन्दलालसे और २००) रु० अपनी पूज्य माताजीसे दिलाये। अपनी धर्मपत्नीके स्वर्गारोहणसे पूर्व किये गये दानमेंसे पाँच हज़ार ५०००) रु० की बड़ी रकम इस संस्थाके लिये निकाली। 'अनेकान्त' पत्रके लिये स्वयं १२५) रु० भेजे, १००) रु० सेठ बैजनाथजी सरावगीसे दिलाये, और कलकत्तेके कितने ही सज्जनोंको स्वयं पत्र लिखकर तथा साथमें नमूनेकी कापियाँ भेजकर उन्हें अनेकान्तका ग्राहक बनाया। इसके सिवाय, गत मार्च मासमें आपके ज्येष्ठभ्राता बाबू फूलचन्दजीका स्वर्गवास हो गया था, उस अवसर पर सात हज़ार रुपयेका जो दान निकाला गया था उसका स्वयं बटवारा करते हुए हालमें आपने एकहज़ार १०००) रु० वीरसेवामन्दिरको प्रदान किये हैं। ऐसे सच्चे सहायक एवं उपकारीका आभार किन शब्दोंमें प्रकट किया जाय, यह मुझे कुछ भी समझ नहीं पड़ता! मेरा हृदय ही सर्वतोभावसे उसका ठीक अनुभव करता हुआ आपके प्रति झुका हुआ है—शब्द उसके लिये पर्याप्त नहीं हैं, खास कर ऐसी हालतमें जब कि आभारके प्रकटीकरणसे आपको खुशी नहीं होती और अपने नाम तकसे आप दूर रहना चाहते हैं। मैंने भाई फूलचंदजीका चित्र प्रकाशनार्थ भेजनेको लिखा था, इसके उत्तरमें आप लिखते हैं—"मुख्तार साहब, आप जानते हैं हम लोग नामसे सदा दूर रहते हैं। चित्र तो उनका छपना चाहिये जो दान करें। हम लोग तो मात्र परिग्रहका प्रायश्चित्त—(अधूरा ही)—करते हैं। फिर भी ज़रा २ सी सहायता देकर इतना बड़ा नाम करना पाप नहीं तो दम्भ अवश्य है। अस्तु, क्षमा करें।" कितने ऊँचे, उदार एवं विशाल हृदयसे निकले हुए ये वाक्य हैं, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सचमुच बाबू छोटेलालजी जैनसमाजकी एक बहुत बड़ी विभूति हैं। मेरी तो शुद्धान्तःकरणसे यही भावना है कि आप यथेष्ट स्वास्थ्य-लाभके साथ चिरकाल तक जीवित रहें, और अपने जीवनकालमें ही वीरसेवामन्दिरको खूब फलता-फूलता तथा अपने सेवा-मिशनमें भले प्रकार सफल होता हुआ देखकर पूर्ण प्रसन्नता प्राप्त करें। — जुगलकिशोर

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४ | किरण ८

वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर
आश्विन, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९८

सितम्बर १९४१

अर्हन्महानद-तीर्थ

अर्हन्महानदस्य त्रिभुवनभव्यजन-तीर्थयात्रिक-दुरितं ।
प्रक्षालनैककारणमतिलौकिक-कुहकतीर्थमुत्तमतीर्थम् ॥ १ ॥

लोकालोकसुतत्त्व-प्रत्यवबोधनसमर्थ-दिव्यज्ञान—
प्रत्यहवहत्प्रवाहं व्रतशीलामलविशाल-कूल-द्वितयम् ॥ २ ॥

शुक्लध्यानस्तिमितस्थितराजद्राजहंसराजितमसकृत्—
स्वाध्यायमंद्रघोषं नानागुणसमितिगुप्तिसिकतासुभगम् ॥ ३ ॥

क्षान्त्यावर्तसहस्रं सर्वदयाविकचकुसुमविलसल्लतिकम् ।
दुःसह-परीषहाख्य-द्रुततररंगत्तरंगभंगुरनिकरम् ॥ ४ ॥

व्यपगतकषाय-फेनं रागद्वेषादि-दोषशैवल-रहितं ।
अत्यस्तमोह-कर्दममतिदूरनिरस्तमरण-मकरप्रकरम् ॥ ५ ॥

ऋषिवृषभस्तुतिमंद्रोद्रेकित-निर्घोष-विविध-विहग-ध्वानम् ।
विविध-तपोनिधि-पुलिनं सास्रव-संवरण-निर्जरा-निःस्रवणम् ॥ ६ ॥

गणधर-चक्रधरेन्द्रप्रभृतिमहाभव्यपुंडरीकैः पुरुषैः ।
बहुभिः स्नातं भक्त्या कलिकलुषमलापकर्षणार्थममेयम् ॥ ७ ॥
अवतीर्णवतः स्नातुं ममापि दुस्तर समस्तदुरितं दूरम् ।
व्यवहरतु परमपावनमनन्यजय्यस्वभावभावगम्भीरम् ॥ ८ ॥

—चैत्यभक्तिः

'अरहंतरूपी महानदका तीर्थ (द्वादशाग श्रुतानुसारी शुद्ध जैनधर्म) तीन लोकके भव्यजीवरूपी यात्रियोंके दुरितों को प्रक्षालन करनेका—पाप मलोंको धोनेका—अद्वितीय कारण है। अर्थात् सांसारिक महानद तीर्थ जब कतिपय जीवोंके शारीरिक बाह्यमलका ही धोनेमें समर्थ होता है—अन्तरंग पापमलको धोना उसकी शक्तिसे बाहर है—तब अरहंतरूपी महानद-तीर्थ त्रिलोकवर्ती समस्त भव्यजीवोंके द्रव्य-भावरूप समस्त पापमलोको धो डालनेमें समर्थ है—इसके प्रभावसे आत्मा राग-द्वेषादि विभावमलसे रहित होकर अपने शुद्धचैतन्य-स्वरूपमें स्थिर होजाता है। यह महानद लोकमें प्रसिद्ध हुए दम्भादि-प्रधान कुतीर्थोंको अतिक्रान्तकर चुका है—उनके स्वरूपका उल्लंघन करनेसे दंभादि रहित है—अतएव उत्तमतीर्थ है॥१॥

जिस तीर्थमें लोक और अलोकके यथार्थ स्वरूपको जाननेमें समर्थ दिव्यज्ञानका—केवलज्ञानका—प्रतिदिन प्रवाह बह रहा है, और निर्दोष व्रत तथा शील ही जिसके दोनों निर्मल विशाल तट हैं—किनारे हैं ॥२॥

जो तीर्थ शुक्लध्यानरूप निश्चल शोभायमान राजहंसोंसे विराजित है—शुक्लध्यानी मुनि पुंगवरूप राजहंसोंकी स्थिर स्थितिमें जिसकी शोभा बढ़ी हुई है, जहांपर स्वाध्यायका निरन्तर ही मनोज्ञ नाद (शब्द) रहता है तथा जो नाना प्रकारके गुणों, समितियों और गुप्तियों रूप सिकताओं (बालू रेतों) से मनोग्य है—सुन्दर है ॥३॥

जिस तीर्थमें क्षमा-सहिष्णुतारूपी सहस्रों आवर्त उठ रहे हैं, जो सर्व प्राणियोंकी दयारूप विकसित पुष्पलताओंसे सुशोभित है और जहाँ दुस्सह क्षुधादि परीषह रूपी शीघ्र फैलती हुई तरंगोंका समूह विनश्वररूपमें—उत्पन्न हो होकर नाश होना हुआ—देखा जाता है ॥४॥

जो तीर्थ कषायरूपी फेनसे-झागसे रहित है, राग-द्वेषादि दोषरूपी शैवाल जिसमें नहीं है, मोहरूपी कर्दम (कीचड़) से जो शून्य और मरणोंरूपी मकरोंके समूहसे भी विहीन है ॥५॥

जिस तीर्थमें ऋषि पुंगवों—गणधरदेवादिकोंके द्वारा की गई स्तुतियों एवं शास्त्रपाठकी मधुर ध्वनिरूपी अनेक पक्षियोंका सुन्दर कलरव है, विविध प्रकारके तपोंके निधानस्वरूप मुनीश्वर ही जहाँ पर पुल हैं—संसाररूपी सरित्प्रवाहमें बहने वाले जीवोंके लिये उत्तरण स्थान हैं—और जहाँ कर्मास्रवके निरोधरूप संवरसहित उपार्जित एवं संचित कर्मोंके लिये निर्जरा रूप निर्गमस्थान हैं ॥६॥

इस प्रकारके जिस महान् तीर्थमें गणधर-चक्रवर्ती आदि बहुतसे महान् भव्योत्तम पुरुषोंने कलिकालजन्य मल को दूर करनेके लिये भक्तिपूर्वक स्नान किया है ॥७॥

उस परम पावन अर्हन्महानद तीर्थमें, जोकि परवादियोंके द्वारा सर्वथा अजेयस्वभावरूप जीवादि पदार्थोंसे गम्भीर है—अगाध है—, मैं भी स्नान करनेके लिये—अपना कर्ममल धोनेके लिये—अवतीर्ण हुआ हूँ—उसमें अवगाहनका मैंने दृढ़ संकल्प किया है। अतः मेरा भी वह सम्पूर्ण दुस्तर कर्ममल पूर्णतया दूर होवे—इस तरहके निर्मूल नाशको प्राप्त होवे कि जिससे फिर कभी उसका संग मुझे प्राप्त न होसके ॥८॥'

—परमानन्द जैन शास्त्री

प्रतिमा-लेख-संग्रह और उसका महत्त्व

[लेखक—मुनि श्री कान्तिसागर जी]

भारतवर्ष सहस्रों वर्षोंके अगणित ऐतिहासिक खण्डरोंकी भूमि है। इन खण्डरोंको सूक्ष्मदृष्टिसे यदि यत्नके साथ खनन किया जाय तो निःसन्देह भारतीय इतिहासके असंख्य साधन प्राप्त हो सकते हैं। भारतका इतिहास हमारे पास पूरी तौरसे मौजूद है ऐसा हम नहीं कह सकते, लेकिन हमारे पास इतिहासकी सामग्री ही नहीं है यह कहनेका भी हम कदापि साहस नहीं कर सकते। क्योंकि भारतमें बहुतसे नगर व प्राचीन स्थान ऐसे हैं, जहाँ कुछ न कुछ ऐतिहासिक साधन अवश्य मिलते हैं। उनको शृंखलाबद्ध कर निष्पक्षपाती विद्वान् ही इतिहासके लिखनेमें पूर्णरूपसे सफल हो सकता है। हर्षका विषय है कि अभी कलकत्तेमें भारतका इतिहास लिखा जारहा है, जिसके मुख्य लेखक यदुनाथ सरकार हैं। यह सम्पूर्ण इतिहास प्रकाशित होनेपर वेदवचन-तुल्य माना जायगा। अतः प्रत्येक जैनीका यह परम कर्तव्य होना चाहिए कि वह भी उक्त महान् कार्यमें यथाशक्ति तन, मन और धनसे सहायता करे।

मानव-जीवनमें इतिहासका स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इतिहासमें जो गूढ़ शक्तियाँ छिपी हुई हैं वे अकथनीय हैं। पड़िहार राजा बाउकके वि० सं० ८९४ के शिलालेखका मंगलाचरण भी इतिहासके गौरवको इस प्रकार बतलाता है :—

गुणाः पूर्वपुरुषाणां, कीर्त्यन्ते तेन पण्डितैः।
गुणाः कीर्तिर्न नश्यन्ति, स्वर्गवासकरी यतः॥ २॥

अर्थात्—पण्डित लोग इसीलिये अपने पूर्वजोंके गुणोंका कीर्तन करते हैं; क्योंकि स्थायी रहनेवाली गुणोंकी कीर्ति स्वर्गवास देनेवाली होती है।

एक अंग्रेज विद्वान् इतिहासके विषयमें इस प्रकार कहते हैं :—"History is the first thing that should be given to children in order to form their hearts and under-standing". —*Rolis.*

यह भी एक सर्वमान्य नियम है कि अतीतके प्रकाश विना वर्तमान काल कदापि प्रकाशित नहीं हो सकता। इतिहासमें वह शक्ति है कि बलहीन मनुष्यमें भी बलका संचार सहूलियतसे कर सकता है। इतिहास जैसे महान् शास्त्रपर विशेष लिखना सूर्यको दीपक दिखाना है।

भारतीय इतिहासमें जैन इतिहासका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विना जैन इतिहासके भारतीय इतिहास अपूर्ण है। कोई भी इतिहास-लेखक चाहे वह भारतीय हो या अभारतीय, उसे जैन इतिहास पर अवश्य दृष्टि डालनी पड़ेगी, क्योंकि जैनियोंका इतिहास मात्र धार्मिक दिशा तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत सामाजिक एवं राजनैतिक आदि अनेक दृष्टियोंसे महत्त्व पूर्ण है।

इतिहासके अनेक साधनोंमेंसे प्रतिमा - लेख भी एक प्रधान साधन है। भारतवर्षमें प्रतिमा-लेख जितने जैन समाजमेंसे प्राप्त होते हैं उतने शायद ही किसी अन्य समाजमें उपलब्ध होते हों। पुरातन कालसे धातु-प्रतिमा बनानेकी प्रणाली भारतीय जैन समाजमें

बहुत प्रचलित है। इसमें भी मुग़ल समयकी बनी हुई धातु प्रतिमाएँ प्रचुर मात्रामें यत्रतत्रोपलब्ध होती हैं। इसका प्रधान कारण यही होना चाहिए कि वे लोग मुसलमान मस्जिदको छोड़कर सभी मजहबके मंदिरों व पुरातनावशेषोंको नष्ट करनेमें ही अपनी महान् वीरता समझते थे। (अजन्टाकी गुहाओंमें भी बहुत सी प्राचीन और कलापूर्ण बौद्ध मूर्तियोंके नाक, हस्त आदि अवयव मुग़लोंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिये हैं) इसवास्ते जैनी लोग प्रायः धातुकी मूर्तियाँ बनाकर पूजन करते थे। शिल्पशास्त्रका नियम है कि गृह-मंदिरमें ११ अंगुल तककी प्रतिमा ही होनी चाहिए। यद्यपि विशालकाय धातुमूर्तियाँ पाई जाती है, वे शिखरबंद जैन मन्दिरमें स्थापित की जाती थीं। मुग़ल समयमें शिखरबंद जैनमंदिर भी पाये जाते हैं। जैनाचार्योंने राजदरबारमे जाकर मुगलसम्राट्को स्वआचरण से रंजित कर काफ़ी सन्मान संपादन किया, इसे इतिहास बतला रहा है। खरतरगच्छीय श्री जिनप्रभसूरि और आचार्य श्री जिनचंद्रसूरिजी इसके उदाहरण रूप हैं। मेरे खयालमें जबसे जैनाचार्योंका राजदरबार से विच्छेद हुआ तबसे जैन समाजकी कुछ अवनति ही पाई जाती है। खैर! जो कुछ हो, आज जैन समाज की संख्या दूसरोंकी अपेक्षा अल्प है, फिर भी भारतीय समाजोंमें जैन समाजका स्थान बहुत ऊँचा है।

प्रतिमालेखोंकी उपयोगिता

प्रतिमालेखोंकी ऐतिहासिकता इसलिये अधिक मानी गई है कि उनपर किंवदन्तियों व अतिशयोक्तियोंकी असर अधिक नहीं गिर सकती। क्योंकि लिखनेकी जगह कम होनेसे मुख्य मुख्य बातें ही उल्लिखित होती हैं। और इसीलिये विद्वत्समाज जितना विश्वास उत्कीर्ण लेखों पर रखता है उतना तात्कालिक ग्रन्थों पर नहीं। आज हम देखते हैं कि एक एक शब्दको पढ़नेके लिये पुरातत्त्वविभागोंके द्वारा हजारों रुपयोंका व्यय किया जाता है। जैन मंदिरोंमें धातुकी प्रतिमाओंकी बहुलता रहती है, प्रायः प्रत्येक प्रतिमाके पीछेके भागमें लेख उत्कीर्ण होता है, उसमें प्रतिमा बनानेवालेका नाम तथा प्रतिष्ठा करवानेवालेका नाम, आचार्य व भट्टारकका नाम, और भी अनेक ऐतिहासिक बातें खुदी हुई रहती हैं। प्रतिमाके लेखोंमें अनेक बातों का पता चलता है; जैसे कौन कौन जातियोंने प्रतिमाएँ बनवाई, वर्तमानमे उन जातियोंमेंसे जैनधर्मका कौन कौन जातियाँ पालन करती हैं। कौनसे गच्छ या संघके आचार्य व भट्टारकने प्रतिष्ठा करवाई. वर्तमानमें कौन कौन गच्छ उनमेंसे विद्यमान हैं, आचार्यों व भट्टारकोंकी शिष्य-परम्परा, राजाओं, मंत्रियों व नगरोंके नामादिक। और भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें प्रतिमा-लेखोंसे ही जानी जा सकती हैं। प्राचीन प्रतिमाओंके देखनेसे यह भी मालूम होजाता है कि तत्कालीन कला-कौशल्य कितने ऊँचे दर्जेका था, कौनसी शताब्दिमें किस ढंगसे प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं तथा लिपिमें किस शताब्दिमें कैसा परिवर्तन हुआ। इत्यादि। ज्योतिषशास्त्रकी दृष्टिमें भी प्रतिमालेखोंका स्थान महत्त्वका है। कौनसे सालमें, कौनसे मासमें अविवृद्धि(?) हुई थी यह प्रतिमालेखोंमें लिखा रहता है। मैं अनुभवसे कह सकता हूँ कि २५ या ५० वर्षोंमें लिपिमें अवश्य परिवर्तन पाया जाता है। उदाहरणार्थ १४५० की प्रतिमापर खुदे हुए लेख को देखता हूं यब उस लिपिकी मरोड़में बहुत कुछ अंतर मालूम पड़ता है। धातु प्रतिमाओंके लेख प्रायः पड़ी मात्रामें लिखे हुए पाये जाते हैं। किसी किसी

प्रतिमामें तो लेखान्त-मार्गमें सुन्दर चित्र आलेखित होता है। ऐसे चित्र मैंने श्वेताम्बर सम्प्रदायान्तर्गत अंचलगच्छके आचार्योंकी प्रतिष्ठित की हुई मूर्तियोंमें विशेषरूपसे देखे हैं। धातु प्रतिमा लेख इतने स्पष्ट और सुवाच्य अक्षरोंमें लिखे होते हैं कि मानो सुन्दर हस्तलिखित पुस्तक ही हो। अर्थात् हस्त-लिखित पुस्तकोंके अक्षरोंसे ये प्रतिमालेख बड़ी सहूलियतसे मुकाबला कर सकते हैं।

धातु-प्रतिमालेख श्वेताम्बर व दिगम्बर भेदकी वजहसे दो भागोंमें विभाजित है। पश्चिम भारत व राजपूतानेके अधिकतर प्रतिमालेख श्वेताम्बर संप्रदायसे संबन्ध रखते हैं और दक्षिण भारतके लेख विशेषतः दिगम्बर संप्रदायसे। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीनकालसे पश्चिमी भारत में श्वेताम्बरोंका और दक्षिण भारतमें दिगम्बरोंका प्रभुत्व रहा है।

यहाँ जो लेख मैं आपके सन्मुख उपस्थित कर रहा हूँ वे सब दिगंबर संप्रदायसे संबंध रखते हैं। प्रतिमा लेखोंका जो लिपिकौशल्य श्वेताम्बर मूर्तियोंमें पाया जाता है वह खेद है कि दिगंबर मूर्तियोंमें मेरे देखनेमें नहीं आया। यह बात ऐतिहासिक होनेसे यहां लिखनी पड़ती है। एक बात और भी है और वह यह कि दिगम्बर तथा श्वेताम्बर संप्रदायोंमें प्रतिमा व शिलालेखोंकी लेखन-प्रणाली भिन्न २ मालूम होती है। पहले संवत्, उपदेशक भट्टारकका नाम, पीछे मूर्ति बनवाने वालेका नाम व अंतमें भगवानके नामके बाद 'नित्यं प्रणमंति' यह प्रणाली दि० संप्रदायकी है। श्वे० संप्रदायमें संवत् निर्देश करनेके बाद प्रतिमा बनवाने वालेका, भगवानका, प्रतिष्ठित आचार्य व नगरका नाम आता है। यद्यपि श्वेताम्बर संप्रदायकी मूर्तिके अंत भागमें भी 'प्रणमंति' शब्दका उल्लेख पाया जाता है लेकिन वह अपवादिक है। इसके सिवाय दिगम्बर शिला व प्रतिमा लेखोंमें अधिकतर शक संवत्का उल्लेख पाया जाता है, जब कि श्वेताम्बर लेखोंमें प्रायः विक्रम संवतका। इस विषयमें मैंने एक विद्वान्से पूछा था, उन्होंने ऐसा कहा कि वि० सं० की ऐतिहासिकतामें विद्वानोंको बड़ा भारी शक है और शक संवत्-प्रवर्तक महाराजा सातवाहन जैनी थे, इसीलिये शक संवत्का उल्लेख बड़े गौरवसे किया जाता है। सातवाहनके जैनत्वके विषयमें मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु वि० सं० को अनैतिहासिक बतलाना नितांत गलती जान पड़ता है। हाँ! ऐसा हो सकता है कि दक्षिणमें शक संवत्का उपयोग ज्यादा किया जाता हो और गुजरातमें विक्रमका।

प्रतिमालेखसंग्रहको देनेके पूर्व हम यहां पर एक बात और प्रकट करना चाहते हैं वह यह कि प्रतिमा-लेख-संग्रहकी प्रणाली हालमें ही शुरू नहीं हुई बल्कि पूर्वकालमें भी वह पाई जाती है। आजसे कोई १०० वर्ष पहिले वि० सं० १९०० में एक यतिजी सिद्धाचलजी की यात्राके लिये गये हुए थे उन्होंने वहांके कई शिला व प्रतिमा-लेखोंकी ज्योंकी त्यों (कार्पोट्कापी) प्रतिलिपि की थी, वह कापी ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वकी है और मेरे संग्रहमें सुरक्षित है। एक और भी प्राचीन लेखोंकी प्रतिलिपिकी प्रति मेरे संग्रहमें है। जिसमेंके लेख महिमापुर-मंदिर-प्रशस्ति और बीकानेर नरेश सूरतसिंहजीके साथ विशेष संबन्ध रखते हैं। प्रतिलिपि करने वाला क्षमा-कल्याणजीकी परंपराका होना चाहिए; क्योंकि इसमें उक्त मुनिजी की प्रतिष्ठित की हुई मूर्तियोंके लेखोंकी बाहुलता है।

पुरातनकालमें यति मुनि जहाँ भी प्रतिष्ठा करवाते थे वहाँ के लेखोंकी प्रतिलिपि अपने दफ़्तरोंमें यादृदाश्त के लिये रखते थे। श्रीपूज्योंके दफ्तरोंको ऐतिहासिक दृष्टिसे संशोधित परिवर्द्धित करके यदि प्रकाशित किया जाय तो ऐतिहासिक सामग्रीमें बहुत कुछ अभिवृद्धि हो सकती है।

एक बात यहां पर और भी उल्लेखनीय है, जो प्रतिमाशास्त्रोंके लिये बड़ी ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी, और वह यह कि दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो संप्रदायोंकी मूर्ति-निर्माण-कला भी प्रायः भिन्न रही है। हमने दि० संप्रदायकी काफ़ी मूर्तियोंका अध्ययन किया है। उस परसे हम कह सकते हैं कि दि० मूर्तियोंके आगेके भागमें प्रायः एक ओर चरण, दूसरी ओर 'नमः' पाया जाता है। ये दो चिन्ह क्यों बनाये जाते हैं समझमें नहीं आता। लेकिन मेरा यह अनुमान है कि चरण इस लिये बनाये जाते होंगे कि कुछ समय पूर्व दि० संप्रदायमें साधु विच्छेद होगये थे इस वास्ते चरणको गुरुके रूपमें मानते हो तो कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है। दूसरा जो चिन्ह है वह शास्त्रका द्योतक है। साथमें इस बातका भी स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त दोनों चिन्ह सभी मूर्तियोंमें नहीं पाये जाते हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर संप्रदाय-भेद होनेका इतिहास तो पाया जाता है मगर मूर्तियोंमें कब भेद पैदा हुआ यह बात ठीक रूपसे नहीं कह सकते। इस भेदके इतिहासको लिखनेके पहिले प्राचीनसे प्राचीन दि० व श्वे० मूर्तियोंके फोटो तथा विस्तृत परिचय देकर एक महान् ग्रंथ तैयार करना चाहिए। क्या दोनों संप्रदायके विद्वान व श्रीमान इस बात पर ध्यान देंगे? यदि यह कार्य किया जाय तो बहुत बड़ी उलझनें सुलझ जायंगी। 'जैनमूर्ति-पूजा-शास्त्र' नामक निबन्ध (thesis) Ph.d. की डिग्रीके लिये मेरे गुरुवर्य उपाध्याय श्रीसुखसागरजीने लिखा है। इस ग्रंथमें दोनों संप्रदायोंके प्राचीन-अर्वाचीन मूर्तियोंके फोटो दिये जावेंगे। (क्रमशः)
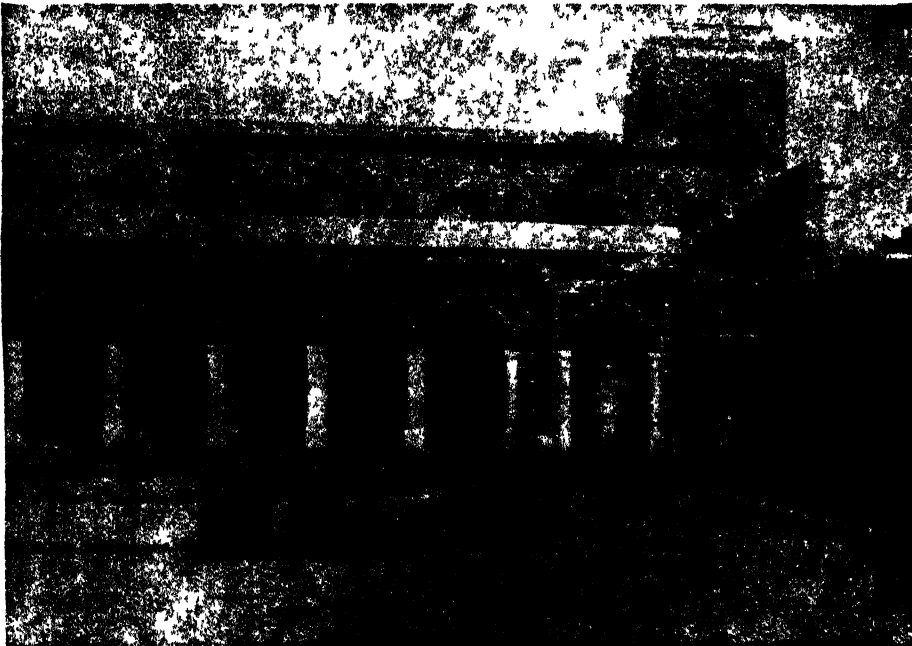
वीरसेवामन्दिर सरसावाकी भीतरी बिल्डिंगके एक भागका दृश्य

वीरसेवा-मन्दिर संस्थाके पूर्वद्वारका दृश्य

वीरसेवा-मन्दिर संस्थाके उत्तरद्वारका दृश्य

विश्व-संस्कृतिमें जैनधर्मका स्थान

(ले०—डा० कालीदास नाग, एम० ए०, डी० लिट०)
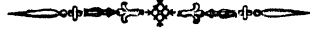
जैनधर्म और जैन संस्कृतिके विकासके पीछे शताब्दियोंका इतिहास छिपा पड़ा है। श्री ऋषभदेवसे लेकर बाईसवें अर्हत श्री नेमिनाथ तक महान् तीर्थंकरोंकी पौराणिक परंपराको छोड़ भी दें, तो भी हम अनुमानतः ईसवी सन्से ८७२ वर्ष पूर्वके ऐतिहासिककालको देखते हैं, जब तेईसवें अर्हत श्रीभगवान पार्श्वनाथका जन्म हुआ, जिन्होंने तीस वर्षकी आयुमें घर-गृहस्थी त्याग दी और जिनको अनुमानतः ईसवी सन्से ७७२ वर्ष पूर्व बिहारके अन्तर्गत पार्श्वनाथ पहाड़ पर मोक्ष प्राप्त हुआ। भगवान पार्श्वनाथने जिस निर्ग्रन्थ सम्प्रदायकी स्थापना की थी, उसमें काल-गतिसे उत्पन्न हुए दोषोंका सुधार श्रीवर्धमान महावीरने किया। महावीर अपनी आध्यात्मिक विजयके कारण 'जिन' अर्थात् विजयी कहलाते हैं। अतएव जैनधर्म, अर्थात् उन लोगोंका धर्म जिन्होंने अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त करली है, एक महान् धर्म था; जिसका आधार आध्यात्मिक शुद्धि और विकास था। इससे यह मालूम हुआ कि महावीर किसी धर्मके संस्थापक नहीं, बल्कि एक प्राचीन धर्मके सुधारक थे। प्राचीन भारतीय साहित्यमें महावीर गौतम बुद्धके कुछ पहले उत्पन्न हुए उनके समकालीन माने जाते हैं। जैनसाहित्यमें कई स्थानों पर गौतम बुद्धके लिये यह बतलाया गया है कि वे महावीरके शिष्य गोयम नामसे प्रसिद्ध थे। बादमें उत्पन्न हुए पक्षपात और मतभेदके कारण बौद्ध लेखकोंने निर्ग्रन्थ नातपुत्त (महावीर) को बुद्धका प्रतिपक्षी बनाया। वास्तवमें दोनोंके दृष्टिकोणोंमें फ़र्क़ था भी। यही कारण है कि बौद्ध धर्मका दुनियाके बड़े भागमें प्रसार हुआ, किन्तु जैन धर्म एक भारतीय राष्ट्रीय धर्म ही रहा। किन्तु फिर भी जैसा डाक्टर विंटरनिज़ने कहा है, दर्शनशास्त्रकी दृष्टिसे जैनधर्म भी एक अर्थमें विश्वधर्म है। वह अर्थ यह है कि जैनधर्म न सब केवल जातियों और सब श्रेणियोंके लोगोंके लिये ही है, बल्कि यह तो जानवरों, देवताओं और पाताल वासियोंके लिये भी है। विश्वात्मक सहानुभूति-सहित यह व्यापक दृष्टि और बौद्धोंका मैत्रीका सिद्धान्त दोनों बातें जैनधर्ममें अहिंसाके आध्यात्मिक सिद्धान्त-द्वारा मौजूद हैं। इस-लिये जैनधर्म और बौद्धधर्मका तुलनात्मक अध्ययन बहुत पहलेसे ही किया जाना चाहिये था। आज ईसवी सन्से पहलेके १००० वर्षोंमें हिन्दुस्तानके आध्यात्मिक सुधारके आन्दोलनोंको जो समझना चाहते हैं, उनके लिये इस प्रकारके तुलनात्मक अध्ययनकी अनिवार्य आवश्यकता है। वह समय एशियाभरमें उग्र राजनैतिक और सामाजिक उलट-फेरका था; उसी समय एशियामें कई महान द्रष्टा और धर्म संस्थापक उत्पन्न हुए, जैसे ईरानमें ज़रथुस्त्र और चीनमें लाओत्ज़े और कनफ्यूसियस।

जैनधर्म और ब्राह्मणधर्मके सम्बन्धके बारेमें हम देखते हैं कि साराका सारा जैनसाहित्य ब्राह्मण संस्कृतिकी और बौद्ध लेखकोंके विचारोंकी अपेक्षा ज्यादा झुका हुआ है। डाक्टर विंटरनिज़, प्रो० जैकोबी और दूसरे कई विद्वानोंने इस बातको ज़ोरदार शब्दोंमें स्वीकार किया है कि जैन लेखकोंने भारतीय साहित्यको सम्पन्न बनानेमें बड़ा महत्त्वपूर्ण हिस्सा अदा किया है। कहा गया है कि "भारतीय साहित्यका शायद ही कोई अंग बचा हो, जिसमें जैनियोंका अत्यन्त विशिष्ट स्थान न रहा हो।"

इतिहास और वृत्त, काव्य और आख्यान, कथा और नाटक, स्तुति और जीवनचरित्र, व्याकरण और कोष और इतना ही क्यों विशिष्ट वैज्ञानिक साहित्यमें भी जैन लेखकोंकी संख्या कम नहीं है। भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, जिनसेन, हेमचन्द्र, हरिभद्र और अन्य प्राचीन तथा मध्यकालीन लेखकोंने आधुनिक भारतवासियोंके लिये एक बड़ी सांस्कृतिक सम्पत्ति जमा करके रखदी। इस बातका प्रतिपादन तपगच्छके सुप्रसिद्ध जैन आचार्य, लेखक और सुधारक श्रीयशोविजयजीने किया है, जिनका समय सन् १६२४-८८ के

बीचका है। ईसवी सन्से एक शताब्दी बाद जैनियोंमें दिगम्बर और श्वेताम्बर जो फ़िर्के हो गये, उनको एक करने का गौरवपूर्ण प्रयत्न इस महापुरुषने किया था।

इस महान् साहित्य और इसकी आध्यात्मिक सामग्रीकी यत्नपूर्वक रक्षा करना मात्र दिगम्बरियोंका, श्वेताम्बरियोंका, स्थानकवासियोंका, तेरा पंथियों या किसी दूसरे सम्प्रदायके लोगोंका ही कर्तव्य नहीं है, बल्कि यह तो भारतीय संस्कृति और ज्ञानके सभी प्रेमियोंका कर्तव्य है।

जैनियोंका सैद्धान्तिक साहित्य आजभी केवल कुछ विशेषज्ञों और विभिन्न सम्प्रदायोंके लोगों तक ही सीमित है। और सिद्धान्त-प्रतिपादनके अलावा जो दूसरा विशाल साहित्य है, उसका भी आजतक पूर्ण रीतिसे अध्ययन नहीं किया गया है। हिन्दू-तत्त्वज्ञानके कितने विद्यार्थी यह जाननेकी परवाह भी करते हैं कि जैनियोंने न्याय और वैशेषिक दर्शनों के विकासमें कितना योग दिया है? कितने हिन्दू इस बात को जानते हैं कि रामायण और महाभारतकी कथाओं, एवं पुराण और कृष्णकी कहानियों पर जैन लेखकोंने भी कितना लिखा है। भारतीय कलाके कितने विद्यार्थी यह जानते हैं कि प्राचीन अजन्ता-कालकी चित्रकला और मध्य-युगकी राजपूत-कलाके बीच जैन चित्रकला कितना सुन्दर यौगिक है। जैन लेखकोंने भारतकी कई प्रमुख भाषाओं जैसे उत्तरमें गुजराती, मारवाड़ी और हिन्दी, तथा दक्षिणमें तामिल, तेलगु और कनाड़ी आदिको साहित्य सम्पन्न करनेमें कितनी सहायता दी है। इन भाषाओंमें आज भी जैनधर्म सम्बन्धी कितने गम्भीर और विवेचनपूर्ण प्रबन्ध छपते हैं; किन्तु अभी तक किसी भी जैनसंस्थाने इस समस्त सामग्रीकी सर्वसाधारण के लिये एक बृहत् सूची बनानेका प्रयत्न भी नहीं किया। लगभग सन् १८७६-७८ में हस्तलिखित जैन ग्रन्थोंका एक बड़ा संकलन बर्लिनकी रायल लायब्रेरीके लिये जार्ज बूल्हर ने किया था। और जैनसाहित्यके विस्तृत विवरणका भी पहला प्रयत्न सन् १८८३-८५ के आस पास प्रोफ़ेसर ए० वेबरने किया था। सन् १९०६ और १९०८ के बीचमें पेरिसके विद्वान प्रो० ए० गुरीनों महोदयने अपनी 'studies on Jaina Bibliography' प्रकाशित की थी। उसमें उसके बाद कोई परिवर्तन नहीं किया गया; जबकि गत तीस वर्षोंमें उत्तर और दक्षिण भारतमें नये हस्तलिखित जैनग्रंथों और शिलालेखोंके ढेरके ढेर मिले हैं। हाल ही में दक्षिण भारतमें जैनधर्मकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित हो रहा है। डा०, एम० एच० कृष्णने 'श्रवण बेल गोलामें गोमटेश्वरके मस्तकाभिषेक' पर खोजपूर्ण विवेचन किया है। डा०, बी० ए० सालतोर और श्री एम० एस० रामस्वामी आयंगरने भी दक्षिण भारतीत जैनधर्मके अध्ययनमें महत्व-पूर्ण योगदान किया है। (देखो जैन एंटीक्वेरी, मार्च १९४०)। इण्डियन म्यूज़ियमके क्यूरेटर श्री टी० एन० रामचन्द्रने अपनी सुन्दर सचित्र पुस्तक, जिसका नाम "तिरुप्परुत्ती कुरनन, और उसके मन्दिर" में दक्षिण भारतके जैनस्मारकों के बारेमें बहुत सुन्दर सामग्री दी है। डा० सी० मीनाक्षीने कई जैन गुफाओं और जैनचित्रोंका पता लगाया है, जिनमें तीर्थंकरोंके जीवनकी सामग्री है। ख़ासतौरसे पुदुक्कोटा स्टेट अन्तर्गत सित्तन्न-वासल ग्राममें यह खोज हुई है।

[पर्युषन-पर्व-व्याख्यानमाला]

卐

ग्वालियरके किलेकी कुछ जैनमूर्तियाँ

[लेखक—श्रीकृष्णानन्द गुप्त]

ग्वालियरका क़िला एक विशाल पहाड़ी चट्टानपर स्थित है। इस पहाड़ीमें होकर शहरसे क़िलेके लिये एक सड़क जाती है। मूर्तियोंमेंसे कुछ तो इस सड़कके दोनो ओर चट्टान पर खुदी हैं, और कुछ दूसरी दिशामें हैं। पत्थरकी कड़ी चट्टानको खोदकर ये मूर्तियाँ बनाई गई हैं।

भारतवर्षमें ऐसे कई स्थान है, जहाँ कड़ी चट्टानोंको खोदकर इस तरहकी मूर्तियो और गुफाओंका निर्माण किया गया है। भारतीय कलामें इनका एक विशेष स्थान है। गुफाएँ तो अपनी अद्भुत कारीगरीके लिये संसार भरमें प्रसिद्ध हैं। इनके अनुपम शिल्प-कौशलको देखकर साधारण दर्शक ही चकित होकर नहीं रह जाते, बल्कि बड़े-बड़े कला-मर्मज्ञ भी दाँतों तले उँगली दबाते हैं। ये गुफाएँ और मूर्तियाँ बौद्ध, जैन और ब्राह्मण, इन तीनों धर्मोंसे सम्बन्ध रखती हैं। कहीं-कहीं केवल एक धर्मकी, और कहीं तीनों धर्मोंकी गुफाएँ और मूर्तियाँ पाई जाती हैं। एलौराके गुहा-मन्दिरोमें तीनोंके उदाहरण मौजूद हैं। इनमें बौद्ध गुफाएँ सबसे प्राचीन हैं। फिर ब्राह्मण गुफाएँ बनी हैं, और उसके बाद जैन गुफाएँ। एलीफेन्टाकी गुफाओंमें शैव धर्मकी प्रधानता है। बीजापुरके निकट 'बादामी' नामक एक स्थान है, वहाँ एक पहाड़ीको काटकर जो चार उपासना-घर बनाये गये हैं, वे तीनों धर्मोंकी कलाके द्योतक हैं। जबकि अजन्ता की गुफाएँ मुख्यत: बौद्ध धर्मसे सम्बन्धित हैं। ब्राह्मण और बौद्ध इस प्रकारके स्थापत्यके विशेष रूपसे प्रेमी रहे हैं। इन गुफाओंके भीतर प्रवेश द्वारसे लेकर एक दम अन्त तक मनुष्यकी प्रतिभा, कला, धर्म, उपासना, धैर्य्य, और हस्त-कौशलके आश्चर्यजनक दर्शन होते हैं। एलौराका कैलाश-मंदिर तोजगत्-प्रसिद्ध है। यह एक पहाड़ीको काटकर बनाया गया है। बीचमें मंदिर, उसके चारों ओर मंदिरकी परिक्रमा, और फिर परिक्रमाके साथ ही चारों तरफ दालानें भी हैं, जिनमें ऐसी सुन्दर और सजीव मूर्तियाँ स्थापित हैं कि जान पड़ता है वे सब अभी बोल पड़ेंगी। ये सब मूर्तियाँ भी चट्टानमेंसे काटकर बनाई गई हैं। दूसरी जगहसे लाकर नहीं रक्खी गई। मुझे अजन्ता और एलौरा जानेका सुअवसर मिला है। हम लोग इन स्थानोंके कितने ही चित्र देखें, पुस्तकोंमें उनका कितना ही वर्णन पढ़ें, परन्तु वहाँ पहुँचने पर जो दृश्य देखनेको मिलते हैं वह कल्पनासे एक दम परे, आश्चर्य-जनक और भव्य हैं। मनुष्य वहाँ जाकर अपनेको खो बैठता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों वह मायासे बनी हुई किसी अलौकिक पुरीमें आगया है।

परन्तु एलौरामें जो जैन-गुफाएँ हैं उनकी कारीगरी भी कम आश्चर्य-जनक नहीं है। जैनियोंकी कलाका एक विशेष रूप वहाँ देखनेको मिलता है। जब मैं एलौरा गया तो वहाँ बाहरके एक मिश्नरी यात्री ठहरे हुए थे। वे अपनी प्रात: और संध्या कालीन प्रार्थना नित्य एक जैन गुफामें जाकर किया करते थे। बात चीत होने पर उन्होंने कहा कि इस स्थानका वातावरण इतना शान्त और पवित्र है कि उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। जैन-गुफाओंकी एक विशेषता यह है कि वहाँ तीर्थङ्करोकी मूर्तियाँ काफ़ी संख्यामें बनी रहती हैं। एलौरामें जो गुफाएँ मैंने देखीं, वहाँ जैन तीर्थङ्करो की पंक्तियोंकी पंक्तियाँ विराजमान थीं। परन्तु जैनियोने पत्थरकी कड़ी चट्टानोंको काटकर एक दूसरे ही रूपमें अपने देवताओंको मूर्तिमान किया है। ग्वालियरमें शायद उसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण देखनेको मिलते हैं। वहाँ गुफाएँ न बनाकर केवल चट्टानों पर ही उन्होने विशाल और भव्य मूर्तियाँ अंकित की हैं।

यों तो क़िलेमें कई जगह जैनमूर्तियाँ खुदी हैं, परन्तु दक्षिण-पूर्वकी ओर तथा पहाड़ीकी एक ओर घाटीमें जो जो मूर्तियाँ हैं वे विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। क़िलेपरसे एक बढ़िया सड़क घाटीमें होकर नीचे आती है, और वहाँसे लश्करकी तरफ़ गई है। ऊँचाईपर होने, तथा पहाड़ी रास्तेमें होकर आनेकी वजहसे एक तो यह सड़क यों ही बहुत रमणीक है, परंतु दोनों ओर चट्टानपर खुदी हुई भगवान आदिनाथ, महावीर तथा अन्य कई जैन तीर्थकरोंकी विशाल और भव्य मूर्तियोंके कारण तो वह और भी सुन्दर और दर्शनीय

बन गई है। यहां कुल २४ मूर्तियाँ हैं। इनके निर्माणका समय हमें उन शिलालेखोंसे ज्ञात हो जाता है जो यहाँ अंकित हैं, और काफ़ी स्पष्ट हैं। ये शिलालेख संवत् १४९७ (ई० सन् १४४०) और १५१० (ई० सन् १४५३) के हैं। इससे प्रकट होता है कि ये मूर्तियाँ तोमर राजाओंके समय की बनी हैं। दुर्भाग्यवश वे अपनी असली हालतमें नहीं हैं। मुसलमानोंकी धार्मिक असहिष्णुताके कारण बहुत कुछ नष्ट हो चुकी हैं। बाबर जब सिंहासन पर बैठा तो इन मूर्तियोंपर उसकी खास तौरसे नज़र पड़ी। आत्मचरितमें एक स्थानपर इन मूर्तियोंका ज़िक्र करते हुए बाबरने लिखा है—"लोगों ने इस पहाड़ीकी कड़ी चट्टानको काटकर छोटी-बड़ी अनेक मूर्तियां गढ़ डाली हैं। दक्षिणकी ओर एक बड़ी मूर्ति है जो करीब ४० फीट ऊँची होगी। ये सब मूर्तियाँ नग्न हैं। वस्त्र के नामसे उनपर एक धागा भी नहीं। यह जगह बड़ी खूबसूरत है। परन्तु सबसे बड़ी खराबी यह है कि ये नग्नमूर्तियाँ मौजूद हैं। मैंने इनको नष्ट करनेकी आज्ञा दे दी है।"

यद्यपि यत्र-तत्र इन मूर्तियों पर प्रहारके चिन्ह मौजूद हैं। फिर भी कुल मिलाकर वे अच्छी हालतमें हैं। यह बड़ी बात है। क़िलेसे बाहर निकलते ही, ज्यों ही आगे बढ़िए, आदिनाथकी एक विशाल मूर्ति बरबस हमारी दृष्टि आकृष्ट करती है। बाबरकी आत्म-जीवनीसे ऊपर हमने जो अंश उद्धृत किया है उसमें ऊँचाई चालीस फीट बताई गई है, परन्तु वह सत्तावन फीटसे कम ऊँची नहीं है। जैनियोंकी इतनी बड़ी मूर्ति भारतमें एकाध जगह ही और है। मूर्तिकी विशालतासे दर्शक एकदम चकराकर रह जाता है। कल्पना काम नहीं करती। जिन कलाकारोंने इस मूर्तिको गढ़ा होगा वे आज हमारे सामने नहीं हैं। उनका नाम भी हम ज्ञात नहीं। नामकी उन्हें इतनी परवा भी न थी। परन्तु उनकी अनोखी कला, उनका अनुपम शिल्प-कौशल, उनका अतुलित धैर्य, उनकी अटूट साधना, आज मानो आदिनाथ भगवानकी इस मूर्तिके रूपमें हमारे समक्ष उपस्थित हैं। इस कला-मूर्तिको एक बार प्रणाम करके हमने उसे पुनः ध्यान पूर्वक देखा। मुख मण्डल पर जैसे कुछ उपेक्षाका भाव है। परन्तु फिर भी मूर्ति आकर्षक है। इस प्रकारकी सभी बड़ी जैन-मूर्तियोंमें एक प्रकारकी जड़ता-सी दृष्टि गोचर होती है। अहारमें जो मूर्ति है उसके कटि-प्रदेशसे ऊपरका भाग तो अत्यन्त सुन्दर है। मुख मण्डलपर सौम्यताका एक अलौकिक भाव है। उँगलियाँ बड़ी कोमल और कला-पूर्ण हैं। परन्तु कटि-प्रदेशसे नीचेका भाग उतना मृदुल और सजीव नहीं है। इसका कारण इन मूर्तियोंकी विशालता ही है। बड़े रूप में अंग-विन्यासकी कोमलताकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है। इन मूर्तियोंके पैर तो विशेष रूपसे कुछ जड़ होजाते हैं। आदिनाथ भगवानकी मूर्तिके पैर नौ फीट लम्बे हैं और वह चक्र चिन्हसे सुशोभित हैं। इस प्रकार मूर्ति पैरोंसे सात गुनी के लगभग बड़ी है। मूर्तिके बीचों-बीच सामने चट्टानका एक अंश बिना कटा ही छोड़ दिया गया है। इसलिये समग्र मूर्तिको देखना कठिन है। यहांसे थोड़ा आगे चलकर पश्चिमकी तरफ नेमिनाथ भगवान्की एक दूसरी विशालमूर्ति है। नेमिनाथ जैनियोंमें बाइसवें तीर्थङ्कर थे। आदिनाथकी मूर्तिकी भांति यह मूर्ति भी खड़ी हुई है। परन्तु अन्य जो मूर्तियां हैं वे समासीन अवस्थामें हैं, और देखनेमें बहुत कुछ भगवान् बुद्धकी मूर्तिसे मिलती-जुलती हैं। वास्तवमें साधारण दर्शकके लिये भगवान् बुद्ध और महावीरकी मूर्ति में किसी प्रकारका विभेद करना बड़ा कठिन है। परन्तु ये मूर्तियां अपने विशेष धार्मिक चिन्होंसे सुशोभित रहती हैं, जिनकी वजहसे इन्हें पहचानना आसान है। ये चिन्ह कई प्रकारके होते हैं। उदाहरणके लिये वृषभ, चक्र, कमल, अश्व, सिंह, बकरी, हिरन आदि। जैनियोंके प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् आदिनाथकी मूर्तिके निकट सदैव वृषभ बना रहता है। घाटीकी दाहिनी तरफ और भी कई मूर्तियां हैं। ये अकेली बहुत कम हैं। एक साथ तीन-तीन मूर्तियां हैं। मूर्तियोंके कुछ आगे चट्टानका एक हिस्सा बिना कटा छोड़ दिया है, जिसकी वजहसे एक दीवार-सी बन जाती है। यह शायद पुजारी अथवा भक्त-गणोंके लिये बैठनेका स्थान है।

घाटीके बाहर दक्षिण-पश्चिमकी ओर मूर्तियोंका एक और समूह है। इनमें कुछ विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। एक तो शयनावस्थामें एक स्त्री-मूर्ति है, जो करवटसे लेटी है और करीब आठ फीट लम्बी होगी। दोनों जाघें सीधी हैं, परन्तु बॉया पैर दाहिनेके नीचे मुड़ा है। दूसरे स्थान पर तीन मूर्तियां हैं, जिनमें माता-पिताके साथ एक बालक प्रदर्शित किया गया है। ये मूर्तियाँ भगवान् महावीरके माता-पिता त्रिशला और सिद्धार्थकी बतलाई जाती हैं, और

साथमें बालकके रूपमें स्वयं भगवान् हैं।

दक्षिण-पूर्वकी ओर जो मूर्तियाँ हैं उन तक पहुँचना बहुत कठिन है। प्रयत्न करनेपर भी उन्हें हम देख नहीं सके।

इन मूर्तियोंके सम्बन्धमें जो विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहें वे ग्वालियर गजेटियर तथा ग्वालियरके पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रकाशित अन्य पुस्तकें पढ़ें [हमें स्वयं इन मूर्तियोंके दर्शन करने तथा किलेके अन्य पुराने स्थानों को देखनेमें इन ग्रन्थोंसे बड़ी मदद मिली]

('मधुकर' पाक्षिकसे उद्धृत)

अमोघ आशा

[लेखक—व्याकरण रत्न पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित']

[१]

कभी हमारा था जग अपना,
सुख था, दुखका था नहीं सपना;
दस लक्षण, शुभ लक्षण थे तब,
होती थी न अशुभ दुर्घटना।
अब न रहे वे सुखके दिन तो,
ये दुर्दिन भी टल जायेंगे!
आएँगे वे दिन आएँगे!!

[२]

मिट जायेगा, दर्द-पुराना,
है परिवर्तन-शील ज़माना;
भूलेगा अन्तर, आंखों की—
प्याली से आँसू छलकाना!
निर्मम हो कर छोड़ गये जो—
ममता लेकर घर आएँगे!
आएँगे, वे दिन आएँगे!!

[३]

निशा-निराशा का मुँह-काला,
नभ से फूटेगा उजियाला;
अरुण, उषाके कोमल करसे
छलक पड़ेगा जीवन प्याला।
आशाके छींटों में डुब-डुब-
करते तारे छिप जाएँगे!
आएँगे, वे दिन आएँगे!!

[४]

मंजु सुमन होंगे सहयोगी,
कहीं न कोई पीड़ा होगी;
सत्य-साधनाके साधनसे—
बन जायेंगे भोगी योगी।
एक एक का हाथ पकड़ कर—
दुख-सागरसे तिर जायेंगे!
आएँगे, वे दिन आएँगे!!

[५]

विप्लव, पापाचार घटेंगे;
भीषण अत्याचार हटेंगे!
सच्ची रीति-नीति से जगके,
मिथ्याचार-विहार मिटेंगे,
प्रेम-सुधाकी दो घूँटोंसे—
अमर सदा को हो जाएँगे!
आएँगे, वे दिन आएँगे!!

[६]

फैलेंगी नव-लता निराली,
थिरक उठेगी डाली-डाली;
संसृति झूम उठेगी सुख में—
तम में हँसती-सी दीवाली!
मंगलमय जग-जंगल होगा,
सुखद-जलद जल बरसाएँगे!
आएँगे, वे दिन आएँगे!!

[७]

जगति का तृण-दल निखरेगा,
क्षण-प्रतिक्षण मृदुकण बिखरेगा,
मलयानलकी कम्पित, झोली—
से मञ्जुल मकरन्द झरेगा।
प्रकृति-सुन्दरी नृत्य करेगी,
वन-विहँग मंगल गायँगे!
आएँगे, वे दिन आएँगे!!

[८]

विषम-वासना मिट जाएगी,
साम्य-भावना छा जाएगी;
सदाचारकी सुख-गंगामें—
दुनिया फिर गोते खाएगी।
घुल कर पीड़ा क्रीड़ाओं में—
पाप पुण्यसे धुल जाएँगे!
आएँगे, वे दिन आएँगे!!

[९]

मधु होगा, पीने-खाने को,
नन्दन-वन मन बहलानेको,
भूतलसे नभतल तक होगा—
सुन्दर पथ, आने-जानेको।
'सत्य' सखा बन साथ रहेगा—
अब चाहे आएँ-जाएँगे!
आएँगे, वे दिन आएँगे!!

'सयुक्तिक सम्मति' पर लिखे गये उत्तर लेखकी निःसारता

[लेखक—पं० रामप्रसाद जैन शास्त्री]

[गत किरणसे आगे]

(२) अर्हत्प्रवचन और तत्त्वार्थाधिगम

इस प्रकरणमें सयुक्तिक सम्मतिके आक्षेपका उत्तर देते हुए प्रोफेसर जगदीशचंद्रने मेरे व्याकरण-विषयक पाण्डित्यपर हमला करनेकी कोशिश की है और बिना किसी युक्ति-प्रयुक्तिक हेतुके ही मेरे ज्ञान को झटसे व्याकरण शून्यताकी उपाधि दे डाली है! मालूम नहीं व्याकरणके किस अजीब कायदेको लेकर उत्तरलेखकने व्याकरण शून्यताका यह सार्टीफिकट दे डालनेका साहस किया है! मुझे तो इससे उत्तर-लेखकके चित्तकी प्रायः क्षुब्ध प्रकृति ही काम करती हुई नजर आरही है।

मैंने लिखा था कि—'उमास्वातिवाचकोपज्ञ सूत्रभाष्ये' यह पद प्रथमाका द्विवचन है। चूंकि 'भाष्य' शब्द नित्य ही नपुंसकलिंग है, इसलिये 'भाष्ये' पद प्रथमाका द्विवचन है, इस कथनमें व्याकरणकी तो कोई गलती नहीं है। अब रहा इस पदको प्रथमाका द्विवचन लिखनेका मेरा आशय, वह यही है कि उक्त द्वंद्वसमासके अन्तर्गत सूत्र और भाष्य दोनों ही उमास्वातिकृत नहीं हैं किन्तु केवल तत्त्वार्थसूत्र ही उमास्वातिकृत है। यदि भाष्य भी उमास्वातिकृत होता तो सिद्धसेनगणि 'उमास्वाति-वाचकोपज्ञ' इस विशेषणको भाष्यके साथ भी वाक्यरचना कर देते, परंतु उन्होंने ऐसी रचना नहीं की। इसके लिये यदि ऐसा कहा जाय कि 'द्वंद्वान्ते द्वंद्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं संबध्यते' इस नियम के अनुसार द्वंद्वान्तर्गत विशेषण प्रत्येक विधेय (विशेष्य) के साथ लग सकता है, तो इसका उत्तर यह है कि यह बात असंदिग्ध अवस्था की है, जिस जगह संदिग्धतारूप विवादस्थ विषय हो वहाँ यह उपर्युक्त व्याकरणका नियम लागू नहीं होता। यहांका विषय संदिग्ध होनेके कारण विवादस्थ है; क्योंकि सिद्धसेनगणीकी टीकाके अध्याय-परिसमाप्ति-वाक्यों में सिर्फ सप्तम अध्यायको छोड़कर और किसी भी अध्यायके अन्तमें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' ऐसा वाक्य नहीं है। ऐसी हालतमें कहा जा सकता है कि यह वाक्य खास सिद्धसेनगणीका न होकर किसी दूसरेकी कृति हो जो तत्त्वार्थसूत्रको तो उमा-स्वातिका मानता हो परंतु भाष्यको उमास्वातिका नहीं मानता हो। प्रतिलेखक भी संधिवाक्योंके लिखनेमें बहुत कुछ निरंकुश पाये जाते हैं, इसीसे ग्रंथकी सब प्रतियोंमें संधिवाक्य। एक ही रूप से देखनेमें नहीं आते। अथवा उस कृतिको यदि सिद्धसेनगणीकी ही मान लिया जाय तो सिद्धसेन गणीके हृदयकी संदिग्धता उसके निर्माणमें अवश्य संभवित हो सकती है। यदि सिद्धसेनगणी इस विषयमें (सूत्र और भाष्यके एककर्तृत्व विषयमें) सर्वदा अथवा सर्वथा असंदिग्ध रहते तो वे 'उमा-स्वातिवाचकोपज्ञे सूत्रभाष्ये' ऐसा स्पष्ट लिखते अथवा

सूत्र और भाष्य दोनोंके साथ जुदा जुदा उमास्वाति-वाचकोपज्ञ जैसा विशेषण लगा देते; परंतु ऐसा कुछ भी किया नहीं अतः वह पद सप्तमीका एकवचन नहीं है और न उससे एककर्तृता ही सिद्ध होती है।

अब देखना यह है कि सिद्धसेनगणी इस विषय में संदिग्ध क्योंकर हैं। सिद्धसेनकी टीकाको यदि गहराईके साथ अवलोकन किया जाता है तो उससे यह पता चलता है कि उन्होंने हरिभद्रसूरि जैसे अपने कुछ पूर्ववर्ती विद्वानोंके कथनपरसे यह गलत धारणा तो करली कि भाष्य और तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता एक ही व्यक्ति हैं परन्तु वैसी धारणाको सुदृढ रखने के लिये कोई भी पुष्ट प्रमाण उपलब्ध न होनेसे वे उस विषयमें बराबर शंकाशील अथवा संदिग्ध रहे हैं—भले ही आम्नायवश वे दोनोंकी एकताका कुछ प्रतिपादन भी करते रहे हों। उनकी इस स्थितिका प्रधान कारण एक तो यह जान पड़ता है कि भाष्यके साथमें जो ३१ संबंध-कारिकाएँ हैं उनमें— २२ वीं और ३१ वीं कारिकाओंमें—'वक्ष्यामि' (वक्ष्यामि शिष्यहितमिममित्यादि) 'प्रवक्ष्यामि' (मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि) जैसे एकवचनान्त प्रयोग पाये जाते हैं; जबकि भाष्यमें सब जगह 'उपदेक्ष्यामः' ('विस्तरेणोपदेक्ष्यामः' सि० टी० पृ० २५, ४१) और 'वक्ष्यामः' ('पुरस्तादवक्ष्यामः' 'मनःपर्ययज्ञानं वक्ष्यामः' सि० टी० पृ० ७६, १००) जैसे बहुवचनान्त क्रिया पद ही नजर आते हैं और ऐसे स्थल भाष्यमें १३ हैं। इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि सम्बंध कारिकाओंके और भाष्यके कर्ता जुदे जुदे हैं। सम्बंध कारिकाओं के कर्ता एक व्यक्ति शायद उमास्वाति हैं और भाष्यके कर्ता कोई दूसरे—संभवतः अनेक हैं।

दूसरा कारण यह मालूम होता है कि भाष्यकारने, अपने भाष्यमें, अनेक स्थलोंपर ऐसे वाक्य लिखे हैं जिनसे स्पष्ट मालूम होता है कि भाष्यकर्तासे सूत्रकर्ता जुदे हैं। यथाः—

'आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह' (पृ० ११७)।

"आद्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यादौदारिकमाह" (पृ० २०७)।

"ग्रन्थे पुरस्ताद् वक्ष्यति" (पृ० २१०)।

"वक्ष्यति च स्थितौ 'नारकाणां च द्वितीयादिषु' (पृ० २२८)

"उत्तरस्येति सूत्रक्रमप्रामाण्यादुच्चैर्गोत्रस्याह" (द्वि० खं० पृ० ३५)

"सूत्रक्रमप्रामाण्यादुत्तरमित्यभ्यन्तरमाह" (द्वि० खं० पृ० २४५)

इन वाक्योंमें प्रयुक्त हुए प्रथमपुरुषके एकवचनात्मक क्रियाके प्रयोग साफ सूचित करते हैं कि भाष्यकार, जो अपना उल्लेख उत्तमपुरुषके बहुवचनमें करते आए हैं, अपनेसे सूत्रकारको जुदा प्रगट कर रहे हैं।

मालूम होता है इन दोनों कारणोंसे सिद्धसेनगणी अपनी धारणामें संदिग्ध हुए हैं, परन्तु आम्नाय अथवा हरिभद्रके कथनकी रक्षाके लिये उन्हें निर्हेतुक वाक्य-रचना करके यह कहना पड़ा है कि सूत्रकारसे भाष्यकार अविभक्त है। ऐसे कथनके स्थल सिद्धसेन गणीकी टीकामें दो जगह नजर आरहे हैं। एक स्थल तो प्रथम अध्यायके ११ वें सूत्रके भाष्यमें प्रयुक्त हुई 'शास्ति' क्रिया से सम्बन्ध रखता है। इस क्रिया का स्पष्ट आशय वहां यह है कि सूत्रकार शिक्षा (उपदेश) देता है। इसी 'शास्ति' क्रियासे संदिग्ध होकर सिद्धसेनगणी आम्नायक-थनकी रक्षार्थ अपनी टीकामें लिखते हैं—

"शास्तीति च ग्रंथकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकाराकारेणैवमाह—शास्तीति, सूत्रकार इति शेषः। अथवा पर्यायभेदात् पर्यायिणो भेद इत्यन्यः सूत्रकारपर्यायोऽन्यश्च भाष्यकारपर्याय इत्यतः सूत्रकारपर्यायः शास्तीति।"

अर्थात्—ग्रंथकार ही अपने आत्माको सूत्रकार और भाष्यकारके आकारसे दो भागोंमें विभाजित करके ऐसा कहता है। 'शास्ति' क्रियापदके साथमें 'सूत्रकारः' पद 'इति शेषः' (अध्याहृत्त) के रूपमें है। अथवा पर्यायके भेदसे पर्यायीका भेद होनेके कारण सूत्रकार पर्याय अन्य है और भाष्यकार पर्याय अन्य है। अतः 'शास्ति' क्रियाका कर्ता सूत्रपर्याय है।

दूसरा स्थल द्वितीय अध्यायके ४९ वें सूत्रके भाष्यमें प्रयुक्त हुए 'कार्मणमाह' इस वाक्यसे संबंध रखता है, जिसकी टीकामें सिद्धसेनगणी लिखते हैं—

"सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारो विभागमादर्शयति, व्युच्छित्तिनयसमाश्रयणात्।"

अर्थात्—भाष्यकार सूत्रकारसे अभिन्न होता हुआ भी अपनेको भिन्न प्रकट कर रहा है, यह पर्यायार्थिकनयके आश्रयको लिये हुए कथन है।

इन दोनों स्थलोंपर उत्पन्न होनेवाली सन्देहकी रेखा और खींचातानी द्वारा उसके परिमार्जनकी चेष्टा स्पष्ट है। इनमेंसे पिछले स्थलके 'सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारः' इस वाक्यखण्डको उद्धृत करके उत्तरलेखक (प्रो० सा०) ने अपने कथनकी बड़ी भारी प्रामाणिकता बतलाई है और ऐसा भाव व्यक्त किया है कि मैं जो कुछ लिख रहा हूं वह अखंड्य है! यह देखकर मुझे बड़ा अफसोस होता है कि ऐसे शब्दमात्रप्रेक्षी लेखक कैसे कैसे निःय धोखेमें स्वतः फँसकर दूसरोंको भी फँसाते हैं! सिद्धसेनगणीकी उक्त दोनों स्थलोंकी पंक्तियाँ व्यर्थकी खींचातानीको लिये हुए निर्हेतुक होनेसे यह कैसे समझा जाय कि भाष्यकार और सूत्रकार एक हैं? मालूम होता है सिद्धसेनगणीने दोनोंको एक बतलानेका जो यह प्रयास किया है वह केवल आम्नायकी रक्षार्थ लोकदिखाऊ किया है; क्योंकि यदि उनकी सर्वथा वैसी ही भावना होती तो वे सूत्रकारको 'सूरि' और भाष्यकारको 'भाष्यकार' उल्लेखित करके जुदा जुदा प्रकट न करते। जैसा कि निम्न वाक्योंमें प्रकट है :—

"इति कश्चिदाशङ्केत, अतस्तन्निवारणायाह भाष्यकारः" (पूर्वार्ध पृ० २५)

"सत्यपि प्रमाणनयनिर्देशसदसदादनेकानुयोगद्वारव्याख्याविकल्पे पुनः पुनस्तत्र तत्रैनदेव द्वयमुपन्यस्यन् भाष्याभिप्रायमाविष्करोति सूरिः।" (पू०पृ० २९)

"तत्रेदं सूत्रं वाक्यान्तरनिरूपणद्वारेण प्रणायि सूरिणा।" (पू० पृ० ३२)

"सूरिराह—अत्रोच्यते।" (पू० पृ० ४१)

सिद्धसेनगणीकी टीकामें ऐसे अनेक स्थल हैं जो खासकर 'सूरि' शब्दसे सूत्रकर्ताके वाचक हैं तथा सूत्रकारके लिये 'सूत्रकार' और भाष्यकारके लिये 'भाष्यकार' शब्दके स्पष्ट प्रयोगको लिये हुए हैं। इससे मालूम होता है कि सिद्धसेनगणीकी उक्त मान्यता सन्देहको लिए हुए लोकदिखाऊ थी। ऐसी हालतमें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' इस पदको सिद्धसेनगणीका मान लेनेपर भी यह कैसे निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि उनका अभिप्राय 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' विशेषणको भाष्यके साथ लगानेका था? यदि उनको वह विशेषण भाष्यके साथ भी लगाना अभीष्ट होता तो वे उसे सूत्रकी तरह भाष्यके भी साथ लगाकर दो पद अलग अलग दे देते अथवा 'उमास्वातिवाचकोपज्ञे' और 'सूत्रभाष्ये' ऐसे दो पद लिख देते। परंतु इन दोनोंमेंसे एक भी बात

सिद्धसेनगणीने की नहीं, ऐसी हालतमें अर्थात् संदिग्ध अवस्थामें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' विशेषण भाष्यके लिये लागू नहीं हो सकता, और इसलिये मैंने 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' इस वाक्यको जो प्रथमाका द्विवचन लिखा है वह सर्वथा व्याकरणके कायदेको लिये हुए है। इसको जो 'व्याकरणशून्यता' लिखते हैं वे स्वतः व्याकरणज्ञानसे शून्य जान पड़ते हैं। मैंने सप्तम अध्यायके उस सन्धिवाक्यका अर्थ देते हुए, जिसमें विवादस्थ पदका प्रयोग हुआ है, एक जगह 'उसमें (उनमें)' अर्थ लिखा था, इस पर प्रो० सा० पूछते हैं कि—"उसमें यह अर्थ कहाँ से आगया ?" इसका समाधान इतना ही है कि यदि कोई संस्कृतका अच्छा जानकार होता तो वैसा अर्थ स्वयमेव कर लेता। परन्तु आपकी समझमें वह अर्थ नहीं आया और मुझे मुख्यतया आपको ही समझाना है अतः आप समझिये—संस्कृत या और भी भाषाओंमें जो वाक्य होते हैं वे सब साक्षेप होते हैं। यहाँ प्रकृतमें जो यह वाक्य है कि 'सूत्र और भाष्य हैं' इसमें सूत्र और भाष्य कर्ता हैं, कर्ता हमेशा क्रियाकी अपेक्षा रखता है अतः 'हैं' यह क्रिया अगत्या अध्याहृत है। जब प्रकृतमें 'सूत्र और भाष्य हैं' ऐसा वाक्य सिद्ध होजाता है तो फिर उसके आगे 'भाष्यानुसारिणी टीका है' यह वाक्य विन्यस्त है; तब स्वतः ही दोनों वाक्योंका संबंध मिलानेवाला अर्थात् सापेक्ष वाक्य जो 'उसमें' (उनमें) है वह सम्बंधित होजाता है। अतः यहां भाषापरिज्ञानीको यह शंका नहीं होती कि 'उसमें' या 'उनमें' यह अर्थ कहाँ से आ गया। और इसलिये उक्त शंका निर्मूल है।

इसी प्रकार आगे चलकर आप पूछते हैं कि "उक्त अर्थमें 'भाष्य' शब्द कहाँसे कूद पड़ा ?" इस प्रश्नसे ऐसा मालूम होता है कि आपने यह सयुक्तिक सम्मतिका उत्तरलेख प्रायः आँख मीचकर लिखा है; क्योंकि 'सूत्रभाष्ये' पदमें जब भाष्य शब्द स्पष्ट दिखाई देरहा है तब उक्त प्रश्नको लिये हुए आपकी उक्त लिखावटको आँख मीचकर लिखी जानेके सिवाय और क्या समझा जा सकता है।

इसी प्रकृत विषयके संबंधमें आपने एक विचित्र बात और भी लिख मारी है, और वह यह है कि "उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पदमें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' जो उद्देश्य है वह अपने विधेय 'भाष्य' पदके साथ तो अवश्य ही जायगा, चाहे थोड़ी देरके लिये वह 'सूत्र' के साथ न भी जाय" यह आपका वचन वास्तवमें सहास्य व्याकरणशून्यताका सूचक है। अपने इस कथनके समर्थनमें आपने कोई भी हेतु नहीं दिया, निर्हेतुक होनेसे आपका कथन प्रमाण कोटिमें नहीं आ सकता। आश्चर्य है आपके साहस को जो आपने झटसे ऐसा लिख मारा कि जिस विशेष्यसे विशेषण संबद्ध है उसके साथ तो वह न भी जाय और दूरवर्ती विशेष्यके साथ उछलकर संबद्ध होजाय! यह सब आपकी विचित्र कथनी आप सर्राफोंके ध्यान-शर्राफमें भले ही आए परंतु विज्ञोंके ध्यानसे तो वह सर्वथा बाह्य ही है और उसे कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

इसी प्रकरणमें आपने यह भी लिखा है कि "'अर्हत्प्रवचन' शब्द भी नपुंसकलिंग है, फिर उसे भी प्रथमाका द्विवचन क्यों न माना जाय ?" इसका समाधान एक तो यह है कि—'तत्त्वार्थाधिगमे' पदके अनंतर कदाचित् वह पद (अर्हत्प्रवचने) होता तो मान भी लिया जाता, परंतु यहाँ वैसी वाक्यरचना नहीं है। अतः वैसे अर्थका झटति अर्थावबोधकत्व न

होनेसे उसे प्रथमाका द्विवचन न मानकर सप्तम्यन्त पद मानना ही उचित है। दूसरे, यदि उसको प्रथमा का द्विवचन मान भी लिया जाय तो वह 'सूत्रभाष्ये' पदका विशेषण होनेसे यह अर्थ होगा कि तत्वार्थसूत्र और भाष्य ही 'अर्हत् प्रवचन' हैं—दूसरे आगमादि ग्रंथ अर्हत्प्रवचन नहीं हैं। आगमादि ग्रंथोके साथ वह 'अर्हत् प्रवचन' शब्द देखा भी नहीं जाता। अत: ऐसा महान् अनर्थ न हो जाय इसके लिये ही 'तत्वार्थाधिगमे' पदके पूर्व 'अर्हत् प्रवचने' पद विन्यस्त किया गया है, जिसका तात्पर्य यही है कि वह पद सप्तमीका ही समझा जाय और इस तरह उससे कोई अनर्थ घटित न होजाय।

इसी प्रकरणमें प्रो० साहबने एक बात यह भी पूछी है कि "उस भाष्यका कर्ता कौन है जिस पर ग्रंथकार टीका लिख रहे हैं?" इसका जवाब ऊपर आ चुका है, जिसका आशय यह है कि भाष्यमें कारिकाओंके विपरीत 'वक्ष्यामः' जैसे बहुवचनान्त क्रियापदोंका प्रयोग पाया जाता है, इसलिये भाष्यके कर्ता उमास्वाति न होकर कोई दूसरे ही हैं और वे संभवतः अनेक हैं।

इस प्रकरणमें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पदको लेकर द्वंद्वसमासगत सप्तमी विभक्ति माननेकी जो आपकी धारणा थी उसका खंडन ऊपर अच्छी तरह किया जा चुका है अर्थात् वह पद वहाँ सप्तमीके रूपमें ठीक बैठता नहीं किंतु प्रथमाका द्विवचन ही ठीक बैठता है। कदाचित् उसे सप्तमीका एक वचन भी माना जाय तब भी वह हो उत्तर उस पक्षमें दिया जा सकता है, क्योंकि समाहारद्वंद्वमें वह सप्तमीका एक वचनान्त माना जा सकेगा तो वहाँ संदिग्ध अवस्थामें 'उमास्वातिवाचकोपज्ञ' यह विशेषण दूरवर्ती 'भाष्यका' का विशेषण नहीं हो सकता किंतु निकटवर्ती 'सूत्र' का ही हो सकता है। दूसरे, उस पदको 'सप्तम्यन्त' ही माननेका यदि आग्रह हो तो वह पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके कथनानुसार* षष्ठी तत्पुरुषका ही रूप सबसे प्रथम संभवित है; कारण कि शीघ्र शाब्दबोधकतामें षष्ठीतत्पुरुषकी तरफ सबसे पहले दृष्टि जाती है और तब उस पदका अर्थ यह हो जाता है कि—'उमास्वाति वाचक-विरचित तत्वार्थसूत्रके भाष्यमें'। इस अर्थसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकर्ता तत्वार्थसूत्रकर्तासे जुदे हैं। अत: कहना होगा कि दोनों विभक्तियोंमेंसे कोई भी विभक्ति लीजाय—परंतु प्रो० सा० की एककर्तृत्व की अभीष्ट सिद्धि किसीसे भी नहीं बन सकती।

दूसरे, 'तुष्यतु दुर्जनन्यायसे' यदि यह मान भी लिया जाय कि सिद्धसेन गणी दोनोंका एक कर्तृत्व ही मानते थे' तो वे आपके मतानुसार भले ही मानें, उन के माननेकी कीमत तो तब होती जब कि वे उस विषयमें किसी प्रबल हेतुका स्पष्ट उल्लेख करते; परन्तु उन्होंने वैसा कोई उल्लेख किया नहीं तथा भाष्यकार स्वतः अपनेसे सूत्रकारको जुदा सूचित करते हैं, तो फिर ऐसी दशामें सिद्धसेनगणीकी वैसी मान्यताकी कीमत भी क्या हो सकती है और उससे भाष्यविषयक प्रचलित संदिग्धताका निरसन भी कैसे बन सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

अत: इस दूसरे प्रकरणमें भी उत्तररूपसे जो बातें कही गई हैं उनमें कुछ भी सार नहीं है और न उनके द्वारा भाष्यको 'स्वोपज्ञ' तथा 'अर्हत्प्रवचन' ही सिद्ध किया जा सकता है।

*विशेष ऊहापोहके लिये देखो 'अनेकान्त' वर्ष ३ कि० १२ पृ० ७३५ पर परीक्षा नं० ३

(३) वृत्ति

सयुक्तिक सम्मतिमें इस वृत्ति-प्रकरणको लेकर यह लिखा गया था कि 'वृत्ति' शब्दसे राजवार्तिकमें श्वेताम्बर भाष्य नहीं लिया है किन्तु पं० जुगलकिशोर जीने जो शिलालेखादिके आधारसे बात मानी है वह ठीक है। उसके लिये मैंने जो हेतु दिये थे उनमेंसे एक 'वृत्ति' के अर्थ-द्वारा उस विषयके संगत मार्गको बतलाने रूप था, उसके खंडनका उत्तर लेखकने जो प्रयास किया है वह अविचारित होनेसे बेपायेका जान पड़ता है। कारण कि राजवार्तिकमें 'वृत्ति' शब्दको लेकर षड्द्रव्यके अभावकी शंका की है, वहां 'वृत्ति' शब्दसे अकलंकने श्वेताम्बर भाष्यको ग्रहण नहीं किया है। इसमें एक हेतु तो यह है कि श्वेताम्बर संप्रदायमें उस भाष्यकी पहले तो 'वृत्ति' शब्दसे प्रख्याति ही नहीं है। दूसरे, वृत्ति और भाष्य एक अर्थके वाचक हैं, इस लिये कदाचित् श्वेताम्बर सम्प्रदायके किसी आचार्यने उसको 'वृत्ति' भी लिख दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं; तथापि राजवार्तिकके पंचमाध्यायके उस प्रकरणमें श्वेताम्बर भाष्यका कुछ भी सम्बंध नहीं हैं। राजवार्तिकमें अकलंकदेवने यदि श्वेताम्बर भाष्यके सम्बंधको लेकर द्रव्योंके पंचत्व-विषयकी शंका उठाई होती तो उसका समाधान भाष्य के ही किसी वाक्यसे वे करते परंतु उन्होंने वैसा न करके उसका समाधान दिगम्बर सूत्रसे किया है, इस से स्पष्ट है कि वह शंका दिगम्बर सूत्रकी रचना पर है। कारण कि 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्र तक तथा आगे भी बहुत दूर तक सूत्ररचना या सूत्रानुपूर्वीमें पांच द्रव्योंका ही कथन-आया है—छहद्रव्यों का कथन नहीं आया है।

'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इस सूत्रकी वार्तिक नंबर ३ में 'अवस्थितानि' शब्दकी व्याख्याके सम्बन्ध से द्रव्योंकी इयत्ताका प्रमाण छह है इस प्रकारका वर्णन आया है। उसीको लेकर शंकाकारकी शंका है कि—' वार्तिके वा वार्तिकभाष्ये भवता उक्तानि धर्मादीनि षड् द्रव्याणि परंतु वृत्तौ (सूत्ररचनायां) धर्मादीनि पंचैव अतः कदाचित् तानि पंचत्वं न व्यभिचरन्ति' इस प्रकार राजवार्तिकके भाष्यगत शंकाका विस्तारसे स्पष्टीकरण है, जिसको कि मैंने संक्षेपमें वार्तिकके शब्दोंका पृथक २ शब्दार्थकरके वार्तिकके भाष्यका अभिप्राय 'सयुक्तिक सम्मति' मे लिखा था। उसको उत्तरलेखकने मेरे पाण्डित्यका नमूना, तोड़-मरोड़ कर दूषित अर्थ करना तथा अकलंकदेवके भाष्यसे अपना अलग भाष्यरचना आदि बतलाया है और इस प्रकार बिना विचारे कितना हो अनाप-सनाप लिख मारा है! यदि मेरे उस अर्थमे भाष्यके अभिप्रायसे कोई असंगतता बतलाई होती तब तो उत्तर लेखकका यह सब लिखना भी वाजिब समझा जाता; परंतु जो आंख मीचकर लिखे उसका क्या इलाज ? अस्तु, मैंने वार्तिकका 'वृत्तौ तु पंच अवचनात् षड्द्रव्योपदेशव्याघातः' ऐसा पदच्छेद कर के जो यह हिंन्दी अर्थ किया था कि—'वृत्तिमें (सूत्र रचनामें) तो पांच हैं, अवचन होनेसे (छहद्रव्यका कथन न होनेसे) छह द्रव्योंके कथनका व्याघात है अर्थात् छह द्रव्योंका कथन बन नहीं सकता' इस अर्थमें वार्तिक भाष्यके अभिप्रायसे क्या फर्क आता है उसे विद्वान् पाठक मिलान कर संगत और असंगतका विचार करेंगे ऐसी दृढ़ आशा है।

यहां इसी प्रकरणमें प्रो० साहब लिखते हैं कि "'पंचत्ववचनात्' शब्दका अर्थ खींचतान कर यदि 'पंचतु अवचनात्' किया भी जाय तो उसका केवल

इतना ही अर्थ हो सकता है कि पांचका तो कथन नहीं किया"। इस वाक्यमें आपने व्याकरण ज्ञान-शून्यताकी एक बड़ीही भद्दी मिसाल उपस्थित की है; क्योंकि 'पंचत्वबचनात्' का अर्थ जो 'पांचका तो कथन नहीं किया' ऐसा किया गया है वह व्याकरण के कायदेसे सर्वथा अशुद्ध है। व्याकरणमें 'पंच' यह प्रथमाका बहुवचन है, षष्ठीका रूप नहीं है, अतः 'पंच' इस प्रथमान्तका जो अर्थ 'पांचका' किया गया है वह हो नहीं सकता। जब उस वाक्यका उक्त अर्थ व्याकरणके कायदेसे सर्वथा प्रतिकूल पड़ता है तब फिर जो अर्थ सयुक्तिक सम्मतिमें लिखा गया है वह अकलंकदेवके अभिप्रायको लिये हुए अनुकूल अर्थ है इस कथनमें कुछ भी आपत्ति मालूम नहीं होती। अतः उस परसे अलग भाष्य बनाने आदिकी जो उत्तर लेखकने कल्पना कर डाली है वह सब उसकी व्याकरणज्ञान-शून्यता और अविचारताका ही एक कृत्य जान पड़ती है।

एक स्थानपर प्रोफेसर महाशय उपहासात्मक शब्दोंमें लिखते हैं—"'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्ररचना' करके तो सचमुच शास्त्री महोदयने कलम तोड़ दी है।" इसके उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'वृत्ति' का वैसा संभवित अर्थ करके सचमुच ही सयुक्तिक सम्मतिके लेखकने आप सरीखे युक्तिशून्य लेखके लेखकोंकी तो क़लम ही तोड़ डाली है। क्योंकि उसका खंडनात्मक उत्तर आपकी शक्तिसे बाहर है।

आपने 'वृत्ति' के अर्थके विषयमें कोषकी जो बात पूछी है वह आपके कोषज्ञानकी अजानकारीके साथ साथ वाक्यार्थोंके सम्बन्धकी भी अजानकारी को सूचित करती है। और कोषकी बातमें जो ऐसे एकाक्षरी कोषका पता पूछा गया है जिसमें 'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्ररचना' दिया हो, वह तो और भी उपहास-जनक है, क्योंकि 'वृत्ति' शब्दका अर्थ एकाक्षरी कोष का विषय नहीं है किंतु अनेकाक्षरी कोषका विषय है। मालूम नहीं जब 'वृत्ति' शब्द साफ द्व्यक्षरी (अनेकाक्षरी) है तब उसके अर्थके लिये एकाक्षरी कोषका पता पूछनेकी निराली सूझ कहाँसे उत्पन्न हो गई! इसे देखकर तो बड़ा ही आश्चर्य होता है! क्या इसी का नाम सावधानी है? और इसी सावधानीके बल-बूतेपर आप विचारक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए हैं? तथा दूसरोंपर निरर्थक कटाक्ष करनेका अपनेको अधिकारी समझते हैं? विचारकी यह पद्धति नहीं और न विचारकोंके लिये ऐसी बातें शोभा देती हैं।

अच्छा, कोषकी बात पूछी उसका जबाब यह है कि—'शब्दस्तोममहानिधि' चौड़ी साइजके पृ० ३७७ को निकालकर देख लीजिये, उसमें वृत्तिका अर्थ केवल 'रचना' ही नहीं किंतु बारीकीसे देखेंगे तो 'सूत्ररचना' भी मिल जायगी; क्योंकि उस कोषमें रचनाके भेदोंमें एक 'सात्वती' रचनाका भेद भी है, 'सात्वती' की निष्पत्ति 'सत्' शब्दसे वतुप्, अण् और स्त्री प्रत्ययांत् 'ङीप्' प्रत्ययसे हुई है। जिन्हें व्याकरणका विशाल ज्ञान होगा उन्हें 'सात्वती' शब्दका अर्थ 'सौत्री' रचना मालूम पड़ सकता है क्योंकि 'सत्' शब्दका अर्थ 'निष्कर्ष' और 'सार' रूप होता है और सूत्र भी शाब्दिकमर्यादासे पदार्थोंकी (पदोंके अर्थकी) निष्कर्षता-सारताको लिये हुए होते हैं। अतः 'सात्वती' और 'सौत्री' एक अर्थके वाचक हैं। दूसरे 'वृत्ति' शब्दका 'सौत्री रचना' जो अर्थ किया गया है वह केवल कोषबलसे ही नहीं किया गया किंतु उसका प्रकरणसे भी सम्बन्ध मिलता है, इसलिये उसका अर्थ प्रकरण-संबद्ध भी है। कारण कि, राजवार्तिककार पंचत्व-

विषयकी शंकाका समाधान किसी राजवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि या श्वेताम्बर भाष्य आदिके वाक्योंसे न करके खास उमास्वामी महाराजके सूत्रसे कर रहे हैं। और इसलिये प्रो० सा० का यह लिखना कि "'वृत्ति' का अर्थ 'सूत्ररचना' किसी भी हालतमें नहीं हो सकता" निरर्थक जान पड़ता है। हाँ, वह शंका यदि किसी वृत्तिविशेषके विषयकी होती तो अकलंक उस वृत्ति के ही अंशसे उसका समाधान करते। यहाँ शंकाका विषय मौलिक रचनासे सम्बन्ध रखता है अतः उस का समाधान मौलिक रचनापरसे दिया गया है, जिस पर कोई आपत्ति नहीं की जासकती *। अतः राजवार्तिकमें 'वृत्ति' शब्द आजानेसे प्रो० सा० ने अपनी मान्यताके अनुसार जो यह लिख मारा है कि "राजवार्तिकमें 'वृत्तौ उक्तं' कहकर जो वाक्य उद्धृत किये हैं वे वाक्य न किसी सूत्ररचनाके हैं और न अनुपलब्ध शिवकोटिकृत वृत्तिके, बल्कि उक्त वाक्य श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थ भाष्यके हैं" उसमें कुछ भी सार नहीं है। उसका निरसन सूत्ररचना-विषयक ऊपरके वक्तव्यसे भले प्रकार होजाता है। रही हालमें अनुपलब्ध शिवकोटि कृतिकी बात, उसका सम्बन्ध शिला लेखसे है, उसकी जब उपलब्धि होगी तब जैसा कुछ उसमें होगा उस समय वैसा निर्णय भी हो जायगा। फिलहालकी उपलब्धिमें तो सूत्ररचना-विषयक संबंध ही अधिक संगत और विद्वद्-ग्राह्य जान पड़ता है। यह नहीं हो सकता कि अकलंक देव शंका तो उठावें श्वेताम्बर भाष्यके आधार पर और उसका समाधान करने बैठें दिगम्बर सूत्रके बल पर! ऐसी असंगतता और असम्बद्धताकी कल्पना राजवार्तिक-जैसी प्रौढ रचनाके विषयमें नहीं की जा सकती। दूसरी बात

* यहाँपर मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि स्वयं अकलंकदेवने राजवार्तिकमें अन्यत्र भी 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग 'सूत्ररचना' के अर्थमें किया है; जैसा कि 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां' इस सूत्रसम्बंधी छठे वार्तिकके निम्न भाष्यसे साफ़ प्रकट है, जिसमें 'देव' शब्दको अल्पाक्षर और अभ्यर्हित होनेसे सूत्ररचनामें पूर्व प्रयोगके योग्य बतलाया है, और इसलिये यहाँ प्रयुक्त हुए 'वृत्तौ' पदका अर्थ 'सूत्ररचनायां' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता :—

"आगमे हि जीवस्थानादिसदादिष्वनुयोगद्वारेणाऽऽदेशवचने नारकाणामेवादौ सदादिप्ररूपणा कृता, ततो नारकशब्दस्य पूर्वनिपातेन भावतव्यमिति। तन्न किं कारणं उभयलक्षणप्राप्तत्वाद्देवशब्दस्य। देवशब्दो हि अल्पाजभ्यर्हितश्चेति वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्हः।"

यहाँ पर भी यह सब कथन दिगम्बरसूत्रपाठसे सम्बन्ध रखता है—श्वेताम्बर सूत्रपाठ और उसके भाष्यसे नहीं। क्योंकि श्वेताम्बर सूत्रपाठका रूप "तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्" है, जिसमें 'नारक' शब्द पहले ही से 'देव' शब्द के पूर्व पड़ा हुआ है, और इसलिये वहाँ वह शंका ही उत्पन्न नहीं होती जो "आगमे हि" आदि वाक्योंके द्वारा उठाई गई है और जिसमें यह बतलाकर, कि आगममें जीवस्थानादिके आदेशवचनमें—नारकोंकी ही पहले सत् आदि रूपसे प्ररूपणा की गई है, कहा गया है कि तब सूत्र में 'नारक' शब्दका 'देव' शब्दसे पहले प्रयोग होना चाहिये। ऐसी हालतमें यहाँ 'वृत्ति' का अर्थ 'श्वेताम्बर भाष्य' किसी सूरतमें भी नहीं हो सकता। क्या प्रोफेसर जगदीशचन्द्रजी, जिन्होंने अपने समालोचना-लेख (अने० वर्ष ३ पृ० ६२६) में ऐसा दावा किया था कि राजवार्तिकमें प्रयुक्त हुए भाष्य, वृत्ति, अर्हत्प्रवचन और अर्हत्प्रवचनहृदय इन सब शब्दोंका लक्ष्य उमास्वातिका प्रस्तुत श्वे० भाष्य है, यह बतलानेकी कृपा करेंगे कि यहाँ प्रयुक्त हुआ 'वृत्तौ' पद, जो विवादस्थ 'वृत्तौ' पदके समान है, उसका लक्ष्यभूत अथवा वाच्य श्वेताम्बर भाष्य कैसे हो सकता है? और यदि नहीं हो सकता तो अपने उक्त दावेको सत्यानुसन्धानके नाते वापिस लेनेकी हिम्मत करेंगे। साथ ही, यह स्वीकार करेंगे कि अकलंकदेवने स्वयं 'वृत्ति' शब्दको 'सूत्ररचना' के अर्थमें भी प्रयुक्त किया है। —सम्पादक

यह है कि श्वेताम्बर भाष्यमें 'अवस्थितानि च' और 'न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरंति' इस रूपसे दो वाक्य हैं, जबकि राजवार्तिकमे 'वृत्तावुक्तं' के अनन्तर "अवस्थितानि धर्मादीनि नहि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" इस रूपमें एक वाक्य दिया है। यदि अकलंकदेव श्वेताम्बर भाष्यके उक्त वाक्योंको उद्धृत करते तो यह नहीं हो सकता था कि वे उन्हें ज्योंके त्यों रूपमें उद्धृत न करते। अतः यह कहना कि "इसी भाष्यसे उठाकर अकलंकदेवने अपने ग्रन्थ में 'उक्तं' कहकर इस वाक्यको दिया है" नितान्त भ्रममूलक है।

यदि 'वृत्ति' शब्दके अर्थोंमेंसे विवरण-भाष्य ही प्रो० सा० को अभीष्ट है तो उसका स्पष्टीकरण सयुक्तिक-सम्मति लेखके ६० वें पृष्ठके टिप्पणसे हो जाता है, जिसका स्पष्ट आशय यह है कि राजवार्तिक पत्र १९१ में 'आकाशग्रहणमादौ' इत्यादि ३४ वीं वार्तिक के विवरण अर्थात् भाष्यमें धर्मादिक द्रव्योंको संख्यावाचक 'पांच' शब्दसे निर्देश किया गया है, उसका पाठ राजवार्तिकमें 'स्यान्मतं धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां' इस प्रकार है। अतः कहना होगा कि यहांके पंचत्वको लेकर ही 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रके नं० ३ के वार्तिक और भाष्यमें जो धर्मादि द्रव्योंको छहका निर्देश किया है उसीके ऊपरका शंका-समाधान उक्त सूत्रके वार्तिक नं० ८ और उसके भाष्यमें किया गया है, जिसमें शंकाके समाधानका विषय राजवार्तिक के पूर्ववर्ती दिगम्बर तत्त्वार्थसूत्रके 'कालश्च' सूत्रसे संबंध रखता है। अतः यहाँ श्वेताम्बर भाष्यकी वार्ता तो कपूरवत् अथवा 'छूमंतर' की तरहसे उड़ जाती है—उसका इस राजवार्तिकके प्रकरणमें कुछ भी स्थान नहीं है। इतने स्पष्टीकरणके होने पर भी प्रो० सा० के मस्तिष्कमें यदि राजवार्तिकके उस वाक्य-विषयमें श्वेताम्बरभाष्य-विषयक ही मान्यता है तो कहना होगा कि वह मान्यता आग्रहकी चरमसीमाका भी उल्लंघन करना चाहती है। क्योंकि अभी तक किसी भी पुष्ट प्रमाण-द्वारा यह निश्चय भी नहीं हो पाया है कि श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थभाष्यका समय अकलंकसे पूर्वका है। हो सकता है कि प्रस्तुत श्वेताम्बर भाष्यकी रचना राजवार्तिकके बाद हुई हो और उसमें वह पंचत्व विषयक वाक्य राजवार्तिकसे कुछ परिवर्तन करके ले लिया गया हो, और यह भी संभव है कि दोनों ग्रंथोंमें उक्त वाक्योंकी रचना एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर बिल्कुल स्वतंत्र हुई हो।

श्वे०सूत्रपाठका 'यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां' ऐसा सूत्र है, उसके 'यथोक्तनिमित्तः' पदका श्वे० भाष्यमें 'क्षयोपशमनिमित्तः' अर्थ किया गया है, परन्तु उस पदका वैसा अर्थ हो नहीं सकता। इससे पता चलता है कि यह अर्थ दिगम्बरीय सूत्र या उस के भाष्योंसे लिया गया है। इस प्रकार सूत्र और भाष्यके जुदे जुदे पाठ होनेसे दोनोंके एक कर्तृत्वका भी विघटन हो जाता है। श्वे०भाष्य और सूत्रके एक-कर्ता नहीं हैं, इस विषयके बहुतसे पुष्ट प्रमाण पिछले 'अर्हत् प्रवचन और तत्त्वार्थाधिगम' नामक प्रकरण नं० २ में दिये जा चुके हैं, जिनसे पाठकगण अच्छी तरह जान सकते हैं कि श्वे० सम्प्रदायमें सूत्र और भाष्यकी एकताका जो ज्ञान है वह कितना भ्रमात्मक है। मेरी समझमें ऐसे आन्तरङ्गिक विषयोंका ज्ञान केवल चर्म चक्षुके द्वारा देखे गये शाब्दिक कलेवरसे नहीं हो सकता; किंतु उसके लिये अंतरंग प्रकरणकी संबद्धता-असंबद्धताका विवेक भी आवश्यक है, जो गहरे अध्ययन तथा मननसे सम्बन्ध रखता है। यहाँ

राजवार्तिकके 'पंचत्व' 'अवस्थितानि' आदि शब्द भाष्यमें देखकर बिना विचारे कह देना कि 'ये शब्द भाष्यके हैं अतः राजवार्तिकके सन्मुख भाष्य था' केवल चर्मचक्षुकी दृष्टिके सिवाय और क्या कहा जा सकता है? यदि यहाँपर आन्तरंगिक दृष्टिसे विचार किया गया होता तो स्पष्ट मालूम पड़ जाता कि इन का संबंध मुख्यतया सौत्रीय रचनासे अथवा राजवार्तिक भाष्यसे है; क्योंकि शंकाके समाधानका हेतु, इस स्थलमें, दिगम्बरीय सूत्रपाठ है—श्वेताम्बरीय भाष्यका कोई अंश नहीं है। और इसलिये प्रो० सा० का यह लिखना कि "इस ('वृत्ति' शब्द) का वाच्य कोई ग्रन्थविशेष है और वह ग्रंथ उमास्वातिकृत (प्रस्तुत श्वेताम्बर) भाष्य है।" किसी तरह भी ठीक नहीं बैठता।

आगे चलकर प्रो० सा० जोरके साथ दूसरोंको यह माननेकी प्रेरणा करते हुए कि 'अकलंककी उक्त शंका श्वे० भाष्यको लेकर है' उस शंकाके समाधान सम्बन्धमें लिखते हैं—

"अब यदि इस शंकाका समाधान अकलंक स्वयं भाष्यगत 'कालश्चेत्येके' सूत्रसे करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि अकलंक, दिगम्बराम्नायके प्रतिकूल होने पर भी, भाष्यको सूत्ररूपसे स्वीकार कर लेते हैं तथा सर्वार्थसिद्धिगत दिगम्बरीय सूत्र 'कालश्च' ही है, जिसको सामने रखकर वे अपना वार्तिक लिख रहे हैं। ऐसी हालतमें 'कालश्च' सूत्र ही प्रमाणरूपसे देकर शंकाका परिहार किया जाना उचित था, जो अकलंक ने किया है।"

प्रो० सा० की इस विचित्र लिखावटको देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है! प्रथम तो "भाष्यको सूत्र रूपसे स्वीकार कर लेते हैं" इस कथनमें आपके बचनकी जो विश्रृंखलता है वह भाष्य और सूत्रके जुदा जुदा होनेसे ही स्वतः प्रतीतिमें आजाती है। दूसरे, किसी आम्नायका कोई व्यक्ति अपने शास्त्रके सम्बन्धमें यदि शंका करे और उसका समाधान उसी के शास्त्रवाक्यसे कर दिया जाय तो इससे समाधान करने वाला उस शास्त्रका मानने वाला अथवा उसे अपनी आम्नायका शास्त्र स्वीकार करने वाला क्यों कर होजाता है, यह कुछ भी बतलाया नहीं गया। तीसरे, श्वे० भाष्य-सम्बन्धी शंकाका समाधान श्वे० भाष्य अथवा श्वे० सूत्र पाठसे न करके दिगम्बर सूत्र पाठसे करनेमें कौनसा औचित्य है, इसे ज़रा भी प्रकट नहीं किया गया। चौथे, यह दर्शाया नहीं गया कि अकलंकने कब, कहाँ पर तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर भाष्यकी एककर्तृताको स्वीकार किया है। ऐसी हालत मे प्रो० सा० का उक्त सारा कथन प्रलापमात्र अथवा बच्चोंको बहकाने जैसा मालूम होता है और स्पष्टतया कदाग्रहको लिये हुए जान पड़ता है। समाधान वाक्य में दिगम्बरसूत्रका प्रयोग होनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि शंकाका सम्बन्ध दिगम्बर सूत्ररचनासे है—श्वेताम्बरसे नहीं। श्वेताम्बर से होता तो समाधानमें 'कालश्चेत्येके' सूत्र उपन्यस्त किया जाता, जिससे श्वे० भाष्यविषयक शंकाका समाधान बन सकता। और इसलिये 'वृत्ति' शब्दका वाच्य वहाँ श्वेताम्बर भाष्य न होकर दिगम्बर सूत्ररचना है, जैसाकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है।

एक जगह प्रो० सा० ने लिखा है कि—"प्रस्तुत प्रकरणमें खंडन-मंडनका कोई भी विषय नहीं है।" यह लिखना आपका प्रत्यक्ष विरुद्ध है; क्योंकि 'अवस्थितानि' पदका 'धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि' भाष्य किया गया है। उसका खंडन वादीके द्वारा किया गया और फिर उसका समाधान 'कालश्च' सूत्रके आधार पर किया गया। यह सब खंडन-मंडनका विषय नहीं हुआ तो और क्या हुआ? इसका असली मतलब खंडन-मंडन ही है; क्योंकि शंका और समाधान तथा खंडन और मंडनमें अपने अपने पक्षकी सिद्धिके निमित्त हेतुओंको उपन्यस्त करना पड़ता है। अतः शंका-समाधान रूपसे खंडन-मंडनका विषय है ही। इतनी मोटी बात भी यदि समझमें नहीं आती तो फिर किस बूते पर विचारका आयोजन किया जाता है?

एक स्थान पर प्रो० सा० ने यह प्रश्न किया है कि "अकलंकने नित्यावस्थितान्यरूपाणि' सूत्रमें ही द्रव्यपंचत्व-विषयक शंका क्यों उठाई?" इत्यादि।

इसका समाधान सिर्फ इतना ही है कि अन्यत्र शंका उठानेका स्थान उपयुक्त न होनेसे दूसरी जगह शंका नहीं उठाई। यहां 'अवस्थितानि' सूत्रके प्रकरणमें द्रव्योंके छह पनेका कथन आया और ऊपर सूत्रानुपूर्वी रचनामें तथा राजवार्तिक भाष्यमें द्रव्योंके पंचत्व का कथन आया; अतः यहाँ शंकाका अवकाश होनेसे शंका उठाई गई, दूसरी जगह वैसी शंकाका स्थान उपयुक्त न होनेसे नहीं उठाई गई। 'जीवाश्च' आदि सूत्र वैसी शंकाके उपयुक्त स्थान तो तब कहे जाते जब उनमें वैसा प्रसंग आता। वैसे प्रसंगके लानेका कार्य मेरे-आपके हाथकी बात तो है नहीं, ग्रन्थकर्ता जिस जगह जैसा उपयुक्त जँचा वहाँ वैसा प्रकरण ले आए।

अन्तमें प्रो० सा० लिखते हैं कि—"पूर्व लेखमें बताया जा चुका है कि द्रव्य पंचत्वकी शंका दिगम्बरों के यहाँ इसलिये नहीं बन सकती कि उनके यहाँ तो निश्चित रूपसे छः द्रव्य माने गये हैं, जबकि श्वे० उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें भी 'पंचद्रव्य' और 'षट्द्रव्य' की आगमगत दोनों मान्यताएँ मौजूद हैं।" परन्तु यह लिखते हुए वे इस बातको भुला देते हैं कि उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है कि उमास्वाति कालसहित छहों द्रव्य मानते हैं और अपने पिछले लेखाङ्क नं० ३ में 'सर्वं षट्कं षड्द्रव्यावरोधात्' इस भाष्य-वाक्यके द्वारा उस मान्यताकी पुष्टि भी की है; तब वह पंचत्व की शंका भाष्यके ऊपर भी कैसे बन सकती है? समान मान्यताके होने पर एक स्थल पर उस शंकाका बन सकना और दूसरे पर न बन सकना बतलाना कथनके पूर्वापरविरोधको सूचित करता है। इसके सिवाय, मैंने 'सयुक्तिक सम्मति' नामके अपने पूर्व लेख (अनेकान्त पृ० ८९, ९०) में दिगम्बरसूत्र पाठके सम्बन्धमें इस शंका-समाधानके बन सकनेका जो स्पष्टीकरण किया था तथा औचित्य बतलाया था उस पर भी आपने कोई ध्यान नहीं दिया। और न यही सोचा कि एक ग्रन्थकार जो अपने मत या आम्नाय को लेकर ग्रन्थकी रचना कर रहा है वह दूसरे मत अथवा आम्नाय वालोंकी खुद उन्हींके मत, आम्नाय अथवा ग्रन्थ पर की गई शंकाकी संगति बिठलाता हुआ समाधान अपने ग्रन्थमें क्यों करेगा?—उसे उसकी क्या जरूरत पड़ी है? ऐसी हालतमें आपका उक्त लिखना कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

ऊपरके इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि राजवार्तिकका उक्त शंका-समाधान सूत्ररचना तथा राजवार्तिकके भाष्यसे सम्बन्ध रखता है, उसमें श्वे० भाष्यका जो स्वप्न देखा जाता है, वह ग्रन्थको सम्बद्ध रूपमें लगानेकी अजानकारी ही प्रकट करता है, और इसलिये इस तीसरे प्रकरणमें प्रोफे० साहबने उत्तरका जो प्रयत्न किया है उसमें भी कुछ दम और सार नहीं है। (क्रमशः)

संशोधन

गत किरणमें 'महाकवि पुष्पदन्त' नामका लेख कुछ अशुद्ध छप गया है। मात्रादिकके टूट जानेसे जो साधारण अशुद्धियां हुई हैं, उन्हें छोड़ कर शेष कुछ महत्वकी अशुद्धियोंका संशोधन नीचे दिया जाता है। पाठकगण इसके अनुसार अपनी अपनी प्रतिमें सुधार कर लेवें:—

पृ०	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४०८	१	१८	रोहिणीखेड	रोहनखेड
४०६	२	६	काव्य	कव्व
४१०	१	१८	करिसबहि	करिसरवहि
४११	१	२८	सरक्र	सरस्वती
४१२	२	४	कुरूप	शुद्धकुरूप
४१३	१	२२	मणि	मणे
,,	१	२३	कइवयादियसहं	कइवयदियहइं
,,	१	२६,२७	सुहयउ	सुहमरु
४१४	१	३	भरता	भरहा
४१५	२	२३	सबसे	सबसे अधिक
४१६	१	३	कुन्दका	कुन्दव्वा
४१६	२	२१	गुणोभांसिते	गुणोभांसिसो
४१६	२	२५	श्यामः प्रधानः	श्यामप्रधानः
४१७	१	३५	घनधवलताश्चया	घनधवलताश्रया
४२०	२	३२	सहासना	सहायता

—प्रकाशक

जिन-दर्शन-स्तोत्र‡

[पं० हीरालाल पांडे, सागर]

[१]

आज जन्म मम सफल हुआ प्रभु—
अक्षय - अतुलित निधि - दातार !
नेत्र सफल हो गये दर्शसे—
पाया है आनन्द अपार !!

[२]

आज पंच - परिवर्तनमय यह—
अति दुस्तर भव - पारावार !
सुतर हुआ दर्शन से तेरे,
भटका हूं जिस में बहुबार !!

[३ [

आज नहाया धर्म - तीर्थमें—
तेरा दर्शन पा साकार !
गात्र पवित्र हुआ नयनों में,
छाया निर्मल तेज अपार !!

[४]

आज हुआ यह जन्म सार्थक,
सकल मंगलों का आधार !
तेरे दर्शन के प्रभाव से,
पहुँचा मैं जग के उस पार !!

[५]

आज कषाय-सहित कर्माष्टक—
ज्वालाएँ बिघटीं दुखकार !
दुर्गति से निवृत्त हुआ मैं—
तेरे दर्शन के आधार !!

[६]

आज हुए हैं सौम्य सभी ग्रह,
शान्त हुए मन के संताप !
विघ्न-जाल नश गये अचानक,
तेरे दर्शन के सुप्रताप !!

[७]

आज महाबन्धन कर्मों का—
बन्द हुआ, दुख का दातार !
सौख्य-समागम मिला जिनेश्वर !
तव दर्शन से अपरम्पार !!

[८]

आज हुआ है ज्ञान-भानु का,
उदय देह-मन्दिर में सार।
तव दर्शन से हे जिनेन्द्रवर !
मिथ्या तम का नाशनहार !!

[९]

आज हुआ हूं पुण्यवान् मैं,
दूर हुए सब पापाचार।
मान्य बना हूं जग में स्वामिन् !
तेरा दर्शन पा अविकार !!

[१०]

आज हुई जिन - दर्शन - महिमा,
अवगत मुझ को हे भगवान् !
सत्पथ साफ़ दिखाई पड़ता,
खड़ा सामने है कल्याण !!

‡ 'अद्याष्टक' स्तोत्र का भावानुवाद

तपोभूमि

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]
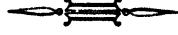
आग के लिए ईंधन और व्यसन के लिए पैसा, ज्यादह होने पर भी ज्यादह नहीं। इसलिए कि इन दोनोंके पास 'तृप्ति' नहीं होती! इनके पास होती है वैसी भूख, जो खाते-खाते और भी ज़ोर पकड़ती है!

मथुराके प्रसिद्ध धनकुबेर—भानु जब वैराग्यको प्राप्त हुए, तब अपने पीछे पुत्रोंके लिए एक बड़ी रक़म छोड़ गए। लोगोंने अन्दाज़ लगाया—बारह करोड़! बारह करोड़की पूंजी एक बड़ी चीज़ है। लेकिन व्यसन ने साबित कर दिखाया कि उसकी नज़रों में बारह करोड़की रक़मका उतना ही महत्त्व है, जितना हमारे-आपके लिए बारह रुपये का। उसे बारह अरब की सम्पत्ति भी 'तृप्ति' दे सकेगी, यह निश्चय नहीं कहा जा सकता!

आखिर वही हुआ! घरमें मुट्ठी-भर अन्न और जेबमें फूटी-कौड़ी भी जब नहीं रही तब सातों सहोदरोंने चोरी करना विचारा। व्यसनकी कालोंचने मन जो काले कर दिए थे, इससे अच्छा, सुन्दर व्यवसाय और निगाहमें भर ही कौन सकता था? बे-जमाका रोज़गार जो ठहरा, ललचा गया मन! जोखिम थी ज़रूर; पर, बड़ी रक़मकी प्राप्तिका आकर्षण जो साथमें नत्थी था—उसके! और पुण्य-पाप की कमज़ोरियोंसे तो मन पहले ही जुदा होचुका था!

भानु सेठके वैराग्य लाभ, या गृहत्यागका कारण भी यही था! उन्हें किसी चतुर, अनुभवी ज्योतिषीने बतला दिया था कि तुम्हारे सातों पुत्र व्यसनी होंगे, फिर परिश्रमोपार्जित अतुल सम्पत्ति खोकर, चोरी करनेमें चित्त देंगे!'

उन्हें यह सब, कब बर्दाश्त हो सकता था, कि उनके पुत्र दुराचारी, चोर और नंगे-भूखे कहाकर उन्हीं लोगोंके सामने आएँ, जो आज आज्ञाके इन्तज़ारमें हाथ बाँधे खड़े रहते, या नज़रमें नज़र मिलाकर उनसे बात नहीं कर सकते!

प्रारम्भमें बच्चोंके सुधारका प्रयत्न किया! प्रयत्न में डाट-फटकार, मार-पीट, प्यार-दुलार और लोभ-लालच सब कुछ इस्तैमाल किया! लेकिन सफलताके नामपर इतना भी न हो सका—जितनी कि उबद पर सफेदी! आखिर हारकर, आत्म-कल्याणकी ओर उन्हें झुकना पड़ा। मानसिक पीड़ाने मन जो पका दिया था!

बड़ेका नाम था—सुभानु। और सबसे छोटेका—सूरसेन। विवाह सातोंके होचुके थे।···

कुछ दिन खूब चैनकी गुज़री! रमीली-तबियत, हाथमें लाख, दो-लाख नहीं, पूरे बारह करोड़की सम्पत्ति! और उसपर खर्चने-खानेकी पूर्ण-स्वतंत्रता! पिताका नुकीला-अंकुश भी सिरपर नहीं रहा था!

और फिर वही हुआ, जो ज्योतिष-शास्त्रने पहले ही कह रक्खा था—यानी—सब चोर।

× × ×

[२]

उज्जैनके जंगलमें पहुँचकर सबने विचारा—

'क्या करना चाहिए ?' देर तक शकुन-अपशकुन आदि आवश्यकीय मसलों पर विचार होता रहा। फिर जो बात निर्णयको पा सकी वह यह कि—छह जने धनकी प्राप्तिके लिए नगर-प्रवेश करें और एक यहीं—जंगलमें ही—लौटने तक प्रतीक्षा करे! परदेश का मामला, क्या जाने, क्यामें क्या हो? हम सब यहीं विपत्तिके मुँहमें फँस जाँय, और घर तक खबर भी न पहुँचे! वे निरीह सात प्राणी अनाथ होकर, दाने दानेको तरसें; ऐसा मौक़ा ही क्यों दिया जाए?

और तब बड़ोंने आज्ञा दी—सूरसेनको, कि—'तुम यहीं रहो!' छोटेका खयाल कर, या उसको अपने कामके अधिक उपयुक्त या अनुभवी न समझ कर, पता नहीं! यों, वह भी यथासाध्य इस भया-च्छादित-धन्धेमें सहयोग देता रहा है! पर, उतनेसे उसके अग्रज सन्तुष्ट हुए या नहीं, यह अबतक वह नहीं जान पाया है! कोई अवसर भी यह सोचनेका नहीं मिला है—उसे!

सुभानुके नेतृत्वमें वह पाँच व्यक्तियोंका जत्था दबे पाँव, बन्द मुँह और जागती या सतर्क-दृष्टिको लिए—नगरकी ओर बढ़ा! दूसरेके धनको 'अपना' बना लेनेके लिए! व्यसनकी 'भूख' को 'तृप्ति' का स्वाद चखानेके लिए या उस महापापकी स्याहीमें डूबनेके लिए, जो अक्सर अन्धेरी रातमें आत्माकी उज्ज्वलताको हनन कर देती है।

सूरसेन उसी निर्जन, भयावने जंगलमें बैठ रहता है—सहोदरोंके आदेशमें बद्ध।

सजग, किन्तु मौन !!!

× × ×

[२]

उज्जैनके महाराज—वृषभध्वज, रानी—कमला! और पुत्रीका नाम था—मंगीकुमारी! मंगी—राजपुत्री थी, दर्प तेज ओज और अधिकार-बल सब-कुछ उसे मिला था! अगर कुछ नहीं मिला था, तो राजपुत्रको 'स्वामी' कहनेका सौभाग्य। उसकी शादी साम्राज्यके एक महारथीके साथ हुई थी। नाम था उसका 'वज्रमुष्टि'।

वज्रमुष्टि—योद्धा था, वीर था, महान् था, लेकिन 'राजकुमार' नहीं था। किसी राज्यका उत्तराधिकार उसके लिए खाली नहीं था। शारीरिक सौन्दर्यमें अगर वह राजपुत्र था, तो आर्थिक-दृष्टिकोण उसका प्रबल शत्रु!

मंगी के शरीर में था—राज-रक्त! और वज्रमुष्टि की माँ के बदन में गुलामी का खून! एक ओर उत्थान था, दूसरी ओर पतन, एक ओर तेज था, दूसरी ओर करुणा, दीनता।

बहू और सासुमें मेल खाता तो कैसे? यह सही है कि सासु का दर्जा वैसा ही है, जैसा कि बेटे की तुलनामें पिताका, या शिष्यके मुक़ाबिलेमें गुरुका। लेकिन—कब...? तभी न, जब बेटा या शिष्य उसे महसूस करे! और महसूस कोई करता है तब, जब उसे 'बड़ा' माननेमें उसे लज्जा नहीं, सुख मिले या मिले—गौरवमय आनन्द।

पर, मंगी एक क्षणको भी यह आनन्द उपभोग न कर सकी! किसी तरह भी वह यह न सोच सकी कि सिर्फ़ 'बहू' बन जाने-भरसे वह छोटी बन गई राज-पुत्री जो ठहरी।

सासूके साथ उसका व्यवहार वैसा ही रहा, जैसा कि किसी भी बूढ़े-नौकर, बूढ़ी-दासीके साथ सम्भव हो सकता है!

था तो वज्रमुष्टिके साथ भी कुछ कड़ा बर्ताव!

लेकिन ऐसा नहीं, कि ज्यादह कड़ुवा बन सकता! क्यों कि वह पुरुष था! पुरुष, सदासे ही नारीका 'प्रभु' रहा है! और वह रही है हमेशा—गुलाम! उसकी मिहरबानीकी मुहताज! साथ ही, पुरुषका मन सदासे नारीके लिए नरम रहा है! वह उसकी डाट डपट कड़ी-नज़र और चुभती बातोंको भी सुन-कर हँसते-हँसते पचा जानेका आदी रहा है! नारीके आकर्षणने बाँध जो रक्खा है—उसे, और उसकी सारी उग्र शक्तियोंको! तिसपर वज्रमुष्टिको तो मंगीसे था प्रेम! उसीके शब्दोंमें—ऐसा कि 'बिना उसके चैन नहीं!' अलावः प्रेमके, गौरव भी कम नहीं था उसे इसे इस बातका, कि उसकी स्त्री महाराज वृषभ-ध्वजकी प्यारी पुत्री और एक उच्च-घरानेकी राज-कुमारी है! वह उसकी प्रसन्नताको अपना अहोभाग्य समझता! उसी तरह—जिस तरह एक दरिद्र मूल्य-वान् वस्तुको पा लेने पर उसे अपनेसे अधिक हिफ़ाजत और सँभालके साथ रखता है।

पर, सासूके सामने ऐसी कोई बात नहीं थी! वह बहूकी उद्दण्डता पर नाखुश थी। और असन्तुष्ट थी इस पर कि वह उसे कुछ समझती नहीं। जब कि उसका फर्ज उसको पूजनेका, आदर करनेका है! भीतर ही भीतर उसके दिन-रात लंका-दहन होता रहता।

मनमें कसक, पीड़ा लिए, वह इस कष्टसे मुक्ति पानेके उपायमें लगी रहती! पर, करे क्या…?

× × × ×

उस दिन 'उपाय' सासूके सामने आगया, सफलता या कामयाबीका जामा पहिनकर! बड़ी खुश हुई वह!

मिठास और दीनता-भरे स्वरमें बोली—'ला तो! इस घड़ेमें फूल और गजरे रक्खे हैं—लेकर पूजासे ही निवृत्ति हो लूँ तब तक।'

मिठास और दीनता! यही दो-बातें तो मंगी चाहा करती थी। और सासु इन दोनोंसे हमेशा जुदा रह कर, स्वामित्व दिखानेकी आदी थी। आज जो यह परिवर्तन देखा तो मंगी—कामके लिए 'न' न कर सकी।

गजरा निकालनेके लिए—खुशी-खुशी हाथ घड़ेमें डाल दिया।…

मिनिट बीता होगा, कि मंगी पछाड़ खाकर ज़मीन पर गिरी। और निकलने लगा मुँहसे, बेतहाशा झाग।

सासुने देखा 'उसे कुछ न समझने वाली उद्दण्ड छोकरी, बेहोश पड़ी है!'

खुशीसे उसकी आँखें चमक उठी!

लपक कर उसने घड़ेका मुंह बन्द कर दिया। गुस्सेमें जला भुना साँप जो घड़ेमें कैद था। × ×

वज्रमुष्टि था—बाहर! महाराजके साथ गया हुआ था—कहीं!

दैवयोग!!!

उसी रात वह लौट आया! स्त्रीको न देख, उसने पूछा—'माँ! कहाँ है—वह?'

माँ अबतक रोनी-सूरत बनाए बैठी थी! सुनी जो पुत्रकी बात तो गले पर काबू न रख सकी।

एक बार खुल कर रोनेके बाद हिचकी लेते हुए कहने लगी—'उसे साँपने काट लिया था…!

'साँपने?'

'हाँ! आज हीकी तो बात है, सैकड़ों दवाएँ की, पर…।'

'फिर किया क्या?…'

'लोग उसे श्मशानमें लेगए—वहीं गाड़ कर अभी-अभी तो लौटे हैं। अचानक यह वज्रपात हुआ है—बेटा।'

पर, वज्रमुष्टि हो रहा था मंगीके प्रेममें पागल। दौड़ा उधर ही, जिधर मंगी थी, श्मशान था—बेतहाशा पागलकी तरह।

× × × ×

[४]

अपनेको छिपाए, अपराधीकी तरह चुप—सूरसेनने देखा—देखा मंगीको दफ़नाते हुए भी और और वज्रमुष्टि द्वारा उसके संज्ञा-शून्य-शरीरको बाहर निकालते हुए भी। उसका हृदय रो रहा था, मुंह पर हवाइयाँ उड़ रही रहीं थीं, हाथ काँप रहे थे।

कह रहा था, दिलको हिला देने वाली आवाज़ मे—'मैं तेरे बिना जिन्दा न रह सकूंगा—मंगी! मुझे छोड़ कर कहाँ जा रही है? मैं तुझे अकेला न जाने दूंगा, न जाने दूंगा, हरगिज़ न जाने दूंगा।'

सूरसेनका हृदय काँप उठा।—कितना अगाध प्रेम है उसे स्त्रीसे?...काश! स्त्री अगर जीवित हो सकती? देख सकती उसके वियोगमें पतिकी कैसी दयनीय-दशा हो रही है। कितनी अटूट-मुहब्बत है उसे, जो खुद मरने तकको तैयार हो बैठा है।'

पर, मंगी अडोल।

मौन॥

मृतप्राय॥।

वज्रमुष्टि देर तक रोता रहा, अपनी जाँघ पर मंगीका सिर रक्खे हुए—क़रीब-क़रीब निरुपाय।

अचानक उसकी नज़र जो सामने गई तो भीरू-मनमें कुछ-कुछ आशा संचरित हुई।—

तपोधन, ऋद्धिधारी, परम-दिगम्बर-साधु, ध्यान-स्थ विराजे हुए हैं।

वज्रमुष्टिके कम्पित-शरीरमें बल-संचार हुआ—अशरण-शरण जो सहायतार्थ दृष्टिगत हो चुके थे। साधु-चमत्कारकी अनेक गाथाएँ मनमें जागरित हो उठी। और आशाने दिया उन्हें प्रोत्साहन। भक्ति और श्रद्धासे भीगा हुआ वज्रमुष्टि उठा। मंगीको यत्न-पूर्वक गोदमें ले, चला योगीश्वरकी चरण-धूलिमें लिटानेके लिए।

महानींदमें परिणत हो जानेके लिए लालायित मंगीका मूर्छित-शरीर वज्रमुष्टिने गुरु चरणकी शरण में डाल दिया। और कहन लगा, दीन और दुखे हुए स्वरमें—'भगवन्! तुम्हारी ही शरण है। मेरी प्राण-प्रियाको जीवन-दान देकर मुझे सुखी बनाओ। मेरी व्यथा हरण करो। मैं सहस्र-दल-कमल समर्पण कर, अपनी भक्ति, श्रद्धा और खुशी प्रकट करनेका अवसर पाकर अपनेको धन्य समझूँगा। प्रभो! प्रार्थनाको व्यर्थ न जाने दो। नहीं, मैं मंगीके बिना जीवित न रह सकूँगा। वह मेरी गुणवती, स्नेहशीला, प्राणोपम प्राणेश्वरी है।'

सूरसेन एक टक देखता-भर रहा—चुप। उसके वियोगने मन जानें कैसा कर दिया है।'...

× × × ×

मंगीने करवट ली, थोड़ी कराही और फिर उठ बैठी। जैसे उसे कुछ हुआ ही न था, सोकर उठी हो। तपोनिधिकी विषापहरण-ऋद्धिके प्रभावने निर्विष कर उठ-खड़े होनेका मौक़ा दिया। और दी, वज्रमुष्टिको मुंह-मांगी मुराद! सीमान्त-खुशी!! और आनन्द-बिभोर कर देने वाली—प्रणय-भिक्षा!!!

दोनों एकमेक। प्रेमालिंगन।
जैसे जीवन और मृत्युका संगम हो।

वज्रमुष्टिके वाष्पाकुलित कण्ठसे निकला—'मंगी-कुमारी।...'

उसने कटीली-आंखोंसे ताकते हुए स्नेह-आर्द्रित स्वरमें कहा—'तुम आगए?'

× × × ×

[५]

मंगीकी चैतन्यताने सूरसेनको भी कम आनन्दित नहीं किया। यही तो उसकी भी साध थी, कि मंगी पति-प्रेमको समझ सके।...

जंगलकी हरी-हरी घासपर मंगी बैठी पतिकी प्रतीक्षा कर रही थी। वज्रमुष्टि गया था—साधु-अर्चनके लिए, सहस्र दल-कमल लेने।

मंगी अकेली थी।

सहसा सूरसेनके मनमें आया—'वज्रमुष्टिका प्रेम तो देखा। क्या मंगी भी उसे इतना ही प्यार करती है? क्या यह वैसी ही है, जैसा कि वज्रमुष्टि समझे हुए है?'

कौतुकने उसके मनमें जिज्ञासा भर दी। वह बढ़ा, अपने छिपे स्थानसे शंका-समाधानके लिए। और जा खड़ा हुआ, अलक्षित-भावसे मंगीके समीप।...

मंगीने देखा, और देखते-देखते जैसे वह समा गया उसके हृदयमें! वह चकित, चंचल और उद्विग्न हो उठी। उठती उम्र, गोरा-लुभावक-शरीर, और सुन्दर वेष भूषा। सोचा—'हो न हो, राजकुमार है कोई?'

निर्निमेष देखती रही, कुछ देर। मंत्रमुग्धकी तरह।...

सूरसेन अवाक्।

मंगीके भीतर जैसे पीड़ा जाग पड़ी वह दीन-भिखारिनकी तरह देखती रही सूरसेनकी ओर! पलक मारनेकी सुधि उसे नहीं थी। हृदय, कामके नुकीले-बाणोंसे आहत हो चुका था।

वह जैसे फिर बेहोश होने जारही थी।

और सूरसेन सोच रहा था—'ओफ़! वासना—आग?...छलमय नारी-हृदय।'

कि लाजकी हत्याकर, निर्लज्ज—मंगी पैरों पर गिर पड़ी, और कहने लगी—'प्यारे! मुझे प्यार करो। मैं तुम्हारे प्रेममें पागल हुई जा रही हूं। मैं तुम्हारे बिना न बचूँगी, तुम्हारे रूपने मुझे बेहोश कर दिया है।'

सूरसेन अडिग।

युवक-तेजसे संयुक्त!

सोचने लगा—'जब परीक्षा ली है तो पूरी ही होनी चाहिए।'

फिर बोला—'मैं भी तुम्हारे ऊपर मोहित हूँ—सुन्दरि! लेकिन मजबूर हूँ, कि मैं तुम्हें प्रेम नहीं कर सकता।'

'क्यों???'—मंगीने पूछा।

'इसलिए कि तुम्हारा पति बलवान् है, मैं उसे अपने लिए खतरा समझता हूं, डरता हूं उससे।'

मंगी हँसी। फिर बोली—'उसकी ओरसे तुम बेफिक्र रहो। वह तभी तक जिन्दा है, जब तक मैं उधर देखती नहीं।'

सूरसेन हट गया।

भक्ति और हर्षसे पूर्ण वज्रमुष्टि पत्र-पुष्प और सहस्र-दल-कमल लेकर आ पहुंचा था।

× × ×

मंगीने पतिके साथ-साथ गुरुपूजन किया, वंदना की, स्तवन पढ़ा। और जब वह पुष्पाँजलि क्षेपण

करनेके बाद गुरुचरणोंमें झुका, कि मंगीने समीप रक्खी तलवार उठा कर चाहा कि गर्दन पर घातक प्रहार करे। कि किसीने पीछेसे कसकर कलाई पकड़ ली। तलवार ऊँची की ऊँची रह गई!

पलट कर देखा तो—सूरसेन!

तलवार उसने छीन कर एक ओर रखदी। और चल दिया, मंगीकी ओर धिक्कारकी नज़रोंसे देखता हुआ!

निर्विकार-साधु ध्यानस्थ थे।

वज्रमुष्टिने बार बार सिर झुकाया, प्रणाम किया और तब, मंगीको ले, समोद घर लौट गया।

× × × ×

[६]

छहों-अनुज सम्पत्ति लेकर वापिस आये, तो सूरसेनको उन्होंने गंभीर, सुस्त और उदास पाया गया। पूछा, तो उसने मंगीकी देखी हुई कथाको दोहरा दिया!

सुभानुको छोड़ कर, सब पर गहरा प्रभाव पड़ा। सोचने लगे सब—'धिक्कार है दुनियाके चरित्रको! जिस स्त्री-पुत्रके लिए हम रात दिन पाप करते हैं, हिंसा करते हैं, चोरी करते हैं, वह कोई अपना नहीं। सब अपने स्वार्थ और वासनाके दास हैं!'

सुभानुने बातको दफ़नानेके इरादेसे कहा—'छोड़ो झगड़ेको। बाँट होने दो, काफ़ी रकम हाथ लगी है आज तो?'

छहोंने मन्शा प्रकट की—

'हमें अब कुछ नहीं चाहिए। न धन-दौलत, न स्वार्थी-संसार! आत्म-आराधनके लिए तपोभूमिमें प्रवेश करेंगे, ताकि विश्व-बन्धनसे मुक्ति मिल सके।'

छोटोंको, विरागकी ओर बढ़ते हुए भी सुभानुके मनमें आत्म-जागृति न हुई। धन जो सामने पड़ा था!

वह सब सम्पत्ति ले घर चला।

× × × ×

घर आया, तो यहां भी उसे वैसा ही दृश्य देखना पड़ा। सब स्त्रियोंने अपने-अपने पतिकी कुशल पूछी। उत्तरमें सुभानुने सच ही कहा। झूठ बोलनेकी युक्ति उसे सूझी ही नहीं!

कहने लगीं—'जब 'वे' ही नहीं रहे तो हमें ही घरमें रहना कहाँ शोभा देता है?'

—और सब, सातों, स्त्रियाँ आर्यिकाजीके निकट दीक्षित होने चलीं!

रह गया अकेला सुभानु!

चार छह दिन बीते। तबियत न लगी! मजबूरन उसने भी विराग स्वीकार किया।

× × × ×

[७]

बहुत दिन बाद, एक दिन—

घूमते-फिरते सातों साधु और सातों अर्यिकाएँ उज्जैन आ पधारे!

दर्शकोंके ठठ लग गए! वज्रमुष्टि भी आया, और मंगी भी!

वज्रमुष्टि बैठा, साधु-सभामें। और मंगी अर्यिकाओंके संघमें।

दैवयोग!!!

दोनोंने एक ही समयमें, एक ही प्रश्न किया—'इतनी-सी उम्रमें ही आप लोगोंने क्यों वैराग्य लिया?'

उत्तरमें मंगीकी कथा कह कर साधुवर्गने समाधान किया।

वज्रमुष्टि दंग रह गया!···'क्या मंगीका प्रेम दम्भ था? वह हत्या कर रही थी मेरी? वाहरे संसार! तभी साधु-जन इसे ठुकराकर वैराग्यकी ओर बढ़ते हैं!'···

और उधर—मंगी लज्जाके मारे मर मिटी! चाहती—धरती फट जाय, और वह उसमें समा सके!

अनुतापसे उसका मुँह बुझे-कोयलेकी तरह हो गया! सोचने लगी—'जो हुआ है, वह नारी-धर्मके विरुद्ध हुआ है। उसका प्रतीकार सिर्फ वैराग्य-लाभसे ही हो सकता है—अब!'

× × × ×

और तब, उपस्थित जनताने देखा—'मंगी और वज्रमुष्टि दोनों वस्त्राभरणोंका त्याग कर, साधुचरण के समक्ष तपोभूमिमें प्रवेश कर रहे हैं—प्रसन्न चित्त!

महाकवि पुष्पदन्त

[लेखक—श्री पं० नाथूराम प्रेमी]

[गत किरणसे आगे]

८—समय-विचार

महापुराणकी उत्थानिकामें कविने जिन सब ग्रंथों और ग्रन्थकर्ताओंका उल्लेख किया है,[1] उनमें सबसे पिछले ग्रन्थ धवल और जयधवल हैं [2]। पाठक जानते हैं कि वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन ने अपने गुरुकी अधूरी छोड़ी हुई टीका—जयधवला टीकाको श० सं० ७५९ में राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्ष (प्रथम) के समयमें समाप्त की थी। अतएव यह निश्चित है कि पुष्पदन्त उक्त संवत्के बाद ही किसी समय हुए हैं, पहले नहीं।

रुद्रटका समय श्रीयुत् काणे और दे के अनुसार ई० सन् ८००—८५० के अर्थात् श० सं० ७२२ और ७७२ के बीच है। इससे भी लगभग उपर्युक्त परिणाम ही निकलता है।

अभी हाल ही डा० ए० एन० उपाध्येको अपभ्रंश भाषाका 'धम्मपरिक्खा'[3] नामका ग्रंथ मिला है जिस के कर्त्ता बुध (पंडित) हरिषेण हैं, जो धक्कडवंशीय गोवर्द्धनके पुत्र और सिद्धसेनके शिष्य थे। वे मेवाड़ देशके चित्तौड़के रहनेवाले थे और उसे छोड़कर कार्य-वश अचलपुर चले गये थे[4]। वहांपर उन्होंने वि०सं०

१ अकलंक, कपिल (सांख्यकार), कणचर या कणाद (वैशेषिकदर्शनकर्त्ता), द्विज (वेदपाठक), सुगत (बुद्ध), पुरंदर (चार्वाक), दन्तिल, विशाख (संगीतशास्त्रकर्ता), भरत (नाट्यशास्त्रकार), पतंजलि, भारवि, व्यास, कोहल (कुष्माण्ड कवि), चतुर्मुख, स्वयंभु, श्रीहर्ष, द्रोण, बाण, धवल-जयधवल-सिद्धान्त, रुद्रट, और यशश्चिन्ह, इतनोंका उल्लेख किया गया है। इनमेंसे अकलंक, चतुर्मुख और स्वयंभु जैन हैं। अकलंक जयधवलाकार जिनसेनसे पहले हुए हैं। चतुर्मुख और स्वयंभूका ठीक समय अभी तक निश्चित नहीं हुआ है परन्तु स्वयंभू अपने पउमचरियमें आचार्य (रविषेणका उल्लेख करते हैं जिन्होंने वि० सं० ७३३ में पद्मपुराण लिखा था)। इससे उनसे पीछेके हैं। उन्होंने चतुर्मुखका भी स्मरण किया है। स्वयंभू अपभ्रंश भाषाके ही महाकवि थे। इनके पउमचरिउ (पद्मचरित) और हरिवंशपुराण उपलब्ध हैं। उनका एक छन्दशास्त्र भी है, जिसके पहले तीन प्रकरण प्रो० वेलणकरने JBBRAS 1935 PP 18-58 में प्रकाशित किये हैं। 'पंचमिचरियं' नामका ग्रन्थ भी उनका बनाया हुआ है, जो अभी तक कहीं प्राप्त नहीं हुआ है। स्वयंभू यापनीयसंघके अनुयायी थे, ऐसा महापुराण-टिप्पणसे मालूम होता है।

२ णउबुज्झिउ आयमसद्दधामु, सिद्धंत धवलु जयधवलुणामु।

३ आचार्य अमितगतिकी संस्कृत 'धर्मपरीक्षा' इसके बाद बनी है। हरिषेणकी धर्मपरीक्षाके भी पहले जयराम नामक कविका गाथाबद्ध कोई ग्रन्थ था जिसके आधारसे उक्त धम्मपरिक्खा लिखी गई है—

जा जयरामें आसि विरइय गाहपबंधें।
साहमि धम्मपरिक्ख सा पद्धडिया बंधें॥

संस्कृत धर्मपरीक्षा इन दोमेंसे किसी एकका अनुवाद होना चाहिए।

४ इह मेवाडदेसे जणसंकुले, सिरि उजपुरणिग्गय धक्कडकुले।····
गोवद्धणु णामें उप्पण्णओ, जो सम्मत्तरयणसंपुण्णओ।
तहो गोवद्धणासु पियगुणवइ, जा जिणवर पयणिच्च वि पणवइ।
ताए जाणिउ हरिसेणणामसुओ, जो संजाउ विबुहकइविस्सुओ

१०४४ में अपना यह ग्रन्थ समाप्त किया था[१]। इस ग्रन्थके प्रारंभमें अपभ्रंशके चतुर्मुख, स्वयंभू और पुष्पदन्त इन तीन महाकवियोंका स्मरण किया गया है[२]। इससे सिद्ध है कि वि० सं० १०४४ या श० सं० ९०९ से पहले पुष्पदन्त एक महाकविके रूप में प्रसिद्ध होचुके थे। अर्थात् पुष्पदन्तका समय ७५९ और ९०९ के बीच होना चाहिए। न तो उनका समय श० सं० ७५९ के पहले जा सकता है और न ९०९ के बाद।

अब यह देखना चाहिए कि वे श० सं० ७५९ (वि० सं० ८९४) से कितने बाद हुए हैं।

कविने अपने ग्रन्थोंमें तुडिगु[३], शुभतुंग[४], वल्लभनरेन्द्र[५] और कण्हरायका उल्लेख किया है और इन सब नामों पर ग्रन्थोंकी प्रतियों और टिप्पणग्रन्थोंमें 'कृष्णराजः' टिप्पणी दी है। इसका अर्थ यह हुआ कि ये सभी नाम एक ही राजाके हैं। वल्लभराय या वल्लभनरेन्द्र राष्ट्रकूट राजाओंकी पदवी थी, इसलिए यह भी मालूम होगया कि कृष्णराय राष्ट्रकूटवंशके राजा थे।

राष्ट्रकूटोंकी राजधानी पहले मयूरखंडी (नासिक) में थी, पीछे अमोघ वर्ष (प्रथम) ने श० सं० ७३७ में उसे मान्यखेटमें प्रतिष्ठित की। पुष्पदन्तने कृष्णराजकी राजधानी भी मान्यखेट ही बतलाई है और कण्हराय को वहां का राजा बतलाया है जो कि कृष्णराजका प्राकृतरूप है—

सिरिकण्हरायकरयलणिहिय असिजलवाहिणि दुग्गयरि।
धवलहरसिहरिहयमेहउलि पविउल मण्णखेडणयरि॥

—नागकुमारचरित

अर्थात् कण्हरायकी हाथकी तलवाररूपी जलवाहिनी से जो दुर्गम है और जिसके धवलगृहोंके शिखर मेघावलीसे टकराते हैं, ऐसी बहुत बड़ी मान्यखेट नगरी है।

राष्ट्रकूटवंशमें कृष्ण नामके तीन राजा हुए हैं, एक तो वे जिनकी उपाधि शुभतुंग थी। परन्तु इनके समय तक मान्यखेट राजधानी ही नहीं थी, इसलिए पुष्पदन्तका मतलब इनसे नहीं हो सकता।

द्वितीय कृष्ण अमोघवर्ष (प्रथम) के उत्तराधिकारी थे, जिनके समयमें गुणभद्राचार्यने श० सं० ८२० में उत्तरपुराणकी समाप्ति की थी। और जिन्होंने श० सं० ८३३ तक राज्य किया है। परन्तु इनके साथ उन सब बातोंका मेल नहीं खाता जिनका पुष्पदन्तने उल्लेख किया है। इसलिए कृष्ण तृतीयको ही हम उनका समकालीन मान सकते हैं। क्योंकि—

१—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है चोलराजाका सिर कृष्णराजने कटवाया[६], इसके प्रमाण इतिहासमें मिलते हैं और चोल देशको जीत कर कृष्ण तृतीयने अपने अधिकारमें कर लिया था।

२—यह चोलनरेश परान्तक ही मालूम होता है

सिरिचिंत्तउडु चएवि अचलउरेहो, गउणियकज्जें जिणहरपउरहो।
तहिं छंदालंकारपसाहिइ, धम्मपरिक्ख एह ते साहिय।

१ विक्कमणिव परियत्तइ कालए, ववगए वरिस सहसचउतालए।

२ चउमुहु कव्वविरयणे सयंभुवि, पुप्फयंतु अण्णाणणिसंभुवि।
तिण्णवि जोग्गजेणतं सासइ, चउमुहमुहे थिय ताम सरासइ।
जो सयंभु सोदेउ पहाणउ, अहकह लोयालोय वियाणउ।
पुप्फयंतु णवि माणुसु वुच्चइ, जे सरसइए कयावि ण मुच्चइ।

३ भुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहिं अच्छइ 'तुडिगु' महाणुभाउ।
म० पु० १-३-३

४ सुहतुंगदेवकमकमलभसलु, णीसेसकलाविण्णाण कुसलु।
म० पु० १-५-२

५ वल्लभणरिंदघर महत्तरासु।

६ उव्वद्धजूडु भूभंगभीसु, तोडेप्पिणु चोलहो तणउ सीसु।

जिसने वीरचोलकी पदवी धारण की थी।

३—धारानरेश-द्वारा मान्यखेटके लूटे जानेका जो उल्लेख पुष्पदन्तने किया है[1], वह भी कृष्ण द्वितीयके साथ मेल नहीं खाता। यह घटना कृष्णराज तृतीय की मृत्युके बाद खोट्टिगदेवके समय की है और इस की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी होती है। धनपालने अपनी 'पाइयलच्छी (प्राकृतलक्ष्मी) नाममाला' में लिखा है—

विक्कमकालस्स गए अउणुत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि।
मालवणरिंदधाडीए लूडिए मण्णखेडम्मि ॥२७६॥

अर्थात् वि० सं० १०२९ मे जब मालवनरेन्द्रने मान्यखेटको लूटा, तब यह ग्रंथ रचा गया।

मान्यखेटको किस मालव-राजाने लूटा इसका पता परमार राजा उदयादित्यके समयके उदयपुर (ग्वालियर) के शिलालेखमें परमार राजाओंकी जो प्रशस्ति दी है उसके १२ वें पद्यमें लग जाता है—

श्रीहर्षदेव' इति खोट्टिगदेवलक्ष्मीं,
जग्राह यो युधि नगादसमप्रतापः।

अर्थात हर्षदेवने खोट्टिगदेवकी राजलक्ष्मीको युद्धमें छीन लिया।

ये हर्षदेव ही धारानरेश थे, जो सीयक (द्वितीय) या सिंहभट भी कहलाते थे और, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जिनपर कृष्णतृतीयने चढ़ाई की थी। खोट्टिगदेव कृष्णतृतीय के भाई और उत्तराधिकारी थे।

४—महापुराणकी रचना जिस सिद्धार्थ संवत्सर में शुरू की गई थी, उसी संवत्सरमें सोमदेवसूरिने अपना यशस्तिलक चम्पू समाप्त किया था और उस समय कृष्णतृतीयका पड़ाव मेलपाटीमें था। पुष्पदन्त ने भी अपने ग्रंथप्रारंभके समय कृष्णराजका मेलपाटी में रहनेका उल्लेख किया है। साथ ही इस प्रशस्तिमें उनको चोल आदि देशोंका जीतनेवाला भी लिखा है। ऐसी दशामें पुष्पदन्तका कृष्णतृतीयके समयमें होना निःसंशयरूपसे सिद्ध होजाता है। वह प्रशस्ति यह है—

"शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकतः ८८१ सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गत चैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरम-प्रभृतीन्महीपतीन्प्रसाध्य मेलपाटीप्रवर्द्धमानराज्यप्रभावे श्रीकृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगत पंचमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः — सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वाद्दिगराजस्य लक्ष्मीप्रवर्धमानवसुंधरायां गंगधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।"

अर्थात शक ८८१ सिद्धार्थसंवत्सरकी चैत्र-मदन त्रयोदशीके दिन जब श्रीकृष्णराजदेव पाण्ड्य-सिंहल, चोल, चेरम आदि राजाओंको जीतकर मेलपाटीमें अपने बढ़ते हुए राज्यका प्रभाव प्रकट कर रहे थे तब उनके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले महासामन्ताधिपति चालुक्यवंशी अरिकेसरीके पुत्र वाद्दिगराज की गंगधारामें यह काव्य निर्माण किया गया।

पहले उक्त मेलपाटीमें ही पुष्पदन्त पहुँचे थे, सिद्धार्थ संवत्सरमें ही उन्होंने अपना महापुराण प्रारंभ किया था और यह सिद्धार्थ श० सं० ८८१ ही था। मेलपाटी या मेलाडिमें श० ८८१ में कृष्णराज थे, इसके और भी प्रमाण मिले हैं जो ऊपर दिये जा चुके हैं।

१ दीनानाथधनं सदाबहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं,
मान्याखेटपुरं पुरंदरपुरीलीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियं,
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः॥

२ एपिग्राफिआ इंडिका जिल्द १ पृ० २२६

इन सब प्रमाणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि श० सं० ८८१ में पुष्पदन्त मेलपाटीमें भरत महामात्यसे मिले और उनके अतिथि हुए। इसी साल उन्होंने महापराण शुरू करके उसे श० सं० ८८७ में समाप्त किया। इसके बाद उन्होंने नागकुमार चरित और यशोधर चरित बनाये। यशोधर चरित की समाप्ति उस समय हुई जब मान्यखेट लूटा जा चुका था। यह श० सं० ८९४ के लगभगकी घटना है। इस तरह वे ८८१ से लेकर कमसे कम ८९४ तक लगभग तेरह वर्ष मान्यखेटमें महामात्य भरत और नन्नके सम्मानित अतिथि होकर रहे, यह निश्चित है। उसके बाद वे और कब तक जीवित रहे, यह नहीं कहा जा सकता।

बुधहरिषेणकी धर्मपरीक्षा मान्यखेटकी लूटके कोई पन्द्रह वर्ष बादकी रचना है। इतने थोड़े ही समयमें पुष्पदन्तकी प्रतिभाकी इतनी प्रसिद्धि हो चुकी थी। हरिषेण कहते हैं, पुष्पदन्त मनुष्य थोड़े ही हैं, उन्हें सरस्वती देवी कभी नहीं छोड़ती।

एक शंका

महापुराणकी ५० वीं सन्धिके प्रारंभमें जो 'दीनानाथधनं' आदि संस्कृत पद्य दिया है और पृ० ४५७ के फुटनोटमें उद्धृत किया जा चुका है, और जिसमें मान्यखेटके नष्ट होनेका संकेत है, वह श०सं० ८९४ के बादका है और महापुराण ८८७ में ही समाप्त हो चुका था। तब शंका होती है कि वह उसमें कैसे आया?

इसका समाधान यह है कि उक्त पद्य ग्रन्थका अविच्छेद्य अंग नहीं है। इस तरहके अनेक पद्य महापुराणकी भिन्न भिन्न सन्धियोंके प्रारंभमें दिये गये हैं। ये सभी मुक्तक हैं, भिन्न भिन्न समयमें रचे जाकर पीछेसे जोड़े गये हैं और अधिकांश महामात्य भरतकी प्रशंसाके हैं। ग्रन्थरचनाक्रमसे जिस तिथिको जो संधि प्रारंभकी गई, उसी तिथिको उसमें दिया हुआ पद्य निर्मित नहीं हुआ है। यही कारण है कि सभी प्रतियोंमें ये पद्य एक ही स्थान पर नहीं मिलते हैं। एक पद्य एक प्रतिमें जिस स्थान पर है, दूसरी प्रतिमें उस स्थान पर न होकर किसी और स्थान पर है। किसी किसी प्रतिमें उक्त पद्य न्यूनाधिक भी हैं। अभी बम्बईके सरस्वती-भवनकी प्रतिमें हमें एक पूरा पद्य और एक अधूरा पद्य अधिक भी मिला है* जो अन्यप्रतियोंमें नहीं देखा गया।

यशोधरचरितकी दूसरी तीसरी और चौथी सन्धियोंमें भी इसी तरहके तीन संस्कृत पद्य नन्नकी प्रशंसाके हैं जो अनेक प्रतियोंमें हैं ही नहीं। इससे यही अनुमान करना पड़ता है कि ये सभी या अधिकांश पद्य भिन्न भिन्न समयोंमें रचे गये हैं और प्रतिलिपियाँ कराते समय पीछेसे जोड़े गये हैं। ग़रज़ यह कि 'दीनानाथधनं' आदि पद्य मान्यखेटकी लूटके बाद लिखा गया और उसके बाद जो प्रतियाँ लिखी गईं, उनमें जोड़ा गया निश्चय ही यह पद्य उसके पहले जो प्रतियाँ लिखी जा चुकी होंगी उनमें न होगा।

इस प्रकारकी एक प्रति महापुराणके सम्पादक डा० पी० एल० वैद्यको नांदणी (कोल्हापुर) के श्री तात्या साहब पाटीलसे मिली है जिसमें उक्त पद्य नहीं है×। ८९४ के पहलेकी लिखी हुई इस तरहकी

---

* हरति मनसो मोहं द्रोहं महाप्रियजंतुजं।
भवतु भविनां दंभारंभः प्रशांतिकृतो।
जिनवरकथा ग्रन्थप्रस्नांगमितस्त्वया।
कथय कमदं तोयस्नीते गुणान् भरतप्रभो।
—४२ वीं सन्धिके बाद

आकल्पं भरतेश्वरस्तु जयताग्रेनादरात्कारिता।
श्रेष्ठायं भुवि मुक्तये जिनकथा तत्त्वामृतस्यन्दिनी।
पहला पद्य बहुत ही अशुद्ध है। —४३ वीं संधिके बाद

× देखो महापुराण प्र० खं०, डा० पी० एल० वैद्य-लिखित भूमिका पृ० १७

और भी प्रतियोंकी प्रतिलिपियाँ मिलनेकी संभावना है।

एक और शंका

'महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण' शीर्षक लेख मैंने 'भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट' पूना की वि० सं० १६३० की लिखी हुई जिस प्रतिके आधारसे लिखा था, उसमें प्रशस्तिकी तीन पंक्तियाँ इस रूपमें हैं—

पुप्फयंतकइणा धुयपंकें, जइ अहिमाणमेरुणामंकें।
कयउ कव्वु भत्तिए परमत्थें, छसयछडोत्तर कयसामत्थें॥
कोहण संवच्छरे आसाढए दहमए दियहे चंदरुइरूढए।

इसके 'छसयछडोत्तर कयसामत्थें' पदका अर्थ उस समय यह किया गया था कि यह ग्रंथ शकसंवत् ६०६ में समाप्त हुआ [१]। परन्तु पीछे जब गहराईसे विचार किया गया तब पता लगा कि ६०६ संवत् का नाम क्रोधन हो ही नहीं सकता चाहे वह संवत् हो, विक्रम संवत् हो, गुप्त या कलचुरि संवत् हो। और इसलिए तब उक्त पाठके सही होनेमें सन्देह होने लगा। 'छसयछडोत्तर' तो खैर ठीक, पर 'कयसामत्थें' का अर्थ दुरूह बन गया। तृतीयान्त पद होनेके कारण उसे कविका विशेषण बनानेके सिवाय और कोई चारा नहीं था। यदि बिन्दी निकालकर उसे सप्तमी समझ लिया जाय, तो भी 'कृतसामर्थ्ये' का कोई अर्थ नहीं बैठता। अतएव शुद्ध पाठकी खोज की जाने लगी।

सबसे पहले प्रो० हीरालालजी जैनने अपने 'महाकवि पुष्पदन्तके समयपर विचार' लेख[२]में बतलाया कि कारंजाकी प्रतिमें उक्त पाठ इस तरह दिया हुआ है—

पुप्फयंत कइणा धुयपंकें, जइ अहिमाणमेरुणामंकें।
कयउ कव्वु भत्तिए परमत्थें, जिणपयपंकयमउलियहत्थें।
कोहणसंवच्छरे आसाढए, दहमइ दिवहे चंदरुइरूढए॥

अर्थात्, क्रोधन संवत्सरकी असाढ़ सुदी १० को जिन भगवानके चरण कमलोंके प्रति हाथ जोड़े हुए अभिमानमेरु, धूतपंक (धुल गये हैं पाप जिसके), और परमार्थी पुष्पदन्त कविने भक्तिपूर्वक यह काव्य बनाया।

यहां बम्बईके सरस्वतीभवनमें जो प्रति (१९२ क) है, उसमें भी यही पाठ है और हमारा विश्वास है कि अन्य प्रतियोंमें भी यही पाठ मिलेगा।

ऐसा मालूम होता है कि पूने वाली प्रतिके अर्द्ध दग्ध लेखकको उक्त स्थानमें मिती लिखी देखकर संवत-संख्या देनेकी जरूरत मालूम हुई होगी और उसकी पूर्ति उसने अपनी विलक्षण बुद्धिसे स्वयं कर डाली होगी।

यहाँ यह बात नोट करने लायक है कि कविने सिद्धार्थ संवत्सरमें अपना ग्रंथ प्रारंभ किया और क्रोधन संवत्सरमें समाप्त। न वहाँ शक संवत् दिया और न यहाँ। इसके सिवाय पुष्पदन्तके पूर्ववर्ती स्वयंभू ने भी अपने ग्रंथोंमें सिर्फ मिती ही दी है, संवत् नहीं दिया है।

तीसरी शंका

कविके समयके सम्बन्धमें एक शंका 'जसहर चरिउ' की उस प्रशस्तिके कारण खड़ी की गई जिस में ग्रन्थ-रचनाका समय वि० सं० १३६५ बतलाया गया है। वह प्रशस्तिपाठ यह है—

किउ उवरोहें जस्स कइयइ एउ भवंतर।
तहो भव्वहु णाम पायडमि पयडउ धर॥ २९॥
चिरु पट्टणि छंगे साहु साहु,
तहो सुउ खेला गुणवंतु साहु।
तहो तणुरुह वीसलुणामसाहु,
वीरोसाहुणि सिहि सुलहु णाहु॥
सोयार सुयणगुणगणसणाहु,
एक्कइया चिंतइ चित्ति लाहु।
हो पंडिय ठक्कुर कण्हपुत्त,
उवयारियवल्लहपरममित्त॥
कइपुप्फयंत — जसहरचरित्तु,
किउ सुट्ठु सहलक्खण विचित्तु।

१ स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी ग्रन्थसूचीमें भी पुष्पदन्तका समय ६०६ दिया हुआ है।

२ जैनसाहित्य संशोधक भाग २ अंक ३-४।

पेमहिं तहिं राउलु कउलु अज्जु(?),
जसहर विवाहु तह जणिय चोज्जु ।
सयलहं भवभमणभवंतराइं ,
महु वंछिउ करहि णिरंतराइं ॥
ता साहुसमीहिउ कियउ सव्वु ,
राउलु विवाहु भवभमण भव्वु ।
वक्खाणिउ पुरउ हवेइ जाम,
संतुट्ठउ वीसलु साहु ताम ।
जोइणिपुरवरि णिवसंतु सुट्ठु ,
साहुहि घरे सुत्थियणहु धुट्ठु ॥
पणसट्ठिसहिय तेरहसयाइं ,
णिवविक्कम संवच्छरगयाइं ।
वइसाहपहिल्लइ पक्खि बीय,
रविवारि समित्थउ मिस्स तीय ॥
चिरु वत्थुबंध कइ कियउ जंजि,
पद्धडियबंध महं रइउ तंजि ।
गंधव्वें कण्हड णंदणेण ,
आयहं भवाइं कियथिरमणेण ।
महु दोसु ण दिज्जइ पुव्वि कइउ,
कइवच्छराइं तं सुत्तु लइउ ॥

इसका भावार्थ यह है—

"जिसके उपरोध या आग्रहसे कविपतिने यह पूर्वभवोंका वर्णन किया (अब मैं) उस भव्यका नाम प्रकट करता हूँ। पहले पट्टण[1] या पानीपतमें छुंगे साहु नामके एक साहु थे। उनके खेला साहु नामके गुणी पुत्र हुए। फिर खेला साहु के बीसलसाहु हुए जिनकी पत्नीका नाम वीरो था। वे गुणी श्रोता थे। एक दिन उन्होंने अपने चित्तमें सोचा (और कहा) कि हे कण्ह के पुत्र पंडित ठक्कुर (गन्धर्व) वल्लभराय (कृष्ण तृतीय) के परम मित्र और उपकारित कवि पुष्पदन्तने सुन्दर और शब्दलक्षणविचित्र जो जसहरचरित बनाया है उसमें यदि राजा और कौलका प्रसंग, यशोधरका आश्चर्यजनक विवाह और सारे भवांतर और प्रविष्ट करदो, तो मेरा मन चाहा हो जाय। तब मैंने साहुने जो चाहा था वही सब किया, राउलु (राजा और कौलका प्रसंग), विवाह और भवांतर। फिर जब सामने व्याख्यान किया, सुनाया, तब बीसल साहु सन्तुष्ट हुए। योगिनीपुर (दिल्ली) में साहुके घर अच्छी तरह सुस्थितिपूर्वक रहते हुए विक्रम राजाके १३६५ संवत्में पहले वैशाखके दूसरे पक्षकी तीज रविवारको यह कार्य पूरा हुआ।"

"पहले कवि (वच्छराय) ने जिसे वस्तु छन्दबद्ध किया था, वही मैंने पद्धड़ीबद्ध रचा।"

"कन्हड़के पुत्र गन्धर्वने स्थिर मनसे भवांतरोंको कहा है। इसमें कोई मुझे दोष न दे। क्योंकि पूर्वमें वच्छरायने यह कहा था। उसीके सूत्रको लेकर मैंने कहा है।"

इसके आगेका घत्ता और प्रशस्ति स्वयं पुष्पदन्त कृत है जिसमें उन्होंने अपना परिचय दिया है।

पूर्वोक्त पद्योंसे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि गन्धर्व कविने दिल्लीमें पानीपतके रहने वाले बीसल-साहु नामक धनीकी प्रेरणासे तीन प्रकरण स्वयं बना कर पुष्पदन्तके यशोधर चरितमें पीछेसे सं० १३६५ में शामिल किये हैं और कहाँ कहाँ शामिल किये हैं, सो भी यथास्थान ईमानदारीसे बतला दिया है। देखिए—

१ पहली सन्धिके चौथे कड़वककी 'चाएणकण्णु विहवेण इंदु' आदि पंक्तिके बाद आठवें कड़वकके अन्त तककी ८१ लाइनें गन्धर्वरचित हैं जिनमें राजा मारिदत्त और भैरवकुलाचार्यका संलाप है। उनके अन्तमें कहा है—

गंधव्वु भणइ मइं कियउ एउ, णिव जोईसहो संजोयभेउ
अग्गइ कइरायपुप्फयंतु सरसइणिलउ ।
देवियहि सरूउ वण्णइ कइयणकुलतिलउ ॥

अर्थात् गन्धर्व कहता है कि यह राजा और योगीश (कौलाचार्य) का संयोग-भेद मैंने कहा। अब आगे सरस्वतीनिलय कविकुलतिलक कविराज पुष्पदन्त (मैं नहीं) देवीका स्वरूप वर्णन करते हैं।

२ पहली ही सन्धिके २४ वें कड़वककी 'पोढत्तणि पुट्ठि पलट्टियंगु' आदि लाइनसे लेकर २७ वें

[1] 'पट्टण' पर 'पानीपत' टिप्पणी दी हुई है।

कड़वक तककी ७९ लाइनें भी गन्धर्व की हैं । इसे उन्होंने ७९ वीं लाइनमें इस तरह स्पष्ट किया है ।

जं वासवसेणिं पुव्व रइउ, तं पेक्खवि गंधव्वेण कहिउ

अर्थात् वासवसेनने पूर्वमें (ग्रन्थ) रचा था, उस को देखकर ही यह गन्धर्वने कहा[1] ।

३ चौथी संधिके २२ वें कड़वककी 'जज्जरिउ जेण बहुभयकम्म' आदि १५ वीं पंक्तिसे लेकर आगेकी १७२ लाइनें भी गन्धर्व की हैं । इसके आगे की कुछ लाइनें प्रकरणके अनुसार कुछ परिवर्तित करके लिखी गई हैं । फिर ५८ घत्ता और १५ लाइनें गन्धर्व की हैं जो ऊपर भावार्थ सहित दे दी गई हैं ।

इस तरह इस ग्रंथमें सब मिलाकर ३३५ पंक्तियाँ प्रक्षिप्त हैं और वे ऐसी हैं कि जरा गहराईसे देखनेसे पुष्पदन्तकी प्रौढ और सुन्दर रचनाके बीच छुप भी नहीं सकतीं । अतएव गन्धर्वके क्षेपकोंके सहारे पुष्पदन्तको विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिमें नहीं घसीटा जा सकता ।

इसके सिवाय बहुत थोड़ी ही प्रतियोंमें सो भी उत्तर भारतकी प्रतियोंमें यह प्रक्षिप्त अंश मिलता है । बम्बईके तेरहपंथी जैन मन्दिरकी जो वि० सं० १३९० की लिखी हुई अतिशय प्राचीन प्रति है, उसमें गन्धर्व-रचित उक्त पंक्तियाँ नहीं हैं, यहाँके सरस्वती भवन की दो प्रतियोंमें भी नहीं हैं ।

उपसंहार

पूर्वोक्त तीनों शंकाओंका समाधान हो जानेके बाद अब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि—

१ पुष्पदन्त राष्ट्रकूटसम्राट् कृष्णतृतीय और उनके उत्तराधिकारी खोट्टिगदेवके समकालीन थे और श० सं० ८८१ से ८९४ तक उनके मान्यखेटमें रहनेके प्रमाण मिलते हैं । संभव है, कर्क (द्वि०) के समयमें भी वे रहे हों ।

२ उनके आश्रयदाता महामात्य भरत कमसेकम ८८७ तक जीवित थे, जबकि महापुराण समाप्त हुआ ।

३ नागकुमारचरित और यशोधरचरितकी रचना के समय भरतका स्वर्गवास हो चुका था और उनके पुत्र नन्न गृहमंत्री हो गये थे । यशोधरचरितकी समाप्ति मान्यखेटके बरबाद होजानेके बाद हुई जबकि कर्क (द्वि०) गद्दीपर होंगे ।

---

१ श्रीवासवसेनके इस यशोधरचरितकी प्रति बम्बईके सरस्वती-भवनमें (नं० ६०४ क) मौजूद है । यह संस्कृतमें है । इस की अन्तिम पुष्पिकामें 'इति यशोधरचरिते मुनिवासव-सेनकृते काव्ये ...अष्टम: सर्ग: समाप्त:' वाक्य है । प्रारम्भमें लिखा है 'प्रभंजनादिभि: पूर्व हरिषेणसमन्वितै: यदुक्तं तत्कथं शक्यं मया बालेन भाषितुम् ।' इससे मालूम होता है कि उनसे पूर्व प्रभंजन और हरिषेणने यशोधरके चरित लिखे थे । इस कविने अपने समय और कुलादिका कोई परिचय नहीं दिया है । परन्तु इतना तो निश्चित है कि वे गन्धर्व कविसे पहले हुए हैं । इस ग्रन्थकी एक प्रति प्रो० हीरालालजीने जयपुरके बाबा दुलीचन्दजीके भंडारमें भी देखी थी और उसके नोट्स लिये थे । हरिषेण शायद वे ही हों, जिनकी धर्मपरीक्षा (अपभ्रंश) अभी डा० उपाध्येने खोज निकाली है ।

२ अपरिवर्तित पाठ मुद्रित ग्रन्थमें न होनेके कारण यहाँ दे दिया जाता है—

सो जसवइ सो कल्लाणमित्तु, सो अभयणाउ सो मारिदत्तु ।
वणिकुलपंकयबोहणदिणेसु, सो गोवड्ढणु गुणगणविसेसु ॥
सा कुसुमावलि पालियति गुत्ति, सा अभयमइत्ति णरिंदपुत्ति ।
भव्वइं दुण्णयणिण्णासणेण, तउ चरेवि चारु सण्णासणेण
कालें जंतें सव्वइमयाइं, जिणधम्में सग्गग्गहो गयाइं ॥

३ बम्बईके सरस्वतीभवनमें जो ८०४ क नं० की संस्कृत छायासहित प्रति है उसमें 'जिणधम्में सग्गग्गहो गयाइं' के आगे 'गंधव्वे कण्हडणंदणेण' आदि केवल दो पंक्तियाँ प्रक्षिप्त पाठमें की न जाने कैसे आ पड़ी हैं । इस प्रतिमें इन दो पंक्तियोंको छोड़ कर और कोई प्रक्षिप्त अंश नहीं है ।

रानी

[लेखक—'भगवत' जैन]

[१]

वह चाँद-सा सुन्दर बालक जब उसकी आँखोंके सामने आता, तो वह आन्द-विभोर हो जाती! तन-वदनकी सुध भूल जाती—कुछ देरके लिए—सृष्टिकी समस्त रचनाओंकी मधुरताको!

उसका धर्म, उसका कर्म, उसका सुख, उसकी सम्पत्ति—सब कुछ बस, वही था, तीन सालका विकार-हीन बालक!

वह उसकी मृदुल-मुस्कानमें स्वर्ग-सुखका अनुभव करती उसके करुण-क्रन्दनमें निष्ठुर-विधाताकी कुटिलताका दर्शन करती! जब वह अपनी अनक्षरी-वाणीद्वारा अपने भावोंको व्यक्त करनेका उपक्रम करता, तो वह हँसते-हँसते दोहरी पड़ जाती! जैसे सारे शरीरसे हँस रही हो!

और बच्चा माँ को हँसते देखता, तो और भी बोलने का साहस करता! तब वह स्वर्गमें डूब जाती, संसारकी विषमता उससे दूर रहती!

वह उसे चूमती, प्यार करती और गोदमें दबोचलेती! बच्चेको थोड़ी तकलीफ़ ज़रूर होती है, यह बात वह भूलती नहीं! लेकिन उसका मन जो अपने आपेमें नहीं रहता! मन तो मचलकर कहता है—काश, वह उसे मनमें ही बन्द कर सके! पर इतना बड़ा समाये कैसे? लाचारी तो यही है!

क्या मजाल जो कभी एक उँगलीसे, मारनेके नाम से छुआ हो? यह बात नहीं कि सभी बातें उसकी उसे पसन्द आती, नहीं; कुछ बुरी भी लगतीं, हल्का-पूरा गुस्सा भी आता कभी-कभी! पर, वह उसे मारती हर्गिज़ न! दुलारा, प्यारा जो था, जी से भी ज़्यादह!

लेकिन यह थी कौन, कोमलांगी, दयाकी, ममताकी देवी?····

हाँ उसका नाम था—रानी! वह गौरवर्ण, सुन्दर-शरीर, नव-यौवना विल्लोचिन थी! जी, हाँ! वही विल्लो-चिनें—जो अपनी बर्बरता, पशुता, नृशंसनाके सबब—सब के लिए आतंक होती हैं! जिस शहरमें वे पहुँच जाती हैं, वहाँके निवासी उनसे आँख मिलाने तककी अपनेमें शक्ति नहीं महसूस करते। उनसे लेन-देन या व्यवहारकी बात तो दूर! शायद बहुत दूर!!

दरअसल वे ख़ौफ़नाक, लड़ाकू, दया-हीन और निन्द्य-प्रवृत्ति होती हैं! जिसने उनसे कुछ ख़रीदना चाहा, समझ लीजिए कि उसकी शामत आगई! ड्योढ़े-दूने दामोंमें उसे वह चीज़ लेनी ही पड़ेगी, जिसके बारेमें ज़ुबानसे वह कुछ भी कह चुका है! भले ही लड़ाई हो जाय, झगड़ा हो जाय, भीड़ जुड़ जाय! पुरुषको दबानेकी एक तरकीब और इस्तैमाल करती हैं—वे! कि—'मुझसे मखौल करता है!'

सच, वे ऐसी ही होती हैं! उनमें कोमलता नामकी कोई चीज़ लोग नहीं देखते! लेकिन क्या सचमुच ऐसा ही है? क्या यही वास्तविक है, कि उनके हृदय नहीं होता? और होता भी है तो उसके अन्दर दया नहीं होती? क्या यह सम्भव है? विश्वास किया जा सकता है?

अगर हाँ! तो फिर दयाको सार्व-धर्म क्यों कहा जाता है? विश्व-धर्म कहकर क्यों पुकारा जाता है?

आप उत्तर देंगे?

× × ×

[२]

रानीने रो-रोकर आस्मान सिरपर उठा लिया ! पर, क्या कुछ नतीजा निकल सकता था ? गया हुआ कभी लौटा भी है ?

बात कुछ बड़ी नहीं थी ! मामूली बुखार था ! ऐसा, दो-एक बार पहले भी आ चुका था, नया थोड़ा था ! पर, अबकी बार वह मौतको भी साथ ले आया, इसका किसी को पता न चला ।

बुखारने ज़ोर पकड़ा ! इधर था, सर्दीका मौसम ! हो गया चट निमोनियाँ ! दवाएँ हुईं, दुआएँ माँगी गईं, अनेक उपचार हुए ! परन्तु सब व्यर्थ ! सब चेष्टाएँ निष्फल ! उस का जीवन-काल सिर्फ तीन-वर्षकी अल्प-अवधिमें आबद्ध था ! भला टाला जा सकता था, वह !

× × ×

रानीकी गोद सूनी होगई ! और साथ ही उसके लिए सारी दुनिया, इस बड़ी-सी दुनियासे कहीं अधिक सुन्दर, अधिक आनन्ददायी और अधिक मनोरम थी !

उसकी लावण्यता बासी-फूलकी तरह अशोभन होगई है ! न अब पहले-सी प्रफुल्लित रहती है, न मुग्ध ! यों उस का तारुण्य अब भी उसके पास है, कहीं गया नहीं ! लेकिन अब उसमें उमंग नहीं, उत्साह नहीं; उसके रिक्त-स्थान पर तीसरे-पन जैसी निराशा है !

उसके मनमें, मनके एक अधूरे कोनेमें, एक वेदना है, कसक है, एक घाव है ! जो उसे पनपने नहीं देता,

उसके तारुण्यको निखरने नहीं देता; मुर्दा बनाए बैठा है !

वह मुँहपर उदासी पोते हुए, बैठी रहती है—सुस्त, गुम-सुम ! निराशाकी प्रतिमूर्ति-सी । दिनका दिन बीत जाता है, रात भी आती और खिसक जाती है ! पर वह है, जो न खाती है, न पीती ! न हँसती, न किसीसे बोलती-चालती ! हा, जब कभी रोते हुए उसे ज़रूर देखा गया है !

जीवन उसका अब दूसरी ओरको बह रहा है ! पर, वह उससे बेखबर नहीं ! बहाये जारही है ! शायद सोच बैठी है—'चेष्टा कोई चीज़ नहीं, भाग्यनिर्णय बड़ी वस्तु है'

दिन समीरकी गतिसे निकलते चले जारहे हैं ! विल्लोचियोंका काफला भी पर्यटन करता जारहा है, आज यहाँ तो कल वहाँ !

× × ×

[३]

बहुत दिन बाद, एकदिन—

चार छः हमजोलियोंके साथ, रोजकी तरह रानी शिकार की टोहमें निकली ! निर्जन-वन था ! पशु-पक्षी अपने मिले हुए, थोड़े-से सुखमें निमग्न, परिवारके साथ मौज़की किलकारियाँ भर रहे थे ! शहरके जन-रवसे दूर, वे अपनेको निराकुल और निरापद समझ रहे थे ! परन्तु क्या वह तपोभूमि उनके लिए निरापद थी भी ?

'ठाँय !'–की एक हल्की आवाज़के साथ एक सुन्दर परिन्दा ज़मीनपर आ गिरा ! रानीने गुलेलको मुँहमें दबाया और अपने कठोर हाथोंसे लपक कर उसे उठा लिया !

देखा—'वह मर चुका है !' फिर भी, यह आशंका न होनेपर भी कि वह उड़ सकता है, गर्दनको मरोड़ते हुए निर्दयतापूर्वक झोलेमें डाल लिया और आगे बढ़ी ! जैसे अभी उसकी नृशंसताको तृप्ति नहीं, भूख बदस्तूर हो !

साथी-लोग दूरपर, अपनी-अपनी घातमें लगे हैं ! किसीको इतना अवकाश नहीं, कि कौन क्या कर रहा है ? देखे ! ज़रूरत भी क्या ?

सघन-वृक्षके पत्तोंमें छिपा हुआ एक छोटा-सा नीड़ ! जिसमें बैठे थे दो पक्षी !—शायद कबूतर थे ! दोनों अपनी छोटी-सी राजधानीके बादशाह थे ! लेकिन उनके सामने राजनैतिक उलझनें नहीं थी ! उनका देश था–प्रेम, कानून था–मौज और टैक्स था–अल्प-भोजन ! किसी हद तक वे सुखी थे, और सुखमें बैठे, चैनकी बंशी बजा रहे थे ! उन्हें खबर नहीं थी कि भविष्य उनके लिए क्या वर्तमान बनानेमें मशगूल है ?

कि इसी समय रानीके गुलेलसे निकली हुई एक कठोर कंकड़ीने बेचारेका प्राणान्त कर दिया ! रोजके सधे हुए हाथ, क्या निशाना चूक सकते थे ?

वह रानी के पद-सन्निकट–ज़मीनपर-पड़ा तड़पने लगा,

पंख तड़फड़ाने लगा; और लगा अपनी गोल-गोल नन्हीं आँखोंसे इधर-उधर देखने! शायद किसीको खोजता हो! मिनिट-भरकी वेदनामय आयुमें क्या देखता, क्या सोचता? पीड़ा मौतकी दूती बनकर जो आई थी!

एक बेकलीकी तड़प!

और बस, खतम!

रानीने देखा—'वह एक कबूतरका बच्चा है, कैसा सुन्दर?'

वह उठानेके लिए झुकी! पर, यह क्या? सिरके पास खड़खड़ाहट कैसी है? नज़र उठाकर देखा तो एक या दो कबूतरको शोक-विह्वल चक्कर काटते पाया—बेचैन बेखबर!

रानी क्षण-भर रुकी, और अपने विचारोंमें डूब गई—जैसे अथाह-जलमें छोटी-सी कंकड़ी!

बच्चा मरा हुआ सामने पड़ा था! उसकी ममतामयी माँ—उसके बिछोह-दुःखसे पागल हुई—उसे देख रही थी, सिर्फ देख ही रही थी, आँसू-भरी आँखोंसे! आह! उसे छू लेने तकका उसे हक़ नहीं था, हिम्मत नहीं थी, अधिकार नहीं था! वह कभी दरख्त की इस टहनी पर, कभी उसपर! कभी बैठती, कभी उठती! कभी भागी-भागी फिरती अन्तरिक्षकी छाती पर, बेतहाशा दौड़ती! ओह! उसे क्षण-भर भी चैन नहीं!

अरे, उसे कैसी वेदना थी—वह!!!

हृदयकी पुकार हृदय तक पहुँचने लगी, शायद घायल की गति घायलने जान ली!

रानीका कठोर-हृदय भी दयासे प्लावित होगया! वह सोचने लगी--

उसके भी एक बच्चा था—ऐसा ही सुन्दर; ऐसा ही कोमल, ऐसा ही प्यारा और ऐसा ही छोटा-मोटा, भोला-भाला! मगर…………!

निर्दयी-कालने उसे न छोड़ा, उसके प्यारे बच्चेको देखते-देखते उठा लिया! वह विवश रोती-कलपती रह गई! कालपर किसका वश चला है? क्या करती…? 'हाय!' करके रह गई!

टप्—टप्!!!

दो-बूँद आँसू रानीकी आँखोंने बखेर दिये!

और उसी वक्त उसने देखा—बेचारी कबूतरी रो रही है! उसका बच्चा जो मर गया है! उसकी आँखोंका तारा!

रानीके मनमें विद्रोह उठा—'उसका निर्दयी-काल तो तू है रानी, तू!'

वह एक दम रो पड़ी! जैसे उसका बच्चा अभी ही मरा है! घाव कुरेदकर ताज़ा बना दिया हो! मां के हृदय ने मांके हृदयकी व्यथाको पहिचान लिया!

उसने गुलेल उठा कर दूर फेंकदी, जैसे वह उसकी चीज़ ही नहीं थी। भूलसे किसीने उसके हाथमें थमा दी थी!

विह्वला-कबूतरी इधर-उधर देखती रही, फिर वह अपने मृत-पुत्रके समीप आ बैठी!

देखता कोई वह करुण-दृश्य! दो मा-हृदयोंके बीचमें एक मृतक-पुत्रका निर्जीव-शरीर!

घंटों हो गए, पर रानी न उठी, अपने स्थानसे खिसकी तक नहीं! निर्जीव हो, पत्थरकी पुतली हो, या मिट्टीका ढेर!

साथी आए और जैसे-तैसे कर डेरे पर ले गए! उसी जड़ताके ढंगमें!

नहीं कहा जा सकता—अब चैतन्य है वह, या तब जड़ थी?

× × × ×

[४]

आँखें लाल हैं, शरीर तप रहा है! बुखारकी तेज़ी है! रानी गुम-सुम पड़ी हैं! किसीसे बोलती-चालती नहीं! खाना-पीना तक छूट गया है! केवल दूध उसका जीवन रक्षक बन रहा है।

शामको बुखार जब ढीला पड़ता है, बोल सकनेकी

ताक़त जब उसमें हो आती है ! तब यह बैठ जाती है, उपदेशककी तरह ! और कहने लगती है—अपने दिलका दर्द, मानसिक-पीड़ाका अध्याय !—

'किसीको मारो मत ! उसके शरीरमें भी दर्द होता है, उसके माँ-बाप भी बेचैन होते हैं, उन्हें तकलीफ़ होती है ! जान सबकी बराबर है !'

बिल्लोची सुनते तो दंग रह जाते। कुछ कहते—'लड़की कहती तो ठीक है !' पर कुछकी राय होती—'बुखार-बीमारीसे दिमाग़ फिर गया है ! नहीं, ऐसी बातें यह सीखी कहाँ ? क्या हम नहीं हैं, सफ़ेद बाल हो चुके, इन बातोंको छुआ तक नहीं !' कोई कहता—'पिछले दिन तक तो यह भी परिन्दे मार-मार कर राँधा करती थी, आज कहती है—किसीको मारो मत ! भई, खूब !'

रानी जब ऐसी बातें सुनती तो उसका मन और भी टूट जाता ! वह खाट पर लेटी-लेटी सोचती रहती—'क्या, ये भी मनुष्य हैं ?'

और उसका बुखार ज़ोर पकड़ जाता ! माँ सिरहने बैठी-बैठी आसू बहाती, मिन्नतें मनाती—'मेरी रानी बच जाय !'

और बाप, दवाएँ लाता, जड़ी-बूटी खोजता-फिरता ! डाक्टर-हकीमके आगे दयाकी भीख माँगता, गिड़गिड़ाता, रोता-कलपता !

किसी तरह रानी बच जाए !

उसे हो क्या गया ?....

डाक्टरने बताया—'इसका दिल कमज़ोर हो गया है ? मानसिक-पीड़ा है—इसे ! यह जो चाहे, इसे वही दो ! इसके हृदयपर कुछ असर हुआ है, तुम लोग इसके हृदय को न दुखाओ !'

हैंय !!!

सब चौंके !

डाक्टर कहता है-'हृदयको न दुखाओ !'

रानी कहती है—'किसीको मारो मत, उन्हें भी तकलीफ़ होती है !'

बातें दोनों एक हैं—ज़रा भी फ़र्क नहीं ! अजीब समस्या है !

रानीकी तन्दुरुस्तीके लिए, ज़िन्दगीके लिए—सबने उसका हुक्म मानना मंज़ूर किया !

× × × ×

जिसने सुना, वही हैरतमें आगया—बिल्लोचियोंका क़ाफ़ला निरामिषभोजी है ! वे शिकार नहीं करते, माँस नहीं खाते ! दूसरेके बच्चेको अपना माननेमें सुख पाते हैं !

और रानीको वे अपना 'गुरु' मानते हैं, देवी मानकर पूजते हैं, अवतार जान कर उसका आदर करते हैं ! रानी है उनकी मार्ग-प्रदर्शिका !

रानीमें फिर ताज़गी लौट आई है ! वह प्रफुल्लित रहती है ! उसे ऐसा लगने लगा है कि इसका बच्चा उसे इन्सानियत-मानवता सिखाने आया था, तीन सालमें वह सब-कुछ पढ़ा-लिखा गया ! उसकी आत्मामें रोशनी भर गया !

अब, जब उसे अपने बच्चेकी याद आती है, तो उसी वक्त उस कबूतरके बच्चेका चित्र भी आँखोंके आगे हो आता है ?

और रानीका कोमल-मन पिघल कर आँसू बन जाता है !

× × × ×

[५]

अवश्य कहा जा सकता है—कठोर-से-कठोर, कसाई-कर्ममें निरत रहने वाले व्यक्तिके हृदयमें भी 'दया' नामकी कोई चीज़ रहती है फिर भले ही उसके प्रकारमें भेद हो, तरीक़ेमें तब्दीली हो ! कम-ज़्यादह हो !

दयाका ही दूसरा नाम है—मानवता !!!

और यों दया सार्वधर्म है, इसमें शक नहीं !

—

नेमिनिर्वाण-काव्य-परिचय

(ले० पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त' साहित्याचार्य)

[गत किरणसे आगे]

सुराष्ट्र देशकी उर्वरा पृथ्वीका वर्णन करते हुए कविराज लिखते हैं—

> विराजमानामृषभाभिरामै—
> ग्रामैर्गरीयो गुणसंनिवेशाम् ।
> सरस्वतीसंनिधिभाजमुर्वि
> ये सर्वतो घोषवतीं वहन्ति ॥३३॥

'जो सुराष्ट्र देश, बैलों-द्वारा मनोहर ग्रामोंसे शोभायमान, गुरुतर गुणोंके संनिवेश-रचना या विस्तार से सहित, सरस्वती—नदियोंके सामीप्यको प्राप्त और गोपवसतिकाओंसे युक्त पृथ्वीको सब ओरसे धारण करते हैं।'

यह तो हुआ प्रकृत अर्थ, अब अप्रकृत अर्थ देखिये, जो कि श्लोकगत समस्त पदोंके द्व्यर्थक होने के कारण स्पष्टरूपसे प्रतिभासित हो रहा है—।

"जो सुराष्ट्र देश, ऋषभ नामक स्वर विशेषसे सुन्दर, ग्राम—स्वरोंके समुदायसे विराजित, गुरुतर—श्रेष्ठ अथवा बड़ी बड़ी तन्त्रियोंके सन्निवेशसे युक्त, तथा सरस्वती देवीके समीपमें स्थित—उसके हाथमें विलसित मनोहर शब्दयुक्त, विशाल, घोषवती—वीणा को धारण करते हैं—जिस देशके मनुष्य हर एक प्रकारकी चिन्ताओंसे विनिर्मुक्त हो हाथमें वीणा धारण कर संगीत सुधाका पान करते हैं'।

यहां प्रकृत और अप्रकृत अर्थोंमें असंगति न हो इसलिये 'वीणाके समान पृथिवीको धारण करते हैं' यह उपमालंकार व्यङ्ग्यरूपसे निकाला गया है। श्लोकगत समस्त पदोंका श्लेष-सलिल उस उपमा-लताका सिञ्चन करता है। अथवा जो देश 'घोषवती—वीणा रूप पृथ्वीको धारण किये हुए' यह रूपका-लंकार भी माना जा सकता है। उस रूपककी सौन्दर्य-वृद्धि भी श्लेषके द्वारा ही हो रही है। इस प्रकार कविराजने सुराष्ट्र देशके वर्णनमें अपने काव्य-कौशल का अनुपम परिचय दिया है।

समुद्रके बीचमें द्वारावती पुरीका वर्णन करते हुए कविराजने श्लिष्टोपमाका कितना सुन्दर उदाहरण तयार किया है ? देखिये—

> परिस्फुरन्मण्डलपुण्डरीक—च्छायापनीतातपसंप्रयोगैः ।
> या राजहंसैरुपसेव्यमाना, राजीविनीवाम्बुनिधौ रराज ॥३७॥

'जो नगरी समुद्रके मध्यमें कमलिनीके समान शोभायमान होती है। जिस प्रकार कमलिनी, विकसित पुण्डरीकों—कमलोंकी छायासे जिनकी आतप-व्यथा शान्त हो गई है ऐसे राजहंसों[1]—हंस विशेषों से सेवित होती है; उसी प्रकार वह नगरी भी तने हुए विस्तृत—पुण्डरीक—छत्रोंकी छायासे जिनकी आतप व्यवस्थासे सब दुःख दूर हो गये हैं ऐसे राजहंसों—बड़े बड़े श्रेष्ठ राजाओंसे सेवित थी—उसमें अनेक राजा-महाराजा निवास करते थे।

उत्प्रेक्षाका एक सुन्दर नमूना भी देखिये—

---

१ 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' जिनकी चोंच और चरण लाल हो और शेष समस्त शरीर सफेद हो ऐसे हंसोंको राजहंस कहते हैं।

एवं विधां तां निजराजधानीं निर्मापयामीति कुतूहलेन।
छायाच्छलादच्छ जले पयोधौ प्रचेतसा या लिखितेव रेजे ।३८

'स्वच्छ जलसे युक्त समुद्रमें द्वारावतीका जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उससे ऐसा मालूम होता था कि जलदेवता वरुणने, 'मैं भी अपनी राजधानीको इसीके समान सुन्दर बनवाऊँगा' इस कुतूहलसे मानों एक चित्र खींचा हो।'

द्वारावती नगरी की स्त्रियोंका वर्णन देखिये—

चन्द्रायमाणैर्मणिकर्णपूरैः पाशप्रकाशैरतिहारिहारैः।
भूभिश्च चापाकृतिभिर्विरेजुः कामास्त्रशाला इव यत्र बालाः।३९

जहां पर स्त्रियां कामदेवकी अस्त्रशालाके समान शोभायमान होती थीं। क्योंकि स्त्रियाँ अपने कानोंमें जो मणिनिर्मित कर्णफूल पहिने हुई थीं वे चक्र—आयुध विशेषके समान मालूम होते थे, जो सुन्दर हार पहिने हुई थीं वे कामदेवके पाश—बन्धन रज्जुके समान मालूम होते थे और जो उनकी प्रणय-कोपमें वंक भौंहें थीं वे धनुषके समान मालूम होती थीं'।

यहां उपमालंकारकी विचित्रता और 'शाला' 'बाला' का अनुप्रास दर्शनीय है।

'रात्रिके प्रथमभागमें चन्द्रमाका उदय होता है पूर्व दिशामें लालिमा छा जाती है, थोड़ी देरमें पूर्व दिशासे आगे बढ़ कर चन्द्रमा आकाशमें पहुँच जाता है जिससे उसका प्रतिबिम्ब द्वारावती नगरीके मणि-निर्मित भवनोंमें पड़ने लगता है' इस प्रकृतिके सौन्दर्य का वर्णन कविराजकी अनूठी लेखनीसे कितना सुंदर हुआ है ? देखिये—

प्राचीं परित्यज्य नवानुरागा—मुपेयिवानिन्दुरुदारकान्तिः।
उच्चैस्तनीं रत्ननिवासभूमिं, कान्तां समाश्लिष्यति यत्र नक्तम्॥

जहाँ पर रातके समय उत्कृष्ट कान्तिवाला चन्द्रमा, नूतन अनुराग लालिमासे अलंकृत पूर्व दिशाको छोड़ कर अत्यन्त उन्नत और मनोहर रत्न-निर्मित महलों की भूमिका आश्लेषण करता है'।

यहाँ पर कविने समासोक्ति अलंकारसे यह भाव व्यक्त किया है—'जैसे कोई उत्कट इच्छा वाला—दक्षिण नायक, नवीन अनुराग-प्रेमसे सम्पन्न स्त्रीको छोड़ कर, उन्नत स्तन वाली किसी अन्य कान्ता स्त्री का आश्लेषण करने लगता है उसी प्रकार चन्द्रमा, नवानुरागसे युक्त प्राचीको छोड़ कर द्वारावतीकी उच्चैस्तनी उन्नत, रत्न निर्मित निवास-भूमिका आलिङ्गन करता था—उसमें प्रतिबिम्बित होता था।

यहाँ समासोक्ति अलंकार तथा उसके द्वारा प्रकट होने वाली सम्भोगशृङ्गार नामक रसध्वनि सहृदय-जन-वेद्य है।

'अनुराग', 'उदारकान्ति', 'उच्चैस्तनी', तथा 'कान्ता' शब्दके श्लेषने, 'नक्तम्' इस उद्दीपक, विभाव-सूचक पदने, 'प्राची' तथा 'रत्न निवासभूमि' शब्दके स्त्रीत्वने एवं 'इन्दु' शब्दके पुंस्त्वने इस श्लोकके सौन्दर्य-वर्धनमें भारी हाथ बटाया है।

परिसंख्या अलंकारका एक नमूना देखिये—

प्रकोपकम्पाधरबन्धुराभ्यो—भयं वधूभ्यस्तरुणेषु यस्याम्।
कर्पूरकालेयकसौरभाणां, प्रभञ्जनः पौरगृहेषु चौरः॥ ४२॥

'जिस द्वारावती नगरीमें रहने वाले युवा पुरुषों को यदि भय होता तो सिर्फ प्रणयकोपसे कँपते हुए अधरोष्ठोंसे शोभित अपनी स्त्रियोंसे ही होता था—अन्य किसीसे नहीं। इसी तरह नागरिक नरोंके घरों में यदि कोई चोर था तो सिर्फ पवन ही कपूर और कालागुरु चन्दनकी सुगन्धिका चोर था और कोई चोर नहीं था।'

यहाँ कविने यह बतलाया है कि उस नगरीका शासन इतना सुदृढ़ और सुसंगठित था कि उस पर बाहिरसे अन्यशत्रुओंके आक्रमणकी जरा भी आशंका नहीं रहती थी तथा वहाँके लोग आजीविका

आदिसे इतने सुखी थे कि कभी किसीको किसी दूसरे की वस्तुको चुरानेकी इच्छा नहीं होती थी—जो जिस वस्तुको पाना चाहता था उसे वह वस्तु अनायास-स्वयमेव प्राप्त हो जाती थी।

यह वर्णनीय वृत्त साधारण है परन्तु कविके परिसंख्या अलंकारने उसकी शोभाको बहुत मोहक बना दिया है।

सुगन्धिनः संनिहिता मुखस्य, स्मितद्युता विच्छुरिता वधूनाम्।
भृङ्गा बभुर्यत्र भृशं प्रसून—संक्रान्तरेणूत्करकर्बुरा वा ॥४१॥

स्त्रियोंके मुखोंकी सुगन्धिके कारण जो भौंरे उनके पास पहुँच जाते थे वे भौंरे उन स्त्रियोंकी मुसकानकी सफेद कान्तिसे व्याप्त होनेपर ऐसे मालूम होते थे, जैसे मानों फूलोंके परागके समूहसे कर्बुर—चित्र विचित्र हो गये हों'।

यहाँ तद्गुण तथा उत्प्रेक्षाका संकर दर्शनीय है।

सुभ्रूयुगं चंचलनेत्र वाहं, यस्यां स्फुरत्कुण्डल चारु चक्रम्।
आरुह्य जातस्त्रिजगद्विजेता, वधूमुखस्यन्दनमङ्गजन्मा ॥ ४२॥

'जो, उत्तम भौंह रूप युग-जुंवारीसे सहित हैं (पक्षमें उत्तम भौंहोंके युगलसे सहित हैं) चञ्चल नेत्र रूप वाहो—घोड़ोंसे युक्त हैं (पक्षमें चञ्चल नेत्रोंको प्राप्त है) और जो कुण्डल रूपी सुन्दर चक्र—आयुध विशेषसे शोभित हैं (पक्षमें चमकते हुए कुण्डलोंकी चारु परिधिसे सहित हैं)—ऐसे स्त्रीके मुखरूपी रथ पर आरूढ़ होकर कामदेव जिस द्वारावती नगरीमें तीनों लोकोंका जीतने वाला बन गया था।'

यहाँ 'युग' 'वाह' और 'चक्र' शब्दके श्लेषसे अनुप्राणित वधू मुख और स्यन्दन-रथका रूपक विशेष दर्शनीय है।

लोग कहते हैं कि कवियोंके सामने कोई भी वस्तु असंभव नहीं है—वे अपनी कल्पनासे असंभव वस्तु को भी संभव कर दिखाते हैं। यही बात है कि कविराज भी आगेके श्लोकमें आकाशगत सुवर्ण कमलों का संभव कर दिखाते हैं। देखिये—

यत्रेन्दुपादैः, सुरमन्दिरेषु, लुप्तेषु शुद्धस्फटिकेषु नक्तम्।
चक्रे स्फुटं हाटककुम्भकोटि—र्नभस्तलाम्भोरुहकोशशङ्काम् ॥

'द्वारावती नगरीमें रातके समय, निर्मल स्फटिक-मणियोंके बने हुए देवमन्दिर चन्द्रमाकी सफेद किरणों द्वारा लुप्त कर लिये जाते थे—सफेद मंदिर सफेद किरणोंमें तन्मय होकर छिप जाते थे, सिर्फ उन मन्दिरोंके सुवर्ण-निर्मित पीले पीले कलशे दिखलाई पड़ते थे उनसे यह स्पष्ट मालूम होता था कि आकाशमें सुवर्ण-कमल फूले हुए हैं। (भावानुवाद)

श्लेष और उत्प्रेक्षाके संकर—मेलका उदाहरण देखिये—

यमैक वृत्तैर्घन वाहनस्य, प्रचेतसो यत्र धनेश्वरस्य।
व्याजेन जाने जयिनो जनस्य, वास्तव्यतां नित्य मगुर्दिगीशाः ॥

'उस द्वारावतीके रहने वाले मनुष्य यमैकवृत्ति थे—अहिंसा आदि यम-व्रतोंको धारण करने वाले थे (पक्षमें यमराजकी मुख्य वृत्तिको धारण करने वाले थे) घनवाहन थे—अधिक सवारियोंसे युक्त थे (पक्षमें इन्द्र थे), प्रचेतस थे—प्रकृष्ट-उत्तम हृदयको धारण करने वाले थे (पक्षमें वरुण थे) और धनेश्वर थे—धनके ईश्वर थे (पक्षमें कुबेर थे) इसलिये मैं समझता हूं कि वहांके मनुष्योंके छलसे चारों दिशाओंके दिक्पालोंने उस नगरीको अपना निवासस्थान बनाया था।'

[दक्षिण दिशाके स्वामीका नाम यम, पूर्व दिशा के स्वामीका नाम घनवाहन-इन्द्र, पश्चिम दिशाके स्वामीका नाम धनेश्वर—कुबेर है]।

इस प्रकार कविराजने बहुत ही सुन्दर रीतिसे

अनेक श्लोकोंमें द्वारावती नगरीका वर्णन किया है। स्थानाभावके कारण खास खास श्लोकोंका ही परिचय दिया जा सका है। इसके आगे राजा समुद्रविजयका वर्णन देखिये—

यदर्धचन्द्रापचितोत्तमाङ्गैरुद्दण्डदोस्ताण्डवमादधानैः।
विद्वेषिभिर्दत्तशिवाप्रमोदैः, कैःकैर्न दध्रे युधि रुद्रभावः ॥६१

'राजा समुद्रदत्तके बाणोंसे जिनका मस्तक कट गया है, जो बचावके लिये अपनी उद्दण्ड भुजाओंको फड़फड़ा रहे हैं तथा भक्ष्य सामग्री प्राप्त होने पर जिन्होंने शिवा—शृगालियोंके लिये हर्ष प्रदान कियाहै—ऐसे कौन कौन शत्रुओंने युद्धमे रुद्रभाव—क्रूरभाव—को धारण नहीं किया था? अर्थात् सभीने किया था।'

'जिनके मस्तक अर्धचन्द्रसे पूजित हैं, जो अपनी भुजाओंसे उद्दण्ड ताण्डव नृत्य करते हैं, तथा जिन्होंने पति होनेके कारण शिवा—पार्वतीको हर्ष प्रदान किया है—ऐसे कौन कौन शत्रुओंने युद्धमें रुद्रभाव—महादेवपनेका धारण नहीं किया था? अर्थात् सभीने किया था।'

यहाँ क्रमसे लिखे हुए प्रकृत और अप्रकृत अर्थोंका कितना सुन्दर श्लेष है और उससे प्रकट होनेवाला 'रुद्रभावः रुद्रभाव इव' यह उपमालंकार कविके जिस काव्यकौशलको प्रकट कर रहा है वह प्रशंसनीय है।

द्वे कौतुके हन्त यदातपत्रच्छायातलस्थायिनि भूतलेऽस्मिन्।
संतापमापद्दमासुवर्गो, यद्वृष्टिरप्यस्खलिता बभूव ॥६३॥

'महाराज समुद्र विजयकी छत्रछायाके नीचे रहनेवाले भूमितलपर दो आश्चर्यजनक कौतुक हुए थे। पहला यह कि दुष्टमानव-समूहने सन्तापको पाया था और दूसरा यह कि वर्षा भी अप्रतिहत—बेरोक टोक रूपसे हुई थी।'

जो मनुष्य छायाके नीचे स्थित होता है उसे धूप तथा जलवृष्टिकी बाधा नहीं होतीपरन्तु यहां महाकवि ने, समुद्रविजयकी छत्र छायाके नीचे स्थित उन दोनों बाधाओंको बतलाया है जिससे विरोधालंकार अत्यन्त स्पष्ट होगया है। किन्तु उनकी शासन-व्यवस्थामें दुष्ट मनुष्योंका निग्रह होता था इसलिये दुष्टोंको दुःख होता था, तथा हमेशा शान्ति हवन आदि होते रहनेके कारण समय समय पर जलवर्षा होती रहती थी, यह अर्थ लेने पर कोई विरोध शेष नहीं रह जाता।

यहां वर्णनीय वस्तुमात्र इतनी है कि 'राजा समुद्रविजयके राज्यमें दुष्टोंका निग्रह होता था और वर्षा भी समयपर हुआ करती थी।'

परन्तु कविने विरोधालंकारकी पुट देकर उसे कितना सुन्दर बना दिया है!

महाराज समुद्रविजयने शत्रु-राजाओंको अबल-निर्बल बना दिया था, इसका वर्णन देखिये—

[1]हालापदूरीकृत-कोपलज्जाः सन्नाभिमानास्तनवप्रभावाः।
मन्त्रप्रयोगादबलाः महेलं येनाक्रियन्त प्रतिपक्षभूपाः ॥६४॥

'हा, हा, इस प्रकार दुःखसूचक शब्दोंद्वारा जिनका कोप और लज्जा दूर होगई है, जिनका अभिमान नष्ट होगया है, और नवीन प्रभाव अस्त होगया है ऐसे शत्रुराजाओंको राजा समुद्रविजयने अपने मन्त्र-बल—सद्विचारणाके बलसे निर्बल बना दिया था।'

[राजाने उन्हें निर्बल बना दिया था इसलिये उनकी ऊपर लिखी हुई अवस्था हो गई थी।]

'हाला मदिराके द्वारा जिनका कोप और लज्जा दोनों दूर होगई हैं तथा सुन्दर नाभिके मानसे जिन्होंने नव-तरुण पुरुषोंके प्रभावको—धैर्यको—नष्ट कर दिया है ऐसे शत्रुओंको राजा समुद्रविजयने अपने मन्त्र तन्त्रके प्रयोगसे अबला—स्त्री बना दिया था—यह आश्चर्यकी बात है!

यहाँ श्लेष तथा उससे उत्पन्न हुए विरोधाभास अलंकारकी सुन्दरता कविके अनोखे काव्य-कौशलको प्रकट कर रही हैं। (क्रमशः)

---

१ 'हा' इत्यालापेन दूरीकृते कोपलज्जे यैस्ते, हालया मद्येनापदूरीकृते कोपलज्जे याभिस्ताः। सन्नोऽभिमानो येषां ते, अनएवास्तो नवः प्रभावो येषां ते, सुन्दरनाभेर्मानेन अस्तो नवाना यूना प्रभावो-धैर्यरूपो याभिस्ताः। यद्वा सन्नोऽभिमान आ समन्तात्स्तनोच्चत्वं यासां ताः। यद्वा सुन्दरो नाभिमानो यासां ताः, स्तनयोर्वप्रभाव उच्चता यासु ताः।

उपाध्याय पद्मसुन्दर और उनके ग्रन्थ

(ले०—श्रीअगरचन्द नाहटा)

अनेकान्तकी गत २-४-५ किरणोंमें "राजमल्लका पिंगल और राजाभारमल्ल"* शीर्षक सम्पादकीय लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें (किरण २ पृ० १३७) मोहनलाल दलीचंद देशाई लिखित 'जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' के आधार पर पद्मसुन्दर-रचित 'रायमल्लाभ्युदय' का उल्लेख किया गया है। देशाईजीने पद्मसुन्दरको दि० भट्टारक बतलाया है, पर वास्तवमें यह सर्वथा गलत है†। ये पद्मसुन्दर नागपुरी तपागच्छके विद्वान थे और सम्राट अकबरसे आपका काफी सम्बन्ध रहा है। हमें इनके कतिपय नवीन ग्रंथ भी मिले हैं, अतः इस लेखमें उनका यथाज्ञात परिचय दिया जा रहा है।

नागपुरीय तपागच्छकी पट्टावलि‡ में आपका परिचय इस प्रकार दिया है:—"धुरंधर पंडित पद्मसुन्दर उपाध्यायका सम्राट अकबरसे घनिष्ट सम्बन्ध एवं परिचय था। सम्राट आपकी विद्वत्ताको अच्छी तरह जानता था। एक बार एक ब्राह्मणने दिल्लीमें सम्राट अकबरके समक्ष गर्वित होकर कहा कि मेरे समान इस कलिकालमें कोई विद्वान नहीं है। यह सुनकर सम्राटने उपाध्याय पद्मसुन्दरजीको शीघ्र बुलवाया। उपाध्यायजीने शीघ्र ही आकर सम्राट्के समक्ष तर्कमें उस ब्राह्मणको परास्त कर दिया। इससे सम्राट् अकबर उनके मंत्री और सभासदवर्ग सभी बहुत प्रसन्न हुए। पद्मसुन्दरजीको सम्राट्ने पहिरामणी कर सुखासनादि प्रदान किये और आगरेमें धर्मस्थान बनवा दिया। उनकी इस विजयसे नागपुरीय तपागच्छकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। उपाध्यायजी वाद करनेमें बड़े कुशल थे। इन्होंने 'प्रमाणसुन्दर' नामक न्याय-ग्रंथ, रायमल्लाभ्युदय महाकाव्य, पार्श्वनाथ काव्य एवं प्राकृतमें जम्बूस्वामी कथा इत्यादि ग्रंथोंकी रचना की है।

"सूरीश्वर और सम्राट्"* में लिखा है कि—श्री हीरविजयसूरिजी सम्राट् अकबरसे मिले थे, तब वार्तालापके अन्तर सम्राट् अकबरने अपने पुत्र शेखजीके द्वारा अपने यहांके पुस्तकालयका ग्रंथ-संग्रह मँगवाकर सूरिजीके समक्ष रखा। तब सूरिजीने सम्राट्से पूछा कि आपके यहां इतने जैन एवं जैनेतर ग्रंथोंका संग्रह कहांसे आया? सम्राट्ने उत्तर दिया कि हमारे यहां उपाध्याय पद्मसुन्दर नामके नागपुरीय तपागच्छके विद्वान साधु रहते थे। वे ज्योतिष, वैद्यक और सिद्धान्तशास्त्रमें बहुत निपुण थे, उनके स्वर्गवास† होजाने पर मैंने उनकी पुस्तकोंको सुरक्षित रखा है। अब आप कृपया इन ग्रंथोंको स्वीकार करें।

हर्षकीर्तिसूरि-रचित धातुपाठवृत्ति—धातुतरंगिणीकी प्रशस्तिसे पट्टावली उल्लिखित शाहि सभामें वाद-विजयके अतिरिक्त जोधपुरके नरेश मालदेवके आप मान्य थे आदि प्रतीत होता है। यथा:—

> साहेः संसदि पद्मसुन्दरगणिर्जित्वा महापंडितं।
> क्षौम-ग्राम-सुखासनाद्यकबर श्रीसाहितो लब्धवान्॥
> हिन्दूकाधिपमालदेवनृपतेर्मान्यो-वदान्योधिकं।
> श्रीमद्योधपुरे सुरेप्सितवचाः पद्माह्वयं पाठकं॥१०

(हमारे संग्रहकी प्रति)

सं० १६२५ मि० व० १२ को तपागच्छीय बुद्धिसागरजीसे खरतर साधुकीर्तिजीकी सम्राट्की सभामें पौषधकी चर्चा हुई थी और साधुकीर्तिजीने विजय प्राप्त की थी। उस समय पद्मसुन्दरजी आगरेमें ही थे, ऐसा हमारे द्वारा सम्पादित

---

*विशेषके लिये देखें भारमल्ल-पुत्रकारित वैराटमंदिर-शिलालेख सानुवाद, प्र० जैन सत्यप्रकाश वर्ष ४ अंक ३ से ६; एवं प्राचीन जैनलेखसंग्रह लेखाङ्क ३७६। भारमल्लकी कीर्तिके कई कवित्त 'श्रीमालीवाणिग्ज्ञातिभेद' में छपे हैं।

† देशाईजीने उनकी जो गुरुपरम्परा रायमल्लाभ्युदयमें बतलाई है ठीक वही 'सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव' आदिमें भी है, अतः दोनों एक ही नागौरी तपागच्छके हैं।

‡ जैनयुवकमंडल, अहमदाबादसे प्रकाशित (गुजराती)

*गुजराती संस्करण पृ० १२०

† हीरविजयसूरि सम्राट् अकबरसे सं० १६३६ में मिले थे। अतः पद्मसुन्दरजीका स्वर्गवास इससे पूर्व होना निश्चित होता है।

'ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह' के पृ० १४० में प्रकाशित 'जइतपदवेलि' से स्पष्ट है।

उपाध्याय पद्मसुन्दरजीके ग्रंथ—

हमारे अन्वेषणसे उपाध्याय पद्मसुन्दरजीका "शृंगार-दर्पण" नामक ग्रंथ मिला है, उससे सम्राट् अकबरके साथ आपका घनिष्ट सम्बन्ध भलीभांति प्रमाणित होता है। यह ग्रंथ सम्राट् अकबरके लिये ही बनाया गया था। अतः इस का नाम "अकबरशाहिशृङ्गारदर्पण" रखा गया है। साहित्य संसारमें अद्यावधि इस ग्रंथका कोई पता नहीं था। सर्वप्रथम हमें इस ग्रंथकी अपने हस्तलिखित अपूर्ण ग्रंथोंमें एक प्रति मिली। फिर पं० दशरथ जी M. A. से ज्ञात हुआ कि इसकी एक पूर्ण प्रति बीकानेर-स्टेट-लाइब्रेरीमें भी है। अतः स्टेट-लायब्रेरीके समग्रकाव्यग्रंथोंको दो दिन तक टटोलने पर सबसे अन्तके बंडलमें उसकी प्रति प्राप्त हुई। नीचे इन दोनों प्रतियोंके परिचयके साथ ग्रन्थका परिचय दिया जा रहा है—

१ अकबरशाहिशृंगारदर्पण—इस ग्रंथमें चार उल्लास हैं, जिनमें क्रमशः ६८, ७६, ८६ और ९८ पद्य हैं, आदिअंत इस प्रकार है:—

आदि—यद्भासा सकलं विभाति दुर्लक्षाम् श्रगिदृशा।
यस्मिन्नोतमिदं हितं तु मणिवश्यत्यं सदा शाश्वतं।
यत्परं तमसः स्थितं च रहयानित्याद्वयं तत्परम्।
ज्योतिः साहिशिरोमणे अकबर त्वाम् सर्वा देवावतात्

× × × ×

अंत्यः—अनेन पदचातुरी नियतनायिकालक्षणा।
स्फुरन्नवरसोल्लास व (वि!) णिमप्रबंधेन तु।
अनंगरससंगप्रथितमानमुद्रावतीं।
प्रसादयतु भामिनीमकबरं स्वरोहर्निशा ॥९७॥
यद्यस्ति काव्यरचनासु रुचिर्विदग्धा—
नानारसेषु रसिकत्व-कुतूहलं च।
तत्पद्मसुन्दरकविप्रथितं सुरम्यं,
शृंगारदर्पणमुपाद्धमदुष्टचिन्ना ॥ ९८ ॥

इति सकलकलापारीण रसिकसाम्राज्यधुरीण श्रीअकबरसाहिशृंगारदर्पणे चतुर्थउल्लासः। यादृशं इत्यादि। लं० सं० १६२६ वर्षे आषाढमासे कृष्णपक्षे अष्टम्यां तिथौ भौमवासरे पातिसाह श्रीअकबरराज्ये। आगरामध्ये। भ० श्रीचंद्रकीर्तिसूरिपट्टे भ० श्री श्रीश्री मानकीर्तिसूरि विद्यमाने पं० चउहथ शिष्य वीराहेन लिखितं स्ववाचनाय शृंगारदर्पण काव्यप्र० ६०० ।श्री।

भिन्नाक्षरप्रशस्ति—

चतुः शृंगस्त्रिपादश्च द्विशीर्षो सप्तहस्तवान।
त्रिधाबद्धो महान् देवो, वृषभोगौरवीतिवै ॥१॥
मान्यो वा ' ' 'भुभुजोऽञ्जघराट् तद्वत् हुमायूं नृपो।
ऽत्यर्थं प्रीतमनः सुमान्य ककोदानन्दरायाऽमिधं।
तद्वत्साहिशिरोमणेरकबरक्ष्मापालचूडामणे।
मान्यः पंडितपद्मसुन्दर इहाऽभूत पंडितव्रातजित ॥२॥
चंद्रप्रभः श्रीप्रभुचंद्रकीर्तिसूरीश्वरश्चंद्रकलाब्धिचंद्र।
चंद्रोज्वलश्लोकभरः सुखश्चंद्रार्क ताराविधि मातनोतु ॥
नागपुरीय तपागणराजः श्रीचंद्रकीर्तिसूरीश्वरा।
तच्छिष्य हर्षकीर्तिसूरिः समलेखय (स्वार्थे)। ४
कल्याणविपुलं भूयात् ए विपरीत रते स्वशीकृता।
दरहासातिमनो रमा नानाविधबाधसंगतां स्मर
युद्धे विजिताप्य चापलं ॥ ९ ॥

प्रतिपरिचयः—

A बीकानेर स्टेट लायब्रेरी—१६ पत्रकी प्रति है। प्रत्येक पृष्ठमें पंक्तियें १२ से १४ और प्रति पंक्ति अक्षर ४४ से ४६ तक हैं। प्रति सं १६२६ अर्थात् रचनाकालके करीब की लिखी हुई है।

B हमारे संग्रहमें—पत्र २ से १३ तककी अपूर्ण प्रति है। प्रथम सर्गकी २२ वीं गाथासे प्रारंभ होकर चौथे सर्गकी २० गाथा तक सम्बन्ध है। प्रति १८ वीं शताब्दीके पूर्वार्द्ध की लिखित प्रतीत होती है।

२ सुन्दरप्रकाश शब्दार्णव—इस ग्रन्थमें ५ तरंग हैं, जिनके समग्र पद्योंकी संख्या २६६८ (ग्रंथाग्रंथ ३१७८) है। यह एक कोष ग्रंथ है।

आदि—यच्चांतर्व्बहिरात्मशक्तिविलसच्चिद्रूपमुद्रांकितं।
स्यादित्थं तदादित्यणेह विषयाः ज्ञानप्रकाशोदितं
शब्दभ्रान्तितमः प्रकांडवदनप्रध्वंन्दुकोटिभ्रमं।
वंदे निर्वृतिमार्गदर्शनपरं सारस्वतं तन्महं ॥१॥

× × × ×

अंत्यः—आनंदोदयपर्व्वतैकतरणा रानंदमेरोगुरो।
शिष्य पंडितमौलिमंडनमणिः श्रीपद्ममेरुर्गुरुः।

[शेषांश पृष्ठ ४७६ पर पढ़िये]

श्रीजैनमन्दिर सेठका कूँचा देहलीके कुछ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची
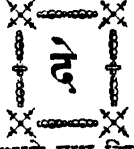
देहली सेठके कूँचेके जैनमन्दिरमें भी हस्तलिखित ग्रन्थोंका अच्छा भण्डार है। इस शास्त्रभण्डारका प्रबन्ध प्राय: पं० महबूबसिंहजीके हाथमें है, जो स्वभावके बड़े सज्जन हैं और हमेशा ग्रन्थावलोकन करने वालोंको अवलोकनकार्यमें यथेष्ट सुविधा देते रहते हैं। यहाँ भी ग्रन्थ अलमारियोंमें अच्छी व्यवस्थाके साथ विराजमान हैं—लटकती हुई गत्तेकी पट्टियों पर प्रत्येक वेष्ठनमें पाये जाने वाले ग्रन्थोंके नम्बर तथा नामादिक अंकित हैं। ग्रन्थसूची यद्यपि ग्रन्थकर्ताके नामादि सम्बन्धी अनेक त्रुटियोंको लिये हुए है, फिर भी उस परसे ग्रन्थोंके निकालनेमें कोई दिक्कत नहीं होती। इस ग्रन्थसूचीकी कापी भी बाबू पन्नालालजी अग्रवालने अपने हाथसे उतार कर मेरे पास भेजी है, जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। सूची परसे ग्रन्थप्रतियोंकी संख्या सब मिलाकर १४०० के करीब जान पड़ती है। अनेक ग्रन्थोंकी कई कई प्रतियाँ हैं, इससे ग्रन्थ संख्या ६०० या ७०० के करीब होगी। इसी ग्रन्थसूची परसे कुछ खास खास ग्रन्थोंकी यह सूची तय्यार कराई गई है। इस सूचीमें उन बहुतसे ग्रन्थोंको नहीं लिया गया है—छोड़ दिया है—जो पिछली दो किरणोंमें प्रकाशित नयामन्दिरकी सूचीमें आचुके हैं। साथ ही, सूचीमें ग्रन्थकर्ताके नामोंकी जो त्रुटियाँ थीं और लिपि सम्वतोंका पूर्णतया अभाव था उस सबकी पूर्ति भी ग्रन्थप्रतियों परसे, दो दिन देहली ठहरकर बा० पन्नालालजीके सहयोगसे करदी गई है। फिर भी समयाभावके कारण पिछले कुछ ग्रन्थ जाँचसे रह गये हैं—उनके लिपि सम्वतोंका नोट नहीं होसका। कुछ ग्रन्थ बाहर गये होनेके कारण भी जाँच तथा नोटसे रह गये हैं। जाँचके समय जिन ग्रन्थोंका रचना-सम्वत् सहज हीमें मालूम होसका है उसे भी नोट कर दिया गया है—शेषको छोड़ दिया है। इस भण्डारमें हिन्दी ग्रन्थोंकी संख्या अधिक है और उनपरसे हिन्दीके कितने ही अज्ञात लेखकों तथा कवियोंका पता चलता है। 'बुद्धिसागर' नामका ग्रन्थ मुसलमान कविकी आजसे ३०० वर्ष पहलेकी हिन्दी रचना है और वह सम्राट् अकबर आदि से सम्बन्ध रखने वाली अनेक ऐतिहासिक बातोंके उल्लेखको लिये हुए है।

—सम्पादक

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	रचना सं०	लिपिसंवत्
अकलमार	पं० खूबचन्द	हिन्दी पद्य	११६		१६८५
अजितनाथपुराण	पं० देवदत्त	,,	८६		१६८०
अध्यात्मदोहा	पं० रूपचन्द	,,	४१		
अनगारधर्मामृत (भा. टी.)	पं० आशाधर	संस्कृत-हिन्दी	४५१		१६८४
अनिरुद्धकुमारचरित	भागचन्द श्रावक	हिंदी पद्य	१५		१६८३
अनुत्तरोपपाददशांग (श्वे., हि. टि.)		प्राकृत-हिन्दी	१२		१८६२
अन्त:कृतदशांग ,,		,,	३५		१८७४
अभिनन्दनपुराण	पं० देवदत्त	हिन्दी पद्य	१६		१६७७
अमरविलास	अमरकवि	,,	४७		
आचारसार (सटिप्पण)	वीरनन्दी	संस्कृत	१६	टि. १६२७	१७७०
आदित्यव्रतकथा	मल्लपुत्र अगरवाल	हिंदीपद्य (१५६)	२७		
उद्यमप्रकाश	कवि छत्रपति पद्मावती पुरवाल	,,	६१		१६८३
उद्धारकोष (मंत्रबीजादिकोष)	दक्षिणामूर्ति (अजैन)	संस्कृत	११		
उपदेशरत्नमाला	भ० सकलभूषण	,,	८६		
उपासकदशांगसूत्र (श्वे.)		प्राकृत	४६		१६३६
ऋषिदत्ताचरित्र (शीलप्रबंध)	देवकलस (पाठकदेवका शिष्य)	हिंदी	१४	१५६६	× (जीर्ण)

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
कर्मचूरसारसंग्रह	पं० हेमराज	हिंदी गद्य	७३		१६०३
कर्मप्रकृति (१६० गाथा)	नेमिचन्द सि० चक्रवर्ती	प्राकृत	११		१६२५
कर्मप्रकृति (श्वे.) टीका	मलयगिरिसूरि	प्रा० सं०	३१८		
करिकंडुचरित —	भ० शुभचन्द्र	संस्कृत	६		
करिकंडुचरित	मुनि कनकामर	अपभ्रंश	६५		१५७८
गुणधरचरित्र	पं० नयनानन्द	हिंदी पद्य	४०	१६१६	१६८१
गौतमचरित्र	भ० धर्मचंद्र	,, गद्य	६७		१६८४
चर्चानामावली		,, पद्य	४०		१९५६
चर्चामंजरी	वैद्य शीतलप्रसाद	,, ,,	४	१६५५	
चिकित्सासारसंग्रह (अजैन)	वंगसैन	संस्कृत	७०६		१६२२
चिद्विलास	पं० दीपचंद	हिंदी गद्य	६१	१७७६	१६२६
चेतनविलास	कवि जौहरी	,, पद्य	१३७		१६८१
चेलना रानीकी कथा		,, गद्य	६		
छहढाला	पं० बुधजन	,, पद्य	१४	१८७६	१६२७
जम्बूस्वामिचरित	कवि राजमल्ल	संस्कृत	१०५	१६३२	
जिनगुणविलास	पं० नथमल	हिंदी पद्य	७६	१८२२	
ज्येष्ठजिनवरकथा	पं० खुशालचंद	,, ,,(८४)	१२	१७८२	१६५५
जैनागारप्रक्रिया	त्यागी दुलीचंद	सं० हिंदी गद्य	६०	१६५५	
जैनधर्मसुधासागर		हिंदीगद्य पद्य	३६		१६६७
ज्ञानार्णव चौपई (श्वे.)	लब्धविमलगणी	हिंदी पद्य	६६		
ज्ञानानन्दश्रावकाचार	पं० जगतराय	हिंदी गद्य	१४०		
ज्ञानानन्दश्रावकाचार	पं० टोडरमल्ल	,, ,,	२२५		
तत्त्वार्थटीका	भ० धर्मचंद्र	संस्कृत	६२	१४८६	
तत्त्वार्थबोध (भाषा)	पं० बुधजन	हिंदी पद्य	११८	१८७६	१६२७
त्रिभंगी पंचक (भा. टी. सहित)	मू० नेमिचंद्र,	प्रा० हिंदी	६३		
त्रिलोकदर्पण	पं० खड्गसैन	हिंदी पद्य	६२	१७६४	
दशवैकालिक (श्वे.)		प्राकृत	१६		१८८७
दानशीलतपभावना	अशोक मुनि	,,	६		
दौलतविलास	पं० दौलतराम	हिंदी पद्य	२६		१६५४
द्रव्यप्रकाश	पं० देवचंद्र	,, ,,	३०		१६८५
धर्मकुण्डलिका		,, गद्य	२६		
धर्मचर्चा		,, ,,	१८		१६३२
धर्मचर्चासंग्रह		,, ,,	४३		
धर्मबुद्ध मंत्रीकी कथा	कवि वृन्दावन	,, पद्य	१५		१६८४
धर्मरत्नोद्योत		,, ,,	५७		१६७६

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
धर्मसरोवर	कवि जोधराज	हिंदी पद्य	२३	१७२४	१६८४
धर्मोपदेशरत्नमाला	त्यागी दुलीचंद	,, गद्य	११३		
ध्यानबत्तीसी		,, पद्य	३		
नमोकारग्रन्थ	पं० लक्ष्मीचंद वैनाड़ा	,, गद्य	६८४	वी. २४४६	१६८०
नयचक्र-वचनिका	निहालचंद पुत्र विलासचंद	,, ,,	४६	१८६७	१८७६
नयनसुखविलास	यति नयनसुखदास	,, पद्य	२४५		१६८०
नागकुमारचरित्र	पं० नथमल विलाला	,, ,,	५४	१८३०	१६७६
नाममाला (भाषाकोष)	पं० बनारसीदास	,, ,,	१५	१६७०	१६३३
नारचंद्र (ज्योतिषशास्त्र)	नरचंद्र	संस्कृत	३४		१६३४
नित्यधर्म-प्रक्रिया	त्यागी दुलीचंद	हिंदी गद्य	३८		१६३६
निरयावलि-टीका (श्वे.)		प्राकृत-हिंदी	६१		
नेमिचन्द्रिका	पं० मनरंगलाल	हिंदी-पद्य	२६	१८८०	
पद्मनन्दिपच्चीसी	पं० जगतराय	,,	१०७		१८६१
पद्मप्रभुपुराण	पं० देवीदत्त	,,	२४		१६८०
पंचपरावर्तनचर्चा (वचनिका)		,, गद्य	५		
पंचमीव्रतकथा	भ० सुरेन्द्रनाथ	हिंदी पद्य	६		१६६१
पंचाख्यान चौपई	पं० निर्मलदास	,, पद्य	७१		१६७६
परमानन्दविलास	पं० देवीदास	,, ,,	६३		१६७६
पाशाकेवली भाषा	(गर्गाचार्य कृतिका अनुवाद)	,, ,,			
प्रतिक्रमण सूत्र		प्राकृत	५		
प्रद्युम्नचरित	शाहमहाराज पुत्र रायरछ	हिंदी गद्य	७२		१६१८
प्रद्युम्नचरित (वचनिका)	पं० ज्वालानाथ बखतावरसिंह	,, ,,	२१२	१६१६	१६६६
प्रद्युम्नचरित	कवि बूलचंद	,, पद्य	३७	१८४३	
प्रभंजनचरित		,, गद्य	२३		
प्रश्नमाला		,, ,,	२७		१६८०
प्रश्नसमाधान	पं० बनवारीलाल	,, ,,	२७		
प्रीत्यंकरचरित्र	पं० बखतावरमल	,, पद्य	१६		१६००
बुद्धिसागर	क्यामखानी न्यामतखाँ	,, ,,	१०६	१६६५	१८४०
ब्रह्मगुलालचरित्र	कवि छत्रपति पद्मावती पुरवाल	,, ,,	३२	वी०१६०६	२४५१
भक्तामरस्तोत्र-टीका	मू० मानतुङ्गसूरि, टी० जयचंद	सं०, हिंदी	४१	१८७०	
भावदीपिका		हिंदी गद्य	१४८		१६६६
मदनपराजय (वचनिका सहित)	मू० कवि जिनदेव, स्वरूपचंद	सं०, हिंदी गद्य	६३	टी०१६१८	
मन्मोदनपंचशती		हिंदी पद्य	५८	१६१६	१६७३
मरकतमणिविलास (वचनिका)	पं० पन्नालाल गोधा	,, गद्य	१४४	१६३३	१६७६
मल्लिनाथचरित्र (वचनिका)	भ० सकलकीर्ति, टी. दौलतराम	सं०, हिंदी गद्य	३०		१८२८

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
मल्लिनाथ पुराण (वचनिका)	भ. सकलकीर्तिटी. पं० गजाधरलाल	सं० हिंदी गद्य	७५		१९८०
महावीर पुराण भा. टीका	मूल असगकवि, टी०	हिंदी गद्य	१००		१९७७
मिथ्यात्वखंडन	पं० बखतराम	,,	५५	१८२१	१९७९
मिथ्यात्वनिषेध (वचनिका)	पं० कान्हा भजनी ?	,,	३१		
मुक्तिस्वयंवर (भा. टीका)	पं० वेणीचंद्र	सं० हिंदी गद्य	३४४		
मुनिवंशदीपिका	नयनसुख	,,	५	१९२६	
यशोधरचरित्र (वचनिका)		हिंदी गद्य	११९		
योगसार (हिंदी टीका सहित)	मूल जोइन्दु, टी०	अपभ्रंश हिंदी	१९		
रत्नकरण्डश्रावकाचार (चौपई)		हिंदी पद्य	२४	१७७०	१९७६
रत्नत्रयव्रतकथा	ब्रह्मज्ञानसागर	,, ४५	३		
रत्नत्रयव्रतकथा	भ० सकलकीर्ति	संस्कृत	४		
रत्नपरीक्षा	रत्नसागर	हिंदी पद्य			१८७७
रविव्रतकथा	भानुकीर्ति मुनि	,, ४५	५	१६७८	
राजुलपच्चीसी		,,			
लक्ष्मीविलास	पं० लक्ष्मीचंद	,,	१०४		१९७७
वचनकोश	बुलाकीचंद	,,	१३०	१७३७	१८८३
विमलनाथपुराण	पं० कृष्णदास	,, ३०४६	१५९	१६७४	१९८१
विद्यानुशासन (मंत्रशास्त्र)	सुकुमारसेन मुनि	संस्कृत	१२७+४८		
विद्याविलास (वचनिका)		हिंदी गद्य	२६		१८६३
विद्युत्चोरकथा	पं० द्यानतराय	,, पद्य	१०		
वैद्यवल्लभ (अर्जन)	हस्तरुचि	संस्कृत	१२	१७२६	१८८६
वैराग्यबत्तीसी (चौपई)		हिंदी पद्य	११		
षट्कर्मोपदेशमाला (भाषा)	पाँडे लालचंद	,, ,,	७७	भा १८१८	१९०६
सप्तमीकथा	पं० ब्रह्मराय	,, ,,	५		१९६२
सप्तमीकथा	पं० खुशालचंद	,, ,,	६		१९७३
सप्तव्यसनचरित्र	पं० भारामल	,, ,,	२११		
समयसार टीका भाषा	पं० अमरचंद पन्नाल	,, गद्य	२६१		
सम्मेदशिखर माहात्म्य	पं० मनसुखसिंह	,, पद्य	६८		
सम्भवपुराण	पं० देवदत्त	,, ,,	१३		
सारस्वतमण्डन (श्वे.)	बाहड पुत्र मंडन	संस्कृत	१२१		१६३४
सिद्धान्तसारसंग्रह (वचनिका)	पं० जिनेन्द्रसेन	हिंदी गद्य	२१७		
सिद्धान्तसारोद्धार (वचनिका)	पं० भग्गरुचि	,, ,,	६६		
सीताशतक	पं० भगवतीदास	,, पद्य	२१		
सुखविलास	पं० सुखानंद	,, ,,	१७८		
सुगंधदशमीकथा	ब्रह्मज्ञानसागर	हिंदी पद्य ४४	४		

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
सुगंधदशमी कथा	मकरन्द पद्मावतीपुरवाल	हिंदी पद्य ५४	११		१९६६
,,	पं० खुशालचंद	,, १४४	१०		
,,	पं० भैरोंदास	,, ८४	१८	१७९२	
सुन्दरविलास	पं० सुन्दरदास	हिंदी पद्य	७६		
सुन्दरदासके सवैये	,,	,, ,,	५८		
सुभाषितार्णव (भा० टी०)	दुलीचन्द	,, गद्य	१०४		
सुभाषितसार		,, पद्य	४१		
सुमतिनाथ पुराण	पं० देवदत्त	,, ,,	२६		
सुलोचना चरित्र (भा० टी०)		,, गद्य	५६		
सूतिकाधिकार		सं० हिंदी	१६		१९४७
सोलहकारण व्रत कथा	पं० भैरोंदास	हिंदी पद्य ७१	६	१७९१	
,,	ब्रह्मज्ञानसागर	,, ३७	४		
स्वप्नाध्याय (अजैन)	वृहस्पति	सं० पद्य ४६	४	१६११	
स्वप्नावली (मरुदेवी स्वप्नफल)	देवनन्दी	,, २२	२		
हनुवंत कथा	ब्रह्मरायमल्ल	हिंदी पद्य	७०	१६१६	
हरिवंश पुराण	कवि वाहन	,, ,,	८७		
हितोपदेश वचनिका	पं० अभयचन्द	,, गद्य	३५३		

वीरसेवामन्दिर, सरसावा —— ता०..................

(पृष्ठ ४७१ का शेषांश)

तच्छिष्योत्तमपद्मसुंदर कविः श्रीसुंदरादिप्रकाशां।
तशाक्ष मरीरवस्सहृदयैः संशोधनीयं मुदा ।।६७।।
पदार्थचिन्तामणिचारुसुंदरप्रकाश-
शब्दार्णवनामामिम्तवर्यं ।
जगज्जिगीषु ञ्जयंतात्सतां मुखे
तरंगरंगो विरराय पंचमः ।। ६८ ।।

इति श्रीमन्नागपुरीयतपागच्छनभोनमामणि पंडितोत्तम श्रीपद्ममेरुगुरुशिष्यपं०श्रीपद्मसुंदरविरचिते सुंदरप्रकाशे शब्दार्णवपंचमस्तरंगः पूर्णः तत्समाप्तौपूर्णः श्रीसुंदरप्रकाश ।। सं० १६—।*

*यहां तक ग्रंथोंके जो भी वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे बहुत कुछ अशुद्ध हैं। शायद प्रतियाँ ऐसी ही अशुद्ध लिखी हुई होंगी, परन्तु लेखकने उसका कोई नोट नहीं किया।

—सम्पादक

प्रतिपरिचय—इसकी एकमात्र प्रति पनेचंदजी सिंघी संग्रहसुजान-गढ़में देखनेमें आई है। पत्र ८८, प्रति पृष्ठ पंक्ति १४ और प्रति पंक्ति अक्षर ४४ के करीब हैं, सरदीके कारण कहीं २ अक्षर नष्ट होगये हैं। कहीं २ पत्रे फट गये हैं।

३ प्रमाणसुंदर ।
४ रायमल्लाभ्युदय काव्य (सं० १६१५)
५ पार्श्वनाथकाव्य (सं०१६१६ लि०) बीकानेरस्टेट ला०।
६ जंबूचरित्र (बीकानेर ज्ञानभंडार)
७ हायन (यन् ?) सुंदर(ज्योतिषकी, बीकानेर स्टेट लाइब्रेरी)
८ परमत व्यच्छेद स्याद्वादसुंदरद्वात्रिंशिका(बीकानेर स्टेट ला०
९ षटभाषागर्भित नेमिस्तव गाथा ३० (हमारे संग्रहमें)
१० वरमंगलमालिका स्तोत्र गा० २१ (बी० स्टेट लायब्रेरी)
११ भारती स्तोत्र। (उ० सूरीश्वर सम्राट)

इनके सिवाय और ग्रंथोंका कुछ पता अभी तक मालूम नहीं हो सका।

भाई जयभगवानजी वकीलका सम्मान

इस वर्ष दशलाक्षणिक पर्वके अवसरपर धर्मपुरा देहलीके नये मन्दिरमें भाई जयभगवानजी वकील पानीपतने दस दिनतक शास्त्रसभामें तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर नई शैलीसे अपना प्रवचन किया था—व्याख्यान दिया था, जिसे सुनकर श्रोताजन बहुत प्रसन्न हुए—मुझे भी दो दिन आपका प्रवचन सुननेका अवसर मिला और प्रसन्नता हुई। अतः भादोंकी पूर्णिमाको रात्रिके समय आपके सम्मानमें एक सभा चौधरी ला० जग्गीमलजीके सभापतित्वमें की गई, जिसमें आपके गुणोंका कीर्तन करते हुए भारी आभार प्रदर्शित किया गया और एक सुसज्जित चौखटेके भीतर जड़ा हुआ 'अभिनन्दन-पत्र' श्रद्धाञ्जलिके रूपमें आपको भेंट किया गया। उस समयका प्रेमदृश्य बड़ा ही हृदय-द्रावक था—जनता सुगंधित पुष्पोंकी मालाएँ आपके गलेमें डालती हुई तृप्त नहीं होती थी। इस समय बा० उग्रसेनजी एम०ए० (वकील रोहतक) प्रिंसिपल जैन गुरुकुल मथुराका अच्छा मार्मिक भाषण हुआ था, जिसमें भाई जयभगवानकी शिक्षा, प्रकृति, परिणति, अध्ययनशीलता और वेदों तथा षट्दर्शनादिके साथ तुलनात्मक अध्ययनको बतलाते हुए, उन्हें शास्त्रव्याख्याताके रूपमें चुननेके लिये देहली जैनसमाजके विवेककी प्रशंसा की गई, जिससे दो बड़े लाभ हुए—एक तो अच्छी समझमें आने योग्य भाषामें नई शैलीसे शास्त्रका व्याख्यान सुननेको मिला; दूसरे लगभग हजार रुपयेकी वह रकम बची जो प्रायः हरसाल किसी अच्छे पंडितके बुलानेमें खर्च होजाया करती थी। जनताके अनुरोधपर मैंने भी समयोपयोगी दो शब्द कहे। अन्तमें नम्रता और कृतज्ञतादिके भावोंसे भरा हुआ भाई जयभगवानका भाषण हुआ और उसमें आपकी भावी समाजसेवाओंका भी कितना ही आभास मिला। अस्तु, जो 'अभिनन्दनपत्र' आपको स्थूलाक्षरोंमें भेंट किया गया वह सूक्ष्माक्षरोंमें 'अनेकान्त' के पाठकोंके जाननेके लिये नीचे दिया जाता है।

—सम्पादक

सेवामें, श्रीमान् विद्वद्वर्य्य धर्मवत्सल पं० जयभगवानजी बी०ए०, एलएल० बी० वकील, पानीपत

श्रीमन् जयभगवान ! गुणी-जनके मन-भावन, दर्शनीय विद्वान् परमज्ञानाम्बुज पावन।
तुलनात्मक है दृष्टि नीतिमय वचन तुम्हारे, वीर प्रभूके भक्त धन्य तुम बंधु हमारे॥
स्वार्थ और सम्मानकी नहिं इच्छा तव पास है। अनेकान्तमयि-धर्मका हृदय तुम्हारे वास है।१

वेद और वेदान्त उपनिषद् मनन करे हैं, पाश्चात्य विज्ञान और सिद्धान्त पढ़े हैं।
षट्दर्शनका तत्त्व हृदयमें सतत् भरा है, नूतन शैली सहित परम उपदेश करा है॥
तुलनात्मक जिनधर्मका करें विवेचन आप हैं। सबके मापनके लिये स्याद्वादमयि माप हैं।२

विश्वोद्धारक जैनधर्मके हो व्याख्याता, प्रवचन सुन आनन्द भये हम पाई साता।
जैनजाति-कुलचंद्र विभो, तुम हो उपकारी, पानीपत शुभठाम जहाँ तुमसे सुविचारी॥
सज्जनताकी मूर्ति ! हम रखते श्रद्धा आपमें। करते मन-रंजन सभी, तव गुणकीर्ति-कलापमें।३

की यह हमपर कृपा यहाँ जो आप पधारे, सेवा हमसे बनी नाहिं नैननके तारे!
हृदय विशाल महान वचन शीतल जिमि चंदन, प्रेम-भावसे करें आज हम तव अभिनन्दन।
समदर्शी विद्वान अति जयभगवान उदार हैं। अर्पित श्रद्धाभावसे हार्दिक ये उद्गार हैं।४

भाद्रपद शुक्ला १५
वीर निर्वाण सं० २४६७

कृपाकांक्षी—सदस्य शास्त्रसभा
श्री दिगम्बर जैन नयामन्दिर, धर्मपुरा, देहली।

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओं के प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्ता से मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाज सेवाओं में अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायक श्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम सहित इस प्रकार हैं—

* १२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
* १०१) बा० अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ
* १०१) बा० बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
* १००) साहू शान्तिप्रसादजी, जैन डालमियानगर।
* १००) बा० शांतिनाथ सुपुत्र बा० नन्दलालजी जैन, कलकत्ता।
१००) ला० तनसुखरायजी जैन न्यू देहली।
*१००) सेठ जोखाराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
१००) बा० जयभगवानजीवकील आदि जैन पचान पानीपत।
* ५१) रा०ब० उलफतरायजी जैन इन्जिनियर, मेरठ
* ५०) ला० दलीपसिंह काग़जी और उनकी मार्फत, देहली।
२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर बम्बई।
* २५) ला० रूड़ामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
* २५) बा० रघुवरदयालजी, एम. ए. करोलबाग, देहली।
* २५ सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
* २५ ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा (मु०न०)
२५ मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन, सहारनपुर।
* २५) ला० दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
* २५) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
* २५) सवाई सिंघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीम को सफल बनाने में अपना सहयोग प्रदान करके यश के भागी बनेंगे।

नोट—जिन रकमों के सामने * यह चिन्ह दिया है वे पूरी प्राप्त हो चुकी है।

तृतीय मार्ग से प्राप्त हुई सहायता

द्वितीय मार्ग से प्राप्त हुई सहायता अनेकान्त की पूर्व किरणों में प्रकाशित हो चुकी है। तृतीय मार्ग से प्राप्त हुई सहायता इस प्रकार है जिसके लिये दातार महानुभाव धन्यवाद के पात्र हैं।

११) बा० राजकृष्ण जी जैन, दरियागंज, देहली
५) कुँवर लक्ष्मीनारायणजी जैन छावड़ा, कलकत्ता
५) ला० जम्बूप्रसादजी जैन रईस व बैंकर, मेरठ।
४) बा० ज्योतिप्रसादजी जैन, एम. ए. वकील, मेरठ।
४) ला० फूलचन्द नेमचन्दजी भावुक जैन, फलोधा
२) ला० मामराजजी जैन बूढ़ाखेड़ी।
२) बा० गोपीलालजी जैन, लश्कर ग्वालियर।
२) स्व० ला० भिक्खीमलजी जैन मुनीम, मेरठ।
१) बा० छुट्टनलालजी जैन मुख्तार, मेरठ।
१) बा० कैलाशचन्दजी जैन बी.एस.सी., मेरठ।
१) बा० शीतलप्रसादजी जैन रिठानेवाले, मेरठ।

अनेकान्त की सहायता के चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओं को अनेकान्त फ्री (बिना मूल्य) या अर्धमूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक दस रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरों पर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रन्थोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दे सके। स्वतः अपनी ओर से उपहार ग्रंथोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे२ लेख लिखकर भेजना लेखोंकी सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना, कराना। 'व्यवस्थापक अनेकान्त'

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानंद शास्त्री वीरसेवामन्दिर, सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तवप्रेसमें मुद्रित।

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥
जै
नी
नी
ति
अनेकान्तात्मिका
स्याद्वादरूपिणी
सम्यग्वस्तु-ग्राहिका
अनेकान्तात्मक
वस्तु तत्त्व
स्यात्
उभयानुभय तत्त्व
विधेय तत्त्व
निषेध्य तत्त्व
निषेध्यानुभय तत्त्व
उभय तत्त्व
विधेयानुभय तत्त्व
अनुभय तत्त्व
विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥

विषय-सूची

वीरसेवामंदिर सरसावाको ग्रंथ-प्रकाशनके लिये, श्रीसाहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर की ओरसे, दसहजार रु० की नई सहायताका वचन

देखो, भीतर चित्र परका लेख

प्राप्ति स्वीकार

हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावाको निम्न प्रकारसे १०) रुपयेकी सहायता प्राप्त हुई है, जिसके लिये दातार महाशय धन्यवादके पात्र हैं:—

५) श्री दिगम्बर जैन समाज रुड़की ज़ि. सहारनपुर।
५) श्री दिगम्बर जैन समाज बाराबंकी।

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामंदिर'

भ० महावीर और उनका समय

सम्पादक 'अनेकान्त' की लिखी हुई यह महत्वकी पुस्तक सबके पढ़ने तथा प्रचार करनेके योग्य है। ।) मूल्यमें निम्न पते पर मिलती है— पन्नालाल जैन अग्रवाल
१७६५, मुहल्ला चर्खेवालान, देहली

सोनेके दो बटनोंका दान

श्रीमान् लाला जम्बूप्रसादजी जैन रईस नानौता जिला सहारनपुरने, स्वयं सोनेके बटनोंको पहननेका त्याग करके, जो दो बटन कमीजमें पहने हुए थे उन्हें वीरसेवामन्दिरको दान कर दिया है। इस हृदय-परिणति, विषय-विरक्ति और त्यागभावके लिये आप धन्यवादके पात्र हैं, और आपका यह कृत्य दूसरे अलंकार-प्रिय श्रीमानोंके लिये अनुकरणीय है। बटनोंका वज़न ७॥ माशेके करीब है।

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामंदिर'

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४ किरण ९	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर कार्तिक, वीर निर्वाण सं० २४६८, विक्रम सं० १९९८	अक्तूबर १९४१

लोक-मङ्गल-कामना

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग्विकिरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके,
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥

—जैननित्यपाठ

'सम्पूर्ण प्रजाजनोंको भले प्रकार कुशल-क्षेमकी प्राप्ति होवे – सारी जनता यथेष्टरूपमें सुखी रहे—, बलवान राजा धार्मिक बने—धर्ममें अच्छी तरह निष्ठावान् (श्रद्धा एवं प्रवृत्तिको लिये हुए) होवे—अथवा धार्मिक राजाका बल खूब बढ़े (जिससे अन्याय अत्याचारोंका मुख न देखना पड़े), समय समय पर ठीक वर्षा हुआ करे—अतिवृष्टि, अल्पवृष्टि, और अनावृष्टिसे किसीको भी पाला न पड़े—, व्याधियाँ-बीमारियाँ नाशको प्राप्त हो जावें, जगतके जीवोंको दुर्भिक्ष (अकाल), चोरी और मरी (प्लेग-हैज़ा आदि) संक्रामक रोगोंकी वबा एक क्षणके लिये भी न सतावे, और जैनेन्द्र-धर्मचक्र —जिनेन्द्रका उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य- ब्रह्मचर्यरूप दशलक्षणधर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयधर्म—जो सब जीवोंको सुखका देनेवाला अथवा पूर्ण सुखका प्रदाता है वह लोकमें सदा अस्खलितरूपसे निर्बाध प्रवर्ते—उसमें कभी कोई बाधा न पड़े ।'

जिनेन्द्रमुद्राका आदर्श[1]

[पं० दीपचन्द्र जैन, पाण्ड्या]

(१)

लोचन लाली-रहित शांत बतलाते जीता तूने रोष ,
दृष्टि कटाक्ष-रहित कहती नहिं तुझमें काम-विकृतिका दोष ।
मद-विषादको दई जलांजुलि—यों यह हँसती-सी अभिराम—;
सौम्य मुखाकृति प्रकट बताती—शुद्धहृदय तू आतमराम ॥

(२)

राग भावका नाश किया—यों पास न तेरे भूषण सार ,
है निर्दोष सहज सुन्दर तन—यों नहिं वस्त्रोंका शृंगार ।
द्वेष छोड़ तू बना अहिंसक निर्भय—यों न पास हथियार ;
विविध वेदनाओंके क्षयसे सदा तृप्त तू बिन आहार ॥

(३)

मल-मूत्रादिकका न अशुचिपन सोहैं परिमित नख अरु केश ,
भीनी चंदन-कमल-सुपरिमल महकत सारे देह प्रदेश ।
रवि शशि-वज्र-यवादि सुहाते सहस अठोत्तर चिन्ह विशेष ;
सूर्य-सहस्र-समान कांतिमय, तदपि नयन-प्रिय तेरा वेष ॥

(४)

राग—मोह—मिथ्यात्व महारिपु हितका भान न होने देत ,
इनके वश जगवासी भूले, मोह नींदमें पड़े अचेत !
निरखैं पलक खोल यदि तुझको क्षणमें होवें शुद्ध सचेत ;
योगि-जनोंके मन बसती छवि, तेरी किधों उदित शशि श्वेत ॥

(५)

बीता काल अनंत जगतमें भ्रमते मिला न सुखका लेश ;
जिनवर ! तू सच्चा सुख पाया, यों तेरे पद नमत सुरेश ।
मिथ्या-मत पाखंडि-तिमिरसे अंध बने जो पाते क्लेश ;
यह जिनरूप ज्योति मनमें धर भविजन पार करो भवक्लेश ॥

---

१ चैत्यभक्तिके 'अताम्रनयनोत्पलं' आदि पाँच पद्योका हिन्दी रूपान्तर ।

परिग्रहका प्रायश्चित्त

[सम्पादकीय]

'प्रायश्चित्त' एक प्रकारका दण्ड अथवा तपोविधान है जो अपनी इच्छासे किया तथा लिया जाता है, और उसका उद्देश्य एवं लक्ष्य होता है आत्मशुद्धि तथा लौकिकजनोंकी चित्तशुद्धि। आत्माकी अशुद्धिका कारण पापमल है—अपराधरूप आचरण है। प्रायश्चित्तके द्वारा पापका परिमार्जन और अपराधका शमन होता है, इसीसे प्रायश्चित्तको पापछेदन मलापनयन, विशोधन और अपराधविशुद्धि जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया जाता है *। इस दृष्टिसे 'प्रायः' का अर्थ पाप-अपराध, और 'चित्त' का अर्थ शुद्धि है। पाप तथा अपराध करने वाला जनताकी नज़रमें गिर जाता है—जनता उसे घृणाकी दृष्टिसे-हिक़ारतकी नज़रसे देखने लगती है और उसके हृदयमें उसका जैसा चाहिये वैसा गौरव नहीं रहता। परन्तु जब वह प्रायश्चित्त कर लेता है—अपने अपराधका दण्ड ले लेता है तो जनताका हृदय भी बदल जाता है और वह उसे ऊँची, प्रेमकी तथा गौरव-भरी दृष्टिसे देखने लगती है †। इस दृष्टिसे प्रायः का अर्थ 'लोक' तथा 'लोकमानस' है और चित्तका अर्थ वही 'शुद्धि' अथवा 'चित्तग्राहककर्म' समझना चाहिये।

परिग्रहको शास्त्रकारोंने, यद्यपि, पाप बतलाया है और हिंसादि पंच प्रधान पापोंमें उसकी गणनाकी है; फिर भी लोकमें वह आम तौरसे कोई पाप नहीं समझा जाता—हिंसा झूठ, चोरी और परस्त्री-सेवनादिरूप कुशील को जिस प्रकार पाप समझा जाता है और अपराध माना जाता है उस प्रकार धन-धान्यादिरूप परिग्रहके संचयको—उसमें रचेपचे रहनेको कोई पाप नहीं समझता और न अपराध ही मानता है। इसीसे लोकमें परिग्रहके लिये कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं—जो जितना चाहे परिग्रह रख सकता है। भारतीय दण्डविधान (Indian penal code) में भी ऐसी कोई धारा नहीं, जिससे किसी भी परिग्रहीको अथवा अधिक धन-दौलत एकत्र करने वाले तथा संसारकी अधिक सम्पत्ति-विभूति पर अपना अधिकार रखने वाले गृहस्थको अपराधी एवं दण्डका पात्र समझा जासके। प्रत्युत इसके, जो लोग मिलों, कल-कारखानों और व्यापारादिके द्वारा विपुल धन एकत्र करके बहुविभूतिके स्वामी बनते हैं, उन्हें लोकमें प्रतिष्ठित समझा जाता है, पुण्याधिकारी माना जाता है और आदर की दृष्टिसे देखा जाता है। ऐसी हालतमें उनके पापी तथा अपराधी होनेकी कोई कल्पना तक भी नहीं कर सकता—उन्हें वैसा कहने-सुननेकी तो बात ही कहां? तब फिर 'परिग्रहका प्रायश्चित्त' कैसा? और उसे पाप बतलाना भी कैसा?

यह ठीक है कि परिग्रहको लोकमें हिंसादिक पापोंकी दृष्टिसे नहीं देखा जाता, सभी उसकी चकाचौंधमें फँसे हैं, सभी उसके इच्छुक हैं और सभी अधिकाधिकरूपसे परिग्रह-धारी बनना चाहते हैं। ऐसे अपरिग्रही सच्चे साधु भी प्रायः

* "रहस्यं छेदनं दण्डो मलापनयनं तपः।
प्रायश्चित्ताभिधानानि व्यवहारो विशोधनम् ॥६॥"
"प्रायश्चित्तं तपः श्लाघ्यं येन पापं विशुध्यति ॥१८३॥"
—प्रायश्चित्तसमुच्चय

"प्रायाचिनि चित्तयोरिति सुट् अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः।
प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तं—अपराधविशुद्धिरित्यर्थः।"
—राजवार्तिक ६। २२। १

† प्रायो लोकस्य चित्तं मानसं। उक्तंच—
"प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनोभवेत्।
तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतं ॥"
—प्रायश्चित्तसमुच्चय-वृत्ति

नहीं हैं जो अपने आचरण-बल और सातिशय वाणीसे अपरिग्रहके महत्वको लोक-हृदयोंपर भले प्रकार अंकित कर सकते—उन्हें उनकी भूल सुझा सकते, परिग्रहसे उनकी लालसा, गृद्धता एवं आसक्तताको हटा सकते, और अनासक्त रहकर उसके उपभोग करने तथा लोकहितार्थ वितरण करते रहनेका सच्चा-सजीव पाठ पढ़ा सकते। कितने ही साधु तो स्वयं महा-परिग्रहके धारी हैं—मठाधीश, महन्त-भट्टारक बने हुए हैं, और बहुतसे परिग्रहभक्त सेठ-साहूकारोंकी हाँमें हाँ मिलाने वाले हैं, उनकी कृपाके भिखारी हैं, उनकी असत् प्रवृत्तियोंको देखते हुए भी सदैव उनकी प्रशंसाके गीत गाया करते हैं—उनकी लक्ष्मी, विभूति एवं परिग्रहकी कोरी सराहना किया करते हैं। उनमें इतना आत्मबल नहीं, आत्मतेज नहीं, हिम्मत नहीं जो ऐसे महापरिग्रही धनिकोंकी आलोचना करसकें—उनकी त्याग-शून्य निरर्गल धन-दौलतके संग्रहकी प्रवृत्तिको पाप या अपराध बतला सकें। इस प्रकार जब सभी परिग्रहकी कीचमें थोड़े बहुत धँसे हुए हैं—सने हुए हैं, तब फिर कौन किसीकी तरफ़ अँगुली उठावे और उसे अपराधी अथवा पापी ठहरावे? ऐसी हालतमें परिग्रहको आमतौर पर यदि पाप नहीं समझा जाता और न अपराध ही माना जाता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी परिग्रह पापकी—अपराधकी कोटिसे निकल नहीं जाता। उसे पाप या अपराध न मानना अथवा तद्रूप न देखना दृष्टिविकारका ही एकमात्र परिणाम जान पड़ता है। धतूरा खाकर दृष्टिविकारको प्राप्त हुआ मनुष्य अथवा पीलियारोगका रोगी यदि सफेद शंखको भी पीला देखता है तो उससे वह शंख पीला नहीं होजाता और न उसका शुक्ल गुण ही नष्ट हो जाता है। अथवा ठगोंका समाज यदि झूठ बोलने और चोरी करनेको पाप नहीं समझता तो उससे झूठ और चोरी पापकी कोटिसे नहीं निकल जाते। ठीक इसी तरह मोह-मदिरा पीकर दृष्टिविकार को प्राप्त हुआ संसार यदि परिग्रहको पापरूपमें नहीं देखता और न उसे कोई अपराध ही समझता है तो सिर्फ इतनेसे ही यह नहीं कहा जासकता कि परिग्रह कोई पाप या अपराध ही नहीं रहा, और इसलिये उसका प्रायश्चित्त भी न होना चाहिये। वास्तवमें मूर्छा, ममत्व-परिणाम अथवा 'ममेदं' (यह मेरा) के भावको लिये हुए परिग्रह एक बहुत बड़ा पाप है, जो आत्माको सब ओरसे पकड़े-जकड़े रहता है और उसका विकास नहीं होने देता। इसीसे श्रीपूज्यपाद और अकलंकदेव जैसे महान् आचार्योंने सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक आदि ग्रंथोंमें 'तन्मूलाः सर्वे दोषाः', तन्मूलाः सर्वदोषानुषंगाः' इत्यादि वाक्योंके द्वारा परिग्रहको सर्वदोषोंका मूल बतलाया है *। और यह बिलकुल ठीक है—परिग्रहके होने पर उसके संरक्षण-अभिवर्धनादिकी ओर प्रवृत्ति होती है; संरक्षणादि करनेके लिये अथवा उसमें योग देते हुए हिंसा करनी पड़ती है, झूठ बोलना पड़ता है, चोरी करनी होती है, मैथुनकर्ममें चित्त देना पड़ता है, चित्तविक्षिप्त रहता है, क्रोधादिक कषायें जाग उठती हैं, राग-द्वेषादिक सताते हैं, भय सदा घेरे रहता है, रौद्रध्यान बना रहता है, तृष्णा बढ़ जाती है, आरंभ बढ़ जाते हैं, नष्ट होने अथवा क्षति पहुँचनेपर शोक-सन्ताप आ दबाते हैं, चिन्ताओंका ताँता लगा रहता है और निराकुलता कभी पास नहीं फटकती ‡। नतीजा इस सबका होता है अन्तमें नरकका वास, जहाँ नाना प्रकारके दारुण दुःखोंसे पाला पड़ता है और कोई भी रक्षक एवं शरण नज़र नहीं आता। इसीसे जैनागममें बहुआरम्भी-बहुपरिग्रहीको नरकका अधिकारी बतलाया है; क्योंकि बहुआरम्भ (प्राणिपीडाहेतुव्यापार) और बहुपरिग्रह सिद्धान्तमें नरकायुके आस्रवके कारण कहे

* ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्राचार्यने बाह्य परिग्रहको 'निःशेषानर्थ-मन्दिर' लिखा है; क्योंकि उसके कारण अविद्यमान होते होते हुए भी रागादिक शत्रु क्षणमात्रमें उत्पन्न होकर अनिष्ट कर डालते हैं।

‡ इस विषयमें पुरातन आचार्योंके निम्न वाक्य भी ध्यानमें

गये हैं * । ऐसी हालतमें परिग्रहको पाप न मानकर उसका प्रायश्चित्त न करना और उसे भविष्यकी ओरसे आँखें बन्द करके बराबर बढ़ाते रहना, निःसन्देह बड़ी भारी भूल है— आत्म-वंचना है । इस भूलके वश परिग्रह पापकी पोट बढ़ते बढ़ते मनुष्यको घोर श्वभ्रसागर अथवा दुःखसागरमें ले डूबती है, जहाँसे उद्धार पाना फिर बहुत ही कठिन, गुरुतर कष्टसाध्य तथा असंख्य वर्षोंका कार्य हो जाता है । और इसलिये वे ही मनुष्य विवेकी हैं, वे ही बुद्धिमान हैं और वे ही आत्महितैषी एवं धर्मात्मा हैं जो इस भूल तथा आत्मवंचनाके चक्करमें न पड़कर अनासक्तिके द्वारा परिग्रहका अधिक भार अपने आत्मा पर पड़ने नहीं देते, और प्रायश्चित्तादिके द्वारा बराबर उसकी काट-छाँट करके अपने आत्माको सदैव हलका रखते हैं ।

अब देखना यह है कि परिग्रहका प्रायश्चित्त क्या है ? परिग्रहका समुचित प्रायश्चित्त अनासक्तिके साथ साथ उसका त्याग है, जो ग्रहणकी विपरीत दिशाको लिये हुए होनेसे यथार्थ जान पड़ता है । शीतका प्रतिकार जिस प्रकार उष्णसे और उष्णका प्रतिकार शीतसे होता है, उसी प्रकार ग्रहणरूप परिग्रहका प्रतिकार उसके त्यागसे ही ठीक बनता है । प्रायश्चित्तके दस अथवा नव भेदोंमें 'त्याग' नामका भी एक प्रायश्चित्त है, जिसे 'विवेक' भी कहते हैं ‡ । त्यागका दूसरा नाम 'दान' है, और इसलिये परिग्रहसे मोह हटाकर अथवा अपनी धन-सम्पत्तिसे ममत्व परिणामको दूर करके लोकसेवा के कामोंमें उसका वितरण करना—दे डालना, यह परिग्रह का समुचित प्रायश्चित्त है । परन्तु यह दान अथवा त्याग ख्याति-लाभ-पूजादिककी दृष्टिसे न होना चाहिये और न इस में दूसरोंपर अनुग्रह अथवा कृपाकी कोई अहंभावना ही रहनी चाहिये । जो दान ख्याति-लाभ-पूजादिककी दृष्टिसे दिया जाता है अथवा जिसमें दूसरों पर अनुग्रह और कृपाकी अहंभावना रहती है वह प्रायश्चित्तकी कोटिमें नहीं आता— वह दूसरे प्रकारका साधारण दान है । प्रायश्चित्तकी दृष्टि तो अपने पापका संशोधन अथवा अपराधका परिमार्जन करके आत्मशुद्धि करनेकी ओर होती है, और इसलिये उसका करने वाला दान करके किसी पर कोई इहसान—अनुग्रह नहीं जत-लाता और न उससे अपना कोई लौकिक लाभ ही लेना चाहता है । वह तो समझता है कि—'मैंने अपनी जरूरतसे अधिक परिग्रहका संचय करके दूसरोंको उसके भोग-उपभोगसे वंचित रखनेका अपराध किया है, उसके अर्जन-वर्धन-रक्षणादि में मुझे कितने ही पाप करने पड़े हैं, उसका निरर्गल बढ़ते

रखने योग्य हैं, जिनसे इस विषयकी कितनी ही पुष्टि होती है—

"के पुनस्ते सर्वदोषानुषङ्गाः ? ममेदमिति हि सति संकल्पे (सं) रक्षणादयः संजायन्ते । तत्र च हिंसाऽवश्यंभाविनी, तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रयतते । ततत्प्रभवाः नरकादिषु दुःखप्रकाराः । इहापि अनुपर-तव्यसन-महार्णवाऽवगाहनम् ।"

—राजवार्तिक-भाष्ये, अकलंकः

"परिग्रहवता सता भयमवश्यमापद्यते,
प्रकोप-परिहिंसने च परुषाऽनृत-व्याहृती ।
ममत्वमथ चोरता स्वमनमश्च विभ्रान्तता,
कुतोऽहि कलुषात्मनां परमशुक्ल-सद्ध्यानता ॥४२॥"

—पात्रकेसरिस्तोत्र

* "बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः"

(तत्त्वार्थसूत्र ६-१५)

"एतदुक्तं भवति—परिग्रहप्रणिधानप्रयुक्ताः तीव्रतरपरि-णामा हिंसापरा बहुशोविज्ञताश्चानुमताः भाविताश्च तत्कृत-कर्मात्मसात्करणात् तप्तायः पिण्डवत् अहितक्रोधाद्यर्था नार-कस्यायुषः आस्रव इति संक्षेपः । तद्विस्तरस्तु .... ।"

(राजवार्तिक भाष्य)

आरम्भो जन्तुघातश्च कषायाश्च परिग्रहात् ।
जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥ (ज्ञानार्णव)

‡ आलोचना प्रतिक्रान्तिद्वयं त्यागो विवर्जनं ।
तपः छेदोऽपि मूलं च परिहारोऽभिरोचनम् ॥

(प्रायश्चित्त समु० १८५)

"आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनाः ।" (तत्त्वार्थसूत्र)

रहना पापका—आत्माके पतनका कारण है।' और इस लिये वह विवेकको अपनाकर तथा ममत्वको घटाकर अपनेको पाप-भारसे हलका रखनेकी दृष्टिसे उसका लोकहितार्थ त्याग करता है—दान करता है। दानके इन दोनों प्रकारोंमें परस्पर कितना बड़ा अन्तर है, इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

उस दिन श्रीमान बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता के ता० ११ सितम्बर सन् १६४१ के पत्र परसे मेरा ध्यान इस अन्तरकी ओर खास तौरपर आकर्षित हुआ। आपने ही मुझे सबसे पहले अपने अनेक बार किये गये हज़ारोंके दानों को 'मात्र परिग्रहका प्रायश्चित्त' बतलाया और उस प्रायश्चित्त को भी 'अधूरा' ही लिखा। इस विषयमें आपके पत्रके निम्न शब्द, जो सच्ची धार्मिक परिणतिकी एक झाँकी दिखला रहे हैं, खास तौरसे ध्यान देने तथा मनन करनेके योग्य हैं—

"आपने भाई फूलचन्दजीका चित्र मँगाया—सो मुख्तार साहब, आप जानते हैं हम लोग नामसे सदा दूर रहे हैं। चित्र तो उनका छपना चाहिये जो दान करें, हम लोग तो मात्र परिग्रहका प्रायश्चित्त—अधूरा ही—करते हैं। फिर भी ज़रा ज़रासी सहायता देकर इतना बड़ा नाम करना पाप नहीं तो दम्भ अवश्य है। अस्तु, क्षमा करें। आपको शायद याद होगा इन्हीं भाई साहबको मैंने उत्साहित कर आरा-आश्रम (जैनबाला-विश्राम)को ३०००० (तीस हज़ार) रु० दिलवाये थे और उस सहायताके सम्बन्धमें आज तक मैंने पत्रोंमें ज़िक्र तक नहीं आने दिया था।"

दानको मात्र परिग्रहका प्रायश्चित्त मानकर करना कितनी सुन्दर कल्पना और कितनी सुन्दर मनोभावना है, इसे कुछ भी कहते नहीं बनता। निःसन्देह, परिग्रहमें पापबुद्धिका होना, उसके प्रायश्चित्तकी बराबर भावना रखना और समय समय पर उसे करते रहना विवेकका—अनासक्तिका सूचक है और साथ ही आत्माकी जागृतिका—उसके उत्थानका द्योतक है। यदि जैन समाजमें दानके पीछे ऐसी सद्भावनाएँ काम करने लगें तो उसका शीघ्र ही उत्थान हो सकता है और वह ठीक अर्थमें सचमुच ही एक आदर्श धार्मिक-समाज बन सकता है। जैनगृहस्थोंकी नित्य-नियमसे की जाने वाली षट् आवश्यक क्रियाओंमें जो दानका विधान (समावेश) किया गया है उसका आशय संभवतः यही जान पड़ता है कि नित्यके आरम्भ परिग्रहजनित पापका नित्य ही थोड़ा बहुत प्रायश्चित्त होता रहे, जिससे पापका बोझा अधिक बढ़ने न पावे और गृहस्थजन निराकुलता-पूर्वक धर्मका साधन कर सकें—उनके उस कार्य में बाधा उपस्थित न होने पावे। अस्तु; हार्दिक भावना है कि जैनसमाजमें बहुलतासे ऐसे आदर्श त्यागी एवं दानी पैदा हों जो परिग्रहको पाप समझते हुए उसमें आसक्ति न रखते हों और प्रायश्चित्तके रूपमें सदैव उसका—अपनी धनसम्पत्तिका—लोकसेवाके कार्योंमें विनियोग करने में सावधान रहें।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा

धार्मिक-साहित्यमें अश्लीलता

श्री किशोरीलाल घनश्यामदास मशरूवालाके विचार :—

"हमारे धार्मिक साहित्य और कलामें भी अश्लील चीजें भरी पड़ी हैं। उन्हें धार्मिक श्रद्धाके साथ जोड़ दिया गया है। इसलिये सज्जन और सदाचारी भक्त भी उनका गौरव करते हैं, और उसकी अश्लीलता के प्रति दुर्लक्ष करते हैं, जो विचार न्यूनताका ही परिणाम है। सुना है कि वारांगनाएँ भी तो धार्मिक साहित्य और कलाकी चीजें ही अपने ग्राहकोंके आगे पेश करती हैं। उनका हेतु निश्चय काम-प्रकोप कराने का ही होता है, और वे इन चीजोंको उसके लिये उपयुक्त समझती हैं, तभी तो इनका आश्रय लेती हैं। दंभी और पाखंडी गुरु क्यों अपनी शिष्याओंके साथ कृष्ण-गोपीका अनुकरण करते हुए पाये जाते हैं? धर्मके नामपर साहित्य और कलामें अश्लील चीजें पैठी हुई हैं, तभी तो वे उसका अनुचित लाभ उठाते हैं। ये चीजें धार्मिक साहित्य और कलामें होनेके कारण ही मैं उन्हें शुद्ध, निर्दोष, या श्लील कहनेके लिये तैयार नहीं हूं। बल्कि मैं कहूंगा कि कृष्ण गोपी और दूसरे भी देवोंके ऐसे शृंगार वर्णन और उसे युक्त मनाने वाले तत्त्व-विचारने हमारी संस्कृति और समाजमें बहुत कुछ अपवित्रता और गंदगी फैलादी है, और हमारे समाजको बहुत गिराया है।"

('जीवनसाहित्य' में प्रकाशित 'सापेक्षतावाद' लेखसे उद्धृत)

बनारसी-नाममाला

प्रास्ताविक निवेदन

दिगम्बर जैन समाजमें हिन्दी भाषाके अनेक अच्छे कवि और गद्यलेखक विद्वान हो गये हैं। उनकी रचनाओंसे समाज आज गौरवान्वित हो रहा है। जिस तरह हिन्दीके गद्यलेखकों—टीकाकारोंमें आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी, पं० जयचन्दजी और पं० सदासुखरायजी आदि विद्वान् प्रधान माने जाते हैं, उसी तरह कवियोंमें पं० बनारसीदासजीका स्थान बहुत ही ऊँचा है। आप गोस्वामी तुलसीदासजीके समकालीन विद्वान् थे, १७वीं शताब्दीके प्रतिभासम्पन्न कवि थे और कवितापर आपका असाधारण अधिकार था। आपकी काव्य-कला हिन्दी-साहित्यमें एक निराली छटाको लिये हुए है। उसमें कहींपर भी शृंगार आदि रसोंका अथवा स्त्रियोंकी शारीरिक सुन्दरताका वह बढ़ा चढ़ा हुआ वर्णन नहीं है जिससे आत्मा पतनकी ओर अग्रसर होता है। आपके ग्रन्थरत्नोंका आलोडन करनेसे मालूम होता है कि आपके पास शब्दोंका अमित भंडार था, और इसीसे आपकी कविताके प्रायः प्रत्येक पदमें अपनी निजकी छाप प्रतीत होती है। कविता करनेमें आपने बड़ी उदारतासे काम लिया है। आपकी कविता आध्यात्मिक रससे ओत-प्रोत होते हुए भी बड़ी ही रसीली, सुन्दर तथा मन-मोहक है, पढ़ते ही चित्त प्रसन्न हो उठता है और हृदय शान्तिरससे भर जाता है। सचमुचमें आपकी आध्यात्मिक कविता प्राणियोंके संतप्त हृदयोंको शीतलता प्रदान करती और मानस-सम्बन्धी आन्तरिक मलको छाँटती या शमन करती हुई अक्षय सुखकी अलौकिक सृष्टि करती है। आपकी कविताओंके पढ़नेका मुझे बड़ा शौक है—यह मेरे जीवनका एक अंग बन गई है। जब तक मैं नाटक समयसारके दो चार पद्योंको रोज नहीं पढ़ लेता तब तक हृदयको शान्ति नहीं मिलती। अस्तु।

कविवर बनारसीदासजीका जन्म संवत् १६४३ में जौनपुरमें हुआ था। आपके पिताका नाम खरगसेन था। आपने स्वयं अपनी आत्म-कथाका परिचय 'अर्द्धकथानक'के रूपमें दिया है, जो ६७३ दोहा-चोपाइयोंमें लिखा गया है और जिसमें आपकी ५५ वर्षकी जीवन-घटनाओंका तथा आत्मीय गुण-दोषोंका अच्छा परिचय कराया गया है। आपकी यह आत्मकथा अथवा जीवन-चरित्र भारतीय विद्वानोंके जीवन-परिचयरूप इतिहासमें एक अपूर्व कृति है। अर्धकथानकके अवलोकनसे स्पष्ट मालूम होता है कि आपका जीवन अधिकतर विपत्तियोंका—संकटोंका—सामना करते हुए व्यतीत हुआ है, जिनपर धैर्य और साहसका अवलम्बन कर विजय प्राप्त की गई है।

यद्यपि भारतीय अनेक कवियोंने अपने अपने जीवन-चरित्र स्वयं लिखे हैं, परन्तु उनमें अर्धकथानक-जैसा आत्मीय गुण-दोषोंका यथार्थ परिचय कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अर्धकथानकमें उपलब्ध होनेवाले १६४३ से १६९८ तकके (५५ वर्षके) जीवनचरित्रके बाद कविवर अपने अस्तित्वसे भारतवर्षको कितने समय तक और पवित्र करते रहे, यह ठीक मालूम नहीं होता। हाँ, बनारसीविलासमें संगृहीत 'कर्मप्रकृतिविधान' नामक प्रकरणके निम्न अंतिम पद्यसे इतना जरूर मालूम होता है कि आपका अस्तित्व संवत् १७०० तक

ज़रूर रहा है; क्योंकि इस संवत्के फाल्गुन मासमें उसकी रचना की गई है। यथा—

संवत् सत्रहसौ समय, फाल्गुण मास वसन्त।
ऋतु शशिवासर सप्तमी, तब यह भयो सिद्धंत॥

आपकी बनाई हुई इस समय चार रचनाएँ उपलब्ध हैं—नाटक समयसार, बनारसी-विलास (फुटकर कविताओं का संग्रह) अर्द्धकथानक और नाममाला। इनमेंसे शुरूके दो ग्रन्थ तो पूर्ण प्रकाशित हो चुके हैं, और अर्द्धकथानक का बहुत कुछ परिचय एवं उद्धरण पं० नाथूरामजी प्रेमीने बनारसीविलासके साथ दे दिया है। जनता इन तीनों से यथेष्ट लाभ भी उठा रही है। परन्तु चौथा ग्रन्थ 'नाममाला' अब तक अप्रकाशित ही है। आज अनेकान्तके प्रेमी पाठकोंको उसका रसास्वादन करानेके लिये उसे नीचे प्रकट किया जाता है।

इस ग्रन्थकी रचना संवत् १६७०में, बादशाह जहाँगीर के राज्यकालमें, आश्विन मासके शुक्लपक्षमें विजयादशमी को सोमवारके दिन, भानुगुरुके प्रसादसे पूर्णताको प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थके बनवानेका श्रेय आपके परममित्र नरोत्तमदासजीको है, जिनके अनुरोध एवं प्रेरणासे यह बनाया गया है। जैसा कि ग्रन्थके पद्य नं० १७०, १७१, १७२ १७५ से स्पष्ट है।

इस ग्रन्थकी रचनाका प्रधान आधार महाकवि धनंजय का वह संक्षिप्त कोष है जिसका नाम भी 'नाममाला' है और जो अनेकार्थ-नाममाला सहित २५२ संस्कृत पद्योंमें पूर्ण हुई है। परन्तु उस नाममालाका यह अविकल अनुवाद नहीं है और न इसमें दोसौ दोहोंकी रचना ही है, जैसा कि पं० नाथूरामजी प्रेमीने बनारसीविलासमें प्रकट किया है*। इस ग्रन्थके निर्माणमें दूसरे कोषोंसे कितनी ही सहायता ली गई है। ग्रन्थकी रचना बड़ी ही सुगम, रसीली और सहज अर्थावबोधक है। यह कोष हिन्दी भाषाके अभ्यासियोंके लिये बड़ी कामकी चीज़ है। अभी तक मेरे देखने में हिन्दी भाषाका ऐसा पद्यबद्ध दूसरा कोई कोष नहीं आया है। संभव है इससे पहले या बादमें हिन्दी पद्योंमें और भी किसी कोषकी रचना की गई हो।

यहाँ एक बात और प्रकट कर देने की है, और वह यह कि यह 'नाममाला' कविकी उपलब्ध सभी रचनाओंमें पूर्वकी जान पड़ती है। यद्यपि इससे पूर्व उक्त कविवरने युवावस्थामें शृङ्गाररसका एक काव्यग्रन्थ बनाया था, जिसमें एक हजार दोहा-चौपाई थीं, परन्तु उसे विचारपरिवर्तन होनेके कारण नापसंद करके गोमतीके अथाह जलमें बिना किसी हिचकिचाहटके डाल दिया था। होसकता है कि 'नाममाला' की रचना उक्त काव्य-ग्रन्थके बाद की गई हो; परन्तु कुछ भी हो, कविवर की उपलब्ध सभी रचनाओंमें यह ग्रन्थ पहली कृति है। इससे २३ वर्ष बाद की गई नाटक समयसारकी रचनाके पद्योंमें जो प्रासाद, गाम्भीर्य, प्रौढता और विशदता पाई जाती है वह नाममालाके पद्योंमें नहीं। नाटक समयसारकी उत्थानिकामें वस्तुओंके नामवाले कितने ही पद्य पाए जाते हैं, उनकी नाममालाके पद्योंके साथ तुलना करनेसे नाटक समयसारवाले पद्योंकी प्रौढता, गम्भीरता और कविवरके अनुभवकी अधिकता स्पष्ट दिखाई देती है; २३ वर्षके सुदीर्घकालीन अनुभवके बादकी रचनामें और भी अधिक सौष्ठव, सरलता एवं गाम्भीर्यका होना स्वाभाविक ही है। नाटक समयसार वाले उन पद्योंको जो नाममालाके पद्योंके साथ मेल खाते थे यथास्थान फुटनोटोंमें दे दिया गया है। शेष जिन नामोंवाले पद्य नाममालामें दृष्टिगोचर नहीं होते उन्हें पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे दिया जाता है:—

---

*"अजितनाथके छंदो और धनंजय नाममालाके दोसौ दोहोंकी रचना इसी समय की।"

"यह महाकवि श्री धनंजयकृत नाममालाका भाषा पद्यानुवाद है।" —बनारसी-विलास पृ० ६७, १११

[1]दरस विलोकनि देखनौं, अवलोकनि दृगचाल ।
लखन दृष्टि निरखनि जुवनि, चितवनि चाहनि भाल ॥४७॥
[2]ग्यान बोध अवगम मनन, जगतभान जगजान ।
[3]संजम चारित आचरन, चरन वृत्त थिरवान ॥४८॥
[4]सम्यक सत्य अमोघ सत, निसंदेह निरधार ।
ठीक जथारथ उचित तथ [5]मिथ्या आदि अकार ॥४९॥

इस 'नाममाला' कोषमें कोई ३५० विषयोंके नामोंका सुन्दर संकलन पाया जाता है जिससे हिन्दीभाषाके प्रेमी यथेष्ट लाभ उठा सकते हैं। कितने ही इस छोटीसी पुस्तकको सहज ही में कण्ठ भी कर सकते हैं। नामोंमें हिन्दी (भाषा), प्राकृत और संस्कृत ऐसे तीन भाषाओंके शब्दोंका समावेश है; बाकी जानि, बखानि, सुजान, तह इत्यादि शब्द पद्योंमें पादपूर्तिके लिये प्रयुक्त हुए हैं, यह बात कविने स्वयं तीसरे दोहेमें सूचित की है।

इस कोषका संशोधनादि कार्य मुख्यतया एक ही प्रतिपरसे हुआ है, जो सेठका कूँचा देहलीके जैनमंदिरकी पुस्तकाकार १५ पत्रात्मक प्रति है, श्रावण शु० सप्तमी संवत् १६३३ की लिखी हुई है, पं० बाकेरायकी मार्फत रामलाल श्रावक दिल्ली दर्वाजेके रहने वालेसे लिखाई गई है और उसपर मंदिरको, जिसके लिये लिखाई गई है, 'इंद्राजजीका' मंदिर लिखा है। बादको एक दूसरी शास्त्राकार १२ पत्रात्मक प्रति पानीपतके छोटे मंदिरके शास्त्रभंडारसे मार्फत पं० रूपचन्दजी गार्गीयके प्राप्त हुई, जो संवत् १८६८ आश्विन शुक्ल द्वितीया शनिवारकी लिखी हुई है और जिसे चौधरी दीनदयालने जलपथनगर (पानीपत) में लिखा है। इस प्रतिका पहला और अन्तके ४ पत्र दूसरी कलमसे लिखे हुए हैं और वे शेष पत्रोंकी अपेक्षा अधिक अशुद्ध है। इस प्रतिसे भी संशोधनादिक कार्यमें कितनी ही सहायता मिली है। यों प्रतियाँ दोनों ही थोड़ी-बहुत अशुद्ध हैं और उनमें साधारण-सा पाठ-भेद भी पाया जाता है; जैसे देहलीकी प्रतिमें तनय, तनया पाठ हैं तो पानीपतकी प्रतिमें तनुज, तनुजा पाठ पाये जाते हैं—'स' 'श' जैसे अक्षरोंके प्रयोगमें भी कहीं कहीं अन्तर देखा जाता है और 'ख' के स्थानपर 'ष' का प्रयोग तो दोनों प्रतियोंमें बहुलतासे उपलब्ध होता है, जो प्राय: लेखकोंकी लेखन-शैलीका ही परिणाम जान पड़ता है। अस्तु।

उक्त दोनों ग्रंथप्रतियोंमें 'दोहा-वर्णित' विषयों का निर्देश दोहेके ऊपर गद्यमें दिया हुआ है, परन्तु एक एक दोहेमें कई कई विषयोंका समावेश होनेसे कभी कभी साधारण पाठकको यह मालूम करना कठिन हो जाता है कि कौन नाम किस विषयकी कोटिमें आता है। अत: यहाँ दोहेके ऊपर विषयोंका निर्देश न करके दोहेके जिस भागसे किसी विषयके नामोंका प्रारंभ है वहाँ पर क्रमिक अंक लगा कर फुटनोटमें उस विषयका निर्देश कर दिया गया है। इससे विषय और उसके नामोंका सहज हीमें बोध हो सकेगा।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा
ता० १५-१०-१९४१ } परमानन्द जैन शास्त्री

१ दर्शनके नाम, २ ज्ञानके नाम, ३ चारित्रके नाम, ४ सत्यके नाम ५ सत्यके नामोंकी आदि में 'अ'कार जोड देनेसे मिथ्याके नाम हो जाते हैं।

नाम-माला

(मंगलाचरण और प्रतिज्ञा)

ॐकार परणाम करि, भानु सुगुरु धरि चित्त ।
रच्यौं सुगम नामावली, बाल-विबोध निमित्त ॥ १ ॥
सबदसिंधु मंथान करि, प्रगट सुअर्थ विचार ।
भाषा करै बनारसी, निज-गति-मति-अनुसार ॥ २ ॥
भाषा प्राकृत संसकृत, त्रिविधि सु सबद समेत ।
जानि बखानि सुजान तह, ए पद पूरन हेत ॥ ३ ॥

विषय-प्रवेश

[1]तीर्थंकर सर्वज्ञ जिन, भवनासन भगवान ।
पुरुषोत्तम आगत सुगत, संकर परमसुजान ॥ ४ ॥
बुद्ध मारजित केवली, वीतराग अरिहंत ।
धरमधुरंधर पारगत, जगदीपक जयवंत ॥ ५ ॥
[2]अलख निरंजन निरगुनी, जोतिरूप जगदीस ।
अविनासी आनंदमय, अमल अमूरति ईस ॥ ६ ॥
[3]गौर विसद अरजुन धवल, स्वेत सुकल सितवान ।
[4]मोख मुकति वैकुंठ सिव, पंचमगति निर्वान X ॥ ७ ॥
[5]सरस्वति भगवति भारती, हंसवाहनी वानि ।
वाकवादनी सारदा, मतिविकासनी जानि ॥ ८ ॥
[6]सुरग सुरालय नाक दिव, देवलोक सुरवास ।
[7]पुहकर गगन विहाय नभ, अंतरीच्छ आकास* ॥ ९ ॥

---

१ तीर्थंकरनाम २ सिद्धनाम ३ श्वेतवर्णनाम ४ मोक्षनाम

X नाटक समयसारमें इस नामका निम्न पद्य पाया जाता है:—
सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट, शिवथल अविचलथान ।
मोख मुकति वैकुंठ शिव, पंचमगति निरवान ॥४२॥

५ सरस्वतिनाम ६ देवलोकनाम ७ आकाशनाम

* नाटक समयसारमें इस नामका निम्न पद्य पाया जाता है:—
खं विहाय अंबर गगन, अंतरिच्छ जगधाम ।
व्योम नियत नभ मेघपथ, ये अकासके नाम ॥३८॥

[8]त्रिदस विबुध पावकवदन, अमर अजर असुरारि ।
आदितेय सुर देवता, सुमनस अंबरचारि ॥१०॥
[9]प्रजानाथ वेधा द्रुहिन, कमलासन लोकेस ।
धातृ विधाता चतुर्मुख, विधि विरंचि देवेस ॥११॥
[10]नारायन वसुदेवसुत, दामोदर गोपीस ।
अचुत त्रिविक्रम चतुर्भुज, वनमाली जगदीस ॥१२॥
मधुरिपु बलिरिपु वानरिपु, दानवदलन मुरारि ।
कंसविधुंसन पीतपट, कैटभारि नरकारि ॥ १३ ॥
केसव कृष्ण मुकुंद अज, अंबुजनैन अनंत ।
वासुदेव बलबंधु सिव, रमन राधिकाकंत ॥१४॥
पदमनाभि पद्मारमन, गरुडासन गोपाल ।
पुरुषोत्तम गोविंद हरि, जलसाई नंदलाल ॥१५॥
मुरलीधर सारंगधर, संख-चक्रधर स्याम ।
सौरि गदाधर गिरिधरन, देवकिनंदन नाम ॥१६॥
[11]रमा लच्छि पद्मालया, लोकजननि हरिनारि ।
कमला पदमा इंदरा, क्षीरसमुद्र-कुमारि ॥१७॥
[12]कामपाल रेवतिरमन, रोहिनिनंदन नाम ।
नीलवसन कुसली हली, सीरपानि बलनाम ॥१८॥
[13]सतवादी धरमातमज, सोमवंस-राजान ।
[14]भीम वृकोदर पवनसुत, कीचकरिपु बलवान ॥१९॥
[15]जिष्णु धनंजय फालुगुन, करनहरन कपिकेत ।
असुरदलन गांडीवधर, इंद्रनुज हयसेत ॥२०॥
[16]शंभु त्रिलोचन गौरिपति, हर पसुपति त्रिपुरारि ।
मनमथहरन पिनाककर, नीलकंठ विषधारि ॥२१॥

---

८ देवनाम ९ ब्रह्मानाम १० विष्णु (कृष्ण) नाम ११ लक्ष्मीनाम १२ बलभद्रनाम १३ युधिष्ठिर-नाम १४ भीमनाम १५ अर्जुननाम १६ महादेवनाम

बामदेव भूतेस भव, रुंडमालधर ईस।
जटाजूट कपालधर, महादेव सिखरीस ॥२२॥
ससिसेखर सितिकंठ सिव, अंधकरिपु ईसान।
सूली संकर गंगधर, वृषभकेतु वृषजान ॥२३॥
[17]उमा अंबिका चंडिका, काली सिवा भवानि।
गौरि पार्वती मंगला, हिमगिरितनया जान ॥२४॥
[18]गनप विनायक गजबदन, लंबोदर वरदानि।
[19]षडमुख अगिनिकुमार गुह, सिखिवाहन सेनानि ॥२५॥
[20]इंद्र पुरंदर वज्रधर, आखंडल अमरेस।
घनवाहन पुरहूत हरि, सहसनैन नाकेस ॥२६॥
[21]इंद्रपुरी अमरावती, [22]सभा सुधर्मा नाम।
[23]इंद्रानी सुपुलोमजा, सची अमरपतिवाम ॥२७॥
[24]कल्पवृच्छ संतानद्रुम, पारजात मंदार।
हरिचंदन ए पंचसुर, तरु नंदनकंतार ॥२८॥
[25]प्रथम सुपदम महापदम, कंद मुकुंद खरव्व।
संख नील कच्छ पदमकर, ए नवनिधि सुरदव्व ॥२९॥
[26]देववृता च तिलोत्तमा, मेनक उरवसि रंभ।
[27]सुधा अमृत पीयूष रस, जराहरन सुरअंभ ॥३०॥
[28]सुरगिरि गिरिपति हेमगिरि, धरनीधरन सुमेरु।
[29]राजराज वैश्रवन तह, धनपति धनद कुबेर ॥३१॥
[30]अभ्र मेघ खतमाल घन, धाराधर जलधार।
कंद देव दामिनिअधिप, वारिवाह नभचारि ॥३२॥
धूमजोनि जीमूत प्रग, पावकरिपु पयदान।
[31]संपा छनरुचि चंचला, चपला दामिनि जान ॥३३॥
[32]हाहा हूहू किंपुरुष, विद्याधर गंधर्व।
अप्सर यच्छ तुरंगमुख, देवयोनि ए सर्व ॥३४॥

[33]जातुधान दानव दनुज, राकस देव-विपच्छ।
दितिनंदन मानुषभच्छन, असुर निसाचर जच्छ ॥३५॥
[34]हरित ककुभ आसा दिसा, [35]सुरपति पावक काल।
नैरत वरुन पवन धनद, ईस आठ दिकपाल ॥३६॥
[36]दच्छिन नैरित वारुनी, वायु उत्तर ईसान।
पूरब पावक अध उरध, ए दस दिसि अभिधान ॥३७॥
[37]दिग्गज ऐरावत कुमुद, पुहुपदंत पुँडरीक।
अंजन सारवभौम तहं, वामन सूपरतीक ॥३८॥
[38]सूर विभाकर घामनिधि, सहसकिरन हरि हंस।
मारतंड दिनमनि तरनि, आदित आतप-अंस ॥३९॥
सविता मित्र पतंग रवि, तपन हेलि भग भान।
जगतविलोचन कमलहित, तिमरहरन तिगमान ॥४०॥
[39]इंदु छपाकर चंद्रमा, कुमुदबंधु मृगअंक।
औषधीस रोहिनिरमन, निसमनि सोम ससांक ॥४१॥
चन्द्र कलानिधि नखतपति, हरिराजा हिमभान।
सुधासूत द्विजराज विधु, छीरसिंधुसुत जान ॥४२॥
[40]उडुगन भानि नच्छत्र ग्रह, रिक्ख तारका तार।
[41]सीतल सिसिर तुषार हिम, तुहिन सीत नीहार ॥४३॥
[42]मलिन मलीमसि कालिमा, लंछन अंक कलंक।
[43]छाम छुधित दुर्बल दुखित, दीन हीन कृश रंक ॥४४॥
[44]विभा मयूख मरीचिका, जोति कांति महधाम।
पाद अंसु दीधिति किरनि, भानुतेज रुचि नाम ॥४५॥
[45]जीव बृहस्पति देवगुरु, [46]रौहिनेय बुध सौम।
[47]मंद सनीचर रवितनय, [48]भूसुत मंगल भौम ॥४६॥
[49]अगिनि धनंजय पवनहित, पावक अनल हुतास।
ज्वलनविभावसुसिखिदहन [50]वडवाउदधिनिवास ४७

१७ पार्वतीनाम १८ गणेशनाम १९ स्वामि-कार्तिकेयनाम २० इन्द्रनाम २१ इन्द्रपुरीनाम २२ इन्द्र-सभानाम २४ देववृक्षनाम २५ नवनिधिनाम २६ अप्सरा (देवांगना) नाम २७ अमृतनाम २८ सुमेरुपर्वतनाम २९ कुबेरनाम ३० मेघनाम ३१ बिजलीनाम

३३ दैत्य(राक्षस)नाम ३४ दिशानाम ३५ अष्टदिकपालनाम ३६ दशादिशानाम ३७ आठ दिग्गजनाम ३८ सूर्यनाम ३९ चन्द्रनाम ४० नक्षत्रनाम ४१ तुषारनाम ४२ कलंक-नाम ४३ दुर्बलनाम ४४ किरणनाम ४५ बृहस्पतिनाम ४६ बुध (ग्रह) नाम ४७ शनिश्चरनाम ४८ मंगलनाम ४९ अग्नि-

[50]पवन प्रभंजन गंधवह, अनिल वात पवमान ।
मारुत मरुत समीर हरि, पावकहित नभस्वान ॥४८॥
[51]जमुनीबंधव समन हरि, धरमराज जम काल* ।
[52]भल्वन दारुन भयकरन, घोर तिगम विकराल ॥४९॥
[53]दिवा दिवस वासर सुदिन, [54]रजनी निसा त्रिजाम ।
जामिनि छपा विभावरी, तमी तामसी नाम ॥५०॥
[55]सिंधु समुद सरिताधिपति, अंबुधि पारावार ।
अकूपार सागर उदधि, जलनिधि रतनागार ॥५१॥
[56]सलिल उदक जीवन भुवन, अंबु वारि विष नीर ।
अमृत पाथ वन तोय पय, अंभ आप जल छीर ॥५२॥
[57]अवलि तरंग कलोल विचि, भंग [58]पालि जलबांद ।
अवधि सीम उपकंठ तट, कूल रोध मरजाद ॥५३॥
[59]कमल तामरस कोकनद, पंकज पद्म सरोज ।
कंज नलिन अरविंद मित, पुंडरीक अंभोज ॥५४॥
[60]इंदीवर नीलोतपल, पुहुकर[61]नाल मृनाल ।
[62]सारविकास कैरव कुमुद, [63]ह्रद सरसी सर ताल॥५५॥
[64]मकर तिमंगल वारिचर, प्रथुरोमा पडछीन ।
तिमि जलजंतु विसारि झष, सफरी रोहित मीन ॥५६॥
[65]पावन पूत पवित्र सुचि, [66]अवलंबन आधार ।
[67] कुंभ कलस भृंगार घट, [68]गरभ कोस भंडार॥५७॥
[69]हीरा मानिक नीलमणि, पहुपराग गोमेद ।
मरकत मुकत प्रवाल तहँ, बैडूरज नवभेद ॥५८॥
[70]कंबु संख [71]कच्छप कमठ, [72]दादुर मिंडक भेक ।
[73]प्रचुर प्रभूत सुबहुल बहु, अगनित भूरि अनेक॥५९॥
[74]लच्छि धनंतरि कौसुतुभ, रंभा इंद्रतुरंग ।
पारिजात विष चंद्रमा, कामधेनु सारंग ॥६०॥
सुरा संख पीयूषरस, ऐरावत-गज सार ।
सिंधु-मथन करि प्रगट किय, चौदह रतन उदार॥६१॥
[75]वनिक सेठि साहा(था)धिपति, व्यवहारी धनवान ।
[76] नाव पोत प्रोहन तरन, बोहित वाहन जान ॥६२॥
[76]देवसरित मंदाकिनी, गगनवाहिनी गंग ।
[77]त्रिपथगमनि भागीरथी, सिवतिय धवलतरंग ॥६३॥
[78]सरिता धुनी तरंगिनी, नदी आपगा नाम ।
[79]कालिंदी रविनंदनी, जमुना हरिविश्राम ॥६४॥
[80]भूमि रसाछिति मेदिनी, छोणी छमा जगत्ति ।
अवनि अनंता कुंभिनी, गोधरनी वसुमत्ति ॥६५॥
अचला इला वसुंधरा, धरा मही धर सेस ।
[81]भुवन लोक संसार जग, [82]जनपद विषय सुदेस ॥६६॥
[83]पंसु रेनु रज धूलिका, [84]परिष पंक जंबाल ।
[85]किंचित तुच्छ मनाक तनु, [86]दीरघ लंब विसाल ॥६७॥
[87]संनिधि पास समीप अभि, निकट निरंतर लग्ग ।
[88]अंतर दूरि निरापरस, [89]सरनि पंथ पथ मग्ग ॥६८॥
[90]पन्नगलोक पतालपुर, अधोभवन बलिधाम ।
[91]सुषिर कुहिर रंधर विवर, [92]अवट कूप बिलनाम॥६९

तथा वडवानलके नाम ५० वायुनाम ५१ यमराजनाम ।

* इस नामका नाटक समयसारमें निम्न पद्य पाया जाता है:—

जम कृतांत अंतक त्रिदस, आवर्ती मृतथान ।
प्रानहरन आदिततनय, काल नाम परवान ॥ ३६ ॥

५२ भयानकनाम ५३ दिवसनाम ५४ रात्रिनाम ५५ समुद्रनाम ५६ जलनाम ५७ तरंगनाम ५८ तटनाम ५९ कमलनाम ६० नीलकमल नाम ६१ मृणाल (कमलनाल) नाम ६२ कुमुदनाम ६३ सरोवरनाम ६४ मत्स्यनाम ६५ पवित्रनाम ६६ आधारनाम ६७ घटनाम ६८ भंडारनाम ६९ नवरत्ननाम

७० शंखनाम ७१ कच्छप नाम ७२ मेंडकनाम ७३ बहुत नाम ७४ चौदहरतननाम ७५ व्यापारी तथा जहाजके नाम ७६ आकाशगंगानाम ७७ भूमिगंगानाम ७८ सामान्यनदी-नाम ७९ यमुनानदीनाम ८० पृथ्वीनाम ८१ लोकनाम ८२ देशनाम ८३ धूलिनाम ८४ कीचड़नाम ८५ तुच्छ-नाम ८६ दीर्घनाम ८७ समीप (निकट) नाम ८८ दूरनाम ८९ मार्गनाम ९० पातालनाम ९१ बिलनाम ९२ कूपनाम

[९३]वासुकि शेष सहस्रफनि, पन्नगराज बखान।
[९४]गरल हलाहल प्राणहर, कालकूट विष जान ॥७०॥
[९५]काकोदर विषधर फनी, अहि भुजंग हरहार।
लेलिहान पन्नग उरग, भोगी पवनाधार ॥७१॥
[९६]निरय नरक कुंभीगवन, दुरगति दुःखनिधान।
[९७]बंध फंध शृंखल निगड, जंत पास संदान ॥७२॥
[९८]कलिल कलुष दहकृत दुरित, एन अंध अघ पाप*।
[९९]पीड़ा बाधा वेदना, विथा दुःख संताप ॥७३॥
[१००]मानुष मानव मनुज जन, पुरुष नृ गोध पुमान।
[१०१]विभु नेता पति अधिप इन, नाथ ईस ईसान ॥७४॥
[१०२]प्रमदा ललना नायका, जुवति अङ्गना वाम।
जोषा जोषित सुंदरी, वधू भामिनी भाम ॥७५॥
महिला रमनी कामिनी, वामलोचना वाम।
वनिता नारि नितंबिनी, बाला अबला नाम ॥७६॥
[१०३]जाया घरनि कलत्र त्रिय, भार्या पतनी दार।
[१०४]दयित कंत वल्लभ रमन, धव कामुक भरतार ॥७७॥
[१०५]पतिव्रति एकपती सती, कुलवंती कुलबाल।
[१०६]दूती कुटनी संफली, [१०७]सखी सहचरी आलि ॥७८॥
[१०८]गनिका रूपाजीविका, निरलज्जा पुरनारि।
वारंगना विलासिनी, सर्ववल्लभा दारि ॥७९॥
[१०९]सहचर सखा सहाइ हित, संगत सुहृद सखित्त।
[११०]रिपु खल वैरि अराति अरि, दुर्जन अहित अमित्त।८०

[१११]जनक तात सविता पिता, [११२]प्रसवति जननी मात।
[११३]पुत्र सूनु अंगज तनय, सुत नंदन तनुजात ॥८१॥
[११४]भ्रात्रिजानि भगनी स्वसा, [११५]बंधु सहोदर जात।
[११६]अवरज अनुज कनिष्ट लघु, [११७]वीर सुबंधव भ्रात ८२
[११८]मुनि भिक्षुक तापस तपा, जोगी जती महंत *।
व्रती साधु ऋषि संयमी, [११९]आगम ग्रंथ सिद्धंत।८३
[१२०]उपदेशक उवझाय गुरु, आचारज गुनरासि।
[१२१]राजसूय नृपयज्ञ क्रतु, [१२२]दीक्षित अंतेवासि।८४।
[१२३]विबुध सूरि पंडित सुधी, कवि कोविद विद्वान।
कुसल विचक्षन निपुन पटु, क्षम प्रवीन धीमान।८५
[१२४]आदिवरन भूदेव द्विज, बाँभन विप्र सुजान।
[१२५]अभिजन संतति गोत कुल, वरग वंस संतान ॥८६॥
[१२६]मूरख मूक अजान जड़, मंद मूढ सठ बाल।
[१२७]कुत्सित पामर निरधनी, अधम नीच चंडाल ॥८७॥
[१२८]दाता दानि दरिद्रहर, [१२९]कृपन लुबध कीनास।
[१३०]अनुजीवी अनुचर अनुज, सेवक किंकर दास॥८८॥
[१३१]सुन्दर सुभग मनोहरन, कल मंजुल कमनीय।

---

९३ शेषनागनाम ९४ विषनाम ९५ सर्पनाम ९६ नरकनाम ९७ बंधननाम ९८ पापनाम ९९ वेदनानाम १०० मनुष्यनाम

*नाटक समयसारमें इस नामका निम्न पद्य पाया जाता है:—
पाप अधोमुख एन अघ, कंपरोग दुखधाम।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, अशुभ करमके नाम ॥ ४१ ॥

१०१ स्वामिनाम १०२ स्त्रीनाम १०३ विवाहिता स्त्रीनाम १०४ भर्तारनाम १०५ सती स्त्रीनाम १०६ कुट्टिनी (कुल्टा) स्त्रीनाम १०७ सखीनाम १०८ वेश्यानाम १०९ मित्रनाम ११० शत्रुनाम

१११ पितानाम ११२ मातानाम ११३ पुत्रनाम ११४ बहिननाम ११५ सगे भाईकेनाम ११६ छोटे भाईकेनाम ११७ बाँधवनाम ११८ साधुनाम।

*नाटक समयसारमें इस नामका निम्न पद्य पाया जाता है:—
मुनि महंत तापस तपी, भिक्षुक चारितधाम।
जती तपोधन संयमी, व्रती साधु ऋषि नाम ॥४६॥

११९ शास्त्रनाम १२० गुरुनाम १२१ राजयज्ञनाम १२२ शिष्यनाम १२३ पंडितनाम

। इस नामके नाटक समयसारमें निम्न दो पद्य पाये जाते हैं:—
निपुन विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर विद्वान।
पटु प्रवीन पंडित चतुर, सुधी, सुजन मतिमान ॥४४॥
कलावंत कोविद कुसल, सुमन दच्छ धीमंत।
ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद्, तज्ञ गुनीजन संत ॥४४॥

१२४ ब्राह्मणनाम १२५ कुलनाम १२६ मूर्खनाम १२७ अधमनाम १२८ दातारनाम १२९ कृपणनाम १३० सेवकनाम १३१ सुन्दरनाम।

रुचिर चारु अभिराम वर, दरसनीय रमनीय ।।८९।।
[132]तसकर निसचर गूढनर, [133]भिल्ल पुलिंद किरात ।
[134]दूत चारुचर [135]पिसुन खल, [136]असनि वज्र निघात
[137]मन मानस अंतःकरन, हृदय चेत चित जानि ।
[138]जीव हंस चेतन अलख, जंतु भूत जन प्रानि ।।९१।।
[139]वृद्ध पलितनतनु थविरनर, [140]जुवजन तरुन रसाल ।
[141]सावक दारक पाक पृथु, डिंभ पात सिसु बाल।।९२।।
[142]काय कलेवर संहनन, मूरति उपधन गात ।
विग्रह देह सरीर वपु, पंचभूतसंजात ।।९३।।
[143]रुधिर रकत सोणित छतज, [144]पिसित तरस पल मांस
[145]विष्ठा गूथ पुरीष मल, [146]बीज रेत बल अंम ।।९४।।
[147]सीस मुंड उतमंग सिर, [148]अलिक ललाट सुभाल ।
[149]कंठ सिरोधर ग्रीव गल, [150]चिकुर केस कच बाल ।९५
[151]नैन विलोचन चक्षु दृग, [152]पलक [153]भौंह भ्रुव जानि ।
[154]बदन तुंड आनन लपन, [155]वचन सबद रव बानि९६
[156]दंत दसन रादक रदन, [157]नासि नासिका घ्रान ।
[158]अधर दंतपट रदनछद, [159]श्रोत श्रवन श्रुति कान।९७
[160]गंड कपोल [161]सुवक्ष उर, [162]कुच उरोज पयदानि
[163]उदर जठर [164]कटि श्रोणि कट [165]भुजा बाँह [166]कर पानि
[167]तारक गोलक पूतली, [168]दिष्टि अपांग कटाख ।
[169]अंजन कज्जल रागरज, [170]अंगुलिका करसाख।९९
[171]ऊरु जानु जंघा जघन, [172]अंघ्रि चरन पद पाय ।
[173]कबरी चूडा धमिल सिख, वैनी कचसमुदाय ।।१००।।

१३२ चोरनाम १३३ भीलनाम १३४ दूतनाम १३५ दुष्टनाम १३६ वज्रनाम १३७ मननाम १३८ जीवनाम १३९ वृद्धपुरुषनाम १४०युवानाम १४१बालकनाम १४२शरीरनाम १४३रुधिरनाम १४४मांसनाम १४५मलनाम १४६ वीर्यनाम १४७ शिरनाम १४८ मस्तकनाम १४९ कंठनाम १५० बालनाम १५१ नेत्रनाम १५२ पलकनाम १५३ भौंहनाम १५४ मुखनाम १५५ वचननाम १५६ दाँतनाम १५७ नासिकानाम १५८ ओष्ठनाम १५९ कर्णनाम १६० कपोलनाम १६१ छातीनाम १६२ स्तननाम १६३ पेटनाम १६४ कमरनाम १६५ भुजानाम १६६ हस्तनाम १६७ पुतली नाम १६८ कटाक्षनाम १६९ काजलनाम १७० अंगुरीनाम १७१ जांघनाम १७२ पैर (पाद) नाम १७३ चोटीनाम ।

[174]सदन गेह आलय निलय, मंदिर भवन अवास ।
साल सरन आगार गृह, धाम निकेत निवास ।।१०१
[175]सौध राजगृह धवलगृह, [176]नगर पटन पुर ग्राम ।
[177]खेय खात परिखा गरत, [178]उपकानन आराम ।।१०२
[179]सुरमंडप देवायतन, चैत्यालय प्रासाद ।
[180]तांडव नाटक नृत्य तह, [181]गीत गान सुर नाद १०३
[182]षडज ऋषभ गंधार पुनि, पंचम मध्यम जान ।
धैवत रूप निषाद तह, ए सुर सात बखानि ।।१०४।।
[183]करुना कौतुक भयकरन, वीर हास सिंगार ।
सांत रुद्र बीभत्स तह, ए नवरस संसार ।।१०५।।
[184]आमल तिक्त कषाय कटु, छार मधुर रस जान ।
[185]ग्रीषम पावस सरद हिम, सिसिर बसंत बखान १०६
[186]उद्वर्तन मंजन कुसुम, चंदनलेपसरीर ।
अलकावलि मसिबिंदु तह, कजल कंचुकी चीर १०७
कुंकुम खौरि तँबोलमुख, चंदनजावक लज्ज ।
दसनसुरंगित चातुरी, ए षोडस तियसज्ज ।।१०८।।
[187]कंकन किंकिनि कंठमनि, कुंडल वेसरि आढ ।
नूपुर हार स-मुद्रिका, विछिक जेहरि टाड ।।१०९।।
[188]मीनकेतु मनसिज मदन, मार काम मनमत्थ ।
संवरहरन अनंग रति,-रमन पंचसरहत्थ ।।११०।।
[189]वसीकरन मोहन तपन, उच्चाटन उन्माद ।
[190]तंती दुंदुभि संखधुनि, कंस ताल करवाद ।।१११।।
[191]कौतूहल कौतुक अहो, अदभुत चित्र अचंभ ।
[192]माया कैतव छदम छल, व्याज कपट मिष दंभ ११२
[193]हरष तोष आनंद मुद, [194]अमरष कोप सरोस ।
[195]कृपा सुहित करुना दया, अनुकंपा अनुक्रोस ।।११३।।
[196]प्रेम प्रीति अभिलाष सुख, राग नेह संजोग ।
[197]विछुरन फुलक विरह दुख, मनमथविथा वियोग।।११४

१७४ घरनाम १७५ राजगृहनाम १७६ नगरनाम १७७ खाई नाम १७८ बागनाम १७९ मंदिरनाम १८० नृत्यनाम १८१ गीतनाम १८२ सप्तस्वरनाम १८३ नवरसनाम १८४ षट्रसनाम १८५ छहऋतुनाम १८६ सोलह शृंगार नाम १८७ द्वादश आभरणनाम १८८ कामनाम १८९ कामपंचवाणनाम १९० पंचशब्दनाम १९१ कौतुकनाम १९२ कपटनाम १९३ आनंदनाम १९४ कोपनाम १९५ दयानाम १९६ प्रीतिनाम १९७ विरहनाम ।

[198]त्याग बिहाइत दान दत, [199]समता हित सुख सात ।
[200]गुन श्रुति कीर्ति उदाहरन, जस सलाक अवदात ॥११५
[201]प्रकट साधु सुबिदित बिसद, [202]निरुपम अकथ अनूप
[203]मंद बिलंबित सिथिल तह, [204] छाँह बिंब प्रतिरूप ११६
[205]तुल्य सवर्ण सधर्म सम, सदृस सरूप समान ।
[206]जुगत संसकत सहित जुत, [207]नाम गोत अभिधान ॥
[208]प्रतिदिन नित संतत सदा, [209]नूतन नव सुनवीन ।
[210]प्राकृत जीरन सुचिर तनु, अरठ पुरातन छीन ॥११८॥
[211]करकस कठिन कठोर दिढ़, निठुर परुष अस्लील ।
[212]कोमल पेसल सरस मृदु, [213]प्रकृति स्वभाव सुलील ॥
[214]बुद्धि मनीषा सेमुषी, धी मेधा मति ग्यान ।*
[215]भावक मंगल कुसल सिव, भविक छेम कल्यान ॥१२०
[216]छिप्र वेग सहसा तुरत, झटित आसु लघु जान ।
[217]तरल अथिर चंचल सुचल, चपल विलोल बखान।१२१
[218]अहंकार अविनय गरव, उन्नतगल अभिमान ।
[219]अंधकार संतमस तम, धूमर तिमिर भयान ॥१२२॥
[220]गउर पीत कंचनवरन, [221]रक्त सुलोहित लाल ।
[222]हरित नील पालास तह, [223] स्याम भृंगरुचि काल।१२३
[224]असन भोग आहार भख, [225]लीला केलि विलास ।
[226]विधुर कृछ्र संकट गहन, [227]व्रत संजम उपवास।१२४
[228]मृषा अलीक मुधा बिफल, वृथा बितथ मिथ्यात X ।

१९८ दाननाम १९९ सुखनाम २०० कीर्तिनाम २०१ प्रकटनाम २०२ अनुपमनाम २०३ विलम्बनाम २०४ छायानाम २०५ समाननाम २०६ युक्तनाम २०७ नाम-नाम २०८ सदानाम २०९ नूतन नाम २१० पुरातननाम २११ कठिननाम २१२ कोमलनाम २१३ स्वभावनाम २१४ बुद्धिनाम ।

*नाटक समयसारमें इस नामका निम्न पद्य है:—

प्रज्ञा धिसना सेमुसी, धी मेधा मति बुद्धि ।
सुरति मनीषा चेतना, आशय अंश विशुद्धि ॥ ४३ ॥

२१५ कल्याणनाम २१६ शीघ्रनाम २१७ चंचलनाम २१८ अभिमाननाम २१९ अंधकारनाम २२० पीतवर्णनाम २२१ रक्तवर्णनाम २२२ हरितवर्णनाम २२३ श्यामवर्णनाम २२४ आहारनाम २२५ क्रीड़ानाम २२६ कष्टनाम २२७ व्रतनाम २२८ असत्यनाम ।

X अजथारथ मिथ्या मृषा, वृथा असत्त अलीक ।
मुषा मोघ निष्फल वितथ, अनुचित असत अठीक (ना.स.)

[229]अंत बिनाम निधन मरन, पंचत प्रलय निपात ॥१२५॥
[230]प्रसतर उपल पषान दृष, [231]भूदारन हल सीर ।
[232]हयँगवीन सर्पी घिरत, [233]दुग्ध अमृत पय छीर ।१२६
[234]अरथ वित्त वसु द्रविन धन X [235]सुरा वारुनी हाल ।
मधु मदिरा कादंबरी, सीधु मद्य कीलाल ॥१२७॥
[236]हाटक हेम हिरण्य हरि, कंचन कनक सुवर्ण ।
[237]जातरूप कलधौत तह, रजत रूप शुचिवर्ण ॥१२८॥
[238]भूषन मंडन आभरन, अलंकार तनभाल ।।
[239]अंसुक निवसन चीर पट, चीवर अंबर छाल॥१२९॥
[240]गंधसार चंदन मलय, [241]हिम कपूर घनसार ।
[242]नाभिज मृगमद कस्तुरी, कुंकुम रकतागार ॥१३०॥
[243]सयन मंच परयंक तह, [244]सेज तलप उपधान ।
[245]दरपन मुकुर सुआदरस, [246]छायाकरन वितान ॥१३१
[247]मुकट किरीट सिरोरतन, [248]आतपत्र सिरछत्र ।
[249]पद सिंहासन पीठ तह, [250]हेति सुआयुध अस्त्र ॥१३२
[251]भूप महीपति छत्रधर, मंडलेस राजान ।
[252]चक्री सारवभौमनृप, [253]मंत्री सचिव प्रधान ॥१३३॥
[254]सेव निषेव उपासना, [255]शासन पुहुप (?) निदेस ।
[256]भाग पुन्य सुविहित सुकृत*, [257]सकल खंड लव लेस
[258]महिषा पट्टनिवासिनी, [259]पुररखवाल तलार ।

२२९ मरणनाम २३० पाषाणनाम २३१ हलनाम २३२ घृतनाम २३३ दुग्धनाम २३४ धननाम ।

X भाव पदारथ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व ।
द्रविन अरथ इत्यादि बहु, वस्तुनाम ये सर्व (ना. स.)

२३५ मदिरानाम २३६ सुवर्णनाम २३७ रजतनाम २३८ आभरणनाम २३९ वस्त्रनाम २४० चन्दननाम २४१ कपूरनाम २४२ कस्तूरीनाम २४३ पलंगनाम २४४ शय्यानाम २४५ दर्पणनाम २४६ चंदोवानाम २४७ मुकुटनाम २४८ छत्रनाम २४९ सिंहासननाम २५० अस्त्रनाम । २५१ राजानाम २५२ चक्रवर्तिनाम २५३ मंत्रीनाम २५४ सेवानाम २५५ आज्ञानाम २५६ पुण्यनाम ।

*इस नामका नाटक समयसारमें निम्न पद्य पाया जाता है:—

पुण्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म ।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म ॥॥४०॥

२५७ खंडनाम २५८ रानीनाम २५९ कोटपालनाम ।

[२६०]षंढ नपुंसक कंचुकी, [२६१]द्वारपाल प्रतिहार ॥१३५॥
[२६२]पौर लोक नागर प्रजा, [२६३]साल दुर्ग प्राकार ।
[२६४]पंथनिरोध कपाट पट, [२६५]गोमुख नगरदुवार ॥१३६
[२६६]जाल गवाक्ष समीरपथ, [२६७]उर्द्धपंथ सोपान ।
[२६८]बंक विषम अंकुल कुटिल, [२६९]कुंडल मंडल जान १३७
[२७०]तालपत्र कुंडल श्रवण, सिरबंधन सिंदूर ।
पान वलय कंकन कटक, बाँहरक्ख केयूर ॥१३८॥
तुला कोटि नूपुर चरन, भाल सुतिलक ललाम ।
कटि किंकिनि मेखल रसन, छुद्र घंटिका नाम ॥१३९॥
[२७१]बल अनीक सेना चमू, कटक बाहिनी दंड ।
[२७२]चिन्ह पताका केतु ध्वज, वैजयंति तह झंड ॥१४०॥
[२७३]सर सायक नाराच खग, बान सिलीमुख कंड ।
[२७४]धनुष कारमुक चाप धनु, गुनधारन कोदंड ॥१४१॥
[२७५]सरवारन कंचुकि कवच, [२७६]डर भय त्रास असात ।
[२७७]असि कृपान करवाल तह, [२७८]छत प्रहार संघात १४२
[२७९]रन विग्रह संजुग समर, संपराय संग्राम ।
कदन आजि संगर कलह, जुद्ध महाहव नाम ॥१४३॥
[२८०]जाचक मंगित बंदिजन, [२८१]रंगभूमि रनखेत ।
[२८२]सूरबीर जोधा सुभट, [२८३]भूत पिशाच परेत ॥१४४॥
[२८४]सैल अचल गिरि सिखरि नग, पर्वत भूधर नाम ।
[२८५]देवखात बिल कंदरा, दरी गुफा मुनिधाम ॥१४५॥
[२८६]पीवर पीन सुथूलगुन, [२८७]उन्नत उच्च उतंग ।
[२८८]बिस्तीरनबिस्तर बिपुल, [२८९]अध नचनीच बिभंग१४६
[२९०]कानन बिपन अरण्य बन, गहन कक्ष कंतार ।
[२९१]बिटप महीरुह साखितरु, अग पादप फलधार ॥१४७

२६० खोजानाम २६१ द्वारपालनाम २६२ प्रजानाम २६३ कोटनाम २६४ किवाड़नाम २६५ द्वारनाम २६६ झरोखा (खिड़की) नाम २६७ सीढ़ीनाम २६८ वक्र (टेढ़े) नाम २६९ घेरेके नाम २७० अङ्गभूषण नाम २७१ सेनानाम २७२ ध्वजानाम २७३ बाणनाम २७४ धनुषनाम २७५ जिरह (बख्तर) नाम २७६ भयनाम २७७ तलवारनाम २७८ घावनाम २७९ संग्राम (युद्ध) नाम २८० याचकनाम २८१ रणभूमिनाम २८२ सुभटनाम २८३ प्रेतनाम २८४ पर्वतनाम २८५ गुफानाम २८६ स्थूलनाम २८७ उतंगनाम २८८ विस्तारनाम २८९ नीचेके नाम २९० वननाम २९१ वृक्षनाम ।

[२९२]छदन सुपत्त पलास दल, [२९३]पेडमूल जड कंद ।
[२९४]पुहुप प्रसून सुमन कुसुम, [२९५]मधु पराग मकरंद ॥१४८
[२९६]चूत आम सहकार तरु, सौरभ अंब रसाल ।
[२९७]रंभ मोच केला कदलि, [२९८]मालकार बनपाल ॥१४९
[२९९]बल्ली वेलि प्रतति लता, [३००]वाटिक कुसुमआराम ।
[३०१]सुरभि सुगंध सुवासना, [३०२]माल हार स्रज दाम ॥१५०
[३०३]कंठीरव कुंजरदमन, हरि हरिधिप मृगसूल ।
बली पंचमुख केसरी, सरभ सिंह सादूल ॥१५१॥
[३०४]गज करेनु मातंगधिप, करि वारन सुंडाल ।
सिंधुर दंती नाग इभ, कलभ मतंगज बाल॥१५२॥
[३०५]अश्व बाजि घोटक तुरग, हरि तुरंग हय वाह ।
[३०६]ऊँट बेग गामुक करभ, [३०७]सूकर क्रोड वराह ॥१५३॥
[३०८]बानर बलिमुख विपनचर, साखामृग कपि कीस ।
[३०९]सारग हरिन कुरंग मृग, अजिनजोनि एनीस ॥१५४॥
[३१०]धेनु गाय पसु [३११]वृषभसिव, [३१२] महिषा वाहलुलाय
[३१३]जंबुक भीरु शृगाल सिव, मृगधूरत गोमाय ॥१५५॥
[३१४]ऊंदर मूषक नागरिपु, [३१५]बिल्ला ओतु मँजार ।
[३१६]रासभ गर्दभ रेंकखर, [३१७]चर गति गमन बिहार१५६
[३१८]श्वान पुरोगत ग्रामहरि, श्वा कूकर दिढकक्ख ।
सारमेय निशिजागरण, मंडल ओतुविपक्ख ॥१५७॥
[३१९]श्रोत्र अक्ष इंद्रिय करन, [३२०]कंज विषान सु-सृंग ।
[३२१]सारंग षटपद मधुप अलि, भ्रमर सिलीमुख भृंग १५८
[३२२]सकुनि संकुन पतंग खग, सलभ विहंगम पक्खि ।
[३२३]खगपति विनतासुत गरुड, हरिवाहन अहिभक्ख १५९
[३२४]जीवंजीव चकोर तह, [३२५]कुक्कट नामरचूर ।

२९२ पत्तनाम २९३ मूल (जड़) नाम २९४ पुष्पनाम २९५ परागनाम २९६ आम्रनाम २९७ केलानाम २९८ मालीनाम २९९ लतानाम ३०० फुलवारी-नाम ३०१ सुगंधनाम ३०२ मालानाम ३०३ सिंहनाम । ३०४ हाथी और हाथीके बच्चेके नाम ३०५ अश्वनाम ३०६ ऊँटनाम ३०७ सूकरनाम ३०८ बन्दरनाम ३०९ मृगनाम ३१० गायनाम ३११ बैलनाम ३१२ भैंसानाम ३१३ शृगालनाम ३१४ मूषकनाम ३१५ बिलाव (बिल्ली) नाम ३१६गर्दभनाम ३१७गमन(चाल)नाम ३१८कूकरनाम ३१९इन्द्रियनाम ३२०सींगनाम ३२१भ्रमरनाम ३२२पक्षीनाम ३२३गरुड़नाम ३२४ चकोरनाम ३२५ कुक्कुटनाम ।

[326]केकी अहिरिपु नीलगल, [327]सिखी सिखंडि मयूर १६०
[327]चाखसु खंजन खंजरिट, [328]वायस करट कराल।
[329]पिक कोकिल तह [330]कीर सुक, [331]बरट सुहंस मराल
[332]कौसिक पेचक काकरिपु, [333]पिक चातक सारंग।
[334]पारावत सुकपोत गन, [335]चकवा कोक रथंग ॥१६२॥
[336]पूग समाज समूह व्रज, ओघ संघ संघात।
जूथ पुंज समवाय कुल, निकर कदंबक व्रात ॥१६३॥
अवलि वृंद संदोह चय, संचय निचय निकाय।
आली पंकति निवह गन, राजि रासि समुदाय ॥१६४॥
[337]नारिपुरुष दंपति मिथुन, [338]द्वंद जुगम जुग जान।
उभय जुगल जम जमल द्विवि, लोचनसंग्य बखान १६५
[339]तीन लोक गुन सिवनयन, [340]चउ जुग वेद उपाय।
[341]पंच बान इंद्रिय सबद, [342]षट रितु अलि रस पाय १६६
[343]सात द्वीप मुनि हय विसन, [344]आठ धात गिरि सार।
[345]नव ग्रह रस नह [346]सून्य नभ, अनुक्रम अंक विचार
[347]ध्रुव अडोल थावर सुथिर, निश्चल अविचल जान।
[348]दीरघायु चिरआयु तह, चिरंजीव सुबखान ॥१६८॥

३२६ मयूरनाम ३२७ ममोला (पक्षिविशेष) नाम ३२८ काकनाम ३२९ कोकिलनाम ३३० तोतानाम ३३१ हंसनाम ३३२ उलूकनाम ३३३ पपीहानाम ३३४कबूतरनाम ३३५ चकवानाम ३३६ समूहनाम ३३७ स्त्री-पुरुषसंयोगनाम ३३८ युग (जोड़के) नाम ३३९ तीनके नाम ३४० चारके नाम ३४१ पांचके नाम ३४२ छहके नाम ३४३ सातके नाम ३४४ आठके नाम।

(उपसंहार और प्रशस्ति)

होय जहाँ कछु हीन, छंद सबद अच्छर अरथ।
गुनगाहक परवीन, लेहु विचारि संवारि तह ॥१६९॥
मित्र नरोत्तम थान, परम विचच्छण धर्मनिधि।
तास वचन परवान, कियो निबंध विचारि मनि ॥१७०॥
सोरहसै सत्तार समै, असू मास सित पच्छ।
विजैदसम ससवार तह, श्रवण नखत परतच्छ ॥१७१॥
दिन दिन तेज प्रताप जय, सदा अखंडित आन।
पातसाह थिर नूरदी, जहाँगीर सुलतान ॥१७२॥
जैन धर्म श्रीमालकुल, नगर जौनपुर वास।
खडगसेन-नंदन निपुन, कवि बनारसीदास ॥१७३॥
कुसुमराजि नाना वरन, सुन्दर परम रसाल।
कोमल-गुनगर्भित रची, नाममाल जैमाल ॥१७४॥
जे नर राखें कंठ निज, होय सुमति परकास।
भानु सुगुरु परसाद तहँ, परमानंद-विलास ॥१७५॥

❀ इति बनारसी-नाममाला ❀

३४५ नौके नाम ३४६ शून्यके नाम ३४७ स्थिरनाम ३४८ चिरंजीवनाम।

"सन्यासी (विरक्त) दुनियामें रहता है, पर दुनियादार नहीं होता। जीवनके महत्वपूर्ण कार्योंमें उसका आचरण साधारण मनुष्योंके जैसा होता है, सिर्फ उसकी दृष्टि जुदी होती है। हम जिन बातोंको रागके साथ करते हैं, उन्हें वह विरागके साथ करता है।"

"दुःख और तपमें बड़ा भारी अन्तर है। दुःखमें होती है वेदना और तपमें होता है आत्म-संतोष। दुःख सहना पड़ता है अनिच्छासे और इसलिये दुःखमें यन्त्रणाका बोध हो जाता है, किन्तु तप किया जाता है—स्वेच्छासे और इसलिये उसमें संतोषकी अनुभूति होती है।"

"यह—अपवाद रहित—नियम है कि जो स्वयं अपने त्यागका उल्लेख करता है उसके त्यागका उल्लेख दुनिया नहीं करती। जिस त्यागका उल्लेख त्याग करनेवालेको स्वयं ही करना पड़ता है, वह त्याग नहीं। आत्म त्याग स्वयं प्रकाश्य होता है।"

"पूर्ण अहिंसावादीका धर्म है—इतना त्याग कर देना कि—फिर कुछ त्यागना बाकी न रहे।"

—'विचारपुष्पोद्यान'

श्री जैन पंचायती मन्दिर देहलीके उन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी सूची जो दूसरे दो मन्दिरोंकी पूर्व प्रकाशित सूचियोंमें नहीं आए हैं

श्रीजैन पंचायती मन्दिर, मस्जिद खजूर, देहलीमें भी हस्तलिखित ग्रन्थोंका एक अच्छा बड़ा भण्डार है। यह शास्त्र-भण्डार नयामन्दिर और मंदिर सेठका कूँचाके शास्त्रभण्डारों से भी कुछ अंशोंमें बढ़ा चढ़ा है। पंचायती मन्दिरमें पहले भट्टारककी गद्दी रही है, इससे इस मन्दिरमें भट्टारकीय-साहित्य अपेक्षाकृत अधिक संख्यामें पाया जाता है—नवीन कथाओं, पूजाओं तथा उद्यापनादिसम्बन्धी पुस्तकोंकी अच्छी भरमार है। इस शास्त्रभण्डारके प्रधान प्रबन्धक चौ० जग्गीमल जी जौहरी और ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार हैं, दोनों ही स्वभावके बड़े सज्जन तथा धर्मात्मा हैं; परन्तु शास्त्रोंके विषय में समयकी गति-विधि और उपयोगिता-अनुपयोगिताके तत्त्व से कुछ कम परिचित जान पड़ते हैं। इसीसे भण्डारके ग्रन्थों से यथेष्ट लाभ लेने वालोंको यहां उतनी सुविधा प्राप्त नहीं है जितनी कि वह नयामन्दिर अथवा सेठके कूँचेके मन्दिरमें प्राप्त है।

इस मन्दिरमें भी ग्रन्थ-सूची पहले साधारण थी; साथ ही कितने ही ग्रन्थ यों ही अस्त-व्यस्त दशामें बंडलोंमें बँधे पड़े थे, जिनकी कोई सूची भी नहीं थी। हालमें नयामन्दिर की सूचीका अनुकरण करके यहां भी एक अच्छी सूची बन-वाई गई है, जो दो रजिस्टरोंमें है—एकमें प्राय: संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश भाषाके ग्रंथोंकी और दूसरेमें प्राय: हिन्दी भाषाके ग्रंथोंकी सूची है। यह सूची भी यद्यपि बहुत कुछ अधूरी एवं त्रुटिपूर्ण है और इसमें ग्रंथोंकी अकारादि-क्रमसे कोई लिस्ट भी साथमें नहीं दी गई, जिससे किसी ग्रंथको एकदम मालूम करनेमें सुविधा होती; फिर भी पहलेसे बहुत अच्छी बन गई है और इसके अनुसार अलमारियोंमें ग्रंथोंकी व्यवस्था होजानेसे उनके निकालनेमें कोई दिक्कत नहीं होती।

इस सूचीमें यद्यपि ग्रंथ-प्रतियोंकी संख्याका कोई एकत्र जोड़ दिया हुआ नहीं है, फिर भी सब मिलाकर उनकी संख्या अनुमानत: ३००० (तीन हज़ार) के करीब जान पड़ती है। अनेक ग्रंथोंकी कई कई प्रतियां भी हैं, इससे ग्रंथसंख्या १०००—११०० से अधिक नहीं होगी। इस सूचीकी भी पेज-टु-पेज कापी करनेके लिये बाबू पन्नालालजी अग्रवालने पहले मांग की थी; परन्तु प्रबन्धकोंकी ओरसे उस समय यही कहा गया कि सूची घर पर नहीं दी जा सकती, मंदिरमें बैठ कर ही उस परसे नोट लिये जासकते हैं अथवा कापी की जा सकती है। इससे समयकी अनुकूलता न देखकर बाबू पन्ना-लालजी कापी करनेकी अपनी इच्छाको पूरा न कर सके उन्हें यदि उस समय घर पर सूची देदी गई होती तो बहुत सम्भव था कि पहले इस भण्डारकी ही विस्तृत ग्रंथ-सूची अनेकान्तमें प्रकाशित होती। अस्तु; दूसरे भण्डारोंकी ग्रन्थ-सूचियोंके निकल जानेका इतना प्रभाव ज़रूर पड़ा कि उक्त पन्नालालजीको घरपर सूचीके ले जानेकी स्वीकारता मिल गई, परन्तु इस बीचमें वे अस्वस्थ हो गये और उनके आपरेशन की नौबत आई, जिससे वे सूचीकी कापीका काम न करसके!

मैं चाहता था देहलीके भण्डारोंकी सूचीका सिलसिला बन्द न हो, और इसलिये जबमैं कुछ दिन हुए बाबू पन्नालाल जीसे मिलने देहली गया और उनकी ओरसे ग्रंथ-सूचीकी पुन: मांग की गई तो ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदारने सिर्फ तीन-चार रोजके लिये ही ग्रंथ-सूची उन्हें दी। इतने थोड़े समयमें दो बड़े बड़े रजिस्टरोंकी कापी तो भला कैसे हो सकती थी? पूरे नोट्सका लिया जाना भी सम्भव नहीं था, और मेरा ठहरना अधिक हो नहीं सकता था; इसलिये मैं असमंजसमें पड़ गया। जैसे तैसे दिन-रात एक करके भाषाग्रंथोंके रजिष्टर परसे कुछ नोट्स लिये गये। और इस काममें बाबू पन्नालाल जीने बिस्तरपर लेटे लेटे हिम्मत करके मुझे कितना ही सहयोग प्रदान किया, जिसके लिये वे भारी धन्यवादके पात्र हैं। अंत को भाषाग्रंथोंका रजिस्टर सपुर्द करते हुए मैंने चौ० जग्गीमल जीसे कुछ दिनके लिये दूसरे रजिस्टरको सरसावा ले जानेकी इजाज़त मांगी, जिसे उन्होंने परिस्थितिकी गंभीरताको देखते हुए मंजूर किया। इस कृपाके लिये मैं आपका बहुत आभारी हूं। इसीके फलस्वरूप आज यह संस्कृत प्राकृतादिके सिर्फ उन ग्रंथोंकी सूची पाठकोंके सामने रक्खी जा रही है जो नया मन्दिर आदिकी पूर्व प्रकाशित सूचियोंमें नहीं आए हैं। भाषा ग्रंथोंकी ऐसी सूची अगली किरणमें देनेका विचार है।

—सम्पादक 'अनेकान्त'

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचनासं०	लिपिसं०
अणथमी कथा	हरिश्चन्द्र अग्रवाल	प्रा० (अपभ्रंश)	१२४से१६६	....	....
अणथमी लघुकथा	पं० रइधू	,,	१६६-१६६	....	....
अनस्तमित संधि-कथा	हरिश्चन्द्र अग्रवाल	,,	१२१-१२७	....	....
अनंत चतुर्दशी कथा	(वीरसेन शिष्य) महेश	संस्कृत पद्य	२६०से२६२	....	....
,, ,, ,,	भ० पद्मनन्दि	,,	७	....	....
अनंतनाथ पूजा	ब्र० शान्तिदास	,,	६ से ७	....	....
अनंतव्रत-उद्यापन	भ० गुणचन्द्र	,,	२१	१६३०	१६०३
अनंतव्रत कथा	(मलयकीर्तिशिष्य) गुणभद्रमुनि	,,	११८-१२७	....	....
अनंतव्रत-पूजा	श्रीभूषण मुनि	,,	१३	१६६७	....
अर्हंकार अक्षर-पूजा	×	,,	२	....	....
अलौकिकगणित	पं० शिवचन्द्र	,,	२०	....	....
अवधूपरीक्षा (अनुप्रेक्षा)	अवधू (अल्हू)	प्रा० पद्य	११-१४	....	१६८३
अष्टान्हिका-उद्यापन	(राजकीर्तिशिष्य) ज्ञानसागर	सं० पद्य	४	....	१८८१
अष्टान्हिका-सिद्धचक्रव्रतोद्यापन	महीचन्द्रसूरि	,,	२०	....	१६०४
आकाश-पंचमी-कथा	गुणभद्रमुनि	प्रा० (अपभ्रंश)	३८ से ४३	....	....
आत्मसंबोधकाव्य	×	प्रा० पद्य	२३	....	....
आदित्यवारकथा	जसकित्ति (यशःकीर्ति)	प्रा० (अपभ्रंश)	१४८-१५५	....	....
आदित्यवार-व्रत-पूजा	भ० देवेन्द्रकीर्ति	सं० पद्य	१४	....	१८५२
आप्तस्वरूपगाथा सटीक	कुन्दकुन्दाचार्य, टी० ×	प्रा०प० सं०गद्य	३४-३८	....	....
आराधनासार-टीका	पं० रत्नचन्द्र	सं० गद्य	११६	....	....
उड्डीशतंत्रखंड (अजैन)	...	सं० पद्य	१४	....	१६२२
एकादश-प्रतिमा-विवरण	मुनि कनकामर	अपभ्रंश	२८-३०	....	....
ऋषभदेवस्तवनयमकयुत(श्वे०)	जिनकुशलसूरि	सं० पद्य	२६-३०	....	....
ऋषिमंडल यंत्र पूजा	भ० विद्याभूषणसूरि	,,	३०८-३२३	....	....
ऋषिमंडलस्तवन व पूजन	भ० विश्वभूषण, जिनदास	सं० गद्य	६-१४	....	....
कक्षपुट (बौद्ध)	सिद्ध नागार्जुन	सं० पद्य	६७	....	१८८५
कर्मचूर व्रतोद्यापनपूजा	भ० लक्ष्मीसेन	,,	६	....	१८६४
कर्म दहनपूजा	भ० सोमकीर्ति	,,	१८	....	१८१३
,,	जिनचन्द्र मुनि	,,	२५५-२६७	....	....
कर्मप्रकृति-सटिप्पण	नेमिचन्द्र सि० च० टि० ...	प्रा० सं०	६ से २६	....	....
कलिकुंड पूजा	...	सं० पद्य	८	....	....
,, (बृहत्)	भ० विद्याभूषण	,,	१३१से१३५	....	....
कल्याणमंदिर-वृत्ति	..	सं० गद्य	२०	....	१७८६
कल्याणमंदिर-व्याख्या	भ० हर्षकीर्तिसूरि	,,	११	....	१६६७
कूट मुद्गर, सटिप्पण	माधव वैद्य (अजैन)	,,	७६	....	१६०८

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचनासं०	लिपिसं०
क्रियासार	भद्रबाहु	प्रा० पद्य	५	....	१६१२
क्षेत्रपालस्तवन	गंगकवि	संस्कृत	१	....	....
क्षेत्रसमासप्रकरण (श्वे०)	रत्नशेखरसूरि	प्रा० पद्य	२७८	....	१६३८
गणधरवलययंत्रपूजा	राजकीर्तिसूरि	सं०	१४६-१५०	....	....
गत्यागतिदंडकप्रकरण	धवलचन्द्र मुनि	प्रा०	१६-१७	....	....
गुणस्थान प्रकरण (श्वे०)	रत्नशेखर सूरि	सं० गद्य	८	....	१७७३
गुर्वावलि	भ० सोमसेन	,,	१६ से ३०	....	....
गोम्मटसार-टीका	अभयचन्द्र त्रैविद्य	सं० गद्य	४०८	....	....
चतुर्विंशतिजिनसमुच्चयपूजा	माघनन्दि व्रती	सं० पद्य	१०७-१०६	....	....
,, ,, स्तवन	देवनन्दी	,,	१	....	....
चन्दनषष्ठी कथा	गुणभद्रमुनि	प्रा० (अपभ्रंश)	७८-८३	....	....
चन्दनषष्ठीव्रत कथा	छत्रसेन	सं० पद्य	५	....	१७८३
,, ,,	लाखू पंडित	प्रा० पद्य	८१-८५	...	....
चारित्रपूजा	...	सं० गद्य	२७	....	१७२१
चांद्रायण कथा	गुणभद्रमुनि	प्रा०	४३ से ४६	....	....
चिंतामणिपार्श्वनाथस्तवन-	विद्याभूषण	सं० पद्य	३७ से ४६	....	....
चोरपंचाशिका (अजैन)	पं० वीरभक्त	,,	८	....	१७६०
जम्बूस्वामिचरित्रसटिप्पणश्च	...	प्रा० पद्य	७१	...	१६७४
जल्लिग-अनुप्रेक्षा	कवि जल्लिग	,,	१५४-१५५	....	....
जिनगुणव्रतोद्यापन	सुमतिसागर	सं० पद्य	७६-१०७	....	....
जिनरात्रि कथा	(गुणकीर्तिशिष्य) यशःकीर्ति	प्रा० (अपभ्रंश)	५६-७७	....	....
जिनस्तवन	पात्रकेशरी	सं० पद्य	२२१-२२३	....	....
जिनेन्द्रदेवशास्त्रगुरुपूजा	भ० विश्वसेन	,,	२७७-२७८	....	....
ज्येष्ठ-जिनवर-पूजा	ब्र० कृष्णदास	,,	....	....	....
ज्येष्ठजिनवरव्रतोद्यापन	श्रीभूषणकवि	,,	१०	....	....
ढाढसी गाथा	...	प्रा० पद्य	२३-२६	....	....
तत्त्वत्रयप्रकाशनी (ज्ञानार्ण०)	श्रुतसागर	सं० गद्य	१५	....	१८११
तत्त्वधर्मोपदेश (वृषभ च०)	भ० सकलकीर्ति	सं० पद्य	६	....	....
तत्त्वप्रदीपजातक	पं० श्रीपति (अजैन)	,,	१२	....	१६३८
तत्त्वभावना	अमितगति	,,	११	....	....
तत्त्वार्थ टीका	प्रभाचन्द्र	सं० गद्य	८८३	....	१७८४
तीन (त्रिकाल) चौबीसी पूजन	भ० विद्याभूषण	सं० पद्य	१३१से१३६	....	...
तीस चौबीसी पूजा	भ० शुभचन्द्र	सं०	८६	...	१८४२
,,	पं० भावशर्म	सं० पद्य	१५८से१७६	....	....
त्रिलोकसारपूजा-पाठ	सुमतिसागर	सं० पद्य	२५१	....	....

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पद्य संख्या	रचना सं०	लिपिसं०
त्रिषष्ठि शलाकापुरुषचरित्र	हेमचन्द्राचार्य	सं० पद्य	८१	१३००	१७३३
त्रेपनक्रिया उद्यापन	...	सं० पद्य	४	१६४४	....
त्रेपनक्रिया उद्यापन पूजा	पं० जिनदास	सं० पद्य	१५ से १८	....	....
त्रेपनक्रिया व्रत पूजा	भ० देवेन्द्रकीर्ति अग्रवाल	,,	७	१६५०	....
दशलक्षण उद्यापन	भ० विश्वभूषण	,,	२८२से३११	४७१०	....
दशलक्षण आरती सटीक	पं० नक्षत्रदेवात्मजपं०भावशर्म	प्रा०पद्य,सं०गद्य	२६ से ७३	....	....
दशलक्षण कथा	(मलयकीर्तिशिष्य)गुणभद्रमुनि	प्रा० (अपभ्रंश)	१११से११८	....	....
दशलक्षण जयमाला सटिप्पण	पं० भावशर्म	प्रा०पद्य टी०गद्य	६	....	१८६७
दशलक्षण व्रतोद्यापन पूजा	भ० सुमतिसागर	सं० पद्य	१२	....	१८३३
दुधारसव्रतोद्यापन	श्रीधर्ममुनि	,,	८ से ६	....	....
दुधारसीकथा	भ० विनयचन्द्र	प्रा० (अपभ्रंश)	७८ से ८०	....	....
द्रव्य संग्रह टिप्पण	...	सं० गद्य	६	....	१६६६
,,	टि० बखतावरसिंह अग्रवाल	,,	३	....	१६००
द्वादश अनुप्रेक्षा	पं० योगदेव कुंभनगर	....	....	....	....
धन्यकुमार चरित्र	गुणभद्र	सं०	५०	....	....
धन्यकुमार चरित्र	ब्र० नेमिदत्त	,,	२४	....	१८७१
धर्मचक्रपूजा	यशोनन्दी सूरि	सं० पद्य	२५१से२७०	....	....
धर्मचक्रपूजा	रणमल्ल साधु	प्रा० पद्य	२८	....	१८००
धर्मरत्नाकर	जयसेनाचार्य	सं०	१४६	....	१६१०
धर्मरुचिगीत	ब्र० धर्मरुचि	प्रा० पद्य	३६ से ४१	....	....
नन्दीश्वर पंक्ति पूजा	कनककीर्ति	सं० पद्य	७६ से ६१	....	....
नयचक्र टीका	शाह हेमराज	सं० गद्य	६६	१७२६	१८०७
नरकउतारी दुधारसी कथा	(मलयकीर्तिशिष्य)गुणभद्रमुनि	प्रा० (अपभ्रंश)	८३ से ८६	....	....
नवकार पैंतीस व्रत पूजा	कनककीर्ति	सं० पद्य	२	....	१६११
नवकार पैंतीस पूजा	भ० सुमतिसागर	,,	१२	....	....
नवग्रह स्तोत्र (अजैन)	व्यासऋषि	,,	१	....	....
निर्जरपंचमी कथा	(उदयचंद्रशिष्य) विनयचंद्र	प्रा० (अपभ्रंश)	५७ से ३३	....	....
निर्दुखी सप्तमी कथा	(मलयकीर्तिशिष्य)गुणभद्रमुनि	,,	८६ से ६०	....	....
निर्वाणपूजा	उदयकीर्तिमुनि	[illegible]० पद्य	....	....	...
नीतिवाक्यामृत	सोमदेव सूरि	सं० गद्य	२२	....	१६०२
नीतिसार	इन्द्रनन्दि	सं० पद्य	१६ से २१	....	....
नेमिनाथ चरित्र	लखमदेव	प्रा० (अपभ्रंश)	५२	....	१५६७
नेमिनाथ चरित्र (महाकाव्य)	महाकवि झांझण	सं० पद्य	१०	....	१८६८
नेमिनाथदंडक स्तुति	जिनसेनाचा	,,	५	....	....
नेमिनाथ द्वयक्षरी स्तोत्र सटीक	पं० शालि (आगमिक)	सं० पद्य गद्य	४	....	....

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचना सं०	लिपिसं०
नेमिनिर्वाणकाव्य-पंजिका	मू० वाग्भट, पंजि० ज्ञानभूषण	सं०	९३	....	....
नेमिनाथस्तवन सटिप्पण(श्वे०)	कमलविजयसूरि	सं० पद्य, गद्य	५ से ७	....	....
पट्टावली	...	सं० पद्य	२	....	...
पल्यव्रत-उद्यापन	भ० शुभचन्द्र	सं०	७	...	१८९२
पंचकल्याणकपूजा	चंद्रकीर्तिशिष्य ब्र० ज्ञानसागर	सं० पद्य	२४	....	१९०२
पंचकल्याणकपूजा	सुधासागर	"	३९ से ७३	....	....
पंचकल्याणकपूजा	भ० चंद्रकीर्ति	"	१ से ३८	....	१९१०
"	प्रभाचन्द्र	"	२ से २४	....	१९०२
पंचक्षेत्रपालपूजा	भ० सोमसेन	"	३५ से ५९	....	....
पंचनमस्कार स्तोत्र	उमास्वामी	"	२०९से२१०	....	.. .
पंचपरमेष्ठिपूजा	जिनदास कवि	"	१६ से १९	....	....
पंचपरमेष्ठिपूजा	यशोनन्दी	"		....	..
"	भ० धर्मभूषण	"	१से८	....	१७६४
"	भ० शुभचन्द्र	"	१ से ३९	....	....
पंचस्तोत्र सटीक	पं० शिवचंद्र	सं० पद्य,गद्य	५७	....	.
पंचसंग्रह सटीक (मूलसहित)	अमितगति, टी० सुमतिकीर्ति	"	२०१	टी १६२०	१७११
पाण्डवपुराण	जसकित्ती (यशःकीर्ति)	प्रा०(अपभ्रंश)	२४७	...	१५९४
पार्श्वनाथस्तोत्र	अभयदेव मुनि	प्रा० पद्य	१६	....	....
पार्श्वनाथ(लक्ष्मी)स्तोत्र सटीक	पद्मनन्दि मुनि	सं० पद्य,गद्य	२८१से२८३	....	....
पार्श्वनाथ-महिम्नस्तोत्र	रघुनाथ मुनि	सं० पद्य	१९	....	१९५४
पासबइकथा	गुणभद्र मुनि	प्रा०(अपभ्रंश)	३२ से ३८	....	....
पिंगल	श्रीशेखर	प्रा०	३८५से३९३	....	....
पीयूषवर्ष श्रावकाचार	ब्र० नेमिदत्त	सं०	३०	...	१६७६
पिंगलप्रदीप सटीक	लक्ष्मीनाथ भट्ट	सं० गद्य,पद्य	३९४से४६५	१६५७	१६९९
पुरंदरविधान कथा	...	प्रा०(अपभ्रंश)	५६से५८	....	....
पुष्पमाला प्रकरण (श्वे०)	...	प्रा० पद्य	७०से११८	....	१५५८
पुष्पांजलि-उद्यापन	गंगदेव	सं०	१७	....	....
पुष्पांजलिकथा	मलयकीर्तिशिष्य गुणभद्रमुनि	प्रा०(अपभ्रंश)	६६से१०४	....	....
प्रतिष्ठातिलक	पं० नरेन्द्रसेन	सं० पद्य	२८	...	१९२९
प्रतिष्ठापाठ (जिनयज्ञकल्प)	पं० आशाधर	सं०	८५	१२८५	१९९५
प्रतिष्ठाविधानसंग्रह	...	सं० पद्य	२२	....	१९२९
प्रतिष्ठासारसंग्रह	वसुनन्दी	सं०	२६	....	....
प्रायश्चित्त विधि	अकलंक	सं० पद्य	३२से३५	....	....
बृहत्सामुद्रिक भा० टी० (जैन)	...	सं० पद्य,हिंदी	१४	....	....
बृहत्सिद्धचक्रपूजा	पं० जिनदास	प्रा० पद्य	४४	१५८४	....

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचनासं०	लिपिसं०
भक्तामरस्तवन पूजा	श्रीभूषणशिष्यभ०ज्ञानसागर	सं० पद्य	६	....	....
भक्तामरस्तवन वृत्ति	ब्र० रायमल्ल	सं० गद्य	५५	१६६७	१८८४ ?
भक्तामरस्तवनवृत्ति मंत्रकथा	भ० रतनचन्द्र	,,	२६	पू. १६६७	....
भर्तृहरिशतक सटीक	पं० धनसार जैन पाठक	सं० पद्य, गद्य	८८	....	....
भावसंग्रह	श्रुतमुनि	प्रा० पद्य	४८	....	....
भावसंग्रह	विमलसेनशिष्य देवसेन	,,	८ से ४५	....	....
भूपालचौवीसी टीका	भ० चन्द्रकीर्ति	सं० पद्य, गद्य	८	....	....
भैरव पद्मावतीकल्प सटिप्पण	मल्लिषेण	सं० पद्य	२ से ४४	....	....
भ्रमणसारिणी (श्वे०)	...	,,	१३५	....	....
मउड सत्तमी कथा (कहा)	मलयकीर्तिशिष्य गुणभद्रमुनि	प्रा० (अपभ्रंश)	६० से ६५	....	....
मरणकंडिका	(अन्तिम पत्र नहीं)	प्रा० पद्य	१०	....	....
महाअभिषेक विधि	पं० नरेन्द्रसेन	सं० पद्य	१३	....	१६२६
महापुराण पंजिका	...	सं० गद्य	१७४	....	....
मातृकानिघंटु सार्थ (अजैन)	पं० महीदास	सं० पद्य, गद्य	४	....	....
मार्गणाआश्रवत्रिभंगी	श्रुतमुनि	प्रा० पद्य	७	....	....
मुक्तावलिव्रत पूजा	ब्र० जीवन्धर	सं० पद्य	२७५–२७७	....	....
मुहूर्तसिद्धि (अजैन)	पं० महादेव	सं०	८	....	१८८५
मूलाचारमूल	वट्टकेराचार्य	प्रा० पद्य	१ से ६१	....	१५०६
मौनव्रत कथा	गुणचंद्रसूरि	सं० पद्य	६७–६६	....	....
यतिनिर्वचन (उपासकाचार)	...	,,	५०से५२	....	....
यशोधर चरित्र	वादिराज	,,	१५	....	१८५३
यशोधरचरित्र पंजिका	देवसूरि	सं०	४४	....	१५३६
योगिचर्या	ज्ञानचन्द्र	....	....	....	....
योगीन्द्रपूजा	पं० साधारण	प्रा० पद्य	६५से६६	....	....
रत्नत्रयउद्यापन	श्रीकेशवसेन	सं० पद्य	७	....	१८६२
रत्नत्रयकथा	श्रीमलयकीर्ति	प्रा० पद्य	६२से६४	....	....
रत्नत्रयकथा	मलयकीर्तिशिष्य गुणभद्रमुनि	प्रा० (अपभ्रंश)	१०४–१११	....	....
,,	पद्मनन्दि मुनि	सं० पद्य	८४से८६	....	....
रत्नत्रयपूजा	पं० नरेन्द्रसेन	,,	१३७से१४५	....	....
रत्नत्रयविधि	रत्नकीर्ति	सं० गद्य	५५से५८	....	....
रविव्रतउद्यापन	भ० लक्ष्मीसेन	संस्कृत	३	....	१८६२
रविव्रतकथा	नेमिचंद्र कवि (माथुरसंघ)	प्रा०	६से११	....	....
राउजियर्छदहि	कवि मल्हु	प्रा० पद्य	१५६से१६६	....	....
रुक्मणिचरित्र	पं० छत्रसेन	सं० पद्य	३२से३५	....	....

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्र संख्या	रचनासं०	लिपिसं०
रूपिणीविधानकथा	पं० छत्रसेन	सं० पद्य	८७ से ९०	....	....
रोहिणीद्वादशीथाक	गुणभद्रमुनि	प्रा० (अपभ्रंश)	२९से३१	....	१६०२
रोहिणीव्रतउद्यापन	केशवसेनाचार्य	संस्कृत	१५	....	....
लब्धिविधानकथा	मलयकीर्तिशिष्य गुणभद्रमुनि	प्रा० (अपभ्रंश)	१४१से१४७	....	....
लंघनपथ्यनिर्णय	पं० दीपचन्द वाचक	सं० गद्य पद्य	२१	१७३२	१८६८
वरांगचरित्र	भ० वर्द्धमान	संस्कृत	७३	....	१९९७
विक्रमचरित्र (श्वे०)	अभयचन्द्रशिष्य रामचन्द्रसूरि	,,	४८	१४९०	१७३२
विचारषट् त्रिंशिका	गजसार साधु	प्रा० पद्य	....	....	....
विमानशुद्धिविधान	भ० चन्द्रकीर्ति	सं० पद्य	१२	१८९३	१९५५
विरदावलि	भ० छत्रसेन	,,	३० से ३४	....	....
विंशतितीर्थंकरपूजा	भ० नरेन्द्रकीर्ति	,,	१०७–१०८	....	....
विश्वतत्त्वप्रकाश	भावसेन त्रैविद्यदेव	सं० गद्य	८१	....	....
वृत्तसार (अन्तिमपत्र नहीं)	रइधू	प्रा० (अपभ्रंश)	६४	....	....
व्रतकथाकोष	भ० श्रुतसागरसूरि	सं० पद्य	१०४	....	....
,,	ललितकीर्ति	,,	६१	....	१८२७
शांतिक पूजाविधान	पं० धर्मदेव	,,	२६	....	१९२६
शांतिक विधि	पं० आशाधर	....	९०–१३१	....	....
श्रवणद्वादशीकथा	भ० गुणभद्र	प्रा० पद्य	४५ ४८	....	....
,,	(चंद्रभूषणशिष्य) अभ्रू	सं० पद्य	६१–६६	....	....
श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र	आचार्य विजयसिंह	....	६२	....	१५०६
श्रीपालचरित्र (श्वे०)	रत्नशेखराचार्य	प्रा० पद्य	४६	१४२८	१७३३
श्रीवीरस्तवनसटीक (यम०)	भ० जिनचंद्र	प्रा०अपभ्रंश	४६०	१४२८	१७३३
श्रुतबोधटीका (मूलसहित)	पं० मनोहरदास	सं० पद्य गद्य	७	....	१८७५
श्रुतस्कंध गाथा	हेमचन्द	प्रा० पद्य	४४–५०	....	....
श्रुतस्कंधपूजा	भ० त्रिभुवनकीर्ति	सं० पद्य	२५–२८	....	....
षट् पंचासिका (अजैन)	भट्टोत्पलाचार्य	,,	६	....	१७१७
षण्णवती क्षेत्रपालपूजा	भ० सोमसेन	,,	२४–४८	....	....
षोडशकारण व्रतोद्यापन	भ० सुमतिसागर	,,	२०	....	१६०४
,,	केशवसेन सूरि, रामनगर	,,	१२	१६२४	१८५२
,, पूजा	भ० ज्ञानसागर	प्रा० पद्य	४७	....	....
षोडशभावनाआरती	अभयनन्दी	,,	७४–८५	....	....
सत्तात्रिभंगी	कनकनंदी	,,	२६	....	१७२५
सप्तपरमस्थान पूजा	मुनि विद्यानंदो	सं० पद्य	६०–६३	....	....
,,	भ० जगद्भूषण	,,	११	....	१६०४
समयसार टिप्पण (मूलसहित)	...	सं० गद्य	६८	....	१९६६

[शेष अंश पृष्ठ ५२५ पर पढ़िये]

प्रतिमा-लेख-संग्रह और उसका महत्व

(लेखक—मुनि श्रीकान्तिसागर)

[गत किरणसे‡ आगे]

अब अपना दिगम्बर-प्रतिमा-लेखोंका संग्रह नीचे प्रकाशित किया जाता है। लेखोंमें भाषा तथा लिपि-सम्बन्धी जो अशुद्धियाँ जान पड़ती हैं उनका सुधार न करके उन्हें ज्योंका त्यों रक्खा गया है—ब्रैकटो वाला पाठ अपना है:—

(१) श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीभूवनकी० यात १२२४····

(मेरी डायरीसे)

(२) संवत् १२६२ माघ सुदि ५ सोमे श्रीमूलसंघे पिता मडसाद देव पतिमहि वरमा श्रीयार्थ श्रे० घूघलेत (न) श्री शांतिनाथ त्रिबं प्रति···· (मेरी डायरीसे)

(३) संवत् १३३४ बैसाख सुदि १३ शुभदिने मूलसंघे पोन·······सतिल भार्या सूहव पुभ (त्र) केहला····

(नांदगांव जिला अमरावती)

(४) संवत् १३८३ वर्षे माघ वदि ६ सोमे रत्नत्रयस्य प्रतिष्ठा···· त्रिभूवनकीर्ति गुरुवदेषाद·······नित्यं प्रणमंति····

(प्राचीन दि० जैन मंदिर बालापुर)

(५) संवत् १४३२ वर्षे बैसाख वदि ५ स० श्रीकाष्ठासंघ हुंबड ज्ञाति श्रे० देव भा० मोग्वल अपरकेन श्री पार्श्वनाथ ·······बिंबं करापितं भट्टारक····श्रीमलयकीर्तिभिः····

(मेरी डायरीसे)

(६) संवत् १४७२ वर्षे फाल्गुन वदि १ गु० श्रीमूलसंघे बलात्ता (बलात्कारगणे) हुंबड गया (शाति ?) भट्टारक पद्म चं० शिष्य नेमिचंद्रोपदेशात् श्रे० महयासी भा० मुहयादे सु० नरसिंह भा० चापु सु० कारसी·······चित्तोड नगरे *

(मेरी डायरीसे)

(७) संवत् १४८० वर्षे माघ वदि ५ गुरौ श्रीमूलसंघे नंदी संघे सरस्वती गच्छे कुंदकुंदाचार्यसंताने भट्टारक श्री पद्मनंदी तत्पट्टे श्री·······पदेशात् हुंबड ज्ञाति नाना भा० हरिल सु० तरसा भा० सुहव सु० पूरा भातृ अर्जुन भा० मही पद्मप्रभ प्रतिमा करापिता गोत्र खहरतः····

(मेरी डायरीसे)

(८) संवत् १४६३ मूलसंघे सा० घोडनारीय लखमा का फरम। (मेरी डायरीसे)

(९) संवत् १५०४ काष्ठासंघ·······नित्यं प्रणमंति····

(दि० जैन मंदिर नांदगांव)

---

‡ गत किरण पृ० ३३० के दूसरे कालममें जो 'मेरे गुरुवर्य उपाध्याय सुखसागरजीने' ऐसा छपा है वह गलत है, उसके स्थानपर 'उपाध्याय शान्तिलाल छगनलाल एम.ए. एल एल. बी. ने' ऐसा बना लेना चाहिये।

* राजपूतानेके इतिहासमें चित्तौड़का स्थान अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। पूर्वकालमें मेवाड़की राजधानी चित्तोड़ थी, वहाँ पर कारंजा निवासी एक श्रावकने संवत् १५४१ में जैन कीर्तिस्तंभ बनवाया था, ऐसा मेरे संग्रहके एक लेख परसे पता चलता है। यह लेख कारंजाके इतिहासमें बड़े ही महत्त्वका है। कारंजेका एक भी शिला व प्रतिमा लेख अद्यावधि उपलब्ध नहीं है ऐसा भास्कर (आरा) पत्रके दो संपादकोंके दो पत्रोंसे ज्ञात होता है। जैन इतिहासकी दृष्टिमें चित्तौड़का स्थान बहुत ऊंचा है। विशेषके लिये फोर्बस गुजराती सभा बंबईका मुख्य पत्र वर्ष ५ अंक ४ में मेरा लेख देखिये।

(१०) संवत् १४०५ वर्षे श्री मूलसंघे भट्टारक पद्मनंदि देवाः शिष्य देवेन्द्रकीर्ति तच्छिष्याः विद्यानंदिशिष्य ब्रह्म-धर्मपाल उपदेशात् पल्लीवाल ज्ञातीय स० राना भार्या रानी सुत पारिस्वा० भा० हर्ष प्रणमंति····

(दि० जैन मंदिर सिंदी)

(११) संवत् १४१५ वर्षे मूलसंघे सेन गणे भ०माणिक सेन पट्टे भ० नेमसेन उपदेशात गुजर पल्लीवाल ··

(पल्लीवाल जैन मंदिर कोडाली, नागपुर)

(१२) संवत १४१७ वर्षे पोष वदि ५ रवौ श्रीमूलसंघे भ० ज्ञानभूषणस्तत्पट्टे भ० विजयकीर्तिः गुरुपदेशात हुं० श्रे० रामा भा० रमकू सु० श्रे० पाचा भा० सरीयादे सु-भीमा भा० धर्मादे भ्रा० भोजा भा० वंगी भ्रा० फला भा० माणिदे भ्रा० नारद भा० नारंगदे सु० हरिया श्री मल्लिजिनं (नित्यं) प्रणमति । बुद्ध गोत्रे ।

(दि० शैतवाल जै० मं० आरवी, वर्धा)

(१३) संवत् १४१८ वर्षे श्रा० मूलसंघे आचार्य श्री —विद्यानंदि गुरुपदेशात सिंहपुराजाना श्रे० गाई····प्रति पुत्र डूंगर भा० रांगाई नित्यं प्रणमंति (खड़े चौमुखी)

(दि० जै० मं० बालापुर, आकोला)

(१४) संवत् १४१६ वर्षे प्लवंग नाम संवत्सरे जेष्ठ सुदि ५ (पंचमि) तिथी घटिका ६० पुष्य नक्षत्र ३७६ वज ·······घटि ४६ मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाम्नायेन्तत्पट्टे भ० श्रीदेवेन्द्रकीर्ति देवास्तत्पट्टे भ० श्री४ धर्मचन्द्रदेवातत्पट्टे श्री४ अमरकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री भूवनकीर्तिस्तत्पट्टे श्री४ विद्याश्रेया (यह लेख अपूर्ण मालूम होता है)। (शैतवाल दि० जै० मं० आरवी)

(१५) संवत् १४२२ सर्वरि नाम सं० मू० सं० बैसाख सुदि १३ दिने श्री मू० सरस्व० बला० कुन्दः २० भ धर्मा (धर्म ?) चन्द्रस्त० भ० श्री धर्मभूषण भ. श्री देवेन्द्रकीर्ति स्तत्पट्टे भ. कुमुदचन्द्र भ. श्री देवेन्द्रकीर्ति उ० सांवलराज नित्यं प्रणमंति (खड़ी मूर्ति) (उपर्युक्त मंदिरमें)

(१६) संवत् १४२२ सर्वरि नाम सं० मू० सं० बैसाख सुदि १३ दिने कुन्द २ भ० धर्म भूषण श्री देवेन्द्र प्रणमंति (खड़ी मूर्ति)। (उपर्युक्त मंदिरमें)

(१७) संवत् १४२७ माघ वदि ५ श्री मूलसंघे भ० ·······सिंहकीर्ति नित्यं प्रणमंति (नांदगांव, अमरावती)

(१८) संवत् १४३१ बैसाख सुदि १० हीरालाल त ··· ·· भुवनकीर्ति·······सौर ·· ······· सीतल जिन (नित्यं) प्रणमंति (मेरी डायरीसे)

(१९) संवत् १४३२ वर्षे बैसाख सुदि ५ रवौ काष्ठा-संघे नंदितटगच्छे भट्टारक श्री भीमसेन तत्पट्टे सोमकीर्ति आचार्य श्री वीरसेण सूरि युक्तेः प्रतिष्ठितं नारसिंह ज्ञातिय बोरडेक गोत्रे चापा भार्या परगू पुत्र केशव भार्या वाल्ही पुत्र१ रावत भडीया रावन भार्या धीराई शीतलनाथ बिंब प्रणमंति

(मेरी डायरीसे)

(२०) संवत १४३५ श्री मूलसंघे भ० श्री भुवनकीर्ति ६१० भ० श्री ज्ञानभूषणोपदेशात (रत्नत्रय है)

(बजारगांव जै० दि० मं० बालापुर)

(२१) संवत् १४३५ प्रमादि संवत्सरे फाल्गुण सुदि ५ श्रीमूलसंघे बलाकारगणे कुन्दः२चार्दैः भ० श्री धर्मचन्द्र (?) धर्मभूषण देवन्द्रकीर्ति तत्पट्टे कुमुदचन्द्रोपदेशात शैतवाल गोत्रे (?) ज्ञातीय रत्नसाह समशासाह नित्यं प्रणमंति

(प्राचीन जै० दि० मं० बालापुर)

(२२) संवत् १४४१ वर्षे वैशाख वदि ४ श्री मूलसंघे श्री 'त्रिभुवनकीर्तिदेवानामचतु······· शांत मौतु भार्या रानी पुत्र वैढवा नित्यं प्रणमंति (उपर्युक्त मन्दिरमें)

(२३) संवत् १४४२ वर्षे जेष्ठ सुदि ८ शनौः श्री मूल-संघे भ० श्री जिनचन्द्र सुदमसे (?) भट्टारक सकलकीर्ति स्तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरुपदेशात् आंगढा पोरवाड़ ज्ञातिय स० बाजु मानेजु सु०

गोकु [ल] भ्राता मा० समधर भार्या जमना सुत अर्हदास एते सर्वे पद्मप्रभ नित्यं प्रणमंति (मेरी डायरीसे)

(२४) संवत् १५४४ वर्षे बैसाख सुदि ३ सोमे श्रीमूलसंघे भट्टारक श्री विद्यानंदि भ० श्री भुवनकीर्ति भ० श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात हूं० सा० चांदा भा० रेमाई···· भा० मेनाइ सुत पद्मासी पूनसी भ्रातृ जिनदास भा० माणिकाई एते नित्यं प्रणमंति (मेरी डायरीसे)

(२५) संवत १५४५ नेनसुख परमसुख परवार।

(दि० जै० मं० सिवनी)

(२६) संवत १५४८ वर्षे बैसाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भट्टारक श्री जिनचन्द्र देव जीवराज नित्यं प्रणमंति

(दि० जै० मं० सिवनी)

(२७) संवत १५६० बैसाख सुदि २ बुधे श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे भट्टारक सकलकीर्तिस्त०भ० भुवनकीर्ति स्त० भ० ज्ञानभूषणस्त० भ० विजयकीर्ति गुरूपदेशात् हूं० ज्ञातीय श्रेष्ठी सालिंग भार्या ताकू सु० पर्वत भा० हेमकू द्वितीय भार्या पद्माइ भ्रातृ माइया सुत जियादास भा० याजबाई एते श्री शांतिनाम नित्यं मोरेर प्रतिष्ठितं आदिनाथ चैत्यालय

(दि० जै० मं० बालापुर आकोला)

(२८) संवत् १५६१ वर्षे चैत्र वदि ८ शुक्रे मूलसंघे भ० ज्ञानभूषण सु० भ० विजयकीर्ति स्त० भ० विजयकीर्ति गुरूपदेशात् हुंबड महिया भार्या अरबु तयोः सुत भोमा भार्या लाडीकि एत श्री धर्मनाथ तिर्थकर नित्यं प्रणमंति

(मेरी डायरीसे)

(२९) संवत् १५७६ वर्षे जैनाम संवत्सरे मार्गशीर्ष सु० १० श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्द चार्यान्वयेन श्री धर्मचन्द्रा भ० श्री धर्मभूषणोपदेशात नेवा ज्ञातीय महिया गोत्रे सागयासा सु० हलुमा एते षोडश कारण यंत्र नित्यं प्रणमंति (मेरी डायरीसे)

(यह प्रतिम जहां अवस्थित है वहां एक और प्राचीन मूर्ति है जो १२वीं शताब्दिकी होनी चाहिए ऐसा अनुमान किया जाता है।)

(३०) संवत १५८६ फागुण सुद १० वीरा···प्रणमंति

(मेरी डायरीसे)

(३१) संवत १५६७ श्री मूलसंघे सेनगणे भट्टारक सोमसेन उपदेश कालवाडे संघवी वालवटी ज्ञातीय जईन सरस्व········वायसे···पंच पर संति प्रतिमा नित्यं प्रणमंति

(शेतवाल जै० मं० आरवी)

(३२) संवत १५१···· मूलसंघे ब्रह्म० जियादास जेबरा (?) ज्ञातीय समो० भार्या रतनाई पुत्री० नित्यं प्रणमंति

(मेरी डायरीसे)

(३३) संवत् १६०० वर्षे माघ वदि ७ सोमे श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये भ० डा० नंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री देवेन्द्र भ० श्री मल्लिभूषण देवास्तत्पट्टे भ० लक्ष्मीचन्द्र देवा स्तत्पट्टे भ० वीरचन्द्र देवास्तत्पट्टे भ० ज्ञानभूषण हुंबड ज्ञातीय भावजा भा० बाई तयो (:) पोमा सा० नित्यं प्रणमंति

(प्राचीन दि० जै० मं० बालापुर)

(३४) संवत १६१६ मार्ग सुदि ६ मूलसंघे भ० श्री हंसास्तत्पट्टे ब्रह्म० राजपालोपदेशात् हुंबडज्ञातौ आत:···· भार्या जवाइ तत पुत्री बाई चांदू प्रणमंति

(दि० जै० मं० नांदगांव)

(३५) संवत १६२२ वैशाख सुदि ३ सोमे श्री कष्ठाचार्यान्वये भट्टारक श्री सकलकीर्ति देवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री भुवनकीर्ति देवास्तत्पट्टे ज्ञानभूषण देवास्तत्पट्टे भट्टारक विजयकीर्ति देवास्तत्पट्टे शुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्री सुमितिकीर्तिगुरुपदेशात हूमड ज्ञातीय गां (गांधी) रामा भा० वीरा सु० गा० सांता भा० सरीआदे सु० गा० अरदास भा० सोभागदे भ्राता वीरदास भा० कल्हादे··· ········नित्यं प्रणमंति (मेरी डायरीसे)

(३६) संवत् १६३१ वर्षे फागुन वदि ७········ में श्री मूलसंघे सरस्वती गच्छे प्रभाचन्द्र···········श्री धर्मचन्द्र श्री ललितकीर्ति भ० चन्द्रकीर्ति····

(जै० मं० नांदगांव, अमरावती)

(३७) संवत् १६४१ वर्षे फागुण वदि ७ बुधे श्रीमूलसंघेन·······सरस्वतीगच्छे श्री प्रभाचन्द्र·······श्री धर्मचन्द्र देवा श्री ललितकीर्ति भट्टारक श्री चन्द्रकीर्ति····

(दि० जै० मं० नांदगांव)

(३८) संवत् १६५२ वर्षे माघ वदि ५ रवौ श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलाकारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री सकलकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्तिदेवास्तत्पट्टे········ नित्यं प्रणमंति (।) (दि० जैन मं० बालापुर)

(३९) संवत् १६५३ वर्षे बैसाख सुदि १ मूलसंघे बलात्कारगणे· भट्टारक पद्मकीर्ति विद्याभूषण हेमकीर्तिपदेशात·······(षोडस करण यंत्र)

(जैन दि० मंदिर सिंदी)

(४०) संवत् १६६३ वर्षे वैसाख वदि चतुर्थि गुरौ श्री मूलसंघे सरस्वती (गच्छे) बलात्कारगणे मौर्यान्वयं गुप्ति गुप्ताचार्य श्री भद्रबाहु श्री जि-चन्द्र नाचार्य श्री भद्रबाहु जी यशोभद्राचार्य कुन्दकुन्दाचार्य श्री उमास्वाति देवा श्री पद्मनंदि देव श्री देवेन्द्रकीर्ति देव श्री विद्यानंदि देवा श्री मल्लिभूषण देव श्री लखमीचन्द्र देव अभयचन्द्र देव अभयनंदि देव श्री अभिनवर····देव श्री संघवी सुमितिसागरोपदेशात् श्री····

(बालापुर जैन मंदिर)

(४१) संवत् १६६४ वर्षे जेष्ठ वदि ३ सोमवासरे मोजाबाद मध्ये श्री मानिसंघ जी राज्ये श्री मूलसंघे भ० देवेन्द्र कीर्ति तदाम्नाय श्री खंडेल (खंडेल) वाल नयोशंनान् प्रतिष्ठा कराई बाघड सादरि मध्ये पाटणी गोत्रे साह डूंगा तत्पुत्र नेमा पु० भा० सदा तत् पुत्र दामोदर०त्रिपुरण·······सेवत सा० सांरडा पुत्र देवा नित्यं प्रणमंति (।)

(प्राचीन जैन दि० मंदिर बालापुर)

(४२) संवत् १६६५ वर्षे माघ सुदि १० शुक्रे श्री काष्ठा संघे भ० श्री ५ भूषण प्रतिष्ठितं वीर्यचारित्र यत्रं।नित्यं प्रणमंति (।) (दि० जै० मं० नांदगांव)

(४३) संवत् १६८१ व० फा० सु० २ बै० काष्ठासंघे भ० चन्द्रकीर्ति····संगपराग्यातिय स० सजण भा० सजणादे सु० ३ संवजी स०····स० आवृयेतत् कुटुम्ब पद्मावती नागर गोत्रे प्रणमंति···· (जै० मं० बजारगांव नागपुर)

(४४) संवन् १६९१ विरोधी नाम संवत्सरे रवि········ (पद्मावतीदेवीके मस्तक पर पार्श्वनाथ भगवानकी मूर्ति अवस्थित है, मूर्ति बड़ी सुन्दर है)।

(दि० जै० मं० बजारवाला, सिंदी)

(४५) संवन १६९२ मिति ११ मूलसंघे श्री धर्मचन्द्रा प्रति···· (उपर्युक्त मंदिरमें)

(४६) संवत् १६९६ मूलसंघे बलात्कारगणे····

(मेरी डायरीसे)

(४७) शाके १५६१ सर्व····त जेष्ठ लक्ष सुधौ तिलक कुर्यान श्री मूलसंघे बलाकारगणे सरस्वती गच्छे कुन्दकुन्दाचार्यसन्ताने न्यवये भ० श्री भूषण तत्पट्टे भ० देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ० कुमुदचन्द्र तत्पट्टे भ० श्री धर्मचन्द्र तदाम्नाये धर्माश्चार्य पासकीर्ति तदुपदेशात साहितवाल ज्ञातीय रनेक सेठ·······पुत्र········नित्य प्रणमंति (।)

(दि० जै० मं० बालापुर)

(४८) शाके १५७२ वर्षे मार्गशिर वदि ८ शुक्रे श्री मूलसंघे भ० श्री धर्मचन्द्र स्तत्पट्टे भ० धर्मभूषण गुरूपदेशात गांगरडा ज्ञातीय सं जेब सेठी (?) भा० पीलाई तयोः पुत्रा सं० (संघवी) सक सेठ भा० आपाई सं० दत्त सेठ नेम सेठ ए जे (ते) नित्यं प्रणमंति(।) (दि० जै० मं० बालापुर)

(४९) शाके १५७६ खरनाम संवत्सरे फाल्गुण मासे

शुक्र पक्षे पंचम्या तिलकदान श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलाकारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री धर्मचन्द्रस्तत्पट्टे भ० धर्मभूषणस्तदाम्नाये भट्टारक अजितकीर्तिउपदेशात जैन ज्ञाति कनकर्यातुक सेटी चताहु सेठी कुटुम्ब सहीतेना नित्यं प्रणमंति (।) (प्राचीन जै० मं० बालापुर)

(५०) शाके १५७७ वैषाख सुदि ६ शुक्रे मूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दान्वये तत्पट्टे भट्टारक कुमुदचन्द्र तत्पट्टे भ० धर्मचन्द्र तत्पट्टे भ० धर्मभूषणोपदेशात मीन सेठ भा० चावाइ तयोः पुत्राः संवरि सेठ भा० रंगाई तयोः पुत्राः सं० उकसेठ भार्या बापाई सं० नुक सेठ भार्या देवाई एतेषाम नित्यं प्रणमंति (।)

(शैतवाल जै० मं० कोडोली)

(५१) शाके १५७६ वर्षे मार्गसिर सुदि १४ बुधे श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलाकारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० कुमुदचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० धर्मचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० धर्मभूषणगुरूपदेशात् बघेरवाल ज्ञातीय हरसौरा गोत्रे सा० गुंगामा तस्य भार्या चांगा बाई त्योइ पुत्राः पासमा तस्य भार्या चांगाई ऐते नित्यं प्रणमंति चतुर्विंशतिजिनबिंबं (।) (जै० मं० नांदगांव)

(५२) संवत् १७३४ वर्षे माग मूलसंघे स० ब० देवेन्द्र कीर्तिगुरूपदेशात हूंबड ज्ञातीय·······नित्यं प्रणमंति (।)

(उपर्युक्त मंदिरमें)

(५४) शाके १६०७ मार्ग सुदि १० भ० सोमसेनदेवा तत्पट्टे भ० जिनसेनगुरुपदेशात् गुजर पल्लीवाल ज्ञातीय बापीसेन पुत्र नागूजी भार्या·······नित्यं प्रणमंति (।)

(पल्लीवाल जै० मं० कोडोली)

(५५) शाके १६०७ क्रोधनाम संवत्सरे·······सुदि १० बुधे पुष्करगच्छे सेनगणे वृषभसेनान्वये भ० सोमसेनदेवा स्तत्पट्टे भ० जिनसेनगुरुपदेशात जाली ग्रामे भाइज्ञातीय कन्हा नित्यं प्रणमंति (।) (पल्लीवाल जै० मं० कोडोली)

(५६) शाके १६०७ वर्षे मार्गसिर सुद १० मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलाकारगणे भ० श्री विशालकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० पद्मकीर्तिगुरूपदेशात पासस सेठ भार्या पसाई पुत्र ससेठ भार्या रत्नाई पुत्र सक सेठ पते नमसे धारी ज्ञातीय पल्लीवती परवार (दि० जै० मं० नांदगांव)

(५७) शाके १६१५ श्री मूलसंघे·······संवत्सरे चैत्र वदि ६ श्री कुन्दकुन्दान्वये प्रतिष्ठितम काष्ठासंघे

(दि० जै० मं० बालापुर)

(५८) शाके १६६० श्रावण सुदि ११ मंगल धर्मचन्द्र ·······प्रतिष्ठितं (जै० मं० बालापुर)

(५६) संवत १८२६ शाके १६९८ वैषाख वदि ११ सेनगणे श्री सिद्धसेन गुरुपदेशात

(शैतवाल जै० मं० आरवी)

(६०) शाके १७०४ श्री मूलसंघे (जै० मं० सिदी)

(६१) शाके १७०६ प्लवंग संवत्सरे मार्गशिरमास शुक्र पक्ष नवमे तिथौ शुक्रवासरे मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलाकारगणे कुन्दकुन्दाचार्य श्री धर्मचन्द्र भ० धर्मोपदर्श (पदेशात) सदा नंदीतटाम्नायं नेमीचन्द्रोपदेशात सेतवाल श्रीवकस जा० बाबारे श्री सम्यत संघ प्रणमंति (षोडसकरण यंत्र)।

(दि० जै० मं० बालापुर)

(६२) संवत् १८८४ बालापुर ग्रा०····सरस्वती मूर्ति।

(दि० जै० मं० बालापुर)

(६३) संवत् १८८४ बालापुर ग्रामे मूल० स० कु० भ० सतुदविद्रकीर्ति स्वामी प्रतिष्ठतं भाद्रपद वद ६ (पद्मावतीमूर्ति)

(दि० जै० मं० बालापुर)

(६४) संवत ११०२ माघ मासे शुक्र पक्षे स्वाबसु नाम संवत्सरे तेरसी दीवसे भ० देवेन्द्रकीर्ति वादिसिंह स्तने गंगासा लाड प्रतिष्ठा करापितं (।) (पल्लीवाल जै० मं० कोडोली)

[लेखकथित गंगासाके वंशधर अभी कोंगलीमें विद्यमान। कहा जाता है पल्लीवाल मंदिर भी आपने ही निर्माण कराया है।]

पर्वत पर विद्युद्दामसे शोभायमान और अनेक शिखरोंसे सहित नवीन मेघोंकी माला, जलधाराकी अविरल वर्षाके द्वारा उस दावानलको प्रशमित कर रही है—बुझा रही है, जिससे हस्ती दूरसे डरते हैं और जो अत्यन्त सन्तापरूप शरीर को प्राप्त है।'

यह शिखरिणी छन्द है।

इह कुसुमसमृद्धं मालिनीभूय सानौ
विपुलसकलधातुच्छेद-नेपथ्य-रम्यम्।
वपुरपि रचयित्वा कुंजगर्भेषु भूयो—
विदधति रतिमिष्टैः प्रार्थिताः सिद्धवध्वः ॥१२॥

'पुष्पोंसे सम्पन्न इस शिखरपर सिद्धवधुएँ—देवांगनाएँ लतागृहोंमें अनेक पुष्पमालाओंको धारण कर तथा शरीरको अनेक धातुखण्डोंसे सुरम्य बनाकर पतियों-द्वारा प्रार्थना किये जाने पर रतिक्रिया करती हैं।'

यह मालिनी छन्द है।

नलिननयन स्वामिन्नस्मिन्मुनीन्द्रवने सदा
स्मरवरतनो नित्योत्फुल्ल-प्रसूनमहीरुहे।
रविकर-परीतापाच्छायामुपेत्य विसाध्वसा
लसति हरिणी सार्धं वध्वा कुरङ्गरिपोऽत्रगम् ॥१४॥

'हे कमल नयन! हे कामदेवके समान सुन्दर! हे स्वामिन्! हमेशा फूले हुए वृक्षोंसे सहित इस तपोवनमें हरिणी, सूर्यकी किरणोंके सन्तापसे छायामें जाकर निर्भय हो सिंहनीके साथ शोभायमान हो रही है—सिंहनी और हरिणी एक साथ बैठी हैं। परस्परके विरोधी जीव भी यहाँ अपना वैरभाव छोड़ देते हैं।'

यह हरिणी छन्द है।

जपाहितरुचिस्तनुं मदनदर्शनीयामसौ
जनप्रमदकारणं दधदुपात्तसन्मानसः।
यशोभिरिव निर्झरैः प्रसरदभ्रिराभ्यक्षं
गरिष्ठकरुणालय! त्वमिव देव पृथ्वीगुरुः ॥१८॥

'हे देव! हे श्रेष्ठ दयाके गृह! पृथ्वी पर महान विस्तीर्ण यह पर्वत, फैलते हुए यशके समान किरनोंके द्वारा आपके समान अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। क्योंकि जिस प्रकार आप जपाहितरुचि हैं—ध्यानमें रुचिको लगाने वाले हैं उसी तरह यह पर्वत भी जपाहितरुचि है—जासौनके फूलोंसे शोभाको धारण करने वाला है। जिस प्रकार आप मनुष्योंके हर्षके कारण और मदन-दर्शनीय अर्थात् कामदेवके समान सुन्दर शरीरको धारण करते हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी मदन-मैनारवृक्षोंसे सुन्दर शरीराकृतिको धारण किये हुए है। और जिस प्रकार आप समीचीनमानस-हृदय-सहित हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी सरोवर-सहित है।'

यहाँ पृथ्वी छन्द तथा श्लेषालंकार है।

समकाञ्चनलोष्टमनुष्मनसं, सकलेन्द्रियनिग्रह बद्धरसम्।
जिन तोटकमागमनस्य भवे,शिरसैष बिभर्ति तपस्विगणम्३३

'हे जिनेन्द्र! यह पर्वत उन तपस्वियोंके समूहको धारण करता है जो कि सुवर्ण और पत्थरोंमें समान बुद्धि रखते हैं, विषयोंकी उत्कण्ठासे रहित हैं समस्त इन्द्रियोंके निग्रह करनेमें तत्पर हैं और संसारभ्रमणके छेदने वाले हैं।

यह तोटक छन्द है।

अष्टमसर्गमें जलक्रीड़ा, नवममें सूर्यास्त, संध्या तथा चंद्रोदय, दशममें मधुपान आदि, एकादशमें भगवान् नेमिनाथके लिये श्रीकृष्ण-द्वारा राजीमतीकी प्रार्थना, द्वादशसर्ग में बरातका जाना, त्रयोदशसर्गमें बद्ध पशुओंको देखकर नेमिनाथस्वामीका विरक्त होना तथा उनके पूर्व भवोंका वर्णन, चतुर्दशसर्गमें केवलज्ञानोत्पत्ति तथा समवसरणका वर्णन और पंद्रहवें सर्गमें भगवान्के दिव्य उपदेशका वर्णन है।

ग्रन्थकी समस्त वस्तु बहुत ही रोचक ढंगसे लिखी गई है—एकदम सरस और पाण्डित्यसे पूर्ण है। छोटेसे लेखमें सबका उद्धरण करना अशक्य है। काव्यरसास्वादके इच्छुकों को ग्रन्थ उठाकर उसका अध्ययन करना चाहिये।

वीरसेवामन्दिरके विशेष सहायक

दस हज़ार रुपयेकी नई सहायता

श्रीमान साहु शान्तिप्रसादजी जैन,
डालमियानगर

श्रीमान साहु शान्तिप्रसादजी जैन डालमियानगर जो कि डालमिया सिमेंट, भारत इन्श्योरेंस, रोहतास इन्डस्ट्रीज़ आदि अनेक कम्पनियोंके डायरेक्टर और भारतके अच्छे लब्धप्रतिष्ठ व्यापारी हैं एक बड़े ही उदार प्रकृतिके सज्जन हैं। व्यापारमें आप जहाँ एक हाथसे विपुल धनसम्पत्तिका उपार्जन करते हैं वहाँ दूसरे हाथसे बराबर लोकसेवाके कामोंमें उसका प्रायः वितरण भी करते रहते हैं जिससे स्पष्ट है कि आप अपनी उपार्जित धनसम्पत्तिमें अधिक आसक्ति नहीं रखते -आसक्तिको बढ़नेका अवसर ही नहीं देते, आपका लोभ-मोह क्षीण एवं विवेक जागृत है। और इसलिये आप सच्चे अर्थोंमें 'दानवीर' हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती रमादेवीजी भी, जोकि भारतके सुप्रसिद्ध व्यापारी रामकृष्ण डालमियाजीकी विदुषी सुपुत्री हैं, अच्छी दानशीला हैं उन्होंने पिछले दिनों अपनी धर्ममाता (सासु)के स्वर्गवासके अवसरपर चार लाखकी भारी रकम दानमें निकाली थी। इतनेपर भी अभिमान आपको छूकर नहीं गया, आप बहुत ही नम्र एवं सरल स्वभावके युवक हैं, गुण-ग्राहक हैं, और जैनसमाजरूपी आकाशमें एक उदीयमान नक्षत्रकी तरहसे देदीप्यमान हैं।

आप वीरसेवामन्दिरको बड़ी ही प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं उससे होने वाले ठोस सेवा कार्योंकी महत्ता उपयोगिताका आपको अनुभव है और आप उनके प्रति गाढ अनुराग रखते हैं। इसीसे वीरसेवामन्दिरको आप शुरूसे ही अपनी सहायताका लक्ष्य बनाये हुए हैं और उसे इससे पहले करीब पाँच हज़ार (४८००) रुपयेकी सहायता प्रदान कर चुके हैं जिसका परिचय इसी वर्षके अनेकान्तकी प्रथम किरणमें निकल चुका है। हालमें आपने वीरसेवामन्दिरको ग्रंथोंके प्रकाशनार्थ दस हज़ार १००००) रुपयेकी नई सहायताका वचन दिया है और ५००) रु०का चैक पत्रके साथमें भेजकर उसको भेजना प्रारम्भ भी कर दिया है, जिसके लिये आप भारी धन्यवादके पात्र हैं, और मैं आपकी इस कृपाके लिये बहुत ही आभारी हूं। मेरी तो निरन्तर यह हार्दिक भावना है कि आप अधिकाधिक रूपसे दानवती लक्ष्मीके स्वामी बनें, आपका वरद हाथ जैनसमाजके सिर पर सदा बना रहे और उसके द्वारा जैनसाहित्य, इतिहास एवं पुरातत्त्वका उद्धार होकर जैन समाजका मस्तक ऊँचा हो उठे।

जुगलकिशोर

ग़रीबका दिल

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

[१]

'आदमी हो या जानवर ? सुनते नहीं, कह दिया एक बार कि नहीं जा सकते इस वक्त ?'

'लेकिन हुज़ूर ! मेरा इकलौता बेटा, मेरी जिन्दगी की रोशनी···मेरी स्त्री की यादगार······!'

'तो क्या करें—हम ? देखते नहीं, साढ़े-छः बज चुके, 'फर्स्ट-शो' का टाइम हो रहा है !'

'हुज़ूर ! ग़रीबका उपकार होगा, आत्मा दुआएँ देंगी—मेरी ! मेरा लाल ! मेरा पूत ज़रूर बच जायेगा—डाक्टर साहब !'

'न, हम नहीं जा सकते ! दिमाग़ न चाटो बेकार ! चलो, प्रमोद ! स्टार्ट करो कार !'

प्रमोद तो पिताके हुक्मके इन्तज़ारमें था ही, उसे क्या देर ?

दूसरे ही क्षण कार आगे बढ़ी, कि वह संकटापन्न-व्यक्ति—पीड़ित-मानव—उचक कर कैरियर पर खड़ा हो रहा !

और लगा अपने संकटकी कैफ़ियत देने—'डाक्टर साहब ! डाक्टर साहब ! रहम करो, दो मिनिटके लिए तकलीफ उठाओ ! मेरा मन्नू—मेरा बेटा—अन्तिम-साँसें ले रहा है ! किसीके किए कुछ नहीं हो रहा ! सब हकीम डाक्टर थक कर लौट आए हैं ! बाबू जी, अब सब गांव आपका ही नाम ले रहा है, आपके हाथमें यश है, आप उसे ज़रूर चंगा कर देंगे ! ख़ुद सन्नू जब होशमें आता है, पुकार उठता है—'डाक्टर साहबको लाओ !'—चलिए हुज़ूर ! बस, दो मिनिटके लिए !···मेरा बेटा···मेरा मन्नू···!'

उफ़ ! कितना बेहूदा आदमी है—यह ? समझाये, समझता नहीं ! अपनी हाँके जाता है—पट्ठा ! अजब ख़ब्तीसे पाला पड़ा है आज !

डाक्टर सिन्हाका दिमाग़ गर्म होगया, झल्लाकर बोले—'हट !···ब्लाडी-फूल···!'

कार मामूली रफ्तारसे चल रही थी ! ड्राइव कर रहा था—प्रमोद ! डाक्टर साहबका इकलौता नौनिहाल !

सन्ध्याका धूमिल आकाश संसारके सिर पर था ! दिवाकरकी मिटती किरणें लुटी-सी आभा लिए क्षितिज पर विलीन होती जा रही थीं !

सारे अपमानको पीकर वह फिर कहने लगा, जैसे उसके बेहोश दिल पर अपमानकी चोट लगती ही न हो !—'डाक्टर···सा···ह···ब ! जीने-मरनेके सवाल पर अगर थोड़ा मनोरञ्जन आप छोड़ देंगे तो कुछ बुरा न होगा ! मुसीबतके वक्त दूसरेकी मदद करना, उसके काम आना मनुष्यका फ़र्ज़ है ! इतने पर भी मैं पूरी फ़ीस—बत्तीस-रुपया······!'

ओह ! यह करारा अपमान ? मेरी मनुष्यता परखने चला है यह नीच, गँवार मल्हा ? इतनी हिम्मत, इतनी मजाल कि मुझे स्पीच सुनाए···? पीछा ही नहीं छोड़ना चाहता—बदमाश कहींका ! इसे समझाए कौन ?—कि शामका वक्त काम करने

का नहीं, आराम करनेका होता है।

प्रभुत्वके मदने सिन्हा महोदयको आपेसे बाहर कर दिया। सिंहकी तरह दहाड़ते हुए वह उठे, और एक ऐसा भरपूर धक्का बेचारे रामदीनको मारा कि आह! अभागा दौड़ती कारसे दस फुट दूर जा गिरा।

कहाँ लगी? कैसी लगी? कितना खून निकला? मरा या बचा?—यह किसे मालूम? कौन देखने वाला था—वहाँ, उसका? और जरूरत भी थी किसे···?

'कार' धूल उड़ाती हुई आगे निकल गई! जैसे कुछ हुआ ही न हो।

× × × ×

[२]

उसका नाम था—रामदीन! जातिका 'मल्हा' था! और यमुना-तट पर थी उसकी झोंपड़ी! बेचारा गरीबीके बोझमें दबा हुआ था। पर, था वह सुखी! वह इस लिए कि एक पैसा भी उस पर कर्ज़का न था! ईमानदार था, और था बात वाला आदमी! वक्त-बे वक्त वह सौ-सौ रुपये बाजारसे ला सकता! घरमें कोई था नहीं! जो कुछ था—धन-दौलत, इज्जत-आबरू—जो कहो बस, 'सन्तू' था।

'सन्तू' उसका बेटा था—समर्थ—बेटा! और प्राणोंसे भी ज्यादह प्यारा! बुढ़ापेका सहारा जो था! वंशका नाम चलाने वाला भी तो?

तो अचानक वह पड़ गया—बीमार! और ऐसा कि जानके लाले पड़ गए! घरमें न उसकी माँ थी, न स्त्री! माँ मर चुकी थी—बहुत पहले। और स्त्री थी अपने पीहर! जो कुछ तीमारदारी थी, बूढ़े रामदीन के हाथ!···

बेचारा बड़ी मिहनत करता! बदल-बदल कर हकीमों, डाक्टरों, वैद्योंको दिखलाता! रुपया कर्ज़ लाता, कभी बर्तन-भांडे बेच कर! सब कुछ करता वह, जो कर सकता! इलाजमें त्रुटि न आने देता—ज़रा भी।

होते-होते बहत्तर घन्टोंके अन्दर यानी तीन दिन के अल्प समयमें ही उसने समीपस्थ शहरके सब डाक्टरोंसे सन्तूकी तशख़ीश कराली।

लेकिन······?

अन्तमें सहानुभूति रखने वाले पड़ोसियोंने राय दी—'डाक्टर सिन्हा' को दिखाओ! वह अच्छे तजुर्बेकार हैं! यश भी खूब है उनके हाथमें! जिस पर हाथ डालते हैं, चंगा करके छोड़ते हैं—उसे! वही सन्तूको आराम कर सकते हैं! वरना: बीमारी तो बढ़ी हुई है ही, कौन जाने भगवानकी क्या मर्जी है?'

रामदीन तो पुत्र-प्रेममें पागल था—इस वक्त! उसे अपने तन-बदनका भी खबर न थी! जो कोई कुछ कहता, वह वही कर गुजरता! बिना कुछ विचारे, सोचे।

वह तो चाहता था—'उसका 'सन्तू उठ खड़ा हो, बस।'

डाक्टर साहबकी कारसे गिरकर और अपनी चोटका कुछ भी ख़याल न करके, वह भागा—शहरकी ओर!···जब पहुंचा तो संन्ध्या हो चुकी थी, डाक्टर साहब अपने पुत्र-सहित सिनेमा देखने जारहे थे!···

× × × ×

[३]

'दादा!···दादा!!···पा···नी!!!'

एक भर्राई आवाजसे झोंपड़ी प्रकम्पित हो उठी! अन्धेरी रात थी। दस बजेका वक्त होगा। यमुनाकी उत्ताल-तरंगें कल-कल ध्वनिका सृजन कर रही थीं।

शेष सब ओर शान्ति थी।

'लो, पियो! घबराओ नहीं, बेटा। भगवान सब ठीक करेंगे।'—रामदीनने मिट्टीका बर्तन सन्तूके तपते हुए सूखे ओठोंसे लगाते हुए कहा।

'दादा !!!'—

सन्तूने एकबार रामदीनकी ओर देखा।

ओफ़!···

निश्चय ही उसकी दृष्टिमें निराशा थी। रामदीन सिहर उठा। टप् टप् दो बूँदें उसकी गड्ढोंमें धँसी हुई आँखोंने टपकादीं। वह मुंहसे कुछ बोल न सका।

'दा···। रोओ मत। मेरा तुम्हारा बस, इतना ही साथ था—जो पूरा हो रहा है अब।···आह्···।'—सन्तूने अटकती हुई जबानसे रुकते हुए कहा।

उफ्, यह कैसी बातें हैं?—रामदीन हृदयका धैर्य छोड़ बैठा। और एक दम रो पड़ा. हिचकी भर कर. बच्चोंकी तरह।···

'सन्तू। सन्तू बेटा। बापसे रूठ कर कहाँ जा रहा है? अरे, जरा मेरी ओर तो देख, मैं बुढ़ापेके···।'

मगर सन्तू अब था कहाँ. वहाँ? जो उसकी ओर देखता। वह तो······?

रातके ग्यारह बजे। यमुनाका पारदर्शी-सलिल हाहाकार कर रहा था। समीरकी तीव्रतासे प्रेरित, सूखे पत्ते खड़खड़ाहट मचा रहे थे। हिमानी और अन्धकारसे भीगी हुई रात जब अपनी भयंकरता दिखला रही थी—तब रामदीन रो रहा था। उसका करुण-क्रन्दन रात्रिकी नीरवताका अवलम्ब पा, चतुर्दिक बिखर रहा था।···

× × × . ×

[४]

पूरा एक वर्ष बीत गया।—

रामदीन भी वही है। झोंपड़ी भी वही है। और वही यमुना, उसी तरह सामने बह रही है। बस, अन्तर है तो इतना कि आज सन्तू नहीं है।

दूसरे देखने वालोंको यह अन्तर कुछ मालूम दे ही, यह बात नहीं है। पर, इतने अन्तरने रामदीनको क्या कर दिया है? उसकी जीवन-धारा अब किधर बह रही है?—इसे वह स्वयं ही नहीं जानता। तब और कौन कह सकता है?

माना कि उसके हृदयकी चोट किसीको दीखती नहीं। पर, वह है जिसने उसे मुर्दा बना दिया है, जीने की ख्वाहिशको बुझा दिया है. और कर दिया है—बरबाद।

वह एक लक्ष्य-हीन संन्यासी है—अब।···

रात-रात भर वह यमुनाके तट पर बैठा रहता है। पता नहीं, किसके सोचमें, किसके ध्यानमें? खा पी लिया तो ठीक, न खाया तो कुछ परवाह भी नहीं। जैसे शरीरसे ममत्व छूटनेके साथ, भोजनसे स्नेह भी टूट चुका हो। न किसीसे बोलता-चालता है, न मिलता जुलता ही। जहाँ बैठा, वहीं का हो रहा जिधर देखने लगा, बस देखता रहा घन्टों उसी ओर। कुछ पूछा जाय तो कोई उत्तर नहीं।···चुप···।—मौन···वैरागीकी तरह।

और इन्हीं सब बातोंने उसे 'पागल' करार दे दिया है। पर, क्या वह सचमुच पागल है भी?

यमुना चढ़ी हुई थी, पानी खूब तेजीसे किलोलें करता हुआ चला आ रहा था। लहरें—एक दूसरी पर पाँव रख कर आगे बढ़तीं, पर फिर अन्त। रामदीन किनारे पर बैठा, देख रहा था—यह सब।···

सहसा उसने देखा—एक काली-सी चीज, पानी की लहरोंके साथ उछलती, डूबती, तैरती चली आ रही है।

का नहीं, आराम करनेका होता है।

प्रभुत्वके मदने सिन्हा महोदयको आपेसे बाहर कर दिया। सिंहकी तरह दहाड़ते हुए वह उठे, और एक ऐसा भरपूर धक्का बेचारे रामदीनको मारा कि आह ! अभागा दौड़ती कारसे दस फुट दूर जा गिरा।

कहाँ लगी ? कैसी लगी ? कितना खून निकला ? मरा या बचा ?—यह किसे मालूम ? कौन देखने वाला था— वहाँ, उसका ? और जरूरत भी थी किसे···?

'कार' धूल उड़ाती हुई आगे निकल गई ! जैसे कुछ हुआ ही न हो।

× × × ×

[२]

उसका नाम था—रामदीन ! जातिका 'मल्हा' था ! और यमुना-तट पर थी उसकी झोंपड़ी ! बेचारा ग़रीबीके बोझमें दबा हुआ था। पर, था वह सुखी ! वह इस लिए कि एक पैसा भी उस पर कर्ज़का न था ! ईमानदार था, और था बात वाला आदमी ! वक्त-बे वक्त वह सौ-सौ रुपये बाजारसे ला सकता ! घरमें कोई था नहीं ! जो कुछ था—धन-दौलत, इज़्ज़त-आबरू—जो कहो बस, 'सन्तू' था।

'सन्तू' उसका बेटा था—समर्थ—बेटा ! और प्राणोंसे भी ज्यादह प्यारा ! बुढ़ापेका सहारा जो था ! वंशका नाम चलाने वाला भी तो ?

तो अचानक वह पड़ गया—बीमार ! और ऐसा कि जानके लाले पड़ गए ! घरमें न उसकी माँ थी, न स्त्री ! माँ मर चुकी थी—बहुत पहले। और स्त्री थी अपने पीहर ! जो कुछ तीमारदारी थी, बूढ़े रामदीन के हाथ !···

बेचारा बड़ी मिहनत करता ! बदल-बदल कर हकीमों, डाक्टरों, वैद्योंको दिखलाता ! रुपया कर्ज़ लाता, कभी बर्तन-भांडे बेच कर ! सब कुछ करता वह, जो कर सकता ! इलाजमें त्रुटि न आने देता—ज़रा भी।

होते-होते बहत्तर घन्टोंके अन्दर यानी तीन दिन के अल्प समयमें ही उसने समीपस्थ शहरके सब डाक्टरोंसे सन्तूकी तशख़ीश कराली।

लेकिन······?

अन्तमें सहानुभूति रखने वाले पड़ोसियोंने राय दी—'डाक्टर सिन्हा' को दिखाओ ! वह अच्छे तजुर्बेकार हैं ! यश भी खूब है उनके हाथमें ! जिस पर हाथ डालते हैं, चंगा करके छोड़ते हैं—उसे ! वही सन्तूको आराम कर सकते हैं ! वरना: बीमारी तो बढ़ी हुई है ही, कौन जानें भगवानकी क्या मर्जी है ?'

रामदीन तो पुत्र-प्रेममें पागल था—इस वक्त ! उसे अपने तन-बदनकी भी खबर न थी ! जो कोई कुछ कहता, वह वही कर गुजरता ! बिना कुछ विचारे, सोचे।

वह तो चाहता था—'उसका 'सन्तू उठ खड़ा हो, बस।'

डाक्टर साहबकी कारसे गिरकर और अपनी चोटका कुछ भी ख़याल न करके, वह भागा—शहरकी ओर !···जब पहुंचा तो संन्ध्या हो चुकी थी, डाक्टर साहब अपने पुत्र-सहित सिनेमा देखने जारहे थे !···

× × × ×

[३]

'दादा !···दादा !!···पा···नी !!!'

एक भर्राई आवाज़से झोंपड़ी प्रकम्पित हो उठी ! अन्धेरी रात थी। दस बजेका वक्त होगा। यमुनाकी उत्ताल-तरंगें कल-कल ध्वनिका सृजन कर रही थीं।

शेष सब ओर शान्ति थी।

'लो, पियो! घबराओ नहीं, बेटा। भगवान सब ठीक करेंगे।'—रामदीनने मिट्टीका बर्तन सन्तूके तपते हुए सूखे ओठोंसे लगाते हुए कहा।

'दादा!!!'—

सन्तूने एकबार रामदीनकी ओर देखा।

ओफ़!···

निश्चय ही उसकी दृष्टिमें निराशा थी। रामदीन सिहर उठा। टप् टप् दो बूँदें उसकी गड्ढोंमें धँसी हुई आँखोंने टपकादीं। वह मुँहसे कुछ बोल न सका।

'दा···रोओ मत। मेरा तुम्हारा बस, इतना ही साथ था—जो पूरा हो रहा है अब।···आह···।'—सन्तूने अटकती हुई जबानसे रुकते हुए कहा।

उफ़, यह कैसी बातें हैं?—रामदीन हृदयका धैर्य छोड़ बैठा। और एक दम रो पड़ा, हिचकी भर कर, बच्चोंकी तरह।···

'सन्तू! सन्तू बेटा! बापसे रूठ कर कहाँ जा रहा है? अरे, ज़रा मेरी ओर तो देख, मैं बुढ़ापेके···।'

मगर सन्तू अब था कहाँ, वहाँ? जो उसकी ओर देखता। वह तो······?

रातके ग्यारह बजे। यमुनाका पारदर्शी-सलिल हाहाकार कर रहा था। समीरकी तीव्रतासे प्रेरित, सूखे पत्ते खड़खड़ाहट मचा रहे थे। हिमानी और अन्धकारसे भीगी हुई रात जब अपनी भयंकरता दिखला रही थी—तब रामदीन रो रहा था। उसका करुण-क्रन्दन रात्रिकी नीरवताका अवलम्ब पा, चतुर्दिक बिखर रहा था।···

× × × ×

[४]

पूरा एक वर्ष बीत गया।—

रामदीन भी वही है। झोंपड़ी भी वही है। और वही यमुना, उसी तरह सामने बह रही है। बस, अन्तर है तो इतना कि आज सन्तू नहीं है।

दूसरे देखने वालोंको यह अन्तर कुछ मालूम दे ही, यह बात नहीं है। पर, इतने अन्तरने रामदीनको क्या कर दिया है? उसकी जीवन-धारा अब किधर बह रही है?—इसे वह स्वयं ही नहीं जानता। तब और कौन कह सकता है?

माना कि उसके हृदयकी चोट किसीको दिखती नहीं। पर, वह है जिसने उसे मुर्दा बना दिया है, जीने की ख्वाहिशको बुझा दिया है, और कर दिया है—बरबाद।

वह एक लक्ष्य-हीन संन्यासी है—अब।···

रात-रात भर वह यमुनाके तट पर बैठा रहता है। पता नहीं, किसके सोचमें, किसके ध्यानमें? खा पी लिया तो ठीक, न खाया तो कुछ परवाह भी नहीं। जैसे शरीरसे ममत्व छूटनेके साथ, भोजनसे स्नेह भी टूट चुका हो। न किसीसे बोलता-चालता है, न मिलता जुलता ही। जहाँ बैठा, वहीं का हो रहा जिधर देखने लगा, बस देखता रहा घन्टों उसी ओर। कुछ पूछा जाय तो कोई उत्तर नहीं।···चुप···।—मौन···वैरागीकी तरह।

और इन्हीं सब बातोंने उसे 'पागल' करार दे दिया है। पर, क्या वह सचमुच पागल है भी?

यमुना चढ़ी हुई थी, पानी खूब तेज़ीसे किलोलें करता हुआ चला आ रहा था। लहरें—एक दूसरी पर पाँव रख कर आगे बढ़तीं, पर फिर अस्त। रामदीन किनारे पर बैठा, देख रहा था—यह सब।···

सहसा उसने देखा—एक काली-सी चीज़, पानी की लहरोंके साथ उछलती, डूबती, तैरती चली आ रही है।

'हैं, यह तो आदमी मालूम देता है ? बेचारा मर न चुका हो ?'—वह अपने आप बड़बड़ाया। जैसे अपने हृदयसे उत्तर चाहता है।

और दूसरे ही क्षण—हथेली पर जान ले, उस चढ़ती हुई यमुनाके प्रबल वेगसे जूझनेके लिए रामदीन अथाह जलमें कूद पड़ा।

आध-घण्टे तक बूढ़े-शरीरकी सारी शक्ति उसे तटकी ओर लानेके प्रयत्नमें लगी। तब कहीं वह उसे पार ला सका।

ला तो सका, पर स्वयं बड़ी मुसीबतमें अपनेको फँसा आया। उसका दाहिना पैर किसी जलचरने काट लिया था। वह खून से लथपथ और थकावटसे चूर तटपर आकर ही रहा।···

लेकिन उसकी दशा···? आह, कितनी भयंकर, कितनी द्रावक, और कितनी करुण होरही थी ?

और जब उसने आँखें खोलकर उस मृत-प्राय-शरीरकी ओर देखा तो अवाक् रह गया।

हृदय उसका परोपकारकी महतीभावनासे भर गया। निश्चय ही वह जीवित था।···

फिर सहसा उसका कण्ठ फूटा—'अरे, यह तो डाक्टर सिन्हाका पुत्र प्रमोद है। यहाँ कैसे आया ?'

× × × ×

[५]

'रामदीन, रामदीन ! सचमुच तुम आदमी नहीं, देवता हो। तुम ग़रीब हो पर, तुम्हारा दिल दौलतमंद है। उसमें तेज है, उसमें उदारता है, उसमें प्रेम है। तुमने मुझे पुत्रकी भीख दी है। उसे जीवनदान दिया है। लेकिन मैं···?—मैं दौलतमंद होकर भी वह राक्षस हूं, जिसने अपने मनोरंजनके सामने तुम्हारे बच्चे की जानको कुछ नहीं समझा।···मैं नराधम हूं—रामदीन। तुम मुझे माफ करदो।'

—और डाक्टर सिन्हा ज़ोर-ज़ोरसे रो पड़े। उन्हें लगा—जैसे रामदीन कारसे गिरकर आहत हुआ, उनके सामने पड़ा है।

'···रोओ मत, डाक्टर साहब। सिर्फ वही एक चीज़ ग़रीबोंके लिए बच रही है। उसे उन्हींके लिए रहने दो, न ? तुम बड़े आदमियोंको रोना शोभा भी तो नहीं देता ?'

आह ! रामदीन, मैं हत्यारा हूं—मैंने ही तुम्हारे मन्नूको खाया है। मुझे माँफ कर दो।'—डाक्टर सिन्हाका मन मौम होरहा था। वे घुटनोंके बल बैठ गए—रामदीनके आगे, बगैर अपने नये सूटकी बर्बादीका ख्याल किए हुए।

'मेरे भाग्यकी बात थी—डाक्टर साहब। आप का कोई दोष नहीं। मगर मुझे इस बातकी बड़ी खुशी है कि मैं अपनी जान देकर भी, आपके पुत्रकी जान बचा सका। मेरा आख़िरी वक्त है—मैं जा रहा हूं······नमस्कार।'

जहरने रामदीनको पीला कर दिया था—पैरका घाव रक्त बहाते-बहाते थक गया था। डाक्टर साहब ने देखा तो रामदीन अमर हो चुका था।

और डाक्टर साहब रो रहे थे। आँखें हो रही थीं—लाल सुर्ख़।

प्रश्नोत्तर

[मैंने एक प्रश्न (ज्ञान-अज्ञान विषयक) श्री दरबारीलाल जी सत्यभक्तके पास भेजा था। उसका उन्होंने जो उत्तर दिया सो तारीख १६-५-१६३६ ई० के सत्यसन्देशमें प्रकट हो चुका है, फिर भी वह चर्चा मानस-शास्त्र-सम्बन्धी होनेसे उसे आज अनेकान्त-पाठकोंकी जानकारीके लिये नीचे प्रकट किया जाता है। आशा है दूसरे विद्वान इस पर कुछ विशेष ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और होसके तो इस विषयपर कोई नया प्रकाश डालकर अनुगृहीत करेंगे। —दौलतराम मित्र]

(प्रश्न)

"तिर्यञ्च-जीवोंको (माँस) खाने वालोंमें कुछ तो पाप पुण्यकी समझ रखने वाले और कुछ समझ नहीं रखने वाले मनुष्य हैं। इन दोनोंमें पापके अधिक भागी कौन होने चाहियें? समझदार या बेसमझदार? यदि कहोगे कि समझदार, तो समझदारीको फिर कौन हासिल करेगा? क्योंकि पापसे छुटकारा पानेके लिये ही तो समझदारी हासिल की जाती है। यदि कहोगे कि बेसमझदार, तो यह तो ठीक नहीं है, क्योंकि उनमें तो पाप-पुण्यकी कल्पना ही नहीं है। उनकी तो वैसी ही प्रवृत्ति है जैसी कि जलचर, थलचर, नभचर जीवों में हिंसक-प्रवृत्ति पाई जाती है।"

(उत्तर)

"कर्मसिद्धान्तके जिस रूपको मानकर यह प्रश्न उठाया गया है, उसके अनुसार पुण्य-पापका साक्षात् सम्बन्ध ज्ञान-अज्ञानसे नहीं किन्तु कषायसे है। कषायोंकी जितनी तीव्रता होगी, कर्मका बंध भी उतना ही अधिक होगा, परन्तु तीव्र कषायी होनेकी शक्ति समझदारोंमें अधिक होती है। हाँ, उसका वे सदुपयोग भी कर सकते हैं, और दुरुपयोग भी कर सकते हैं। बेसमझ प्राणियोंमें उतनी शक्ति नहीं होती, इस लिए वे उतना बन्ध नहीं कर सकते।

परन्तु इसलिये समझदारी बुरी चीज न होगई; क्योंकि समझदारी बुराईके लिये उत्तेजित नहीं करती। वह एक शक्ति है; उसका उपयोग जितना बुराईमें हो सकता है, उतना भलाईमें भी हो सकता है। एक आदमी लाख रुपये का व्यापार करता है तो उसका नफा हजारोंपर पहुँचता है। और घाटा भी हजारों पर पहुँचता है। परन्तु जो दो रुपये का व्यापार करता है, वह हजारोंका घाटा या मुनाफा नहीं उठा सकता। परन्तु कोई यह नहीं चाहता कि हजारोंके घाटेसे बचनेके लिये दो रुपयेका ही व्यापारी बना रहूँ।

जैनशास्त्रोंकी कुछ मान्यताएँ बड़ी सुन्दर हैं और वे पूर्ण मनोवैज्ञानिक हैं। उनके अनुसार एकेन्द्रिय जीव नरक नहीं जासकता। परन्तु वह स्वर्ग, मोक्ष भी नहीं जासकता। परन्तु नरक न जाना पड़े, इसीलिये कोई एकेन्द्रिय होना पसन्द नहीं करता। इसी प्रकार नासमझ पापका अधिक बन्ध नहीं कर सकता तो पुण्यका भी अधिक बन्ध नहीं कर सकता; और मुक्ति मार्गको तो वह पा ही नहीं सकता। इसलिये समझदारीको हेय और नासमझीको उपादेय नहीं कह सकते।

हाँ ज्ञातभावका अर्थ समझदारी नहीं है, इसी प्रकार न अज्ञातभावका अर्थ नासमझी है। समझदार भी अज्ञातभाव से पाप कर जाता है, और नासमझ भी ज्ञानभावसे पाप करता है। अज्ञातभावकी अपेक्षा ज्ञातभावमें कर्मबन्ध अधिक है। जान-बूझकर इरादापूर्वक पाप करनेमें संक्लेश अधिक रहता है। नासमझी से अज्ञातभावका नियत संबंध नहीं है।

जिन जीवोंमें पाप-पुण्यकी कल्पना ही नहीं है, तो भी अगर वे पाप करते हैं तो उन्हें पापबन्ध होता है, उसका फल भोगना पड़ता है। इसलिये जैनशास्त्रोंमें उन्हें नरक-गामी भी बताया है। अगर किसी समाजके मनुष्य झूठ बोलनेकी बुराई न समझते हों और खूब झूठ बोलते हों तो झूठ बोलनेसे जो हानि है वह उन्हें भोगना पड़ेगी। ऐसी ही अवस्था कर्मबन्धकी भी है। असली बात यह है कि बन्ध का सम्बन्ध ज्ञान-अज्ञानसे नहीं, कषाय-अकषायसे है। ज्ञान-अज्ञान उसमें परम्परासे कारण होते हैं।"

बुन्देलखण्डका प्राचीन वैभव, देवगढ़

[लेखक—श्री कृष्णानन्द गुप्त]

हमारे पाठक देवगढ़के नामसे अवश्य परिचित होंगे। यह स्थान अपने प्राचीन जैन मन्दिरों, विभिन्न समयकी लिपिमें लिखे गये अनेक शिला-लेखों, तथा अन्य प्राचीन स्मारकोंके लिये काफ़ी प्रसिद्ध है। गुप्त कालका बना हुआ यहाँका विष्णु-मन्दिर तो भारतीय कलाकी एक ख़ास चीज़ है। 'मधुकर' में उसका कई बार उल्लेख हो चुका है।

देवगढ़ जानेका सबसे पहला अवसर मुझे सन् १९२३के लगभग प्राप्त हुआ। यह यात्रा मेरे लिए चिर-स्मरणीय रहेगी; क्योंकि जिस मंडलीके साथ मैंने यह यात्रा की, उसमें आदरणीय वृन्दावनलालजी वर्मा, कविवर श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त और राय श्रीकृष्णदास जैसे व्यक्ति सम्मिलित थे। एक तो देवगढ़ जैसे प्रसिद्ध स्थानकी यात्रा, और फिर कवि और कला-मर्मज्ञोंका सत्संग। जीवनमें ऐसे अवसर बहुत कम मिलते हैं।

हम लोग रातको दो बजे झाँसीसे रवाना होकर सुबह जाखलौन पहुँच गये थे। ललितपुरसे आगे जाखलौन एक छोटा-सा स्टेशन है। यहाँ कोई मेल-ट्रेन खड़ी नहीं होती। इस लिए हमलोग रातकी पैसिंजरसे ही आये थे। देवगढ़ जाखलौनसे आठ मीलकी दूरी पर स्थित है। स्टेशन पर अक्सर सवारी के लिए बैलगाड़ी मिल जाती है। ऐसा न होने पर निकटवर्ती ग्रामसे उसका प्रबन्ध किया जा सकता है। ललितपुरसे यह जगह छब्बीस मील दूर है।

आजसे लगभग १७ वर्ष पूर्वकी उस यात्राका पूरा स्मरण मुझे नहीं। देवगढ़के प्राचीन जैन-मन्दिरों, वहांके प्राकृतिक दृश्यों, तथा अतीतके अन्य भग्नावशेषोंको देख कर मेरे मन पर क्या प्रभाव पड़ा, मैं ठीक कह नहीं सकता। किन्तु मुझे इतना अवश्य स्मरण है कि क़िले पर पहुँच कर हम लोगोंने वहांसे जब बेतवाका अपूर्व दृश्य देखा तो मंत्रमुग्धसे होकर रह गये थे। तबसे हम कई बार देवगढ़ गये हैं, और जितनी बार वहाँ गये, एक नये आनन्दकी अनुभूति लेकर लौटे हैं। भारतकी प्राचीन शिल्प-कलाके कुछ बड़े सुन्दर नमूने तो वहां मौजूद हैं ही, जिन्हें देख कर चित्त प्रसन्न हुए बिना नहीं रहता; साथ ही देवगढ़का प्राकृतिक सौन्दर्य भी देखने योग्य है। विंध्य पर्वतकी श्रेणीको काट कर बेतवाने यहां कुछ बड़े सुन्दर दृश्य बनाये हैं। देवगढ़का प्राचीन दुर्ग जिस पर्वत पर है, बेतवा ठीक उसके नीचे होकर बहती है। पहाड़की एक विकट घाटीमें होकर बहती हुई सहसा वह पश्चिमकी ओर मुड़ गई है। इससे दृश्य और भी सुन्दर हो गया है।

वर्तमान देवगढ़ बेतवाके तट पर बसा हुआ एक छोटा-सा गाँव है। जनसंख्या लगभग दो सौके होगी। उसमें जैनियों और सहनमोंकी संख्या ही अधिक है। गाँवके निकट पहुँचने पर साधारण दर्शकको कोई विशेष आकर्षक वस्तु देखनेको नहीं मिलेगी। परन्तु जंगलमें जगह-जगह प्राचीन मूर्त्तियों तथा पत्थरकी इमारतोंके जो खंड पड़े मिलते हैं, वे आज भी कल्प-

नाशील पथिकोंको इस स्थानके अतीत गौरवकी गाथा सुनाते हैं। यहां जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनसे पता चलता है कि किसी समय यह उजड़ा हुआ स्थान गुप्त-साम्राज्यका एक मुख्य जनपद रहा होगा।

देवगढ़का प्राचीन क़िला एक पहाड़ी पर बना हुआ है, जो गांवके समीप-ही है। क़िलेके नीचे दक्षिणकी ओर—क़रीब ३०० फ़ीटकी नीचाई पर बेतवा बहती है। जैनियोंके प्राचीन मन्दिर—जिनके कारण देवगढ़ काफ़ी प्रसिद्ध है—इस पहाड़ी पर ही बने हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देवगढ़का प्राचीन नगर भी यहीं बसा होगा।

गांवके समीप ही जंगलातके महकमेका एक छोटा सा बंगला है और इस बंगलेसे थोड़ा आगे चल कर उत्तरकी ओर गुप्त-कालीन प्रसिद्ध विष्णु-मन्दिर है।

पहाड़ पर चढ़नेके लिए पश्चिमकी ओरसे एक रास्ता बना है। पहले एक पुराना तालाब है। उसको पार करके पहाड़ पर चढ़नेके लिए सीढ़ियोंदार एक चौड़ी किन्तु प्राचीन सड़क मिलती है, जो बड़े-बड़े शिलाखंडोंको लेकर बनी है। किसी समय यह सड़क अच्छी अवस्थामें रही होगी। किन्तु अबतो इस पर चलते समय बड़ी ठोकरें खानी पड़ती हैं। सड़कके दोनों ओर करधई, खैर, और सालके घने वृक्ष हैं, जिनकी दीर्घ शाखायें यहां सदैव शीतल छाया किये रहती हैं।

पर्वतकी ऊँचाई पार करने पर एक टूटा हुआ द्वार मिलता है। यह पर्वतकी परिधिको घेरे हुए दुर्ग-कोट का द्वार है। इसका तोरण अब भी अच्छी हालतमें है। इस द्वारको पार करने पर तीन कोट और मिलते हैं। जैनियोंके प्राचीन मन्दिर तीसरे कोटके भीतर हैं। अधिकांश मन्दिर नष्ट हो गये हैं। जगह-जगह टूटी हुई मूर्तियों और इमारतोंके स्तूपाकार ढेर पड़े नज़र आते हैं। फिर भी क़रीब १६ मन्दिर ऐसे हैं जो अच्छी अवस्थामें मौजूद हैं। ये सब मन्दिर पत्थरके हैं। इनका कटाव और पत्थरका बारीक कार्य देखने योग्य है। मन्दिरोंके गर्भ-गृह बिलकुल अन्धकारमय हैं। बाहरसे भीतरकी कोई वस्तु नज़र नहीं आती। इनके भीतर प्रवेश करते समय पत्थर फेंक कर यह देख लेना बहुत आवश्यक है कि वहां कोई जंगली जानवर तो नहीं छिपा। बिजलीकी बत्ती अगर साथ हो, तो अच्छा है। उससे मन्दिरकी भीतरी बनावट देखनेमें सहायता मिलती है। जैनियों के प्रयत्नसे इन मन्दिरोंकी व्यवस्था पहलेसे बहुत कुछ अच्छी है। परन्तु हमने जब उनको पहले पहल देखा तो मनको बड़ा दुःख हुआ। जिस स्थान पर कभी सुगंधित तैल-युक्त प्रदीप जला करते थे, वहां चमगीदड़ोंकी भयानक दुर्गन्धके कारण हमें अपनी नाक बन्द करके भीतर प्रवेश करना पड़ा। मन्दिरके भीतर गुफामें जैन-तीर्थङ्करोंकी मूर्त्तियां विराजमान हैं। बाहरकी वेदी और मंडपमें भी बहुत-सी मूर्त्तियां हैं। इन मूर्त्तियोंकी बनावट बड़ी सुन्दर और सुडौल है, और उनसे जैन स्थापत्यकी उत्कृष्टताका खासा परिचय मिलता है।

एक बड़े मन्दिरमें शान्तिनाथ भगवानकी मूर्त्ति विराजमान है। यह १२ फ़ीट ऊँची खड्गासन मूर्ति है। तीन मूर्तियाँ और भी हैं, जो लगभग १० फ़ीट ऊँची होंगी। जैनियोंके चौबीसों तीर्थङ्करोंकी मूर्तियां यहां देखनेको मिलती हैं। प्रत्येक मूर्त्तिके साथ एक-एक यक्षिकी मूर्त्ति बनी हुई है। और उस पर यक्षिका नाम भी खुदा हुआ है। एक पाषाणका सहस्रकूट चैत्यालय (जिस पर १००८ मूर्त्तियां अंकित हैं)

अपनी असली हालतमें वर्तमान है।

भारतीय पुरातत्व-विभागकी ओरसे अब तक यहाँ जो खोज हुई है, उसके फलस्वरूप १५७ शिला-लेख यहाँ मिले हैं। ये शिला-लेख मन्दिरोंकी दीवारों, उनके स्तंभों, मूर्तियोंके निम्न-भागों पर अङ्कित हैं। कुछ लेख पत्थरकी चौड़ी शिलाओं पर भी खुदे हैं।

जैन-मन्दिरोंमें जो शिलालेख हैं उनमेंसे ६० ऐसे हैं, जिनमें समयका उल्लेख मिलता है। ये लेख विक्रम संवत् ९१९ से १८७६ के बीचके हैं और भिन्न-भिन्न समयकी लिपिमें लिखे गये हैं। नागरी अक्षरोंके विकासके इतिहासकी दृष्टिसे ये शिलालेख बड़े महत्त्व के हैं। इनके अध्ययनसे संभव है जैन धर्मकी पौराणिक गाथाओं एवं जैन-स्थापत्य पर भी कुछ प्रकाश पड़े। जैन विद्वानोंको यह कार्य करना चाहिए।

जिस मन्दिरमें शान्तिनाथ भगवान्की मूर्ति स्थापित है, उसके ऊपरी दालानमें एक विचित्र शिलालेख है। उसमें ज्ञानशिला अंकित है। यह शिला-लेख १८ भाषाओं और लिपियोंमें लिखा बताया जाता है। किंवदन्ती है कि ऋषभदेवकी पुत्री ब्राह्मीने १८ लिपियों का आविष्कार किया था। इनमें तुर्की, फ़ारसी, नागरी, द्राविड़ी, उड़िया आदि सम्मिलित थीं। शिलालेखकी पहली सात पंक्तियोंमें सचमुच ही विभिन्न लिपियोंके नमूने देखनेको मिलते हैं। मौर्यकालकी ब्राह्मी है। द्राविड़ भाषाएँ भी उसमें हैं। परन्तु तुर्की और फ़ारसी के कोई चिह्न नहीं मिलते।*

क़िलेके पूर्वी-भागमें एक जैन मन्दिर है। उसके एक खंभे पर राजा भोजदेवके समयका एक महत्त्वपूर्ण लेख है। इसे जनरल कनिंघामने पढ़ा था। यह लेख संवत् ९१९ का है। यहीं पर एक मन्दिरमें बारहवीं शताब्दिकी लिपिमें एक लेख है, जिसमें एक दानशालाके बनाये जानेका विवरण है।

एक और जैन मन्दिरके शिलालेखसे पता चलता है कि इसे नन्हें सिंघईने संवत् १४९३ ई० में बनवाया था।

क़िलेके जिस ओर बेतवा बहती है वहाँ तीन घाट हैं। इनमेंसे नाहरघाटी पहाड़की ऊँची दीवारको काट कर बनाई गई है। यहाँ एक गुफाके भीतर एक सूर्य की मूर्त्ति, एक शंकरलिंग, और सप्तमातृकाओंकी मूर्त्तियोंके कुछ चिह्न हैं। इनके पास ही एक गणेशकी मूर्त्ति है। यहीं पर गुप्तवंशी राजाओंके समयका एक लेख है, जिसमें सूर्यवंशी स्वामिभट्टका ज़िक्र है। यह शिला-लेख संवत् ६०९ का बताया जाता है। परन्तु वह बहुत स्पष्ट नहीं। सीढ़ियोंकी दीवार पर विष्णुकी एक चतुर्भुजी मूर्त्ति भी यहां है।

गुफाके बाहर सं० १३४५ का एक शिला लेख है जिसमें राजा वीर द्वारा गढ़कुंडारकी विजयका उल्लेख है।

दूसरी घाटीमें जो राजघाटीके नामसे प्रसिद्ध है, चंदेलराज महाराज कीर्त्तिवर्मनके समयका एक लेख है, जिसमें उसके मंत्री वत्सराज द्वारा इस स्थानके बनवाये जानेका ज़िक्र है। यह शिला-लेख संवत् ११५४ का है और बहुत स्पष्ट पढ़ा जाता है। इस लेखके आधार पर ही हमीरपुर गजेटियरके लेखकने लिखा है कि वत्सराजने इस प्रदेशको अधिकृत करके वहां एक दुर्ग बनवाया और उसका नाम कीर्त्तिगिरि रक्खा।* परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि

*देखिए, Annual Progress Report of the Superintendent Hindu and Buddhist Monument Northern Circle For the year ending 31st March 1918.

* देखिए हमीरपुर गजेटियर पृष्ठ १३०

इसके पूर्व संवत् ९१९ का जो शिला-लेख यहाँ प्राप्त है उसमें इस स्थानका नाम लच्छगिरि लिखा है। यह शिला-लेख एक जैन-मन्दिरके स्तंभ पर अंकित है। इससे प्रकट है कि कीर्त्तिवर्मनके मंत्री वत्सराजने इस स्थानको अपने अधिकारमें करके सम्भवतः क़िलेका जीर्णोद्धार किया और अपने स्वामीके नाम पर उस का नाम कीर्त्तिगिरि रक्खा। बादमें जैन-मंदिरोंकी अधिकता के कारण इस स्थानका नाम देवगढ़ पड़ा।

चँदेलोंके पूर्व यह स्थान किसके अधिकारमें था यह कहना कठिन है। आजसे लगभग तीस वर्ष पूर्व श्रीपूर्णचंद्र मुकर्जीने ललितपुर सब डिवीजनकी पुरातत्त्व-विषयक खोज की थी। उसमें देवगढ़के प्राचीन स्मारकोंका विस्तृत विवरण है। साथमें १३ नकशे और ६८ चित्र भी हैं। इस प्रदेशमें किसका कब तक प्रभुत्व रहा, इसका विवरण उन्होंने अपनी रिपोर्टमें इस प्रकार दिया है:—

शबर जाति—समयका पता नहीं।
पाण्डव—ईसासे ३००० वर्ष पूर्व।
गौंड़—समय अज्ञात है।
गुप्त वंश—३०० से ६०० ई०।
देव वंश—८५० से ९६९।
चन्देल वंश—१०००—१२१०।
मुसलमान—१२५०—१६००।
बुन्देल वंश—१६००—१८५७।

यह समय आनुमानिक है। श्रीपूर्णचंद्र बाबूने इस अनुमानके प्रमाण अपनी रिपोर्टमें दिये हैं।

परन्तु देवगढ़का नाम जैनियोंके साथ विशेष रूप से सम्बद्ध है। उनका यह एक तीर्थस्थान भी है। उन की जनश्रुतिके अनुसार देवपत और खेमपत नामके भाई थे। उनके पास पारस मणि थी, जिससे वे असंख्य द्रव्यके स्वामी बन गये थे। देवगढ़का क़िला और मन्दिर उनके ही बनवाये हैं।* ये देवपत और खेमपत कौन थे और कब हुए, इसका कुछ पता नहीं चलता परन्तु इसमें संदेह नहीं कि बुन्देलखण्डके इतिहासमें एक समय ऐसा अवश्य रहा जब जैनियों का यहाँ काफ़ी प्रभुत्व रहा होगा। कहा जाता है कि तत्कालीन राजाको इस बातका पता चला कि देवपत और क्षेमपतके पास पारस पथरी है तो उसने देवगढ़ पर चढ़ाई कर दी और नगरको अपने अधिकारमें कर लिया। परन्तु उसे पथरी नहीं मिली। भाइयोंने उसे बेतवाके गंभीर जलमें डुबो दिया।

जैन-मंदिरों तथा नाहरघाटी और राजघाटीके अतिरिक्त क़िलेके दक्षिणी-पश्चिमी कोने पर वाराहजी का एक प्राचीन मंदिर है। इसका अधिकांश भाग नष्ट हो चुका है। इसलिए इस मंदिरकी शैली एवं निर्माण-कालके सम्बन्धमें निश्चित रूपमें कुछ कहना कठिन है। फिर भी मंदिरके अवशिष्ट अंशको देख कर यह कहा जा सकता है कि नीचे मैदानमें बने हुए गुप्त कालीन विष्णु-मंदिरकी तरह ही इसकी बनावट रही होगी और सम्भवतः यह उसी समयके आस-पासका बना हुआ है। मंदिरके पास ही वाराहजीकी विशाल मूर्त्ति पड़ी है, जिसकी एक टांग टूट गई है।

विष्णु-मंदिर किलेके नीचे बना हुआ है। भारतीय शिल्पकलाके प्रेमीजन इस मंदिरके नामसे ही देवगढ़ को जानते हैं। इस मंदिरके ऊपरका अंश नष्ट हो चुका है। फिर भी शिखरके चिन्ह मौजूद हैं। गुप्त-कालका एक मंदिर जो कि सांचीमें है, और अपनी पूर्ण सुरक्षित अवस्थामें मौजूद है, बिना शिखरका ही बना है। इसलिए जनरल कनिंघामका अनुमान

*देखिए झांसी गज़ेटियर, पृष्ठ ८८ और २५०।

है कि गुप्तकालमें मंदिरोंके शिखर बनानेकी प्रथा नहीं थी, और देवगढ़का जो यह मंदिर है वह गुप्त-कालके बादका बना हुआ है, क्योंकि इसमें शिखर मौजूद हैं। परन्तु मंदिरके निकट पड़े हुए एक खंभे पर गुप्त-कालीन शिला-लेखके विवरण तथा मंदिरकी दीवारों पर अंकित प्रस्तर-मूर्त्तियोंकी बनावटसे यह बहुत स्पष्ट है कि यह मंदिर गुप्त-कालके प्रारम्भका बना हुआ है। और ऐसी दशामें, बिना किसी आपत्तिके यह कहा जा सकता है कि गुप्त-कालमें मंदिरोंके शिखर बनानेकी प्रथा अज्ञात नहीं थी।*

पत्थरके जिन टुकड़ोंसे यह मंदिर बना है, उन पर बढ़िया मूर्त्तियाँ खुदी हैं। कलाकी दृष्टिसे वे इतनी सुंदर और भावपूर्ण हैं कि विदेशियों तकने उनकी प्रशंसा की है। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्मिथ गुप्त-कालीन भारतीय कलाकी चर्चा करते हुए इस मंदिरके विषयमें लिखते हैं—

"The most important and interesting extant stone temple of Gupta age is one of moderate dimensions at Deogarh, which may be assigned to the first half of sixth or perhaps to the fifth century. The penels of the walls contain some of the finest specimens of Indian sculpture."

अर्थात्—"गुप्त-कालका जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है वह देवगढ़का, पत्थरका बना हुआ एक छोटासा-मंदिर है। यह ईसाकी छठी अथवा शायद पांचवीं शताब्दिका बना है। इस मंदिरकी दीवारों पर जो प्रस्तर-फलक लगे हैं, उनमें भारतीय मूर्त्तिकलाके कुछ बहुत ही बढ़िया नमूने अंकित हैं।'

पाठक इन पंक्तियोंसे ही इस मन्दिरके महत्वका अनुमान लगा सकते हैं। मंदिरकी दीवारों पर अधिकतर रामायणके दृश्य अङ्कित हैं। खेदका विषय है कि इसके ऊपरके दो खंड नष्ट हो गये हैं और शिला-खंडोंका पता नहीं है। उनमें भी संभवतः रामायणके दृश्य अंकित रहे होंगे। मंदिरकी खुदाईके समय जो मूर्त्तियां यहां मिलीं उनमेंसे एक में पंचवटीका वह दृश्य अंकित बताया जाता है, जहां लक्ष्मणने शूर्पणखाकी नाक काटी है। एकमें राम और सुग्रीवके मिलनका दृश्य अंकित है। एक और पत्थर पर राम और लक्ष्मण शबरीके आश्रममें जाते दिखाये गये हैं। इस प्रकारकी प्रस्तर-मूर्त्तियां, जिनमें रामायणके दृश्य अंकित हों, भारतवर्षमें अन्यत्र नहीं मिलतीं। सहेठ महेठ नामक एक स्थानमें अवश्य कुछ ऐसी मूर्त्तियां हैं। किन्तु वे मिट्टीकी हैं। रामायणके दृश्यों वाली पत्थरकी मूर्त्तियां देवगढमें ही हैं। इस दृष्टिसे भी यह मन्दिर अपना एक विशेष महत्व रखता है।

उत्तरकी ओर जो दीवार है उसके बीचके एक प्रस्तर-खंड पर गज-मोक्षका दृश्य अंकित है। पूर्व वाली दीवार पर तपस्यारत नरनारायण दिखाये गये हैं। यह मूर्त्ति बड़ी सुन्दर और भावपूर्ण है। जनरल कनिंघामने इसे महायोगीके रूपमें शिवकी मूर्त्ति बताई है। परन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि यह नरनारायणकी ही मूर्त्ति है और इस खोजका श्रेय स्वर्गीय Y. R. Gupte (वाई० आर० गुप्ते) को है, जो भारतीय पुरातत्व-विभागके एक कर्मचारी थे। भागवत् पुराणके ग्यारहवें स्कंधके चौथे अध्यायमें नर-नारायणको विष्णुका चौथा अवतार बताया गया

* देखिए, श्रीयुत दयाराम साहनी लिखित देवगढ़के विषयमें भारतीय पुरातत्व-विभागकी रिपोर्ट।

है, और उसमें तथा अन्य पुराणोंमें विस्तारके साथ उनकी तपस्या का भी वर्णन है।

दक्षिणकी दीवार पर शेष-शायी भगवान की जो मूर्त्ति है, वह इस मंदिरकी जान है। यह मूर्त्ति काफी बड़े आकारके लाल पत्थर पर खुदी है। अनंत या शेष पर विष्णु लेटे हुए हैं। लक्ष्मीकी गोदमें उनका एक पैर है। उनका एक हाथ उनके दाहिने पैर पर रक्खा हुआ है, और दूसरा मस्तकको सहारा दिये हुए है। उनके नाभि-कमल पर प्रजापति विराजमान हैं। ऊपर महादेव, इन्द्र आदि देवता अपने-अपने वाहनों पर बैठे हैं। नीचे पाण्डवों समेत द्रौपदी दिखाई गई है। कुछ व्यक्तियोंकी रायमें ये पांच आयुध-धारी वीर पुरुष हैं।

सभी मूर्त्तियोंकी चेष्टाएँ बड़ी स्वाभाविक हैं। लक्ष्मी चरण चाप रही हैं। उनकी कोमल उँगलियोंके दबावसे चरणकी मांस पेशी दब रही है, कारीगरने यह बात तक बड़ी खूबीसे दिखाई है। परिधेय वस्त्रों के अंकनमें तो उसने अपने शिल्प-नैपुण्यकी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। वस्त्रोंकी एक-एक सिकुड़न स्पष्ट है। साथ ही उनकी बारीकीका परिचय भी बड़ी सफाईसे दिया गया है। मूर्त्तियोंका शरीर मानों उनमें से झलक रहा है। नीचे जो पांच पुरुषमूर्त्तियां बनी हैं, वे काफी सजीव और गतिमान हैं। और भगवान् के मुखमंडल पर जो सौम्य एवं स्मित भाव दरसाया गया है, उसे अवलोकन करके तो कारीगरको एक वार नमस्कार करनेको जी चाहता है। कौन था वह कलाकार, जिसने यह मूर्त्ति गढ़ी है?

मन्दिर किस देवताकी प्रतिष्ठाके लिए बना होगा, यह कहना कठिन है, क्योंकि उसमें कोई मूर्त्ति नहीं। आसपास किसी ऐसी मूर्त्तिका टुकड़ा भी नहीं मिला, जो मन्दिरकी जान पड़े। परन्तु खुदाईके समय विष्णु की अनेक खंडित मूर्त्तियां प्राप्त हुई हैं। साथ ही राम के अतिरिक्त अन्य अवतारोंकी मूर्त्तियोंके चिह्न यहाँ नहीं मिलते। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यह विष्णुका मंदिर रहा होगा, और अब यह विष्णु-मंदिरके नामसे ही प्रसिद्ध है।

पाठकोंसे हमारा अनुरोध है कि देवगढ़ जाकर इस मंदिरके दर्शन अवश्य करें।

('मधुकर' पाक्षिकसे)

सुख-शान्ति चाहता है मानव !—

— श्री 'भगवत्' जैन

पीड़ाकी गोदीमें सोया,
खेला दिलके अरमानोंमें!
विहँसा तो हाहाकारोंमें,
रूठा तो अपने प्राणोंमें !!
आध्यात्मिक-पथ पर बढ़नेको—
अब क्रान्तिचाहता है मानव !!
सुख-शान्ति चाहता है मानव !!

सब देख चुका नाते-रिश्ते,
अपनोंको भी देखा, परखा!
सुखके सब साथी दीख पड़े,
दुखमें न कोई बन सका सखा!
दुनियाके दुखसे दूर कहीं—
एकान्त चाहता है मानव !! सुख०

प्रोत्साहनके दो शब्द मिलें,
आशीष मिले स करुण मनकी!
प्राणोंमें जागें, नये प्राण,
भरदें जो लहर जागरणकी!
जीवन-रहस्य समझादे वह—
दृष्टान्त चाहता है मानव !! सुख०

जीए तो जीए ठीक तरह,
मुर्दापन लेकर जिए नहीं!
मानव कहलाकर दीन न हो,
और मानवताको तजे नहीं!
इस पर भी आ बनती है तब—
प्राणान्त चाहता है मानव !!
सुख-शान्ति चाहता है मानव !!

अपभ्रंश भाषाके दो ग्रंथ

(लेखक—पं० दीपचन्द पाण्ड्या)

दूणी और टोडा ये दो गांव जयपुर राज्यमें, केकड़ीसे १५ और १० कोसकी दूरी पर हैं। यहाँ पहले जयपुर की गादीके भट्टारक श्री सुरेन्द्रकीर्तिजीकी आम्नायके चार पंडित वृंदावन, सीताराम, शिवजीराम और नेमिचंद्र होगये हैं। ये तेरह पंथके प्रतिद्वंद्वी रहे हैं। शिवजीरामके ग्रंथ भगवती आराधनाकी सं० टीका, चर्चासार, दर्शनसार-वचनिका आदि हैं। और नेमिचंद्रका ग्रंथ 'सूर्यप्रकाश' मशहूर है जो छप चुका है और जिसकी विस्तृत परीक्षा* भी पं० जुगलकिशोर मुख्तार की लिखी हुई निकल चुकी है। पं० नेमिचंद्र १५४० विक्रम सं० तक जीवित थे। शिवजीराम अच्छे विद्वान् थे, इन्होंने ही अनेक स्थनोंसे अनेक ग्रंथ प्राप्त किये और टोडा व दूणी स्थानोंमें रक्खे। इन भंडारोंमें कई उत्तमोत्तम ग्रंथ हैं। पं० नेमिचंद्रजीके दिवंगत होनेके बाद भंडारोंका बंदोबस्त जैन पंचोंके हाथमें आया, तबसे इन भंडारोंकी हालत दर्दनाक (खराब) हो रही है। टोडा भंडारमें दूणीकी अपेक्षा ग्रंथ बहुत अधिक हैं। टोडामें कई श्वे० आगम ग्रंथ भी हैं। दोनों ही स्थानोंमें ग्रंथ अस्त-व्यस्त दशामें पड़े हैं। सूचिया कोई नहीं हैं। पंच लोग शास्त्रज्ञानका महत्व नहीं समझते, यह बड़े ही खेदका विषय है! अस्तु।

यहाँ जिन दो ग्रंथोंका परिचय दिया जारहा है उनके नाम 'वड्ढमाणचरिउ' और 'वड्ढमाणकव्वु' हैं। पहले ग्रंथकी एक प्रति दूणी गांवके जैन मंदिरमें और दूसरेकी एक प्रति सेठजीकी नशियाँ अजमेरमें है। पहलेमें वीरजिनेन्द्रका चरित वर्णित है तो दूसरे में राजा श्रेणिक व अभयकुमारका चरित अंकित है। पहलेमें कुल संधियां १० कडवक १८० के करीब तथा श्लोक लगभग तीन हजार हैं। पहलेकी प्रति पूरी है दूसरेकी अधूरी। दूसरेमें कुल ११ संधियां हैं, कडवक संख्या सहजमें नहीं जानी गई, उपलब्ध परिमाण १४०० श्लोकके करीब है। दोनों ग्रंथ अपभ्रंश भाषामें रचे गये हैं। इन ग्रंथोंका संक्षेपमें परिचय नीचे दिया जाता है।

वड्ढमाणचरिउके कर्ता

इस ग्रंथकी पूरी प्रति दूणीमें १०० पत्रात्मक थी पर ७ पत्र गायब कर दिये गये!—किसी अन्य वेष्टन में होंगे। मुझे एक मास पूर्व नोट्स लिखते समय अंतके पत्र नहीं मिले, अतएव इसके कर्ताका कितना ही परिचय ओझलसा होगया है। फिर भी जो कुछ प्रतिपरसे मिला वही देकर संतोष किया जाता है:—

इस ग्रंथके कर्ता कविवर विबुध श्रीधर हैं। इनके द्वारा रचित 'श्रुतावतार' और 'भविष्यदत्तकथा' ये दो संस्कृत ग्रंथ भंडारोंमें सुलभ हैं तथा आगे उद्धृत इस ग्रंथके द्वितीय कडवक परसे कविवरकी, 'चंद्रप्रभचरित' और 'शांतिजिन-चरित' नामकी दो रचनाओंका भी होना पाया जाता है, जो कि अभी तक अप्राप्य जान पड़ती हैं। इस प्रकार कुल ५ ग्रंथोंका पता लगा है। कविवर संस्कृत

---

*यह सूर्यप्रकाश-परीक्षा ला० जौहरीमलजी सर्राफ दरीबाकलां, देहलीके पाससे मिलती है। —सम्पादक

तथा अपभ्रंशभाषा पर अपना यथेष्ट अधिकार रखते थे। भविष्यदत्तकथाकी सर्गान्त संधिमें 'साधु लक्ष्मण' नाम अंकित है और वड्ढमाणचरिउकी संधिके अंतमें 'साधु नेमिचंद्र' नाम अंकित है। संभवतः इन दोनोंकी कविवर पर विशेष कृपा रही होगी या वे दोनों कविके आश्रयदाता रहे होंगे। इनका समय विक्रमकी १४वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। कविवरने दूसरे कड़वकमें नेमिचंद्र साधुका परिचय देते हुए लिखा है 'कि साधु नेमिचंद्रके पिता 'नरवर' थे' माता 'सोमा' थीं और वे जायम कुलके तिलक थे।' 'जायम' को 'जायस मानें तो वे शायद जैसवाल वैश्य होंगे। साधु साहु-साहूकार शब्द वैश्य धनिकोंके लिये व्यवहृत होता आया है। बस इनका इतना ही परिचय प्राप्त होसका है। पहलेके धनिक जैन सेठ इस तरह पंडितों और कवियोंको आश्रय देकर सची प्रभावना करते थे और नवीन रचना बनवाते थे, कविने साधु नेमिचंद्रकी प्रार्थना पर ही इस ग्रंथको बनाया है। संधियोंके आदिमें नेमिचंद्र साधुकी प्रशंसा में संस्कृत पद्य भी पाये जाते हैं। इस ग्रन्थमें कविवरने पुष्पदंत कविके महापुराणका अनुकरण किया है।

वड्ढमाणचरिउकी प्रति

यह प्रति कोई ३०० वर्षकी पुरानी होनी चाहिये, हालत ठीक है, पत्र कोमल हैं, कुलपत्र १०० हैं, हर एक पत्रमें २२ लाइन और हर लाइनमें ४०-४१ अक्षर सुवाच्य हैं। अंतिम पत्रोंमें प्रशस्ति आदि भी होगी। बाज संधियोंमें 'णेमिचंद-णामंकिए' की जगह 'णेमिचंदसमणुमरिणए' मिलता है। इस ग्रंथकी प्रतिलिपि दूणीमें ही हो सकती हैं। ग्रंथ-प्रति बाहरके लिये नहीं दी जाती।

वड्ढमाण चरिउकी कविताका दिग्दर्शन

नीचे जो कविता परिचयके लिए लिखी गई है उससे ग्रंथकी रचनाशैली प्रौढ जान पड़ती है। पहले कडवकमें २४ तीर्थंकरोंकी स्तुति है जो 'पादमध्ययमक' नामके चित्रालंकारकी मनोहर छटाको लिये है। दूसरे कडवकमें साधु नेमिचंदके माता पिता और कुलका परिचय है। साधु नेमिचंद्र कहते हैं कि 'हे कवि चंद्रप्रभ और शांतिजिनके चरितकी भांति वीरजिनका चरित भी रचो' कवि प्रतिज्ञावाक्य-द्वारा तीसरे कडवकसे ही कथा आरंभ करता है। १७ वें कडवकमें नंदिवर्धनका ५०० नरेश्वरोंके साथ पिहितास्रव मुनिके पास दीक्षा लेनेका वर्णन है।

वड्ढमाणचरिउकी संधियोंका नाम और उनमें कडवक संख्या

(१) णंदिवड्ढणवइराय, १७ क०, (२) भगवयभवावलि २२, (३) बलवासुएव पडिवासुएव बरणाण, ३१, (४) सेणाणिवेस २४, (५) तिविट्ठ-विजयलाह २२, (६) सीह-समाहि १०, (७) हरिसेणणायमुणिसमागम १०, (८) णंदणमुणि-पाणयकप्पगमण ८, (९) वीरणाह कल्लाण-चउक्क २३, (१०) १० वीं संधिका नाम व कडवकसंख्या अज्ञात है।

वड्ढमाण चरिउका नमूना

(प्रारम्भिक भाग)

॥ ६० ॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥ गाथा ॥ ६० ॥

(संधि १ ली कडवक १ ला)

परमेट्ठिहो पविमलदिट्ठिहो चलण णवेप्पिणु वीरहो।
तमु णासमि चरिउ समासमि जिय-दुज्जय-सर वीरहो।
जय सुहय सुहय रिउ विसहणाह
जय अजिय अजिय सासण सणाह
जय संभव संभव हर पहाण, जय णंदण णंदण पत्तणाण

जय सुमइ सुमइ परिवत्तहाम
जय पउमप्पह पउमप्पहाम
जय परम परमणाहर सुपास
जय चंदप्पह चंदप्पहास
जय सुविहि सुविहियर अविहियुक्क (?)
जय सीयल सीयल भावमुक्क
जय समय समय संयम पुज्ज
जय सुमण सुमणथुव वासुपुज्ज
जय विमल विमल गुणरयणकंत
जय वरय वरयर अणंतसंत
जय धम्म सुधम्म सुमग्गणाण
जय संति य संति अणंतणाण
जय सिद्ध पसिद्ध पबुद्धकुंथु
जय अहिय अहिययर कहिय कुंथु (?)
जय विसय विसय हरि मल्लिदेव
जय सुव्वय सुव्वयवंत सेव
जय विगय विगयणमि णिरहसामि
जय णेमिय णेमियणयण णेमि
जय पास अपास अणंग दाह
जय विणय विणय सुर वीरणाह
ए जिणवर णिज्जय-रइवर विणिवारिय चउविहगइ।
जय सासण विग्घविणासण महु पयडंतु महामइ
(१) कडवक २रा
इक्कहिं दिणि णरवरणंदणेण—
सोमाजणणी-आणंदणेण
जिण-चरण-कमल इंदिदिरेण—
णिम्मलयर-गुणमणि-मंदिरेण
जायस-कुल-कमल-दिवायरेण—
जिणभणियागम-विहिणायरेण
णामेण णेमिचंदेण वुत्तु (?)
भो कइसिरिहर! सहदढजुत्तु!
जिह विरइउ चरिउ दुहोहवारि
संसारुब्भवसंतावहारि
चंदप्पहसंति-जिणेसराहं
भव्वयण-सरोज-दिणेसराहं
तिहं वड्ढ विरयहि वीरहो जिणासु
समणयणदिट्ठकंचणतिणासु
अंतिमतित्थयरहो थिरयरासु
गंभीरिम-जिय-रयणायरासु
ता पुज्जहि मज्झु मणोहराइं
विणु भंतिय णिरुपयणियसुहाइं
तं णिसुणेवि भासिउ सिरिहरेण
कइणा बुहयण-माणसहरेण
जं वुत्तउ तुम्हिहि जुत्तउ तं अइरेण समागमि
णिय सत्तिए जिणपयभत्तिए निहँ विह तंपि वियाणमि
(१) कडवक १७ वाँ
पइं विणुइउ रज्जु कुलक्कमाउ,
गय पहुणासइ विच्छरिय राउ
णियकुलसंतइ परवरसुएण
णिच्छउ उद्धरिय इणीवरेण
जणणेरिउ साहु असाहु जं जे
तणएण करेवउ अवसुतंजे
इय जाणंतुवि णायमग्गु जाउ
कि संपइ अण्णारिसु सहाउ
णिम्महिउ कुलक्कमु णरवरेण
सूउ लइ तववणि जंतेण तेण
इउ मज्झु दिति अवजसु जणाइं
घरितेण अच्छु कइवय दिणाइं
एउ भणिवि तणय भालयलि चारु
विप्फुरिय रयणगणतिमिरभारु
सइं वद्ध पट्टु जणणिं विसालु
णं बद्धउ रिउवर बाहु डालु
भूवाल-संति-सामंत-वग्गु
महुर-गिरइं संभासिउसमग्गु
तुम्हइं संपइ बहु सामिसालु
पणविज्जहो णिवलच्छी विसालु
पिय-यम-सुमित्तबंधवयणाइं
पुच्छेविणु पणयट्ठिय भणाइं
णिग्गउ गेहहो परिहरिवि दंडु
पिहियासव मुणिवरपायदंडु
पणवेवि तेण वरलक्खणेण
तिपयाहिणु देविणु तक्खणेण

सविणय-पंचमय-णरेसरेहिं
महुलंवि दिक्ख णिज्जियसरेहिं
जिणु झाइउ णियमणु लाइउ नेमिचंद रवि वंदिउ
णिय-सत्तिए गुरुयर-भत्तिए तव सिरिहरमुणि णंदिउ
॥ १७ ॥

इय सिरि-वड्ढमाणतित्थयरदेव-चरिए पवर-गुण-रयण-णियर-भरिए विवुह-सिरि-सुकइ-सिरिहर-विरइए साहु-सिरि-णेमिचंद-णामंकिए णंदिवड्ढण-णरिंद वइराय-वरणणो णाम पढमो परिच्छेओ ॥ १ ॥

वड्ढमाण-कव्वुकी प्रति

यह प्रति नवीन ३०-४० वर्ष की ही है, १३×५ इंच साइजके अनुमान ५०-५५ पत्रोंमे उपलब्ध है। ग्रंथ परिमाण १४०० श्लोकके लगभग है। कहाँकी प्रतिके आधारपर इसकी नक़ल हुई, यह बात सेठ सा० भागचंदजी सोनी अजमेरके यहाँसे दर्याफ्त की जा सकती है। श्री० चिरंजीलालजी सोनीके सौजन्यसे नशियाके शास्त्र देखनेको मिले। हवेलीके शास्त्रोंका अवलोकन करनेके लिये कई प्रयत्न किये, पर निष्फल रहे। अस्तु, वड्ढमाणकव्वुकी प्रति अशुद्ध है। शुरूका पाठ छूटा हुआ है। मंगलपद्य संस्कृतमे है, उसके बाद ही उपश्रेणिक नरेशके अश्वारोहण और भिल्लसमागमके वर्णनके पद्य हैं। प्रथम संधिके अंतके कडवकमे नंदश्रीको दोहला होनेपर श्रेणिकद्वारा अभयघोषणाका और कुमार अभयके जन्मका वर्णन है।

आगे उद्धृत अन्तकी ११वीं संधिके अंत्यभागमे यह उल्लेख है कि 'देवरामके पुत्र ही (हो) लिवम्मने इस चरित ग्रंथको लिखा लिखा कर विस्तार किया।' तथा यह कुछ अस्पष्ट सा है कि—'मेरा पुत्र निज कुलमंडण आल्हा साहु है, जो सग्गाहा (?) की जनताका दुःख और रोग मिटाता है। साथ ही, कविकी प्रार्थना है कि पद्मनंदि गणीन्द्र मुनिनाथकी भक्ति प्रवर्तो और गुरु कवि हरिचंद्रके चरण मुझे शरण होउं'। इस प्रकार कविके कुलका, गुरु आदिका, संघपति हीलिवम्मका साधारणसा परिचय मिलता है। हीलिवम्म, पद्म-नंदिमुनीन्द्र, कवि हरिचंद्र आदिकी समय स्थिति अज्ञात है।

वड्ढमाणकव्वुका नमूना

अथ श्रीवर्द्धमानकाव्य लिख्यते।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं जिनशासनम
मंगलं कुंदकुंदार्यो वंदे वाणी जिनायकाम्। १। घत्ता—
...सेण, पट्ठविउ तेण।
तं पेच्छि राउ, हुउ साणुराउ ॥
ण उ किय परिक्ख, गुरुयणहँ सिक्ख।
अठिया णयण (?) ते गाण पण ॥
होइवि रमिल्लु, हय-रइ-गहिल्लु।
गउ वाहियालि मम कर-विसालि ॥
महमइं चडिएणु.... ।
ना हरि धडक्कि फुरु हरि फडक्कि ॥
संधुरोवि कंधु झाडेवि कबंधु।
चल्लिउ पयंडु फेरवि स तुंडु ॥
ण उ रहइ ठाइं रंधिउ वि राइं।
जहं ससु णरस्स विसयाउरस्स ॥
गउ गिरिवणम्मि लयतरुघणम्मि।
लइं घित्तु राउ जिहं गरु वराउ
घर पडिउ दिट्ठु गुणगणगरिट्ठु
पल्ली व (च) रेण धणुसक्करेण ॥
सुपयंड पण (गण), जमदंड [व] गण।
णिगि स घरिणीउ जहिं ठिय विणीय ॥
तहा तिय वियच्छ, रइ-रस-रसच्छ।

मध्यभाग—

दिणणाइं सुसत्तसु घोमणु दिणु।
मणिथिउ गब्भणि वसहिं विणु ॥
सउ साहं पुणणु हुआ दस माम
सउण कुणंतु जणहँ मणस्स।

तणुब्भउ णंद सिरीहिं उपएणु
जहुज्जल-मेरु-सिलाहिं सुवएणु ।
सुलक्खण वेंजण-तेय सउएणु
णिरिक्खवि चित्तु ण कासु सउएण
महुच्छउ तासु कियउ पुरलोई
ण भारइ वणिणवि सक्कइ सोई
मुणेवि दयापरु धम्महं धामु
अभीयकुमारु पर्यपिउ णामु

घत्ता—
नहिंवट्टइ बालउ अइसुकुमालउ नेउ अ ससि दिणइंदहँ
पियरहं साणंदउ सिरिलयकंदउ कव्वु व कइ-हरिइंदहँ॥

॥ इय पंडिय-सिरि-जयमित्त-हल्ल-विरइए वड्ढमाणकव्वे पयडिय-चउवम(ग्ग) रस-भव्वे सेणिय-अभयचरित्ते भवियण-गण मण-हरेण मंघडिव (वडि-वइ) हो (ही लिवम्म-कएणाऽऽहरणे सेणिय-कहावयारो णंदसिरिविवाहसंगमो अभयकुमारजम्मु-च्छव-वएणणो णाम पढमो संधि-परिच्छेउ समत्तो॥१॥

अन्तभाग—

णंदउ देवराम-णंदण धर
होलिवम्मु कएडवउ णायकर (?) ।
एहु चरित्तु जेण वित्थारिउ
लेहाविवि गुणियण उवयारिउ ॥
आल्हसाहु साहस महु णंदण
सज्जण-जण-मण-णयणा-णंदण ॥
होउ चिराउ सणिय कुलमंडण
मग्गहा-जण दुह रोह विहंडण
होउ संति सयलहं परिवारहँ
भत्ति पवट्टउ गुरुवय धारहँ
पउमणंदि मुणिणाह-गणिंदहु ।
चरण सरण गुरु कइ हरिइंदहु
जं हीणाधिउ कव्वु रसंदृहँ
पउ विरइउ सम्मइ अवियट्टहँ
तं सुअणाण-देवि जगसारी
महु अवराह खमउ भडारी ।

घत्ता—दयधम्मपवत्तण विमलसुकित्तणु
णिसुणतहो जिणइंदहु ।
जं होइ सुधएणउ हउं मणि मएणउं
तं सुह जगि हरिइंदहु ॥१७॥

इति श्रीवर्द्धमानकाव्ये एकादशमः संधिः ॥

इस तरह इन दो ग्रन्थोंका परिचय दिया गया है। आशा है विद्वानगण इन ग्रन्थोंकी और भी प्रतियों का पता लगायेंगे।

मेरा अनुभव

मैंने उत्तरभारतके पचीस—तीस जैन भंडारोंका अनुभव किया तो सभीकी हालत खराब पाई, न कहीं ग्रन्थोंकी सूचियाँ पाई न नौंध ही—स्वाध्याय का प्रचार नहींके बराबर है। शास्त्रोंकी सँभाल साल भरमें एक बार भी नहीं की जाती। मालपुरा जिला जैपुरके भण्डार तो बहुत ही खराब मिले। किसी ग्रन्थके दो पन्ने एक मन्दिरमें तो १० पन्ने दूसरे मन्दिर ,में इस तरह प्रतियाँ खण्डित पड़ी हैं। हमारे मन्दिरोंमें जहाँ सोनेके काममें मुकराने और चीनीकी टायलोंमें समाजका पैसा पानीकी तरह बहाया जाता है वहाँ शास्त्रोंके लिये न योग्य वेष्टन है और न गत्ते ही। आपसी फूट तो समाजका गला ही घोंटे जारही है। नहीं मालूम जैनोंमें कब विवेक की जागृति होगी और वे जिनवाणीके प्रति अपना ठीक कर्तव्य पहिचानेंगे।

समवसरण पूजापाठ	पं० रूपचंद	सं०	१०१	१६९२	१७९४
समाधि	चारित्रसेन मुनि	प्रा० पद्य	३०से३२	....	....
सम्मेदाष्टक	भ० जगद्भूषण	सं० पद्य	१	.	१९०४
सम्मेद शिखरपूजा	गंगादास	सं०	६	..	१८९८
सम्यक्त्वकौमुदी	पं० खेता	सं० पद्य	१४१	..	१६६६
सरस्वती स्तोत्र (४)	पूज्यपाद	,,	१९२से१९४	...	....
,, (अजैन)	आश्वलायन	,,	५से९	....	....
सहस्रनाम टीका	भ० अमरकीर्ति	सं०	८१	....	१८०९
सहस्रनाम पूजा	धर्मभूषण	सं० पद्य	४३	....	१७७३
सामुद्रिकसटीक जैन	...	,,	२३	...	१७८९
सार्द्धद्वयद्वीपपूजा	...	,,	१६५	...	१८४१
सार्द्धद्वयद्वीपपूजापाठ	सोमदत्त	सं०	१३३	....	१८४८
सिद्धचक्र चरित्र	रइधू	प्रा०(अपभ्रंश)	१०५	....	१६७३
,, (कथानक)	पं० नरदेव	,,	५५	...	१६१८
सिद्धचक्रपाठ	भ० देवेन्द्रकीर्ति	सं०	२८	अन१६११	१९११
सिद्धचक्रपाठ	भ० ललितकीर्ति	,,	१०७	....	....
सिद्धचक्रपूजा	पं० धर्मदेव	,,	४७	....	१९३९
सिद्धचक्रपूजा	भ० देवेन्द्रकीर्ति	सं० पद्य	६५	....	१८४१
सिद्धचक्र मंत्रोद्धारस्तवनपूजन	भ० विद्याभूषण सूरि	,,	३३३से३४२	....	१७६४
सिद्धचक्र सहस्रगुणितपूजा	भ० शुभचंद्र	सं०	७४	....	...
सिद्धचक्रस्तवन	पं० साधारण	सं० पद्य	१०९से११०	....	....
सिद्धपूजनकर्मदहनपूजनसहित	भ० सोमदत्त	,,	८७से१०४	....	...
सिद्धपूजा	पद्मकीर्ति	,,	१२से१६	....	..
सिद्धसावर चिंतामणि	श्रीसिद्धिनाथ	,,	२८	....	१९४९
सिद्धांतशिरोमणि (अजैन)	भास्कराचार्य	,,	१३९	१८९७	....
सिद्धांतसार	जिनचंद्राचार्य	प्रा० पद्य	१से२	....	....
सुकमालचरित्र	गुणभद्रशिष्यपूर्णभद्र	...	४२	....	....
सुकौशलचरित्र	रइधू	प्रा०(अपभ्रंश)	३५	...	१६३३
सुखसम्पत्तिविधानकथा	विमलकीर्ति	प्रा०	४—५	...	....
सुगंधदशमीकथा	मलयकीर्तिशिष्य गुणभद्रमुनि	प्रा०(अपभ्रंश)	१२७से१३६	...	....
सुप्रबोधनस्तोत्र	कवि वाग्भट	सं० पद्य	२५४वां पत्र	....	...
सुव्रतानुप्रेक्षा	विषयसेनशिष्य पं० जोगदेव	प्रा०	१से४	...	....
सोनागिरिमाहात्म्य	दीक्षित देवदत्त	सं० पद्य	५०	....	१८४५
सोलहकारणकथा	मलयकीर्तिशिष्य गुणभद्रमुनि	प्रा०(अपभ्रंश)	१३६से१४१	....	....
सोलहकारणपूजा	श्रुतसागर सूरि	...	१२४से१२७	....	....
सोलहकारणविस्तारपूजा	भ०ज्ञानभूषणशिष्यजगद्भूषण	सं० पद्य	३११से३४२	....	....
सौभाग्यपंचासिका	...	,,	३	...	१७८४
हरिवंशपुराण	जसकीर्ति	प्रा०(अपभ्रंश)	१९७	....	१६४४
हस्तसंजीवन (श्वे०)	मेघविजयगणी	सं०	२२	....	

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० १५-१०-१९४१

साहित्य-परिचय और समालोचना

(१) मोक्ष शास्त्र सचित्र और सटीक—मूल लेखक, आचार्य उमास्वाति। टीकाकार, पं० पन्नालाल जी जैन साहित्याचार्य सागर, । प्रकाशक, मूलचन्द किशनदास कापड़िया, दि० जैन पुस्तकालय, सूरत। पृष्ठसंख्या २२२। मूल्य, बिना जिल्दका बारह आने।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रकी टीका है, इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। टीकाकार पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य दि० जैन समाजके उदीयमान लेखक और कवि हैं। आपने बालकोपयोगी इस टीकाका निर्माण कर जैन समाजका बड़ा उपकार किया है। टीकामें विस्तृत विषय-सूची, मति-श्रुतज्ञानादिके चार्ट, जम्बूद्वीपका नक्शा, षट्द्रव्य और कालचक्रादिके चित्र, लाक्षणिक पारिभाषिक शब्दोंका अनुक्रम और परीक्षोपयोगी प्रश्नपत्रोंको भी साथमें लगा दिया गया है, जिससे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। इतना होने पर भी प्रेस-सम्बन्धी कुछ अशुद्धियां ज़रूर खटकती हैं। फिर भी पुस्तक उपादेय और छात्रोपयोगी है। इस दिशामें प्रकाशक और टीकाकार दोनों ही का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

(२) विधिमार्ग-प्रपा—(सुविहित सामाचारी)—मूल लेखक, श्रीजिनप्रभसूरि स्वो० वृत्ति सहित। सम्पादक, मुनि श्रीजिनविजयजी। प्रकाशक, जौहरी मूलचन्द हीराचन्दजी भगत, महावीर स्वामी मंदिर पायधुनी बम्बई। प्राप्तिस्थान, जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार, ठि० ओसवाल मोहल्ला, गोपीपुरा, सूरत (द० गुजरात)। पृष्ठ संख्या, १६८ कागज छपाई-सफाई गेट अप चित्ताकर्षक, पक्की जिल्द।

इस ग्रंथका विषय नामसे ही स्पष्ट है। जिनप्रभसूरिने इस ग्रंथमें गृहस्थ और मुनियोंके द्वारा आचरण करने योग्य उन विधि-विधानोंका पुरातन ग्रंथोंके उद्धरणादिके साथ सप्रमाण वर्णन दिया है, जो प्रधानतया श्वेताम्बरीय खरतर गच्छीय आचार्योंके द्वारा स्वीकृत और सम्मत है। यह ग्रंथ विधिमार्गके जिज्ञासुओंकी जिज्ञासारूप प्यासकी तृप्तिके लिये प्याऊके समान है। ग्रंथकी प्रामाणिकताके विषयमें ग्रंथकारने स्वयं यह बतलाया है कि यह ग्रंथ अपनी बुद्धिसे कल्पित कर नहीं बनाया गया है परन्तु इसमें आचार्य मानदेव और जिनवल्लभादि आचार्योंके प्रामाणिक उद्धरणोंके साथ इसकी रचना की गई है। प्रस्तुत ग्रंथ ४१ द्वार या प्रकरण हैं जिनमें श्रावक और साधुजीवनमें आवश्कीय विधिक्रियाओंका संकलन और प्रणयन किया है।

इस ग्रंथके सम्पादक विविधभाषाओंके पंडित और अनेक ग्रंथोंके सम्पादक विद्वान श्री मुनि जिनविजयजी हैं। विद्वान सम्पादकने सम्पादकीय प्रस्तावनामें ग्रंथके प्रत्येक द्वारका संक्षिप्त परिचय भी करादिया है और ग्रंथके नामकरण सम्बन्धमें भी प्रकाश डाला है।

प्रस्तुतसंस्करणमें ग्रंथकर्ता जिनप्रभसूरिका संक्षिप्त जीवन-चरित्र भी दिया हुआ है, जिसके लेखक हैं बाबू अगरचंद और भंवरलालजी नाहटा बीकानेर। जीवन-चरित्रमें संकलन करने योग्य सभी आवश्यक बातोंका संग्रह किया गया है जिससे ग्रंथकर्ताके जीवनका अच्छा परिचय मिल जाता है। इस तरह यह संस्करण बहुत ही उपयोगी और संग्रहणीय हो गया है। इस कार्यमें भागलेने वाले सभी सज्जन धन्यवादके पात्र हैं। इतने बड़े ग्रंथकी ५०० प्रतियां वितीर्ण की गई हैं।

(३) श्री जैनसिद्धान्त बोलसंग्रह—प्रथमभाग, द्वितीय भाग —संग्रहकर्ता श्री भैरोंदानजी सेठिया बीकानेर। प्रकाशक, सेठिया पारमार्थिक संस्था, बीकानेर पृष्ठसंख्या, प्रथमभाग ५१२ द्वितीयभाग ४७५। मूल्य सजिल्द दोनों भागोंका क्रमशः १) १॥) रुपया।

इस ग्रंथमें आगमादि ग्रंथों परसे सुन्दर वाक्योंका संग्रह हिन्दी भाषामें दिया हुआ है। दोनों भागोंके बोलों—वाक्योंका संग्रह ५६८ है। ये बोल संग्रह श्वेताम्बर साहित्य के अभ्यासियोंको तथा विद्यार्थियोंके लिये बड़े कामकी चीज हैं। ग्रंथ उपयोगी और संग्रह करने योग्य है। सेठिया भैरोंदानजी बीकानेरने अपनी लगभग पांचलाखकी स्थावर सम्पत्ति का ट्रस्ट, बालपाठशाला, विद्यालय, नाइटकालेज, कन्या-पाठशाला, ग्रंथालय और मुद्रणालय, इन छह संस्थाओंके नाम कर दिया है, उसी फंडसे प्रस्तुत दोनों भागोंका प्रकाशन हुआ है। आपकी यह उदारवृत्ति और लोकोपयोगी कामोंमें दानकी अभिरुचि सराहनीय तथा अन्य धनिक श्रीमानोंके लिये अनुकरणीय है। —परमानन्द जैन शास्त्री

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाज सेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायक-श्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं—

* १२५) बा. छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
* १०१) बा. अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
* १०१) बा. बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
* १००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
* १००) बा. शांतिनाथ सुपुत्र बा. नंदलालजी जैन, कलकत्ता
१००) ला. तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
* १००) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
१००) बा. लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
१००) बा. जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान, पानीपत
* २५) रा. ब. बा. उलफतरायजी जैन रि. इञ्जिनियर, मेरठ।
* २५) ला. दलीपसिंह कागज़ी और उनकी मार्फत, देहली।
* २५) पं. नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई।
* २५) ला. रूड़ामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
* २५) बा. रघुबरदयालजी. एम. ए. करोलबाग, देहली।
* २५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
* २५) ला. बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा (मु.न.)
२५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन, सहारनपुर।
* २५) ला. दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
* २५) ला. प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
* २५) सवाई सिंघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

नोट—जिन रकमोंके सामने * यह चिन्ह दिया है वे पूरी प्राप्त हो चुकी है।

व्यवस्थापक 'अनेकांत'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

द्वितीय-तृतीय मार्गसे प्राप्त हुई सहायता

अनेकान्तकी सहायताके ४मार्गोंमेंसे द्वितीय मार्गसे प्राप्त हुई ६६॥) रुपयेकी सहायता अनेकान्तकी पूर्व किरणोंमें (किरण ४ तक) प्रकाशित होचुकी है, उसके बाद दस रुपये की सहायता सेठ रोडमल मेघराजजी जैन सुसारीके चार दानसहायक फंडकी तरफसे, चार निर्दिष्ट वाचनालयोंको अनेकान्त एक वर्ष तक फ्री भिजवानेके लिये, प्राप्त हुई है।

इसी तरह तृतीय मार्गसे प्राप्त हुई ३८) रुपये की सहायता गत किरण नं. ८ में प्रकाशित हुई थी, उसके बाद दो रुपये की सहायता लाला सिद्धकरणजी सेठी (अजमेर निवासी) सिविललाइन आगरासे, (धर्मपत्नीके स्वर्गवासके अवसर पर निकाले हुए दानमें से) प्राप्त हुई है। दातार महाशय धन्यवादके पात्र है। —व्यवस्थापक 'अनेकांत'

बनारसी-नाममाला पुस्तकरूपमें

जिस बनारसी-नाममालाको पाठक इस किरणमें देख रहे हैं वह अलग पाकेट साइजमें पुस्तकाकार भी छपाई जारही है। उसके साथमें पुस्तककी उपयोगिताको बढ़ानेके लिये आधुनिक पद्धतिसे तय्यार किया गया शब्दानुक्रमणिका के रूपमें एक शब्दकोष भी लगाया जारहा है, जिसमें कोई दो हजारके करीब शब्दोंका समावेश है। इससे सहज ही में मूलकोषके अन्तर्गत शब्दों और उनके अर्थोंको मालूम किया जा सकेगा, और इसमें प्रस्तुत कोषका और भी अच्छी तरह से उपयोग हो सकेगा तथा उपयोग करने वालोंके समयकी काफी बचत होगी। हिन्दी भाषाके प्रेमियों। अभ्यास एवं स्वाध्याय करने वालोंके लिये यह सुन्दर कोष बड़े ही कामकी तथा सदा पास रखनेकी चीज़ होगी। यह पुस्तक चार फार्म से ऊपर—कोई १३२ पृष्ठकी होगी और मूल्य होगा चार आने। प्रतियाँ थोड़ी ही छपवाई जारही हैं, अतः जिन्हें आवश्यकता हो वे 'वीरसेवामंदिर' सरसावा जिला सहारनपुर को पोस्टेज सहित पाँच आने भेजकर मंगा सकते हैं। —प्रकाशक

ज़रूरी सूचना

'सयुक्तिक सम्मति पर लिखे गये उत्तर लेखकी निःसारता' शीर्षक लेखका शेषांश सम्पादकजी की अस्वस्थताके कारण इस किरणमें नहीं जासका। इसके लिये लेखक और पाठक महाशय क्षमा करें। अगली किरणमें उसे देनेका जरूर यत्न किया जायगा। —प्रकाशक

REGISTERED NO. A-731.

वीरसेवामन्दिर सरसावामें

ग्रन्थ-प्रकाशन और दिगम्बर जैनग्रंथोंकी सूचीके

दो महान् कार्य

(१) ग्रन्थ-प्रकाशन——कई वर्षसे वीरसेवामन्दिरमें पुरातन-जैन-वाक्य-सूची और जैनलक्षणावली (लक्षणात्मक जैन-पारिभाषिक शब्दकोष) आदि कई महान् ग्रन्थोंका जो निर्माण कार्य हो रहा है उसका प्रकाशन अब शीघ्र ही प्रारम्भ होने वाला है। प्रकाशनके लिये धनकी योजना हो गई है। जैनलक्षणावलीका निर्माण कोई २०० दिगम्बर और २०० श्वेताम्बर ग्रन्थोंपरसे हुआ है। इसका प्रकाशन चार-पांच बड़े बड़े खण्डोंमें होगा। पहले इसमें हिन्दी लगानेका विचार नहीं था; परन्तु अब कई मित्रोंके अनुरोध एवं सत्परामर्शसे हिन्दीमें लक्षणोंका सार अथवा अनुवाद भी साथमें लगाया जा रहा है। और इससे यह कोष ग्रन्थ सभी शास्त्राभ्यासियों एवं जिनवाणीके प्रेमी समझने वालोंके लिये बड़े ही कामकी चीज होगा। कोई भी लायब्रेरी, पुस्तकालय, विद्यालय, वाचनालय, कालेज और जैनमन्दिर ऐसा नहीं होगा जिसको इसकी जरूरत न पड़े - हर एक स्वाध्याय-प्रेमीको इसे अपने पास रखना होगा। ग्राहकोंको अभीसे अपना नाम दर्ज रजिस्टर करा लेना चाहिये, जिससे प्रकाशित होते ही उनको पहला ग्रन्थ उनके पास पहुँच जाय। मूल्य आदिकी सूचना बादको दी जायगी।

पुरातन-जैन-वाक्य-सूचीका पहला भाग, जो प्राकृत भाषाके कोई ६४ ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणिकाको लिये हुए है, सबसे पहले प्रेसमें जाने वाला है। यह ग्रंथ रिसर्चका अभ्यास करने वाले विद्यार्थियों, स्कालरों, प्रोफेसरों, ग्रंथसम्पादकों और उन स्वाध्यायप्रेमियोंके लिये भी कामकी चीज होगा जो किसी शास्त्रमें 'उक्तं च' आदि रूपसे आए हुए प्राकृत वाक्योंके विषयमें यह जानना चाहते हों कि वे कौनसे ग्रन्थ अथवा ग्रन्थोंके वाक्य हैं। इस ग्रन्थकी कापियाँ बहुत थोड़ी छपाई जायँगी, अतः प्रायः वे सज्जन ही इसे प्राप्त कर सकेंगे जो पहलेसे अपना नाम दर्ज रजिस्टर करा लेंगे।

दो एक और अपूर्व ग्रंथ भी अनुवादादिकके साथ तय्यार हो रहे हैं, जिनके नामादिककी सूचना बादको दी जायगी।

(२) दि० जैनग्रन्थसूची——इसके सिवाय, वीरसेवामन्दिरने गत वीरशासनजयन्तीके अवसर पर पास हुए प्रस्तावके अनुसार दिगम्बर जैनग्रंथोंकी एक पूर्ण सूची तय्यार करनेका भार अपने ऊपर ले लिया है। यह काम तेजीसे प्रारम्भ भी होगया है, अनेक स्थानोंके शास्त्रभण्डारोंकी सूचियां आरही हैं। परन्तु यह काम बहुत बड़ा है, और इसमें सभी स्थानोंके विद्वानों तथा शास्त्रभण्डारोंके अध्यक्षों एवं प्रबन्धकोंके सहयोगकी जरूरत है। आशा है इस पुण्य कार्यमें सभी वीरसेवामन्दिरका हाथ बटाएँगे और उसे शीघ्र ही अभिलषित सूची तय्यार करके प्रकाशित करनेका शुभ अवसर प्रदान करेंगे। इस सूचीग्रंथ परसे सहज हीमें यह मालूम हो सकेगा कि हमारे पास साहित्यकी कितनी पूंजी है, दिगम्बर साहित्य कितना विशाल है और वह कहां कहां बिखरा पड़ा है। साथ ही, बहुतोंको नये नये ग्रंथोंको पढ़ने, लिखाकर मंगाने तथा प्रचार करनेकी प्रेरणा भी मिलेगी, और यह सब एक प्रकारसे जिनवाणीमाताकी सच्ची सेवा होगी। अतः जिन जिन स्थानके सज्जनोंने अभी तक अपने यहांके शास्त्रभण्डारकी सूची नहीं भेजी है उन्हें शीघ्र ही नीचेके पते पर उसके भेजनेका पूरा यत्न करना चाहिये। जहां अच्छे बड़े बड़े भण्डार हैं वहांके श्रीमानोंका यह खास कर्तव्य है कि वे दो एक विद्वानोंको लगाकर शीघ्र ही व्यवस्थित सूची तय्यार कराएं। सूचीमें भण्डारके नामके साथ नीचे लिखे दस कोष्ठक होने चाहियें, और जो कोष्ठक प्रयत्न करनेपर भी भर न जा सकें उन्हें बिन्दु लगाकर खाली छोड़ देना चाहिये---

१ नम्बर, २ ग्रंथ-नाम, ३ ग्रंथकार नाम, ४ भाषा, ५ विषय, ६ रचनाकाल, ७ श्लोकसंख्या, ८ पत्रसंख्या, ९ लिपि संवत्, १० कैफियत (प्रतिकी जीर्णादि अवस्था तथा पूर्ण-अपूर्णकी सूचनाको लिये हुए)।

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' पो० सरसावा (जि० सहारनपुर)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानंद शास्त्री वीरसेवामन्दिर, सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव द्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित।

अनेकान्त
अनेकान्तात्मिका
स्याद्वादकोषिणी
स्यात्
स्यात्
स्यात्
स्यात्
स्यात्
स्यात्
स्यात्
विविध नयापेक्षा
सप्तभंगरूपा
सम्यग्वस्तु-ग्राहिका
स्यात्तत्त्व प्रकाशिका
वर्ष ४
किरण १०
नवम्बर
१९४१

विषय-सूची

अनेकान्तके प्रेमी-पाठकोंसे निवेदन

'अनेकान्त'को वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित होते हुए १० महीने हो गये हैं—इस चौथे वर्षमें केवल दो किरणें और अवशिष्ट रही हैं। अपने इस छोटेसे जीवनकालमें 'अनेकान्त' ने पाठकोंकी क्या कुछ सेवा की है उसे बतलाने की ज़रूरत नहीं—वह सब दिनकर-प्रकाशकी तरह पाठकोंके सामने है। यहांपर सिर्फ इतना ही निवेदन करना है कि आजकल युद्धके फलस्वरूप कागज आदिकी भारी महँगाईके कारण पत्रोंपर जो संकट उपस्थित है वह किसीसे छिपा नहीं है—कितने ही पत्रोंका जीवन समाप्त हो गया है, कितनों हीको अपनी पृष्ठसंख्या तथा कागजकी क्वालिटी घटानी पड़ी है और बहुतोंने पृष्ठसंख्या घटानेके साथ साथ मूल्य भी बढ़ा दिया है। 'कल्याण' जैसे पत्रने भी, जिसकी ग्राहक संख्या साठहजारके करीब है, इस वर्ष ४) रु० के स्थानमें ५) रु० मूल्य कर दिया है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी 'अनेकान्त' अपने पाठकोंकी उसी तरहसे बराबर सेवा करता आ रहा है, उसका मूल्य पहले ही प्रचारकी दृष्टिसे ४) रु० के स्थानपर ३) रु० रक्खा गया था, फिर भी उसे बढ़ाया नहीं, और न पृष्ठसंख्या ही कम की गई—६ फार्म (४८पेज) प्रति अङ्कका संकल्प करके भी वह अब तक पाठकोंको ९२ पृष्ठ अधिक दे चुका है। ऐसी हालतमें उसे जो भारी घाटा उठाना पड़ रहा है वह सब प्रेमी पाठकोंके भरोसेपर ही है। आशा है 'अनेकान्त' के प्रेमी ग्राहक और पाठक महानुभाव इस ओर अवश्य ध्यान देंगे और पत्रको घाटेसे मुक्त रखनेके लिए अपना अपना कर्तव्य ज़रूर पूरा करेंगे। इस समय उनसे सिर्फ इतना ही ख़ास तौरपर निवेदन है कि वे कमसे कम दो दो नये ग्राहक बनानेका दृढ संकल्प करके उसे शीघ्र ही पूरा करनेका प्रयत्न करें, जिससे यह पत्र आगामी वर्षके लिये और भी अधिक उत्साहके साथ सेवाकार्यके लिये प्रस्तुत हो सके।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४ किरण १० | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | नवम्बर
मार्गशिर, वीरनिर्वाण सं० २४६८, विक्रम सं० १९९८ | १९४१

नित्यकी आत्म-प्रार्थना

शास्त्राऽभ्यासो जिनपति-नुतिः संगतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुण-गण-कथा दोषवादे च मौनम् ।
सर्वस्याऽपि प्रिय-हित-वचो भावना चाऽऽत्मतत्त्वे,
संपद्यंतां मम भव-भवे यावदेतेऽपवर्गः ॥ —जैन नित्यपाठ

जब तक मुझे अपवर्गकी—मोक्षकी—प्राप्ति नहीं होती तब तक भव-भवमें—जन्म-जन्ममें मेरा शास्त्र-अभ्यास बना रहे—मैं ऐसे ग्रंथोंके स्वाध्यायसे कभी न चूकूँ जो आप्तपुरुषोंके कहे हुए अथवा आप्तकथित विषयका प्रतिपादन करनेवाले हों, तत्त्वके उपदेशको लिये हुए हों, सबके लिये हितरूप हों, अबाधित-सिद्धान्त हों और कुमार्गसे हटानेवाले हों—; साथ ही जिनेन्द्रके प्रति मैं सदा नम्रीभूत रहूँ—सर्वज्ञ, वीतराग और परमहितोपदेशी श्रीजिनदेवके गुणोंके प्रति मेरे हृदयमें सदा ही भक्तिभाव जागृत रहे—; मुझे नित्य ही आर्यजनोंकी—सत्पुरुषोंकी—संगतिका सौभाग्य प्राप्त होवे—कुसंगतिमें बैठने अथवा दुर्जनोंके सम्पर्कमें रहकर उनके प्रभावसे प्रभावित होनेका कभी भी अवसर न मिले—; सच्चरित्र पुरुषोंकी गुण गण-कथा ही मुझे सदा आनन्दित करे—मैं कभी भी विकथाओंके कहने-सुननेमें प्रवृत्त न होऊँ—; दोषोंके कथनमें मेरी जिह्वा सदा ही मौन धारण करे—मैं कषायवश किसीके दोषोंका उद्घाटन न करूँ—; मेरी वचन-प्रवृत्ति सबके लिये प्रिय तथा हितरूप होवे—कषायसे प्रेरित होकर मैं कभी भी ऐसा बोल न बोलूँ, अथवा ऐसा वचन मुँहसे न निकालूँ जो दूसरोंको अप्रिय होने के साथ साथ अहितकारी भी हो—; और आत्म-तत्त्वमें मेरी भावना सदा ही बनी रहे—मैं एक क्षणके लिये भी उसे न भूलूँ, प्रत्युत उसमें निरन्तर ही योग देकर आत्म-विकासकी सिद्धिका बराबर प्रयत्न करता रहूँ । यही मेरी नित्यकी आत्म-प्रार्थना है ।

अच्छे-दिन

श्री 'भगवत्' जैन

जब अच्छे दिन आजाएँगे !

ठुकराने वाले ही मुझको, प्यार करेंगे, अपनाएँगे !!

जब अच्छे दिन आजाएँगे !

आज मूर्ख जिनकी निगाहमें, कल वे ही विद्वान् कहेंगे !
निर्धन-सेवक नहीं, बल्कि सेवामें तब श्रीमान् रहेंगे !!

रूठे हुए सहोदर भी तब, सरस प्रेमके गुण गाएँगे ! जब०

आज जेब खाली रहती है, मन रहता है रीता-रीता !
लेकिन कल यह नहीं रहेगा, पाऊँगा मैं सभी सुभीता !!

शत्रु, शत्रुता छोड़ मिलेंगे, अपनी लघुता दिखलाएँगे ! जब०

'अच्छा' भी करता हूँ तो वह, आज 'बुरा' होकर रहता है !
'बुरा किया भी अच्छा होगा', यह जगका अनुभव कहता है !!

यश फैलेगा हर प्रकार तब, कोई अयश न कर पाएँगे ! जब०

बात-चीतमें, रहन-सहनमें, ओज, तेज, दोनों चमकेंगे !
एक नया जीवन आएगा, जब जीवनके दिन पलटेंगे !!

हरियाली छा जायेगी तब, सुख-मधुकर आ मँडराएँगे ! जब०

घर ही नहीं, शहर-भर मेरे, इंगित-पथपर चला चलेगा !
जो मैं कह दूँगा वह होगा, कोई उसे न टाल सकेगा !!

आज सामने आते हैं जो, कल आते भी सकुचाएँगे ! जब०

बिगड़ी बनते देर न होगी, देर न होगी समय बदलते !
अच्छे-बुरे सभी आते हैं दिन, जीवन-पथ चलते-चलते !!

'भगवत्' तक पहुँचेंगे, नौका अपनी जो खेते जाएँगे !

जब अच्छे-दिन आजाएँगे !!

नर नरके प्राणोंका प्यासा !

[१]

विश्व-सदनमें आग लगी है,
शान्ति, क्रान्तिमें बदल रही ।
टूट रहे अम्बरसे तारे,
उगल अँगारे रही, मही ।

[२]

आर्त-नाद हो रहा चतुर्दिक्,
चिन्ता – चिता धँधकती है ।
अन्तस्तलमें राग – द्वेषकी—
ज्वालामुखी भभकती है !

[३]

झुलस–झुलसकर मानवताकी–
राख हुई जाती है, हाय !
दानवता देदीप्यमान हो,
मानवको करती निरुपाय !!

[४]

ज्वालाओंसे खेल रहा जग,
भीषणतामें मृदु – आशा !
विषमें अमृत खोज रहा नर—
नरके प्राणोंका प्यासा !!

पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

वीरनिर्वाणसम्वत्की समालोचनापर विचार

[सम्पादकीय]

श्रीयुत पंडित ए० शान्तिराजजी शास्त्री आस्थान विद्वान् मैसूर राज्यने 'भगवान् महावीरके निर्वाण-संवत्की समालोचना' शीर्षक एक लेख संस्कृत भाषा मे लिखा है, जो हिन्दी जैनगजटके गत दीप-मालिकाङ्क (वर्ष ४७ अंक १) में प्रकाशित हुआ है और जिसका हिन्दी अनुवाद 'अनेकान्त' की इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है। जैनगजटके सं० सम्पादक पं० सुमेरचन्दजी 'दिवाकर' और 'जैनसिद्धान्तभास्कर' के सम्पादक पं० के० भुजबली शास्त्री आदि कुछ विद्वान मित्रोंका अनुरोध हुआ कि मुझे उक्त लेखपर अपना विचार जरूर प्रकट करना चाहिये। तदनुसार ही मैं नीचे अपना विचार प्रकट करता हूँ।

इस लेखमें मूल विषयको छोड़कर दो बातें खास तौरपर आपत्तिके योग्य हैं—एकतो शास्त्रीजीने 'अनेकान्त' आदि दिगम्बर समाजके पत्रोंमें उल्लिखित की जाने वाली वीरनिर्वाण सम्वत्की संख्याको मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदायका अनुसरण बतलाया है; दूसरे इन पंक्तियोंके लेखक तथा दूसरे दो संशोधक विद्वानों (प्रो० ए०एन० उपाध्याय और पं० नाथूराम जी 'प्रेमी') के ऊपर यह मिथ्या आरोप लगाया है कि इन्होंने बिना विचारे ही (गतानुगतिक रूपसे) श्वेताम्बर-सम्प्रदायी मार्गका अनुसरण किया है। इस विषयमें सबसे पहले मैं इतना ही निवेदन करदेना चाहता हूँ कि 'भगवान महावीरके निर्वाणको आज कितने वर्ष व्यतीत हुए?' यह एक शुद्ध ऐतिहासिक प्रश्न है—किसी सम्प्रदायविशेषकी मान्यताके साथ इसका कोई खास सम्बन्ध नहीं है। इसे साम्प्रदायिक मान्यताका रूप देना और इस तरह दिगम्बर समाज के हृदयमें अपने लेखका कुछ महत्त्व स्थापित करनेकी चेष्टा करना ऐतिहासिक क्षेत्रमें क़दम बढ़ानेवालोंके लिये अनुचित है। श्वेताम्बर समाजके भी कितने ही विद्वानोंने ऐतिहासिक दृष्टिसे ही इस प्रश्नपर विचार किया है, जिनमें मुनि कल्याणविजयजीका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। इन्होंने 'वीर-निर्वाण-सम्वत् और जैन कालगणना' नामका एक गवेषणात्मक विस्तृत निबन्ध १८५ पृष्ठका लिखा है, और उसमें कालगणनाकी कितनी ही भूलें प्रकट की गई हैं। यह निबन्ध 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के १०वें तथा ११वें भागमें प्रकाशित हुआ है। यदि यह प्रश्न केवल साम्प्रदायिक मान्यताका ही होता तो मुनि जीको इसके लिये इतना अधिक ऊहापोह तथा परिश्रम करनेकी जरूरत न पड़ती। अस्तु।

मुनि कल्याणविजयजीके उक्त निबन्धसे कोई एक वर्ष पहले मैंने भी इस विषयपर 'भ० महावीर और उनका समय' शीर्षक एक निबन्ध लिखा था, जो चैत्र शुक्ल त्रयोदशी संवत् १९८६ को होनेवाले महावीर-जयन्तीके उत्सवपर देहलीमें पढ़ा गया था और बादको प्रथमवर्षके 'अनेकान्त'की प्रथम किरण में अग्रस्थान पर प्रकाशित किया गया था*। इस

* सन् १९३४ में यह निबन्ध संशोधित तथा परिवर्धित होकर और धवल जयधवलके प्रमाणोंको भी साथमें लेकर अलग पुस्तकाकार रूपसे छप गया है, और इस समय बाबू पन्नालालजी जैन अग्रवाल, मुहल्ला चर्खेवालान देहलीके पाससे चार आने मूल्यमें मिलता है।

निबन्धमें प्रकृत विषयका कितना अधिक ऊहापोहके साथ विचार किया गया है, प्रचलित वीरनिर्वाण-संवत्पर होनेवाली दूसरे विद्वानोंकी आपत्तियोंका कहाँ तक निरसनकर गुत्थियोंको सुलझाया गया है, और साहित्यकी कुछ पुरानी गड़बड़, अर्थ समझनेकी गलती अथवा कालगणनाकी कुछ भूलोंको कितना स्पष्ट करके बतलाया गया है, ये सब बातें उन पाठकों से छिपी नहीं है जिन्होंने इस निबन्धको गौरके साथ पढ़ा है। इसीसे 'अनेकान्त'में प्रकाशित होतेही अच्छे अच्छे जैन-अजैन विद्वानोंने 'अनेकान्त' पर दीजाने वाली अपनी सम्मितयोंमें* इस निबन्धका अभिनन्दन किया था और इसे महत्वपूर्ण, खोजपूर्ण, गवेषणापूर्ण, विद्वत्तापूर्ण, बड़े मार्केका, अत्युत्तम, उपयोगी, आवश्यक और मननीय लेख प्रकट किया था। कितने ही विद्वानोंने इसपरसे अपनी भूलको सुधार भी लिया था। मुनि कल्याणविजयजीने सूचित किया था—"आपके इस लेखकी विचार-सरणी भी ठीक है।" और पं० नाथूरामजी प्रेमीने लिखा था—"आपका वीरनिर्वाण-संवत् वाला लेख बहुत ही महत्वका है और उससे अनेक उलझनें सुलझ गई हैं।" इस निबन्धके निर्णयानुसार ही 'अनेकान्त'में 'वीरनिर्वाणसंवत्' का देना प्रारम्भ किया था, जो अबतक चालू है। इतनेपर भी शास्त्रीजीका मेरे ऊपर यह आरोप लगाना कि मैंने 'बिना विचार किये ही (गतानुगतिक रूपसे) दूसरोंके मार्गका अनुसरण किया है' कितना अधिक अविचारित, अनभिज्ञता-पूर्ण तथा आपत्तिके योग्य है और उसे उनका 'अतिसाहस'के सिवाय और क्या कहा जा सकता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। आशा है शास्त्रीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी और वे भविष्यमें इस प्रकारके निर्मूल आक्षेपोंसे बाज आएँगे।

अब मैं लेखके मूल विषयको लेता हूँ और उस पर इस समय सरसरी तौरपर अपना कुछ विचार व्यक्त करता हूँ। आवश्यकता होनेपर विशेष विचार फिर किसी समय किया जायगा।

शास्त्रीजीने त्रिलोकसारकी 'पण-छस्सद-वस्सं पणमासजुदं' नामकी प्रसिद्ध गाथा को उद्धृत करके प्रथम तो यह बतलाया है कि इस गाथामें उल्लिखित 'शकराज' शब्दका अर्थ कुछ विद्वान तो शालिवाहन राजा मानते हैं और दूसरे कुछ विद्वान विक्रमराजा। जो लोग विक्रमराजा अर्थ मानते हैं उनके हिसाबसे इस समय (गत दीपमालिकासे पहले*) वीरनिर्वाण संवत् २६०४ आता है, और जो लोग शालिवाहन राजा अर्थ मानते हैं उनके अर्थानुसार वह २४६९ बैठता है, परन्तु वे लिखते हैं २४६७ इस तरह उनकी गणनामें दो वर्षका अन्तर (व्यत्यास) तो फिरभी रह जाता है। साथ ही अपने लेखके समय प्रचलित विक्रम संवतको १९९९ और शालिवाहनशकको १८६४ बतलाया है तथा दोनोंके अन्तरको १३६ वर्ष का घोषित किया है। परन्तु शास्त्रीजीका यह लिखना ठीक नहीं है—न तो प्रचलित विक्रम तथा शक संवत् की वह संख्या ही ठीक है जो आपने उल्लेखित की है और न दोनों सम्वतोंमें १३६ वर्षका अन्तर ही

*ये सम्मतियाँ 'अनेकान्तपर लोकमत' शीर्षकके नीचे 'अनेकान्त'के प्रथमवर्षकी किरणोंमें प्रकाशित हुई हैं।

*शास्त्रीजीका लेख गत दीपमालिका (२० अक्तूबर १९४१) से पहलेका लिखा हुआ है, अतः उनके लेखमें प्रयुक्त हुए 'सम्प्रति' (इससमय) शब्दका वाच्य गत दीप-मालिकासे पूर्वका निर्वाणसंवत् हैं, वही यहाँपर तथा आगे भी 'इस समय' शब्दका वाच्य समझना चाहिये—न कि इस लेखके लिखनेका समय।

पाया जाता है, बल्कि अन्तर १३५ वर्षका प्रसिद्ध है और वह आपके द्वारा उल्लिखित विक्रम तथा शक संवतोंकी संख्याओं (१९९९–१८६४=१३५)से भी ठीक जान पड़ता है। बाकी विक्रम संवत् १९९९ तथा शक संवत् १८६४ उस समय तो क्या अभी तक प्रचलित नहीं हुए हैं—काशी आदिके प्रसिद्ध पंचाँगों में वे क्रमशः १९९८ तथा १८६३ ही निर्दिष्ट किये गये हैं। इस तरह एक वर्षका अन्तर तो यह सहज हीमें निकल आता है। और यदि उधर सुदूर दक्षिण देशमें इससमय विक्रम संवत् १९९९ तथा शक संवत् १८६४ ही प्रचलित हो, जिसका अपनेको ठीक हाल मालूम नहीं, तो उसे लेकर शास्त्रीजीको उत्तर भारतके विद्वानोंके निर्णयपर आपत्ति नहीं करनी चाहिये थी—उन्हें विचारके अवसर पर विक्रम तथा शक संवत्की वही संख्या ग्रहण करनी चाहिये थी जो उन विद्वानों के निर्णयका आधार रही है और उस देशमें प्रचलित है जहाँ वे निवास करते हैं। ऐसा करनेपर भी एक वर्षका अन्तर स्वतः निकल जाता। इसके विपरीत प्रवृत्ति करना विचार-नीतिके विरुद्ध है।

अब रही दूसरे वर्षके अन्तरकी बात, मैंने और कल्याणविजयजीने अपने अपने उक्त निबन्धोंमें प्रचलित निर्वाण संवत्के अंकसमूहको गत वर्षोंका वाचक ः—ईसवी सन् आदिकी तरह वर्तमान वर्ष का द्योतक नहीं बतलाया—और वह हिसाबसे महीनों की भी गणना साथमें करते हुए ठीक ही है। शास्त्री जीने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया और ६०५ के साथमें शक संवत्की विवादापन्न संख्या १८६४ को जोड़कर वीरनिर्वाण-संवत्को २४६९ बना डाला है! जबकि उन्हें चाहिये था यह कि वे ६०५ वर्ष ५ महीनेमें शालिवाहन शकके १८६२ वर्षोंको जोड़ते जो काशी आदिके प्रसिद्ध पंचाङ्गानुसार शक संवत् १८६३ के प्रारंभ होनेके पूर्व व्यतीत हुए थे, और इस तरह चैत्रशुक्ल प्रतिपदाके दिन वीरनिर्वाणको हुए २४६७ वर्ष ५ महीने बतलाते। इससे उन्हें एक भी वर्षका अन्तर कहनेके लिये अवकाश न रहता; क्योंकि ऊपरके पाँच महीने चालू वर्षके हैं, जब तक बारह महीने पूरे नहीं होते तब तक उनकी गणना वर्षमें नहीं की जाती। और इस तरह उन्हें यह बात भी जँच जाती कि जैन काल-गणनामें वीरनिर्वाणके गत वर्ष ही लिये जाते रहे हैं। इसी बातको दूसरी तरहसे यों भी समझाया जा सकता है कि गत कार्तिकी अमावस्याको शक संवत्के १८६२ वर्ष ७ महीने व्यतीत हुए थे, और शक संवत महावीर के निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद प्रवर्तित हुआ है। इन दोनों संख्याओंको जोड़ देनेसे पूरे २४६८ वर्ष होते हैं। इतने वर्ष महावीरनिर्वाणको हुए गत कार्तिकी अमावस्याको पूरे हो चुके हैं और गत कार्तिक शुक्ला प्रतिपदासे उसका २४६९ वाँ वर्ष चल रहा है; परन्तु इसको चले अभी डेढ़ महीना ही हुआ है और डेढ़ महीनेकी गणना एक वर्षमें नहीं की जा सकती, इसलिये यह नहीं कह सकते कि वर्तमानमें वीरनिर्वाण को हुए २४६९ वर्ष व्यतीत हुए हैं बल्कि यही कहा जायगा कि २४६८ वर्ष हुए हैं। अतः 'शकराजा' का शालिवाहन राजा अर्थ करनेवालोंके निर्णयानुसार वर्तमानमें प्रचलित वीरनिर्वाण सम्वत् २४६८ गताब्द के रूपमें है और उसमें गणनानुसार दो वर्षका कोई अन्तर नहीं है—वह अपने स्वरूपमें यथार्थ है। अस्तु।

त्रिलोकसारकी उक्त गाथाको उद्धृत करके और 'शकराज' शब्दके सम्बन्धमें विद्वानोंके दो मत-भेदोंको बतलाकर, शास्त्रीजीने लिखा है कि "इन

दोनों पक्षोंमें कौनसा ठीक है, यही समालोचनाका विषय है (उभयोरनयोः पक्षयोः कतरो याथातथ्यमुपगच्छतीति समालोचनीयः)," और इसतरह दोनों पक्षों के सत्यासत्यके निर्णयकी प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञा तथा लेखके शीर्षकमें पड़े हुए 'समालोचना' शब्दको और दूसरे विद्वानोंपर किये गये तीव्र आक्षेपको देख कर यह आशा होती थी कि शास्त्रीजी प्रकृत विषयके संबंधमें गंभीरताके साथ कुछ गहरा विचार करेंगे, किसने कहाँ भूल की है उसे बतलाएँगे और चिरकाल से उलझी हुई समस्याका कोई समुचित हल करके रक्खेंगे। परन्तु प्रतिज्ञाके अनन्तरके वाक्य और उसकी पुष्टिमें दिये हुए आपके पाँच प्रमाणोंको देखकर वह सब आशा धूलमें मिल गई, और यह स्पष्ट मालूम होने लगा कि आप प्रतिज्ञाके दूसरे क्षण ही निर्णायक के आसनसे उतरकर एक पक्षके साथ जा मिले हैं अथवा तराजूके एक पलड़ेमें जा बैठे हैं और वहाँ खड़े होकर यह कहने लगे हैं कि हमारे पक्षके अमुक व्यक्तियोंने जो बात कही है वही ठीक है; परन्तु वह क्यों ठीक है ? कैसे ठीक है ? और दूसरोंकी बात ठीक क्यों नहीं है ? इन सब बातोंके निर्णयको आपने एकदम भुला दिया है !! यह निर्णयकी कोई पद्धति नहीं और न उलझी हुई समस्याओंको हल करनेका कोई तरीक़ा ही है। आपके पाँच प्रमाणोंमेंसे नं० २ और ३ में तो दो टीकाकारोंके अर्थका उल्लेख है जो गलत भी हो सकता है, और इसलिये वे टीकाकार अर्थ करनेवालोंकी एक कोटिमें ही आजाते हैं। दूसरे दो प्रमाण नं० २, ४ टीकाकारोंमेंसे किसी एकके अर्थ का अनुसरण करनेवालोंकी कोटिमें रक्खे जा सकते हैं। इस तरह ये चारों प्रमाण 'शकराज' का गलत अर्थ करनेवालों तथा गलत अर्थका अनुसरण करने वालोंके भी हो सकनेसे इन्हें अर्थ करनेवालोंकी एक कोटिमें रखनेके सिवाय निर्णयके क्षेत्रमें दूसरा कुछ भी महत्व नहीं दिया जा सकता और न निर्णयपर्यंत इनका दूसरा कोई उपयोग ही किया जा सकता है। मुकाबलेमें ऐसे अनेक प्रमाण रक्खे जा सकते हैं जिनमें 'शकराज' शब्दका अर्थ शालिवाहन राजा मान कर ही प्रवृत्ति की गई है। उदाहरणके तौरपर पाँचवें प्रमाणके मुकाबलेमें ज्योतिषरत्न पं० जीयालालजी दि० जैनके सुप्रसिद्ध 'अमली पंचाङ्ग' को रक्खा जा सकता है, जिसमें वीरनिर्वाण सं० २४६७ का स्पष्ट उल्लेख है—२६०४ की वहाँ कोई गंध भी नहीं है।

रहा शास्त्रीजीका पहला प्रमाण, उसकी शब्द-रचनापरसे यह स्पष्ट मालूम नहीं होता कि शास्त्रीजी उसके द्वारा क्या सिद्ध करना चाहते हैं। उल्लिखित संहिताशास्त्रका आपने कोई नाम भी नहीं दिया, न यह बतलाया कि वह किसका बनाया हुआ है और उसमें किस रूपसे विक्रम राजाका उल्लेख आया है वह उल्लेख उदाहरणपरक है या विधिपरक, और क्या उसमें ऐसा कोई आदेश है कि संकल्पमें विक्रम राजाका ही नाम लिया जाना चाहिये—शालिवाहन का नहीं, अथवा जैनियोंको संकल्पादि सभी अवसरों पर—जिसमें ग्रन्थरचना भी शामिल है—विक्रम संवत्का ही उल्लेख करना चाहिये, शक-शालिवाहन का नहीं ? कुछ तो बतलाना चाहिये था, जिससे इस प्रमाणकी प्रकृतविषयके साथ कोई संगति ठीक बैठती। मात्र किसी दिगम्बर ग्रन्थमें विक्रम राजाका उल्लेख आजाने और शालिवाहन राजाका उल्लेख न होनेसे यह नतीजा तो नहीं निकाला जा सकता कि शालिवाहन नामका कोई शक राजा हुआ ही नहीं अथवा दिगम्बर साहित्यमें उसके शक संवत्का

उल्लेख ही नहीं किया जाता। ऐसे कितने ही दिगम्बर ग्रन्थ प्रमाणमें उपस्थित किये जासकते हैं जिनमें स्पष्टरूपमें शालिवाहनके शकसंवत्का उल्लेख है। ऐसी हालतमें यदि किसी संहिताके संकल्पप्रकरणमें उदाहरणादिरूपमें विक्रमराजाका अथवा उसके संवत्का उल्लेख आ भी गया है तो वह प्रकृत विषयके निर्णयमें किस प्रकार उपयोगी हो सकता है, यह उनके इस प्रमाणसे कुछ भी मालूम नहीं होता, और इसलिये इस प्रमाणका कुछ भी मूल्य नहीं है। इस तरह आपके पाँचों ही प्रमाण विवादापन्न विषयकी गुत्थीको सुलझानेका कोई काम न करनेसे निर्णय-क्षेत्रमें कुछ भी महत्त्व नहीं रखते; और इसलिये उन्हें प्रमाण न कहकर प्रमाणाभास कहना चाहिये।

कुछ पुरातन विद्वानोंने 'शकराजा' का अर्थ यदि विक्रमराजा कर दिया है तो क्या इतनेसे ही वह अर्थ ठीक तथा ग्राह्य हो गया? क्या पुरातनोंसे कोई भूल तथा गलती नहीं होती और नहीं हुई है? यदि नहीं होती और नहीं हुई है तो फिर पुरातनों-पुरातनोंमें ही कालगणनादिके सम्बन्धमें मतभेद क्यों पाया जाता है? क्या वह मतभेद किसी एककी गलतीका सूचक नहीं है? यदि सूचक है तो फिर किसी एक पुरातनने यदि गलतीसे 'शकराजा' का अर्थ 'विक्रमराजा' कर दिया है तो मात्र पुरातन होनेकी वजहसे उसके कथनको प्रमाणकोटिमें क्यों रक्खा जाता है और दूसरे पुरातन कथनकी उपेक्षा क्यों की जाती है? शकराजा अथवा शककालके ही विषयमें दिगंबर साहित्यमें पाँच पुरातन मतोंका उल्लेख मिलता है, जिनमेंसे चार मत तो त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें पाये जाते हैं और उनमें सबसे पहला मत वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष बाद शकराजाका उत्पन्न होना बतलाता है*। तीन मत 'धवल' ग्रन्थमें उपलब्ध होते हैं, जिनमेंसे दो तो त्रिलोकप्रज्ञप्ति वाले ही हैं और एक उनसे भिन्न है। श्रीवीरसेनाचार्यने 'धवल'में इन तीनों मतोंको उद्धृत करनेके बाद लिखा है—

"एदेसु तिसु एक्केण होदव्वं, ण तिण्णमुवदेसाणमच्चं अण्णोण्णविरोहादो। तदो जाणिय वत्तव्वं।"

अर्थात्—इन तीनोंमेंसे एक ही कथन ठीक होना चाहिये, तीनों कथन सच्चे नहीं हो सकते; क्योंकि तीनोंमें परस्पर विरोध है। अतः जान करके—अनुसन्धान करके—वर्तना चाहिये।

इस आचार्यवाक्यसे भी स्पष्ट है कि पुरातन होनेसे ही कोई कथन सच्चा तथा मान्य नहीं हो जाता। उसमें भूल तथा गलतीका होना संभव है, और इसीसे अनुसन्धानपूर्वक जाँच पड़ताल करके उसके ग्रहण-त्यागका विधान किया गया है। ऐसी हालतमें शास्त्रीजीका पुरातनोंकी बातें करते हुए एक पक्षका हो रहना और उसे विना किसी हेतुके ही यथार्थ कह डालना विचार तथा समालोचनाकी कोरी विडम्बना है।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि इधर प्रचलित वीरनिर्वाण-संवत्की मान्यताके विषयमें दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। दोनों ही वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शकशालिवाहनके संवत्की उत्पत्ति मानते हैं। धवलसिद्धान्तमें श्री वीरसेनाचार्यने वीरनिर्वाण-संवत्को मालूम करनेकी विधि बतलाते हुए प्रमाण-रूपसे जो एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है वह इस प्रकार है—

*वीरजिणे सिद्धिगदे चउसद-इगसट्ठि-वासपरिमाणे।
कालम्मि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ॥

पंच य मासा पंच य वासा छ च्चेव होंति वाससया।
सगकालेण सहिया थावेयव्वो तदो रासी।"

इसमें बतलाया है कि—'शककालकी संख्याके साथ यदि ३०५ वर्ष ५ महीने जोड़ दिये जावें तो वीरजिनेन्द्रके निर्वाणकालकी संख्या आ जाती है।' इस गाथाका पूर्वार्ध, जो वीरनिर्वाणसे शककाल (संवत्) की उत्पत्तिके समयको सूचित करता है, श्वेताम्बरोंके 'तित्थोगाली पइन्नय' नामक निम्न गाथा का भी पूर्वार्ध है, जो वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ महीने बाद शकराजाका उत्पन्न होना बतलाती है—

पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिणिव्वुअस्सऽरिहतो तो उप्पण्णो सगो राया॥६२३

यहाँ शकराजाका जो उत्पन्न होना कहा है उसका अभिप्राय शककालके उत्पन्न होने अर्थात् शकसंवत्के प्रवृत्त (प्रारंभ) होनेका है, जिसका समर्थन 'विचार-श्रेणि' में श्वेताम्बराचार्य श्री मेरुतुंग-द्वारा उद्धृत निम्न वाक्यसे भी होता है —

श्रीवीरनिर्वृतेर्वर्षैः षड्भिः पंचोत्तरैः शतैः।
शाकसंवत्सरस्यैषा प्रवृत्तिर्भरतेऽभवत्॥

इस तरह महावीरके इस निर्वाण-समय-सम्बन्ध मे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी एक वाक्यता पाई जाती है! और इसलिये शास्त्रीजीका दिगम्बर समाजके संशोधक विद्वानों तथा सभी पत्र-सम्पादकोंपर यह आरोप लगाना कि उन्होंने इस विषयमें मात्र श्वेताम्बर सम्प्रदायका ही अनुसरण किया है—उसीकी मान्यतानुसार वीरनिर्वाणसंवत्का उल्लेख किया है—बिल्कुल ही निराधार तथा अविचारितहै।

ऊपरके उद्धृत वाक्योंमें 'शककाल' और 'शाक-संवत्सर' जैसे शब्दोंका प्रयोग इस बातको भी स्पष्ट बतला रहा है कि उनका अभिप्राय 'विक्रमकाल' अथवा 'विक्रमसंवत्सर' से नहीं है, और इसलिये 'शक-राजा' का अर्थ विक्रमराजा नहीं लिया जा सकता। विक्रमराजा वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद हुआ है; जैसा कि दिगम्बर नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

सत्तरचदुसदजुत्तो जिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो।*

इसमें भी विक्रमजन्मका अभिप्राय विक्रमकाल अथवा विक्रमसंवत्सरकी उत्पत्तिका है। श्वेताम्बरोंके 'विचारश्रेणि' ग्रन्थमें भी इसी आशयका वाक्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

विक्कमरज्जारंभा पुरओ सिरिवीरनिव्वुई भणिया।
सुन्न-मुणि-वेय-जुत्तो विक्कमकालाउ जिणकालो॥

जब वीरनिर्वाणकाल और विक्रमकालके वर्षोंका अन्तर ४७० है तब निर्वाणकालसे ३०५ वर्ष बाद होने वाले शक राजा अथवा शककालको विक्रमराजा या विक्रमकाल कैसे कहा जा सकता है? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं। वैसे भी 'शक' शब्द आम तौरपर शालिवाहन राजा तथा उसके संवत्के लिये व्यवहृत होता है, इस बातको शास्त्रीजीने भी स्वयं स्वीकार किया है, और वामन शिवराम ऐप्टे (V. S. APTE) के प्रसिद्ध कोषमें भी इसे Specially applied to Salivahan जैसे शब्दोंके द्वारा शालिवाहनराजा तथा उसके संवत (era) का वाचक बतलाया है। विक्रम राजा 'शक' नहीं था, किन्तु 'शकारि = 'शकशत्रु' था, यह बात भी उक्त कोषसे जानी जाती है। इसलिये जिन

*यह वाक्य 'विक्रमप्रबन्ध' में भी पाया जाता है। इसमें स्थूल रूपसे—महीनोंकी संख्याको साथमें न लेते हुए—वर्षोंकी संख्याका ही उल्लेख किया है; जैसाकि 'विचारश्रेणि' में उक्त 'श्री वीरनिर्वृतेर्वर्षैः' वाक्यमें शककालके वर्षोंका ही उल्लेख है।

जिन विद्वानोंने 'शकराज' शब्दका अर्थ 'शकराजा' न करके 'विक्रमराजा' किया है उन्होंने जरूर गलती खाई है। और यह भी संभव है कि त्रिलोकसारके संस्कृत टीकाकार माधवचन्द्रने 'शकराजो' पदका अर्थ शकराजा ही किया हो, बादको 'शकराजः' से पूर्व 'विक्रमांक' शब्द किसी लेखककी गलतीसे जुड़ गया हो और इस तरह वह गलती उत्तरवर्ती हिन्दी टीकामें भी पहुँच गई हो, जो प्रायः संस्कृत टीकाका ही अनुसरण है। कुछ भी हो, त्रिलोकसारकी उक्त गाथा नं० ८५० में प्रयुक्त हुए 'शकराज' शब्दका अर्थ शकशालिवाहनके सिवाय और कुछ भी नहीं है, इस बातको मैंने अपने उक्त (पुस्तकाकारमें मुद्रित) 'भगवान महावीर और उनका समय' शीर्षक निबन्धमें भले प्रकार स्पष्ट करके बतलाया है, और भी दूसरे विद्वानोंकी कितनी ही आपत्तियोंका निरसन करके सत्यका स्थापन किया है।

अब रही शास्त्रीजी की यह बात, कि दक्षिण देश में महावीरशक, विक्रमशक और क्रिस्तशकके रूपमें भी 'शक' शब्दका प्रयोग किया जाता है, इससे भी उनके प्रतिपाद्य विषयका कोई समर्थन नहीं होता। ये प्रयोग तो इस बातको सूचित करते हैं कि शालिवाहन शककी सबसे अधिक प्रसिद्धि हुई है और इस लिये बादको दूसरे सन्-संवतोंके साथ भी 'शक' का प्रयोग किया जाने लगा और वह मात्र 'वत्सर' या 'संवत्' अर्थका वाचक होगया। उसके साथ लगा हुआ महावीर, विक्रम या क्रिस्त विशेषण ही उसे दूसरे अर्थमें ले जाता है, खाली 'शक' या 'शकराज' शब्द का अर्थ महावीर, विक्रम अथवा क्रिस्त (क्राइस्ट = ईसा) का या उनके सन्-संवतोंका नहीं होता। त्रिलोकसारकी गाथामें प्रयुक्त हुए शकराज शब्दके पूर्व चूँकि 'विक्रम' विशेषण लगा हुआ नहीं है, इस लिये दक्षिणदेशकी उक्त रूढिके अनुसार भी उसका अर्थ 'विक्रमराजा' नहीं किया जा सकता।

ऊपरके इस संपूर्ण विवेचनपरसे स्पष्ट है कि शास्त्रीजीने प्रकृत विषयके संबंधमें जो कुछ लिखा है उसमें कुछ भी सार तथा दम नहीं है। आशा है शास्त्रीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी, और जिन लोगोंने आपके लेखपरसे कुछ गलत धारणा की होगी वे भी इस विचारलेखपरसे उसे सुधारनेमें समर्थ हो सकेंगे।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २६-१९-१९४१

"त्यागके साथ कर्तव्यका भी भान होना चाहिये, तभी जीवन संतोषपूर्ण हो सकता है। अर्थात् अपनी सब प्रवृत्तियां विवेकदृष्टिसे ही होनी चाहियें"

"इस युगमें थोड़ी भक्ति और थोड़ा संयम भी फलीभूत हो जाता है।"

"जिस वैराग्यमें कोई महान् और क्रियाशील साधन नहीं है, वह वैराग्य वैराग्य नहीं, वह तो असभ्यताका नामान्तर है।"

"त्यागको बड़ा स्वरूप देनेकी आवश्यकता नहीं होती। स्वाभाविक त्याग, प्रवेश करनेके पहिले बाजे नहीं बजाता। वह अदृश्यरूपसे आता है, किसीको खबर तक नहीं पड़ने देता। वह त्याग शोभित होता और क़ायम रहता है। वह त्याग किसीको भारभूत नहीं होता और न संक्रामक साबित होता है।"

—विचारपुष्पोद्यान

जैनसाहित्यमें ग्वालियर

(लेखक—मुनि श्रीकान्तिसागर)

भारतवर्षके इतिहासमें जैनइतिहासका स्थान बहुत गौरवपूर्ण है। भारतके इतिहासका मर्म जाननेके लिये जैनइतिहासका अध्ययन अनिवार्य है। इसका प्रधान कारण यह है कि जैनियोंने मात्र धार्मिक साहित्यके निर्माण करनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री नहीं समझी किन्तु अनेकानेक रूपसे इतिहासोपयोगी साहित्यका भी निर्माण करके देशके प्रति अपने कर्तव्यका पालन किया है। जैन इतिहास धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय आदि सभी दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण है। भारतके प्राचीन राजवंशोंका जितना इतिहास जैनसाहित्यमें पाया जाता है उतना शायद ही अन्यत्र कहीं उपलब्ध होता हो। और भारतका इतिहास तब तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक बड़े बड़े नगरोंका महत्वपूर्ण इतिवृत्त प्रकाशित न होगा। ऐतिहासिक क्षेत्रमें इस विषयकी भारी कमीको महसूस करके ही हमने पालनपुर, चित्तौड़ और बालापुर आदि बड़े बड़े नगरोंका इतिहास लिखा तथा प्रगट कराया है[1]। प्रस्तुत निबंध भी इसी लिये लिखा जारहा है।

किसी भी प्राचीन स्थान या वस्तुके पीछे उसका कुछ-न-कुछ इतिहास अवश्य लगा रहता है, यह एक मानी हुई बात है। ग्वालियर भी एक प्राचीन स्थान है और वह भी अपने साथ बहुत कुछ इतिहासको लिये हुए है, जिसका प्रकट होना भारतीय इतिहासके लिये बहुत ही कामकी चीज है।

यद्यपि ग्वालियरके विषयमें विभिन्न लेखकोंने समय समयपर बहुत कुछ लिखा है परन्तु उनके लेखोंमें ऐतिहासिक जैन - साधनों (शिलालेखों और ग्रंथ प्रशस्ति आदि) का प्रायः कोई उपयोग नहीं किया गया। हो सकता है कि उन लेखकोंको ऐसे जैन-साधन प्राप्त न हुए हों या इसका कोई दूसरा ही कारण हो। परन्तु कुछ भी हो, इस तरहसे उनके द्वारा ग्वालियर-संबंधी इतिहास अधूरा ही रह गया है। इसी तरह और भी बहुतसे नगरोंके इतिहासमें जैन साधनोंकी उपेक्षा की गई है। अस्तु, ग्वालियरके संबंधमें जो ऐतिहासिक बातें हमें ज्ञात हुई हैं उन्हें यहाँ प्रकट किया जाता है।

ग्वालियर नगरको जैन शिलालेखों और ग्रंथ-प्रशस्तियोंमें गोपगिरि, गोवगिरि, गोपाचल, गोपालाचल, गोपालाचलदु आदि नामोंसे उल्लेखित किया है। इस नगरका 'ग्वालियर' यह नाम कैसे पड़ा इस विषयमें एक किंवदन्ती भी पाई जाती है, और वह यह कि एक 'ग्वालिय' नामके महात्माने राजा शूरसैन का कष्ट दूर किया था, तब राजाने कृतज्ञता प्रदर्शित करनेके लिये उनके नामपर ग्वालियरका वर्तमान दुर्ग बनवाया था। इस दुर्गके नामसे ही बादको नगरका नाम ग्वालियर प्रसिद्ध हुआ। 'गोपाचल-कथा' नाम एक ग्रंथ भी सुना जाता है, जो अभी तक अपने देखनेमें नहीं आया। संभव है उसमें इस नगरका कुछ विशेष हाल हो।

कुछ लोगोंका कथन है कि यह दुर्ग (किला) ईसा

[1] पाटनका इतिहास आजकल लिखा जारहा है।

से कोई ३००० वर्ष पूर्वका बना हुआ है और कतिपय पुरातत्वज्ञ इसे ईसाकी तीसरी शताब्दीका बना हुआ बतलाते हैं। कुछ भी हो, इस दुर्गकी गणना भारतके प्राचीन दुर्गोंमें की जाती है। खरतरगच्छके यति खेताने भी अपनी 'चित्तौड़की गजल' में, जिसको उस ने १७४८ विक्रम सं० बनाया था, इस दुर्गका बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है। और भी तद्विषयक प्रचुर प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनका उल्लेख आगे किया जायगा।

ग्वालियरके किलेमें एक "सूर्यमंदिर" है जो शिल्पकला और सूर्यपूजाके विकाशकी दृष्टिमें बड़े महत्वका है। इसे हूणजातिके मिहिरकुलने बनवाया था, ऐसा इस मंदिरमें लगे हुए शिलालेखपरसे जाना जाता है। यह शिलालेख ईस्वी सन् ५१५ का माना जाता है।

इतिहासमें हूणजातिका उल्लेख बड़ा रोचक है। यह जाति कहाँ से आई, इस विषयमें एक मत नहीं है। महाकवि कालिदासके प्रसिद्धकाव्य रघुवंशमें भी हूणों का उल्लेख मिलता है[२]। जैनइतिहासमें भी हूण जाति के आदिसम्राट 'तोरमाण' का उल्लेख पाया जाता है। कहा जाता है कि तोरमाणके गुरु गुप्तवंशीय जैनाचार्य हरिगुप्त थे। तोरमाणकी राजधानी कहाँ थी? यह एक प्रश्न है। ९ वीं सदीमें होने वाले प्रसिद्ध जैनाचार्य उद्योतन सूरिने अपने 'कुवलयमाला-कहा' ग्रन्थकी प्रशस्तिमें लिखा है—

'उत्तरापथमें जहाँ चंद्रभागा नदी प्रवाहित होरही है वहाँ पव्वइया (पार्वतिका)[3] नामकी नगरी तोरमाण की राजधानी थी' चूंकि चंद्रभागा पंजाबकी पाँच नदियोंमेंसे चिनाब नामकी नदी है, अतः उक्त नगरी शायद उस समय पंजाबकी राजधानी रही हो। इस नगरीका चीनी युआनचूआगने पोलाफेटो(Polafato) नामसे उल्लेख किया है। सन् १८८४ ई०में जनरल कनिंघामको 'अहिच्छत्र' नगरसे एक सिक्का मिला था जो जैनधर्मसे विशेष संबंध रखता है। उस सिक्केमें एक ओर "श्रीमहाराजा हरिगुप्तस्य" ये शब्द लिखे हुए हैं। यह सिक्का वर्तमानमें वृटिशम्यूजियममें सुरक्षित है[४]। परंतु तोरमाण का सिक्का देखनेमें नहीं आया।

स्कंदगुप्तके एक लेख[५] से ज्ञात होता है कि मिहिरकुल तोरमाण सम्राटका पुत्र था और अपने पिताके समान ही बलिष्ठ था। यह शैवधर्मानुयायी था। इस ने श्रीनगर में 'मिहिरेश्वर' शिवमंदिर बनवाया था और अपने नाममे 'मिहिरपुर' नगर बसाया था। चीनीयात्री हुएन्त्सांगके लेखानुसार यह बौद्धोंका प्रबल शत्रु था और बौद्धभिक्षुकओंको तंग किया करता था। इसकी राजधानी स्यालकोट (पंजाब) थी। मिहिरकुलके सिक्के भी मिले हैं, जो शैवधर्मके सूचक हैं, सिक्कों मे एक ओर त्रिशूल और बैल अंकित हैं तथा ऊपर की तरफ "जयतु मिहिरकुल" लिखा है। मिहिरकुल की मृत्यु ईसी सन ५४२ में हुई है।

हूण जातिका इतिहास उक्त पिता-पुत्रका इतिहास है, बल्कि स्पष्ट शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि हूण जातिमें ये दो ही सुप्रसिद्ध व्यक्ति हुए हैं। इनके बाद सर्व इतिहास अंधकार में हैं।

कन्नोजके नरेश आमका, जो इतिहासमें नागाव-

[२]देखो रघुवंश सर्ग चौथा।

[3]पर्वतोंके बीचमें होनेसे इस नगरीका नाम 'पव्वइया' रक्खा गया है

[४]प्रतिकृतिके लिये देखो C. J. शाह का 'जैनिज्म आफ़ इंडिया'।

[५]हूणैर्यस्य समागतस्य समर दोर्भ्यां धरा कंपिता।

लोकनामसे मशहूर है, 'बप्पभट्टि' सूरिके साथ इतना घनिष्ठ संबंध रहा है जितना चाणक्य और चंद्रगुप्तका था। बप्पभट्टि सूरिके उपदेशसे इस नरेशने श्रावकके व्रत ग्रहण किये, कन्नौजमें १०१ गज प्रमाण जिन मंदिर बनवाया, उसमें १८ भार सुवर्णमयी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराई और ग्वालियरमें २३ हाथ ऊँचा वीर प्रभुका मंदिर बनवाकर उसमें लेप्यमयी प्रतिमा विराजमान की[६] तथा शत्रुंजयतीर्थकी यात्रार्थ एक संघ भी निकाला, जिसमें दिगंबर और श्वेतांबर दोनों सम्मिलित थे। ग्वालियर प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि आम राजाने अनेक देशोंपर अपना प्रभुत्व जमाया था। इस राजाका स्वर्गवास विक्रम सं० ८९० में हुआ था। राजा आमने एक वणिक-कन्यासे विवाह किया था, जिसकी संतान कोष्ठागरिक (कोठारी) कहलाई और बादको ओसवाल वंशमें मिल गई। चित्तौड़-वासी सुप्रसिद्ध कर्माशाह भी इसी वंशका था, जिसने वि० सं० १५९७ में शत्रुंजय तीर्थका उद्धार एवं प्रतिष्ठा कराई, ऐसा 'शत्रुंजय' के लेखों[७] से ज्ञात होता है, साथ ही, यह भी प्रगट होता है कि राजा आमके वंशज १६ वीं सदी तक चित्तौड़में मौजूद थे।

राजा आमका पौत्र और दुन्दुकका पुत्र राजा भोजदेव था। देवगढ़के वि० सं० ९१८ के शिलालेखमें भोज का नाम आता है। 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' (पृ० २) में भोजदेव और सुभद्राका वृत्तान्त पाया जाता है। भोजदेव जैनधर्मानुयायी और बप्पभट्टिसूरिके गुरु-भाई श्रीनन्नसूरिका परमभक्त था। इसने उक्तसूरिजी के पास श्रावकके व्रत लिये और तीर्थयात्रार्थ संघ भी निकाला।

बप्पभट्टिसूरिका जन्म वि० सं० ८०७ में और स्वर्गवास ८९५ में हुआ है। ये तत्कालीन विद्वानोंमें उच्च श्रेणीके माने जाते थे। प्रभावकचरितके उल्लेखानुसार इन्होंने बहुतसे प्रबंध निर्माण किये थे, परन्तु वर्तमानमें इनकी कृतिस्वरूप 'सरस्वतीस्तोत्र' और 'चौवीस जिनस्तवन' ही उपलब्ध हैं।

राजशेखरसूरिके 'प्रबंधकोष' में उल्लेख है कि आम राजाने गोपगिरि (ग्वालियर) वर्ती स्वनिर्मापित वीर प्रभुके मंदिरमें जब नमस्कार किया तब सूरिजीने "शान्तो वेषःशमसुखकला" इत्यादि ११ पद्यात्मक स्तोत्र रचा, जो १५ वीं सदीतक पाया जाता था। लक्षणावतीके नरेश 'धर्मराज' को प्रबोधकर इन्होंने उसे जैन बनाया, और बौद्धवादी 'वर्धनकुंजर' को बादमें परास्त करके धर्मराजकी सभामें 'वादिकुंजर-केशरी'का महापद प्राप्त किया। मथुरामें इन्होंने प्रतिष्ठा भी कराई थी[८]। ये जैनसाहित्यमें 'राजपूजित' कहलाते

६—पूर्णवर्णसुवर्णाष्टादशभारप्रमाणभूः।
श्रीमतो वर्धमानस्य प्रभोरप्रतिमानभूः॥ १३७॥
निरमाप्यथ संप्राप्यागण्यपुण्यभरैर्जनैः।
धार्मिकाणां संचरन्ति प्रतिमा प्रतिमासनम्॥ १३८॥
श्रीबप्पभट्टिरेतस्या निर्ममे निर्ममेश्वरः।
प्रतिष्ठां स प्रतिष्ठासुः परमं पदमात्मनः॥ १३९॥
तथा गोपगिरौ लेप्यमयबिम्बयुतं नृपः।
श्रीवीरमंदिरं तत्र त्रयोविंशतिहस्तकम्॥ —प्रभावकच०

७—इतश्च गोपाहगिरौ गरिष्ठः श्रीबप्पभट्टिप्रतिबोधितश्च।
श्रीआमराजोऽजनि तस्य पत्नी काचिद् बभूव व्यवहारिपुत्री॥८
तत्कुक्षिजाता किल राजकोष्ठागाराह्वगोत्रे सुकृतैकपात्रे।
श्रीओसवंशे विशदे विशाले तस्यान्वयेऽमी पुरुषाः प्रसिद्धाः॥९

८—सित्तुंजे रिसहं, गिरनारे नेमि, भरुअच्छे मुणिसुव्वयं, मोढेरए वीरं, महुराए सुपास-पासे, घडिआदुगब्भंतरे नमित्ता, सोरट्ठे ढुंढणं, विहरित्ता गोवालगिरिम्मि, जो भुंजेइ। तेण आमराजसेविअकमकमलेण सिरि-बप्प-भट्टि-सूरिणा अट्ठ-सय-छव्वीसे (८२६) विक्कमसंवच्छरे श्रीवीरबिंबं महुराए ठाविअं।

हैं; क्योंकि इनकी आयुका विशेषभाग राजाओंके साथ व्यतीत हुआ था। धर्मराजकी सभाके भारतप्रसिद्ध कवि वाक्पतिराजने 'गौडवध' और 'महामहविजय' नामके दो काव्यग्रंथोंका निर्माणकर उक्त सूरिजी और आमराजाको अमर बना दिया है।

आचार्य प्रद्युम्नसूरिने ११ वीं शताब्दीमें ग्वालियरके राजाको अपनी वादशक्तिसे रंजित किया था, और १२ वीं शताब्दीके विद्वान् वादिदेवसूरिने गंगाधर द्विजको ग्वालियरमें पराजित किया था, ऐसा तत्कालीन साहित्यसे ज्ञात होता है।

गुजरातके मध्यकालीन इतिहासमें वीराचार्यका स्थान बहुत ऊँचा है। गुर्जरेश्वर सिद्धराजने एक बार वीराचार्यको उपहासमें कहा—'आपका यह जो महत्व है वह महज राजाश्रयसे ही है, यदि मेरी राजसभाको त्यागकर अन्यत्र चले जाओगे तो दीन-भिक्षुओं सरीखी दशा होगी[९]।' यह सुनकर वीराचार्यने उसी क्षण प्रस्थान कर दिया और वे क्रमशः पाली पहुँचे। यद्यपि राजाने उनको रोकनेकी कोशिश की, मगर वह व्यर्थ हुई। वहाँसे ग्रामानुग्राम विचरते हुए उन्होंने महाबोधपुरमें बौद्धोंपर विजय प्राप्त की, फिर ग्वालियरकी राजसभामें जाकर वाद किया। वहाँ भी विजयलक्ष्मी आप हीको प्राप्त हुई[१०]। स्थानीयनरेशने आपके साथ राज्य-चिन्ह छत्रचामरादि भेजे, किन्तु आपने वापिस कर दिये। यद्यपि उक्त राजाके नाम का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला फिर भी अन्यान्य साधनोंपरसे यह ज्ञात होता है कि उस समय ग्वालियरकी गद्दीपर 'भुवनपाल' नामका राजा था।

'सकलतीर्थस्तोत्र'[११]में ग्वालियरकी गणना तीर्थोंमें की गई है। यह स्तोत्र १३ वीं शताब्दीका बना हुआ है और भौगोलिक दृष्टिसे बहुत कुछ महत्वपूर्ण है।

मलधारि अभयदेवसूरि वीराचार्यके समकालीन अनेक ग्रन्थोंके निर्माता आचार्य थे। ग्वालियरके इतिहासमें इनकी उपेक्षा किसी भी तरह नहीं की जा सकती। क्योंकि जब वहांके राज्याधिकारियों द्वारा भगवान महावीरके मंदिरकी दुर्व्यवस्था होगई थी तब आपने ही स्वयं वहां जाकर राजा भुवनपालको समझाया था और मंदिरकी पुनः सुव्यवस्था करवाई थी, ऐसा मुनिचंद्र-विरचित 'मुनिसुव्रतचरित्र' की प्रशस्तिपरसे ज्ञात होता है[१२]। यह मंदिर वही है जिसे पड़िहारवंशी नागावलोक (आम) राजाने बनवाया था।

ग्वालियरकी जैन मूर्तियां समस्त भारतमें विख्यात है। 'अनेकान्त' की गत किरण नं० ८ में श्री कृष्णानंद गुप्तका जो लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें भी इन मूर्तियोंका कितना ही परिचय दिया गया है। ये कलापूर्ण विशाल मूर्तियां किस राजाके समयमें बनीं ? यह एक प्रश्न है। ग्वालियरके शिलालेखोंसे ज्ञात होता है कि इनमेंसे कई मूर्तियोंका निर्माण तो ग्वालियर-नरेश डूँगरसिंहजीके समयमें हुआ था। सबसे बड़ी मूर्ति ऋषभदेवकी है और वह बावन गजकी है, जिसका उल्लेख वि० सं० १७४८ में शीलविजयजीने और विक्रम संवत १७५०

—विविधतीर्थकल्प (वि० सं० १३८९)

९ राजाह मत्सभां मुक्त्वा भवन्तोऽपि विदेशगाः।
अनाथा इव भिक्षाकाः बाह्यभिक्षाभुजो ननु ॥ ११ ॥
—प्रभावकचरित्रे, वीरप्रबन्धः,

१० महाबोधपुरे बौद्धान् वादे जित्वा बहूनथ।
गोपालगिरिमागच्छन् राज्ञा तत्रापि पूजिताः ॥ ३० ॥
—प्रभावकचरित्रे, वीरप्रबंधः

११ पाटन कैटेलोग ऑफ़ मैन्युस्क्रिप्टस् पृ० १५६

१२ गोपगिरिसिहरसंठियचरमजिणाययणदारमवरुद्धं।
पुनिव दिन्न सासण संसाधणिएहिं चिरकालं ॥ १०० ॥
गंतूण तत्थ भणिऊण भवणपालाभिहाणभूवालं।
अइसयपयत्तेणं मुक्कलयं कारियं जेण ॥ १०१॥

मे सौभाग्यविजयजीने अपनी अपनी तीर्थमाला[13] में किया है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े ही महत्त्वका है।

१५वीं शताब्दीके शिलालेखों[14] से ज्ञात होता है कि उस समय ग्वालियरमें दिगम्बर जैन सम्प्रदायके अनुयायियोंका भी निवास था। ग्वालियरके समीप ही सोनागिरि नामका एक प्राचीन दिगम्बर जैन तीर्थ[15] है। वहाँ भट्टारकोंकी जो गद्दी है वह ग्वालियरकी परम्पराकी बताई जाती है।

ग्वालियरके एक भट्टारकने वि० सं० १५२१ में पउमचरिय[16] लिखवाया था, जो वर्तमानमें पूना राजकीय ग्रन्थसंग्रहमें सुरक्षित है।

भानुचन्द्र चरित्रमें यह उल्लेख मिलता है कि—"ग्वालियरके राजाने एकलाख जिनबिम्ब बनवाये जो मौजूद हैं।" यह कथन ऐतिहासिक लोग शायद ही स्वीकृत करेंगे, क्योंकि न तो वहाँ इतने बिम्ब मिलते हैं और न कोई तत्कालीन लिखित प्रमाण ही उपलब्ध है। क्या ही अच्छा होता यदि उक्त ग्रन्थकारने राजाके नामका निर्देश भी साथमें किया होता। फिर भी अन्यान्य साधनोंपरसे ऐसा ज्ञात होता है कि यह राजा दूसरे कोई न होकर डुंगरसिंहजी ही होने चाहियें। क्योंकि इन्हींके राज्यकालमें कलापूर्ण सुन्दर जैन मूर्तियाँ बनवानेका पुण्य कार्य आरम्भ हुआ था और वह आप हीके पुत्र करणीसिंहजीके समय में पूर्णताको प्राप्त हुआ था। करणीसिंहके समयमें ग्वालियरका राज्य मालवाकी बराबरका था। ग्वालियरके नरेश पहलेसे ही विशेष कलाप्रेमी रहे हैं, जिनमें मानसिंहका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। कवियोंके लिये भी यह नगर मशहूर है।

प्राचीन गुजराती जैनसाहित्यमें ग्वालियरका वर्णन विस्तृत रूपसे उपलब्ध होता है। मुनि कल्याणसागरने अपनी 'पार्श्वनाथतीर्थमाला' में ग्वालियर में भी पार्श्वनाथके एक मन्दिरका उल्लेख किया है। मालूम नहीं वह मन्दिर इस समय मौजूद है या नहीं।

ग्वालियर पुरातनकालसे ही संगीतकलाका भी केन्द्र रहा है, बड़े-बड़े गवैये यहांपर हो गए हैं। संगीत-साहित्यका भी यहां काफी निर्माण हुआ है। अबुलफ़ज़लने आइन-इ-अकबरी में ३६ गायकोंका वर्णन किया है, उनमेंसे १५ ने ग्वालियरमें ही शिक्षा प्राप्त की थी, जिनमें तानसेन सर्वोपरि थे। इन्होंने एक संगीतका ग्रन्थ भी बनाया है, जिससे संगीतप्रेमी वर्गको बहुत सहायता मिली है। आज भी ग्वालियर का संगीतविषयमें वही स्थान है जो पूर्व था। यहांके भैया साहब प्रसिद्ध गायकोंमेंसे थे, और भी अच्छे अच्छे गायक यहांपर मौजूद हैं।

सं०१९५२में सिवनीके बड़े बाबाके मंदिरकी प्रतिष्ठा के लिये भी ग्वालियरके भट्टारक पधारे थे।

इस प्रकार ग्वालियरके विषयमें जैनसाहित्यसे मुझे जितने उल्लेख अभीतक उपलब्ध हुए हैं उन सब का संग्रह यहाँपर संक्षेपमें कर दिया गया है। ऐसा करनेमें यदि कहीं कुछ स्खलना हुई हो तो विज्ञ पाठक मुझे उससे सूचित करनेकी कृपा करें।

---

[13] शीलविजयजी इस प्रकार लिखते हैं—
"बावन गज प्रतिमा दीपती, गढ़ गुआलेरि शोभति"
सौभाग्यविजयजी निम्न प्रकार सूचित करते हैं—
"गढग्वालेर बावनगज प्रतिमा, वंदू ऋषभ रंगरोली जी"

[14] इनमेंसे कतिपय लेख तो बाबू राजेन्द्रलाल मित्रने प्रकाशित कराये थे, जिन्हें फिर स्वर्गीय बाबू पूर्णचंदजी नाहर ने भी अपने लेखसंग्रहमें प्रकाशित किया है। लेखोंमें ग्वालियरके राजा डुंगरसिंहजीका नाम आता है। ग्वालियरके किलेका पूरापरिचय 'प्राचीनजैनस्मारक' मेंभीदिया है।

[15] यह तीर्थ दतियासे करीब पाँच मील है। इसे 'श्रमणगिरि' भी कहते है, ऐसा प्राकृत निर्वाणकांडसे ज्ञात होता है। यहाँसे श्री नंग और अनंगकुमारादि मोक्ष गए हैं।

[16] पुष्पिका इस प्रकार है—"संवत् १५२१ वर्षे ज्येष्ठमासे सुदि १०बुधवारे। श्रीगोपाचलदुर्गे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे श(स)रस्व(स्व)तीगच्छे। श्रीनंदिसंघे। भट्टारकश्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारकश्रीप्रभाचंद्रदेवा। तत्पट्टे शुभचन्द्रदेवा। तत्पट्टे श्रीजिनचन्द्रदेवा। तत्र श्रीपद्मनन्दिशिष्य श्रीमदनकीर्तिदेवा। तत्सि(शि)ष्य श्रीनेत्रानन्दिदेवा। तन्निमित्ते खंडेलवालान्वय लुहाडियागोत्रे सं० गही भामा तत्भार्या धनश्री तयोः पुत्रौ सं इल्हा बीजा तत्र सं० ईल्हा भार्या साध्वी सपीरी तयोः पुत्राः सं० बोहिथ भरहा। सं.ईस्व(श्व)रपुत्री सूवा॥ एतैर्निजज्ञान्या(ज्ञाना)वरणीय कर्मक्षयार्थं इदं पुस्तकं लिखापितं ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः। अन्न॥

अनेकान्त और अहिंसा

(ले०—श्री पं० सुखलालजी जैन)

अनेकान्त और अहिंसा इन दो मुद्दाओंकी चर्चाके ऊपर ही सम्पूर्ण जैनसाहित्यका आधार है। जैन आचार और सम्प्रदायकी विशेषता इन दो बातोंमें ही बताई जा सकती है। सत्य वास्तवमें तो एक ही होता है परन्तु मनुष्यकी दृष्टि उसे एकरूपसे ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिये सत्य-दर्शनके वास्ते मनुष्यको अपनी दृष्टि-मर्यादा विकसित करनी चाहिए। उसमें सत्यग्रहणकी सम्भवित रीतियोंको स्थान देना चाहिये। इस उदात्त और विशाल भावनामेंसे ही अनेकान्त-विचार-सरणीका जन्म हुआ है। यह सरणी कोई वाद-विवादमें जय प्राप्त करनेके लिए, वितंडावादकी लड़ाई लड़नेके लिए अथवा छलका दाव-पेंच खेलनेके वास्ते योजित नहीं हुई। यह तो जीवन-शोधनके एक भागरूपमें, विवेकशक्तिको विकसित करने और सत्यदर्शनकी दिशामें आगे बढ़नेके लिए योजित हुई है। इससे अनेकान्त-विचार-सरणीका ठीक अर्थ है—सत्यदर्शनको लक्ष्यमें रखकर उसके अधिक अंशों और भागोंको विशाल मानस-मंडलमें भले प्रकार स्थान देना।

× × ×

अनेकान्त-विचारकी रक्षा और वृद्धिके प्रश्नमेंसे ही अहिंसाका प्रश्न उत्पन्न होता है। जैन अहिंसा मात्र चुप-चाप बैठे रहनेमें या उद्योग-धंदा छोड़ देनेमें अथवा मात्र काष्ठ-जैसी निश्चेष्ट स्थिति साधनेमें नहीं समाती। बल्कि यह अहिंसा सच्चे आत्मिक बलकी अपेक्षा रखती है। कोई विकार उत्पन्न हुआ हो या कोई वासना जागृत हुई हो या कोई संकुचितता मनमें प्रज्वलित हुई हो तो उस समय जैन अहिंसा यह कहती है कि—तू इन विकारों, इन वासनाओं, इन संकुचितताओंसे व्याहृत मत हो! हार मत मान! दब मत! तू इनके सामने युद्ध कर! इन विरोधी बलोंको जीत ले! इस आध्यात्मिक जयके लिए किया गया प्रयत्न ही मुख्यतया जैन अहिंसा है। इसको संयम कहो, तप कहो, ध्यान कहो या कोई भी और वैसा आध्यात्मिक नाम दो, परन्तु वस्तुत: यह अहिंसा ही है।

× × ×

जैन दर्शन कहता है कि अहिंसा मात्र आचार नहीं बल्कि वह शुद्ध विचारके परिपाकरूपमें अवतरित हुआ जीवनोत्कर्षक आचार है। ऐसी अहिंसाके सूक्ष्म और वास्तविक रूपमेंसे कोई भी बाह्य आचार जन्मा हो अथवा इस सूक्ष्म रूपकी दृष्टिके लिए कोई भी आचार निर्मापित हुआ हो, उसे जैन तत्वज्ञानमें अहिंसा जैसा स्थान प्राप्त है; इसके विपरीत प्रकट दिखाई देता अहिंसामय चाहे जैसा आचार या व्यवहार क्यों न हो, उसके मूलमें यदि ऊपरका तत्व सम्बन्ध नहीं रखता तो वह आचार और वह व्यवहार जैन-दृष्टिसे अहिंसा है या अहिंसा-पोषक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

(गुजराती पत्र "जैन" से अनुवादित)

'बनारसी-नाममाला' का संशोधन

'अनेकान्त' की गत किरणमें जो 'बनारसी नाममाला' प्रकाशित की गई है उसके छपनेमें शीघ्रतादि-वश कुछ अशुद्धियाँ होगई हैं, पाठक उन्हें निम्न प्रकारसे सुधार लेवें :—

दोहा नं०	अशुद्ध	शुद्ध
१३	बानरिपु	बाणरिपु
१७	इंदरा	इंदिरा
१८	कुसली	मुसली
१९	सोमवंसराजान	सोमवंशि राजान
२९	कंद	कुंद
२९	कखपदमकर	कच्छप मकर
३९	घामनिधि	धामनिधि
४२	हरिराजा	हरि राजा
४३	भानि	भं
४५	महधाम	मह धाम
४५	किरनि	किरन
४७	बडवा	बाडव
६२	सेठ	सेठि
६२	गाडा(था)धिपति	गाहाधिपति
६९	अधोभवन	अधोभुवन
६९	कुहिर	कुहर
७०	फनि	फन
७३	अंध	अंघ
७३	दहकृत	दुष्कृत
८०	सखित्त	सुमित्त
८२	भ्रात्रिजानि	भातृजानि
८२	बंधु सहोदरजात	वीर सहोदर भ्रात
८२	वीर सु-बंधवभ्रात	बंधु सुबंधव जात
८८	अनुज	अनुग
९०	चारुचर	चार चर
९३	उपघन	अपघन
९६	सवद	सबद
१००	वैनि	वेनि
१०८	चंदनजावक	वंदन जावक
१०९	जेहरि	जेहर
११९	सुलील	सु-शील
१३२	पद सिंहासन पीठ	सिंहासन पदपीठ
१३६	गोमुख	गोपुर
१३७	अंकुल	अंकुश
१३८	सिरवंधन	सिर वंदन
१३८	पान	पानि
१४२	कंचुकि	कंचुक
१५१	हरिधिप	द्वीपी
१५२	मातंगधिप	मातंग द्विप
१५४	सारन	सारँग
१५५	सिव	वृष
१६१	चाखसु	चाष सु
१६५	बि बि	दु बि

—प्रकाशक

मृग-पक्षि-शास्त्र

काशीर सिद्धान्तमें श्री "एम फिनार्च क्रोडा" लिखते हैं :—

जुआलोजी (Zoology) अर्थात् 'जन्तु-विज्ञान' की उन्नति पाश्चात्य देशोंमें १८ अठारहवीं शताब्दीसे हुई है, परन्तु भारतमें प्राचीन कालसे इसका पता लगता है। आयुर्वेदके सम्बन्धमें पशु-पक्षियोंकी शरीर-रचना, उनके स्वभाव, उनके रोगों तथा उनकी चिकित्सापर बहुत कुछ लिखा गया है। अग्निपुराणमें 'गवायुर्वेद', 'गजचिकित्सा', 'अश्व-चिकित्सा' आदि प्रकरण आये हैं। श्री पालकाप्य विरचित 'हस्ति आयुर्वेद' भी एक प्राचीन ग्रन्थ है। श्री नालकण्ठकृत 'मातङ्गलीला', में हाथियोंके लक्षण बड़े अच्छे ढगसे बतलाये गए हैं। श्री जयदेवने 'अश्ववैद्यकम्' लिखा है। कूर्माचल (कुमाऊँ) के राजा श्रीरुद्रदेवका एक ग्रन्थ 'श्यैनिकशास्त्र' है। इसमें 'श्यैनिक' अर्थात् शिकरा या बाज़ द्वारा शिकार करनेकी विधि बतलाई गई है। इसी प्रसंगमें श्येनों का पूरा विवरण दिया गया है।

परन्तु इस विषयपर ईस्वी सन की १३ वीं शताब्दीमें लिखी हुई एक बड़ी सुन्दर पुस्तक है। जिसका नाम 'मृग-पक्षि शास्त्र' है। इसके लेखक है एक जैनकवि श्री हंसदेव। इस पुस्तक में १७०० अनुष्टुप् श्लोक है। इसकी हस्तलिखित प्रतिका पता पहले-पहल मदरासके 'एपीग्रैफिस्ट' श्री विजयराघ-वाचार्यको लगा, जिन्होंने उसे ट्रावन्कोरके राजाको भेंट किया। उसकी एक प्रतिलिपिको डाक्टर के०सी० वुड अमरीका ले गये। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डाक्टर ओटो श्रेडर, जो अदयारमें काम करते थे, इसे जर्मन तथा अंग्रेज़ी अनुवादके साथ प्रकाशित करना चाहते थे। परन्तु गत महायुद्धमें उनके नज़रबन्द होजानेसे यह काम पूरा न हो सका। अन्ततः देवनागरी लिपि में यह पुस्तक १९२५ के लगभग प्रकाशित हुई, जिस का श्री सुन्दराचार्यजीने अंग्रेज़ीमें अनुवाद किया। सन् १९२७ में यह अनुवाद कालहस्तीमें प्रकाशित हुआ। खेद है संस्कृतका मूलग्रन्थ हमें देखनेको नहीं मिला, अंग्रेज़ी अनुवादसे ही उसका परिचय यहाँ दिया जारहा है।

जिनपुरके कोई क्षत्रिय राजा शौदेव थे। एक बार वह घोड़ेपर चढ़कर सब साज सामान सहित जंगलमें शिकारके लिये गए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने आदमियोंको ढोल पीटकर पशुओंको बाहर निकालनेके लिये कहा। उछलते कूदते जब पशु झाड़ियोंसे, कन्दराओंसे बाहर निकल आये तब उनकी सुन्दरता देखकर वे मुग्ध रह गये। व्याघ्र, चीता, मृग, भालू, जंगली भैंस, शुक, हंस आदिको देखकर वे विचार करने लगे कि यदि इन सबको वध कर डाला जायेगा तो वनोंकी शोभा ही नष्ट हो जायेगी और मृग-पक्षि-शास्त्र ही लोप हो जायगा। दूसरे दिन दरबारमें आकर उन्होंने सब पण्डितों तथा विद्वानोंको बुलाया और पशुपक्षियोंका वर्णन करनेके लिये कहा। तब उनके मंत्री श्री नागचन्द्रने प्रसिद्ध कवि श्रीहंसदेवका राजासे परिचय कराया और एक ऐसे ग्रन्थकी रचनाका भार उन्हें सौंपा।

इस पुस्तकमें प्रधान पशुपक्षियोंके ३६ वर्ग किये गए हैं, जिनमें उनके रूप, रंग प्रकार, स्वभाव, किशोरावस्था, सम्भोग-समय, गर्भकाल, भोजन, आयु तथा अन्य विशेषताओंका वर्णन किया गया है। विद्वान् लेखकके मतानुसार सत्त्वगुण मनुष्यों ही में पाया जाता है, पशुपक्षियोंमें रजोगुण तथा तमो-गुण ही अधिक पाया जाता है। इसके भी उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन भेद हैं। सिंह, हाथी, घोड़ा, गाय, बैल, हंस, सारस, कोयल, कबूतर आदि उत्तम राजस हैं। चीता, बकरा, मृग, बाज आदिमें मध्यम और भालू, भैंस, गैंडा आदिमें अधम है। इसी तरह ऊँट, भेड़िया, कुत्ता, कुक्कुट (मुर्गा) आदि में उत्तम

तामस, गीध, उल्लू, तीतर आदि में मध्यम और गधा, सूअर, बन्दर, स्यार, बिल्ली, चूहे, कव्वे आदिमें अधम तामस है। हाथी की अधिक से अधिक आयु १००, गैंडा की २२, ऊँटकी ३०, घोड़े की २५, सिंह, भैंस, बैल गाय आदिकी २०, चीता की १६, गधेकी १२, बन्दर, कुत्ता, सूअर आदिकी १० और बकरेकी ९, हंसकी ७, मोरकी ६, कबूतरकी ३ और चूहे तथा खरगोशकी आयु १॥ डेढ़ वर्षकी होती है। जुआलोजीके पाश्चात्य विद्वानोंने भी पशुपक्षियोंकी आयुके सम्बन्धमें इतना विचार नहीं किया है।

इस पुस्तकमेंमें यहाँ कुछ पशुपक्षियोंका रोचक वर्णन दिया जारहा है। सिंह, मृगेन्द्र, पञ्चास्य, हर्यक्ष, केसरी तथा हरि ये शेरों के ६ भेद हैं। इनके रूप रंग आकार प्रकार तथा काममें कुछ भिन्नता होती है। उनमें कुछ घने जंगलोंमें और कुछ पहाड़ों पर रहते हैं। उनमें बल स्वाभाविक होता है। जब उनकी आयु ६ या ७ वर्ष की होती है, तब वर्षा ऋतुमें उन्हें काम बहुत सताता है। वे मादाको देख कर उसका शरीर चाटते हैं, पूँछ हिलाते हैं और कूद कूदकर बड़े जोरोंसे गरजते हैं। सम्भोगका समय प्रायः आधी रात होता है। गर्भावस्थामें कुछ काल नर मादाके साथ ही घूमा करता है। भूख कम पड़ जाती है। शिकारका मन नहीं होता और कुछ *शिथिलता* आजाती है। ९ से १२ महीनेके बाद उससे पाँच तक बच्चे पैदा होते हैं। प्रायः वसन्त का अन्त या ग्रीष्मका आरम्भ प्रसवकाल होता है। यदि शरद ऋतुमें बच्चे पैदा होंगे तो वे कमजोर होंगे। पहले वे माताका दूध ही पीते हैं, तीन या चार महीनेके होनेपर वे गरजने लगते और शिकारके पीछे दौड़ने लगते हैं। चिकने और कोमल मांसकी ओर उनकी रुचि अधिक होती है। दूसरे तीसरे सालसे उनकी किशोरावस्थाका प्रारम्भ होजाता है। इस समयसे उनमें क्रोधकी मात्रा बढ़ने लगती है। भूख उनसे सहन नहीं होती, भय तो वे जानते ही नहीं। इसी लिये वे पशुओंके राजा माने जाते हैं।

इस साधारण वर्णनके बाद उनके ६ भेदोंमेंसे प्रत्येककी विशेषताएँ बतलाई गई हैं। सिंहके गर्दनके बाल बड़े घने होते हैं, रंग सुनहला पर पीछेकी ओर कुछ सफेद होता है। वे तीरकी तरह तेज़ दौड़ते हैं। मृगेन्द्रकी गति मन्द और गम्भीर होती है। इनकी आँखें सुनहली और मूँछें बड़ी बड़ी होती हैं, रंगमें उनके शरीरपर कई प्रकारके चकत्ते होते हैं। पञ्चास्य उछलते चलते हैं, उनकी जिह्वा बाहर लटकती रहती है। उन्हें नींद बहुत आती है, हर समय वे ऊँघते से जान पड़ते हैं। हर्यक्षको हर समय पसीना आता रहता है। केसरीका रंग लाल होता है, जिसमें धारियां पड़ी होती हैं। हरिका शरीर छोटा होता है। इसी तरह अन्य अन्य पशुओंका वर्णन किया गया है। और हाथी, घोड़े, गाय, बैल, बकरे, गधे, कुत्ते, बिल्ली, चूहे आदिके कितने ही प्रकारके भेद और उनकी विशेषताएँ बतलाई गई हैं। अन्तमें लिखा गया है कि पशुओंको पालने और उनकी रक्षा करने से बड़ा पुण्य होता है। वे मनुष्यकी बराबर सहायता करते रहते हैं, गौकी रक्षामें तो विशेष पुण्य प्राप्त होता है।

पुस्तकके दूसरे भागमें पक्षियोंका वर्णन है। उसके पहिले बतलाया गया है कि अपने कर्मानुसार प्राणीको अण्डज योनि प्राप्त होती है। पक्षी बड़े चतुर होते हैं। अण्डोंको कब फोड़ना चाहिये उसका उनमें *ज्ञान देखकर आश्चर्य होता है।* वे वनों और घरोंकी शोभा हैं। पशुओंकी तरह वे भी कई प्रकारसे मनुष्यकी सहायता करते हैं। हमारे ऋषियोंने लिखा है कि जो पक्षियोंको प्रेमसे नहीं पालते और उनकी रक्षा नहीं करते, वे पृथ्वीपर रहनेके अयोग्य हैं। इसके बाद हंस, चक्रवाक, सारस, गरुड़, काक, बक, शुक, मयूर, कपोत आदिके कई प्रकारके भेदोंका बड़ा सुन्दर और रोचक वर्णन है। परन्तु लेख विस्तारके भयसे छोड़ना पड़ रहा है। कुल मिलाकर उसमें लगभग २२५ पशुपक्षियोंका वर्णन है।

[अक्तूबर १९४१ की 'सरस्वती' से उद्धृत]

दस्सा-बीसा-भेदका प्राचीनत्व

(ले०—अगरचन्द नाहटा,)
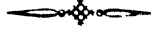
जैन एवं जैनेतर जातियों* में दस्सा, बीसाका भेद सैकड़ों वर्षों से चला आरहा है, पर यह भेद कब और किस कारणसे हुआ, इसका अभीतक निश्चय नहीं हो पाया। कारण है समाकालीन प्रमाणोंका अभाव। इधर करीब ३००–४०० वर्षोंसे एक प्रवाद भी प्रसिद्ध हो चला है कि वस्तुपाल, तेजपाल विधवाके पुत्र थे और उनके कारण ही इस भेदकी सृष्टि हुई है। कथा यों बताई जाती है कि एक बार जाति-भोजके समय उनके विधवा-पुत्र होनेकी बात पर चर्चा छिड़ी फलत: जो व्यक्ति उनके पक्षमें रहे इन्हें विरुद्धी पार्टीने 'दस्सा' नामसे सम्बोधित किया, जिन्होंने उनके साथ व्यवहार किया वे बीसा कहलाये, पर विचार करने पर यह कारण समीचीन प्रतीत नहीं होता।

मंत्रीवर वस्तुपाल तेजपालके सम्बन्धमें समाकालीन बहुतसी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। इनके पिताने कुमार-देवी नामक एक विधवा स्त्रीको अपनी पत्नी बनाया था और उसीकी कुक्षिसे वस्तुपाल व तेजपालका जन्म हुआ था, इस का सबसे प्राचीन प्रमाण सं० १३६१ में रचित 'प्रबंध चिंतामणि' ग्रन्थ है। पर इस ग्रन्थमें तथा इसके १५० वर्ष पीछेके रचित अन्य किसी ग्रन्थमें भी दस्सा बीसा भेद इनके कारण हुआ ऐसा निर्देश नहीं है। अर्थात् घटनाके करीब ३५० वर्ष तकका एक भी प्रमाण इस प्रवादके पक्ष-समर्थनका उपलब्ध नहीं है, फिर भी आश्चर्य है कि पिछले प्रमाणों पर निर्भर करके सभी विद्वानों† ने यही कारण निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया है। उक्त कारणके समर्थनमें मुनि ज्ञानसुन्दरजीने निम्न प्रमाण अपने 'संगठनका डायनामा' नामक ट्रैक्टमें बतलाये हैं:—

१ सं० १५०३, उपकेशगच्छीय पद्मप्रभोपाध्यायकी पट्टावली

२ सं० १५७८, सौभाग्यनंदि सूरि-रचित विमलचरित्र

३ सं० १६८१, देवसुन्दरोपाध्याय-रचित वस्तुपाल-तेजपाल-रास

४ सं० १७२१, मेरुविजय रचित वस्तुपाल-तेजपालरास

५ कन्हड़देरास, ६ ब्राह्मणोत्पत्ति मार्तण्ड

७ सं० १८८१, सोहमकुलपट्टावली, ८ सन १९१५ के जै० श्वे० का० हेरल्डमे प्रकाशित पट्टावली, ९ अन्य पट्टावलियां।

इनमसे नं० १ व ३ प्रमाण तो अद्यावधि प्रकाशमें नहीं आये हैं, अत: उनमें क्या लिखा है? यह अज्ञात है। नं० २ प्रमाणमें मुनिजी लिखित लघु-वृद्ध-शाखाकी उत्पत्ति वस्तुपाल तेजपालसे लिखी है यह बात है ही नहीं। उसमें तो इस भेदका कारण दूसरा ही बतलाया है और उसमे इस जातिभेदका समय बहुत पहलेका निश्चित होता है। यथा—

> द्वादशाब्दनदुर्भिक्षे, सर्वे पिशितभोजिन:।
> अभूवंस्ते सुभिक्षेऽपि, तन्न मुञ्चन्ति भक्षणे ॥ ५५ ॥
> सम्भूय साधुभिर्विप्रैरप्यागमवचश्चयै:।
> बोधिता न निवर्तन्ते ततरा रसलोभत: (लोलुप:)॥५६
> परस्परं वितन्वंति विचारमिति केवलम्।
> एवं प्रकुर्वतामेषा पूर्ववच्चैकवर्णता ॥ ५७ ॥
> व्यवस्था क्रियते तस्माद्, तद्दोषनिवृत्तये।
> अस्माभि: सर्वलोकानां, समक्षमिति सादरम् ॥५८॥
> तथाहि:-ये पुमांसो न कुर्वन्ति, रण्डादिस्त्रीपरिग्रहम्।
> मद्यमांसाशनं चापि, तस्मात्पंक्तिमध्यगा: ॥ ५९ ॥
> रण्डादिसंग्रहं ये तु मद्यमांसादिभोजनम्।
> वितन्वन्त्यतिनिर्लज्जा अपंक्त्या: सदैव ते ॥ ६० ॥
> प्राग्वाटाद्या विशति, विंशोपिका ज्ञातयो भवन यस्मात्।

---

*ओसवाल, श्रीमाल, पोरवाड़, हुंबड, परवार आदि। दस्साबीसा के पर्यायवाची नाम लघु-वृद्ध-शाखा भी हैं।

†श्रीमाली जातिनो वणिकभेद, जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (पृ०३६०) के लेखक, पं० नाथूरामजी प्रेमी, मुनि ज्ञानसुन्दर जी आदि।

दश ते स्त्रीसंग्रहे मद्यादिनिवृत्तितो दश वै ॥ ६१ ॥
उभयगुणारोपणतो, विशोपका विशतिस्फारतेषाम् ।
एकतरगोरापणतस्तदर्धमेषामनाचारे ॥ ६२ ॥

× × ×

व्यवस्थामिति ये भार्या लोपयन्ति अतः परम् ।
एतास्ते लघुशाखाया, वृद्धशाखीयपङ्क्तिः ॥ ६४ ॥

अर्थात्—द्वादशवर्षीय दुष्कालके समय कई लोग मद्यमाँसादि अभक्ष करने लगे, दुःकालके निवर्त्तनके बाद समझाने पर भी जब उन्होंने वह अयोग्य व्यवहार न छोड़ा तो सबने मिल कर यह व्यवस्था की, कि जो विधवादिसे संसर्ग करेंगें एवं खानपानकी शुद्धि नहीं रखेंगे वे दसे कहलायगें, अवशेष बीसे।

इसमें वस्तुपाल–तेजपालके कारण दसा-बीसा भेद हुआ ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है, फिर भी ग्रन्थको देखे बिना नहीं मालूम मुनि ज्ञानसुन्दरजी + ने यह बात मनघडंत कैसे लिख डाली? इसी प्रकार ब्राह्मणोत्पत्तिमार्तण्डमें भी वस्तुपाल–तेजपालका नाम नहीं है। कन्हडदेरास अभी तक मेरे अवलोकनमें नहीं आया, अवशेष सभी प्रमाण १८ वीं १६ वीं शताब्दीके हैं अर्थात् घटनाके ४५०–५०० वर्ष पीछेके हैं। अतः केवल उन्हींके आधारसे, जबकि अन्य प्राचीन प्रमाणसे वह प्रवाद अप्रमाणिक ठहरता है, कोई निश्चय नहीं हो सकता है।

मनिजीके अन्वेषणमें दसाबीसा भेदका उल्लेख सबसे प्राचीन सं० १४६५ के लेखमें मिला है, पर मेरे अवलोकनमें इससे पहलेकी सं० १३८८ की एक प्रशस्तिमें भी "ओशवालवंशा" विशेषण आया है। दसा-बीसा भेदके प्राचीनत्वको सिद्ध करने वाला प्राचीन प्रमाण है खरतर जिनपतिसूरि रचित सामाचारी। उक्त सामाचारीकी रचना सं० १२२३ से १२७७ के बीचमें जिनपतिसूरिजीने की थी। वे सं० १२७७ में स्वर्गवासी हुए। अतः इससे पहलेकी होना निश्चित ही है। सामाचारीमें आचार्य उपाध्यायपदादि किस जाति वालोंको दिया जाय इसका निर्देश इन शब्दोंमें किया है:—

"वीसओ सिरिमाल ओसवाल-पोरुआड-कुलसंभूओ चेव आयरिओ ठ विज्जइ उवज्झाओ वि तहेव पु न उ (प्र ?) ण दसा जातिओ, सहु तीयाण ठा विज्जइ वायणा गुरु जो वा सोवा ठाविज्जइ महत्तरा सिरिमाला चेव ठाविज्जइ ॥ ६६ ॥

अर्थात्—आचार्य एवं उपाध्याय पदपर बीसा श्रीमाल, ओसवाल, पोरवाड़ ज्ञाति वालेको स्थापित करना चाहिये, दसा जाति वालोंको नहीं। इत्यादि।

इस प्रमाणसे वस्तुपाल तेजपालसे दसाबीसा भेद हुआ यह बात विचारणीय हो जाती है। जिन पिछले प्रमाणोंमें उस बातका उल्लेख है उनमें इस घटनाका समय सं० १२७५ के बादका बतलाया है। यदि उक्त प्रवाद + की घटना सं० १२७५ के बादमें हुई तो उससे पूर्वकी या उसी समय की रचित "सामाचारी" में दसा बीसा भेदका आचार्य पदादिके प्रसंगमें उल्लेख होना संभवपरक नहीं ज्ञात होता। विमलचरित्रके उपर्युक्त उद्धरणोंसे भी दसा बीसा भेदके प्राचीनत्वकी ही पुष्टि होती है। अतः मेरे नम्र मतानुसार आधुनिक विद्वानोंका मत विशेष प्राचीन प्रमाणोंकी अपेक्षा रखता है। आशा है विशेषज्ञ विद्वान इस समस्या पर विशेष प्रकाश डालेंगे।

मुनि श्रीका यह अनुमान "सं० १३६१ तक लघुशाखा वृद्ध शेषने पृ० ६ में—शाखा तथा दसा बीसाका नाम संस्करण भी नहीं हुआ है" गलत है।

संगठनके डायनामेके पृ० २२ में "इस शाखाभेदसे जैनाचार्य भी वंचित नहीं रहे" लिखकर लघु-वृद्धपौशालिक का उदाहरण दिया है पर वह सर्वथा गलत है। लघुवृद्ध पौशालिकका उस भेदसे न तो कोई सम्बन्ध ही है, न वे विशेषण हीनता-उच्चताके द्योतक ही हैं।

+ संगठनके डायनामेमें आपने इस विषयके जो उद्धरण दिये हैं प्रायः वे सभी "श्रीमाली जाति नो वणिक भेद" पुस्तक से लिये गये हैं, फिर भी उक्त ग्रन्थका कहीं नामनिर्देश तक नहीं किया गया।

+ प्रवादको सत्य माननेमें यह भी आपत्ति आती है कि वस्तुपाल तेजपालके कारण दसा-बीसाका भेद, स्थानीय पोरवाड़ जाति या अधिकसे अधिक श्वेताम्बर समाजमें ही वह भेद पड़ सकता था। पर जब हम दसा बीसाका भेद हुंबडादि दिगम्बर व ब्राह्मणादि जैनेतर जातियोंमें भी पाते हैं तब उक्त प्रवादकी सत्यतामें सहज संदेह हो जाता है।

जल्लाद

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

(१)

पारस-संयोगसे लोहा स्वर्ण कैसे बन जाता है, यह उसके व्यक्तित्वसे जाना जा सकता था ! वह हिंसा-कर्ममें रत रहनेवाला—एक वधिक था, जल्लाद था ! राजाज्ञा-द्वारा अपराधियोंको प्राण-दण्ड देना, उसका पेशा था ! रोटियोंका सवाल वह इसीके द्वारा हल किया करता था। वह पतित था, अछूत था,—जन्मसे और कर्मसे भी !

काला—कोवरे-सा, कोयले-सा, काजल-सा, भ्रमर-सा, कोयल-सा—शरीर ! बाल भी ऐसे ही ! शायद शरीरकी अधीनता अच्छी तरह निभती चली जाए, यही सोचकर तद्रूप बने हुए थे। बड़ी-बड़ी सुर्ख आंखें, चौड़ी नाक और मोटे-मोटे ओठोंके भीतर बदबूदार लम्बे-लम्बे दाँत ! ठिगना क़द और राक्षस-की तरह—अगर आप कल्पना कर सकते हैं तो—गठी हुई देह ! ऐसा था—वह ! कोई देखता तो भयानक-रसकी साक्षात् मूर्ति कहे बिना न रहता, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है।

पर, बसे ऐसा होना ही चाहिए—क्योंकि वह जो जल्लाद है ! उसके नामकी सार्थकता—उसके शरीर, हृदय, कर्म सभीपर तो निर्भर है !

हाँ, तो वह एक दिन वनमें गया ! देखा—एक साधु कुछ भक्तोंके बीच बैठे उपदेश दे रहे हैं ! एक सरसरी नज़र डालता हुआ वह आगे बढ़ा, बढ़ भी गया दो-चार क़दम कि योगिराजने उसे रोका।

वह एक ओर बैठ गया—सनम्र !

बोले—'सबने व्रत-नेम लिये हैं, कुछ तुम भी लो।'

'मैं···? महाराज, मैं ? मैं अछूत हूँ ! जल्लाद हूँ ! मेरा रोज़गार है हत्या करना ! मैं भला व्रत-धर्म क्या कर सकता हूँ ? वह तो ऊँची-जात उच्च-कुल वालों के लिए होते हैं।'

'नहीं, भूलते हो तुम ! धर्माचरणका अधिकार सबको समान है। इसमें छूत और अछूतका भेद नहीं। सब, अपनी-अपनी श्रेणी और योग्यता-नुसार व्रत-नियम ले सकते हैं ! अरे धर्मके द्वारा ही तो मनुष्य पतितसे पावन बनता है—भोले भाई !

जल्लाद चुप रहा, कुछ देर !

'लेकिन स्वामीजी ! मैं व्रतको निभा कैसे सकूँगा ? राज्य-आज्ञाकी अवहेलना तो नहीं की जा सकेगी, न ? ···'

'ठीक ! किन्तु करने वाले व्यक्तिसे क्या कुछ छूटा है—आज तक ? अनन्त-शक्तिका मालिक मनुष्य ही तो एक दिन परमात्मा कहलाता है न ? और जब करना विचारा, तब राजा तो चीज क्या, दैवी-बाधाएँ भी कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। करने वाला सब कुछ कर गुज़रता है।

साधु-संगतिका प्रभाव उस पतित-हृदयपर भी पड़े बग़ैर न रह सका। जब वह घर लौटा, तो एक कल्याणकारी-प्रतिज्ञा उसके साथ थी, कि—'चतु-र्दशीके दिन किसीका बध न करना !'

सोचता जा रहा था, वह—'प्राण देकर भी अब

इस प्रतिज्ञाका पालन करना मेरा कर्तव्य है। सिर्फ एक दिनकी ही तो बात है। न, सही एक दिन। और भी तो ढेरों दिन बाक़ी बचते हैं, वे क्या पेशेको बरक़रार-क़ायम रखनेके लिए काफ़ी नहीं?... ऊँह! व्यर्थका ऊहापोह!'

× × ×

(२)

कुछ दिन बाद!—

'अगर मैं ऐसा नहीं करता, तो शासकके उच्चतम पदसे गिरता हूँ। अपराधीको सजा न देना, इन्साफ़की हत्या करना है, न्यायका गला घोटना है।'—सम्राटने गम्भीरतापूर्वक व्यक्त किया।

'सही है—महाराज! न्याय करना ही कर्तव्य और गुण होता है। लेकिन पिताके हृदयसे यह सोचना भी आपका फ़र्ज़ है, कि अपराधी साधारण नागरिक नहीं, आपका पुत्र है! पुत्रके लिए, पिताके हृदयमें कुछ ममता होती है, इसलिए कि उसे होना ही चाहिए।'—सचिवने अपराधी राज-पुत्रकी ओर दृष्टिपात करते हुए कहा।

'हाँ! यह मैं मानता हूँ। इसमें इनकार नहीं, कि पिता-पुत्रका सम्बन्ध हार्दिक होता है। लेकिन—दिक्क़त है कि क़ानून पिता-पुत्रके नाते-रिश्तेसे दूर है। वह उन्हें छूता तक नहीं! मैं इस समय न्यायके सिंहासनपर बैठा हूँ—न्याय न करना मेरा पतन है, पक्षपात है, सिंहासनके साथ दुश्मनी है और है शासकके पदका अपमान! मैं जब तक यहाँ हूँ—पहिले शासक हूँ, पीछे और कुछ! अपराधके मुताबिक़ प्राण-दण्ड देना यहां मेरा फ़र्ज़ है। और अन्तःपुरमें पुत्र-शोकमें, रोना-विलाप करना, मेरा कर्तव्य!' सम्राटने ममता-हीन स्वरमें उत्तर दिया।

'परन्तु महाराज!...'

'कहो, क्या कहना शेष है?'

'राज्यका उत्तराधिकारी जब फांसी पर झूलेगा, तब कौन-सी निष्ठुर-आँखें खुली रह सकेंगी—जहाँपनाह!'

'सचिव! मुझे अनीतिके पथपर न ले जाओ। इससे तुम्हारा दायित्व नष्ट होता है। तुम स्वयं जानते हो—दण्ड अपराधको देखता है, अपराधीकी विशेषताको नहीं। मैं 'अन्यायी' बनकर 'पिता' कहलाना पसन्द नहीं करता। मेरा आख़िरी हुक्म है—अपराधीको प्राण-दण्ड दिया जाय!'

और सभा बर्ख़ास्त हुई।

क्या इसी हिन्दुस्थानमें ऐसे न्यायी-शासक शासन कर गए हैं, जो न्यायकी वेदीपर अपने हृदयके टुकड़े—बेटे—की आहुति दे सकते थे?...

कहो—'हाँ!'

× × ×

(३)

चतुर्दशी, प्रतिज्ञाका दिन—

वह बैठा था, झोंपड़ीके बाहर चबूतरेपर! कि उसने देखा—राज-कर्मचारियोंके बन्धनमें एक सुन्दराकार अपराधी चला आरहा है।...

'अरे, आज तो उसकी प्रतिज्ञाका दिन है न? यह कैसी बला आई? अब क्या करना चाहिये—उसे?'

वह चकराया!

क्षण-भर रुका।

फिर उठा! आवश्यकता ही तो आविष्कारकी जननी है न? उसे भी युक्ति सूझ चुकी थी। घरके भीतर पहुँच, स्त्रीसे बोला—'सुन, आज मैं बधके

लिये न जाऊँगा, तुझे तो बताना ही क्या, कि आज मेरा व्रतका दिन है। बाहरसे राजकर्मचारी आरहे हैं, कह देना कि 'वह आज हैं नहीं, बाहर गये हैं!'—समझी?—और मैं कोठेमें छिपा जा रहा हूँ!'

'ठीक है।'—स्त्रीने उत्तर दिया।

वह कोठेमें जा छिपा।

मिनिट-भर बीता, कि सिपाहियोंका जत्था आ पहुँचा।

'···कहाँ गया?'

'वे, आज हैं नहीं, बाहर गए हैं।'

'अरे···! आजही उसे बाहर जाना था! आज जो होता तो हज़ारोंका माल हाथ न लगता?'—जत्थेके अधिनायकने राजकुमारके आभूषणोंकी ओर संकेत करते हुए कहा।

'यह तो ठीक है!'—स्त्री-हृदयमें एक संघर्ष छिड़ा—'कैसा अतुल अवसर है, हज़ारोंका माल! हार-कुण्डल, कड़े, बाजूबन्द कितनीही चीजें तो पहिने है—यह! और कपड़े भी तो देखो, कितने क़ीमती हैं? क्या करूँ? ऐसा मौक़ा बार-बार तो मिलता नहीं! फिर, यही तो अपना धन्धा है—अपराधीका कुल सामान! चाहे, पाँचका हो या पचासका! आज इतना धन···! क्या यों ही छोड़ दिया जाय?'

'तू तो बहुत दिनसे देख रही है—तू ही कह—क्या इतना धन कभी भी मिला है, जितना यह आज है?'—अधिनायक ने हामी भरानी चाही!

लोभ-लिप्साने स्त्री-हृदयपर क़ाबू पा लिया।··· 'मगर वह तो आज हैं नहीं।'···कहते हुए भी उसने चुपके-से कोठेकी ओर उँगली उठा दी।

ओफ़! नारीके लोभी-मन!··

दूसरे ही क्षण—

जल्लाद कोठेके बाहर, सबके सामने खड़ा था—अपराधीकी तरह।

'यह जालसाज़ी? यह धोखा?—क्यों? क्या विचार है, अब?'—अधिनायक क्रोधके मारे थर-थर हो रहा है।

'कुछ नहीं। जो हुआ वह ठीक। और जो होगा वह भी ठीक ही होगा···।' जल्लादने गम्भीरतापूर्वक कहा। मुँहपर उसके एक अपूर्व प्रसन्नता खेल रही था। आज उसके आगे व्रतकी रक्षा-अरक्षाका सवाल है, जीवन-मरणकी समस्या है। लेकिन वह उसके लिये तैयार है। वह जानता है—यों पकड़े जाना उसके लिए शुभ नहीं है। पर, फिर भी वह सचिन्त्य नहीं, दृढ़ता जो साथ है प्रतिज्ञा पालन की।

'जानता है—इस धोखेबाज़ी का क्या फल होगा? —चल! महाराज के सामने।'

'चलो!'

—और वह निर्भय हो चल दिया!

स्त्री अवाक्!

देखती-भर रही, जब तक दिखाई देते रहे।

× × ×

(४)

'क्या चाहता है अब?'—सम्राटने पूछा।

'वैसी आज्ञा, जो पालन हो सके।'—यह जल्लाद का उत्तर था—सीधा, स्पष्ट।

'ले जाओ, अपराधीको। वध करो। जो आज तक करते आये हो!'

'नहीं, इस आज्ञाका पालन आज नहीं होगा—महाराज!'—ला-पर्वाहीके साथ जल्लाद बोला।

महाराजका क्रोध सीमा पार कर गया। चित्त जो उनका पहले सेही दुखा हुआ था। आपेसे बाहर

होगए—भूल गए सारी राजनीति !

झल्लाकर बोले—'अच्छा, इतनी हिम्मत ?'

जल्लाद चुप।

'ले जाओ, इसे भी प्राण-दण्ड दो ! कृतघ्न! नीच !! चाण्डाल !!!'—सम्राटने हुक्म दिया।

× × ×

जलचरोंके देशमें—

अथाह जलाशयमें लहरें हिलोरें ले रही थीं। समीपस्थ—नीरव-वातावरण, ऊर्मियोंकी गम्भीर-ध्वनिसे भंग हो रहा था ! असंख्य जल-चर आनन्द निमग्न हो तैर रहे थे !

···कि एक जकड़े हुए अपराधीका बेबश शरीर उनके बीचमें गिरा। सबमें, एक नई उमङ्गने स्थान पाया।···और बातकी बातमें उस अभागे व्यक्तिका शरीर जलचरोंकी दाढ़ोंके नीचे पड़कर पेटमें समा गया। भोज्य वस्तु खत्म होचुकी।

यह था—राज-पुत्रका प्राण-दण्ड ! क़ानूनकी तामील।

तटपर खड़े हुए जन-दलने एक चीत्कार किया—'ओ···ह !' जैसे मनुष्यता कराह उठी हो।

क्षणभर बाद—सब शान्त ! जैसे कुछ हुआ ही नहीं। दुनियाँका रिवाज जो यही है।

अब वधिककी बारी थी। सिपाहियोंकी सतर्कता-में वह एक ओर खड़ा था। मुँहपर उसके विषाद न था, दृढ़ता थी। हृदयमें संकोच, भय, पश्चाताप न था, निर्भयता थी। वह खड़ा था—प्रसन्नचित्त ! जैसे परीक्षामें उत्तीर्ण होनेकी इच्छामें खड़ा हो।

'बांधो इसे भी।' हुक्म हुआ और उसी वक्त हुक्मकी तामील सामने थी।

'क्या अब भी तू अपने हठसे बाज न आएगा ?'—सवाल हुआ।

'हरगिज़ नहीं ! आज मैं अहिंसक हूं। मुझे इस पर गर्व है। मैं आज हिंसा नहीं कर सकता—चाहे इसके लिये मुझे मौतसे भी बड़ी सज़ा दीजाय।'—यह जल्लादका खुला निर्णय था।

'डाल दो, इसे··।'

ओह ! उसी अगाध-जलाशयमें जल्लादका बँधा हुआ बेबश शरीर डाल दिया गया। जन-दलसे फिर एक ज़ोरकी चिल्लाहट हुई।

पर, यह क्या···?

यह हो क्या रहा है—जादू ?

सबने देखा, खुली आँखों देखा—जल्लाद, हाँ, वही पतित—तिरस्कृत—अछूत सिंहासनपर विराज-मान है। देवगण उसकी पूजा कर रहे हैं।

× × ×

सम्राटने सुना, शहरकी जनताने सुना, जिसने सुना—दौड़ा आया। श्रद्धासे उसका मस्तक झुक गया—प्रतिज्ञा-पालकके चरणोंमें ! अहिंसाके पुजारी की महत्ताके सामने !

सम्राटने पैरोंमें मुकुट नवाते हुये, हाथ जोड़े, क्षमा माँगी। कहा—'तुम पतित नहीं, पतित मैं हूँ, जो प्रभुता के मदमें आकर तुम्हारी धार्मिक प्रतिज्ञा तुड़वाना चाहता था। तुम पूज्य हो ! आदर्श हो !! मुझे क्षमा करो।

जैन-धर्मकी देन

(ले०—आचार्य श्री क्षितिमोहनसेन)

संहिताश्रित वैदिक धर्म इन्द्र-चन्द्र-वायु आदि देवताओंमें ही आबद्ध था। वह स्वर्ग-सुखकी प्रार्थनामें रत था, और उसके यज्ञमें हिंसाका आयोजन था। उपनिषदोंके युगमें देखा गया कि मनुष्य बाहरके देवताकी खोज छोड़कर अपने अन्तरमें ही अन्वेषण करने लगा है। तब हिंसामय यज्ञ छोड़कर उसका चित्त अहिंसात्मक ध्यान-धारणाकी ओर झुकने लगा। स्वर्ग-सुखकी अपेक्षा वह वैराग्यार्जित मुक्तिके लिए व्याकुलता अनुभव करने लगा।

संधान करनेपर पता चलेगा कि अहिंसा-प्रार्थनाकी मुक्तिके मूलमें बहुत-सा कार्य महागुरु महावीर आदि पथ-प्रदर्शकगण कर गए हैं। प्राचीन महागुरुओंकी शिक्षा, गुरुसे शिष्यकी ओर, मुँहामुँही चला करती थी। जैनाचार्योंमें भी यह सब तत्त्वोपदेश इसी तरह जबानी चलता रहा। जैन धर्मके लिखित उपदेशोंके युगमें सबसे पहले श्रुतकेवली भद्रबाहुका नाम लिया जा सकता है। रत्ननन्दी-रचित 'भद्रबाहुचरित' और हरिषेण-कृत 'बृहत्कथाकोष' से जाना जाता है कि भद्रबाहुका जन्मस्थान पुण्ड्रवर्द्धन था। ऐतिहासिकोंको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं कि पुण्ड्रवर्द्धन उत्तर-बंगमें स्थित है।

श्रुतकेवली भद्रबाहुके चार शिष्य थे। इनमें से एकका नाम गोदासगणी था। गोदासगणीकी शिष्य-सन्तानकी चार शाखाएँ थीं—प्रथम तामलीप्तिया, द्वितीय कोडी वरिसिया, तृतीय पोण्डवर्द्धनीया और चतुर्थ दासी खब्बडिया। ये चारों ही शाखाएँ बंगदेशकी हैं। इस विषयमें मैंने अपने एक ग्रन्थमें विस्तृत आलोचना की है, जो अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

इसी कारण एक हिसाबसे जैन-धर्मके साथ बंगालका बहुत पुराना योग है। बौद्धधर्म ग्रहण करनेके पूर्व बंगालमें जैनमतका ही प्रादुर्भाव था। अब भी मानभूम, बाँकुड़ा प्रभृति स्थानोंमें सराक-जाति जैन श्रावकोंकी ही अवशेष है। जैनोंकी उसी पुरातन भूमि—बंगदेश—में पुनः जैन-धर्म सम्मानित और सत्कृत हो। भारतीय धर्म-साधनाके क्षेत्रमें जैन-धर्मका जो अमूल्य दान है, इस बंगदेशमें भी उसका उपयुक्त अनुसंधान होना चाहिए।

भारतीय धर्मके इतिहासमें अहिंसा, निष्कामता, मनोविजय, ध्यानपरायणता, इन्द्रिय-जय, वैराग्य, मुक्ति-साधना प्रभृति बड़े-बड़े सत्य जैन-साधकोंके ही दान-स्वरूप प्राप्त हुए हैं। पुरातन धर्ममें मनुष्य देवताके मोहमें आच्छन्न था; जैन साधनाने दिखलाया कि मनुष्यका धर्म उसीके अन्तरमें है। मानव-साधनामें मानव ही महत्तम सत्य है, देवता नहीं। महामानवोंके चरणोंमें ही मानव प्रणत हो, देवताके चरणोंमें नहीं। मानव और मानव-साधनाको इस धर्मने एक अपरूप(अपूर्व)महत्त्व दान किया। यूरोपके पाज़िटिविस्ट लोग दावा करते हैं कि मानव-महत्त्वको उन्होंनेही सबसे पहले सम्मानित किया है; किन्तु यथार्थतः वही दावा भारतकी बहु-पुरातन जैन साधना कर सकती है।

अहिंसा, वैराग्य, निष्काम धर्म प्रभृति बड़े-बड़े तत्व-प्रचार करके ही जैन साधकगण निश्चिन्त नहीं हो रहे। युग-युगमें, काल-कालमें उन्होंने अपनी साधनाको उस समयके लिए उपयोगी किया था। इसी जगह उनका महत्व है, इसी जगह उनकी प्राणशक्तिका परिचय है। मैंने पहले जैन धर्मकी प्राणशक्तिके विषयमें 'प्रवासी', वैशाख, १३४१

बंगाब्दमें एक प्रबन्ध लिखा था, जिसे आप लोगोंमें से किसी-किसीने देखा होगा।

प्राचीन साधनाओंको युग-युगमें कालोचित करनेका ही नाम है रिफ़ार्मेशन। हेस्टिंग्ज-सम्पादित विख्यात 'एन्साइक्लोपीडिया आफ़ रिलीजन्स एण्ड एथिक्स' ग्रन्थकी विषय-सूची देखनेसे ही मालूम होगा कि रिफ़ार्मेशनके सम्बन्धमें लिखते हुए केवल खीष्टीय रिफ़ार्मेशनका उल्लेख किया गया है। जैन धर्मके रिफ़ार्मेशनका कोई उल्लेख नहीं है। अथच युग-युगमे जैन साधनाने विस्मयकर प्राणशक्तिका परिचय दिया है। मेरी निजी गवेषणाका विषय विशेष करके मरमी साधना तथा इन्हीं सब रिफ़ार्मेशनकी बातें ही रही हैं। इस कारण मैं उसी विषय पर कुछ कुछ बोल सकता हूं। यहां ज्ञानी और गुणी बहुत लोग उपस्थित हैं, यहां मुँह खोलनेका अधिकार मुझे नहीं है। तब भी बोलनेके समय मुझे वही सब बोलना होगा, जिसे लेकर मैंने चिर-जीवन काट दिया है।

मैंने प्रधानत: आलोचना की है--भारतके मध्य-युगको लेकर। पहले सभी समझते थे कि कबीर मध्य-युगके रिफ़ार्मेशनके आदिगुरु थे। उन्होंने धर्मके बाह्याचारोंको त्यागकर उसके मर्मकी बात कही थी। किन्तु अब देखा जाता है कि जैनसाधक लुङ्काने १४५२ खीष्टाब्दमें गुजरातमें अपना लुङ्कामत नामक रिफ़ार्मेशन-मत प्रचारित किया। इसमें बाह्य भेद, आचार, पूजा आदिकी व्यर्थता, बाह्य क्रिया-कर्मकी हीनता अच्छी तरह समझाई गई है। इसके प्राय: २०० वर्ष बाद, अर्थात् १६५३ ईसवीमें, ढुन्ढीया या स्थानकवासी मत प्रवर्तित हुआ। यूरोपमें भी तब प्यूरिटन मूवमेंट चल रहा था। तारण-पंथ आदि जैन साधनाओंमें भी ठीक ऐसे ही रिफ़ार्मेशनकी बातें हैं।

अब मालूम हुआ है कि महात्मा कबीर प्रभृति प्रवर्तित मतवादके आदिगुरुओंमें मुनि रामसिंह नामक एक मुख्य महापुरुष थे। विद्वद्वर श्री हीरालाल जैन महाशयने दिखलाया है कि मुनि रामसिंह-कृत 'पाहुड दोहा' प्राय: १००० ईस्वीके आसपासकी रचना है। 'पाहुड़ दोहा' अपभ्रंश भाषामें लिखा गया है। जैन गुरुगण संस्कृतके मोहमें आबद्ध नहीं थे।

मिस्टिक अर्थात् मरमी कबीर प्रभृतिमें जो सब भाव मिलते हैं, 'पाहुड़ दोहा'में प्राय: वे सभी हैं। 'पाहुड़ दोहा'में से कुछ थोड़े-से यहाँ दिखलाये जाते हैं। शास्त्रबद्ध दृष्टि-भ्रान्त पंडितोंकी ओर लक्ष्य करके मुनि रामसिंह कहते हैं :--

पंडियपंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढो सि ॥(८५)

अर्थात्--'हे पंडितोंके पंडित, तू शस्य छोड़कर भूसी कूट रहा है: तू कितना बड़ा मूर्ख है कि परमार्थ न जानकर ग्रन्थके अर्थसे ही संतुष्ट हो रहा है।'

बहुइयं पढियइँ मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥(९७)

--'पढ़-पढ़कर, अरे मूर्ख, तेरा तालू सूख गया है, तब भी तू मूर्ख ही बना है। ऐसा मात्र एक अक्षर पढ़ देख, जिससे शिवपुरी जा सकता है।'

अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तं णवर सिक्खियव्वं जिं जरमरणक्खयं कुणहि ॥(९८)

--'शास्त्र अनन्त हैं, काल स्वल्प है, अथच हम लोग दुर्मेधा हैं, अर्थात् हमारी बुद्धि और धारणाशक्ति परिमित है। इसीलिए जिससे जरामरण क्षय होते हैं, इतनी विद्या सीख लेनी चाहिए: यही यथेष्ट है।'

अक्खरचडिया मसिमिलिया पाढंता गय खीण।
एक्क ण जाणी परमकला कहिं उग्गउ कहिं लीण ॥(१७३)

--'स्याहीके अक्षरोंमें लिखे हुए ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते क्षीण हो गया, तथापि कहाँ उत्पत्ति है और कहाँ लय, इस

परम मर्मका संधान नहीं पाया।'

यह विडम्बना देखकर मुनि रामसिंह कहते हैं:—

ताम कुतित्थइं परिभमई धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहुं पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति ॥ (८०)

अर्थात्—'ये सब ग्रन्थ, व्यर्थ-तीर्थ-यात्रा और नाना धूर्तपना छोड़कर सद्गुरुकी शरण ले। अन्तरस्थित देवताको गुरुकी कृपासे जान ले।

लोहिं मोहिउ ताम तुहुं विसयहं सुक्ख मुणेहि।
गुरुहुं पसाए जाम ण वि अविचल बोहि लहेहि ॥(८१)

—'गुरु-प्रसादसे जितने दिन अविचल बोध प्राप्त नहीं होता, उतने दिन इन्हीं सब विषयोंमें मन मुग्ध होकर सुखोंके पाशमें आबद्ध रहता है।'

जं लिहिउ ण पुच्छिउ कह व जाइ।
कहियउ कासु वि णउ चित्ति ठाइ ॥
अह गुरुउवएसें चित्ति ठाइ।
तं तेम धरंतिहिं कहिं मि ठाइ ॥ (१६६)

—'जिसे लिखा नहीं जाता, पूछा नहीं जाता, कहनेमें भी जिसमें मन स्थिर नहीं होता, ऐसा तत्त्व गुरुके उपदेशमें ही चित्तमें प्रतिष्ठित होता है। पीछे वही तत्त्व सबमें स्फुरित हो जाता है।'

गुरुका उपदेश मिलनेपर ही जान पड़ता है कि स्वर्ग-कामनाकी अपेक्षा निष्काम-मुक्ति श्रेष्ठ है। हिंसा और दुर्नीति छोड़नेसे ही मन शान्त हो जाता है। इसीसे मुनि रामसिंह कहते हैं:—

अवधउ अक्खरु जं उप्पज्जइ।
अणु वि किं पि अण्णाउ ण किज्जइ ॥
आयइं चित्तिं लिहि मणु धारिवि।
सोउ णिचिंतिउ पाय पसारिवि ॥ (१४४)

—'अहिंसामय भाव चित्तमें उत्पन्न करो। तनिक भी अन्याय मत करो; चित्तमें यह स्थिर करके पाँव पसार कर आरामकी नींद सोने जा सकते हो।'

दयाविहीणउ धम्मडा णाणिय कह वि ण जोइ।
बहुएं सलिलविरोलियइं करु चोप्पडा ण होइ ॥(१४७)

—'हे ज्ञानी योगी, दयाहीन धर्म असम्भव है। जलमें कितना भी हाथ चलाओ, वह योंही चिकना नहीं हो सकता।'

मुनि रामसिंह और भी कहते हैं:—

कासु समाहि करउ को अंचउं।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउं ॥
हल सहि कलह केण सम्माणउ।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पाणउ ॥ (१३९)

—'क्यों वृथा यह विद्वेष और कलह, यह मिथ्या स्पृश्या-स्पृश्य विचार किया जाय? किसे त्याग किया जाय? किसकी पूजा-समाधि करें? जहाँ देखता हूँ, वहाँ अपनी ही आत्माको विराजमान देखता हूँ।'

अग्गइं पच्छइं दहदिहहिं जहिं जोवउ तहिं सोइ।
ता महु फिट्टिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ ॥(१७५)

—'आगे पीछे दसों दिशाओंमें जहाँ भी देखता हूँ, वहाँ वे ही विराजमान हैं। इतने दिन बाद मेरी भ्रांति मिट गई। अब किसीसे कुछ भी जानने पूछनेके लिये नहीं है।'

इसके बाद उन्होंने समझाया है कि बाह्य आचार और वेष द्वारा कुछ भी नहीं होता:—

सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं न मुएइ।
भोयहं भाउ न परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ॥ (१५)

—'सर्प केंचुल छोड़ देता है, किन्तु विष नहीं छोड़ता। मुनि-वेष तो लेते हैं, किन्तु उनसे भेद-भाव कहाँ दूर होता है?'

अब्भिंतरचित्ति वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण।
चित्ति णिरंजणु कोवि धरि मुच्चहि जेम मलेण ॥ (६१)

—'यदि अन्तरमें चित्त ही मलिन रहा, तब बाहरकी तपस्यासे लाभ क्या होगा? चित्त देकर विचित्र निरंजनकी धारणा करो, जिससे चित्त की मलिनतासे मुक्ति मिले।'

सयलु वि को वि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण।
सिद्धत्तणु परि पावियइ चित्तहं णिम्मलयेण ॥ (८८)

—'सिद्धत्वके लिए सभी तड़पड़ाते हैं, किन्तु चित्त निर्मल होनेपर ही सिद्धत्व प्राप्त होता है।'

पोत्था पढणि मोक्खु कहं मणु वि असुद्धउ जासु ।(१४६)

—'अशुद्ध मन लेकर पोथा पढ़ लेनेसे ही मुक्ति कहां मिलेगी?'

तित्थइं तित्थ भमंतयहं कि णेहा फल हूव।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव ॥(१६२)

—'तीर्थसे तीर्थान्तर तक भ्रमण करनेका तो कुछ भी फल नहीं हुआ। बाहर तो जलसे शुद्ध हो गया, किन्तु अन्तरका क्या हाल है?'

तित्थइं तित्थ भमंतयहं संताविज्जइ देहु।
अप्पें अप्पा झाइयइं णिव्वाणं पउ देहु ॥ (१७८)

—'तीर्थसे तीर्थ तक भटकते फिरने से केवल देह-सन्ताप ही होता है। आत्माके भीतर आत्माका ध्यान करके निर्वाण-पथमें पदार्पण करो।'

यही तो हुई मरमीकी मारतम बात! इसी सुरमें मुनि रामसिंह कहते हैं:—

अप्पा सच्चउ मोक्खपहु एहउ मूढ वियाणु ॥ (७९)

—'आत्माही वास्तविक मुक्ति-पथ है; हे मूढ़, इसे समझ ले।'

मध्य-युगके सब साधकोंने यही एक ही बात तो कही है कि मनमें ही मोक्षकी बाधा है, अर्थात् मनको जिसने संयत कर लिया, मोक्ष उसके लिए सहज लभ्य हो गया। मुनि रामसिंह भी कहते हैं:—

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसयकसायहिं जंतु।
मोक्खह कारणु एत्तडउ अवरइं तंतु ण मंतु ॥ (६२)

—'विषय-कषायोंमें जाते हुए मनको जिसने पकड़कर निरंजनके मध्यमें स्थिर कर लिया, उसीने मोक्षके हेतुभूत कारणको पा लिया। यही तो मोक्षका कारण है, तन्त्र-मन्त्र नहीं।

मनको संयत करना तो एक नेतिवाचक (Negative) व्यापार है और उसे निरंजनके साथ युक्त करना अस्तिवाचक (Positive) वस्तु है। इसी अस्तिवाचक योगकी ही बात मुनिजी कहते हैं:—

उम्मणि थक्का जासु मणु भग्गा भूवहिं चारु।
जिम भावइ तिम संचरउ ण वि भउ ण वि संसारु ॥(१०४

—'भूत पदार्थोंसे जिसका मन मुक्त होकर—उन्मन होकर—चारु हो उठा है, वह सर्वत्र स्वाधीन विहार लाभ करता है। उसे फिर न भय रहता, न संसार।'

अक्खइ णिरामइ पेसियउ सइं होमइ संहारि ॥ (१७०)

—'अक्षय, निरामय उसी धाममें प्रवेश करके मन आप ही संयत होकर लयलीन हो जायगा।'

इस अवस्थामें पहुँचनेसे साधकके अन्तरस्थित देवता अन्तरमें दीप्यमान हो उठते हैं। बाहर तीर्थ-तीर्थ और मन्दिर-मन्दिरमें उन्हें खोजते नहीं फिरना पड़ता। 'पाहुड़ दोहा' में कहा है:—

आराहिज्जइ देउ परमेसरु कहिं गयउ।
वीसारिज्जइ काइं तासु जो सिउ सव्वंगउ ॥ (५०)

—'आराध्य देवता परमेश्वर कहाँ गए? जो शिवस्वरूप सर्वाङ्गव्यापी हैं, उन्हें किस प्रकार भुला दिया गया?'

ताम कुतित्थइं परिभमइं धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहुं पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति ॥(८०)

—'नाना बाह्य कुतीर्थोंमें भ्रमण और धूर्ताचार उतने दिन ही चलता है, जितने दिन गुरुप्रसादसे देह-मन्दिर-स्थित देवताको जाना नहीं जाता।'

जो पइं जोइउं जोइया तित्थइं तित्थ भमेइ।
सिउ पइं सिहुं हिंडियउ लहिवि ण सक्किउ तोइ(१७९
—'हे योगी, जिसे देखनेके लिए तीर्थ-तीर्थ घूमता फिर रहा है, वह शिवस्वरूप तेरे ही साथ-साथ चल रहा है। तब भी, हाय, उसीको उपलब्ध नहीं कर पाता !'

इसी प्रसंगमें उपनिषदोंकी भी दो-एक बातें कहता हूँ। मैत्रेयी उपनिषद्में भी इसी देह-देवालयकी बात कही गई है:—

देहो देवालयः प्रोक्तः। (२९)

मैत्रेय और भी कहते हैं :—

पाषाणलोहमणि-मृन्मय-विग्रहेषु
पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्या—
द्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥ (२६१७)

—'पाषाण-लोह-मणि मृत्तिका-निर्मित विग्रह की पूजासे बार-बार जन्म-भोग करना होता है। कारण, मुक्तिप्रार्थीका वह पथ नहीं है। इसीसे यती अपुनर्भव मुक्तिके लिए बाह्यार्चना परित्याग करके स्वहृदयार्चन अर्थात् हृदयस्थित देवताकी ही पूजा करेंगे।'

तब बाह्य संध्या-पूजा का अवसर कहाँ है ? इसीसे मैत्रेयी कहते हैं:—

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतक-द्वय-संप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥ (२७४)

—'मोहमयी हैं हमारी माता मृता, बोधमय सुत हो गया है जातक ; दो सूतक संप्राप्त होकर किस तरह संध्योपासना करूँ ?'

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः
कर्मानुसारेण फलं लभन्ते। (११३)

इस अवस्थामें पहुँच कर साधक देखते हैं कि 'विमूढ़ बाह्यवर्णाश्रमाचारयुक्तगण कर्मफल लाभ करनेके लिए बाध्य हैं, इसीसे बद्ध हैं।'

मैत्रेय कहते हैं कि साधकोंके लिए अभेद दर्शन ही ज्ञान, मनको निर्विषयी करना ही ध्यान, मनकी मलिनता दूर करना ही स्नान और इन्द्रिय निग्रह ही शौच है:—

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥(२२)

मुनि रामसिंहके भीतर प्रम-साधना, समरस, देहतत्त्व, कायायोग आदि जो तत्त्व मिलते हैं, वे सब नेपालसे प्राप्त बौद्ध गान और दोहोंमें भी पाए जाते हैं। नाथपंथकी वाणी और गोरख प्रभृतिके वचनोंमें इन्हीं सब बातोंका उल्लेख मिलता है। इसी कारण, किस सम्प्रदायने इन सब तत्त्वोंको सबसे पहले अनुभव किया, यह कहना कठिन है। जान पड़ता है, उस युगकी भारतीय साधनाका आकाश इन्हीं सब सत्यों और साधनाकी वाणियोंसे भरपूर था। इसीलिए उस समयके सभी सम्प्रदायोंकी साधनाओंपर इन सब भावोंकी छाप पड़ी है।

यह बात माननी ही होगी कि कबीर प्रभृतिने जिस सत्यको ५०० वर्ष बाद प्रकाशित किया, उसे प्रायः ७००० ईस्वीमें—बहुत पहले—मुनि रामसिंहने उपलब्ध और प्रकाशित किया था। मुनि रामसिंहकी प्रत्येक बात उनके अन्तरकी वेदनाके भीतरसे उच्छ्वसित हुई है, इसीकारण कहींकहीं बहुत तीव्र है। आजके युगकी लोगोंको भुलानेवाली और जनताको नशेमें मत्त कर देनेवाली कला वे नहीं जानते थे। कृत्रिम भद्रता उन्होंने कभी धारण नहीं की।

अपने निजी दुःखकी बात कहते हुए सच्चे मरमी रामसिंह कहते हैं:—

वणि देवलि तित्थइं भमहि आयासो वि णियंतु।
अम्मिय विहडिय भेडिया पसुलोगडा भमंतु ॥ (१८७)

—'वन, देवालय, तीर्थ-तीर्थमें भटकता फिरा, आकाशकी ओर भी व्यर्थ ताकता रहा, इसी भटकनेमें पशु और भेड़ोंके साथ मिलन हुआ।'

मुनि रामसिंह कहते हैं :—

हत्थ अहुट्ठहं देवली वालहं णा हि पवेसु।
सन्तु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मलु होइ गवेसु॥(९४)

'बाहिर नहीं है—साढ़े तीन हाथके उसी देह-देवालयमें है, जहाँ बालका प्रवेश नहीं है ; सन्त निरंजनका वही निवास है। निर्मल होकर उनका अन्वेषण करो।'

मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं।(१८०)

—'मूर्ख लोग मानव-रचित देवालयोंमें घूम-घूमकर मरे जाते हैं, अपने देहरूपी देव-मन्दिरको तो देखते नहीं, जहाँ शान्तं शिवं विराजमान है,'

वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि इत्थु।

णियदेहाहं वसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु ॥ (४१)

—'सभी कहते हैं, वन्दना करो, वन्दना करो ; किन्तु यदि अन्तर-मन्दिरस्थित देवता को उपलब्ध कर ले, तब और किसकी वन्दना बाक़ी रहेगी ?'

देह महेली एह वढ तउ सत्तावइ ताम ।
चित्तु णिरंजणु परिण सिहुं समरसि होइ ण जाम(६४)

—'अरे मूढ़, यह विरहिणी काया उतने दिन ही दुःख देगी, जितने दिन निरंजन मनके साथ परमात्माका मिलन नहीं होता ; उसी मिलनका ही नाम समरस है।'

मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स ।
बिण्णि वि समरज्जि हुइ रहिय पुज्ज चढावउं कस्स(४९)

—'मन जिस समय परमेश्वरके साथ और परमेश्वर जिस समय मनके साथ मिल जाते हैं, उसीको समरस कहते हैं ; तब किसकी पूजा की जाय ?'

जिमि लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तुविलिज्ज
समरसि हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज ॥ (९७६)

—'जलमें जिस तरह लवण मिल जाता है, उस तरह यदि चित्त ब्रह्मानन्दमें विलीन हो जाय, तभी जीव समरस होगा। तब फिर किसलिए समाधि की जाय ?'

इस भावकी अपेक्षा गम्भीरतर मरमी भाव क्या और कहीं हमने पाया है ? मुनि रामसिंह कहते हैं :—

अथिरेण थिरा मइलेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारं
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किएण कायव्वा॥(१९)

—'उन्हीं स्थिर देवताके साथ इस अस्थिर देहका, निर्म्मलके साथ मलिनका, गुणसारके साथ निर्गुणका योग-साधन यदि कर लिया जा सकता है, तब वही क्यों न कर लिया जाय ? यही तो देहकी परम सार्थकता है।'

यह प्रेम-योग केवल मेरा ही आकांक्षित है, ऐसी बात तो नहीं है ; दोनों ओर व्याकुलता न होनेपर तो प्रेम नहीं हो सकता। वे भी जो प्रेम-मिलनके लिए आकांक्षित हैं ; वे शिव हैं, मैं शक्ति हूँ ; मुझे छोड़कर वे व्यर्थ हैं और उन्हें छोड़कर मैं व्यर्थ हूँ। 'आनन्द-लहरी' में श्रीमद्-शंकराचार्य कहते हैं :—

शिवः शक्त्यायुक्तः प्रभवति ।
न चेद् एवं देवो न खलु समर्थः स्पन्दितुमपि ॥

—इसकी अपेक्षा गभीरतर मरमी सत्य और नहीं। मुनि रामसिंह भी कहते हैं :—

सिव विणु सत्ति ण वावरइ, सिउ पुणु सत्तिविहीणु ।
दोहिं मि जाणहिं सयलु जगु बुज्झइ मोहविलीणु ॥

—'शिव बिना शक्ति एवं शक्ति बिना शिव अकर्मण्य और असंपूर्ण हैं। दोनोंके इस मर्मकी उपलब्धि करनेसे समस्त जगत, जो मोहविलीन है, समझमें आ जाता है।'

रामसिंह मुनिके मतसे इस समरसकी बात केवल कानसे सुन लेनेसे ही नहीं होती, इसके लिए चाहिए निरंतर सत्य-साधना। इसीलिए मुनिजी कहते हैं :—

हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ॥

—'मैं सगुण हूँ, और वे गुणातीत हैं ; लक्षणातीत हैं, संगातीत हैं। दोनों एक साथ वास करते हैं; फिर भी दोनोंमें अंगसे अंगका मिलन नहीं होता।'

किन्तु साधना-द्वारा उस योगका साधन करना होगा। समरस-साधना सिद्ध होनेपर मालूम होगा कि त्रिभुवन शून्याकार प्रतीयमान होकर भी कुछ शून्य नहीं है ; सकल शून्यको पूर्णकरके विराजमान है—एक ही परम परिपूर्णता:—

सुण्णं ण होइ सुण्णं च तिहुवणे सुण्णं ॥ (२१२)

यही मरमी साधनाकी चरम और परम बात है। इसी बातको प्रायः पाँच शताब्दी बाद भक्त कवियोंने फिरसे आकाशमें प्रतिध्वनित किया। सब विस्मृत महासत्योंको वे फिरसे अपने जीवनमें उपलब्ध करके मूर्तिमान कर गए। कबीर-प्रभृतिके बाद यह प्रेम साधना अचेतन नहीं रही। आनुमानिक १६१५ से १६७५ ईस्वी तक जैन साधक आनन्दघन जीवित थे। वे एक साथ ही साधक और कवि थे। उनकी अपूर्व कविताके विषयमें मैंने पहले थोड़ी-बहुत आलोचना की है : जो उसके विषयमें उत्सुक हों, वे प्रायः १० वर्ष पहलेकी 'प्रवासी'-पत्रिका (बं० सं० १३८८ कार्तिक-अंक) देख सकते हैं। हिन्दीकी 'वीणा' पत्रिका तथा अंगरेज़ीकी विश्वभारती' त्रैमासिक पत्रिकामें भी मैंने इसी सम्बन्धमें लिखा था।

आनन्दघन शुद्ध मरमी थे। जैसी उनकी वाणी उदार है, वैसी ही उसमें गम्भीरता भी है और वैसा ही उसका अपूर्व सौन्दर्य तथा उसकी रससमृद्धि भी है। आज उनकी बातका केवल उल्लेख मात्र किया है। और भी जो सब जैन मरमी कवि हैं, उनके नामका उल्लेख भी नहीं किया जा सका। प्रयोजन होनेपर और कभी उनकी आलोचना की जा सकेगी।*

*कलकत्तेके जैन-समाज द्वारा मनाए गए पर्युषण-पर्व पर दिया गया भाषण। —[विशाल भारतसे उद्धृत]

तामिल-भाषाका जैनसाहित्य

(मूल ले०—प्रो० ए० चक्रवर्ती M. A. I. E. S.)
[अनुवादक-पं० सुमेरचन्द जैन 'दिवाकर' न्यायतीर्थ, शास्त्री, B. A. L. L. B.]
(किरण नं० ६–७ से आगे)
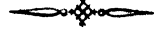
चौथे 'मोक्कलवादचरुक्कम्' अध्यायमें मोक्कल नामके बौद्धगुरुके प्रति नीलकेशीके द्वारा दिए गए चैलेंजका वर्णन है। मोक्कल अन्तको पराजित होकर प्रतिद्वन्द्वीका धर्म धारण करता है। यह पुस्तकके सबसे बड़े अध्यायोंमेंसे है, क्योंकि इस अध्यायमें बौद्धधर्मके मुख्य सिद्धान्तोंकी विस्तृत चर्चा की गई है। इसमें मोक्कल स्वयं नीलकेशीको बौद्धधर्मके स्थापकके समीप भेजता है। 'बुद्धवादचरुक्कम्' नामका पाँचवाँ अध्याय वादके अर्थ नीलकेशी और बुद्धके सम्मिलनका वर्णन करता है। बुद्धदेव स्वयं इस बातको स्वीकार करते हुए बताए जाते हैं कि उनका अहिंसा-सिद्धान्त उनके अनुयायियों द्वारा परमार्थत: नहीं पाला जाता है। वे इस बातको स्वीकार करते हैं कि अहिंसाका नाम जपना मात्र धर्मका उचित सिद्धान्त नहीं है; वे अन्तमें अपने धर्मके असंतोषप्रद स्वरूपको स्वीकार करते हैं, अहिंसा तत्वके संरक्षणके लिए उसके पुन: निर्माणकी बात स्वीकार करते हैं। इस तरह प्राक्कथन सम्बन्धी अध्यायके अनन्तर चार अध्याय बौद्धधर्मके विवादमें व्यतीत होते हैं। इसके पश्चात् अन्य दर्शन क्रमश: वर्णित किए गए हैं।

छठे अध्यायमें आजीवकधर्मका वर्णन है, उसे 'आजीवक-वाद-चरुक्कम्' कहते हैं। आजीवकधर्मका संस्थापक महावीर और गौतमबुद्धके समकालीन था। बाह्य रूपमें आजीवक लोग जैन 'निग्रन्थों'के समान थे। किन्तु धर्मके विषयमें वे जैन और बौद्धधर्मोंसे अत्यन्त भिन्न थे। यद्यपि तत्कालीन बौद्ध लेखकोंने आजीवकोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी गलत मान्यता नहीं की, किन्तु बादके भारतीय लेखकोंने अनेक बार उनको दिगम्बर जैनियोंके रूपमें मानकर बहुत कुछ भूल की है। आजीवक-सम्बन्धी इस अध्यायमें नीलकेशीका लेखक पाठकोंको इस प्रकारकी भूलसे सावधान करता है और इन दोनों मतोंके बीचमें पाए जाने वाले मौलिक सिद्धान्तगत भेदोंका वर्णन करता है।

सातवें अध्यायमें सांख्य सिद्धान्तकी परीक्षा की गई है। इससे इस अध्यायको 'सांख्यवाद-चरुक्कम्' कहा गया है।

आठवें अध्यायमें वैशेषिक दर्शनपर विचार किया गया है। लेखक दार्शनिक विषयोंमें जैन तथा अजैन सिद्धान्तोंके मध्यमें पाये जाने वाली समताको सावधानता-पूर्वक प्रकट करता है और वह अपनी दृष्टिमें अहिंसाके मूल सिद्धान्तको कायम रखता है।

नवमें अध्यायमें वैदिक कर्मकाण्डकी चर्चा की गई है, इससे उसे 'वेदवादचरुक्कम' कहते हैं। इस अध्यायमें वैदिक क्रियाकाण्डमें होने वाली पशुबलिका ही खण्डन नहीं किया गया है बल्कि वैदिक क्रियाकाण्ड पर स्थित वर्णाश्रम धर्मकी मार्मिक आलोचना भी कीगई है। लेखकने यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है कि जन्मके आधार पर मानी गई सामाजिक विभिन्नताका आध्यात्मिक क्षेत्रमें कोई महत्व नहीं है और इसलिए धर्ममें भी उसका कोई महत्त्व नहीं है। धर्मकी दृष्टिसे मनुष्योंमें एकमात्र चरित्र, संस्कार

और आध्यात्मिक अनुशासन पर आधार रखने वाला ही भेद पाया जाता है।

अन्तिम अथवा दशवें अध्यायमें जडतत्ववाद पर, जिसे आम तौरपर भूतवाद कहते हैं, विचार किया गया है, इसीलिए इस अध्यायको 'भूतवादचरुक्कम्' कहा गया है। इसमें मुख्यतया जगतके भौतिक एकीकरणसे भिन्न आत्मिक-तत्वकी वास्तविकताको सिद्ध किया गया है। लेखक इस बातपर जोर देता है कि चेतना स्वतन्त्र आध्यात्मिक तत्व है, न कि भौतिक तत्वोंके संयोगसे उत्पन्न हुआ एक गौण पदार्थ। वह ऐसा स्वतन्त्र आत्मतत्व है, जो व्यक्तिके जीवनसे सम्बद्ध भौतिक तत्वोंके पृथक् होनेपर भी विद्यमान रहता है। इस तरह इस अध्यायका मुख्य विषय है मृत्युके अनन्तर मानवीय व्यक्तित्वका अवस्थान। यह बात नील-केशी जड़वादके नेताको सप्रमाण सिद्ध करके बतलाता है, जिससे वह तत्काल अपनी भूल स्वीकार करता है और वह मानता है कि ऐसी बहुतसी चीजें हैं, जिनका उसके दर्शनमें स्वप्नमें भी उल्लेख नहीं है। इस प्रकार यह ग्रन्थ प्रथम तो आत्मतत्व तथा मानवीय व्यक्तित्वकी वास्तविकताको और दूसरे अहिंसाके आधारपर स्थित धार्मिकतत्वकी प्रधानताको सिद्ध करते हुए पूर्ण किया गया है। इस तरह नीलकेशी अपने जीवन - कार्यको पूर्ण करती है, जिसका ध्येय अपने उन गुरुदेवके प्रति आभार प्रदर्शन रूप है, जिनसे कि उसने धर्म और तत्वज्ञान के मूल सिद्धान्त सीखे थे और उन्हें अपनाया था, यद्यपि वह पहले देवीके रूपमें पशुबलिके प्रति खूब आनन्द व्यक्त करती रही थी। इस प्रकार हमें विदित होता है कि नीलकेशी मुख्यतया एक वाद-विवाद-पूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें जड़वादके मुकाबलेमें आत्मतत्वकी वास्तविकताको, वैदिक यज्ञके मुकाबलेमें अहिंसाकी महत्ताको और उन बौद्धोंके मुकाबलेमें जो अहिंसाका उपदेश देते हुए हिंसाका आचरण करते थे, वनस्पति आहारकी पवित्रताको स्थापित किया है।

इस मूल ग्रन्थके लेखकके विषयमें हमें कुछ भी हाल मालूम नहीं है, तथापि इतना अवश्य ज्ञात है कि इसकी प्रस्तुत टीका वामनमुनि-कृत है। चूँकि इस ग्रन्थमें कुरल तथा नालदियारके उल्लेख पाए जाते हैं अतः यह ग्रन्थ कुरलके बादकी कृति होनी चाहिए और चूँकि यह ग्रन्थ कुण्डलकेशी ग्रन्थके प्रतिवादमें लिखा गया है अतः यह निश्चित रूपसे कुण्डलकेशीके बादकी रचना होनी चाहिए।

चूँकि हमें कुण्डलकेशीके सम्बन्धमें भी कुछ मालूम नहीं है, अतः इस सूचनाके आधारपर हम कुछ विशेष कल्पना नहीं कर सकते। जो कुछ भी हम कह सकते हैं वह इतना ही है कि यह ग्रन्थ तामिल साहित्यके अत्यन्त प्राचीन काव्य ग्रन्थोंमेंसे एक है। इसमें कुल ८६४ पद्य हैं। यह ग्रन्थ-निःसन्देह तामिल साहित्यके विद्यार्थियोंके लिए बड़ा उपयोगी है। इससे व्याकरण तथा मुहावरेके कितनेही अपूर्व प्रयोग और कितनेही प्राचीन शब्द, जिनसे यह ग्रन्थ भरा पड़ा है, प्रकाशमें आते हैं।

दो और लघुकाव्य जो अबतक ताड़पत्रोंपर अप्रसिद्ध दशामें पड़े हुए हैं, ४ उदयन - काव्य और ५ नाग-कुमार काव्य हैं। इनमेंसे पहला अपने नामानुसार उदयनके जीवनचरित्रको लिए हुए है। इसमें कौशाम्बीनरेश वत्सके कार्योंका भी वर्णन है। चूँकि वे अभीतक प्रकाशित नहीं हुए हैं, अतः उनके विषयमें हम अधिक कुछ नहीं कह सकते। (क्रमशः)

भ० महावीरके निर्वाण-संवत्की समालोचना

[मूल ले०—पं० ए० शान्तिराज शास्त्री, आस्थान विद्वान् मैसूर राज्य]

(अनुवादक—पं० देवकुमार, मूडबिद्री)
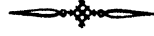
जैनियोंके परम पूज्य तीर्थंकरोंमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरको मुक्त हुए कितने वर्ष हो गये, यह विचार करना ही इस लेखका लक्ष्य है, जैसा कि लेखके शीर्षकसे सूचित है। किसी भी विषयकी समालोचनाका अवसर प्राप्त होनेपर ही उसके मूलान्वेषणके ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है—इतर समयमें नहीं। देवेंद्र अवधिज्ञानसे सम्पन्न है फिर भी परमदेव तीर्थंकरोंके गर्भावतरणादि कल्याणोंको जाननेमें उसके ज्ञानकी प्रवृत्ति स्वयं नहीं होती, किन्तु आसनकंप रूपनिमित्तको पाकर ही होती है।

दिगम्बर जैन समाजमें 'जैनगजट', 'जैनमित्र', 'जैन-सिद्धान्तभास्कर', 'अनेकान्त', 'जैनबोधक' 'जैनसंदेश', 'खंडेलवाल जैन, हितेच्छु' आदि जितनी भी पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं उन सबमें श्वेताम्बरजैनसम्प्रदायके अनुसार ही वर्तमानमें श्रीमहावीरनिर्वाणसंवत् २४६७ उल्लिखित किया जाता है। पं०जुगलकिशोर, पं०नाथूराम प्रेमी, प्रो०ए० एन० उपाध्याय आदि संशोधक विद्वानों (Research Scholars) ने भी स्वसम्पादित ग्रन्थ-प्रस्तावना-लेखनके अवसरपर बिना विचारे ही इस मार्गका (श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार ही वीरनिर्वाण-सम्वत्को उल्लिखित करने रूप गतानुगतिक पद्धतिका) अनुसरण किया है, ऐसा प्रतीत होता है।

यहाँ मैसूर-ओरियंटल-लायब्रेरीसे प्रकाशित होनेवाली तत्वार्थ-सुखबोध-वृत्तिकी (संस्कृतमें) प्रस्तावना लिखनेके अवसरपर वीरनिर्वाण-संवत्की समालोचनाकी आवश्यकता उपस्थित हुई। समालोचनाके होनेपर निम्नलिखित प्रमाणों परसे यह निष्कर्ष निकला कि आज जो महावीर निर्वाण-संवत् उपदर्श्यमान है वह ठीक नहीं है। यथा:—

गोमटसारादि ग्रन्थोंके कर्ता, वीर मार्तण्ड चामुण्डराय के धर्मगुरु और दि० जैनियोंके पूज्य श्री नेमिचन्द्र-सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्यने स्वरचित त्रिलोकसारमें यह गाथा दी है:—

> पणछस्सदवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
> सगराजो तो कक्की चदुणवतिय-महिय सगमासं ॥८५०॥

इस गाथाका अभिप्राय यह है कि श्री महावीरकी निर्वाण-प्राप्तिसे ६०५ वर्ष ५ महीनेके अनन्तर शकराजकी उत्पत्ति हुई। इसके बाद ३९४ वर्ष ७ महीने बीतनेपर अर्थात् महावीर-निर्वाणके एक हजार वर्षोंके अनन्तर कल्की का प्रादुर्भाव हुआ है।

विक्रमराजाब्दके ५८ वर्षोंके बाद क्रिस्ताब्द, क्रिस्ताब्द के ७८ वर्षोंके बाद शालिवाहनशकका प्रारम्भ होता है। विक्रमराजाब्द और शालिवाहनशकोंमें १३६ वर्षोंका अन्तर है। अर्थात् विक्रमनृपसे १३६ वर्षोंके पश्चात् शालिवाहन शकका प्रारम्भ होता है। विक्रमनृपाब्दको 'संवत्' तथा शालिवाहन शकको 'शक' कहनेका व्यवहार है। दक्षिण देशमें तो महावीरशक, विक्रमशक, क्रिस्त शक और शालिवाहन शक इसप्रकार सर्वत्र 'शक' शब्दकी योजना करके व्यवहार चलता है। इस समय विक्रमनृप

शक १६६६, क्रिस्त शक १६४१, शालिवाहन शक १८६४ प्रचलित है।

उपर्युक्त गाथामें प्रयुक्त हुए 'सगराजो=शकराज:' शब्दका अर्थ कुछ विद्वान विक्रमराज और दूसरे कुछ विद्वान शालिवाहन मानते हैं। उस शब्दका विक्रमराजा अर्थ करनेपर इस समय वीर निर्वाणशक २६०४ (६०५+१६६६=२६०४) प्रस्तुत होता है। और 'शालिवाहन' अर्थ लेनेपर वह २४६६ (६०५+१८६४=२४६६) आता है। इन दोनों पक्षोंमें कौनसा ठीक है, यही समालोचनीय है। शालिवाहन अर्थ करनेपर भी दो वर्षका व्यत्यास (विरोधीपन अथवा अन्तर) दिखाई देता है।

यहाँ 'शकराज' शब्दका अर्थ पुरातन विद्वानों द्वारा विक्रमराजा ग्रहण किया गया है अतएव वही अर्थ ग्राह्य है, यही बात अग्रोल्लिखित प्रमाणोंसे सिद्ध होती है :—

(१) दिगम्बर जैनसंहिताशास्त्रके संकल्पप्रकरणमें विक्रमराजाका ही उल्लेख पाया जाता है, शालिवाहनका नहीं।

(२) त्रिलोकसार ग्रन्थकी माधवचन्द्र त्रैविद्यदेवकृत-संस्कृत टीकामें शकराज शब्दका अर्थ विक्रमराजा ही उल्लिखित है।

(३) पं० टोडरमलजी कृत हिन्दी टीकामें इस शब्दका अर्थ इस प्रकार है —

"श्री वीरनाथ चौबीसवाँ तीर्थंकरको मोक्ष प्राप्त होनेतै पीछै छसैपांच वर्ष पाँच मास सहित गए विक्रमनाम शकराज हो है। बहुरि तातै उपरि च्यारि नव तीन इन अङ्कनि करि-तीनसै चौराणवै वर्ष और सात मास अधिक गए कल्की हो है" "८५०"

इस उल्लेखसे भी शकराजाका अर्थ विक्रमराजा ही सिद्ध होता है।

(४) मिस्टर राइस-सम्पादित श्रवणबेल्गोलकी शिलाशासन पुस्तकमें १४१ नं०का एक दानपत्र है, जिससे कृष्णराज तृतीय (मुम्मडि, कृष्णराज ओडेयर) ने आजसे १११ वर्ष पहले क्रिस्ताब्द १८३० में लिखाया है। उसमें निम्न श्लोक पाए जाते हैं —

"नानादेशनृपालमौलिविलसन्माणिक्यरत्नप्रभा- ।
भास्वत्पादसरोजयुग्मरुचिर: श्रीकृष्णराजप्रभुः ॥
श्रीकर्णाटकदेशभासुरमहीशूरस्थसिंहासन: ।
श्रीचामक्षितिपालसूनुरवनौ जीयात्सहस्रं समा: ॥

स्वस्ति श्रीवर्द्धमानाख्ये, जिने मुक्तिं गते सति ॥
वह्निरंध्राब्धिनेत्रैश्च (२४६३) वत्सरेषु मितेषु वै ॥
विक्रमाङ्कसमास्विंदुगजसामजहस्तिभि: (१८८८) ॥
सतीषु गणनीयासु गणितज्ञै र्बुधैस्तदा ॥
शालिवाहनवर्षेषु नेत्रबाणनगेंदुभि: (१७५२) ॥
प्रमितेषु विकृत्यब्दे श्रावणे मासि मंगले ॥" इत्यादि—

इन श्लोकोंमें उल्लिखित हुए महावीर-निर्वाणाब्द, विक्रमशकाब्द और शालिवाहनशकाब्द इस बातको दृढ़ करते हैं कि शकराज शब्दका अर्थ विक्रमराजा ही है। महावीर-निर्वाणाब्द २४९३ की संख्यामें दानपत्रकी उत्पत्ति-कालके १११ वर्षोंको मिला देनेपर इस समय वीरनिर्वाण-संवत् २६०४ हो जाता है। और विक्रम शकाब्दकी संख्या १८८८ को दानपत्रोत्पत्तिकाल १११ वर्षके साथ जोड़ देने से इस समय विक्रमशकाब्द १६६६ आ जाता है।

(५) चामराजनगरके निवासी पं०ज्ञानेश्वर द्वारा प्रकाशित जैन पंचांगमें भी यही २६०४ वीरनिर्वाणाब्द उल्लिखित है।

इन उपर्युक्त विश्वस्त प्रमाणोंसे श्री महावीरका निर्वाणसंवत् इस समय २६०४ ही यथार्थ सिद्ध होता है, २४६७ नहीं। साथ ही यह निश्चित होता है कि क्रिस्ताब्द (ईसवी सन्) ६६३ से पूर्व महावीरके निर्वाणाब्दका प्रारम्भ हुआ है।*

---

*इस अनुवादका सम्पादन मूल संस्कृत लेखके आधार पर किया गया है, जो हिन्दी जैनगजटके इसी वर्षके दीप-मालिका-अङ्कमें मुद्रित हुआ है। —सम्पादक

श्रीजैन पंचायतीमन्दिर देहलीके उन हस्तलिखित ग्रंथोंकी सूची जो दूसरे दो मंदिरोंकी पूर्व प्रकाशित सूचियोंमें नहीं आए हैं

(२) हिन्दी भाषाके ग्रन्थ

गत किरणमें इस मन्दिरके संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके कोई २५० ग्रंथोंकी एक सूची प्रकाशित की गई थी। यह सूची, इस मंदिरके प्रायः हिन्दी भाषा-विभागके ग्रंथोंसे सम्बन्ध रखती है, और नई सूचीके दूसरे रजिस्टरपरसे तय्यार की गई है--कुछ हिन्दी ग्रंथ जो संस्कृतादिके गुटकोंमें शामिल हो रहे थे और संस्कृतादि ग्रंथोंकी सूचीके रजिस्टरमें पाये जाते थे उनमेंसे भी कितने ही ग्रंथोंको इस सूचीमें लेलिया गया है। इस सूचीपरसे हिन्दीके और भी कितने ही अज्ञात कवियों तथा लेखकोंका पता चल सकेगा।

—सम्पादक

ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या	रचना सं०	लिपि सं०
अठारह नातेकी कथा	भ० कमलकीर्ति, फिरोजाबाद	हिन्दी पद्य	११	....	....
अनन्तचतुर्दशीव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	,,	२७ से २९	....	....
अनन्तचौदशकथा	कवि भैरोंदास	,,	१६९से१७३	१७८७	....
अनन्तव्रतकथा	पं० हरिकृष्ण पांडे	,,	९४ से ९६	१७६६	....
अनित्यपंचासिका	त्रिभुवनचन्द्र	,,	३७ से ४७	....	....
अनेकार्थनाममाला	पं० भगवतीदास	,,	१७ से २९	१६८७	....
अबजदपासाकेवली	....	,,	१६	....	....
अम्बिकादेवीरास	ब्र० जिनदास	,,	१४७	....	....
अशोकरोहिणीव्रतकथा	पं० हेमराज	....	१९ से २५	१७४२	....
अष्टमीकथा	भ० गुलालकीर्ति, इन्द्रप्रस्थ	[illegible]न्दी पद्य	....	....	....
अष्टमीव्रत-कथा	पं० गैबीदास	,,	....	....	....
अष्टमीव्रतकथा	पं० जोगीदास	भा० ब०	२	....	....
,, ,, रास	,, , सलेमगढ	....	५३	....	....
अष्टान्हिकाकथा	भ० विश्वभूषण	हिन्दी पद्य	५१९से५२१	१७३८	....
अष्टान्हिकाव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	,,	८ से ११	....	....
आकाशपंचमीकथा	पं० खुशालचन्द	,,	९	१७०९	....
,,	पं० घासीदास		६ से २१	१७९२	...
,,	पं० हरिकृष्णपांडे, यमसारनगर	,,	६ से ८	१७६५	....
आरम-पचीसी	पं० वीरदास	,,	७८ से ८०	....	....
आदित्यव्रतकथा	भ० रत्नभूषण	हिन्दी पद्य	७।	....	१८५२
आदित्यव्रतरास	ब्र० नेमिदत्त	पद्य	१९२से१९४	....	....
आराधनारास	ब्र० जिनदास	,,	२००से२०१	....	....
आरापैंतीसी	पं० शिवचन्द्र	हिन्दी पद्य	२	१९२०	....
आर्यसमाजी प्रश्न	,,	हिन्दी गद्य	१३	....	....
आस्रवत्रिभंगी	कुंवरधर्मार्थी	प्रा० हिन्दी	९	....	....
इक्कीसठाणा (सटि०)	....	प्रा० हि०	....	....	१९८३
इतिहासरत्नाकरभाग २	पं० शिवचन्द्र	हिन्दी गद्य	५५	....	१९२०

ग्रन्थ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	रचनासं०	लिपि सं०
इतिहाससरत्नाकर भाग ४ अ० ६	पं० शिवचन्द्र	हिन्दी गद्य	१०१	....	१६२०
,, ,, अ० १२	,,	,,	२००	....	,,
उदयत्रिभंगी	कुंवरधर्मार्थी	,,	३०	....	....
उपदेशपचीसी	पं० भगवतीदास	हिन्दी पद्य	८ से ११	१७४१	....
एकीभावस्तोत्र (भा० टी०)	संघी ज्ञानचन्द्र	हिंदी	११	....	....
एकीभावस्तोत्र (अनुवाद)	पं० भूधरदास	हिन्दी पद्य	१ से २	....	....
एकीभावस्तोत्र ,,	हीरकवि	,,	३ से ५	....	....
,, टीका	शाह अखयराज	हिन्दी गद्य	१ से १५	....	....
कलियुगचरित्र	पं० भूधरदासशर्मा, मलिकपुर	हि० प०	....	१७५७	....
कल्याणमन्दिर भा० टीका	अखयराज श्रीमाल	,,	१२३	....	....
कँवरपुरन्दरकथा (श्वे०) अपूर्ण	....	हिन्दी	२५	....	....
किशनपचीसी	पं० किशनलाल	,,	....	....	१७६४
कृपणजगावनचरित्र	कवि ब्रह्मगुलाल	,,	२७	१६७१	१७१८
क्षेत्रसमास सटीक व सचित्र(श्वे०)	रत्नशेखरसूरि, ...	प्रा० प०,भा० व०	५७	....	१६३८
गृहस्थचर्या	पं० शिवचन्द्र	हिन्दी गद्य	७१	....	....
चतुरखंडचौपई (श्वे०)	जिनोदयसूरि	हिन्दी पद्य	२८	....	१८६५
चतुर्दशीकथा	पं० ज्ञानचन्द्र, (जगतकीर्ति-शिष्य)	,,	५	१७६८	....
चन्दनषष्ठीव्रतकथा	पं० खुशालचन्द्र	,,	७	१७८५	....
,,	ब्र० ज्ञानसागर	,,	३३ से ३७	....	....
चौदहगुणस्थानवेल	ब्र० जीवन्धर, (यशःकीर्तिशिष्य)	,,	७७ से ८१	....	....
चौरासीजाति-जयमाला	पं० मनरंगलाल	,,	८	१८६४	....
चौबीसजिनपूजा	पं० बख़्तावर-रतनलाल	,,	८१	१८९२	१६२६
चौबीसमहाराजपूजा	पं० वृन्दावन	,,	६८	....	....
,,	पं० रामचन्द्र	,,	१ से ६६	....	....
जम्बूस्वामीपूजा	प्रयागदास	,,	६	....	....
जम्बूस्वामीरास	ब्र० जिनदास	,,	२१२-२३०	....	....
जिनगुणसम्पत्तिव्रतकथा	भ० ललितकीर्ति,(विश्वभूषण-शिष्य	....	१४ से १६	१७८३	....
जिनरात्रिकथा	ब्र० ज्ञानसागर	हिन्दी पद्य	४२ से ४७	....	....
जीवनचरित्र (श्वे०)	पं० भावसिंह	,,	३७	१७८२	१८६५
जीवंधररास	भ० त्रिभुवनकीर्ति	,,	१०६-११६	१६७६	....
जैनउद्योतकपत्रिका	पं० शिवचन्द्र	हिन्दी गद्य	२८	१६२७	....
जैनमतप्रबोधिनी द्वि० भाग	,,	,,	७१	....	....
जोगीरासा	पं० जिनदास	हिन्दी पद्य	५६ से ६२	....	....
ज्ञानचिंतामणि	पं० मनोहरदास	,,	८	१७२८	....
ज्ञानस्वरोदय	पं० चरणदास	,,	१५	....	....

ग्रंथ-नाम	ग्रन्थकारनाम	भाषा	पत्रसंख्या	रचना सं०	लिपि सं०
ढालसागर (हरिवंशपुराण)(श्वे०)	गुणसागर	हिंदी पद्य	१२५	१६७६	१८०२
तत्वसार (भा०)	पं० द्यानतराय	,,	११	....	....
तत्वार्थसारदीपक (सटीक)	भ० सकलकीर्ति, टी० पं० पन्नालाल	सं०, हिन्दी	१६०	१६३७	....
तत्वार्थसूत्र (भा० टीका)	पं० शिवचन्द्र	हिंदी	६५	१६२४	१६२४
तीर्थावली (श्वे०)	समयसुन्दर	हिंदी पद्य	५२ से ५६	....	....
तेरहद्वीपपूजा	श्रीलालजी कवि	,,	१८३	१८७०	१६४५
त्रिलोकसार टीका (मूलसहित)	पं० टोडरमल	प्रा०, हिंदी	२७८	....	१६३८
त्रिवर्णाचार (सटीक)	भ० सोमसेन, टी० पांडेशिवचन्द्र	सं०, हिन्दी	२७४	मू०१६६७ टी०१६५०	१६५०
त्रेपनक्रियारास व पूजा	....	हिंदी पद्य	३३ से ३६	१६८७	....
त्रेपनक्रियाव्रतपूजा	पं० रामचन्द्र	,,	६४ से ७७	....	....
त्रैलोक्यतृतीया	ब्र० ज्ञानसागर	हिंदी पद्य	३७ से ३६	....	....
दशलक्षणकथा	कवि भैरोंदास	,,	५२२ से ५२५	१७६१	....
दशलक्षणधर्मवचनिका	मू० रइधूकवि, अनु० शिवचन्द्र	अपभ्रं०, हि० गद्य	१०	....	१६५६
दशलक्षणधर्मवचनिका	पं० सदासुख	हिंदी गद्य	२५	....	१६८३
दशलाक्षणीव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	हिंदी पद्य	१३ से १५	....	....
,,	पं० हरिकृष्ण पांडे	....	६ से ८	१७६५	....
दायभागप्रकरणसंग्रह (भा० टी०)	पं० शिवचन्द्र	सं०, हिन्दी	१६	....	....
दुधारसकथा	ब्र० ज्ञानसागर	हिंदी पद्य	....	....	....
देवेन्द्रकीर्तिकी जकड़ी	पं० नेमिचन्द्र	,,	८ से ८	१७७०	...
द्रव्यसंग्रह भा० वचनिका	पं० जयचन्द्र	प्रा०, हिं०	१७५	१८६३	....
,, (पद्यानुवाद)	मानसिंहभगवती	हिन्दी पद्य	१५	१७३१	....
धर्मपरीक्षारास	भ० सुमतिकीर्ति	,,	१३८	१६२५	....
धर्मप्रश्नोत्तर श्रा० वचनिका	पं० शिवचन्द्र	,, गद्य	१३६	१६३०	....
ध्यानदर्पण	पं० शिवचन्द्र	हिंदी गद्य	१४	....	....
नयनभजनमाला	नयनकवि	हिंदी पद्य	२से३४	....	....
नित्यनियमपूजा (सार्थ)	पं० सदासुखराय	सं० भा० व०	८८	....	१६२१
निर्दोषसप्तमीकथा	ब्रा० रायमल्ल	,,	३६ से ४१	....	....
,,	ब्र० ज्ञानसागर	हिन्दी पद्य	२१ से २३	....	....
निशिभोजनकथा	पं० किशनसिंह	,,	२८	१७७३	....
निःशल्यव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	,,	३६ से ४२	....	....
नीतिवाक्यामृत-टीका	मू० सोमदेवसूरि, टी० पं० शिवचंद	सं०, हिंदी	६६	टी. १६३०	१६३०
नीराजना	भ० महेन्द्रकीर्ति	हिंदी पद्य	....	....	....
नेमिनाथजीकामंगल	कवि० विनोदीलाल, शाहजादपुरिया	हिंदी	१ से १०	१७४४	....
नेमिनाथब्याहकवित्त	पं० कुशललाल	पद्य	८	....	....
नेमि-राजुल बारहमासा	पं० विनोदीलाल	हिंदी पद्य	....	....	....

ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	भाषा	पत्रसंख्या	रचनाकाल	लिपि सं०
नेमीश्वररास	ब्र० रायमल्ल (अनंतकीर्तिशिष्य)	हिंदी पद्य	५६ से ७०	....	....
पदप्रकीर्णक	विविध कविजन	,,	२२	....	....
पदसंग्रह	विविध कविजन	,,	१७१	...	....
पदसंग्रह (श्वे०)	पं० अमनादास	,,	४०	....	....
पंचकल्याणककथा	पं० विनोदीलाल	....	....	....	....
पंचकल्याणकपूजा	पं० बखतावर-रतनलाल	हिंदी पद्य	६६ से १३०	१८६२	....
,, (श्वे०)	पाठक विमलविजय	,,	८	१६०३	१६३०
पंचगतिकी बेल	कवि हर्षकीर्ति	,,	४७	१६८३	....
पंचपरमेष्ठीपूजा	कवि टेकचन्द	,,	६७	....	....
पंचमीव्रतकथा (भविष्यदत्तफल)	विष्णुकवि, उज्जैन	हिंदी गद्य	१२	१६६६	१७१२
पंचस्तोत्र (भा० टी०)	पं० शिवचन्द्र	सं० हिंदी	३४	१६४८	१६४८
पंचाख्यान (पंचतंत्र भा०)	पं० निर्मलदास जैन	हिंदी पद्य	६८	....	१८०३
पंचांगनिर्माणविधि (श्वे०)	महिमोदय उपाध्याय	,,	६	१७३३	१६२३
पंचेन्द्रियकी बेल	ठाकुरसी कवि	,,	२०	१५८५	....
पंचेन्द्रियविषयवर्णन	पं० शिवचन्द्र	हिंदी गद्य	३	....	....
पार्श्वनाथकवित्त	कवि मुन्नकलाल	हिंदी पद्य	१०	....	....
पिंगल	कवि राजमल्ल	सं० प्रा० हिंदी	२८	....	....
पुष्पांजलिकथा	भ० ललितकीर्ति	हिंदी पद्य	७८ से ८२	....	....
प्रश्नोत्तर	पं० शिवचन्द्र	हिंदी गद्य	११	....	....
प्रश्नोत्तरश्रावकाचार	पं० बुलाकीदास	हिंदी पद्य	१०३	१७४७	१६१७
बन्धत्रिभंगी वचनिका	कुँवरधर्मार्थी	प्रा० हिंदी	१६	१८०६	....
बारहखड़ी	कवि सुदामा	हिंदी पद्य	....	१७६०	....
,,	दत्तलाल कवि	,,	....	....	१८३०
बासठठाणावचनिका (सयंत्र)	....	हिंदी गद्य	१७	....	१८७५
भक्तिपाठसप्तक (सटीक)	पं० शिवचन्द्र	,;	४६	१६४८	१६४८
भविष्यदत्तचरित्र	पं० बनारसीदास	,,	४६	१६६२	१८३६
भविष्यदत्तरास	विद्याभूषणसूरि	हिंदी पद्य	१४३-१५२	....	....
भाषाभूषण (अलंकार, अजैन)	यशवन्तसिंह राठौर	हिंदी	....	....	....
भूपालचौबीसी	पं० द्यानतराय	हिंदी पद्य	....	....	....
,,	शाहअखयराज	,,	१६ से ३१	....	....
मतोत्पत्तिविचार	पं० शिवचन्द्र	हिंदी गद्य	८	१८५१	१८८५
मदनचन्द्रोदयकाव्यसार (अजैन)	....	हिंदी पद्य	२२	....	...
मनबत्तीसी (ध्यानबत्तीसी)	पं० भगवतीदास	,,	२	....	....
महापुराणरास	पं० गंगादास (पर्वतसुत)	,,	१७६-१८४	....	....
मिथ्यात्वभंजन	पं० नूं गसमल	,,	७	....	....

ग्रन्थ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	रचना सं०	लिपि सं०
मुक्तावलीकथा	पं० छुअमल	....	५५ से ५७	....	....
यशोधररास	सोमकीर्ति	हिंदी पद्य	१३६ से १४३	१६००	....
यात्राप्रबन्ध	पं० शिवचंद्र	हिंदी गद्य	१४	१९२७	....
रत्नोत्सवरास	ब्र० जिनदास	....	३६९–३७१	....	....
रत्नकरण्डश्रावकाचार (पद्यानुवाद)	पं० फूलचंद्र	हिंदी पद्य	२३	१९१२	....
रत्नत्रयव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	"	१५ से १८	....	....
"	पं० हरिकृष्णपांडे, चमसारनगर	"	२८	१७६६	१८६७
रविव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	"	३२ से ३३	....	....
"	भ० सकलकीर्ति	....	४	१७४३	१९१०
"	अचलकीर्ति	....	४	१७१७	....
रात्रिभोजनरास (नागश्रीरास)	विशालकीर्तिशिष्य (?)	....	१६६ से १७१	....	....
रोगापहारस्तोत्र	पं० मनराम	हिंदी पद्य	२०० से २०१	....	....
रोटतीजव्रतकथा	जैनेंद्रकिशोर, आरा	हिंदी वच०	१०	१९५०	....
रोहिणीव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	हिंदी पद्य	४७ से ५२	....	....
"	पं० हेमराज, वीरपुर	हिंदी वच०	९	१७४९	....
लघुसामायिक	पं० महाचंद्र	हिंदी पद्य	६	....	१९३७
लब्धिविधानकथा	ब्र० ज्ञानसागर	"	२ से ८	....	....
लब्धिरक्षाबन्धनकथा	ब्र० ज्ञानसागर	"	१ से ५	....	....
लोकचर्चांत्रचमिका	पं० शिवचंद्र	हिंदी वच०	२९	....	....
वसंतनेमिका फाग	विद्याभूषण	हिंदी	१२८ से १३२	....	....
विषापहार	अचलकीर्ति	हिंदी पद्य	३५ से ४४	....	....
विषापहार (टीका)	शाहअखयराज	सं० हिंदी	३२ से ४२	....	१७५०
वैद्यमनोत्सवमंत्रसंग्रह	वैद्य केशवदास	हिंदी पद्य	३३	१६०१	१८०४
व्रतविधानरास	पं० दौलतराम	ढारी	४७	१७६७	१९१५
शकुनविचार (भा० टी०)	गोवर्द्धनदास	हिंदी पद्य	५	१७६२	१८७४
शिक्षाचंद्रिका	पं० शिवचंद्र	हिंदी गद्य	२०	....	....
श्रवणद्वादशीव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	हिंदी पद्य	२६ से २७	....	....
श्रावकाचाररास	भ० प्रतापकीर्ति	"	१३२–१३६	१५७४	....
श्रीपालचौपाई (श्वे०)	जिनहर्ष वाचक	"	....	....	....
श्रीपालरास	ब्र० जिनदास	"	१७१–१७६	....	१६१६
श्रीपालरास (श्वे०)	मुनितत्त्वकुमार	"	१८	....	१८८७
श्रीसुकोशलरास	कवि सांगा	पद्य	१८४–१८८	....	....
श्रुतपंचमीव्रतकथा	भ० सुरेन्द्रभूषण	हिंदी पद्य	१८ से ३१	१७५७	....
श्रुतपंचमीरास	पं० पृथ्वीपाल अग्रवाल, पानीपत	"	१०	१९१२	....
षट्पाहुड-टीका	पं० चिन्तामणि	हिंदी गद्य	३५	१८०१	१८५६

ग्रन्थ-नाम	ग्रंथकार-नाम	भाषा	पत्र-संख्या	रचनासं०	लिपिसं०
षट्मतव्यवस्थावर्णन	पं० शिवचंद्र	हिंदी गद्य	७	....	....
षोडशकारणकथा	कवि भैरोदास	हिंदी पद्य	१६३-१६८	....	....
षोडषकारणव्रतकथा	ब्र० ज्ञानसागर	,,	११ से १३	....	....
सत्तात्रिभंगीरचना	कुँवरधर्मार्थी	....	१५	....	....
सत्तात्रिभंगीवचनिका	कुँवरधर्मार्थी	प्रा०, हिंदी	२३	टी. १७२५	....
सप्तर्षिपूजा	कवि मनरंगलाल	हिंदी पद्य	५	....	....
सभासारनाटक	पं० रघुराम	,,	....	....	....
समकितरास	ब्र० जिनदास	,, पद्य	३७१-३७२	....	....
समवसरणपाठ	कवि लालजी	हिंदी पद्य	६१	१८३४	....
,,	पं० ब्रह्मगुलाल, भ०जगभूषण	,,	....	....	....
समाधि	पं० धर्मरुचि	पद्य	४	....	....
सम्मेदशिखरपूजा	पं० रामचंद्र	हिंदी पद्य	५	....	१९१८
,,	देवब्रह्मचारी	,,	६	....	१९१५
,,	पं० दिलसुखराय	,,	८४	१८५१	१८५५
सम्मेदशिखरमाहात्म्य	पं० लालचंद्र	,,	४४	१८४२	१९४०
सलोनोरक्षाबंधनपूजा	मनसुखसागर	,,	१२ से १४	....	....
संजयंतकथा	....	,,	७	....	....
सामायिकपाठ टीका	मू. प्रभाचंद्र,टी. त्रिलोकेंद्रकीर्ति	सं० ग० हिंदी	५२	टी. १८३२	....
सिद्धचक्रपाठ	कवि संतलाल	हिंदी पद्य	१७७	....	....
सिद्धान्तसार (भा० टी०)	मू. नरेन्द्रसेन, पं०देवीदासगोधा	सं० हिंदी	२३२	टी. १८४४	....
सीखपचीसी	पं० वीरदास (हर्षकीर्तिशिष्य)	हिंदी पद्य	७७ से ७८	१६६६	....
सुगन्धदशमीकथा	पं० सुखसागर	,,	४१-४५	....	....
सुदर्शनचरित्र	....	,,	२२	१६६३	१८०५
सुदर्शनचरि (श्वे०)	ब्र० ऋषिराय	,,	८६	....	१८६२
सुदर्शनरास	ब्र०जिनदास(विशालकीर्तिशिष्य)	,,	१६०-१६६	....	....
सोनागिरपूजा	मनसुखसागर	,,	१४ से १५	१८४६	....
सोलहकारणभावना (सटीक)	मू० रइधूकवि, टी०पं०शिवचंद्र	अपभ्रं० हिं० गद्य	१६	टी. १९४८	१९४८
सोलहकारणरासा	भ० सकलकीर्ति	हिंदी पद्य	५२ से ५३	....	....
स्वामीकर्तिकेयानुप्रेक्षा सटीका	टी० पं० जयचंद्र	प्रा०, हिंदी	१८१	टी. १८६३	१९१४
हनुमन्तरास	ब्र० जिनदास(भुवनकीर्तिशिष्य)	हिंदी पद्य	३५७-३६७	....	....
हनुमानचरित्र (श्वे०)	....	हिंदी पद्य	१२	....	....
हनुमानचौपाई	ब्र० रायमल	,,	१०१	१६१६	१८४१
हरिवंशपुराणवचनिका	पं० दौलतराम	सं० हिंदी	३४२	१८२७	....
हितकरभजनमाला	पं० हितकर	हिंदी पद्य	१४-७४	....	....
होलीकथा	पं० वेगराज	हिंदी गद्य	३	१७६५	....
होलीकथा	पं० छीतरमल, मौजाबाद	,,	८	१६६०	१७६८

'सयुक्तिक सम्मति' पर लिखे गये उत्तर-लेखकी निःसारता

(लेखक—पं० रामप्रसाद जैन शास्त्री)

[गत किरण नं० ८ से आगे]

४ भाष्य

(क) सयुक्तिक सम्मतिमें इस 'भाष्य'-प्रकरणको लेकर मैंने, पं० जुगलकिशोरजीके मतका समर्थन करते हुए, प्रथम पैरेग्राफमें यह बतलाया था कि 'राजवार्तिकके "भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्त" इस वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'भाष्य' शब्दका वाच्य यदि स्वयं राजवार्तिक भाष्यको न लेकर किसी प्राचीन भाष्यको ही लिया जाय तो वह 'सर्वार्थसिद्धि' भी हो सकता है, जिसके आधारपर राजवार्तिक और उसके भाष्यकी रचना हुई है और जिसमें 'षड्द्रव्याणि' के उल्लेख भी कई स्थानोंपर दिखाई दे रहे हैं; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरणरूप भाष्यके अर्थको लिये हुए है, उसकी लेखनशैली भी पातंजल-भाष्य-सरीखी है और 'वृत्ति' एवं 'भाष्य' दोनों एक अर्थके वाचक भी होते हैं।' मेरे इस कथनपर आपत्ति करते हुए प्रो० जगदीशचन्द्रजी लिखते हैं—

"स्वयं पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिको 'तत्त्वार्थवृत्ति' नामसे सूचित किया है। यदि सर्वार्थसिद्धि भाष्य होता तो उसे वे 'भाष्य' लिखते। स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरणमात्रसे कोई ग्रंथ भाष्य नहीं कहा जा सकता। तथा अन्य ग्रन्थोंकी शैली भी पातंजल भाष्य-सरीखी हो सकती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन सबको भाष्य' 'कहा जायगा।"

"इसके अलावा यदि 'षड्द्रव्याणि' इस पदका ही खास आग्रह है, तो 'षड्द्रव्याणि' पद सर्वार्थसिद्धिमें भी एक ही बार आया है (दूसरी जगह 'षडपिद्रव्याणि' है)। ऐसी हालतमें सर्वार्थसिद्धिको भाष्य बताना भ्रम है। वास्तवमें सर्वार्थसिद्धि वृत्ति है और राजवार्तिक भाष्य है। जैसे राजवार्तिकको वृत्ति नहीं कहा जासकता वैसे, ही सर्वार्थसिद्धिको भाष्य नहीं कहाजा सकता।"

इसके साथमें प्रो० सा० प्रमाणरूपसे 'वृत्ति' और 'भाष्य' का हेमचन्द्राचार्य-कृत लक्षण भी देते हैं और तिलकजीके गीतारहस्यसे 'टीका' और 'भाष्य' के भेद-कथनको भी उद्धृत करते हैं।

इस आपत्तिके सम्बन्धमें मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि यदि वृत्तिके लिये 'भाष्य' का और भाष्यके लिये 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग नहीं होता है, तो फिर श्वेताम्बरभाष्यके लिये भी कहीं 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग नहीं बन सकता, और इसलिए राजवार्तिकके "वृत्तौ पंचत्ववचनादिति" इस वार्तिकमें आये हुए 'वृत्ति' शब्दका वाच्य श्वेताम्बरभाष्य किसी तरह भी नहीं हो सकता। प्रो० सा० का एक जगह (राजवार्तिकमें) तो अपने मतलबके लिये 'वृत्ति' को 'भाष्य' बतलाना और दूसरी जगह (सर्वार्थसिद्धिमें) 'वृत्ति' शब्दके प्रयोगमात्रसे उसके 'भाष्य' होनेसे इन्कार करना, बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है! यह तो वह बात हुई कि 'चित भी मेरी और पट भी मेरी,' जो विचार तथा न्याय-नीतिके विरुद्ध है।

प्रो० साहबका यह लिखना कि "स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरण-मात्रसे कोई (टीका) ग्रन्थ

भाष्य नहीं कहा जाता" बिल्कुल ही अविचारित जान पड़ता है, क्योंकि वह उनके द्वारा उद्धृत हेमचन्द्राचार्यके भाष्य-लक्षण तथा फुट नोटमें दिये गये तिलक महोदयके उद्धरणसे स्वतः ही खंडित हो जाता है। इसीको कहते हैं अपने शस्त्रसे अपना घात! हेमचन्द्रने भाष्यका लक्षण जो 'सूत्रोक्तार्थ-प्रपंचक' बतलाया है उसका अर्थ क्या सूत्रपर आये हुए दोषोंका खण्डन नहीं होता? यदि होता है तो फिर उसका अर्थ स्वमत(सूत्रमत)-स्थापन और परमत (शंकाकृतमत) का खण्डनके सिवाय और क्या होता है उसे प्रो० साहब ही जानें! वस्तुतः टीकाओंमें तो और और विषय-सम्बन्धी प्रपंच रहते हैं परन्तु भाष्यमें उन प्रपंचोंके साथ यह स्वमत-स्थापन और परमत-खंडन - सम्बन्धी प्रपंच विशेष रहता है। इसीसे फुटनोट वाले उद्धरणमें श्रीबालगंगाधरजी तिलक स्पष्टरूपसे कहते हैं कि—"भाष्यकार इतनी ही बातों पर (सूत्रका सरल अन्वय और सुगम अर्थ करनेपर) संतुष्ट नहीं रहता, वह उस ग्रन्थकी न्याययुक्त समालोचना करता है और अपने मतानुसार उसका तात्पर्य बताता है और उसीके अनुसार वह यह भी बतलाता है कि ग्रन्थका अर्थ कैसे लगाना चाहिये।" इन तिलक-वाक्योंमें 'न्याययुक्त समालोचना' और 'अपने मतानुसार तात्पर्य बताता है' ये शब्द सिवाय स्वमत-स्थापन और परमत-निराकरणके अन्य क्या बात सूचित करते हैं? उसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें ये सभी बातें श्वेताम्बर भाष्यकी अपेक्षा विस्तारसे पाई जाती हैं और इस तरहसे सर्वार्थसिद्धि भाष्यके सच्चे लक्षणोंसे युक्त है, फिर भी उसे भाष्य न कहना यह कहाँका न्याय है? असलियतमें देखा जाय तो 'सर्वार्थसिद्धि' यह नाम ही अपनेको भाष्य सूचित करता है; क्योंकि इस ग्रन्थमें सूत्रार्थ, न्याययुक्त समालोचना और अपने मतानुसार तात्पर्य बताना आदि भाष्यमें पाई जाने वाली सर्वअर्थकी सिद्धि मौजूद है। अतः सर्वार्थसिद्धि नामको भाष्यका पर्यायवाची नाम समझना चाहिये।

सर्वार्थसिद्धिकी लेखन-शैलीको जो पातंजल-भाष्य-सरीखी बतलाया गया था उसका तात्पर्य इतना ही है कि 'भाष्य' नामसे लोकमें जिस पातंजलभाष्य की प्रसिद्धि है उसकी-सी लेखनशैली तथा भाष्यके लक्षणको लिये हुए होनेसे सर्वार्थसिद्धि भी भाष्य ही है। ऐसी पद्धति जिन टीका-ग्रन्थोंमें पाई जाय उनको भाष्य कहनेमें क्या आपत्ति हो सकती है, उसे प्रोफेसर साहब ही समझ सकते हैं!!

वास्तवमें देखा जाय तो अकलंकदेवने जिन दो प्रकरणों (अ० ५ सूत्र १, ४) में प्रकारान्तरीय वाक्य-रचनासे षड्द्रव्यत्वके जिस ध्येयकी सिद्धि की है वह ही बात वहां पर 'वृत्ति' और 'भाष्य' की एकध्येयता को लिये है। अतः अकलङ्क की कृतिसे भी यह बात स्पष्ट सिद्ध है कि 'भाष्य' और 'वृत्ति' एक पर्याय-वाचक हैं। इसलिये राजवार्तिकमें 'कालस्योप-संख्यानं' इत्यादि वार्तिकगत-षड्द्रव्यत्वके विषय की शंकाका जो समाधान है वह सर्वार्थसिद्धिको लक्ष्य करके संभवित है; क्योंकि उसमें द्रव्योंकी छह संख्याकी सूचनाके लिये 'षट्' शब्द बहुत बार आया है। वहाँ 'षड्द्रव्याणि' का तात्पर्य समाश्रित उस 'षड्द्रव्याणि' पदसे नहीं है किन्तु द्रव्योंकी छह संख्या-सूचक 'षट्' शब्दसे है। अतः राजवार्तिकके उस प्रकरणने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिका भाष्य

दोनों लिये जा सकते हैं। श्वेताम्बर भाष्यमें वैसा 'बहुकृत्वः'—बहुत बार द्रव्योंकी छह संख्या सूचित करनेकी बात न होनेसे उस प्रकरणमें श्वेताम्बर भाष्यका ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः उक्त आपत्ति निर्मूल है।

(ख) इस भाष्य प्रकरण-सम्बन्धी 'सयुक्तिक सम्मति' के दूसरे पैराग्राफ में मैंने, पं० जुगलकिशोरजी के इस कथनका कि 'राजवार्तिक भाष्यमें आए हुए 'बहुकृत्वः' शब्दका अर्थ 'बहुत बार' होता है उस शब्दार्थको लेकर 'षड्द्रव्याणि' ऐसा पाठ श्वे० भाष्य में बहुत बारको छोड़कर एक बार तो बतलाना चाहिये' उल्लेख करते हुए, यह बतलाया था कि बहुत कोशिश करनेपर भी प्रो० सा० वैसा नहीं कर सके—उन्होंने 'सर्वं षट्त्वं षड् द्रव्यावरोधात्' इस भाष्य-वाक्यसे तथा प्रशमरति-गाथाकी 'जीवाजीवौ द्रव्यमिति षड्-विधं भवतीति' इस छायापरसे कोशिश तो बहुत की है परन्तु उससे केवल 'षट्त्वं' 'षड्विधं' ये वाक्य ही सिद्ध होसके हैं, 'षड् द्रव्याणि' यह वाक्य श्वे०भाष्य-कारने स्पष्टरूपसे कहाँ उल्लेखित किया है यह सिद्ध नहीं किया जा सका, इत्यादि। मेरे इस कथनपर आपत्ति करते हुए प्रो० साहबने जो कुछ लिखा है उसकी निःसारताको नीचे व्यक्त किया जाता है:—

प्रथम ही आपने लिखा है कि—"यह शंका पहले लेखोंको न पढ़नेका परिणाम है।" इसका जवाब सिर्फ इतना ही है कि जहां तक आपका लेखांक नं० ३ मेरे पास आया और उसके ऊपर 'सयुक्तिक सम्मति' लिखी जाकर मुद्रित होनेको भेजी गई वहां तक तो पं० जुगलकिशोरजीके लेख मैंने नहीं पढ़े थे, पीछे जुगलकिशोरजीके सब लेख मेरे पास आगये और उन्हें मैंने अच्छी तरहसे पढ़ लिया। मुझे तो जो बात आपके लेखांक तृतीयसे मालूम पड़ी थी वही बात पीछे से आये हुए पं० जुगलकिशोरजीके लेखोंसे मालूम हुई थी। परन्तु लेखांक नं० ३ में जो बात सम्मुख थी उसीका उत्तर देना उस समय उचित था। यह निश्चय करके ही 'पंचत्व' के प्रकरणको न उठा कर केवल 'षट् द्रव्याणि' के प्रकरणपरसे ही पं० जुगलकिशोरजीके मतकी पुष्टि की गई थी। वास्तवमें न्यायसंगत बात भी यही है कि जो समक्ष हो उसीका उत्तर दिया जाय। जब पं० जुगलकिशोरजी श्वे० भाष्यमें 'षड्द्रव्याणि' के विधानका निषेध कर रहे हैं तो उससे यह नतीजा स्वतः ही निकल आता है कि भाष्यके मतसे पाँच द्रव्य हैं। क्या प्रकरणके सम्बन्धको लेकर 'षट्' के निषेध परसे 'पंच'का विधान बुद्धिका अगम्य विषय है? यदि वह अगम्य नहीं है तो फिर कहना होगा कि 'सयुक्तिक सम्मति' में जो लिखा गया है वह प्रकरण-संबद्ध होनेसे पूर्व लेखके पढ़ने न पढ़नेके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखता। फिर नहीं मालूम पूर्व लेखोंको न पढ़नेका ऐसा कौनसा परिणाम है जो प्रो० सा० की दृष्टिमें खटक रहा है!

राजवार्तिक-पंचमअध्यायके पहले सूत्रकी ३६वीं वार्तिकके भाष्यमें 'षट् द्रव्यों' का कथन आया है, उसे मैंने सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकका बतलाया है। (भाष्यका नहीं बतलाया है), उसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धिमें द्रव्यों के 'षट्त्व' (छहपने) की सिद्धिका विधायक 'षट्' शब्द बहुत बार आया है।

'सयुक्तिक सम्मति'में जो यह लिखा गया है कि—"षट्त्वं" "षड्विधं" ये वाक्य ही सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु 'षड्द्रव्याणि' यह वाक्य उमास्वातिने तथा

भाष्यकारने कहीं भी स्पष्ट रूपसे उल्लिखित नहीं किया है" उसका आशय यह है कि 'षड्विधं' यह कथन तो 'प्रशमरति' ग्रन्थका है परन्तु प्रशमरति ग्रन्थ किनका बनाया हुआ है यह किसी सुनिश्चित प्रमाणसे अभीतक सिद्ध नहीं हो सका है। शायद वह ग्रन्थ उमास्वाति का ही हो, तो उसमें प्रकरणगत बातका कोई सम्बन्ध ही नहीं है; क्योंकि यह विषय श्वेताम्बरभाष्यका है, न कि सूत्र और सूत्रकारका। और इस लेखमें पुष्ट प्रमाणोंद्वारा यह स्पष्ट करदिया गया है कि सूत्रकार और भाष्यकार दोनों जुदे जुदे हैं।

अब रही भाष्यगत 'षट्त्वं' की बात, इसका उत्तर यह है कि श्वेताम्बर भाष्यमें केवल 'षड् द्रव्यावरोधात्' वाक्य नय-प्रकरणमें आया है और वह वहां इसलिये आया है कि नयोंके विषयमें असामञ्जस्य (अयुक्तपने) की शंका परवादी-द्वारा की गई है। अर्थात् वहां एकत्वमें द्वित्वादिके समान 'षट्त्व' सिद्ध करनेके लिये 'षड् द्रव्यावरोधात्' इस वाक्यको हेतु रूपसे प्रयुक्त किया गया है। इस वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'षड्द्रव्य' शब्दपरसे प्रो० सा०ने जो यह बात निकाली है कि श्वे० भाष्यकार षड्द्रव्योंको मानते हैं, वह यहां बनती नहीं; क्योंकि भाष्यकारने अन्यत्र कहीं भी षड्द्रव्यका विधान नहीं किया, प्रत्युत इसके "एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च पंच द्रव्याणि च भवन्ति" तथा "एतानि द्रव्याणि न हि कदाचित् पंचत्वं व्यभिचरंति" इस प्रकार द्रव्योंके पंचत्व-संख्याभिधायी वाक्य भाष्य में पाये जाते हैं। और सिद्धसेनगणी भी अपनी भाष्यानुसारिणी टीकामें इसी बातको "कालश्चैकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते। वाचकमुख्यस्य तु पंचैव" तथा 'तेषु धर्मादिषु द्रव्येषु पंचसंख्यावच्छिन्नेषु धर्माधर्मयोः प्रत्येकं असंख्येयाः प्रदेशा भवन्ति" इन वाक्यों-द्वारा पुष्ट करते हैं। इन सब उद्धरणों परसे स्पष्ट है कि भाष्यकार पाँच ही द्रव्य मानते हैं। फिर थोड़ी-सी यह शंका रह जाती है कि नय-प्रकरणका 'सर्वषट्कं षड्-द्रव्यावरोधात्' यह वाक्य जो श्वेताम्बर भाष्यमें आया है वह किस उद्देश्यको लेकर आया है? इस विषयमें यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो यही नतीजा निकलता है कि जैनसामान्यके सम्बन्ध से अर्थात् जैनधर्मकी दूसरी मान्यताके अनुसार पर-वादीकी शंकानिवृत्तिके अर्थ आया है। वहाँ षड्द्रव्यका हेतु देकर अपने उस समयके प्रयोजनकी सिद्धि की गई है; क्योंकि भाष्यकार एकीयमतसे कालद्रव्यको मानते हैं और उस एकीयमत माननेका लाभ उन्होंने इस स्थलपर पहलेही ले लिया है। असलियतमें देखा जाय तो उनके मतमें पांच ही द्रव्य हैं।

यहाँ यदि यह शंका की जाय कि 'सर्व षट्कं' इस की सिद्धिके निमित्त अपनी मान्यताके विरुद्ध हेतु देनेका क्या प्रयोजन? तो इसका उत्तर किसी तरह परवादी का मुख बंद करना है। कारण कि परवादी जो अन्यधर्मी है वह षट् - संख्याभिधायी जैनमान्यताओंसे अपरिचित होनेके कारण संतुष्ट नहीं हो सकता था। उसके लिये 'लेश्या' आदि विषय बिल्कुल ही अपरिचित हैं परन्तु 'द्रव्य'का विषय अपरिचित नहीं है। अतः वादी जिस हेतुको मान सके वही हेतु पदार्थसिद्धिमें दिया जाना कार्यकर समझा जाता है, यही सोचकर भाष्यकारने 'षड्द्रव्यावरोधात्' यह हेतु वहां उपन्यस्त किया है।

इसके आगे प्रो० सा०ने अपनी छह द्रव्य वाली बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरा जो "कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च" यह

वाक्य दिया है उसमें तो यही प्रतीत होता है कि काल द्रव्यका स्पष्ट निषेध किया गया है। क्योंकि 'काय' शब्दसे भाष्यकारने बहुप्रदेशी द्रव्योंका ही ग्रहण किया है, जीवादि द्रव्योंकी पर्यायरूपमें ग्रहण किया गया जो काल है उसे द्रव्य रूपमें स्वीकृत नहीं किया है। भाष्यके टीकाकार सिद्धसेनगणीने भी कालको जीव अजीवकी पर्यायरूप ही माना है। वे पांचवें अध्यायमें (३४७वें पृष्ठपर) लिखते हैं कि—"एकीय-मतेन सकद्राचिन धर्मास्तिकायादिद्रव्यपंचकान्त-र्भूतः तत्परिणामत्वात् कदाचित् पदार्थान्तरं" और फिर (पृष्ठ ४३२ पर) आगम ग्रंथका प्रमाण देकर लिखा है कि—किमिदं भंते ? कालोति पवुच्चति ? गोयमा ? जीवा चेव अजीव ाचेव, इदं हि सूत्रमस्ति, कायपंच-काव्यतिरिक्ततीर्थकृतोपादेशि, जीवाजीवद्रव्यपर्यायः काल इति।" इस प्रकार आगमसूत्र प्रमाणपूर्वक सिद्धसेनगणीकी लिखावटमें स्पष्ट सिद्ध है कि भाष्य-कारके मतसे काल नामका कोई भी स्वतन्त्र छठा द्रव्य नहीं है।

सिद्धसेन गणीकी टीका (पृष्ठ ४२९) में "एके नयवाक्यान्तरप्रधानाः तथा "एकस्य नयस्य भेद-लक्षणस्य प्रतिपत्तारः" ये वाक्य पाये जाते हैं। इन से सूचित होता है कि शायद व्यवहारनयसे भाष्य-कारके मतमें कालद्रव्यकी स्वीकृति होगी; परन्तु यह बात भी यहाँ नहीं घटती। क्योंकि भेद-लक्षण-नय जो व्यवहार है वह संग्रहनय-द्वारा ग्रहीत पदार्थोंका ही भेद करता है, जब काल द्रव्य जीवादिकी पर्याय रूपसे ग्रहण किया गया है तो वह द्रव्यों के संग्रह-विषयी नयमें प्रविष्ट भी कैसे हो सकता है? और जब वहाँ (संग्रह नयमें) वह प्रविष्ट ही नहीं हो सकता तो उसका व्यवहारनय भेद भी क्या करेगा? इस लिये स्पष्ट है कि भाष्यकारके मतमें काल द्रव्यरूपसे कोई पदार्थ नहीं है। यदि व्यवहारनयका अर्थ उप-चारनय किया जाय तो वह भी नहीं बनता; क्योंकि उपचार मुख्यका गौणमें होता है—जैसे कि घीका घड़ा। यहां घड़ा भी मुख्य स्वतन्त्र पदार्थ है तथा घी भी स्वतन्त्र पदार्थ है, अतः घड़ेमें घीके रक्खे जाने से 'घीका घड़ा' ऐसा उपचार होता है। परन्तु यहां जब निश्चयनयका विषय काल कोई मुख्य पदार्थ ही नहीं तो उसका उपचार भी जीवादिकी पर्यायोंमें कैसे सम्भवित हो सकता है? अतः सिद्ध है कि श्वे० भाष्यकारके मतसे पाँच ही द्रव्य हैं; तब छह द्रव्योंको उक्त भाष्यकार-सम्मत मानना भ्रममात्र है। जब भाष्यकारके मतमें काल कोई द्रव्य ही नहीं है तो फिर उस भाष्यका राजवार्तिकमें ऐसा उल्लेख कैसे बन सकता है कि उस भाष्यमें बहुत बार छह द्रव्यों का विधान आया है—वहां तो वस्तुतः एक बार भी विधान नहीं है। बस यही आशय पं० जुगलकिशोर जीका है। इसमें भिन्न अर्थकी कोई कल्पना करना निराधार है।

असलियतमें देखा जाय तो 'यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं' वाक्यमें प्रयुक्त हुए 'षड्द्रव्याणि' पदके द्वारा आनुपूर्वी रूपमें समाश्रित कथनका कोई आशय ही नहीं है; किंतु द्रव्योंकी संख्याबोधक 'षट्' शब्दपरक ही आशय है, और द्रव्योंकी षट्संख्या-विषयक यह बात सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिकमें बहु-लतासे पाई जाती है, किन्तु श्वेताम्बर भाष्यमें नहीं पाई जाती। अतः स्पष्ट सिद्ध है कि राजवार्तिकके उक्त वाक्यगत 'भाष्य' शब्दका लक्ष्य यातो स्वयं राजवा-र्तिकीय भाष्य है या 'सर्वार्थसिद्धि' नामका भाष्य है, अथवा कोई तीसरा ही पुरातन दिगम्बर भाष्य है

जिसमें षट् द्रव्योंका स्पष्ट विधान पाया जाता हो।

इस स्थलपर प्रो० साहबने कुछ आक्षेप रूपमें लिखा है कि—"न मालूम भाष्यमें 'षड्द्रव्याणि' ऐसा पद प्रदर्शित करनेका ही इन वयोवृद्ध पंडितोंको क्यों आग्रह है ?" इसके उत्तरमें इतना ही कहना है कि—वयोवृद्ध पंडितोंका आग्रह सिर्फ इस लिये ही है कि हमारे नव्यधुरंधर अप्रयोजनीभूत असत्य असह्य भार से दबकर कहीं उन्मार्गी न हो जांय। क्योंकि षड्द्रव्य-रूप महान भार दूसरे महान् पात्रका विषय है जो कि वृद्धशक्ति ग्राह्य है, उस (भार) को शिथिल अग्राह्य छोटे पात्रमें भर कर उसका बाह्य नव्य बालवत्स-धुरंधरोंकी शक्तिमें बाह्य है।

इसके आगे प्रोफेसर साहब लिखते हैं कि—"राजवार्तिकमें यदि 'यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं' न होकर 'यद्भाष्ये बहुकृत्व उक्तं "षड्द्रव्याणि" इत्यादि वाक्य होता तो कदाचित् तत्वार्थभाष्यमें 'षड्द्रव्याणि' यह पद प्रदर्शित करनेका आग्रह ठीक था।' परन्तु उनका यह सब लिखना भाषाके प्रासाद गुणकी अजानकारी और गद्यमें भी अन्वय होता है इस बातकी भी अजानकारीको प्रदर्शित करता है। क्यों कि 'बहुकृत्वः' के आगे 'उक्तं' रखनेसे विसर्गका लोप होनेके कारण उस वाक्यके सम्बद्ध उच्चारण करनेमें कुछ ठेस लगती है, और ऐसा होनेसे वहाँ वाक्यरचनाके प्रासाद गुणकी हानि होजाती है। तथा वैसी रचना करके जो अर्थ सूचित करना चाहा है वही अर्थ उस वाक्यका अन्वय करनेसे भी हो जाता है। हां, यदि श्री अकलंकदेवको ऐसा कोई दिव्यज्ञान होजाता कि हमारे इन नव्य पंडितोंको इस प्रकारकी वाक्यरचनापरसे श्वेताम्बर भाष्यका भ्रम पैदा होजायगा तो शायद वे आपके मनोऽनुकूल रचना भी कर देते।

इसके सिवाय, यदि उक्त वाक्यका अन्वय न कर के अर्थ किया जाय तो भी तो यही अर्थ होता है कि—'क्यों कि भाष्यमें छहद्रव्य हैं ऐसा बहुतवार कहा गया।' है फिर वैसी वाक्यरचनासे आपके पक्षकी न मालूम क्या सिद्धि हुई ? सो आप ही जानें ! श्वे० भाष्यमें कहीं पर भी 'बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि' ऐसा भी वाक्य नहीं है, यह मुझे मालूम है। यदि भाष्यमें वैसा वाक्य कहीं मिल जाता तो प्रो० सा० की मान्यता संभवित भी हो जाती, परंतु न तो श्वे० भाष्यमें वैसी शब्दरचना है और न बहुतवार श्वे० भाष्यमें पट्द्रव्यों का कथन ही आया है, तो फिर यह कैसे समझा जाय कि अकलंकदेव आपकी मनचाही बात कह रहे हैं ? अस्तु।

इस सब विवेचनपरसे भले प्रकार स्पष्ट है कि प्रो० सा० ने मेरे उक्त कथन पर जो जो आपत्तियां की हैं उनमें कुछ भी सार नहीं है।

(क्रमशः)
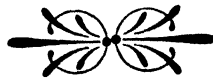
अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाज सेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायक-श्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम-सहित इस प्रकार हैं—

* १२५) बा. छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
* १०१) बा. अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
* १०१) बा. बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।
  १००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर
* १००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर
* १००) बा. शान्तिनाथ सुपुत्र बा. नंदलालजी जैन, कलकत्ता
  १००) ला. तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली
* १००) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता।
  १००) बा. लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक
  १००) बा. जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान, पानीपत
* ५१) रा. ब. बा. उलफतरायजी जैन रि. इंजिनियर, मेरठ।
* ५१) ला. दलीपसिंह कागज़ी और उनकी मार्फत, देहली।
* २५) पं. नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई।
* २५) ला. रूडामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
* २५) बा. रघुबरदयालजी, एम. ए. करोलबाग, देहली।
* २५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
* २५) ला. बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा (मु.न.)
  २५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन, सहारनपुर
* २५) ला. दीपचन्दजी जैन रईस, देहरादून।
* २५) ला. प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
* २५) सवाई सिंघइ धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

नोट—जिन रकमोंके सामने * यह चिन्ह दिया है वे पूरी प्राप्त हो चुकी हैं।

व्यवस्थापक 'अनेकांत'
वीरसेवामंदिर, सरसावा (सहारनपुर)

'बनारसी-नाममाला' पुस्तकरूपमें

जिस 'बनारसी-नाममाला' का परिचय पाठक अनेकान्तकी गत किरणमें प्राप्त कर चुके हैं, वह अब पुस्तकाकार-रूपमें प्रकाशित हो गई है। उसके साथमें पुस्तककी उपयोगिताको बढ़ानेके लिए आधुनिक पद्धतिसे तय्यार किया हुआ एक 'शब्दानुक्रमकोष' भी लगाया गया है, जिसमें दो हजारके क़रीब शब्दोंका समावेश है। इससे सहज हीमें मूलकोषके अन्तर्गत शब्दों और उनके अर्थोंको मालूम किया जा सकता है। मूलकोषमें जो शब्द प्राकृत या अपभ्रंश भाषाके हैं अथवा इन भाषाओंके शब्दाक्षरोंसे मिश्रित हैं उनके साथ इस कोषमें उनका पूरा संस्कृतरूप अथवा जिन अक्षरोंके परिवर्तनसे वह रूप बनता है उन अक्षरोंको ही ब्रैकट ( ) के भीतर दे दिया है। इससे पाठकोंको दो सुविधाएँ हो गई हैं—एक तो वे उन शब्दोंके संस्कृत रूपको जान सकेंगे, दूसरे आज कलकी हिन्दी भाषामें जो प्रायः संस्कृत शब्दोंका व्यवहार होता है उनके अर्थको भी वे इस कोषपरसे समझ सकेंगे। बाकी अधिकांश शब्द संस्कृत भाषाके ही हैं, कुछ ठेठ हिन्दी तथा प्रान्तिक भी हैं, उनको ज्योंका त्यों रहने दिया है। हां, ठेठ हिन्दी तथा प्रान्तिक शब्दोंके आगे ब्रैकट[ ] में देशीका सूचक 'दे०' बना दिया है और सब शब्दोंके स्थान की सूचना दोहोंके अंकों द्वारा की गई है। इससे प्रस्तुत कोषकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है, और वह हिन्दी भाषा के ग्रंथोंका अभ्यास एवं स्वाध्याय करने वालोंके लिये बड़े ही कामकी और सदा पास रखनेकी चीज़ होगया है।

कागज़ आदिकी इस भारी मँहगीके ज़मानेमें १०८ पृष्ठकी इस पुस्तकका मूल्य चार आने रक्खा गया है, जो कोषकी उपयोगिता आदिके खयालसे बहुत ही कम है। कापियां भी थोड़ी ही छपाई गई हैं। जिन्हें आवश्यकता हो वे शीघ्र पोस्टेज सहित पांच आने निम्न पतेपर भेजकर मँगा सकते हैं।

वीरसेवामन्दिर
सरसावा जि० सहारनपुर

REGISTERED No. A-731.

वीरसेवामन्दिर सरसावामें

ग्रन्थ-सूचीका काम जोरोंपर

२०० से ऊपर शास्त्रभंडारोंकी सूचियां आ चुकीं

वीरसेवामन्दिरने दिगम्बर जैनग्रन्थोंकी मुकम्मल सूची तय्यार करनेका जो महान् कार्य अपने हाथमें लिया है वह खूब प्रगति कर रहा है। थोड़े ही दिनोंमें उसे २०० से ऊपर शास्त्रभंडारोंकी सूचियाँ प्राप्त हो चुकी हैं और कितने ही स्थानोंसे सूचियाँ जल्द भेजे जानेके वचन भी मिल रहे हैं, यह सब खुशी की बात है। परन्तु शास्त्रभंडार चूँकि हजारोंकी संख्यामें हैं—मन्दिर-मन्दिरमें शास्त्रभंडार है—मालूम नहीं कि कौनसा अलभ्यग्रन्थ किस भंडारमें गुप्त पड़ा है। ऐसी हालतमें मुकम्मल सूची तय्यार करनेके लिये सब भंडारोंकी सूचियोंका आना परमावश्यक है। और इसलिये यह एक महान् कार्य है, जिसमें सभी स्थानोंके विद्वानों तथा शास्त्रभंडारोंके अध्यक्षों एवं प्रबन्धकोंके सहयोगकी जरूरत है। आशा है इस पुण्यकार्यमें सभी वीरसेवामन्दिरका हाथ बटाएँगे और उसे शीघ्र ही अभिलषित सूची तय्यार करके प्रकाशित करनेका शुभ अवसर प्रदान करेंगे।

इस सूचीपरसे सहज हीमें यह मालूम हो सकेगा कि हमारे पास साहित्यकी कितनी पूँजी है, दिगम्बरसाहित्य कितना विशाल है, वह कहाँ-कहाँ बिखरा पड़ा है। और कौन-कौन अलभ्य ग्रन्थ अभीतक सुरक्षित है। साथ ही, बहुतोंको नये-नये ग्रन्थोंको पढ़ने, लिखाकर मँगाने तथा प्रचार करनेकी प्रेरणा भी मिलेगी, और यह सब एक प्रकारसे जिनवाणी माताकी सच्ची सेवा होगी। अतएव जिस स्थानके सज्जनोंने अभी तक अपने यहाँके शास्त्रभंडारकी सूची नहीं भेजी है उन्हें अपना कर्तव्य समझकर शीघ्र ही नीचेके पतेपर उसके भेजनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये। भेजी जानेवाली सूचीका नमूना इस किरणमें दी हुई सूचीके अनुसार होना चाहिये और उसमें नीचे लिखे दस कोष्ठक रक्खे जाने चाहियें। जो कोष्ठक प्रयत्न करनेपर भी भरे न जासकें उन्हें विन्दु लगाकर खाली छोड़ देना चाहिये :—

१ नम्बर, २ ग्रन्थनाम, ३ ग्रन्थकारनाम, ४ भाषा, ५ विषय, ६ रचनाकाल, ७ श्लोकसंख्या, ८ पत्रसंख्या, ९ लिपिसंवत, १० कैफियत (प्रतिकी जीर्णादि अवस्था तथा पूर्ण-अपूर्णकी सूचनाको लिए हुए)।

नोट—यदि ग्रन्थके साथमें टीका भी लगी हुई है तो टीकाकारका नाम, टीकाकी भाषा और टीका का रचनाकाल भी साथमें दिया जाना चाहिये।

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर' पो० सरसावा (जि० सहारनपुर)

मुद्रक, प्रकाशक पं० परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर सरसावाके लिए श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तवद्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मुद्रित

अनेकान्त
एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥
जै
नी
नी
ति
स्याद्वादरूपिणी
सप्तभंगरूपा
सम्यग्वस्तु-ग्राहिका
उभयानुभय तत्त्व
विधेय तत्त्व
निषेध्यानुभय तत्त्व
निषेध्य तत्त्व
अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व
स्यात्
विधेयानुभय तत्त्व
उभय तत्त्व
अनुभय तत्त्व
कि. ११-१२
विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥
सम्पादक – जुगल किशोर मुख्तार

विषय-सूची

अनेकान्तके सभी ग्राहकोंका चंदा इस किरणके साथ समाप्त है

चूँकि चौथा वर्ष इस किरणके साथ समाप्त होता है अतः जिन ग्राहकोंने अभी तक अगले वर्षका चंदा नहीं भेजा है उनसे निवेदन है कि वे इस किरणके पहुँचनेपर आगामी वर्षके चंदेके ३) रुपये शीघ्र ही मनीआर्डरसे भेजदें। इससे उन्हें ।) वी० पी० खर्चकी बचत होगी और अनेकान्तका नववर्षाङ्क भी प्रकाशित होते ही समयपर मिल जायगा। अन्यथा, वी०पी०से मँगानेपर बहुतोंको नववर्षाङ्कके बहुत देरसे पहुँचनेकी भारी संभावना है; क्योंकि यहाँ ब्रांच पोष्टआफिस होनेसे वी०पी० प्रतिदिन १०—१५ से अधिक संख्यामें नहीं लिये जाते। इससे अधिकांश ग्राहकोंको वी०पी०करनेमें एक महीनेसे भी अधिकका समय लग लग सकता है। मनीआर्डरसे मूल्य भेजनेमें हमारी भी वी०पी० के झंझटसे मुक्ति हो सकती है। इस तरह इसमें दोनोंका ही लाभ है। साथ ही, यह भी खयाल रहे कि कागजका मूल्य तिगुना होजानेपर भी अनेकान्तका चंदा वही ३) रु० रक्खा गया है। ऐसी हालतमें पूर्ण आशा है कि अनेकान्तके प्रेमी पाठक शीघ्र ही अपना चंदा भेजनेकी कृपा करेंगे, तथा दूसरोंको भी ग्राहक बनाकर उनका चंदा भिजवाएँगे, और इस तरह अनेकान्तको अपना पूरा सहयोग प्रदान करेंगे। प्रत्येक ग्राहकको अनेकांतके कमसे कम दो ही ग्राहक बनानेकी जरूर कृपा करनी चाहिये।

व्यवस्थापक—'अनेकान्त'

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४ किरण ११-१२ | वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा जिला सहारनपुर | पौष-माघ, वीरनिर्वाण सं० २४६८, विक्रम सं० १९९८ | दिसम्बर-जनवरी १९४१-४२

समन्तभद्र-भारतीके कुछ नमूने

[१]

श्रीवृषभ-जिन-स्तोत्र

स्वयम्भुवा भूत-हितेन भूतले, समंजस-ज्ञान-विभूति-चक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः ॥ १ ॥

'जो स्वयंभू थे---स्वयं ही, विना किसी दूसरेके उपदेशके, मोक्षमार्गको जान कर तथा उसका अनुष्ठान करके आत्म-विकासको प्राप्त हुए थे---, प्राणियोंके हितकी---उनके आत्मकल्याणकी---भावना एवं परिणतिसे युक्त हुए साक्षात् भूतहितकी मूर्ति थे, सम्यग्ज्ञानकी विभूतिरूप---सर्वज्ञतामय- (अद्वितीय) नेत्रके धारक थे, और अपने गुण-समूहरूपी हाथोंसे---अबाधितत्व और यथावस्थित अर्थ-प्रकाशकत्व आदि गुणोंके समूह वाले वचनोंसे---अंधकारको---जगतके भ्रान्ति एवं दुःख मूलक अज्ञानको---दूर करते हुए, पृथ्वीतल पर ऐसे शोभायमान होते थे जैसे कि अपनी अर्थ-प्रकाशकत्वादिगुण विशिष्ट किरणोंसे रात्रिके अन्धकारको दूर करता हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है ।'

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः, शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ।
प्रबुद्धतत्त्वः पुनरद्भुतोदयो, ममत्वतो निर्विविदे विदांवरः ॥ २ ॥

'जिन्होंने, (वर्तमान अवसर्पिणी कालके) प्रथम प्रजापतिके रूपमें देश, काल और प्रजा-परिस्थितिके तत्त्वोंको अच्छी तरहसे जानकर, जीनेकी—जीवनोपायको जाननेकी—इच्छा रखने वाले प्रजाजनोंको सबसे पहले कृषि आदि कर्मों में शिक्षित किया—उन्हें खेती करना, शस्त्र चलाना, लेखनकार्य करना, विद्याशास्त्रोंको पढ़ाना, दस्तकारी करना तथा बनज-व्यापार करना सिखलाया; और फिर हेयोपादेय तत्त्वका विशेष ज्ञान प्राप्त करके आश्चर्यकारी उदय (उत्थान अथवा प्रकाश) को प्राप्त होते हुए जो ममत्वसे ही विरक्त होगए—प्रजाजनों, कुटुम्बीजनों, स्वशरीर तथा भोगोंसे ही जिन्होंने ममत्व-बुद्धि (आसक्ति) को हटा लिया । और इस तरह जो तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ हुए ।'

विहाय यः सागर-वारि-वाससं, वधूमिवेमां वसुधा-वधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु-कुलादिरात्मवान्, प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

'जो मुमुक्षु थे—मोक्ष प्राप्तिकी इच्छा रखने वाले अथवा संसार-समुद्रसे पार उतरनेके अभिलाषी थे—, आत्मवान थे—इन्द्रियोंको स्वाधीन रखने वाले आत्मवशी थे—, और (इस लिये) प्रभु थे—स्वतंत्र थे—, उन (विरक्त हुए) इक्ष्वाकु-कुलके आदिपुरुषने, सती वधूको—अपने ऊपर एक निष्ठासे प्रेम रखने वाली सुशीला महिलाको—और उसी तरह इस सागर-वारि-वसना वसुधावधूको—सागरका जल ही है वस्त्र जिसका ऐसी स्वभोग्या समुद्रान्त पृथ्वीको—भी, जो कि (युगकी आदिमें) सती-सुशीला थी—अच्छे सुशील पुरुषोंसे आबाद थी—, त्याग करके दीक्षा धारण की । (दीक्षा धारण करनेके अनन्तर) जो सहिष्णु हुए—भूख-प्यास आदिकी परीषहोंसे अजेय रहकर उन्हें सहनेमें समर्थ हुए—, और (इसीलिये) अच्युत रहे—अपने प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञारूप परिणत) व्रत-नियमोंसे चलायमान नहीं हुए । (जबकि दूसरे कितने ही मातहत राजा, जिन्होंने स्वामिभक्तिसे प्रेरित होकर आपके देखा-देखी दीक्षा ली थी, मुमुक्षु, आत्मवान् , प्रभु तथा सहिष्णु न होनेके कारण, अपने प्रतिज्ञात व्रतोंसे च्युत और भ्रष्ट होगये थे ।'

स्व-दोष-मूलं स्वसमाधि तेजसा, निनाय यो निर्दय-भस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदाऽमृतेश्वरः ॥४॥

'(तपश्चरण करते हुए) जिन्होंने अपने आत्मदोषोंके—राग-द्वेष-काम-क्रोधादिकोंके—मूलकारणको—घातिकर्म-चतुष्टयको—अपने समाधि-तेजसे—शुक्लध्यानरूपी प्रचण्ड अग्निसे—निर्दयतापूर्वक पूर्णतया भस्मीभूत कर दिया । तथा (ऐसा करनेके अनन्तर) जिन्होंने तत्त्वाभिलाषी जगतको तत्त्वका सम्यक् उपदेश दिया—जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बतलाया । और (अन्तको) जो ब्रह्मपदरूपी अमृतके—स्वात्मस्थितिरूप मोक्षदशामें प्राप्त होने वाले अविनाशी अनन्त सुखके—ईश्वर हुए—स्वामी बने ।

स विश्व-चक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां, समग्र-विद्याऽऽत्मवपुर्निरञ्जनः ।
पुनातु चेतो मम नाभि-नन्दनो, जिनोऽजित-क्षुल्लक-वादि-शासनः ॥५॥ (स्वयम्भूस्तोत्र)

'(इस तरह) जो सम्पूर्ण कर्म-शत्रुओंको जीतकर 'जिन' हुए, जिनका शासन क्षुल्लकवादियोंके—अनित्यादि सर्वथा एकान्त पक्षका प्रतिपादन करने वाले प्रवादियोंके—द्वारा अजेय था, और जो सर्वदर्शी हैं, सर्व विद्यात्मशरीरी हैं—पुद्गलपिंडमय शरीरके अभावमें जीवादि सम्पूर्ण पदार्थोंको अपना साक्षात् विषय करने वाली केवलज्ञानरूप पूर्णविद्या (सर्वज्ञता) ही जिनका आत्मशरीर है—, जो सत्पुरुषोंसे पूजित हैं, और निरंजन पदको प्राप्त हैं—ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा राग-द्वेषादि भावकर्मरूपी त्रिविध कर्म-कालिमासे सर्वथा रहित होकर आवागमनसे विमुक्त हो चुके हैं, वे (उक्त गुण विशिष्ट) नाभिनन्दन—१४वें कुलकर (मनु) नाभिरायके पुत्र—श्रीवृषभदेव—धर्मतीर्थके आद्य-प्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर श्रीआदिनाथ भगवान—, मेरे अन्तःकरणको पवित्र करें—उनकी स्तुति एवं स्वरूप-चिन्तनके प्रसादसे मेरे हृदयको कलुषित तथा मलिन करने वाली कषाय-भावनाएँ शान्त होजायँ ।'

भारतीय-संस्कृतिमें जैनसंस्कृतिका स्थान

[लेखक—श्री बाबू जयभगवान जैन बी० ए०, एल एल० बी० वकील]

भारतीय-संस्कृति और उसके जन्मदाता—

भारतकी संस्कृति, जो ज़मानेके उतार-चढ़ावमेंसे होती हुई आई है, जो लम्बे मार्गकी कठिनाइयोंको झेलती हुई आई है, जो अपनी सहनशीलताके कारण आज अनित्योंमें नित्य बनी हुई है, जो अपनी सभ्यताके कारण आज विभक्तोंमें अविभक्त बनी हुई है, जो सदा विश्व-कल्याणके लिये अग्रसर रही है, जो सदा पतितोंको उठाती रही है, पीड़ितों को उभारती रही है, निर्बलोंको बल देती रही है, भूले-भटकोंको राह बताती रही है, जो आज गुलामीमें रहते हुए भी हमें ऊँचा बनाए हुए है, दुःखी संसारकी दृष्टि अपनी ओर खींचे हुए है, किसी एक जाति, एक सम्प्रदाय, एक विचार-धाराकी उपज नहीं है। यह उन अनेक जातियों, अनेक सम्प्रदायों, अनेक विचार-धाराओंकी उपज है, जिनका संघर्ष, जिनका संमेल भारतकी भूमिमें हुआ है; जिनका इतिहास यहाँकी विविध अनुश्रुतियों, लोकोक्तियों और पौराणिक कथाओंमें छिपा पड़ा है, जिनके अवशेष यहाँके पुराने जनपदों, पुराने पुरों और नगरोंके खण्डरातमें दबे पड़े हैं। इनका उद्घाटन करने और रहस्य जाननेके लिये अभी लम्बे और गहरे अनुसन्धानकी ज़रूरत है। परन्तु जहाँ तक पुरानी खोजोंसे पता चला है, यह निर्विवाद सिद्ध है, कि इस संस्कृतिके मूलाधार दो वर्ग रहे हैं, ब्राह्मण और क्षत्रिय। इसके विकासमें दो दृष्टियाँ काम करती रही हैं, आधिदैविक और आध्यत्मिक। इसकी तहमें दो विचार-धाराएँ बहती रही हैं, वैदिक और श्रमण। जहाँ श्रमणोंने भारतको भीतरी सुख-शान्तिका मार्ग दर्शाया है, वहाँ ब्राह्मणोंने इसे बाहरी सुख-शान्तिका मार्ग दिखलाया है। जहाँ श्रमणोंने इसे निश्रेयस् का उपाय सुझाया है, वहाँ ब्राह्मणोंने इसे लौकिक अभ्युदय का उपाय बतलाया है। जहाँ श्रमणोंने इसे भीतरी आनन्द के लिये आत्माको खोजना सिखाया है, भीतरी इंद्रियोंको जगानेके लिये स्वेच्छासे परिषहों (कठिनाईयों) को सहन करना बताया है, भीतरी कमज़ोरियोंको दूर करनेके लिये आलोचना और प्रतिक्रमणका पाठ पढ़ाया है, आत्म विजय के लिये अहिंसा-संयम, तप-त्याग, दण्ड-ध्यानका मार्ग दिखाया है, वहाँ ब्राह्मणोंने इसे शरीरका स्वास्थ्य ठीक रखनेके लिये ऋतुचर्या, दिन-रात्रि-चर्याका सबक दिया है, बिना विरोध सबही जिम्मेवारियोंको पूरा करनेके लिये जीवन को चार आश्रमोंमें तकसीम करना और नित्यप्रति अपने समय को चार पुरुषार्थोंमें मर्यादित करना सिखाया है।

जहाँ श्रमणोंने इसे 'सोऽहम्', 'तत्त्वमसि' का आत्म-सन्देश देकर इसकी दुविधाओंको दूर किया है, कम इच्छा-कम चिन्ता-रूप त्यागका पाठ पढ़ाकर इसकी आकुलताओं को हटाया है, 'जीयो और जीने दो' रूप अहिंसाका उपदेश देकर इसके संक्लेशोंको मिटाया है, वहाँ ब्राह्मणोंने वर्ण-जातियोंकी व्यवस्था करके इसके सामाजिक विरोधोंको दूर किया है, व्यवसायोंकी व्यवस्था करके इसके आर्थिक संघर्ष को मिटाया है, कुटुम्ब और राष्ट्रकी व्यवस्था करके इसके अधिकारोंको सुरक्षित किया है।

जहाँ श्रमण सदा इसकी आत्माके संरक्षक बने रहे हैं, वहाँ ब्राह्मण सदा इसके शरीरके संरक्षक बने रहे हैं। जहां श्रमण इसे आदर्श देते रहे हैं, वहां ब्राह्मण इसे विधिविधान देते रहे हैं, जहां श्रमण निश्चय (Reality) पर प्रकाश डालते रहे हैं, वहां ब्राह्मण व्यवहार (Practice) पर प्रकाश डालते रहे हैं।

इन आत्मा और शरीर, आदर्श और विधान, निश्चय और व्यवहारके सम्मेलसे ही भारतकी संस्कृति बनी है, और इनके सम्मेलसे ही इस संस्कृतिको स्थिरता मिली है।

भारतीय-संस्कृति और उसकी विशेषता—

यों तो संसारके सब ही देशोंने बड़ी-बड़ी सभ्यताओंको जन्म दिया है। वेबीलोन और फ़लस्तीन, मिश्र और चीन, रोम और यूनान सब ही सभ्यताओंने अपनी कृतियोंसे मानवी

गौरवको बढ़ाया है, परन्तु इनमेंसे किसीको भी वह स्थिरता प्राप्त न हुई, जो भारतीय-संस्कृतिको मिली है। ये सब इस दुनियामें ऊषाकी तरह आईं और सन्ध्याकी तरह चली गईं। परन्तु इस धूप और छायाकी दुनियामें, आँधी और तूफ़ान की दुनियामें भारतकी संस्कृति बराबर बनी हुई है।

इस सभ्यताकी आखिर वह कौनसी विशेषता है, जो इसे बराबर क़ायम रक्खे हुए है? वह एक ही विशेषता है, और वह है इसका आध्यात्मिक आदर्श।

संसारकी अन्य सभ्यताओंको क्रियाकाण्ड (ceremonialism) मिला, व्यवहार (conventionalism) मिला, विधान (law and order) मिला, संघटन (organisation) मिला, सब कुछ मिला, परन्तु इनमेंसे किसीको आध्यात्मक आदर्श न मिला।

इन्हें विजय और साम्राज्य मिला, धन और वैभव मिला, अधिकार और शासन मिला, सब कुछ मिला, परन्तु इन्हें वह आदर्श न मिला, जो इस बनती-बिगड़ती दुनिया में सदा ध्रुव रहने वाला है, सदा साथ रहने वाला है, जो सदा भूलभुलय्याँसे बचाने वाला है, सदा नीचेसे ऊपर उठाने वाला है, जो सदा मनको रिझाने वाला है, सदा काममें आने वाला है, सदा हितका करने वाला है, जो सब हीके लिये इष्ट है, सब ही के लिये साध्य है, सब ही के लिये प्राप्य है, जो सदा स्थायी और विश्वव्यापी है।

इस आदर्शके बिना अन्य सभ्यताएँ सदा निराधार बनी रहीं, निस्सार बनी रहीं, इनकी सारी आभा, इनकी सारी महिमा ओपरीसी बनी रही। इनकी सारी शक्ति, इनकी सारी प्रगति ओपरीसी चलती रही। ये कभी भी जीवनमें अपनी जड़ोंको न जमा सकीं, ये कभी भी अपनेको बनाये रखनेकी संकल्पशक्तिको उत्पन्न न कर सकीं, ये ज़मानेके साथ चलने और बदलनेकी सुधारशक्ति (power of adaptation) को न उगा सकीं, ये कभी भी नये विचारों, नये मार्गोंके साथ मिलने-मिलानेकी समन्वयशक्ति, (power of harmony) को न जगा सकीं। इस आदर्शके बिना ये मूढगर्भके समान यों ही जीती रहीं, यों ही बढ़ती रहीं, ये विशेष स्थिति तक पैदा होती रहीं और चलती रहीं परन्तु ज्यों ही ज़मानेने पलटा खाया, नई समस्याओंने जन्म लिया, नये विचारोंने सिर उठाया, नये विप्लवोंने ज़ोर पकड़ा, त्यों ही ये सब भूकम्प-पीड़ित भवनोंके समान एक दमसे घबरा उठीं, एक दमसे लड़खड़ा उठीं, ये सब गिरकर मिट्टी का ढेर होगईं।

परन्तु भारतको सदासे सर्वोच्च आदर्श मिला है, आत्म-आदर्श मिला है, परमात्म-आदर्श मिला है, इसीलिये यहाँ की संस्कृति सदा ज़िन्दा रही है, और सदा ज़िन्दा रहेगी।

प्रागैतिहासिक कालसे लेकर आजतक भारतको अनेक उतार-चढ़ावमेंसे निकलना पड़ा है, अनेक आफ़तों-मुसीबतोंमें से गुज़रना पड़ा है। बाहर वालोंने इसपर अनेक आक्रमण किये। पूर्व-पश्चिमसे आकर यहाँ अनेक जमघट किये। कभी खत्ती आर्य आये, कभी वैदिक आर्य आये, कभी सूर्यवंशी आये, कभी सोमवंशी आये, कभी फ़ारिस वाले आये, कभी यूनान वाले आये, कभी पार्थिया वाले आये, कभी बख्तियार वाले आये, कभी शक और कुशन आये, कभी हून और तुर्क आये, कभी पठान और मुग़ल आये, कभी फरासीसी और अंगरेज़ आये। इन सब ही ने आ आकर इसके राष्ट्रमें अनेक उथल-पुथल मचाये, इसके समाजके अनेक भेद-भंग किये, इसके शरीरके अनेक रूप-रंग बदले, इन सब ही ने इसपर अनेक विध प्रहार किये। ये सब ही इसके रहन-सहन में क्रान्ति लाये, इसके व्यसन-व्यवसायमें क्रान्ति लाये, इसकी भाषा-भूषामें क्रान्ति लाये, इसके आचार-विचारमें क्रान्ति लाये, परन्तु इनमेंसे कोई भी इसे अपने स्थानसे न डिगा सका, अपने आधारसे न हिला सका। यह सदा आत्मदर्शी बना रहा और आज भी आत्मदर्शी बना हुआ है। यह सदा योगियोंका उपासक बना रहा और आज भी योगियोंका उपासक बना हुआ है। यह सदा योगाभ्यासको ही आनन्दका मार्ग मानता रहा और आज भी योगाभ्यासको आनन्दका मार्ग मानता है।

इन सब ही बाहिर वालोंने भारतके क्षेत्रको विजय किया, इसके धन-दौलतको विजय किया, इसके अधिकार और शासनको विजय किया, परन्तु इनमेंसे कोई भी इसके आदर्श को विजय न कर सका। इसके विश्वासको विजय न कर सका, इसके संकल्पको विजय न कर सका, इसकी आत्माको विजय न कर सका। इस सारे आँधी-तूफ़ानमें, इस सारे उथल-पुथलमें भारत बराबर आत्म-आदर्शको अपने भीतरके लोकमें छिपाये रहा। इसे कौस्तुभमणिके समान छातीसे लगाये रहा। इसे ध्रुव तारेके समान अपने जीवनका केन्द्र

बनाये रहा।

यद्यपि भारत अपनेमें संघटन लानेके लिये सदा चक्रवर्तियोंका चक्र चलाता रहा, अपनेमें एकछत्र राज्य लानेके लिये अश्वमेघ यज्ञ करता रहा, अत्याचारसे अपनेको बचानेके लिये अत्याचारियोंसे लड़ता रहा। धर्म-मर्यादाको बनाये रखनेके लिये आपसमें झगड़ता रहा; न्याय और सत्यके लिये बढ़ बढ़कर प्राणोंकी आहूतियाँ देता रहा, परन्तु भारत दूसरोंका क्षेत्र छीननेके लिए, दूसरोंका धन-दौलत लूटनेकेलिए, दूसरोंका ईमान-धर्म खोनेके लिये, कभी भी दूसरों पर हमलाआवर नहीं हुआ। वह इस आदर्शके कारण सदा सन्तुष्ट बना अपने घर बैठा रहा।

यद्यपि भारत आत्मसन्देश देनेके लिये, धर्मका मार्ग बतानेके लिये, व्यापारका सम्बन्ध जोड़नेके लिये, अपने सुपुत्रोंको सदा बाहिरके देशोंमें भेजता रहा; परन्तु अपनी उद्देश्यपूर्तिके लिये भारतने कभी भी अधर्मसे काम न लिया, अन्यायसे काम न लिया, माया-कपटसे काम न लिया, अत्याचारसे काम न लिया, पशुबलसे काम न लिया। भारत उनसे सदा सत्यका व्यवहार करता रहा, अहिंसाका व्यवहार करता रहा, प्रेमका व्यवहार करता रहा, सेवा और सहानुभूतिका व्यवहार करता रहा।

इतना ही नहीं, इस आदर्शके कारण, भारत उन आगुन्तकों तकको, जो लगातार इसकी भूमि और धनको, इसके धर्म और कर्मको हरण करनेके लिये यहां आते रहे, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' कहकर अपनेमें मिलाता रहा, उन अनेक वर्ण और जातियोंको, जो समय-समय पैदा होकर इसकी एकता को फाड़ती रहीं, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' कहकर एकताके सूत्र में पिरोता रहा, और उन समस्त विचार-धाराओंको, जो इधर-उधरसे आकर बराबर यहां बहती रहीं 'सत्यमनेकान्तात्मकम्' कहकर सत्यके साथ संगम कराता रहा।

इस आदर्शके कारण ही भारतको अपार सुधारशक्ति (power of adaptation) मिली है। इसी लिये यह विविध स्थितियोंमें रहता हुआ भी सदा एक बना रहा है, विविध पीड़ाओंको सहता हुआ भी सदा दृढ़ बना रहा है, विविध उतार-चढ़ावमेंसे गुजरता हुआ भी सदा अग्रसर बना रहा है।

इस आदर्शके कारण ही भारतको अगाध आनन्द-शक्ति मिली है। इसी लिये यह नित नई आफतें पड़ने पर भी सदा शान्तचित्त बना रहा है, नित दिन लुटाई होने पर भी सदा सन्तुष्ट बना रहा है और बार बार बन्दी होने पर भी सदा स्वतन्त्र बना रहा है।

इस आदर्शके कारण ही भारतको अटूट समन्वयशक्ति (power of harmony) मिली है। इसी लिये यह विविध विचारोंसे टकराने पर भी कभी विमूढ नहीं हुआ है, विविध रास्तोंमें घिर जाने पर भी कभी भूलभुलय्यांमें नहीं पड़ा है। यह आत्म-आदर्शके सहारे उन्हें यथायोग्य मूल्य देता हुआ उनका समन्वय करता रहा है। यह जीव और पुद्गलमें, आत्मा और शरीरमें, जन्म और कर्म (heredity and culture) में, दैव और पुरुषार्थ (fate and effort) में, श्रुति और बुद्धि (Intuition and Intellect) में, प्रवृत्ति और निवृत्ति (Action and renunciation) में, गृहस्थ और सन्यासमें, पुरुष और समाज (Individual and society) में, नर और नारायण (man and god) में, लोक और परलोकमें, आदर्श और विधान (Ideal and method) में, निश्चय और व्यवहार (Reality and practice) में, सदा सहयोग करता रहा है।

जो लोग बाहरसे चलकर यहाँ विजय करनेके लिये आये वे लोग इसके विजेता जरूर हो गये, परन्तु वे सबही इसकी आत्मासे विजित होते चले गये, वे सब ही इसके आदर्शके होते चले गये, इसके विश्वासके होते चले गये, इसके चलनके होते चले गये। होते होते वे इससे इतने रलमिल गये कि आज ८०० वर्ष पूर्वके आने वालोंमें तो विजेता और पराजितका भेद करना भी बहुत मुश्किल है। यद्यपि यहाँ आते समय वे सब देवतावादको लेकर आये, पराधीनतावादको लेकर आये, दैवी-इच्छावादको लेकर आये, उपासनार्थ क्रियाकाण्डको लेकर आये; परन्तु यहाँ रहने पर वे सब ही देवतावादकी जगह आत्मवादको अपनाते चले गये, पराधीनतावादकी जगह स्वतन्त्रतावादको लेते चले गये, इच्छावादकी जगह कर्मवादको मानते चले गये, क्रियाकाण्डकी जगह सदाचारको अपना मार्ग बनाने चले गये।

इस आदर्शके कारण ही पूर्व और पश्चिम वाले, जो भारतके सम्पर्कमें आये, वे देवतावादको छोड़कर 'आत्मा

ही परमब्रह्म है', 'आत्मा ही परमात्मा है', 'आत्मा ही देवताओं का देवता है', 'अनल हक़' इत्यादि अध्यात्म मंत्र उचारते हुए चले गये। वे देवाधीनतावादको छोड़कर 'आत्मा ही अपना प्रभु और स्वामी है', 'आत्मा ही अपना मित्र और शत्रु है', 'आत्मा ही अपने भाग्यका विधाता है' इत्यादि स्वतन्त्रताके राग अलापते हुए चले गये। वे दैवीइच्छावाद को छोड़कर 'जैसा अनुभवोगे वैसा होजाओगे', 'जैसा बोओगे वैसा काटोगे', 'जैसा करोगे वैसा भरोगे' इत्यादि पुरुषार्थके सूत्र रचते हुए चले गये। वे क्रियाकाण्डको छोड़कर 'जन-सेवा ही ईश-उपासना' है, 'परोपकार ही स्वोपकार है', 'दया-दान ही धर्म है' इत्यादि सदाचारके बोल बोलते हुए चले गये।

इस आदर्शके आधार पर ही भारतने प्राचीन कालमें वैदिक आर्योंको ब्रह्मवाद दिया है, मध्य कालमें इसलामको सूफ़ीवाद दिया है और आधुनिक कालमें पच्छिमके जड़-वादियोंको नया अध्यात्मवाद (Neo spirtualisun) दिया है।

इस तरह भारत अनेक बार फ़तह होने पर भी सदा जगतका विजेता बना रहा है, औरोंसे अनेक सबक़ सीखने पर भी सदा जगतका गुरु बना रहा है।

यह अध्यात्म-आदर्श, जिसके कारण भारतको सुधार-शक्ति मिली है, आनन्द-शक्ति मिली है, समन्वय-शक्ति मिली है; जिसके कारण इसे शान्ति और सन्तुष्टि मिली है, सरलता और गम्भीरता मिली है, सौम्यता और अहिंसा मिली है; जिसके कारण इसे अनेकतामें एकता मिली है, अस्थिरतामें स्थिरता मिली है, भारतकी अपनी निजी चीज़ है। यह भारतके मूलवासी श्रमण-लोगोंकी सृष्टि है। यह उन लोगोंकी देन है, जो अपने विविध गुणोंके कारण अनेक नामोंसे पुकारे जाते थे। जो अपने योग, प्राण और इन्द्रियों का संयम करनेके कारण 'यति' कहलाते थे। जो कषायोंसे विरत होनेके कारण 'व्रती' वा 'व्रात्य' कहलाते थे, जो तप-त्यागरूप श्रम करनेके कारण 'श्रमण' कहलाते थे, जो अन्तरंग शत्रुओंका संहार करनेके कारण 'अरिहन्त' कहलाते थे, जो सबके आदरणीय होनेके कारण 'अर्हन्त' कहलाते थे, जो मृत्युके विजेता होनेके कारण 'जिन' कहलाते थे, जो त्रिकाल और त्रिलोकके विजेता होनेके कारण 'जिनेश्वर' कहलाते थे।

यह अध्यात्म-आदर्श भारतीय-सभ्यताकी आधारशिला रहा है और यही आदर्श भारतीय इतिहासकी आधारशिला है। भारतीय जीवनका कोई पहलू ऐसा नहीं, भारतीय इति-हासकी कोइ घटना ऐसी नहीं, जिस पर इस आदर्शकी छाप न पड़ी हो। भारतकी कोई मान्यता और श्रद्धा ऐसी नहीं, कोई रीति और प्रथा ऐसी नहीं, कोई संस्था और व्यवस्था ऐसी नहीं, जिसके बनानेमें इस आदर्शका हाथ न हो।

अतएव भारतके असली जीवनको जाननेके लिये, इस की तहमें काम करने वाली शक्तियोंको पहिचाननेके लिये ज़रूरी है कि इस आदर्शको जाना जाय, इसकी विवक्षाओं (Implications) को जाना जाय, इसके विकासको जाना जाय, इसका विकास करने वाले प्रभावोंको जाना जाय, इन प्रभावोंको पैदा करने वाले लोगोंको जाना जाय। इन सब चीज़ोंको जाननेके लिये ज़रूरी है, कि उस समस्त सामग्रीका, उस समस्त साहित्य और कलाका संग्रह किया जाय, जो इन पर प्रकाश डालती हों, उनको सूचिबद्ध किया जाय, उनका संशोधन किया जाय, वर्गीकरण किया जाय, मिलान किया जाय, संकलन किया जाय—अर्थात् इस समस्त सामग्रीका अनुसन्धान किया जाय।
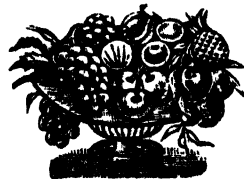
श्वेताम्बरों में भी भ० महावीरके अविवाहित होनेकी मान्यता

[लेखक—पं० परमानन्द जैन, शास्त्री]

जैनसमाजमें भगवान महावीरके विवाह-सम्बन्ध को लेकर दो विभिन्न मान्यताएँ दृष्टि गोचर होती हैं—एक उन्हें विवाहित घोषित करती है, दूसरी अविवाहित। दिगम्बर सम्प्रदायके सभी ग्रन्थ भगवान महावीरको एक स्वरसे आजन्म बालब्रह्मचारी प्रकट करते हैं—पंच बालयति तीर्थंकरोंमें उनकी गणना करते हैं। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आम तौर पर भगवान महावीरको विवाहित माना जाता है। इनका विवाह समरवीर राजाकी यशोदा नामकी कन्यासे हुआ बतलाया जाता है और उससे प्रियदर्शना नाम की एक पुत्रीका उत्पन्न होना कहा जाता है। साथ ही, यह भी कहा गया है कि प्रियदर्शनाका पाणिग्रहण जमालिके साथ हुआ था और इस तरह जमालि भगवान महावीरका दामाद था *।

श्रीजिनसेनाचार्य कृत दिगम्बर हरिवंश पुराणके ६६ वें पर्व परसे भगवान महावीरके विवाह-सम्बन्ध में इतनी सूचना मिलती है कि—राजा जिनशत्रु, जिसके साथ भगवान महावीरके पिता राजा सिद्धार्थ की छोटी बहिन ब्याही थी, अपनी यशोदा नामकी पुत्रीका विवाह भगवान महावीरके साथ करना चाहता था परन्तु भगवान विरक्त होकर तपमें स्थित होगए और इससे राजा जितशत्रुका मनोरथ पूर्ण न होसका, अन्तको वह भी दीक्षित होकर तपमें स्थित होगया†। इस सूचना परसे स्पष्ट है कि दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान महावीरके विवाहकी चर्चा तो चली थी परन्तु उन्होंने विवाह नहीं कराया था। यही कारण है कि तमाम दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें उन्हें भगवान पार्श्वनाथके समान बालब्रह्मचारी प्रकट किया है। परन्तु श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें इस विषयके दो उल्लेख पाये जाते हैं जिनमेंसे एक उल्लेख जो उन्हें स्पष्टतया विवाहित घोषित करता है, वह ऊपर दिया जा चुका है। दूसरा उल्लेख जो उन्हें बालब्रह्मचारी प्रकट करता है वह निम्न प्रकार है:—

वीरं अरिट्ठनेमि पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२२१॥

---

* तिसला इवा, विदेह दिण्णा इवा, पीइकारिणी इवा। समणस्स णं भगवओ महावीरस्स पित्तिज्जे, सुपासे, जेट्ठे-भाया णंदिवद्धणे, भगिणी सुदंसणा, भारिया जसोया कोडिण्णा गोत्तेणं, समणस्स णं भगवओ महावीरस्स धूआ कासव गोत्तेणं तीसे दो णामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा—अणोज्जा इवा, पियदंसणा इवा। समणस्स णं भगवओ महावीरस्स नत्तुई कोसिय गोत्तेणं तीसे णं दो णाम धिज्जा एवमाहिज्जंति, तं जहा सेसवई इवा, जसवई इवा ॥ १०६ ॥ —कल्पसूत्र पृ० १४२,१४३

"एवं बाल्यावस्थानिवृत्तो संप्राप्त यौवनो भोगसमर्थो भगवान् मातापितृभ्यां शुभे मुहूर्ते समरवीरनृपपुत्रीं यशोदां परिणायितः, तया च सह सुखमनुभवतो भगवतः पुत्री जाता, साऽपि प्रवरनरपतिसुतस्य स्वभागिनेयस्य जमालेः परिणायिता, तस्या अपि शेषवती नाम्नी पुत्री, सा च भगवतो 'नत्तुई' दौहित्रीत्यर्थः। समणस्स णं भगवओ महावीरस्स इत्यादितः जसवई इवा इत्यंतं सुगमम्।"

—कल्प० विनयविजयगणी, सुख० वृ० पृ० १४२,१४३

† भवान्न किं श्रेणिक वेत्ति भूपतिं नृपेन्द्रसिद्धार्थ कनीयसीपतिं।
इमं प्रसिद्धं जितशत्रुमाख्यया प्रतापवंतं जितशत्रुमण्डलं ॥६॥
जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे तदागतः कुंडपुरं सुहृत्परः।
सुपूजितः कुंडपुरस्य भूभृता नृपोयमाखण्डलतुल्यविक्रमः ॥७॥
यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमंगलम्।
अनेककन्यापरिवारयाहरुत्समीक्षितुं तुंगमनोरथं तदा ॥८॥
स्थितेऽथनाथे तपसि स्वयंभुवि प्रजातकैवल्यविशाललोचने।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं क्षितिं विहाय स्थितवांस्तपस्ययं ॥९॥
—हरिवंशपुराणे जिनसेनाचार्यः

थे, ऐसा वल्लभीगुहसेनके ताम्रपट्टसे[1] फलित होता है।

यों तो प्राकृतग्रंथ पउमचरियमें जोकि ईसाकी प्रथम शताब्दि के तीसरे वर्षमें लिखा गया था—अपभ्रंशके कतिपय लक्षण पाये जाते हैं, पर पोषक प्रमाणके अभावसे विद्वान लोग उसकी इतनी प्राचीनता स्वीकृत नहीं करते। कवि कुलतिलक कालिदास विक्रमोर्वशीय नाटकान्तर्गत विक्षिप्त पुरूरवाकी उक्तिमें छन्द और रूप दोनोंके विचारसे अपभ्रंशकी कुछ न कुछ छाया अवश्य प्रतीत होती है। इससे अपभ्रंशका काल २०० वर्ष और आगे चला जाता है।

कविचण्डने, जो ईसवीकी तीसरी शताब्दिमें हो गये हैं (डाक्टर पी० डी० गुणे० ने चण्डका अस्तित्वकाल ईसाकी छुठी शताब्दी निश्चित किया है), अपने प्राकृत व्याकरणमें अपभ्रंश भाषाका उल्लेख किया है, और मात्र एक ही सूत्रमें उसका लक्षण समाप्त कर दिया है, किन्तु उस लक्षण और नवमी, दशमी शताब्दिके लक्षणोंमें उतना ही अन्तर पाया जाता है जितना जमीन और आसमानमें। चण्डकालीन अपभ्रंश भाषाके नमूनेके बतौर अशोककी वे प्रशस्तियां हैं जो शाहबाजगढ़ी और मनसहराकी शिलाओंपर उत्कीर्ण हैं, और जिसे जनरल कनिंगहामने उत्तर भारतकी भाषा बताया है। अपभ्रंश भाषाका सर्व प्रथम परिचय भरतमुनिके नाट्य शास्त्रसे मिलता है, जिसका निर्माणकाल विक्रमकी दूसरी और तीसरी शताब्दिके बादका नहीं हो सकता। उसमें भरत मुनिने सात विभाषाओंका उल्लेख किया है, जिस परसे सहज हीं में अनुमान किया जासकता है कि उस समय प्राकृतभाषा विद्वद्योग्य भाषा थी और उसका अपभ्रष्ट रूप तत्कालीन लोक भाषा थी। उक्त ग्रंथमें यह भी बताया गया है सिन्धु, सौवीर एवं तत्सन्निकट पहाड़ी प्रदेशमें उकार का बाहुल्य पाया जाता है। यही लक्षण अपभ्रंश भाषामें पाया जाता है अतएव स्पष्ट ही है कि उस समयमें भारतकी देश भाषा अपभ्रंश थी। यही देश भाषा क्रमशः उच्च कोटिके साहित्यकी रचनामें भी प्रयुक्त होने लगी थी, यहां तक कि बड़े बड़े राजा महाराजा इस भाषाके कवियोंको दरबारमें बड़े गौरवके साथ स्थान दिया करते थे।

महर्षि पतंजलिने भी अपने भाष्यमें अपभ्रंश शब्दका प्रयोग[2] किया है। महाभाष्यन्तर्गत गावी, गोणी आदि शब्द जैन साहित्यमें भी दृष्टिगोचर होते हैं, जो भाषा-अन्वेषकोंके लिये बड़े कामकी चीज़ हैं। काव्यादर्श और काव्यालंकार आदि उच्चकोटिके साहित्यग्रंथोंमें भी अपभ्रंश भाषाके लक्षण पाये जाते हैं।

दशवीं शताब्दिमें महाकवि राजशेखरने काव्य-मीमांसा नामक सुंदर ग्रंथकी रचना की है, उसमें बताया गया है कि मरुभूमि[3] टक्क[4] एवं भादानक[5] निवासी अपभ्रंश भाषाका प्रयोग करते हैं। इसके सिवाय, उक्त ग्रंथमें यहां तक भी लिखा है कि अपभ्रंश भाषाका जितना भी साहित्य परिचयमें आरहा है वह प्रायः पश्चिम भारतका ही है। इस पश्चिमी अपभ्रंशकी प्रधानताका एक कारण यह भी था कि वैदिक मतावलम्बी विद्वान् उस समय अपनी संस्कृत भाषामें ही मग्न थे। उनकी सारी साहित्य-रचना गीर्वाण-गिरामें ही होती रहीं, जनताकी बोलचालकी भाषामें रचना करनेकी उन्होंने कोई पर्वाह नहीं की। बनारसमें जब सर्व प्रथम तुलसीदासजी गये थे तब उनकी कविताकी उतनी क़दर नहीं हुई थी जितनी आज हो रही है। इस बोलचालकी भाषाकी ओर ध्यान देने वाले मुख्यतः जैन विद्वान ही हुए हैं जिनका प्राबल्य प्रायः पश्चिमी भारतमें ही था और वे मुख्यतः जैन

---

१ "संस्कृत-प्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबन्धरचना निपुणतरान्तकरणः"। राजा गुहसेनके शिलालेख संवत् ५१६ से ५२६ तकके मिलते हैं।

(२) भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी-गोणी-गोता गोपोतलिका इत्येवमाद्योऽपभ्रंशाः।

(३) मारवाड। (४) पूर्वी पंजाब।

(५) यह भादानक कहाँ अवस्थित है? यह एक महत्वका प्रश्न है। नन्दलाल इसे भागलपुरके समीप बताते हैं, लेकिन यह कथन ठीक प्रतीत नहीं होता। संभवतः यह स्थान पश्चिम भारतमें ही होना चाहिए; चूंकि मरु और टक्क ये प्रदेश पश्चिम भारतके हैं। रामस्वामी शास्त्री भादानककी स्थिति सतलज एवं यमुनाके बीचकी बताते हैं। मेरे ख्यालसे वर्तमानमें जोधपुर राज्यान्तर्गत जो भाद्राजन है वह तो कहीं भादानक नहीं है? क्योंकि यह मारवाड़के समीप है। यहां पर खीची राजपूतोंका साम्राज्य है।

साधु ही थे। यद्यपि जैन साधु संस्कृत भाषाके प्रकाण्ड-विद्वान थे लेकिन फिर भी लोकभाषाको अपनाना उन्हें उचित जँचा, क्योंकि जैन और बौद्धधर्माचार्योंने पुरातन कालसे ही लोकभाषाको अपनाया था। भगवान महावीर और गौतमबुद्धने अपने सिद्धान्तोंका प्रचार उस समय की लोकभाषाओं-अर्द्ध मागधी और पालीमें ही किया था। बौद्धसाहित्य परसे ज्ञात होता है कि एकबार गौतमबुद्ध को उनके शिष्योंने कहा कि क्या आपके सिद्धान्तोंको हम वेद भाषामें अनुवादित करें? उत्तरमें उन्होंने कहा भिक्षुओ! बुद्ध वचनको कदापि छन्दमें परिवर्तित नहीं करना, यदि करोगे तो दुष्कृतके भागी बनोगे। हे भिक्षुगण! बुद्ध-वचनको स्व-भाषामें ही ग्रहण करनेकी मैं अनुज्ञा देता हूं। पाठकोंको ध्यान रहे कि यदि जैन विद्वान उस समय इस लोक भाषाको अपनानेमें अपना अपमान समझते तो आज हम जो प्रौढ़ अपभ्रंश साहित्य देख रहे हैं उसका देखना तो दूर रहा कल्पना तक भी न हो सकती।

वर्तमानकालमें भी जेसलमेर आदि प्रान्तोंमें जो भाषा बोली जाती है उसमें बहुतसे अपभ्रंश भाषाके रूप पाये जाते हैं। यों तो राजस्थानीय और अपभ्रंश भाषाका परस्परमें घनिष्ट संबंध है ही।

ऊपर हमने भिन्न भिन्न ग्रन्थान्तर्गत अपभ्रंश भाषा की कुछ थोड़ी सी चर्चा की है इसके अतिरिक्त और भी बहुतसे पुरातन ग्रंथोंमें अपभ्रंश भाषाके गद्य-पद्यात्मक उदाहरण पाये जाते हैं, जिसका उल्लेख यथा स्थान किया जायगा।

सामान्यतः अपभ्रंश भाषाके साहित्यका निर्माणकाल छठी शताब्दिसे बारहवीं शताब्दि तक माना जाता रहा है। और इसीसे कुछ वर्ष पूर्व जब अपभ्रंश भाषाके साहित्यका प्रश्न होता था तो बड़ा ही हास्यास्पद मालूम होने लगता था। असिल बात यह है कि कोई भी वस्तु जहां तक अपने वास्तविक रूपमें प्रकट न हो वहां तक उसके प्रति लोगोंमें अनजानकारी एवं उपेक्षाका ही भाव रहता है। उस समयके विद्वानोंका अपभ्रंश साहित्यके विषयमें इतना ही ज्ञान था कि कालीदासके ग्रंथ तथा पिंगल और हेमाचार्यकृत व्याकरण आदिमें ही इसके कुछ लक्षण मिलते हैं परन्तु मौजूदा युग खोजका है, आजकी खोजोंने सिद्ध कर किया है कि प्राचीन जैन ज्ञान भंडारोंमें अपभ्रंश साहित्य विशाल रूपमें उपस्थित है, जोकि भारतीय साहित्यकी अमूल्य निधि है।

(क्रमशः)

तत्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण

[लेखक– पं० फूलचंद्र शास्त्री]
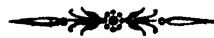
तत्वार्थसूत्रके दो सूत्रपाठ पाये जाते हैं, जिनमेंसे एक दिगम्बर संप्रदायमें और दूसरा श्वेताम्बर संप्रदायमें प्रचलित है। दिगम्बर संप्रदायमें प्रचलित सूत्रपाठपर पूज्यपाद स्वामीके द्वारा रची गई सबसे पुरानी 'सर्वार्थसिद्धि' नामकी एक वृत्ति है। उसकी उत्थानिकामें पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं—

"कश्चिद्भव्यः × × मुनिपरिषन्मध्ये सन्निषण्णं × × निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनयं परिपृच्छति स्म। भगवन् किं नु खलु आत्मने हितं स्यादिति। स आह मोक्ष इति। स एव पुनः प्रत्याह किं स्वरूपोऽसौ मोक्षः कश्चास्य प्राप्त्युपाय इति। आचार्य आह निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति। × × तस्य स्वरूपमनवद्यमुत्तरत्र वक्ष्यामः" (इत्यादि)

अर्थ—किसी भव्यने निर्ग्रन्थाचार्यवर्यको प्राप्त होकर विनयसहित पूछा—हे भगवन आत्माका हित

क्या है? आचार्यने उत्तर दिया—मोक्ष आत्माका हित है। पुनः भव्यने पूछा कि मोक्षका क्या स्वरूप है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? आचार्यने उत्तर दिया—समस्तकर्ममलकलंकसे रहित अशरीरी आत्माके अचिन्त्य और स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप तथा अव्याबाध सुखरूप संसारमें अत्यन्त भिन्न अवस्थाको मोक्ष कहते हैं। ××इसका निर्दोष स्वरूप हम (सूत्रकार) आगे बतलाएँगे। इत्यादि

पूज्यपाद स्वामीने 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्रके प्रारंभमें जो सूत्रकार और भव्यका संवाद दिया है इससे तीन बातें प्रगट होती हैं। पहली यह कि सूत्रोंकी रचना सूत्रकारने किसी भव्यके अनुरोधसे की। दूसरी यह कि सूत्रकार स्वयं निर्ग्रंथ होते हुए गणाधीश थे। और तीसरी यह कि पूज्यपाद स्वामीने अपनी वृत्ति, उनके सामने जो सूत्रपाठ था उसपर लिखी है।

इधर श्वेताम्बर संप्रदायमें तत्त्वार्थसूत्रपर सबसे पुराना एक भाष्य पाया जाता है, जो स्वयं सूत्रकारके द्वारा रचा हुआ कहा जाता है। भाष्यके प्रारंभमें जो ३१ श्लोकोंमें उत्थानिका है उसके २२ वें श्लोकमें प्रतिज्ञारूपसे लिखा है कि जिसमें विपुल अर्थ अर्थात् पदार्थ भरा हुआ है, और जो अर्हद्वचनके एक देशका संग्रह है ऐसे इस तत्त्वार्थाधिगम नामके लघुग्रन्थका मैं शिष्योंके हितके लिये कथन करूंगा।' यथा—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैकदेशस्य ॥ २२ ॥

आगे भाष्यमें 'वक्ष्यामि' आदि प्रयोग आये हैं, सचेल परंपराके पोषक प्रमाण भी मिलते हैं और ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थके अंगरूपसे वाचक उमास्वाति की एक प्रशस्ति भी संग्रहीत है। जिनसे तथा उपर्युक्त श्लोकके आधारसे यह अर्थ निकलता है कि सूत्र और भाष्यकार एक ही व्यक्ति हैं और वे सचेल परंपराके रहे होंगे।

इस प्रकार सूत्रों और सूत्रकारके विषयमें दोनों संप्रदायोंके टीकाग्रन्थोंमें भिन्न भिन्न सामग्री पाई जाती है। इस लिये अब भी सूत्र और सूत्रकार विद्वानोंकी चर्चाके विषय बने चले जा रहे हैं। अभी तक इस विषयमें जितनी चर्चा हुई उसमें सूत्रोंके अन्तरंग पर किसीने भी प्रकाश नहीं डाला। दो एक भाइयोंने अपने अपने संप्रदायमें प्रचलित आगमोंमेंसे सूत्रोंके बीज उपस्थित किये हैं। पर उनके उपस्थित करनेमें विश्लेषणात्मक बुद्धिसे काम न लेकर या तो समन्वय करनेका ही प्रयत्न किया गया है या उनके लिये आधार एक संप्रदायके ही सूत्र रहे हैं, इस लिये इससे भी सूत्र और सूत्रकारकी ठीक परिस्थिति पर प्रकाश नहीं पड़ सका है। मैंने जहांतक विचार किया है उसके अनुसार यह मार्ग उचित प्रतीत होता है कि प्रचलित दोनों सूत्रपाठोंका दोनों संप्रदायोंमें प्रचलित मान्यताओं और व्यवहृत होने वाले शब्दभेद आदिके आधारसे परीक्षण किया जाय। संभवतः इससे सूत्र और सूत्रकारका ठीक इतिहास तैयार करने वालोंको सहायता मिलेगी। इसी निश्चयानुसार तीर्थंकर प्रकृतिके बंधके कारणोंके विषयमें दोनों संप्रदायके आगमोंमेंसे मैंने जो कुछ भी सामग्री संग्रहीत की है वह इस समय पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करता हूं।

तीर्थंकर और तीर्थंकरगोत्र नामकर्म

दोनों संप्रदायके आगम ग्रन्थोंमें उपर्युक्त दोनों शब्द पाये जाते हैं इसलिये पहले तीर्थंकरगोत्र नामकर्म शब्दका उपयोग दोनों संप्रदायके आगमोंमें कहां और किस अर्थमें किया गया है यह सप्रमाण दे देना ठीक प्रतीत होता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें षट्खण्डागमके बंधसामित्तविचय नामक खंडमें यह शब्द आया है। यथा—

"तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणाम-गोदकम्मं बंधंति ॥ ४० ॥"

अर्थ—आगे कहे जाने वाले इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकर नाम गोत्रकर्मका बंध करते हैं।

तीर्थंकर नामके साथ गोत्रशब्द क्यों जोड़ा गया है इसका धवलाकारने इसप्रकार समर्थन किया है—

"कथं तित्थयरस्स णामकम्मावयवस्स गोदसण्णा? ण' उच्चागोदबंधाविणाभावित्तणेण तित्थयरस्स वि गोदत्तसिद्धीदो।"

अर्थ—जबकि तीर्थंकरप्रकृति नामकर्मका एक भेद है, ऐसी हालतमें उसे गोत्र संज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ? नहीं, क्योंकि, तीर्थंकर नामकर्म उच्च गोत्रके बंधका अविनाभावी है, इसलिये उसे गोत्र यह संज्ञा प्राप्त हो जाती है।

श्वेताम्बर संप्रदायमें स्थानांगमें तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म यह शब्द आया है। यथा—

"समणस्स भगवओ महावीरस्स तित्थंसि नवहिं जीवे हिं तित्थकरनामगोयकम्मे निव्वत्तिए।" सूत्र ६९१ पृ० ४५२

अर्थ—श्रमण भगवान महावीरके तीर्थमें नौ जीवोंने तीर्थंकरनाम-गोत्रकर्मका बंध किया।

टीकाकार अभयदेव सूरि इसकी टीका करते हुए तीर्थंकरनामगोत्र पदका निम्नप्रकार अर्थ करते हैं—

"तीर्थंकरत्वनिबंधनं नाम तीर्थंकरनाम, तच्च गोत्रं च कर्मविशेष एवेत्येकवद्भावात् तीर्थंकरनामगोत्रम्। अथवा तीर्थंकर इति नाम गोत्रमभिधानं यस्य तत्तीर्थंकरनामगोत्रम्।"

अर्थ—तीर्थंकरत्वके कारणभूत नामकर्मको तीर्थंकरनामकर्म कहते हैं। गोत्र शब्द कर्मविशेषका वाची है। इसप्रकार दोनोंमें एकवद्भाव कर लेनेमें तीर्थंकरनामगोत्रकर्म कहा जाता है। अथवा, तीर्थंकर यह जिस कर्मका गोत्र अर्थात् नाम है वह तीर्थंकरनामगोत्रकर्म कहा जाता है।

इसी प्रकार गोत्र शब्दके बिना केवल तीर्थंकर शब्द भी दोनों सम्प्रदायोंके आगमोंमें पाया जाता है।

दिगम्बर संप्रदायके षट्खण्डागमके प्रकृति अनुयोगद्वारमें नामकर्मकी तेरानवें प्रकृतियां गिनाते हुए यह शब्द आया है। यथा—

"× × तित्थयरणामं चेदि।" सूत्र १६, पत्र ८६४ धवला

श्वेताम्बर आगमसूत्र ज्ञाताधर्मकथांगमें केवल तीर्थंकर शब्द मिलता है। यथा—

"तित्थयरत्तं लहइ जीवो।" अध्ययन ८, सूत्र ६४

इससे इतना तो स्पष्ट होजाता है कि दोनों सम्प्रदायके आगमसूत्रोंमें तीर्थंकर या तीर्थंकरगोत्र नामकर्म ये दोनों शब्द पाये जाते हैं। दोनों संप्रदायों के उत्तरवर्ती आगमोंमें तीर्थंकरनामगोत्रकर्म यह शब्द छूट गया और केवल तीर्थंकरनामकर्म शब्द रह गया, इसका कारण या तो पाठकी सुगमता होगा या भ्रमका निवारण। कारण जो कुछ भी हो, इतना सच है कि आगे तीर्थंकरनामगोत्रकर्मका आगममें व्यवहार करना ही छोड़ दिया गया।

तीर्थंकरप्रकृतिके बंधके कारण

तीर्थंकर या तीर्थंकरनामगोत्रकर्म इन दोनों शब्दों के विषयमें दोनों संप्रदायोंमें जिसप्रकार एकसी परम्परा पाई जाती है उस प्रकार बंधके कारणोंकी स्थिति नहीं है। इस विषयमें दोनों संप्रदायके मूल सूत्रोंमें काफी मतभेद है, इसलिये तत्त्वार्थसूत्रकी दृष्टिसे यह विचारणीय चर्चा है। अत: हम दिगम्बर सम्प्रदायके आगमसूत्र, श्वेताम्बर सम्प्रदायके आगम सूत्र, तत्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमसूत्र इन सबमें बन्धके जो जो कारण पाये जाते हैं उन्हें अलग २ देकर अन्तमें उनका मानचित्र दे देना उचित समझते हैं। इससे उनके अध्ययन करनेमें पाठकोंको सुभीता रहेगा।

दिगम्बर संप्रदायके षट्खंडागममें बतायेगये बंधके कारण—

"दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए यथा थामे तथा तवे साहूणं पासुअपरिच्चागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणाए अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदकम्मं बंधंति।" ४१

दर्शनविशुद्धता, विनयसंपन्नता, शील—व्रतानिरतिचारिता, आवश्यकापरिहीनता, क्षणलवप्रतिबोधनता, लब्धिसंवेगसंपन्नता, साधुसमाधिसंधारणता, साधुवैयावृत्ययोगयुक्तता, अर्हन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचनप्रभावना और अभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता; इस प्रकार इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्मका बंध करते हैं।

श्वेताम्बर संप्रदायके ज्ञाताधर्मकथांगमें तीर्थंकर-प्रकृतिके बंधके निम्न कारण बतलाये हैं—

अरिहंतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छलया य एसिं अभिक्खनाणोवओगे अ ॥ १ ॥
दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥ २ ॥
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥ ३ ॥

अर्हद्वत्सलता, सिद्धवत्सलता, प्रवचनवत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थविरवत्सलता, बहुश्रुतवत्सलता, तपस्विवत्सलता, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, दर्शननिरतिचारता, विनयनिरतिचारता, आवश्यकनिरतिचारता, शीलनिरतिचारता, व्रतनिरतिचारता, क्षणलवसमाधि, तपःसमाधि, त्यागसमाधि, वैयावृत्यसमाधि, अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति और प्रवचनप्रभावना इसप्रकार इन कारणोंसे जीव तीर्थंकरत्वको प्राप्त करता है।

तत्त्वार्थसूत्रमें तीर्थंकरनामकर्मके बन्धके कारण निम्नप्रकार दिये हैं—

दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचन-भक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्ग-प्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य। ६, २४

दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शील-व्रतानतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तिअनुसारत्याग, शक्ति-अनुसार तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व, ये तीर्थंकरत्वके बन्धके कारण हैं।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें भी तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धके कारण गिनाये हैं। केवल साधुसमाधिके स्थानमें संघसमाधि और वैयावृत्यकरणके स्थानमें साधुवैयावृत्यकरण ये दो नाम भिन्न रूपसे स्वीकार किये गये हैं। परन्तु भाष्यमें प्रवचनवत्सलतामें श्रुतधर, बाल, वृद्ध, तपस्वी, शैक्ष और ग्लान मुनियोंका भिन्न निर्देश किया है। यह ध्यान देने योग्य है; क्योंकि, इससे ऐसा मालूम होता है कि भाष्यकार ऊपर कहे गये २० कारणोंमें से जो कारण तत्त्वार्थसूत्रके १६ कारणोंमें छूट गये हैं उनका संग्रह करना चाहते हैं। यहां भाष्यकार प्रवचनका अर्थ, अर्हद्देवके शासनका अनुष्ठान करने वाले, कर रहे हैं। इतने पर भी सिद्धवत्सलता और क्षणलवसमाधि ये दो कारण और छूट जाते हैं जिनके संग्रह की सूचना सिद्धसेन गणीने की है। इसके लिये उन्होंने 'इति' शब्दका अर्थ 'आदि' किया है, जो भाष्यकारने नहीं किया।

उपर्युक्त चारों मान्यताओंका कोष्ठक निम्नप्रकार है :—

नम्बर	तत्त्वार्थसूत्र-मा०	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-मा०	बंधसामित्तविचय-मा०	ज्ञाताधर्मकथांग-मा०
१	दर्शनविशुद्धि	वही जो तत्त्वार्थसूत्रमें	दर्शनविशुद्धता	दर्शननिरतिचारता
२	विनयसंपन्नता	,,	विनयसंपन्नता	विनयनिरतिचारता
३	शीलव्रतानतिचार	,,	शीलव्रतनिरतिचारता	शीलनिरतिचारता व्रतनिरतिचारता
४	अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग	,,	अभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता	अभीक्ष्णज्ञानोपयोग
५	संवेग	,,	लब्धिसंवेगसंपन्नता	×
६	शक्त्यनुसार त्याग	,,	साधुप्रासुकपरित्यागता	त्यागसमाधि
७	,, तप	,,	यथाशक्ति तप	तपःसमाधि
८	साधुसमाधि	संघसमाधिकरण	साधुसमाधिसंधारणता	×
९	वैयावृत्यकरण	साधुवैयावृत्यकरण	साधुवैयावृत्ययुक्तता	वैयावृत्यसमाधि

नम्बर	तत्त्वार्थसूत्र मा०	तत्वार्थाधिगम मा०	बंधसामित्तविचय मा	ज्ञाताधर्मकथांग मा०
१०	अर्हद्भक्ति	वही जो तत्त्वार्थसूत्रमें	अरहंतभक्ति	अरिहंतवत्सलता
११	आचार्यभक्ति	"	×	×
१२	बहुश्रुतभक्ति	"	बहुश्रुतभक्ति	बहुश्रुतवत्सलता
१३	प्रवचनभक्ति	"	प्रवचनभक्ति	श्रुतभक्ति
१४	आवश्यकापरिहाणि	"	आवश्यकापरिहीनता	आवश्यकनिरतिचारता
१५	मार्गप्रभावना	"	प्रवचनप्रभावना	प्रवचनप्रभावना
१६	प्रवचनवत्सलत्व	"	प्रवचनवत्सलता	प्रवचनवत्सलता

ऊपर जो कोष्ठक दिया है उसके मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र और बंधसामित्तविचयके स्थान प्रायः मिलते जुलते हैं। सिर्फ एक ही स्थान ऐसा है जो नहीं मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और बंधसामित्तविचयमें आचार्यभक्ति नामका कारण पाया जाता है और बंधसामित्तविचयमें क्षणलवप्रतिबोधनता नामका कारण पाया जाता है। श्रीधवलाजीमें क्षणलवका अर्थ कालविशेष और प्रतिबोधनताका अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व्रत और शील आदि गुणोंका उज्ज्वल करना या कलंकका प्रक्षालन करना लिखा है। यह क्रिया आचार्यके सानिध्यमें होती है इसलिये संभव है क्षणलवप्रतिबोधनताके स्थानमें आचार्यभक्ति यह पाठ परिवर्तित किया गया हो। जहां तक देखा जाता है यह बात युक्तिसंगत प्रतीत होती है। ऐसी हालतमें यह कहा जा सकता है कि बंधसामित्तविचयकी मान्यता ही तत्त्वार्थसूत्रमें और कुछ भेदके साथ तत्त्वार्थाधिगम-सूत्रमें प्रथित की गई है। ज्ञाताधर्मकथांगके अनुसार जो कारण दिये गये हैं उनमेंसे बहुतही कम ऐसे कारण हैं जिनका तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके साथ मिलान बैठता हो। ज्ञाताधर्मकथांगके २० कारणोंमेंसे ६ कारण तो ऐसे हैं जो ऊपरके कोष्ठकमें दिखाई ही नहीं देते हैं। जो दिखाई देते हैं उनमेंसे कुछ तो मिलते हुए हैं और कुछ आधे मिलते हुए हैं। इसीसे पाठक समझ सकते हैं कि तीर्थंकर प्रकृतिके बंधकारणोंके विषयमें तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगम सूत्रोंके ऊपर किस मान्यताकी गहरी छाप है।

कारणोंकी संख्याविषयक मान्यता

ऊपर दोनों संप्रदायोंकी मान्यतानुसार जो बंधके कारण बतलाये हैं यद्यपि उन्हींसे यह स्पष्ट होजाता है कि बंधकारणोंकी सोलह इस संख्याका दिगम्बर मान्यतासे और बीस इस संख्याका श्वेताम्बर मान्यतासे सम्बन्ध है। फिर भी संख्या-विषयक मान्यतापर स्वतंत्ररूपसे प्रकाश डालना उपयुक्त प्रतीत होता है।

बंधसामित्तविचयमें भगवान् भूतबलि लिखते हैं:—

"तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणाम-गोदकम्मं बंधंति।" सूत्र ४० धवला पत्र ४६२

अर्थ—इन सोलह कारणोंसे (कारण ऊपर दे आये हैं) जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्मका बंध करते हैं।

उपर्युक्त ४० वें सूत्रकी टीकामें वीरसेन स्वामीने लिखा है—

"सोलसेत्ति कारणाणं संखाणिद्देसो कओ। पज्जवट्ठियणए अवलंबिज्जमाणे तित्थयरकम्मबंधकारणाणि सोलस चेव होंति।"

अर्थ—सोलह इस पदके द्वारा बंधके कारणोंका निर्देश किया है। पर्यायार्थिक नयका अवलंबन करने पर तीर्थंकरप्रकृतिके बंधके कारण सोलह ही होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द तत्त्वार्थसूत्रके कर्तासे पूर्व हुए हैं। वे भी अपने भावप्राभृतमें लिखते हैं—

"विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊणं।
तित्थयरनामकम्मं बंधइ अचिरेण कालेण ॥७७॥"

अर्थ—विषयोंसे विरक्त हुआ साधु छह और दस अर्थात् सोलह कारणोंकी भावना करके अति शीघ्र तीर्थंकरनामकर्मका बंध करता है।

अब संख्या-विषयक श्वेताम्बर मान्यता दी जाती है—

"पढमचरमेहि पुट्ठा जिणहेऊ वीस ते इमे।
—सत्तरिसयठाणा द्वार १०

अर्थ—पहले और अन्तिम तीर्थंकरोंने तीर्थंकर प्रकृतिके जिन बीस कारणोंका चिन्तवन किया वे इस प्रकार हैं। (बीस कारणोंके नाम ऊपर दे आये हैं)

प्रवचनसारोद्धार द्वार १०में लिखा है—

"तथा ऋषभनाथेन वर्द्धमानस्वामिना च पूर्वभवे एतान्यनन्तरोक्तानि सर्वाण्यपि स्थानान्यासेवितानि। मध्यमेषु पुनरजितस्वामिप्रभृतिषु द्वाविंशतितीर्थंकरेषु केनापि एकं केनापि त्रीणि यावत्केनापि सर्वाण्यपि स्थानानि स्पृष्टानि इति।"

अर्थ—ऋषभनाथ और वर्द्धमान स्वामीने अपने अपने पूर्वभवमें ऊपर कहे गये सभी (बीस) कारणों की भावना की। तथा अजितनाथसे लेकर मध्यके बाईस तीर्थंकरोंमेंसे किसीने एक किसीने तीन और किसीने चार आदि सभी कारणोंकी भावना की।

तत्त्वार्थाधिगमभाष्यकी टीका करते हुए सिद्धसेन गणी लिखते हैं—

"विंशतेः कारणानां सूत्रकारेण किंचित् सूत्रे किंचित् भाष्ये किंचित् आदिग्रहणात् सिद्धपूजाक्षणलवध्यानभावनाख्यमुपात्तं उपयुज्य च प्रवक्ता व्याख्येयम्।"

अर्थ—तीर्थंकरनामकर्मके बंधके बीस कारणोंमेंसे सूत्रकारने कुछ सूत्रमें कुछ भाष्यमें और कुछ आदि ग्रहणसे सिद्धपूजा और क्षणलवसमाधिका ग्रहण किया है। व्याख्याताको इनका उपयोग करके व्याख्यान करना चाहिये।

इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकरनामकर्मके बन्धकारणोंकी 'सोलह' यह संख्या दिगम्बर संप्रदायसम्मत है और 'बीस' यह संख्या श्वेताम्बर सम्प्रदायसम्मत है।

इस लेखसे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं एक तो यह कि तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमें तीर्थंकरनामकर्मके बंधकारणोंके वे ही नाम पाये जाते हैं जो दिगम्बर संप्रदायके आगम ग्रंथोंके अनुकूल पड़ते हैं। तथा दूसरी यह कि कारणोंकी संख्या भी दिगम्बर मान्यताके अनुसार ही दोनों सूत्रग्रन्थोंमें दीगई है। ये दोनों बातें तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताके निर्णय की दृष्टिसे कम महत्त्व नहीं रखती हैं। आशा है विद्वान् पाठक इधर ध्यान देंगे।

'अनेकान्त'पर आचार्यश्रीकुन्थुसागर और ब्र० विद्याधरका अभिमत

"आप श्रीमान्के भेजे हुए 'अनेकान्त' की ८ किरणें मिल चुकीं, देखते ही मेरेको तथा श्रीपरमपूज्य १०८ आचार्यवर्य कुंथुसागर महाराजश्रीको बहुत आनन्द हुआ। जैन पत्रोंमें जितने मासिक या आठवाडिक पेपर निकलते हैं उनमें सच्चा माननीय तथा पढ़ने योग्य पत्र तो 'अनेकान्त' ही है। इसमें अनेक लेख संग्रहणीय रहते हैं तथा इसमें जो लेख आते हैं सो बहुत ही अच्छे होते हैं। 'अनेकान्त'का कागज टाईप तथा आकारादि सुन्दर ही है। जैसा इसका नाम है वैसा ही इसमें अनेक लेखों तथा अनेक विषयोंका संग्रह है। सो इस पेपरको प्रत्येक ग्राममें प्रत्येक पाठशाला, प्रत्येक बोर्डिंग तथा प्रत्येक सरस्वती भण्डार और पंचमहाजनोंको मंगाकर अवश्य पढ़ना चाहिये तथा इस पेपरको अवश्य मेम्बर तरीके, मदद तरीके, ग्राहक तरीके या सहायक तरीके मदद करना कराना खास जरूरी है। इस पेपरके पढ़नेसे इहपर-सिद्धि तथा परभवसिद्धि-आत्म-कल्याण जरूर होगा सो इसमें शंका नहीं।

—आ० कुन्थुसागर ब्र० विद्याधर

आचार्य जिनसेन और उनका हरिवंश

(ले०—श्री पं० नाथूराम प्रेमी)

ग्रन्थ-परिचय

दिगंबर सम्प्रदायके संस्कृत कथा-साहित्यमें हरिवंश-चरित या हरिवंशपुराण एक प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। उपलब्ध कथा-ग्रन्थोंमें समयकी दृष्टिसे यह तीसरा ग्रन्थ है। इसके पहलेका एक पद्मचरित है जिसके कर्त्ता रविषेणाचार्य हैं और दूसरा वरांग-चरित है जिसके कर्त्ता जटा-सिंहनंदि हैं और इन दोनोंका स्पष्ट उल्लेख हरिवंशके प्रथम सर्गमें किया गया है।[1]

आचार्य वीरसेनके शिष्य जिनसेनका पार्श्वाभ्युदय काव्य भी हरिवंशके पहले बन चुका था, क्योंकि उसका भी उल्लेख हरिवंशमें किया गया है,[2] इस लिए यदि उसको भी कथा-ग्रन्थ माना जाय, तो फिर हरिवंशको चौथा ग्रन्थ मानना चाहिए।

महासेनकी सुलोचना-कथाका और कुछ अन्य ग्रन्थोंका भी हरिवंशमें जिक्र किया गया है[3] परन्तु वे अभी तक अनुपलब्ध हैं।

हरिवंशका ग्रन्थ-परिमाण बारह हजार श्लोक है और उसमें ६६ सर्ग हैं। अधिकांश सर्ग अनुष्टुप् छन्दोंमें हैं। कुछ सर्गोंमें द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित आदि छन्दोंका भी उपयोग किया गया है। बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ और वे जिस वंशमें उत्पन्न हुए थे उस हरिवंशके महापुरुषोंका चरित लिखना ही इसका उद्देश्य है; परन्तु गौण रूप से जैसा कि छ्यासठवें सर्ग (श्लोक ३७-३८) में कहा गया है चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव बलभद्र और नव प्रति-नारायण, इस तरह त्रेसठ शलाका पुरुषोंका और सैकड़ों अवान्तर राजाओं और विद्याधरोंके चरितोंका कीर्तन भी इसमें किया गया है। इसके सिवाय चौथेसे सातवें सर्गतक ऊर्ध्व, मध्य और अधोलोकोंका वर्णन तथा अजीवादिक द्रव्योंका स्वरूप भी बतलाया गया है। जगह जगह जैन-सिद्धान्तोंका निरूपण तो है ही।

१ देखो श्लोक नं० ३४–३५। २ देखो श्लोक नं० ४०। ३ देखो श्लोक नं० ३३।

हरिवंशकी रचनाके समय तक भगवज्जिनसेनका आदि-पुराण नहीं बना था और गुणभद्रका उत्तरपुराण तो हरिवंशसे ११५ वर्ष बाद निर्मित हुआ है, इसलिए यह ग्रन्थ उनके अनुकरणपर या उनके आधारपर तो लिखा हुआ हो नहीं सकता, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि भगवज्जिनसेन और गुणभद्रके समान इनके समक्ष भी कविपरमेश्वर या कविपरमेष्ठीका 'वागर्थसंग्रह' पुराण रहा होगा[1]। भले ही वह संक्षिप्त हो और उसमें इतना विस्तार न हो।

उत्तरपुराणमें हरिवंशकी जो कथा है, वह यद्यपि संक्षिप्त है परन्तु इस ग्रन्थकी कथासे ही मिलती जुलती है, इसलिए संभावना यही है कि इन दोनोंका मूल स्रोत 'वागर्थसंग्रह' होगा।

ग्रंथकर्त्ता और पुन्नाट संघ

इस ग्रन्थके कर्त्ता जिनसेन पुन्नाट संघके आचार्य थे और वे स्पष्ट ही आदिपुराणादिके कर्त्ता भगवज्जिनसेनसे भिन्न हैं[2]। इनके गुरुका नाम कीर्तिषेण और दादा गुरुका नाम जिनसेन था, जब कि भगवज्जिनसेनके गुरु वीरसेन और दादा गुरु आर्यनन्दि थे।

पुन्नाट कर्नाटकका प्राचीन नाम है। संस्कृत साहित्यमें इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। हरिषेणने अपने कथाकोशमें लिखा है कि भद्रबाहु स्वामीकी आज्ञानुसार उनका सारा संघ चन्द्रगुप्त या विशाखाचार्यके साथ दक्षिणा-पथके पुन्नाट देशमें गया[3]। दक्षिणापथका यह पुन्नाट कर्नाटक ही है। कन्नड़ साहित्यमें भी पुन्नाट राज्यके उल्लेख

१ इसकी चर्चा 'पद्मचरित और पउमचरिय' शीर्षक लेख में की जा चुकी है जो 'भारती-विद्या' में प्रकाशित हो रहा है।

२ स्व० डा० पाठक, टी० एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री आदि विद्वानोंने पहले समय-साम्यके कारण दोनोंको एक ही समझ लिया था।

३ अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरुवाक्यतः।
दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषयं ययौ ॥४२–भद्रबाहुकथा

मिलते हैं। प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता टालेमीने इसका 'पोन्नट' नाम से उल्लेख किया है। इस देशके मुनि-संघका नाम पुन्नाट संघ था। संघोंके नाम प्रायः देशों और स्थानोंके ही नामसे पड़े हैं। श्रवणबेल्गोलके १६४ नं० के शिलालेखमें जो श० सं० ६२२ के लगभगका है एक 'कित्तूर' नामके संघका उल्लेख है। कित्तूर या कीर्तिपुर पुन्नाटकी पुरानी राजधानी थी जो इस समय मैसूरके 'होगडेवन्कोटे' ताल्लुकेमें है। सो यह कित्तूर संघ या तो पुन्नाट संघका ही नामान्तर होगा और या उसकी एक शाखा।

ग्रन्थकर्त्ताके समय तककी अविच्छिन्न गुरुपरम्परा

हरिवंशके छयासठवें सर्गमें महावीर भगवानसे लेकर लोहाचार्य तककी वही आचार्य-परम्परा दी है, जो श्रुतावतार आदि अन्य ग्रन्थोंमें मिलती है—अर्थात् ६२ वर्षमें तीन केवली (गौतम, सुधर्मा, जम्बू), १०० वर्षमें पाँच श्रुतकेवली (विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु), १८३ वर्षमें ग्यारह दशपूर्वके पाठी (विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल्ल, गंगदेव, धर्मसेन), २२० वर्षमें पाँच ग्यारह अंगधारी (नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, कंस), और फिर ११८ वर्षमें सुभद्र, जयभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचाराङ्गधारी हुए, अर्थात् वीरनिर्वाणसे ६८३ वर्ष बाद तक ये सब आचार्य हो चुके। उनके बाद नीचे लिखी परम्परा चली—

विनयंधर, श्रुतिगुप्त, ऋषिगुप्त, शिवगुप्त (जिन्होंने कि अपने गुणोंसे अर्हद्बलिपद प्राप्त किया) मन्दरार्य, मित्रवीर, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, वीरवित, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदण्ड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, धर्मसेन, सिंहसेन, नन्दिषेण, ईश्वरसेन, नन्दषेण अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिसेण, जयसेन, अमितसेन, (पुन्नाटगणके अगुआ और सौ वर्ष तक जीनेवाले), इनके बड़े गुरु भाई कीर्तिषेण और फिर उनके शिष्य जिनसेन (ग्रन्थकर्त्ता)।

इनमेंसे प्रारम्भके चार तो वे ही मालूम होते हैं जिन्हें इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें अंगपूर्वके एक देशको धारण करनेवाले आरातीय मुनि कहा है और जिनके नाम विनयधर, श्रीधर शिवदत्त और अर्हद्दत हैं। विनयंधर और विनयधरमें तो कोई फर्क ही नहीं है। शिवदत्त और शिवगुप्त भी एक हो सकते हैं। 'गुप्त' का प्राकृतरूप 'गुत्त' भ्रमवश दत्त हो सकता है। बीचके दो नाम शंकास्पद हैं। 'महातपोभृद्विनयंधरः श्रुतामृषिश्रुतिं गुप्तपदादिकां दधत्' इस चरणका ठीक अर्थ भी नहीं बैठता[१], शायद कुछ अशुद्ध है। श्रुतिगुप्त और ऋषिगुप्तकी जगह गुप्तऋषि और गुप्तश्रुति नाम भी शायद हों। यहाँ यह भी खयाल रखना चाहिए कि अक्सर एक ही मुनिके दो नाम भी होते हैं, जैसे कि लोहार्य का दूसरा नाम सुधर्मा भी है।

इसमें शिवगुप्तका ही दूसरा नाम अर्हद्बलि है और ग्रन्थान्तरोंमें शायद इन्हीं अर्हद्बलिको संघोंका प्रारंभकर्त्ता बतलाया है। अर्थात् इनके बाद ही मुनिसंघ जुदा जुदा नामोंसे अभिहित होने लगे थे।

वीर-निर्वाणकी वर्तमान काल-गणनाके अनुसार वि० सं० २१३ तक लोहार्यका अस्तित्व-समय है और उसके बाद आचार्य जिनसेनका समय वि० सं० ८४० है, अर्थात् दोनोंके बीचमें यह जो ६२७ वर्षका अन्तर है, जिनसेनने उसी बीचके उपर्युक्त २९—३० आचार्य बतलाये हैं। यदि प्रत्येक आचार्यका समय इक्कीस बाईस वर्ष गिना जाय तो यह अन्तर लगभग ठीक बैठ जाता है।

वीर-निर्वाणसे लोहार्य तक अट्ठाईस आचार्य बतलाये गये हैं और उन सबका संयुक्त काल ६८३ वर्ष, अर्थात् प्रत्येक आचार्यके कालकी औसत २४ वर्षके लगभग पड़ती है, और इस तरह दोनों कालोंकी औसत लगभग समान ही बैठ जाती है।

इस विवरणसे अब हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि वीर-निर्वाणके बादसे विक्रम संवत् ८४० तककी एक अविच्छिन्न—अखंड गुरु-परम्परा इस ग्रन्थमें सुरक्षित है, जो कि अब तक अन्य किसी ग्रन्थमें भी नहीं देखी गई और इस दृष्टिसे यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वका है। अवश्य ही यह आरातीय मुनियोंके बादकी एक शाखाकी ही परम्परा होगी जो आगे चलकर पुन्नाट संघके रूपमें प्रसिद्ध हुई।

---

१ इस चरणका अर्थ पं० गजाधरलालजी शास्त्रीने "नयंधर ऋषि, गुप्तऋषि" इतना ही किया है, पुराने वचनिकाकार पं० दौलतरामजीने "नयंधर ऋषि, श्रुति ऋषि, गुप्ति" किया है।

अन्य संघोंकी वीर नि० सं० ६८३ के बादकी परम्परायें जान पड़ता है कि नष्ट हो चुकी हैं और अब शायद उनके प्राप्त करनेका कोई उपाय भी नहीं है।

ग्रन्थकी रचना कहाँ पर हुई?

आ० जिनसेनने लिखा है कि उन्होंने हरिवंशपुराणकी रचना वर्द्धमानपुरमें की और इसी तरह आ० हरिषेणने उससे १४८ वर्ष बाद अपने कथाकोशको भी वर्द्धमानपुरमें ही बनाकर समाप्त किया है। जिनसेनने वर्द्धमानपुरको 'कल्याणैः परिवर्द्धमान-विपुलश्री' और हरिषेणने 'कार्त्तस्वरापूर्णजनाधिवास' कहा है। 'कल्याण' और 'कार्त्तस्वर' ये दोनों शब्द सुवर्ण या सोनेके वाचक भी हैं। सुवर्णके अर्थमें कल्याण शब्द संस्कृत कोशोंमें तो मिलता है पर वाङ्मयमें विशेष व्यवहृत नहीं है। हाँ, भावदेवकृत पार्श्वनाथचरित आदि जैन संस्कृत ग्रन्थोंमें इसका व्यवहार किया गया है। जिनसेनने भी उसी अर्थमें उपयोग किया है। अर्थात् दोनोंके ही कथनानुसार वर्द्धमानपुरके निवासियोंके पास सोनेकी विपुलता थी, वह बहुत धनसम्पन्न नगर था और दोनों ही ग्रन्थकर्ता पुन्नाट संघके हैं, इसलिए दोनों ग्रन्थोंकी रचना एक ही स्थानमें हुई है, इसमें सन्देह नहीं रहता[1]।

चूँकि पुन्नाट और कर्नाटक पर्यायवाची हैं, इसलिए हमने पहले अनुमान किया था[2] कि वर्द्धमानपुर कर्नाटक प्रान्तमें ही कहीं पर होगा; परन्तु अभी कुछ ही समय पहले जब मेरे मित्र डा० ए० एन० उपाध्येने हरिषेणके कथाकोशकी चर्चाके सिलसिलेमें सुझाया कि वर्द्धमानपुर काठियावाड़का प्रसिद्ध शहर बढ़वाण मालूम होता है, और उसके बाद जब हमने हरिवंशमें बतलाई हुई उस समयकी भौगोलिक स्थितिपर विचार किया, तब अच्छी तरह निश्चय हो गया कि बढ़वाण ही वर्द्धमानपुर है।

1 'हरिषेणका आराधना कथाकोश' जिस समय रचा गया है उस समय विनायकपाल नामका राजा था, और वह भी काठियावाड़का ही था।

2 देखो माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थ-मालाके ३२-३३ वें ग्रन्थ हरिवंशकी भूमिका और जैनहितैषी भाग १४ अंक ७-८ में 'हरिषेणका कथाकोश' शीर्षक लेख।

हरिवंशके अन्तिम सर्गके ५२वें पद्यमें लिखा है कि शक संवत् ७०५ में, जब कि उत्तर दिशाकी इन्द्रायुध नामक राजा, दक्षिणकी कृष्णका पुत्र श्रीवल्लभ, पूर्व दिशाकी अवन्तिभूप वत्सराज और पश्चिमके सौरोंके अधिमण्डल या सौराष्ट्रकी वीर जयवराह रक्षा करता था, तब इस ग्रन्थकी रचना हुई।

यदि वर्द्धमानपुरको कर्नाटकमें माना जाय, तो उसके पूर्वमें अवन्ति या मालवेकी, दक्षिणमें श्रीवल्लभ (राष्ट्रकूट) की और इसी तरह दूसरे राज्योंकी अवस्थिति ठीक नहीं बैठ सकती। परन्तु जैसा कि आगे बतलाया गया है, काठियावाड़में माननेसे ठीक बैठ जाती है।

इतिहासज्ञोंकी दृष्टिमें यद्यपि हरिवंशका पूर्वोक्त पद्य बहुत ही महत्वका रहा है और उस समयके आसपासका इतिहास लिखने वाले प्रायः सभी लेखकोंने इसका उपयोग किया है; परन्तु इस बातपर शायद किसीने भी विचार नहीं किया कि आखिर यह वर्द्धमानपुर कहाँ था जिसके चारों तरफके राजाओंकी स्थिति इस पद्यमें बतलाई गई है और इसी लिए इसके अर्थमें सभीने कुछ न कुछ गोलमाल किया है[1]। यह गोलमाल इस लिए भी होता रहा कि अभी तक इन्द्रायुध और वत्सराजके राजवंशोंका सिलसिलेवार इतिहास तैयार नहीं हुआ है और उनका राज्य कब कहाँसे कहाँ तक रहा, यह भी प्रायः अनिश्चित है।

अब हमें देखना चाहिए कि चारों दिशाओंमें उस समय जिन-जिन राजाओंका उल्लेख किया है, वे कौन थे और कहाँके थे।

१ **इन्द्रायुध**—स्व० चिन्तामणि विनायक वैद्यने बतलाया है कि इन्द्रायुध भण्डि कुलका था और उक्त वंशको वर्म वंश भी कहते थे[1]। इसके पुत्र चक्रायुधको परास्त करके प्रतिहारवंशी राजावत्सराजके पुत्र नागभट दूसरेने जिसका कि राज्य-काल विन्सेंट स्मिथके अनुसार वि० सं० ८५७-८८२ है कन्नौजका साम्राज्य उससे छीना था[2]। बढ़वाणके उत्तरमें मारवाड़का प्रदेश पड़ता है। इसका

1 देखो, सी० वी० वैद्यका 'हिंदू भारतका उत्कर्ष' पृ० १७५

2 म० म० ओझाजीके अनुसार नागभटका समय वि० सं० ८७२ से ८९० है।

अर्थ यह हुआ कि कन्नौजसे लेकर मारवाड़ तक इन्द्रायुध का राज्य फैला हुआ था।

२ श्रीवल्लभ—यह दक्षिणके राष्ट्रकूट वंशके राजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र था। इसका प्रसिद्ध नाम गोविंद (द्वितीय) था। कार्वीमें मिले हुए ताम्रपटमें[1] भी इसे गोविंद न लिखकर वल्लभ ही लिखा है, अतएव इस विषयमें संदेह नहीं रहा कि यह गोविंद द्वितीय ही था और वर्द्धमानपुरकी दक्षिण दिशामें उसीका राज्य था। श० सं० ६९२ का अर्थात् हरिवंशकी रचनाके १३ वर्ष पहलेका उसका एक ताम्रपत्र[2] भी मिला है।

३ वत्सराज—यह प्रतिहारवंशका राजा था और उस नागावलोक या नागभट दूसरेका पिता था जिसने चक्रायुधको परास्त किया था। हरिवंशके पूर्वोक्त पद्यका ग़लत अर्थ लगा कर इतिहासज्ञोंने इसे पश्चिम दिशाका राजा बतलाया है और वर्द्धमानपुरकी ठीक अवस्थितिका पता न होनेसे ही उसके पश्चिममें मारवाड़को मान लिया है। परंतु बढ़वाणसे पश्चिममें मारवाड़ नहीं हो सकता। वास्तवमें उक्त पद्यमें वत्सराजको पूर्व दिशाका और अवंति का राजा कहा है और जयवराहको पश्चिम दिशाका राजा बतलाया है जिसकी चर्चा आगे की गई है। इसलिए हरिवंशकी रचनाके समय श० सं० ७०५ में मालवे पर वत्सराजका ही अधिकार होना चाहिए।

वत्सराजने गौड़ और बंगालके राजाओंको जीता था और उनसे दो श्वेत छत्र छीन लिये थे। आगे इन्हीं छत्रोंको राष्ट्रकूट गोविंद (द्वि०) के छोटे भाई ध्रुवराजने चढ़ाई करके उससे छीन लिया था और उसे मारवाड़की अगम्य रेतीली भूमिकी तरफ भागनेको मजबूर किया था। ओझाजीने लिखा है कि उक्त वत्सराजने मालवेके राजापर चढ़ाई की थी और मालव-राजको बचानेके लिए ध्रुवराज उसपर चढ़ दौड़ा था। यह सही हो सकता है, परंतु हमारी समझमें यह घटना श० सं० ७०५ के बादकी होगी, ७०५ में तो मालवा वत्सराजके ही अधिकारमें था। क्योंकि ध्रुवराजका राज्यारोहण काल श० सं० ७०७ के लगभग अनुमान किया गया है, उसके पहले ७०५ में तो गोविंद द्वि० ही राजा था और इसलिए उसके बाद ही ध्रुवराजकी उक्त चढ़ाई हुई होगी।

श्वेताम्बराचार्य उद्योतनसूरिने अपनी 'कुवलयमाला' नामक प्राकृत कथा जावालिपुर या जालोर (मारवाड़) में जब श० सं० ७०० के समाप्त होनेमें एक दिन बाकी था तब समाप्त की थी[1] और उस समय वत्सराजका राज्य था[2]। अर्थात् हरिवंशकी रचनाके समय (श० ७०५में) तो (उत्तरमें) मारवाड़ इन्द्रायुधके अधिकारमें था और (पूर्वमें) मालवा वत्सराजके अधिकारमें। परंतु इसके पाँच वर्ष पहले (श० ७०० में) कुवलयमालाकी रचनाके समय मारवाड़का अधिकारी भी वत्सराज था। इससे अनुमान होता है कि पहले मारवाड़ और मालवा दोनों ही इंद्रायुधके अधिकारमें थे और वत्सराजने दोनों ही प्रांत उससे जीते थे। पहले, श० सं० ७०० से पहले मारवाड़ और फिर श० ७०५ के पहले मालवा। इसके बाद ७०७ में ध्रुवराज राष्ट्रकूटने मालवराजकी सहायता के लिए चढ़ाई करके वत्सराजको मारवाड़की अर्थात् जालोरकी ओर खदेड़ दिया। मालवेका पुराना राजा यह इंद्रायुध ही होगा जिसकी सहायता ध्रुवराजने की थी।

यह निश्चित है कि कन्नौजके साम्राज्यका बहुत विस्तार था और उसमें मालवा और मारवाड़ भी शामिल था। उक्त साम्राज्यको इसी वत्सराजके पुत्र नागभट (द्वि०) ने इसी इंद्रायुधके पुत्र चक्रायुधसे छीना था और यह छीना-झपटी वत्सराजके ही समयसे शुरू हो गई थी। ध्रुवराजने उसमें कुछ बाधा डाली परंतु अंतमें वह प्रतीहारोंके ही हाथ में चला गया।

इन सब बातोंसे हरिवंशकी रचनाके समय उत्तरमें इंद्रायुध और पूर्वमें वत्सराजका राज्य होना ठीक मालूम होता है।

४ वीर जयवराह—यह पश्चिममें सौरोंके अधिमंडल का राजा था। सौरोंके अधिमंडलका अर्थ हम सौराष्ट्र ही समझते हैं जो काठियावाड़का प्राचीन नाम है। सौर

---

१ इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ५ पृ० १४६।

२ एपिग्राफिआ इण्डिका जिल्द ६ पृ० २०९।

१ सगकाले वोलीणे वरिसाण सएहिं सत्तहिं गएहिं।
एगदिणेणूणेहिं रइआ अवरह वेलाए॥

२ परभडभिउडिभंगो पणईयणरोहिणी कलाचंदो।
सिरिवच्छरायणामो णरहत्थी पत्थिवो जइआ॥

—जैनसाहित्यसंशोधक खंड ३ अं० २

लोगोंका सष्ट्र सो सौर-राष्ट्र या सौराष्ट्र। सौराष्ट्रसे बढ़वाण और उससे पश्चिमकी ओरके प्रदेशका ही ग्रन्थकर्त्ताका अभिप्राय जान पड़ता है। यह राजा किस वंशका था, इस का ठीक ठीक पता नहीं चलता। हमारा अनुमान है कि बहुत करके यह चालुक्य वंशका ही कोई राजा होगा और 'वराह' उसको उसी तरह कहा गया होगा जिस तरह कीर्तिवर्मा (द्वि०) को 'महा-वराह' कहा है। बड़ोदामें गुजरातके राष्ट्रकूट राजा कर्कराजका श० सं० ७३४का एक ताम्रपत्र[1] मिला है जिसमें राष्ट्रकूट कृष्णके विषयमें कहा है कि उसने कीर्तिवर्मा महा वराहको हरिण बना दिया[2]। चौलुक्योंके दानपत्रोंमें उनका राजचिह्न वराह मिलता है, इसीलिये कविने कीर्तिवर्माको महा-वराह कहा है। धराश्रय भी वराह का पर्यायवाची है। इसलिए और भी कई चौलुक्य राजाओं के नामके साथ यह धराश्रय पद विशेषणके रूपमें जुड़ा हुआ मिला है। जैसे गुजरातके चौलुक्योंकी दूसरी शाखाके स्थापनकर्त्ता जयसिंह धराश्रय, तीसरी शाखाके मूल पुरुष जयसिंह धराश्रय (द्वि०), और उनके पुत्र शिलादित्य धराश्रय[3]।

राष्ट्रकूटोंसे पहले चौलुक्य सार्व-भौम राजा थे और काठियावाड़पर भी उनका अधिकार था। उनसे यह सार्वभौमत्व श० सं० ६७५ के लगभग राष्ट्रकूटोंने छीना था, इसलिए बहुत सम्भव यही है कि हरिवंशके रचनाकालमें काठियावाड़पर चौलुक्य वंशकी ही किसी शाखाका अधिकार हो और उसीको जयवराह लिखा हो। पूरा नाम शायद जयसिंह हो और वराह विशेषण। राठोड़ोंका यह सामन्त भी हो सकता है और स्वतन्त्र भी।

प्रतीहार राजा महीपालके समयका एक दान-पात्र[4] हडुाला गाँव (काठियावाड़) से श० सं० ८३६ का मिला है। उससे मालूम होता है कि उस समय बढ़वाणमें धरणीवराहका अधिकार था जो चावड़ावंशका था और प्रतिहारों का सामन्त था। इससे एक सम्भावना यह भी है कि उक्त धरणीवराहका ही कोई ७-८ पीढ़ी पहलेका पूर्वज ही उक्त जयवराह हो।

बढ़वाणमें ही पुन्नाट संघका एक और ग्रंथ

जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है पूर्वोक्त वर्द्धमानपुर या बढ़वाणमें ही हरिषेण नामके एक और आचार्य हुए हैं जिन्होंने श० सं० ८५३ (वि० सं० ९८९) में अर्थात् हरिवंशकी रचनाके १४८ वर्ष बाद 'कथाकोश' नामक ग्रन्थकी रचना की और ये भी उसी पुन्नाट संघके थे जिसमें कि जिनसेन हुए हैं। हरिषेणने अपने गुरु भरतसेन, उनके गुरु श्रीहरिषेण और उनके गुरु मौनि भट्टारक तकका उल्लेख किया है। यदि एक एक गुरुका समय पचीस तीस तीस वर्ष गिन लिया जाय, तो अनुमानसे हरिवंशकर्त्ता जिनसेन मौनि भट्टारकके गुरुके गुरु हो सकते हैं या एकाध पीढ़ी और पहलेके। यदि जिनसेन और मौनि भट्टारकके बीचके एक दो आचार्योंका नाम और कहींसे मालूम हो जाय तो फिर इन ग्रन्थोंसे वीर-निर्वाणसे श० सं० ८५३ तककी अर्थात् १४५८ वर्षकी एक अविच्छिन्न गुरुपरम्परा तैयार हो सकती है।

आ० जिनसेन अपने गुरु कीर्तिषेणके भाई अमितसेन को जो सौ वर्ष तक जीवित रहे थे खास तौरसे 'पवित्रपुन्नाटगणाग्रणी' कहा है, जो यह ध्वनित करता है कि शायद पहले पहल वे ही काठियावाड़में अपने संघको लाये थे।

पुन्नाट संघ काठियावाड़में

यों तो मुनिजन दूर दूर तक सर्वत्र ही विहार करते रहते हैं परन्तु पुन्नाट संघका सुदूर कर्नाटकसे चलकर काठियावाड़में पहुँचना और वहाँ लगभग दो सौ वर्ष तक रहना एक असाधारण घटना है। इसका सम्बन्ध दक्षिणके चौलुक्य और राष्ट्रकूट राजाओंसे ही जान पड़ता है जिनका शासन काठियावाड़ और गुजरातमें बहुत समय तक रहा है और जिन राजवंशोंकी जैनधर्मपर विशेष कृपा रही है। अनेक चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं तथा उनके माण्डलिकोंने जैनमुनियोंको दान दिये हैं और उनका आदर किया है। उनके बहुतसे, अमात्य, मंत्री, सेनापति आदि तो जैनधर्मके उपासक तक रहे हैं। ऐसी दशामें यह स्वाभाविक

---

१ इण्डियन एण्टिक्वेरी भाग १२, पृ० १५६।

२ यो युद्धकण्डूतिगृहीतमुच्चैः शौर्योष्मसंदीपितमापतन्तम्। महावराहं हरिणीचकार प्राज्यप्रभावः खलु राजसिंहः॥

३ देखो महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश जिल्द १३, पृ० ७३-७४

४ देखो इण्डियन एण्टिक्वेरी जि० १२, पृ० १९३-९४

है कि पुन्नाटसंघके कुछ मुनि उन लोगोंकी प्रार्थना या आग्रह से सुदूर काठियावाड़में भी पहुँच गये हों और वहीं स्थायी रूपसे रहने लगे हों। हरिषेणके बाद और कब तक काठियावाड़में पुन्नाट संघ रहा, इसका अभी तक कोई पता नहीं चला है।

जिनसेनने अपने ग्रन्थकी रचनाका समय शक संवत्में दिया है और हरिषेणने शक संवत्के सिवाय विक्रम संवत् भी साथ ही दे दिया है। पाठक जानते हैं कि उत्तरभारत, गुजरात, मालवा आदिमें विक्रम संवत्का और दक्षिणमें शक संवत्का चलन रहा है। जिनसेनको दक्षिणसे आये हुए एक दो पीढ़ियाँ ही बीती थीं इसलिये उन्होंने अपने ग्रन्थमें पूर्व संस्कारवश श० सं० का ही उपयोग किया, परन्तु हरिषेणको काठियावाड़में कई पीढ़ियाँ बीत गई थीं, इसलिए उन्होंने वहांकी पद्धतिके अनुसार साथमें वि० सं० देना भी उचित समझा।

नन्नराज-वसति

वर्द्धमानपुरकी नन्नराज-वसतिमें अर्थात् नन्नराजके बनवाये हुए या उसके नामसे उसके किसी वंशधरके बनवाये हुए जैनमन्दिरमें हरिवंशपुराण लिखा गया था[१]। यह नन्नराज नाम भी कर्नाटकवालोंके सम्बन्धका आभास देता है और ये राष्ट्रकूट वंशके ही कोई राजपुरुष जान पड़ते हैं। इस नामको धारण करने वाले कुछ राष्ट्रकूट राजा हुए भी हैं।[२] राष्ट्रकूट राजाओंके घरू नाम कुछ और ही हुआ करते थे, जैसे कन्न, कन्नर, अण्ण, बद्दिग आदि। यह नन्न नाम भी ऐसा ही जान पड़ता है।

पुन्नाटसंघका इन दो ग्रन्थोंके सिवाय अभी तक और कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिला है; यहाँ तक कि जिस कर्नाटक प्रान्तका यह संघ था वहाँके भी किसी शिलालेख

१ देखो छयासठवें सर्गका ५२ वाँ पद्य।

२ मुलताई (बेतूल सी०पी०) में राष्ट्रकूटोंकी जो दो प्रशस्तियाँ मिली हैं उनमें दुर्गराज, गोविन्दराज, स्वामिकराज और नन्नराज नामके चार राष्ट्रकूट राजाओंके नाम दिये हैं। सौन्दत्तिके राष्ट्रकूटोंकी दूसरी शाखाके भी एक राजाका नाम नन्न था। बुद्ध गयासे राष्ट्रकूटोंका एक लेख मिला है उसमें भी पहले राजाका नाम नन्न है।

आदिमें नहीं और यह एक आश्चर्यकी बात है। ऐसा जान पड़ता है कि पुन्नाट (कर्नाटक) से बाहर जाने पर ही यह संघ पुन्नाटसंघ कहलाया होगा जिस तरह कि आजकल जब कोई एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानमें जा रहता है, तब वह अपने पूर्व स्थान वाला कहलाने लगता है। आचार्य जिनसेनने हरिवंशके सिवाय और किसी ग्रन्थकी रचनाकी या नहीं, इसका कोई पता नहीं।

आचार्य जिनसेनने अपने समीपवर्ती गिरनारकी सिंह-वाहिनी या अम्बादेवीका उल्लेख किया है और उसे विघ्नों का नाश करने वाली शासनदेवी बतलाया है[३]। अर्थात् उस समय भी गिरनार पर अम्बादेवीका मन्दिर रहा होगा।

दोस्तटिका नामक स्थानका कोई पता नहीं लग सका जहाँकी प्रजाने शान्तिनाथके मन्दिरमें हरिवंशपुराणकी पूजा की थी। बहुत करके यह स्थान बढ़वाणके पास ही कहीं होगा।

उस समय मुनि प्रायः जैनमन्दिरमें ही रहते होंगे। आचार्य जिनसेनने अपना यह ग्रन्थ पार्श्वनाथके मन्दिरमें रहते हुए ही निर्माण किया था।

पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख

जिनसेनने अपने पूर्वके नीचे लिखे ग्रन्थकर्ताओं और विद्वानोंका उल्लेख किया है—

समन्तभद्र—जीवसिद्धि और युक्त्यनुशासनके कर्त्ता।

सिद्धसेन—सूक्तियोंके कर्त्ता। इन सूक्तियोंसे सिद्ध-सेनकी द्वात्रिंशतिकाओंका अभिप्राय जान पड़ता है।

देवनन्दि—ऐन्द्र, चान्द्र, जैनेन्द्र आदि व्याकरणोंके पारगामी।

वज्रसूरि—देवनन्दि या पूज्यपाद शिष्य वज्रनन्दि ही शायद वज्रसूरि हैं जिन्होंने देवसेनसूरिके कथनानुसार द्राविड़ संघकी स्थापना की थी। इनके विचारोंको गणधर देवोंके समान प्रमाणभूत बतलाया है और उनके किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर संकेत किया गया है जिसमें बन्ध और मोक्षका सहेतुक विवेचन है।

महासेन—सुलोचना कथाके कर्त्ता।

३ ग्रहीतचक्राऽप्रतिचक्रदेवता तथोर्जयन्तालयसिंहवाहिनी। शिवाय यस्मिन्निह सन्निधीयते क्व तत्र विघ्नाः प्रभवन्ति शासने ४४

रविषेण—पद्मपुराणके कर्ता।

जटा-सिंहनन्दि—वरांगचरितके कर्त्ता

शान्त—पूरानाम शांतिषेण होगा। इनकी उत्प्रेक्षा अलंकारसे युक्त वक्रोक्तियोंकी प्रशंसा की गई है। इनका कोई काव्य-ग्रन्थ होगा।

विशेषवादी—इनके किसी ऐसे ग्रन्थकी ओर संकेत है जो गद्यपद्यमय है और जिनकी उक्तियोंमें बहुत विशेषता है। वादिराजसूरिने भी अपने पार्श्वनाथचरितमें इनका स्मरण किया है और कहा है कि उनकी रचनाको सुनकर अनायास ही पंडितजन विशेषाभ्युदयको प्राप्त कर लेते हैं[1]।

कुमारसेन गुरु—चन्द्रोदयके कर्त्ता प्रभाचन्द्रके[2] कारण जिनका यश उज्ज्वल हुआ। प्रभाचन्द्रके गुरु।

वीरसेन गुरु—कवियोंके चक्रवर्ती।

जिनसेनस्वामी—उस पार्श्वाभ्युदयके कर्त्ता जिसमें पार्श्वजिनेन्द्रके गुणोंकी स्तुति है।

आगे हम हरिवंशके प्रारम्भके और अन्तके वे अंश देते हैं जिनका इस लेखमें उपयोग किया गया है—

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनं।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ २९ ॥
जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।
बोधयंति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः ॥ ३० ॥
इंद्रचंद्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः।
देवस्य देववन्द्यस्य न वन्द्यते गिरः कथं ॥ ३१ ॥
वज्रसूरेर्विचारिण्यः सहेत्वोर्बन्धमोक्षयोः।
प्रमाणं धर्मशास्त्राणां प्रवक्तॄणामिवोक्तयः ॥ ३२ ॥
महासेनस्य मधुरा शीलालंकारधारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना ॥ ३३ ॥
कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिः काव्यमयी लोके रवेरिव रवेः प्रिया ॥ ३४ ॥
वरांगनेव सर्वांगैर्वरांगचरितार्थवाक्।
कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरं ॥ ३५ ॥
शान्तस्यापि च वक्रोक्ती रम्योत्प्रेक्षाबलान्मनः।
कस्य नोद्घाटितेऽन्वर्थे रमणीयेऽनुरंजयेत् ॥ ३६ ॥
योऽशेषोक्तिविशेषेषु विशेषः पद्यगद्ययोः।
विशेषवादिता तस्य विशेषत्रयवादिनः ॥ ३७ ॥
आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोज्ज्वलम्।
गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥ ३८ ॥
जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते ॥ ३९ ॥
यामिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिः संकीर्तयत्यसौ ॥ ४० ॥ —प्रथम सर्ग

* * * *

त्रयः क्रमात्केवलिनो जिनात्परे द्विषष्टिवर्षान्तरभाविनोऽभवन्।
ततः परे पंच समस्तपूर्विणस्तपोधना वर्षशतान्तरे गताः ॥२२॥
त्र्यशीतिके वर्षशतेऽनुरूपयुग्दशैव गीता दशपूर्विणः शते।
द्वये च विंशेऽङ्गभृतोऽपि पंच शते च साष्टादशके चतुर्मुनिः ॥२३
गुरुः सुभद्रो जयभद्रनामा परो यशोबाहुरनन्तरस्ततः।
महार्हलोहार्यगुरुश्च ये दधुः प्रसिद्धमाचारमहाङ्गमत्र ते ॥२४॥
महातपोभृद्विनयंधरः श्रुतामृषिश्रुतिं गुप्तिपदादिकां दधन्।
मुनीश्वरोऽन्यः शिवगुप्तिसंज्ञको गुणैः स्वमर्हद्बलिरप्यधात्पदम्॥२५
समंदरार्योऽपि च मित्रवीरविं (?) गुरू तथान्यौ बलदेवमित्रकौ।
विवर्धमानाय त्रिरत्नसंयुतः श्रियान्वितः सिंहबलश्च वीरवित् २६
स पद्मसेनो गुणपद्मखंडभृद्गुणाग्रणीर्व्याघ्रपदादिहस्तकः।
स नागहस्ती जितदंडनामभृत्स नंदिषेणः प्रभुदीपसेनकः ॥२७॥
तपोधनः श्रीधरसेननामकः सुधर्मसेनोऽपि च सिंहसेनकः।
सुनन्दिषेणेश्वरसेनकौ प्रभू सुनन्दिषेणाभयसेननामकौ ॥२८॥
ससिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिनशान्तिषेणकौ।
अखंडषट्खंडमखंडितस्थितिः समस्तसिद्धान्तमधत्त योऽर्थतः २९
दधार कर्मप्रकृतिं च श्रुतिं च यो जिताक्षवृत्तिर्जयसेनसद्गुरुः।
प्रसिद्धवैयाकरणप्रभाववानशेषराद्धान्तसमुद्रपारगः ॥ ३० ॥
तदीयशिष्योऽमितसेनसद्गुरुः पवित्रपुन्नाटगणाग्रणीर्गणी।
जिनेन्द्रसच्छासनवत्सलात्मना तपोभृतावर्षशताधिजीविना॥३१॥
सुशास्त्रदानेन वदान्यतामुना वदान्यमुख्येन भुवि प्रकाशिता।
यदग्रजो धर्मसहोदरः शमी समग्रधर्मः इवात्तविग्रहः ॥ ३२ ॥
तपोमयीं कीर्तिमशेषदिक्षु यः क्षिपन्बभौ कीर्तितकीर्तिषेणकः।

---

१ विशेषवादिगीर्गुम्फश्रवणादद्बुदयः।
अक्लेशादधिगच्छन्ति विशेषाभ्युदयं बुधाः ॥ २६

२ आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनने भी इन प्रभाचन्द्रका स्मरण किया है—

चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥

तदग्रशिष्येण शिवाग्रसौख्यभागरिष्टनेमीश्वरभक्तिभूरिणा,
स्वशक्तिभाजा जिनसेनसूरिणा धियाल्पयोक्ता हरिवंशपद्धति:३३

*   *   *   *

शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पंचोत्तरेषूत्तरां,
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणां ।
पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां,
सौराणामधिमंडलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥ ५३ ॥
कल्याणैः परिवर्धमानविपुल:श्रीवर्धमाने पुरे,
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा ।
पश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्यार्चनावर्चने (?)
शान्तेः शान्तिगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५४॥
व्युत्सृष्टापरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये
प्राप्तः श्रीजिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधे पुनः ।
दृष्टोऽयं हरिवंशपुण्यचरितश्रीपर्वतः सर्वतो
व्याप्ताशामुखमण्डलः स्थिरतरः स्थेयात्पृथिव्यां चिरम् ॥५५॥

—सर्ग ६६

'बनारसी-नाममाला' पर विद्वानोंकी सम्मतियाँ

'बनारसी-नाममाला' का जो नया प्रकाशन हुआ है उसपर कितने ही विद्वानोंकी सम्मतियाँ प्राप्त हुई हैं, उनमेंसे कुछ नीचे दी जाती हैं :—

१ डाक्टर ए० एन० उपाध्याय, एम० ए० कोल्हापुर—

'मैं बनारसी नाममालाका सूक्ष्मत: अवलोकन कर गया हूं। यह एक मनोहर कृति है, और प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाके विद्यार्थियोंको कुछ महत्वके शब्द प्रदान करती है। इस महत्वके प्रकाशनके लिये मैं आपका हार्दिक अभिनन्दन करता हूं।'

२ पं० कैलासचन्द्र शास्त्री सम्पादक 'जैनसंदेश' बनारस—

"यद्यपि संस्कृतमें इस प्रकारके कोषोंका काफी प्रचार है और अनेकों कोष रचे भी गये हैं। लेकिन हिन्दीमें इस प्रकारका पद्यबद्ध कोष इसके सिवाय और दूसरा अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आया। यह जैन कविकी हिंदी भाषाको अनुपम देन है। हिन्दी भाषासाहित्यमें कविवरकी यह छोटी-सी कृति अमर रहेगी। सम्पादकजीने इसे प्रकाशित कर हिन्दी भाषा-भाषियोंका बहुत उपकार किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलनकी परीक्षाओंमें इसे स्थान देनेकी हम जोरदार सिफ़ारिश करते हैं।"

३ श्रीभगवत्स्वरूप जैन, 'भगवत्' ऐत्मादपुर—

"मैं इसकी उपयोगितापर मुग्ध हूं, और वीर-सेवा-मंदिर की आवश्यक और कीमती साहित्य-सेवापर प्रसन्न! इससे अधिक लिखना, शब्दोंका अपव्यय होगा। जनताको इसे अपनाना चाहिए—कामकी चीज है।"

४ साहित्याचार्य पं० पन्नालाल जैन सागर—

"बनारसी नाममाला, देखी। उसका प्रकाशन अत्यंत उपयोगी है। शब्द-सूची तथा टिप्पण देनेसे उसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। छोटा साइज़ होनेसे उसे हर एक व्यक्ति हर समय अपनी जेबमें रख सकता है। हिन्दी तथा संस्कृत-दोनों भाषाके विद्यार्थियोंको अत्यन्त लाभदायक है। इस उपयोगी कोषके प्रकाशनके लिए सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं।"

५ प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, अमरावती—

"बहुत उपयोगी रचना सामने लाई गई। सम्पादन-प्रकाशन भी उत्तम हुआ है।"

६ सम्पादक "जैन मित्र" सूरत—

"रचना सुन्दर व संग्रह करने योग्य है। विद्यार्थियोंके बड़े कामकी है।"

७ पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित' सहारनपुर—

अब तक ऐसा सुन्दर हिन्दी-कोष न देखनमें आया।
खोजपूर्ण यह कार्य आपका हिन्दी जगके मन भाया ॥
उपयोगी, गुटका-सी छोटी पुस्तक है सुन्दर यह चीज।
औ' सुबोध 'शब्दानुक्रम' ने इसमें बोया नूतन बीज ॥

श्रीवीर-वाणी-विलास जैनसिद्धान्तभवन मूडविद्रीके कुछ हस्तलिखित ताडपत्रीय ग्रन्थोंकी सूची

मूडबिद्री जिला साउथ कनाडामें हस्तलिखित ग्रन्थोंके कितने ही जैन भंडार हैं, सबसे बड़ा भंडार भट्टारकजीका है, जो 'सिद्धान्तबसदि' नामसे प्रख्यात है और जिसमें धवल जयधवल आदि सिद्धान्तग्रंथ मौजूद हैं। इस भण्डारके अतिरिक्त जो दूसरे भंडार हैं उनमें 'श्रीवीर-वाणी-विलास जैनसिद्धान्तभवन' का नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है। यह सिद्धान्तभवन कर्णाटक देशके प्रसिद्ध विद्वान् पं० लोकनाथजी शास्त्री के सत्प्रयत्नका फल है। हालमें शास्त्रीजीने अपने इस भवनके ताडपत्रों पर लिखे हुए ग्रंथोंकी एक सूची तय्यार कराकर भेजी है, जिसके लिये मैं आपका बहुत ही आभारी हूं। प्राप्त सूचीमें कुल ३०५ ग्रंथ हैं, जिनमेंसे कोई ५० ग्रंथ तो ऐसे हैं, जो पूर्वप्रकाशित देहलीके भंडारोंकी सूचियोंमें आचुके हैं, और इसलिये उन्हें यहाँ छोड़ दिया है; १०-१२ ग्रंथ ऐसे भी हैं जो प्रायः यथेष्ट परिचय साथमें न रहनेके कारण छोड़ दिये गये हैं। शेष २४१ ग्रन्थोंकी यह सूची उक्त सूचीके आधार पर प्रकट की जाती है। प्राप्त सूचीमें ग्रंथोंका रचना-काल तथा ग्रन्थप्रतियों पर लिपि-संवत् न होनेसे वह यहां नहीं दिया जासका। शास्त्रीजीने लिखा है कि इन ग्रंथप्रतियों पर लिपि-संवत् दिया हुआ नहीं है—सिर्फ कविवर पंपके कनड आदि पुराण पर लिपि-संवत् दिया हुआ है और वह शालिवाहनशक १४८५ है। इस सूचीमें ९३ ग्रन्थ कनडी भाषाके हैं, जिनमेंसे १० के साथ मूल संस्कृत तथा प्राकृतके मूल ग्रन्थ भी लगे हुए हैं, कनडी साहित्यके निर्माणमें जैन विद्वानोंने बहुत बड़ा काम किया है। कनडी साहित्य प्रायः जैनकृतियोंसे ही समृद्ध है। —सम्पादक

नम्बर	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या
१	अकलंकप्रतिष्ठापाठ	अकलंकदेव	संस्कृत	५०
२	अक्षरप्रश्नचिन्तामणि		,,	३०
३	अनन्तकुमारीचरिते	कविवर शांतप्पवर्णी	कनडसांगत्य पद्य	१७
४	अभिमन्युयक्षगायन		कनड पद्य	२०
५	अमरकोष (विदग्धचूडामणि टी.स.)	मू० अमरसिंह टी० ×	संस्कृत	७५
६	अर्द्धनेमिनाथपुराण	पं० नेमिचन्द्र कवि	कनड पद्य	१०३
७	अर्हत्स्तोत्र		संस्कृत	२
८	अलंकारसंग्रह	अमृतनंदि योगी	,,	३१
९	अष्टांगकथा		कनड गद्य	५३
१०	अहिंसाचरित्रे	पायण्ण कवि	कनड सांगत्य पद्य	४४
११	अंजनादेवी चरिते	वर्धमान मुनि	कनड पद्य	११४
१२	आत्मानुशासन-कनडटीका	मू० गुणभद्राचार्य टी० ×	संस्कृत, कनड	७०
१३	आत्मोदयसार		संस्कृत	४५
१४	आदिपुराण	कविवर पंप	कनड पद्य	१२९
१५	आदिनाथयक्षगायन	सदानन्द कवि	,,	७१
१६	आराधनासार-कनड टीका	मू० देवसेन टी० केशवण्ण	प्राकृत, कनड	३८
१७	आराधनासार	रविचन्द्र मुनि	संस्कृत	९४
१८	उत्तरपुराण टिप्पण	..	,,	४१
१९	उत्पातदोष शांतिकर्म	....	,,	१६

नम्बर	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या
२०	उपासकसंस्कार	पद्मनन्दिदेव	संस्कृत	१०
२१	उपासकाचार	इन्द्रनन्दिदेव	"	७
२२	एकत्वसप्तति	पूज्यपाद (?)	"	२०
२३	एकसंधिसंहिता-टिप्पण	....	कन्नड	४०
२४	कर्णाशास्त्र	ब्रह्मदेव कवि	संस्कृत	६०
२५	कर्मदहनाराधन विधान	कल्याणकीर्ति	"	१५
२६	कर्मप्रकृति-टीका	मू०नेमिचंद्र सि०च०,टि०×	प्राकृत, कन्नड	२४
२७	कर्मप्रकृतिनिरूपण	अभयनंदि सिद्धांत चक्रवर्ती	संस्कृत	१०
२८	कल्याणकारक (वैद्यक)	उग्रादित्याचार्य	"	१५०
२९	कातंत्रव्याकरण	शर्ववर्म	"	३०
३०	कामचंडालिनीकल्प	मल्लिषेणाचार्य	"	५
३१	कार्कलगोमटेश्वरचरिते	कवि चंद्रय्योपाध्याय	कन्नड सांगत्य	१२
३२	कालज्ञानयंत्र	....	संस्कृत	३
३३	काव्यादर्श (अजैन)	दण्डि कवि	"	२१
३४	केवलज्ञान चूडामणि	समंतभद्र	"	१०
३५	क्रियाकाण्ड चूलिका	पद्मनंदि शिष्य	"	७
३६	क्रियाकलाप	पं० आशाधर	"	३५
३७	क्रियापुस्तक-सटीक	टी० बालचंद्र	मू० सं०, टी० कन्नड	२००
३८	क्षत्रचूडामणि काव्य	वादीभसिंह सूरि	संस्कृत	७५
३९	क्षेत्रपालाराधना	....	"	१५
४०	खगेन्द्रमणिदर्पण	कवि मंगरस	कन्नड	५९
४१	गणधरवलयाराधना	....	संस्कृत	५
४२	गणधरस्तोत्र	....	"	३
४३	गणितविलास	कवि चंद्रम	"	३२
४४	गार्ग्यसंहिता (अजैन)	....	"	८८
४५	गोमटेश्वराष्टक		कन्नड	१
४६	गोमटसार-अर्थसंदृष्टि	नेमिचंद्राचार्य	प्राकृत ?	७०
४७	गोमारियंत्राराधना (यंत्रस०)	....	संस्कृत	१०
४८	चतुर्बन्धनिरूपण	....	कन्नड	२२
४९	चतुर्विंशतितीर्थंकरपुराण	चामुण्डराय	"	५७
५०	चंद्रनाथाष्टक	गुणवर्म	"	५
५१	चंद्रप्रभचरित्रे	कवि दोड्डय्य	कन्नड सांगत्य	१९८
५२	चंद्रप्रभपुराण	अग्गलदेव	कन्नड	२८०
५३	चंद्रप्रभस्वामि-बोध	....	"	८
५४	चंद्रोन्मीलन (प्रश्नशास्त्र)	योगीन्द्रदेव	संस्कृत	२७

नम्बर	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या
५५	चामुण्डरायपुराण	चामुण्डराय	कन्नड	२३०
५६	चारणाष्टक	रविवर्म	,,	५
५७	चिन्मयचिन्तामणि	कल्याणकीर्ति	,,	१०
५८	छत्तीस रत्नमाला स्तोत्र	..	,,	५
५९	जयनृपकाव्य	कवि मंगरस	,,	१२३
६०	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	पद्मनंदि	प्राकृत	३८
६१	जातकसार	...	संस्कृत	१२०
६२	जिनगुणसम्पत्ति विधान	...	,,	१०
६३	जिनदत्तरायचरित्रे	कवि पद्मनाभ	कन्नड पद्य	४६
६४	जिनमुनितनय	...	कन्नड	१०
६५	जिनाष्टकादिस्तोत्र यंत्रमंत्रतंत्र	..	संस्कृत	३५
६६	जिनेन्द्रमाला टिप्पणी	....	,,	१८
६७	जीवंधरचरित्रे	कवि भास्कर	कन्नड	८२
६८	जीवंधरषट्पदी	कवि बोम्मरस	,,	७१
६९	जीवनन्बोधना	बन्धुवर्म	संस्कृत	२२४
७०	जैमिनिभारत	कवि लक्ष्मीश	कन्नड	६०
७१	ज्ञानचंद्रपुराण	पायण्णवर्णी	कन्नड सांगत्य	१५१
७२	ज्ञानचंद्राभ्युदय काव्य	कविवर कल्याणकीर्ति	कन्नड	५९
७३	ज्ञानप्रदीपिका	.	संस्कृत	३०
७४	ज्योतिष्यसंग्रह		,,	२०
७५	ज्वालिनीकल्प	इन्द्रनन्दिदेव	,,	२४
७६	,,	मल्लिषेणाचार्य	,,	१६
७७	,,	हेलाचार्य	,,	१६
७८	तर्कचिन्तामणि		,,	७०
७९	तार्किकरक्षा (अजैन)	कवि वरदराज	,,	२५
८०	तीर्थंकरदंडक	...	कन्नड	१०
८१	तीर्थंकरलघुपुराण	..	,,	२०
८२	तीर्थयात्रासंघ	चन्द्रप्योपाध्याय	,,	१०
८३	त्रिलोकचैत्यालय-प्रतिमावर्णन	.	,,	५
८४	त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण	चामुण्डराय (?)	संस्कृत	२०३
८५	त्रैलोक्यभूषणचरित्रे	चन्द्रप्योपाध्याय	कन्नड	५
८६	त्रैवर्णिकाचार	ब्रह्मसूरि	संस्कृत	७२
८७	दशभक्ति	मुनि वर्धमान	संस्कृत, प्राकृत	६७
८८	देवराजाष्टक	विमलकीर्ति	कन्नड	२
८९	देशव्रतोद्यापन	पद्मनन्दि	संस्कृत	२

नम्बर	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या
९०	दैवज्ञवल्लभ	कवि श्रीपाल	संस्कृत	७५
९१	द्वादशांगपूजा	....	"	३८
९२	द्वादशानुप्रेक्षा (उदयराग)	....	कन्नड	२
९३	द्वादशानुप्रेक्षा (सटीक)	मू० कुंदकुंदाचार्य टी० केश०	प्रा० टी० कन्नड	१२
९४	द्वादशानुप्रेक्षा	कवि विजयण्ण	कन्नड	५०
९५	"	सोमदेव सूरि	संस्कृत	४
९६	"	गौतमस्वामी (?)	कन्नड	२५
९७	धन्यकुमारचरित्रे	कवि आदिनाथ	कन्नड प	४६
९८	धन्यकुमारचरित्रे	कवि करियदेवय्य	कन्नड	२५
९९	धर्मनाथपुराण	कवि बाहुबलि	कन्नड पद्य	२३३
१००	धर्मपद्धति	..	संस्कृत	३०
१०१	धर्मामृत (सटीक	मू० नयसेनदेव टी० ×	"	१७५
१०२	धन्वंतरीनिघंटु (अजैन)	धन्वंतरी	"	४५
१०३	धार्मिकपदसंग्रह	....	कन्नड	२०
१०४	नक्षत्रचूडामणि	....	संस्कृत	३५
१०५	नक्षत्रतिलक	....	"	३७
१०६	नवरत्नपरीक्षा	....	"	१०
१०७	नागकुमारचरित्रे	कवि बाहुबलि	कन्नड पद्य	२००
१०८	"	विमलकीर्ति	"	५०
१०९	नागकुमारषट्पदी	कवि विजयण्ण	"	३५
११०	नांदीमंगलविधान	....	संस्कृत	५०
१११	नित्यानंदाष्टक	....	कन्नड	५
११२	निर्वाणलक्ष्मीपतिस्तोत्र	विमलकीर्ति	"	४
११३	नीतिसार (संग्रहग्रन्थ)	....	संस्कृत	२००
११४	नीतिश्लोकसंग्रह	....	"	२०
११५	नेमिजिनाष्टक	विमलकीर्ति	कन्नड पद्य	५
११६	नेमिजिनेशसंगति	कवि मंगरस	"	२३३
११७	नेमिनाथपुराण	कवि कर्णपार्य	"	१७५
११८	नेमिनाथाष्टविधार्चना	विमलकीर्ति	संस्कृत	५०
११९	नोंपीकथा ४०	...	कन्नड	१५०
१२०	पत्रपरीक्षा	विद्यानंदिदेव	संस्कृत	७
१२१	पदार्थसार	माघनंदि	प्राकृत	११०
१२२	पद्मावतीकल्प (टीका सहित)	मल्लिषेण	संस्कृत	५०
१२३	पद्मावतीचरित्रे ([illegible])	कवि बाहुबलि	कन्नड	४५
१२४	परमागमसार	....	संस्कृत	२०

नम्बर	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या
१२५	परमात्मस्वरूप	अमितगति	संस्कृत	५
१२६	पल्यविधान	....	,,	२०
१२७	पंचपरमेष्ठिआराधना	....	,,	१३
१२८	पंचपरमेष्ठिव्याख्यान	....	कनड	२५
१२९	पंचपरमेष्ठिस्वरूप	....	,,	३
१३०	पंचभाव वा सप्तनयनिक्षेप	....	संस्कृत	५
१३१	पंचमन्दरपूजा	....	,,	१२
१३२	पंचसंसारविस्तर	....	,,	७
१३३	पंचांगफल	....	,,	२०
१३४	पंचास्तिकायनिरूपण	....	,,	१५
१३५	पारिजातयक्षगायन	....	कनड	४०
१३६	पार्श्वनाथाष्टक	....	,,	५
१३७	पुण्यास्रवकथा	....	,,	१२५
१३८	पुष्पदन्तपुराण	गुणवर्म	,,	९५
१३९	पूजकपूजालक्षण	इन्द्रनन्दि	संस्कृत	२९
१४०	पूजादिसंग्रह (चतुर्विंशतिआराधना)	....	,,	३०
१४१	प्रतिक्रमणविधि	ब्रह्मसूरि	,,	५२
१४२	प्रतिष्ठातिलक	नेमिचन्द्र	,,	१०८
१४३	प्रतिष्ठाविधि	हस्तिमल्ल	,,	३५
१४४	प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणि	कुमुदचन्द्रदेव	,,	५०
१४५	प्रवचनपरीक्षा	....	,,	३०
१४६	प्रायश्चित्तवाक्य	....	कनड	१५
१४७	प्रायश्चित्तविधि	....	प्राकृत	१४
१४८	बाहुबलिस्वामिचरित्रे षटपदी	पं० चिक्कण्ण कवि	कनड	१३०
१४९	बुद्धिसागरचरित्रे	चिदानन्ददेव	कनड पद्य	१००
१५०	बीजाक्षरकोश	....	संस्कृत	३०
१५१	बृहत्शांतिविधान	....	,,	४०
१५२	बृहज्जवदेवतापूजा	....	,,	३५
१५३	भरतेशवैभव	रत्नाकर वर्णि	कनड	५
१५४	भव्यामृत	....	संस्कृत	४०
१५५	भावनाष्टक	....	,,	१६०
१५६	भोजराजवैद्यसंग्रह	शारदपण्डित	,,	५
१५७	भैरवाराधना	....	,,	१२
१५८	महाभिषेक	....	,,	३०
१५९	मंडपप्रतिष्ठाविधान	....	,,	१०

नम्बर	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या
१६०	मंत्रवादमुद्रालक्षणादिसंग्रह	....	संस्कृत	१०
१६१	माधवीयमुहूर्तदर्पण	पण्डित विद्यामाधव	कन्नड	१५०
१६२	मुद्रालक्षण	....	संस्कृत	३
१६३	मुनिसुव्रतकथा	अर्हदास कवि	”	६०
१६४	मुरजबंधादिलक्षण	....	”	५
१६५	मृत्यूत्सव	....	”	३
१६६	मोक्षप्राभृत	योगीन्द्रदेव	”	१०
१६७	यशोधरचरित्र	चन्द्रप्प वर्णी	कन्नड	६७
१६८	योगामृतसार	योगीन्द्रदेव	संस्कृत	३०
१६९	रत्नकरण्डश्रावकाचार (कन्नड टी.)	....	कन्नड संस्कृत	६५
१७०	रत्नत्रयविधान	....	संस्कृत	१०
१७१	रत्नत्रयस्तोत्र	....	”	३
१७२	रत्नमाला	शिवकोटि	”	५
१७३	रत्नशास्त्र	....	कन्नड	१०
१७४	रत्नशेखरचरित्र	महाभिराम (?)	”	११२
१७५	रामायण	पंपकवि	”	१२०
१७६	रामायणपारायण	....	”	७५
१७७	रोहिणी कथा	जिनचंद्र	”	५७
१७८	लक्षणश्लोकसंग्रह	....	संस्कृत	१५
१७९	लक्षणभंगप्रशस्ति	....	कन्नड	४
१८०	लघुपुराण (भवावलि)	....	संस्कृत	६
१८१	लोकस्वरूप	चन्द्रम कवि	कन्नड पद्य	२०
१८२	लोभदत्तचरित्र	कवि नेमरस	”	४२
१८३	वज्रपंजराराधना	....	संस्कृत	२०
१८४	वड्डाराधनाकथा	....	”	१८
१८५	वसन्ततिलकचरित्र	....	कन्नड पद्य	६
१८६	वागीश्वरीस्तोत्र	समन्तभद्र (?)	संस्कृत	३
१८७	वास्तुपूजाविधान	....	”	७
१८८	विजयकुमारचरित्रे	....	”	०
१८९	विद्यानुवादांग	....	”	१६
१९०	विद्यानुवादांगजिनसंहिता	अय्यप्पार्य	”	१०७
१९१	विंशतिप्ररूपणा टीका	मू० नेमचन्द्राचार्य टी. ×	प्राकृत, कन्नड	४०
१९२	विषतन्त्र	कवि मंगरस	कन्नड	३०
१९३	विषवैद्यमन्त्रमन्त्रादि	....	संस्कृत	१०
१९४	वेणूरगोमटेश्वरमस्तकाभिषेक	कवि गुरुराम	कन्नड	१४

नम्बर	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या
१९५	वैद्यककारादिनिघंटु	समन्तभद्र	संस्कृत	१३५
१९६	वैद्यचिकित्सा	पूज्यपाद	"	३०
१९७	वैद्यमंत्रवादसंग्रह	....	कन्नड	१२०
१९८	वैद्यसंग्रह	....	संस्कृत	६३०
१९९	शब्दधातुसमासादिसंग्रह	....	"	५०
२००	शंकुस्थापनाविधान	....	"	५
२०१	शाकटायनप्रक्रिया	....	"	१३०
२०२	शांतिचक्रयन्त्राराधना	....	"	१२
२०३	शांतिजिनस्तोत्र	....	कन्नड	२
२०४	शांतिनाथाष्टकविभावना	....	संस्कृत	३
२०५	शांत्यष्टक	....	"	१०
२०६	शास्त्रसारसमुच्चय	....	"	३०
२०७	शोभनपद्यसंग्रह	....	कन्नड	५०
२०८	श्रावकाचार	माघनन्दि	संस्कृत	१२५
२०९	श्रुतदेवतास्तुति	पद्मनन्दि	"	२
२१०	श्रुतभक्ति	....	"	५
२११	श्रीपालचरित्र	इन्द्रदेवरस	कन्नड	२७
२१२	श्रुतस्कन्धाराधना	....	संस्कृत	३०
२१३	षडारचक्र	पं० आशाधर	"	१०
२१४	सकलीकरणविधान	....	"	१५
२१५	सज्जनचित्तवल्लभ (कन्नड टी.)	मू. मल्लिषेण टी. X	संस्कृत, कन्नड	४८
२१६	समन्तभद्रभारतीस्तोत्र	कवि नागराज	संस्कृत	३
२१७	समवसरणाष्टक (सटीक)	मुनि विष्णुसेन	"	१०
२१८	समाधिशतक (कन्नड टी.)	मू. पूज्यपाद टी. X	संस्कृत कन्नड	१००
२१९	सम्यक्त्वकौमुदीकथा	मंगरस	कन्नड	५०
२२०	सरस्वतीकल्प	विजयकीर्ति	संस्कृत	५
२२१	सरस्वतीकल्प	मल्लिषेण	"	५
२२२	सरस्वतीस्तोत्र	....	"	३
२२३	सर्वदर्शनवाच्यार्थ	....	"	१५
२२४	सर्वदोषपरिहारविधान	....	"	१०
२२५	सहस्रनामाराधन	....	"	५५
२२६	संगीतलक्षणज्योतिर्ज्ञानविधि	श्रीधराचार्य	"	३०
२२७	संगीतवीतराग	भट्टारकचारुकीर्ति, श्रवणबेलगुल	"	X
२२८	सन्ध्यावन्दनविधि	नेमिचन्द्र	"	५
२२९	समयभूषण (अनगारनीति स०)	....	"	१०

नम्बर	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	भाषा	पत्रसंख्या
२३०	सामुद्रिकलक्षण	....	संस्कृत	२०
२३१	सिद्धचक्रपूजाविधान	....	"	१०
२३२	सिद्धपरमेष्ठिस्वरूप	....	संस्कृत	११
२३३	सिद्धभक्ति	वर्द्धमान मुनि	संस्कृत, प्राकृत	७
२३४	सिद्धस्तोत्र	....	संस्कृत	३
२३५	सिद्धार्चनाविधि	पं० आशाधर	संस्कृत	१०
२३६	सिंहप्रयोपगमन	केशववर्या	संस्कृत	११
२३७	सुग्रीवमतशकुन	....	कन्नड	३०
२३८	सूक्तिमुक्तावलि (कन्नड टी.)	मू. सोमप्रभदेव, टी. X	संस्कृत, टी० कन्नड	
२३९	स्याद्वादमतसिद्धान्त	चन्द्रय्योपाध्याय	कन्नड	१५
२४०	स्वरूपसम्बोधन	....	संस्कृत	१५
२४१	होसदचरित्र	....	कन्नड	५

वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर) ता० २७—१२—४१

पराधीनका जीवन कैसा ?

श्री काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

परके हित बरबस हो मरता ,
फिर भी नहीं पेट हा ! भरता ;
झींक-झींक रो-धोकर निष्फल—
जीवनके दिन पूरे करता !
इच्छाओंका दमन ! करे क्या ?
पास नहीं होता जब पैसा !!
पराधीनका जीवन कैसा ?

मानव है, पर मान नहीं है !
कर्मयोग — निष्काम नहीं है ।
चैन मिले, उसको इस जगमे,
ऐसा कहीं विधान नहीं है !!
कर्मतंत्र हो विधि-ललाट पर—
लेख लिखाकर आया ऐसा !!
पराधीनका जीवन कैसा ?

श्रमजीवी, सुखका अधिकारी !
वञ्चित है, कितनी लाचारी !!
मरना भला, कहीं जीनेसे—
कँगला-सा जीवन—संसारी !
बाधाएँ, पीड़ाएँ जिसको—,
देती रहतीं दुःख - सँदेशा !!
पराधीनका जीवन कैसा ?

एक-पत्नी-व्रत

[लेखक—श्री 'भगवत' जैन]

मानसिक कमज़ोरियोंसे वह भी अलग नहीं था। पर, उसके पास आत्मिक-साहसकी भी कमी नहीं थी। वासना और प्रेम दोनोंने एक-शक्ति होकर उसे मजबूर किया, लेकिन वह डिगा नहीं, अपने प्रणसे! स्नेहियोंका दृढ़-प्रेम उसे पतनकी ओर धकेल रहा था। और वह जाना चाहता था अमरत्वकी ओर! उसके भीतर जो अध्यात्म-शक्ति थी। वह जो नौजवान था—समर्थ!

(१)

शादीकी पिताको जितनी ही खुशी, पुत्रको उतना ही रंज! अब सवाल उठता है—'ऐसा क्यों?'—इसके लिये आपको थोड़ा-सा बतलाना पड़ेगा!···

कहानी पौराणिक है। कितने हज़ार वर्ष पहले की होगी, इसका कुछ ठीक नहीं! पर, इतनी बात ज़रूर है—उसकी ताज़गी अभी बरक़रार है, बासी-पन सिर्फ नाम भरके लिए कहा जा सकता है।—

हाँ, तो कुबेरकान्त एक समृद्धशाली—धनकुबेर का पुत्र है! वह दुलारकी गोदमें पला है, वैभवके प्रकाशमें उसने विकास प्राप्त किया है। और स्वाभाविक प्रेमसे कई गुणा अधिक उसे पिताका प्यार और माताकी ममता मिली है! वजह यह है, कि वह पिताकी एकमात्र सन्तान है। विपुल-सम्पत्ति अकेली-जानके लिए जो है—सब!

कुबेरकान्त आज नौजवान है। सूरत-शकलके बारेमें, यह कहना कि उसका ललाट अर्धचन्द्राकार है, आँखें आकर्षक, जादू-भरी-सी हैं, केश-राशि भ्रमर-सी काली है, दाँत दूधसे श्वेत और ओठ उषा की अरुणिमासे पूर्ण हैं! सब, कवित्त्व पूर्ण साबित होगा। सच तो यह होगा कि उसे आप 'सुन्दर' समझनेके लिए मनमें किसी देवताकी कल्पना करलें!

कुबेरकान्तकी तरुणाईने, पिता—कुबेरमित्र—को वह स्वर्णावसर ला दिया, जिसकी उन्हें उसके जन्म-दिनसे उत्कंठा थी!···वर्षोंकी सद् इच्छाएँ, जो अब तक मनके भीतर क़ैद थीं, आज़ाद होंगी! वह प्रिय-दृश्य अब आँखोंके सामने आएगा, जिसके लिए एक मुद्दतसे उनकी आँखें तड़प रही हैं, और मन कल्पना के मीठे चित्र बनाने-बिगाड़नेमें संलग्न रहा है!

वह स्वर्णावसर है—कुबेरकान्तकी शादी!—पाणिग्रहण-महोत्सव-विधान!!!

विवाह-मंडप तैयार है! शहर-भरमें आनन्द छाया हुआ है! वह सभी चीज़ है—जो उत्साह और पैसेकी ताक़तपर की जा सकती है! काफ़ी चर्चा, हल-चल और धूम-धाम!···अप्सराओं-सी सुन्दर, एक हज़ार आठ कुमारियाँ विवाहार्थ अपने-अपने परिवारसहित आई हुई हैं। जिनमें कई बड़े बड़े ताल्लुकेदार और राजाओंकी कन्याएँ भी हैं।

एक हज़ार आठ कुमारियोंकी शादी शायद आप को कुछ खटके! पर यह सोचकर आप अपना विस्मय दूर कर सकते हैं कि यह बात तब की है, जब आठ-आठ हज़ार स्त्रियाँ रखना भी—व्यक्ति-विशेषोंके लिए—रिवाजकी बात मानी जाती थी! हाँ, मैं मानता हूं—आजका दृष्टिकोण ऐसा समझनेसे आपको रोक सकता है! जबकि औसतन दो भाइयों में एक ब्याहा, एक कुँआरा अधिकतर देखनेमें आता है! पर, मानिए—तब ऐसा नहीं था।

लम्बा-चौड़ा आयोजन, दुर्लभ-प्राप्य समयका शुभागमन और शानदार वैवाहिक-कार्यक्रम देखकर कुबेरमित्र फूले नहीं समा रहे हैं! उनके हृदयमें जो आनन्द मन्दाकिनी हिलोरें ले रही है, वह शब्दों-द्वारा शायद नहीं बताई जा सकती! पुत्रकी शादी

जो पिताके लिए गौरव होती है, खुशी होती है!

लेकिन उधर—कुबेरकान्तको अपनी शादीकी कितनी खुशी है, यह बतलाना भी नितान्त कठिन है! उसे यह विशाल आयोजन एक असह्य बोझ-सा जान पड़ रहा है! जैसे वह आयोजन पृथ्वीपर न होकर, उसकी छातीपर चढ़ा हो। दम उनका घुट सा रहा है मुँहपरकी उदासी आन्तरिक व्यथाको प्रगट करनेमें कटिबद्ध तो है, पर छाये हुए संकटको टालने में समर्थ नहीं।

वह बहुत चाहता है कि अपनी मजबूरीको पिताजीके सामने रखकर वेदनाको हल्का करे। पर, हिम्मत जो नहीं पड़ रही। पिताका उत्साह, आयोजनकी विशालता जो उसकी वाणीको मूक बनाये दे रही है।

वह किस तरह समझाए कि उसने 'एक पत्नी-व्रत' ले रखा है! इतनी कन्याओंको पत्नी-रूपमें ग्रहण करना उसकी प्रतिज्ञाकी हत्या है। जिसे वह खुली आँखों, कभी देखनेको तैयार नहीं।

लेकिन सवाल तो यह है कि वे वज्र-से शब्द उसे मिलें कहाँ? जिनके द्वारा पिताका उत्साह आहत होकर कराह उठेगा, आनन्द प्रासाद बालूकी दीवार की तरह ढह जाएगा और आशाका आँगन निराशा की अँधेरीमें डूबने लगेगा। यह निर्विवाद अनुमान उन कठोर शब्दोंकी खोजके लिए उसे कैसे प्रेरित करे?

काश! कोई दूसरा व्यक्ति इस समस्याको वात्सल्यमयपितृ-हृदयके सामने रखकर सुलझावकी ओर संकेत कर सकता?

लेकिन करे कौन?—जानता कौन है इस रहस्य को? प्रतिज्ञाके वक्त महर्षि-सुदर्शन थे, जिनकी कल्याण-मय-वाणीसे प्रभावित होकर, यह परमव्रत जीवनमें उतारा था! तीसरा था ही कौन? और जो था भी, वह आज भी है, कहीं गया नहीं! पर, है व्यर्थ! क्योंकि वह समझा नहीं सकता, बतला नहीं सकता, विधाताने उसे अक्ल तो दी है, पर मानव-वाली नहीं। यों कि वह मनुष्य नहीं, पंछी है!—कबूतर!

अब कुबेरकान्त शादीकी खुशी मनाए तो कैसे? किस बिरतेपर? खुशी होती है—मनसे। और मन उसका उलझ रहा है काँटोंमें। जिनके खिंचनेमें पीड़ा और लगे रहनेमें दुःख!

× × × ×

(२)

कल शाममे कुबेरमित्रकी दशामें तब्दीली होगई है! जबसे उन्होंने 'वर' का मुँह उदास देखा है! उन्हें लगा—जैसे अचानक उनके सिरपर वज्र गिरा है! चोटने न सिर्फ वेदना सौंपकर आहें भरनेके लिए मजबूर किया है, वरन् बढ़ते हुए वैवाहिक-उत्साहमें बाँध भी लगा दिया है! जो उन्हें किसी भाँति गवारा नहीं! उत्साह उनका सामयिक और क्षणिक नहीं, वर्षोंकी साधनाका फल है! ब-मुश्किल भविष्य, वर्तमान बना है!

कारण कोई ऐसा उन्हें दिखाई नहीं दे रहा, जिसने कुबेरकान्तके कोमल मनको दुखाया हो, उदासी दी हो! फिर वह उदास क्यों? जबकि उसे ज्यादह-से-ज्यादह खुशी होनी चाहिए! वह जो नौजवान है! मुग्धताके बजाय मुँहपर सूनापन, यह क्यों?

बहुत सोचा-विचारा, कुबेरमित्रने! पर, पुत्रकी गाढ़-उदासीकी तह तक न पहुंच सके! कुछ हद तक अनुमान साथ देते, क़यास सही मालूम पड़ता, लेकिन आगे बढ़ते ही, निस्सारता खिलखिलाकर हँसती दिखाई देती! और यों, रहस्योद्घाटन शक्तिसे बाहरकी चीज़ बन रहा था!

भीतरी घुनने उनकी स्वस्थताको दबोच दिया! उस दिन वे पलंगसे उठे तक नहीं! जान-सी जो निकल गई थी—रोम-रोमसे! उनकी इस आकस्मिक रुग्णतासे गहरा प्रभाव पड़ा लोगोंपर। आयोजनके कार्यक्रममें शिथिलता आने लगी!...

सामने कबूतरका जोड़ा किलकारियाँ भर रहा है!—मस्त! मुक्तकण्ठसे चिल्ला-चिल्लाकर जैसे कुछ सन्देश दे रहा हो! मगर इसे कोई समझे तो कैसे, कि वह कुछ समझानेके प्रयत्नमें हैं! मानवको

पशुपक्षियोंसे क्या मिला है कभी कुछ ?—मानव जो एक समर्थ प्राणी है ! और पशु-पंछी—? हीन, दीन, छोटे।

पलंगपर लेटे ही लेटे कुबेरमित्रकी नज़र जा पड़ी उधर—शून्य-सी, निरर्थक-सी ! देखते रहे कुछ मिनिट ! मन बहला तो ज़रूर कुछ, पर अधिक आनन्द न मिल सका ! मनमें जो चिताकी संगिनी—चिन्ता घुसी हुई थी !

उन्हें मिली ईर्षा ! आप ही आप बोल उठे—'एक यह भी ज़िन्दगी है, न ग़म है, न फ़िक्र। चैन की बंशी बजा रहे हैं—दोनों।

मालिकका ध्यान जो अपनी ओर देखा, तो कबूतर भी कुछ-न-कुछ ताड़ गया ज़रूर !...नज़दीक आकर, लिखने लगा ज़मीनपर चोंचसे कुछ !...

कुबेरमित्रकी चिन्ता, बदलने लगी कौतुहल में। वे देखने लगे—एकटक, बगैर पलक गिराए, आश्चर्यान्वित हो उसी ओर।

वे थे—समर्थ मानव।

और वह था—बेजुबान जानवर।

समझदार परिन्देने लिखा—'कुबेरकान्तने 'एक-पत्नी-व्रत' ले रखा है। वह एक ही स्त्री वरण करेंगे। यह विशाल आयोजन न कीजिये, इससे उन्हें दुःख पहुँचता है, वे उदास हैं !'

कुबेरमित्रकी आँखोंसे जैसे पट्टी खुल गई। वे भागे, स्वस्थकी तरह पुत्रके पास। साथमें और भी माननीय सज्जन थे। कई वे नरेश भी थे जो कन्याओंको लेकर पधारे थे, और जिन्हें वरकी प्रतिज्ञा का मामूली-सा पता चल चुका था !

उदास-सा कुबेरकान्त, चिन्ताओंके बीच, अकेला बैठा था। पूज्यवर्गको आते जो देखा, तो उठा, पैर छुए, प्रणाम किया; और उच्चासनपर ला बिठाया।

'क्या यह सही है, कि तुम एक ही कन्या वरण की इच्छा रखते हो ?'—कुबेरमित्रने धड़कते-हृदयसे उतावलेपनके साथ पूछा।

'हाँ इच्छा ही नहीं, प्रतिज्ञा रखता हूं। इच्छामें सुधार, तब्दीली सब-कुछ हो सकता है। पर, प्रतिज्ञा के लिए वे सब घातक हैं। प्रतिज्ञा अटल वस्तु है—भाग्य रेखाकी तरह।' कुबेरकान्तने धीमे, मज़बूत और सरस स्वरमें निवेदन किया।

क्षणभर सब मौन रहे।

कुबेरमित्रने फिर निस्तब्धता भंग की। इसबार उनके स्वरमें कम्पन था, दीनताका आभास भी था—थोड़ा ! बोले—'क्या यह भी तुम जानते हो, कुबेर-कान्त ! कि तुम्हारी इस प्रतिज्ञासे मेरी कितनी बदनामी, कितनी हँसी होगी ? किन किन मुसीबतों का मुझे मुकाबिला करना पड़ेगा ? जो सम्भ्रान्त-सज्जन अपार धन-राशि और तिलोत्तमा सी कन्याएँ लेकर पधारे हैं, क्या वे प्रसन्नचित्त वापस लौट सकेंगे ? क्या इसमें वे अपना अपमान होता महसूस न करेंगे ? थोड़ा विचार तो करो, कुबेरकान्त ! कि यह नासमझीका व्रत कहाँतक हितकर है ?'

मानता हूँ पिताजी, कि आपकी बातें ग़लत नहीं हैं। लेकिन मैं जिसे धार्मिक तरीक़ेपर जानता हूँ, आप उसे दुनियावी दृष्टिकोणसे देखते हैं, यही फ़र्क़ है और जबतक इस फ़र्ककी खाईपर विवेकका बाँध नहीं डाला जायगा, सम्भव नहीं कि हठाग्रहका अन्त हो, समस्या सुलझ सके ! मुझे दुःख है कि आपके द्वारा मुझे वे शब्द सुननेको मिल रहे हैं, जो कदाचित किसी व्रतीके लिए 'ख़तरा' सिद्ध हो सकते हैं !'—कुबेरकान्तने दृढ़ शब्दोंमें अपनी बात सामने रखी।

कुबेरमित्र कुछ कहें, इसके पेश्तर ही, आगन्तुक नरेशोंमेंसे एक बोले—'कुँवर साहब ! हरबात उम्रसे ताल्लुक रखती है। आप जो फ़रमा रहे हैं, वे किसी बुज़ुर्गके मुँहसे निकलनेवाली बातें हैं। आपको वे जेबा नहीं देतीं। आप नौजवान हो। बहुत कुछ जानना-सीखना है, अभी आपको ! प्रतिज्ञा चीज़ बुरी नहीं है, पर उसे उचित तो होना चाहिए, न ? और आपका व्रत अगर अनुचित नहीं है, तो परिस्थितिके ख़िलाफ़ तो ज़रूर है—यह तो मानना ही होगा ! सोचिए—आपके पास धन है, रूप, कीर्ति, बुद्धि और है पिताका उत्साह, माँकी ममता ! फिर, यह विराग क्यों ? मैं समझता हूँ—आपको गुरुजनों

के आदेशका मान करना चाहिए !'

कुबेरकान्तके सामने उलझन है—जटिल, विवादस्थ ! उसे विवश किया जारहा है कि वह प्रतिज्ञाको तोड़ दे ! आनन्दोत्साहके साथ एक हजार आठ कुमारियोंका पाणिग्रहण कर, परिवारकी खुशी में अपनी खुशी मिला दे !

पर, सवाल है—'क्या इसके लिये उसकी अन्तरात्मा तैयार है ?'···क्या सह सकेगा, युवक-तेज प्रतिज्ञाभंगके महापाप को ?

कुबेरकान्त अब तक शान्तिसे काम लेरहा था, पर अब शान्ति बर्तना उसके बशकी बात न रही ! तो भी गंभीरतासे उसने कहा—'महाराज ! जरा विचारिए तो, आप सजा अपराधीको उम्रके लिहाज से देते हैं, या क़ानूनके मुताबिक ? मौत—बूढ़े, जवान, बालकका खयाल रखती है—क्या ? अगर नहीं, तो बतलाइए जवानीमें धर्म-पालनमें क्या मना करते हैं आप लोग ?···पिताजी ! गलत रास्तेपर न ले जाइए मुझे ! प्रतिज्ञाभंगके महापापमें न डबोइए ! मैं ऐसा न कर सकूँगा, मुझे क्षमा कर दीजिए !'

(३)

कुबेरमित्रके मनपर आज दूसरी चिन्ताका बोझ है। या कह लीजिए—चिन्ता वही है, पर, उसका दूसरा पहलू सामने आगया है ! तरीक़ा बदल गया है।

काम सहज नहीं है, एक हजार आठ कन्याओं मेंसे एकका दक्षतापूर्ण निर्वाचन ! जो रूप, गुण और घरमें सर्वोत्तम हो। घरसे दो मतलब हैं—समृद्धिविशेष और निर्दोष कुल। साथ ही इसपर ध्यान रखना कि किसीकी तबियत न दुखे, बुरा न लगे; कोई अपमान न समझे अपना। क्योंकि वैसा होना शांति भंग कर सकता है !—युद्ध या वैसी ही दुःखद घटना घट जाना कठिन नहीं। आगन्तुक समुदाय धनी और स्वाभिमानी जो है।

आखिर एक उपाय काममें लाया गया। सबको पसंद आया वह। क्योंकि किसीकी नाखुशीका प्रश्न ही नहीं उठता था—उसमें। पत्नी-निर्वाचन भाग्य निर्णयपर छोड़ दिया गया था। भाग्यके सामने लोग हार जो मान लेते हैं—तुरन्त। आखिरी और अकाट्य फैसला जो माना जाता है उसका।—

गुणवती, यशोमती, प्रियदत्ता वगैरह सभी कन्याओंको बुलाया गया, बहुमूल्य वस्त्रालंकारके अलावः एक एक स्वर्णपात्रमें, शर्करामिश्रित सुस्वादु खीर देकर कहा गया कि—'सब सुदर्शन सरोवरके तटपर—जहाँ विशाल मण्डप बना हुआ है—जाएँ ! खीरका भोजन करें, वस्त्रालंकार धारण कर फिर पधारें। एक स्वर्णपात्रमें हीरकालंकार पड़ा हुआ है, जिसके हाथमें वह आएगा, वही कुमारकी प्राणेश्वरी होगी।'

× × ×

स्वर्ण-पात्रके भीतर, खीरके नीचे कन्याओंका भाग्य, भविष्यका सुख छिपा हुआ है। प्रत्येक कन्या, कन्याका पिता या दूसरा अभिभावक, जो उसके साथ है, उस रहस्यको जान लेनेके लिए आतुरतासे प्रतीक्षा कर रहा है। वस्त्र-अलंकारोंकी ओर किसकी नजर, खीरकी पर्वाह किसे ?—सब खीरका धरातल टटोल रही है, उँगलियां डाल-डाल कर।

काश ! सबके हाथोंमें हीरकालंकार आ सकते।

दुर्भाग्य !···सब उदास होगई, प्रियदत्ताके सिवा। कोमलांगियोंके कमलमुख मुरझाकर, बासी-फूल-से हो उठे। क्षणभर पहलेकी आशा-उत्कण्ठा इन्द्रधनुषकी तरह विलीन होने लगी। वेगके साथ धड़कनेवाली हृदयगति जैसे बंद होने जा रही हो।

निराशा-निशा इधर स्तब्धताका सृजन कर रही है और उधर···?—उधर आशाका सूर्य उदय होरहा है। उमंग किलकारियाँ भर रही है।···

प्रतियोगितामें बिजलीकी तरह आनन्दपूर्णस्वरमें प्रियदत्ताने अपने पितासे कहा—'मेरे हाथमें रत्न आगया—पिताजी। यह देखो—'

उसने मुट्ठी खोल दी।

कोमल-हथेलीपर एक हीरा चमचमकर मुस्करा रहा था। वह नहीं सकते, उस हथेलीपर स्थान पाने के सबब, या अपनी स्वामिनीके सौभाग्य-लाभ पर ?

पिताने आत्म-संतोषके साथ वाष्पाकुलितकण्ठसे, सोत्सुक होकर कहा—'सच ?'

वह बोली—'हाँ। रत्न अब मेरे ही हाथमें आ गया है, पिताजी !

पिताके अत्यानन्दित कण्ठसे निकला—'भाग्य-शालिनी है—बेटी !

× × ×

४

आदर्श-युवक कुबेरकान्तकी शादी हुई—प्रियदत्ता के साथ !—सानंद, समारोहपूर्ण !

शेष कन्याओंके विवाहकी जब चर्चा उठी तो वे सभी सुदृढ़स्वरमें बोलीं—'यह कैसा उपहास ?—अब दूसरी शादी कैसी ? इस जन्मके लिए तो हृदयने कुबेरकान्तको वरण कर ही लिया था ! उनकी इच्छा वे परणें, या न ? पर, हम तो उनकी हो चुकीं—सब ! पुनर्लग्न अब कैसा....? भारतीयताका ध्वंसक ! सदाचारका शत्रु !! पाप-मूल !!!

सब निरुत्तर !

निर्निमेष !!

× × ×

देखा गया—तपस्विनी अनन्तमतीके निकट सब साधनामय जीवन बिता रही हैं !

अपना-वैभव

श्री 'भगवत' जैन

(१)

है दुराचारिणी-युवतीकी आँखों-सी चंचल यह विभूति !

जो स्वल्प-समयमें ही करती, प्राय: दु:सह-दुखकी प्रसूति !!

लेकिन इस विश्व-मंचपर है, आदर इसको पर्याप्त, यों कि—

जो बने उपासक इसके हैं, भूले हैं वे जन 'स्वानुभूति' !!

(२)

इस अखिल-सृष्टिकी माया भी, तुलनामें जिसके रहे न्यून !

उस महा-मूल्य आत्मिकताका, जड़ता-वश, शठ कर रहा-खून !!

सौरभको लिए घूमता है, प्रान्तरमें विह्वल-सा कुरंग—

अपनी सुगन्धिके अनुभवसे—वंचित ज्यों डालीपर प्रसून !!

(३)

मिल जाय इसे यदि अपनी निधि, तो तुच्छ लगे सब धनागार।

मानव, मानव बन जाय और—मिट जाए पशुता, अहंकार !!

पा जाए वह अनुपम-विभूति, प्रभुतामें जिसका गाढ़-प्रेम—

लेकिन है आवश्यक इसको—अध्यात्म-प्रेम औ, सद्-विचार !!

धर्कट-वंश

(ले०—श्री अगरचन्द नाहटा)

प्राचीन जैन जातियोंका इतिहास अभी तक अंधकारमें पड़ा है। इस महत्त्वपूर्ण कार्यके लिये अनुसन्धान बहुत ही कम हुआ है एवं सामग्री की भी कमी है। कई जातियोंके तो केवल नाम ही इतिहास के पन्नोंमें रह गये हैं, कई जातियोंका रूपान्तर हो चुका है, काल-प्रभाववश कई प्रसिद्ध वंश आज अन्यवंशोंके अंतर्भूत हो चुके हैं। अर्थात् कई अप्रसिद्ध वंशोंने पीछेसे कुछ प्रसिद्धि प्राप्त करली और प्रसिद्ध वंश लोप होगये।

'दिगम्बरजैन डाइरेक्टरी'के पृष्ठ १४२० में धाकड़ जाति का उल्लेख मिलता है और उनकी जन संख्या इस प्रकार बतलाई गई है:—मध्यप्रदेशमें मनुष्य संख्या १११० एवं बम्बई अहाता (गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण महाराष्ट्र) में १६२ अर्थात् कुल १२७२ जनसंख्या है। श्वेताम्बर समाज में धाकड़ नामक जातिका स्वतंत्र अस्तित्व तो अब नहीं रहा पर ओसवाल जातिके अंतर्गत 'धाकड़' नामक एक गोत्र अवश्य है। धाकड़का संस्कृत प्राचीन नाम 'धर्कट' है, यह तो निश्चित है पर धर्कट नाम कब एवं क्यों पड़ा? इसके निर्णयका कोई साधन प्राप्त नहीं है।

धर्कटवंशका उद्गमस्थान—

माहेश्वरी जातिमें भी 'धाकड़' नामक शाखा अद्यावधि विद्यमान है। माहेश्वरी जातिके इतिहास पृ० ३० में उसके उत्पत्ति स्थानके विषयमें लिखा है कि—"गुजरात प्रान्तके धाकगढ़में २० खांपोंके महेश्वरियोंके परिवार आकर बस गये, जो आगे जाकर धाकड़ महेश्वरीके नामसे सम्बोधित किये जाने लगे। इनमें आज भी ३२ खांपें विद्यमान हैं।"

पर प्रस्तुत 'धाकगढ़' कहां है? पता नहीं। हमें उपलब्ध प्राचीन प्रमाणोंसे ज्ञात होता है कि प्राचीन समयमें धर्कट जातिका निवासस्थान 'श्रीमालनगर' या उसके आसपास ही था। यथा—

श्रीश्रीमालपुरीयधर्कटमहावंशः सुपर्वोज्ज्वलः।

(जिनविजय-सम्पादित प्रशस्तिसंग्रह, प्र० नं० ६३)

"श्रीमालाचलमौलिमूलमिलितस्त्रैलोक्यसुश्लाघितः।
पर्वालीकलितः सुवर्णनिलयः प्रामादलब्धालयः।
लीना—भ्यकुलः प्रलीनकलुषः शुभ्रातपत्रानुगो।
वंशोस्ति प्रकटः सदोषधनिधिः(?) श्रीधर्कटानां पटुः॥१॥

(प्रशस्ति नं० ४२)

सं० १३६८ की प्रशस्ति नं० ३६ में धर्कटवंश और उपकेश वंश दोनोंका एक ही साथ उल्लेख है। संभव है उस समय तक धर्कट वंशका प्रभाव कम होकर उपकेश वंश की प्रसिद्धि अधिक होगई हो अतः धर्कट वंश उसके अंतर्भूत होगा।

धर्कटवंशकी प्राचीनता—

उत्पत्ति-स्थानकी भांति धर्कट वंशका समय भी अनिश्चित है, पर १० वीं ११ वीं शताब्दीके ग्रन्थोंमें इस वंशका उल्लेख पाया जाता है, अतः उससे प्राचीन अवश्य है। हमें उपलब्ध प्रमाणोंमें सबसे प्राचीन प्रमाण कविधनपाल-रचित 'भविसयत्त-कहा' है। यद्यपि उक्त ग्रन्थमें ग्रन्थकारने रचना-सम्वत् नहीं दिया है पर डा० हर्मनजैकोबी एवं चिम्मनलाल भाईने उसका समय भाषाकी दृष्टिसे विचार करके १० वीं ११ वीं शताब्दी निश्चित किया है।

इस वंशकी विशेष प्रसिद्धि १३ वीं १४ वीं शताब्दीमें हुई† और बादको इसका प्रभाव क्षीण होने लगा। इस वंश के लोग अपने मूलनिवास स्थानसे हट कर कई प्रान्तोंमें जाकर निवास करने लगे, अतः जहां जहां गये, वहां वहांके प्रसिद्ध वंशों एवं धर्मोंका इन पर प्रभाव पड़ा। फिर भी इस वंशकी १५ वीं १६ वीं शताब्दी तक अच्छी प्रसिद्धि रही है। फलतः ८४ ज्ञातिके नामोंकी सूचीमें इस वंशको भी स्वतंत्र रूपसे स्थान प्राप्त है।*

धर्कटवंशके ग्रन्थकार—

धर्कट वंशके अनुयायियोंमें श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायके तीन व्यक्ति धर्कट वंशमें प्रसिद्ध ग्रन्थकार होगये हैं, जिनका परिचय इस प्रकार है--

१ धनपाल--धर्कट वणिक् वंशके मायेश्वर इनके पिता एवं धनश्री इनकी माताका नाम था। इन्होंने अपभ्रंश भाषामें 'भविसयत्त कहा' नामक सुन्दर कथाग्रन्थ बनाया। कविने यद्यपि प्रशस्तिमें अपने संप्रदाय एवं समयका उल्लेख नहीं किया है पर हर्मन जेकोबी आदिने इनका संप्रदाय दिगम्बर एवं समय १० वीं ११ वीं शताब्दी निश्चित किया है।

२ यशश्चंद्र—इनके पिताका नाम पद्मचंद्र और पितामहका नाम धनदेव था। इनका रचित ग्रन्थ 'मुद्रित कुमुदचंद्र' सं० ११८१ में रचित है।

३ हरिषेण--ये धक्कड वंशीय गोवर्द्धनके पुत्र और सिद्धसेनके शिष्य थे, चित्तौड (मेवाड) के रहने वाले थे परन्तु कार्यवश अचलपुर आबसे थे, जहां पर उन्होंने वि० सं० १०४४ में 'धम्मपरिक्खा' नामका ग्रन्थ अपभ्रंशमें बनाया। (देखो, 'अनेकान्त' सितम्बर १९४१ की किरण और जैन विद्या अक्तूबर १९४१ का अंक)।

धर्कट वंशके आचार्य—

सं० ११६६ में चंद्रगच्छ (सरवालगच्छ) के वीरगणिने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—'लाटदेशके वटपद्रकपुरमें भिल्लमाल—धर्कट वंशके श्रेष्ठि वर्धमानकी पत्नी श्रीमतीके पुत्र वसंतने दीक्षा ग्रहण की, जिनका नाम समुद्रघोषसूरि या वीरगणि है।

(जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० ३३७)

† इन दो शताब्दियोंकी ही धर्कट वंश प्रशस्तियां एवं शिलालेख अन्य शताब्दियोंकी अपेक्षा अधिक प्राप्त हैं। सं० १२१४ में रचित जिनपालोपाध्यायकृत चर्चरी वृत्तिमें, जतिके उल्लेख में, श्रीमाल एवं धर्कटका उल्लेख किया है यथा:—"जाति धर्कट श्रीमालिया"।

*सं० १४७८ रचित पृथ्वीचन्द्रचरित (माणिक्यसुंदरसूरिकृत) सं० १५०० से पूर्व लि० महमद बेगडेके वर्णनमें (श्री० ज्ञा० वणिक भेद पृ० २३४), सं० १५६८ का विमलप्रबन्ध, सं० १५७८ का विमलचरित्र।

धर्कटवंशके प्रतिमालेख—

लेख-संवतादि	वंशनाम	गोत्र-नाम	बिम्ब	लेख-प्रकाशन-स्थान
सं० ११४३ चै० सु० ३ वृ०	कर्कट (धर्कट ?)	....	शांतिबिम्ब	प्रा० जै० लें० सं० नं० ३७६
सं० १२४५ वै० व० ५ गु०	धर्कट	अर्बुदवास्तव्य	पार्श्वबिम्ब	आबू० जै० ले० सं० नं० ५५
सं० १२६५ का० व० ७ गु०	,,	उसभगोत्र	रंगमंडप जीर्णोद्धार	ना० जै० ले० सं० ८९२ प्र० जै० ले० सं० ४०३
,, ,,	,,	....	स्तंभलता	ना० जै० ले० सं० ८९६-९७ प्रा० जै० ले० सं० ४०४
,, ,,	,,	उसभगोत्र	स्तंभ	ना० ८९८ प्रा० ४०७

लेख-संवतादि	वंशनाम	गोत्रनाम	बिम्ब	लेख-प्रकाशन-स्थान
सं० १२८७ फा० व० ३	धर्कट	....	अंतर्गत लेख	आबू ले० २५१
सं० १२८६ वै० व० ३	,,	....	शांतिबिम्ब	आबू ले० १२५
,,	,,	गुर्जर वास्तव्य	....	आबू ले० २७७
सं० १३०८ मा० सु० ६ गु०	,,	....	आदिबिम्ब	आबू ले० ५७
सं० १३२५ फा० सु० ८ सौ०	धरकट	हस्तिकुंडी वा०	,,	वि० ४३
सं० १३५२ फा० सु० १० बु०	धर्कट	नाहर गोत्रे	वासुपूज्य बिम्ब	,, ५० / ना० १०४१
सं० १४०५ फा० सु० ६ शु०	....	उसभगोत्रे	कुंथु बिम्ब	ना० १४८७
सं० १४६६ फा० व० २ गु०	उपकेशज्ञातीय	धरकट गोत्रे	संभव बिम्ब	ना० १२० वि० १७६
सं० १५३० फा० सु० १०	,,	उसभगोत्रे	....	ना० ११८७
सं० १५६६ फा० सु० ३ सो०	....	,, (मेडता नगरे)	विमल बिम्ब	ना० १५२८
सं० १६०६ मा० सु० ११	....	उसभ	....	आबू ले० २२४
सं० १६०७ ज्ये० सु० १३ गु०	....	,, को० मेडता	....	ना० ५४३

धर्कटवंशकी प्रशस्तियां—

लेख-संवतादि	वंशनाम	प्रशस्ति	लेख-प्रकाशन-स्थान
सं० १२८२ का० सु० ८ र०	धर्कट वंशीय	पार्श्वनाग प्र०	जि० प्र० ८
सं० १२८२ का० सु० ८ र०	,,	गणियक प्र०	जि० प्र० २५; प्र० सं० ६
सं० १३०० का० ब० १३	,,	सालिग प्र०	जि० ४२, प्र० सं० ४२
सं० १३०८	,,	माढाक	जि० २८, प्र० सं० १४
सं० १३६८ ज्ये० व० ७ बु०	,, (उपकेश वंशीय)	देवधर	जि० ३६, पाटण सूची पृ० ३२७

संवतके उल्लेख रहित प्रशस्तियाँ

लेख-संवतादि	वंशनाम	प्रशस्ति	लेख-प्रकाशन-स्थान
१२ वीं श०	धर्कट वंश	आवड प्र०	जि० ५१, पाटण सूची पृ० ३३६
१२ १३ वीं श०	,,	नेमिचन्द्र ,,	जि० ५२, प्र० सं० १६
१३-१४ वीं श०	,,	वरदेव ,,	जि० १२, प्र० सं० २६
,,	,, श्रीश्रीमालपुरीय	यश ,,	जि० ६३, प्र० सं० २

अन्तमें दिगम्बर जैन विद्वानोंसे मेरा अनुरोध है कि उनके साहित्य एवं इतिहासमें धर्कट-जाति-सम्बन्धी जो कुछ भी सामग्री हो उसे वे शीघ्र ही प्रकट करनेकी कृपा करें।

ना = नाहरजी सम्पादित, ले० सं० आबू = जयंतविजय सम्पादित लेखसंग्रह

प्रा = जिनविजयजी सम्पादित प्राचीन ले० सं० वि० = विद्याविजय सम्पादित लेखसंग्रह

जि = जिनविजयजी सम्पादित जो सिंघी ग्रन्थमालासे शीघ्र ही प्रगट होगा। मुझे मुनिजीने फरमे भेजे, इसके लिये आभारी हूँ

प्र० सं० = प्रशस्तिसंग्रह, अहमदाबादमें प्रकाशित।

पाटणसूची—गायकवाड ओरियंटल सीरीजमें प्रकाशित।

तामिल-भाषाका जैनसाहित्य

[मूल लेखक—प्रो० ए० चक्रवर्ती M. A. I., E. S.]
[अनुवादक—पं० सुमेरचंद जैन 'दिवाकर' न्यायतीर्थ, शास्त्री, B. A. L L. B.]
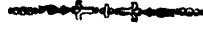
(गत किरणसे आगे)

एक और तामिल भाषाका काव्य ग्रन्थ है, जिसमें उदयनकी कथा लिखी गई है। यह प्रायः लघु काव्योंमेंसे नहीं है। प्रतिपाद्य विषयके विस्तार एवं ग्रन्थमें प्रयुक्त हुए छंदको देखकर यह कहना पड़ता है कि यह एक स्वतंत्र कृति है, जिसका परंपरासे प्राप्त हुई सूचियोंमेंसे किसीमें भी समावेश नहीं हुआ है। डा० स्वामीनाथ ऐयरके कारण, जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं और जो तामिल साहित्यके लिये अथक परिश्रम करते हैं, यह रचना तामिल पाठकोंके लिये सुलभ होगई है। इसका 'पेरुनकथै' यह नामकरण प्रायः गुणाढ्यरचित बृहत् कथाके अनुरूप किया गया है, जोकि पैशाची नामकी प्राकृत भाषामें लिखी गई है।

इसका रचयिता कोंगुदेशका नरेश कोंगुवेल कहा जाता है। वह कोयमबटूर जिलेके विजयम् नगर नामके स्थलपर रहता था, जहाँ पहले बहुतसे जैनी रहा करते थे। तामिल साहित्यमें व्याकरण तथा मुहावरेके प्रयोगोंको उदाहृत करनेके लिए इस ग्रंथके अवतरणोंको अनेक विख्यात तामिल टीकाकारोंने उद्धृत किया है। दुर्भाग्यसे जो पुस्तक छपी है वह अपूर्ण है। अनेक प्रयत्न करनेपर भी सम्पादकको पुस्तकके आदि तथा अंतके त्रुटित अंश नहीं मिल सके। अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करते रहनेकी अपेक्षा यह अच्छा हुआ कि ग्रन्थ अपूर्णरूपमें ही प्रकाशित कर दिया गया। गुणाढ्यकी बृहत् कथासे, जिसमें कि कितनी ही दूसरी कथाएँ हैं, तामिल पैरुनकथैके रचयिताने केवल उदयन राजाके जीवन सम्बन्धी अंशोंको ही ग्रहण किया है। इस कथामें मुख्य छह अध्याय हैं—उनजैककाण्डम्, लावाणककाण्डम्, मघदककाण्डम्, वत्तवकाण्डम्, नरवाणकाण्डम्, थुरवुकाण्डम्, ये सब उदयनकी महत्त्वपूर्ण जीवनीसे सम्बन्ध रखते हैं।

उदयन कौशाम्बीके कुरुवंशी शासक शांतिकका पुत्र था। शांतिककी रानीका नाम था मृगावती। गर्भकी उन्नतावस्थामें, वह अपने महलकी ऊपरली मंजिलपर दासियोंके साथ क्रीड़ा कर रही थी। वहाँ उसने स्वयं अपनेको अपनी दासियोंको और क्रीडास्थलको प्रचुर रक्तपुष्पों तथा लाल रेशमी वस्त्रोंसे सुसज्जित किया था। क्रीडाके अनन्तर वह रानी पलंगपर सो गई। हिंदूपुराण-वर्णित सबसे बलशाली पक्षी शरभ वहां बिखरे हुये लाल पुष्पोंके कारण उस प्रदेशको गलतीसे कच्चे मांससे आच्छादित समझकर उस पलंगको सोती हुई मृगावती सहित विपुला चल ले उड़ा। जब मृगावती जागी तब वह अपने आपको विचित्र वातावरणमें देखकर आश्चर्यचकित हुई। जो पक्षी मृगावती को वहां ले गया था उसे जब यह मालूम हुआ कि वह तो एक जीवित प्राणी है, न कि मांसका पिंड; तब वह उसे वहां छोड़कर चला गया। उसी समय उसने एक पुत्रको जन्म दिया जो आगे 'उदयन' कहा जायगा। उसे यह देखकर आनंद और आश्चर्य हुआ कि वहां उसके पिता चेटक विद्यमान हैं, जो राज्यका परित्याग कर देनेके बाद वहाँ जैन योगीके रूपमें अपना समय व्यतीत कर रहे थे। जब उनको बच्चेके रोनेकी आवाज सुनाई दी, तब वे वहां पहुँचे और अपनी पुत्री मृगावतीको देखा। चूंकि बच्चेकी उत्पत्ति

लगभग सूर्योदयके समय हुई थी, इस लिये उसका नाम 'उदयन' रक्खा गया। उसी विपुलाचल पर एक ब्राह्मण ऋषि ब्रह्मसुन्दर अपनी स्त्री ब्रह्मसुन्दरीके साथ रहता था। मृगावतीके पिता चेटक मुनिने अपनी पुत्री और उसके शिशुको ब्राह्मण मुनिके जिम्मे सौंप दिया, जहां पर उनकी देख-रेख अपने कुटुम्बी जनोंके समान की जाती थी। इस ब्राह्मण ऋषिका एक पुत्र 'युगी' नामका था। युगी और उदयन बाल्यकालसे ही पक्के मित्र हो गये और उन की मित्रता जीवन-पर्यन्त रही।

कुछ समयके बाद चेटक मुनिके पुत्रने, जो अपने पिताके राज्यत्यागके बादसे राज्य शासन कर रहा था, स्वयं राज्यको छोड़कर तपस्वी बनना चाहा। वह अपने भावको प्रगट करनेके लिये अपने पिताके पास पहुँचा, जहाँ उसे सुन्दर युवक उदयन मिला जिसका परिचय उसके नानाने कराया। जब यह मालूम हुआ कि उदयन उसकी बहनका पुत्र है, तब वह उदयनको उसके नानाके राज्यका शासन करनेके लिये अपने नगरमें लेगया। उसके साथमें उसने उसके मित्र तथा साथी युगीको भी ले लिया था, जोकि उसके जीवन भर उसका महान सहायक रहा। जबकि उदयन अपने उपपिता ब्रह्मसुन्दर मुनिके पास रहता था, तब उस ब्राह्मण ऋषिने उसे एक बहुमूल्य मंत्र सिखाया था, जिसकी सहायतासे अत्यन्त मत्त और भीषण हाथी भी भेड़के समान शान्त और निरुपद्रव बनाया जा सकता था। उन्हीं ब्रह्म-ऋषिसे पुरस्कारमें उसे एक दिव्य-वाद्ययंत्र भी मिला था जिसकी ध्वनिसे बड़े बड़े जंगली हाथी पालतू और अधीन बनाये जा सकते थे। इस यंत्र और बाजेकी सहायतासे उसने, जबकि वह जंगलके आश्रममें रहता था, एक प्रसिद्ध हाथी को वशमें किया, जो पीछे ऐसा दिव्य गजराज जान पड़ा जिसमें अनेक वर्षों तक उसकी भारी सेवा करने की सामर्थ्य थी। जब उदयन अपने नानाके आवास-स्थान वैशाली गया, तब उसने अपने मित्र और साथी युगीको ही अपने साथ नहीं लिया, बल्कि इस हाथी को भी साथमें लिया, जो उदयनकुमारकी सेवा करना चाहता था। जबकि उदयन वैशालीमें शासन कर रहा था तब उसका पिता शांतिक, जो मृगावतीके वियोगके कारण बहुत दुखी था, अनेक स्थानोंमें खोज करता हुआ विपुलाचल पहुंचा, जहां उसे उसकी रानी मिली जो अपने पिताके संरक्षणमें थी। रानी के पिताकी आज्ञासे शांतिक उसे कौशाम्बी ले गया। कुछ समयके अनंतर उदयनको अपने पिताका भी राज्य मिला और इस तरह वह कौशाम्बी और वैशाली दोनों का शासक होगया।

इसके अनंतर उदयनके सच्चे साहसपूर्ण कार्यों का आरंभ होता है। गफ़लतसे उसका दिव्य हाथी खोजा है। वह अपनी वीणा लेकर हाथीकी खोजमें निकलता है, इसी समय उज्जैनके महाराजा प्रद्योदन अपने सेवकोंको वत्स तथा कौशाम्बीके नरेशोंसे कर वसूल करनेके लिये भेजते हैं। प्रद्योदनका मंत्री शालंकायन इस साहसपूर्ण कार्यमें हाथ डालनेसे मना करता हुआ उपयुक्त अवसरकी प्रतीक्षा करनेकी सलाह देता है। जब उदयन जंगलमें घूम रहा था तब प्रच्चोदनने उसे क़ैद करनेका उपयुक्त अवसर देखकर हाथीके रूपमें एक इस प्रकारका यंत्र भेजा जिसके भीतर हथियारबंद सैनिक छिपे हुए थे। ट्रोजन (trojan) के घोड़के समान यह यांत्रिक गजराज उस बनमें लेजाया गया जहाँ उदयन अपने खोये हुए हाथीको खोज रहा था। इस यांत्रिक गजराजको जंगली हाथी समझकर उदयन उसके पास पहुंचा ही था कि शीघ्र ही उसके भीतरसे सैनिक कूद पड़े और उन्होंने उदयनको क़ैद कर लिया।

उदयन कैदीके रूपमें उज्जैन लाया गया। जबकि उदयन कैदीके रूपमें था तब एक समय उसके मित्र और मंत्री युगीको मालूम हुआ कि महाराज उदयन को उज्जैनके नरेशने कैद कर लिया है; इसलिये उसने इस बातका निश्चय किया कि किसी न किसी तरह उसे कैदसे छुड़ाऊँ और उज्जैनके नरेशको उसकी उद्दंडताके कारण दंडित करूँ। इसलिये वह भेष बनाकर अपने मित्रोंके साथ वहाँ गया और उपयुक्त अवसरकी प्रतीक्षामें उज्जैनके समीप ठहर गया

जबकि वह गुप्त वेषमें था तब उसने अप्रकट रूपसे उदयनको उज्जैनमें अपनी उपस्थितिकी सूचना पहुंचा दी और इस बातका विश्वास दिला दिया कि मैं तुम्हें शीघ्र ही छुड़ा लूँगा। उपयुक्त अवसरको प्राप्त करनेके लिये उसने अपने मित्रोंकी सहायतासे राजाके हाथीको उन्मत्त और बेकाबू बनानेके उद्देश्य से मंत्रका प्रयोग आरम्भ किया। फलतः हाथी जंजीरोंके बंधन तुड़ाकर नगरकी गलियोंमें फिरता हुआ भारी हानि करने लगा और उसे कोई भी वश में न कर सका। तब महाराज प्रच्चोदनको अपने मंत्री सालंकायनसे मालूम हुआ कि इस प्रकारके जँगली हाथीको वशमें करनेमें समर्थ एकमात्र उदयन ही है और वह कैदमें है। इसपर राजाने उसे शीघ्र ही बुला भेजा, और उसे मात्र उस उन्मत्त हाथीको वशमें कर लेनेकी शर्तपर स्वतंत्रताका वचन दिया। उदयनने अपनी वीणाके द्वारा उस उन्मत्त हाथीको गायके समान पालतू कर लिया, और इस तरह राजा को बहुत प्रसन्न किया। उदयनको स्वतंत्रता मिली और वह महाराज-द्वारा राजकन्या वासवदत्ताका संगीत-शिक्षक नियत किया गया।

इसके बाद अपने मंत्री युगीकी सहायतासे उदयन, जिसने वासवदत्ताके हृदयको जीत लिया था, नलगिरी हाथीकी पीठपर वासवदत्ताको बैठाकर राजधानीसे भाग जाता है। इस प्रकार उज्जैककांडम् नाम का पहला अध्याय समाप्त होता है, जिसमें उज्जैन नगरमें उदयनके पराक्रमका वर्णन किया गया है।

दूसरे अध्यायको लावाणकांडम् कहते हैं; क्योंकि उसमें लावाणनगरमें उदयनकी जीवन घटनाका वर्णन है। उज्जैनसे निकलकर उदयन अपने राज्यके लावाण नगरमें पहुँचता है और वहां वासवदत्तासे विवाहकर उसे अपनी रानी बना लेता है। अपनी रूपवती रानीके मोहमें वह राजकीय कर्तव्यको भूल कर उसकी अवहेलना करता है। यह बात उसके उन मित्रोंको पसन्द नहीं आती है जो यह समझते हैं कि अभी बहुत कुछ करनेको बाक़ी है, क्योंकि जब उदयन उज्जैनमें कैद था तब उसके राज्यको पाँचाल देशके नरेशने जीत लिया था, जो कौशाम्बी राज्यके प्रति सद्भावना नहीं रखता था। इस कारण युगी इस बातके लिये प्रयत्न करता है कि जिससे वासवदत्ताका उसके पतिसे वियोग हो जाय। वह एक ऐसी चाल चलता है जिससे उदयनको यह विश्वास हो जाता है कि उसका महल जलकर राख हो गया और उसमें महारानी वासवदत्ता जलकर मर गई। महल में आग लगानेके पहले वासवदत्ता अपने अनुचरोंके साथ एक सुरंगके मार्गसे सुरक्षित स्थलपर ले जाई जाती है जहां वे सब गुप्त रक्खे जाते हैं। ये दूसरे अध्यायमें वर्णित उदयनके जीवनकी कुछ मुख्य बातें हैं।

मघदककाण्डम् नामके तीसरे अध्यायमें मगध देश में किये गये उदयनके साहसपूर्ण कार्योंका वर्णन है। अपनी महारानी वासवदत्ताके वियोगसे उदयनके अंतःकरणको बहुत आघात पहुंचा। इसलिए वह मगधकी राजधानी राजगृहको जाता है ताकि वह एक महान योगीकी सहायतासे, जो मंत्रबलसे मृत व्यक्तियों तकमें पुनः प्राण संचार करनेकी क्षमताके लिए प्रसिद्ध है, अपनी मृतपत्नी वासवदत्ताको पुनः प्राप्त कर सके। वहाँ उसे मगधनरेशकी राजकुमारी पद्मावती मिल जाती है। प्रथम दर्शनपर ही वे एक दूसरेके साथ प्रेमासक्त होजाते हैं। उदयन जो ब्राह्मण युवकके वेषमें था, राजकुमारी पद्मावतीको पूर्णरूपसे वशमें करनेका प्रयत्न करता है और इस तरह राजा की अजानकारीमें ही उसके साथ गंधर्व विवाह कर लेता है। जबकि वह इस प्रकार गुप्तवेष धारण किये राजगृहमें जीवन व्यतीत कर रहा था, तब शत्रुओंने उस नगरको घेर लिया। उदयन अपने मित्रोंकी सहायतासे उस नगरकी शत्रुओंसे रक्षा करता है और इस तरह मगध महाराजके विश्वास तथा कृतज्ञताको प्राप्त करता है। अन्तमें राजकुमारी पद्मावती का विवाह उदयनके साथ होगया और वह रानी पद्मावतीके साथ राजगृहमें सानंद काल व्यतीत करने लगा।

इसके पश्चात् 'वत्तवकाण्डम्' नामका चौथा

अध्याय आरंभ होता है। इसमें उदयनके द्वारा अपने श्वसुर मगधनरेशकी सहायतासे अपने वत्सदेशकी पुनः विजयका वर्णन है। वहाँ अपने वृद्ध प्रजाजनों के द्वारा उसका स्वागत किया जाता है, क्योंकि उन लोगोंको पांचालनरेशके अत्याचारोंका कटु अनुभव हो चुका था। इस प्रकार अपने प्रजाजनोंका विश्वास लाभ करके वह अपने राज्य वत्सदेशमें अपनी महारानी पद्मावतीके साथ सुखपूर्वक निवास करने लगता है। एक दिन वह वासवदत्ता रानीसे मिलने का स्वप्न देखता है। इस स्वप्नसे पिछली रानी वासवदत्ताके प्रति उसका अनुराग जाग उठता है। इतनेमें उसका मित्र युगी, जो उसकी आपत्तियोंमें सहायतार्थ सदा आया जाया करता था, राजगृहके द्वारपर उदयनकी पहली रानी वासवदत्ताके साथ दिखाई पड़ता है। उदयन अपनी रानीको देखकर आनंदित होता है, जिसे उसने मृत समझ लिया था, वह पद्मावतीकी सम्मतिसे उसे अपने महलमें ले जाता है और अपनी दो रानियोंके साथ राजगृहमें आनंद-पूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

जब वह वासवदत्ता और पद्मावती नामकी दोनों रानियोंके साथ अपना जीवन सुखपूर्वक बिता रहा था, तब उसकी भेंट अपनी रानियोंकी सखी माननिकासे होगई और वह उस अपरिचितपर आसक्त होगया तथा उसने उससे रात्रिको एकान्त स्थानमें मिलनेका निश्चय किया। इसका पता वासवदत्ताको लग गया और उसने उस माननिकाको कैदमें कर लिया और माननिकाकी पोशाक पहिनकर वह उदयनसे मिलनेकी प्रतीक्षा करने लगी। वेषधारिणी वासवदत्ता उदयनसे नीरसतापूर्ण व्यवहार करती है, यद्यपि उदयन उसे अपनी स्नेहपात्र माननिका समझकर उसे मनानेके लिए अनेक प्रार्थनाएँ करता है। इसके बाद वह अपना असली रूप प्रगट करती है, जिससे उदयनको संताप होता है और वह प्रभात समय महलकी ओर भाग जाता है। प्रभातमें वासवदत्ता माननिकाको इसलिए बुलाती है कि वह उसे राजाको प्राप्त करनेकी आकांक्षाके उपलक्षमें दंडित करे।

इस उत्तेजनाकी अवस्थामें कौशलके नरेशका एक पत्र वासवदत्ताके पास आता है। इस पत्रमें कौशलाधीश अपनी बहिनकी कथा लिखते हैं, जो पाँचाल नरेशके द्वारा कैदीके रूपमें ले जाई गई थी जिसे उदयन महाराजने उसके अनुचरोंके साथ मुक्त कर दिया था, जब उदयन महाराजने पांचालाधीश को हराकर उस देशपर पुनः विजय प्राप्त की थी। उस पत्रमें यह भी बताया गया था, कि किस तरह वह माननिका नामसे वासवदत्ताकी दासी बनाई गई थी। यह भी प्रार्थना की गई थी कि कौशलकी राजकुमारीके साथ उसकी प्रतिष्ठाके अनुरूप कृपा तथा लिहाज करते हुए व्यवहार किया जाय। जब वासवदत्ता इस पत्रको पढ़ती है, तब वह माननिकासे अपनी कृतिके प्रति क्षमा-याचना करती है और उसे राजकुमारीके योग्य पद तथा प्रतिष्ठाको प्रदान करती है। अन्तमें स्वयं वासवदत्ता उदयनके साथ, उसके विवाहकी तजवीज करती है, जो कौशलकुमारीपर आसक्त पाया गया था।

पाँचवें अध्यायमें उदयनके एक पुत्र एवं उत्तराधिकारीके जन्मका वर्णन है। कुछ समयके बाद वासवदत्ताके नरवाहणदत्त नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके जन्मके पहले ही ज्योतिषियोंने उसकी महत्ताका वर्णन कर दिया था और कहा था कि वह विद्याधरोंके राज्यका स्वामी होगा, भले ही उसका जन्म साधारण क्षत्रिय वंशमें हो। काल पाकर उसे पितासे कौशाम्बी और वत्सराज्य मिला और उसके नानासे उसे विद्याधरोंका राज्य उज्जैन मिला। यथावसर उसका पिता उदयन राज्यका त्याग करता है और साधु बनकर अपना समय योग तथा ध्यानमें व्यतीत करता है। उदयनके इस त्यागका वर्णन इस तामिलग्रंथ पेरुनकथैके छठे और अंतिम अध्यायमें किया गया है।

(क्रमशः)

'सयुक्तिक सम्मति' पर लिखे गये उत्तरलेखकी निःसारता

(लेखक--पं० रामप्रसाद शास्त्री)

[गत किरणसे आगे]

४ भाष्य

(ग) इस भाष्य-प्रकरणमें प्रो० जगदीशचन्द्रने राजवार्तिक-भाष्यके "यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्त" वाक्यको लेकर लिखा था कि—"यदि यहां भाष्यपदका वाच्य राजवार्तिकभाष्य होता तो 'भाष्ये' न लिखकर अकलंकदेवको 'पूर्वत्र' आदि कोई शब्द लिखना चाहिये था।" इस कथनपर आपत्ति करते और उसे अनुचित बतलाते हुए मैंने लिखा था कि—"सर्वत्र लेखककी एकसी ही शैली होनी चाहिये ऐसी प्रतिज्ञा करके लेखक नहीं लिखते, किन्तु उनको जिस लेखन-शैलीमें स्व-परको सुभीता होता है, वही शैली अंगीकार कर अपनी कृतिमें लाते हैं, 'पूर्वत्र' शब्द देनेसे संदेह हो सकता था कि—वार्तिकमें या भाष्य में? वैसी शंका किसीको भी न हो इसलिये स्पष्ट 'भाष्ये' यह पद लिखा है। क्योंकि राजवार्तिकके पंचम अध्यायके पहले सूत्रकी 'आर्षविरोध' इत्यादि ३५वीं वार्तिकके भाष्यमें 'षरणामपि द्रव्याणां' 'आकाशादीनां षरणां' ये शब्द आये हैं, तथा अन्यत्र भी इसी प्रकार राजवार्तिक भाष्यमें शब्द हैं। राजवार्तिकभाष्यमें यह षट्द्रव्यका विषय स्पष्ट रूपमें होनेसे पं० जुगलकिशोरजीने यह लिख दिया है कि "और वह उन्हींका अपना राजवार्तिक-भाष्य भी हो सकता है" यह लिखना अनुचित नहीं है।" मेरी इस आपत्तिके उत्तरमें प्रो०साहबने जो कुछ लिखा है उसकी निःसारताको नीचे व्यक्त किया जाता है:—

सबसे पहले आप लिखते हैं कि:—'यद् भाष्ये बहुकृत्वः' आदि उल्लेख राजवार्तिकका भी नहीं हो सकता। यदि यहाँ 'भाष्य' पदसे अकलंकको स्वकृत भाष्य इष्ट होता तो उन्हें स्पष्ट 'अस्मिन् भाष्ये' अथवा 'पूर्वत्र' आदि लिखना चाहिये था।" यहां 'अस्मिन भाष्ये' का प्रयोग न करनेके सम्बन्धमें इतना ही कहना है कि अकलंकदेवने तत्त्वार्थसूत्रपर दो-चार भाष्य तो बनाये नहीं हैं, जिससे कि वहां शंकाकारकी ओर से 'भाष्ये' के पहले 'अस्मिन्' शब्दके लगानेकी जरूरत पड़ती। जब अकलंक देवका तत्त्वार्थसूत्रपर एक राजवार्तिक भाष्य ही मिलता है तब फिर 'अस्मिन भाष्ये' (इस भाष्यमें) ऐसा वाक्य लिखनेको केवल व्यर्थता ही सूचित होती, अतः शंकाकारकी ओरसे 'भाष्ये' पदके पहले 'अस्मिन' पद न लगाकर जो केवल 'भाष्ये' पदका प्रयोग किया गया है वह उचित ही है। और यदि वहां अकेला 'पूर्वत्र' शब्द ही लिखा जाता तो शंका तदवस्थ ही रहती कि—'पूर्वत्र' कहांपर भाष्यमें या वार्तिकमें? अतः कहना होगा कि राजवार्तिकमें जो केवल 'भाष्ये' पद दिया गया है वह इस दृष्टिसे भी सर्वथा उचित है।

इसके बादमें आपने राजवार्तिक (पृ० २६४) के "ननु पूर्वत्र व्याख्यानमिदं" इत्यादि वाक्यके द्वारा जो यह लिखा है कि 'यहाँ 'पूर्वत्र' शब्दसे पूर्वगत व्याख्यानका सूचन किया है सो यहां वार्तिक और भाष्यका संदेह क्यों नहीं?' इसका जवाब यह है कि शंकाकार जब किसी निश्चित स्थानको लेकर शंका करता है कि अमुक स्थलमें ऐसी बात कही है उसका क्या समाधान है? तब समाधानकर्ता यदि उसी स्थलको लेकर समाधान करेगा तो केवल 'पूर्वत्र' या 'उत्तरत्र' शब्दोंके साथमें उसका उल्लेख कर सकेगा; और यदि समाधानका स्थल कोई दूसरा होगा तो वहां या तो खास उस स्थलके नामोल्लेखपूर्वक समाधान करेगा अथवा उस स्थलके पहले 'पूर्वत्र' या 'उत्तरत्र' शब्द जोड़करके भी समाधान कर सकेगा। राजवार्तिकमें तथा अन्यत्र इसी पद्धतिको

अनुसरण किया गया है। प्रोफेसर साहबने जो स्थल 'ननु पूर्वत्रेत्यादि' राजवार्तिकके प्रकरणका उल्लिखित किया है उसमें तथा 'यद्भाष्ये बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं' और 'वृत्तौ पंचत्ववचनादित्यादि' ये दो स्थल जो विवादापन्न हैं उनमें समाधानकी यह बात इसी रूपसे घटित होती है—परस्परमें कोई विरोध नहीं है। हां, आपने अपने पक्षके समर्थनमें राजवार्तिक पत्र २६४की जो पंक्ति दी है उसका पूर्णरूप इस प्रकार है:—

"ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं पुनर्ग्रहणमनर्थकं सूत्रेऽनुपात्तमिति कृत्वा पुनरिदमुच्यते।"

इस वाक्यमें शंकाकारकी शंका और ग्रन्थकार द्वारा शंकाका समाधान ये दोनों बातें प्राप्त हैं। इस जगह 'पूर्वत्र' का सम्बन्ध 'व्याख्यातं' इस पदके साथ नहीं भी हो तो चल सकता है, परन्तु 'सूत्र' के साथ न हो तो वह कदापि भी नहीं चल सकता। क्योंकि 'पूर्वत्र' के बिना केवल 'सूत्रे' ही माना जाय तो जिस सूत्रके ऊपर यह राजवार्तिककी पंक्ति है उसमें अर्थात् 'स्वभावमार्दवं च' में तो मनुष्य-आयुका कारण मार्दव लिखा ही है, अतः 'सूत्रेऽनुपात्तं' इस वाक्य द्वारा समाधान करना व्यर्थ ठहरेगा। फिर यह शंका हो सकती है कि यहां 'सूत्रे' जो लिखा है वह कौनसा सूत्र पूर्वका उत्तरका या अन्यत्र का? तो इस शंकाका समाधान 'पूर्वत्र' आदि शब्दके बिना हो नहीं सकता। अतः 'ननु' इत्यादि वाक्यमें जो 'पूर्वत्र' शब्द आया है वह 'सूत्रे' पदके साथ संबंध-निमित्त ही आया है, और शंकाकारकी शंकाका विषय दोनों जगहका भाष्य देखकर भाष्यपर है। 'ननु' इत्यादि पंक्तिमें जो 'व्याख्यातं' पद है वह भी भाष्यका सूचक है; क्योंकि 'व्याख्यातं' शब्दका अर्थ 'वि-विशेषे आख्यातं = व्याख्यातं' भी होता है। विशेष रूपमें आख्यान करनेवाला भाष्य ही होता है। यदि 'व्याख्यातं' का अर्थ 'विशेषेणआख्यातं' किया जाय तो वह यहां बन नहीं सकता; क्योंकि 'अल्पारम्भ परिग्रहत्वं मानुषस्य' इस सूत्रके भाष्यमें 'मार्दव' का विशेषरूपसे वर्णन न कर सामान्यरूपमें 'मार्दव' नाम ही लिखा है। इससे कहना होगा कि यहां 'व्याख्यातं' शब्द भाष्यका बोधक है। इसलिये शंका का स्थान निश्चित होता है यह बात जो पहले लिखी गई है वह बात भाष्यवाचक 'व्याख्यातं' से सिद्ध है।

कदाचित् 'पूर्वत्र' शब्द 'व्याख्यातं' का विशेषण रूपसे भी विन्यस्त हो तो कोई दोष नहीं। हाँ, यदि पूर्वत्रके साथ केवल 'उक्तं' शब्द होता तो यह शंका अवश्य होती कि पूर्व (पहले) यह बात कहां कही गई है—भाष्यमें, वार्तिकमें या सूत्रमें, ? अतः कहना होगा कि यहां 'ननु पूर्वत्र' इत्यादि वाक्य लिखकर जो 'सयुक्तिक सम्मति' का अभिप्राय खंडन करना चाहा है वह ऐसी पांच दलीलोंसे कदापि भी खंडित नहीं हो सकता—अखंड्य है।

आगे प्रो० सा० ने जो यह लिखा है कि—"शंकराचार्य आदि विद्वानोंने 'अस्माभिः प्रोक्तं' अथवा 'पूर्वत्र प्रोक्तं' आदि शब्दों द्वारा ही स्वग्रंथ-कृत उल्लेखका सूचन किया है" इसके सम्बन्धमें इतना ही कहना है कि शंकराचार्य वगैरहके जो 'अस्माभिः प्रोक्तं' 'पूर्वत्र प्रोक्तं' ये वाक्य हैं वे अपनी स्मृति ज़ाहिर करनेके लिये हैं न कि शंकाविषयक किसी समाधानको सूचित करनेके लिये। अतः उनके वाक्योंका और राजवार्तिक—सम्बन्धी 'ननु पूर्वत्र' आदि वाक्योंका कोई सम्बन्ध अथवा सादृश्य नहीं है।

दूसरे, आपका जो यह कहना है कि अकलंक-देव ने 'भाष्ये' के स्थान पर 'पूर्वत्र' क्यों नहीं लिखा? तो इसके जवाबमें मेरा यह कहना है कि अकलंकदेवने—'श्वेताम्बरभाष्ये' या 'तत्त्वार्थभाष्ये' न लिख कर कोरा 'भाष्ये' ही क्यों लिखा? यदि उनका विचार वहां श्वेताम्बरभाष्यके लिये ही था तो स्पष्ट लिखनेमें उन्हें क्या कोई अड़चन थी? जब उन्होंने उस स्थलमें केवल 'भाष्य' ही लिखा है तो स्पष्ट है कि उनका अभिप्राय अपने भाष्यका या 'सर्वार्थसिद्धिभा०' का ही है। यदि वहां वे केवल 'पूर्वत्र' शब्द ही लिख देते तो कदाचित् उससे उनके भाष्यका तो बोध भी हो सकता था, परन्तु सर्वार्थसिद्धि का तो बोध नहीं हो सकता था। यदि उन्हें दोनों ही भाष्य अभिप्रेत हों तो

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक इन दोनों का निर्वाह 'पूर्वत्र' शब्दसे कैसे किया जासकता था ? सर्वार्थसिद्धि उन्हें यों अभिप्रेत होसकती है कि—'न हि कृत मुपकारं साधवो विस्मरंति' इस आर्ष नीतिवाक्यका अनुसरण करनेकेलिये ही अकलंकदेवने भाष्य शब्द के द्वारा सर्वार्थसिद्धिकी आदरस्मृति जाहिर की हो तो वह बात सम्भावित है। श्वेताम्बर भाष्य तो उनके सामने संभवित हो कहां था ? कारण कि वे एक तो कर्नाटकके थे, जो सौराष्ट्र-कच्छसे दूर पड़ता है, दूसरे श्वेताम्बरभाष्यका उनके पूर्व रचा जाना भी किसी पुष्टप्रमाणसे निश्चित नहीं है। और जब आजकलके श्वेताम्बर धुरीण पंडित पूज्यपादके सामने ही साम्प्रदायिक कट्टरता बतलाते हैं तो फिर अकलंकदेवके सामने तो वह और भी ज्यादा आ गई होगी, ऐसी हालतमें यदि अकलंकदेवके सामने वह भाष्य होता तो वे उसके उद्धरण देकर उसकी समीक्षा रूपसे खंडन अवश्य करते। परन्तु यह बात राजवार्तिकमें कहीं भी नज़र नहीं आती, अतः कैसे कहा जाय कि राजवार्तिककारके सामने श्वेताम्बर भाष्य था ? रही परस्पर सहयोगकी बात, वह पूज्यपादसे बहुत पूर्व ही सम्भवित है जबकि सिद्धान्तोंमें मतभेद न होकर दोनों सम्प्रदायोंके पृथक् होनेकी प्रारम्भिक दशाके करीबका समय होगा ?

ऊपरके इस सब विवेचनपरसे स्पष्ट है कि भाष्यविषयक प्रकरणके (ग) भागमें प्रो० सा०ने जो कुछ लिखा है उसमें पिष्टपेषणके सिवाय और कुछ भी सार नहीं है।

(५) तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्तिकमें शब्दगत साम्य

इस प्रकरणकी जो बात है उसका उत्तर इसी प्रकृत लेखमें पहले कई बार आ चुका है और उसका सार यह है कि—अकलंकदेवसे पूर्व श्वेताम्बर भाष्य के अस्तित्वका अभी तक ऐसा कोई भी प्रमाण सामने नहीं आया जिससे यह साबित हो सके कि अकलंकदेवने अपने राजवार्तिकमें श्वेताम्बर भाष्यके शब्दों का उपयोग किया है।

हरिभद्र सूरि श्वेताम्बर विद्वानोंद्वारा ८वीं ९वीं शताब्दीके माने जाते हैं। और सिद्धसेनगणी उन से पीछेके विद्वान हैं—इनका समय १० वीं ११ वीं शताब्दीके लगभग पड़ता है। अतः अकलंकदेवके बहुत पीछेके इन विद्वानों द्वारा तत्त्वार्थसूत्र और श्वे० भाष्यकी एक कर्तृता आदिकी मान्यतायें कुछ भी कीमत नहीं रखतीं। हाँ यदि अकलंकसे पूर्व किन्हीं अन्य श्वेताम्बर विद्वानोंने इस बातका सप्रमाण उल्लेख किया हो कि 'श्वेताम्बरभाष्य और तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ता एक हैं—' और इसलिये भाष्यकार भी अकलंकदेवके पहले के हैं—यह बात विचारणीय अवश्य होगी।

मैंने सयुक्तिक सम्मतिमें 'शब्दसाम्यादि बहुत शास्त्रोंके बहुत शास्त्रोंसे मिल सकते हैं तथा मिलते हैं' यह बात जो लिखी थी वह दर्शनशास्त्रोंमें प्रायः ऐसी बात होनेकी सम्भावना होसकती है, इसलिये लिखी थी परन्तु फिर भी जब आपका यह ही दुराग्रह है कि राजवार्तिकमें श्वेताम्बर भाष्यके शब्द हैं तो फिर आठवीं नवमी शताब्दीके पूर्व होने वाले किन्हीं विद्वानों के स्पष्ट उल्लेखों द्वारा यह सिद्ध कीजिये कि अकलंकसे पूर्व इस श्वेताम्बर भाष्यका अस्तित्व था। साहित्यदृष्टिके विकास द्वारा जो पं० सुखलालजीका नव्यता और प्राचीनता विषयक विचार है वह कुछ भी मूल्य नहीं रखता, क्योंकि जो जितना विशेष विद्वान होगा वह उतनी ही प्रौढताको लिए हुए व्याकरणन्याय आदिकी विद्वत्तापूर्वक विशेषरूपसे पदार्थका प्रतिपादन करेगा। जो भाष्य लिखता है वह भाष्यताके गुणोंको भी अपनी टीकामें प्रतिपादन करता है। जिस टीकाके द्वारा बहुत जगह सूत्रोंके सामान्य शब्दार्थोंका भी स्पष्टीकरण न होता हो उसे भाष्य लिखनामात्र गौरव सूचित करनेके सिवाय और कुछ भी तथ्य नहीं रखता। और सूत्रार्थकी खेंचातानी को जो बात बतलाई जाती है उसका प्रथम तो जवाब यह है कि वह खेंचातानी नहीं; किन्तु भाष्य की भाष्यता है। दूसरे, सूत्रोंको अपने अनुकूल

बनानेकी पद्धतिका अभाव है। अतः श्वेताम्बरभाष्य को प्राचीन सिद्ध करनेके लिये ऐसे पांच (कमज़ोर) हेतु दिये जाते हैं वे इसविषयकी सिद्धिमें बिलकुल ही निकम्मे हैं। हाँ, इस विषयमें कोई प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य होगा तो उसके माननेमें किसको इनकार हो सकता है।

रही विद्वानोंमें परस्पर साहित्यके आदान-प्रदान की बात, उसमें किसीको कोई खास आपत्ति नहीं हो सकता। गुण-ग्रहणादिकी दृष्टिसे ऐसा हुआ करता करता है। परन्तु साहित्यके समयको ठीक निर्णीत न करके शब्द-साम्यके आधारपर यों ही मनोऽनुकूल कल्पना कर लेना और उसके द्वारा पूर्ववर्ती साहित्य को उत्तरवर्ती तथा उत्तरवर्ती साहित्यको पूर्ववर्ती मान लेना भूलसे खाली नहीं है, और इसलिये उसे निरापद नहीं कह सकते। अच्छा होता यदि प्रो० सा० साहित्यके सादृश्यको अधिक महत्व न देकर कुछ पुष्ट एवं असंदिग्ध प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करके बतलाते कि श्वेताम्बर भाष्य उमास्वातिका स्वोपज्ञ है अथवा उसकी रचना राजवार्तिकके पहले हुई है। परन्तु वे ऐसा करनेमें बिल्कुल ही असमर्थ रहे हैं और इसलिये सदृशताके आधारपर उनका वैसा करनेका प्रयत्न करना बिना बुनियादकी दीवार उठाने के समान है।

यह ठीक है कि सम्मतितर्कपर सुमति नामक दिगम्बराचार्यकी वृत्ति लिखी गई है और धवलामें भी सम्मति तर्कका उल्लेख आता है, इसमें अनौचित्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि दिगम्बर परंपरामें सम्मतितर्कके कर्ता सिद्धसेनको श्वेताम्बर नहीं माना है। दूसरे, वे कदाचित् श्वेताम्बर ही समझे जाँय और उनका उल्लेख दिगम्बरोंने किया है तो उन्होंने उसके द्वारा गुणग्राहकताका परिचय ही दिया है। ऐसे उल्लेख या तो उन ग्रन्थकर्ताओंके स्पष्ट नामोल्लेखपूर्वक आते हैं अथवा 'उक्तं च अन्यत्र' आदि संकेत को लिये हुए होते हैं। परन्तु शंकाको साथ लिये हुए समाधानकी इच्छासे किसी अन्य संप्रदायकी बातकी सिद्धिके विषयमें तो कहीं भी कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आये। यदि इस ढाँचेके लेख कहीं देखनेमें नहीं आये हों तो उनको सूचित करना चाहिये। राजवार्तिककारने भाष्यके स्थानपर 'तत्वार्थाधिगम भाष्य' तक तो लिखा नहीं—तथा राजवार्तिमें 'यद्भाष्ये बहु कृत्वः षड्द्रव्याणि इत्युक्तं' इसके स्थानपर 'सर्वं षट्कं षड् द्रव्यावरोधात्—यद्भाष्ये बहु कृत्वः षड् द्रव्याणि इत्युक्तं' ऐसी भी कोई वाक्यरचना की नहीं, तो फिर कैसे समझा जाय कि राजवार्तिकमें श्वेताम्बरभाष्यका संकेत है? ऐसी हालतमें प्रो० सा० ने कुछ शब्दगत साम्यको लेकर श्वे० भाष्यको राजवार्तिकसे पूर्ववर्ती सिद्ध करनेका जो प्रयत्न किया है उसमें भी कुछ सार नहीं है। और इस तरह आप का सारा ही उत्तर-लेख निःसार है।

श्री ऐ० प० दि० जैन }
सरस्वतीभवन, बंबई }

ईसाई मतके प्रचारसे शिक्षा

(लेखक—पं० ताराचंद जैन दर्शनशास्त्री)

भारत एक धर्मप्रधान देश है। इसमें विविध धर्मोंके उपासक निवास करते और अपने अपने उत्कर्ष साधनका प्रयत्न करते आए हैं। भारतके प्राय: सभी धर्मोंको समय समय पर अपने प्रचारकों द्वारा प्रगति करनेका अवसर मिलता रहा है और वे फूलते फलते भी रहे हैं। कितने ही धर्म वाले जो अपने मिशनको आगे बढ़ानेमें अथवा देश कालकी परिस्थितिके अनुसार उसमें समुचित सुधार करनेमें असमर्थ रहे हैं, वे नष्ट प्राय होगये हैं। परन्तु जो धर्म अपने ऊपर आए हुए विविध संकट कालोंकी और परस्परके संघर्षों तथा एक दूसरेको विनष्ट करनेकी कलुषित भावनाओं को जीतकर विजयी हुए हैं, वे अब भी भारतमें अपने अस्तित्वको बराबर बनाये हुए हैं। उनमें प्राचीन कालसे दो धर्मोंका प्रचार और उनकी अविच्छिन्न परम्परा आज भी बनी हुई है, जिनमें जैनधर्म और वैदिकधर्म खास तौरसे उल्लेखनीय हैं।

यद्यपि धर्मके नामपर आजकल अनेक पाखण्ड और विरोधी मत-मतान्तर भी प्रचलित होगये हैं और धर्मके नामपर अधर्मकी पूजा भी होने लगी है, ऐसी स्थितिमें कितने ही लोग जो धर्मके वास्तविक रहस्यसे अनभिज्ञ हैं, धर्मको हेय समझने लगे हैं और उससे अपनेको दूर रखना ही अच्छा समझते हैं। परन्तु धर्मके धारकोंमें जो शिथिलता, अधार्मिकता अथवा विकृति आगई है उसे गलतीसे इनलोगों ने धर्मकी ही विकृति समझ लिया है। वस्तुत: यह विकृति धर्मकी नहीं है। इस विकृतिका कारण स्वार्थ और दम्भ है, जो धर्मतत्वसे अनभिज्ञ और धर्मका कोरा स्वांग भरनेवाले व्यक्तियोंके द्वारा प्रसूत हुई है। धर्म तो वह पदार्थ है जिससे जीवोंका कभी भी अकल्याण नहीं होसकता। धर्मका स्वभाव ही सुख-शान्तिको उत्पन्न करना है। यदि धर्मकी यह महत्ता न होती तो उसे धारण करनेकी ज़रूरत भी न पड़ती और न महापुरुषोंके द्वारा उसके विधिविधानका इतना प्रयत्न ही किया जाता। इससे स्पष्ट है कि धर्मकी महत्तामें तो कोई सन्देह नहीं है, परन्तु उसके अनुयायियोंमें ज़रूर शिथिलता, स्वार्थपरता और संकुचित दृष्टिका प्रसार होगया है, जिसके कारण उसके प्रचारमें भारी कमी आगई है। और यही वजह है जो जैनधर्म जैसे विश्वधर्मके अनुयायियोंकी संख्या करोड़ोंसे घटते घटते लाखोंपर आगई है। परन्तु फिर भी उन्हें उसके प्रचारकी कमी महसूस नहीं होती। वे स्वयं भी उसका आगमानुकूल आचरण नहीं करते और न दूसरोंको ही उसपर अमल करनेका अवसर प्रदान करते हैं, प्रत्युत, उसपर अमल करनेके इच्छुक अपने ही भाइयोंको उससे वंचित रखनेका प्रयत्न किया जाता है इसीसे जैनधर्मके अनुयायियोंकी संख्यामें भारी ह्रास दिखाई पड़ता है। यदि दूसरे धर्म वालोंकी तरह जैनी भी समयकी गति-विधिके अनुसार उदार दृष्टिसे काम लेते और अपने धर्मका प्रचार करते तो जैनधर्मके माननेवालोंकी संख्या भी आज करोड़ों तक पहुंची होती। इतना ही नहीं किन्तु जैनधर्म राष्ट्रधर्मके रूपमें नज़र आता। धार्मिक सिद्धान्तोंका उदार दृष्टिसे प्रचारही उसके अनुयायियोंकी संख्यावृद्धिमें सहायक होता है, प्रचार और उदार व्यवहारमें बड़ी शक्ति है।

इस प्रचार और उदार व्यवहारके कारण ही बौद्धमत, ईसाईमत और इस्लाम मज़हब की दुनियामें भारी तरक्की हुई है और ये सब खूब फले फूले हैं। यहां पर मैं सिर्फ ईसाईमतके प्रचार सम्बन्धमें कुछ कहना चाहता हूं। ईसाई मतके उद्देश्योंके प्रचारमें इसके अनुयायियों द्वारा जैसा कुछ तन, मन और धनसे उद्योग किया गया है और आज भी किया जा रहा है उसके ऊपर दृष्टिपात करनेसे कोई भी आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहेगा। ईसाई मत का मुख्य ग्रंथ है बाइबिल, इसमें महात्मा ईसा (ईसु)के आदेश, उपदेश और शिक्षाएं गूथी गई हैं। दुनियामें बाइबिल अथवा बाइबिलके सिद्धान्तों का जितना प्रचार किया गया है, संसार में शायद उतना अन्य ग्रंथोंका प्रचार नहीं हुआ होगा। सम्भवत: संसारकी सभ्य बोलियोंमें ऐसी कोई भी बोली

न होगी जिसमें बाइबिलका अनुवाद न हुआ हो। यही कारण है कि संसारकी वर्तमान जनसंख्याका एक बहुत बड़ा भाग ईसुमतका अनुयायी पाया जाता है। भारतवर्षमें जबसे अङ्गरेज़ोंकी सल्तनत कायम हुई है तभीसे इंग्लिस्तान और अन्य देशोंके ईसाई इस देशक लोगोंको ईसाई बनानेमें लगे हुए हैं। इसके लिये वे अनेक नीतियां अख्तियार कर रहे हैं। इन लोगोंने इसी लक्ष्यको मद्देनज़र रखकर सारे हिन्दुस्तानमें अस्पताल और मिशन कायम किये हैं और इनमें अरबों रुपये अब तक खर्च किये गये हैं। यह सब इन्होंने व्यर्थ नहीं किया, इससे लाखों हिन्दुस्तानियोंको ईसाई बनाया है और बना रहे हैं। ईसाई बनानेमें सबसे प्रभावक और जबरदस्त प्रयोग बाइबिलका प्रचार है। इस वर्षकी (सन् १९४१–४२) की 'दी इण्डियन इयर बुक' (The Indian Year Book) नामक पुस्तकके ४४३ पृष्ठपर देखनेसे बाइबिलके प्रचारके महाप्रयत्नपर खासा प्रकाश पड़ता है। इस पुस्तकमें बतलाया है कि बाइबिलके प्रचारके लिये भारतवर्षमें छह मण्डल (Auxiliaries) कायम किये गये थे। उनमें सबसे पहले सन् १८११ में कलकत्तामें, दूसरा सन १८१३ में बम्बईमें, तीसरा सन् १८२० में मद्रासमें, चौथा सन् १८४५ में उत्तरीय भारतमें, पांचवां सन् १८६३ में पंजाबमें और षष्ठम सन् १८७५ में बैंगलोरमें स्थापित किया गया। इसके अलावा सन् १८९९ में बर्मामें भी एक मण्डल कायम किया गया था।

ऊपर उद्धृत सातों मण्डलोंने सन् १९४० में करीब एकसौसे भी ज्यादा भारतीय भाषाओंमें १३६३३६७ बाइबिलकी प्रतियां प्रकाशित कर प्रचार किया है। ये मंडल बाइबिलको हरएक पढ़ेलिखे मनुष्यके हाथमें देखना चाहते हैं। बहुत ज्यादा प्रतियां तो मुफ्तमें बांटी जाती हैं और कतिपय लागत मूल्यसे भी कम कीमतमें बेची जाती हैं। मेट्रिक पास होनेपर एक छोटी बाइबिल मुफ्त मिलती है और बी०ए० पास होनेपर बड़ी बाइबिल मुफ्त मिल सकती है।

करीब १३० वर्षसे बाइबिलका इस देशमें प्रगतिके साथ प्रकाशन और प्रचार जारी है। इसके प्रचारका ब्योरा जाननेके लिये 'दी इण्डियन इयर बुक' में प्रकाशित लिस्ट को पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर रहा हूं जिससे पाठक सहज हीमें जान सकेंगे कि ईसाई लोग अपने उसूलोंका प्रचार कितनी तन्मयताके साथ कर रहे हैं:—

नाम मण्डल	१९३३	१९३४	१९३५	१९३६	१९३७	१९३८	१९३९
१–कलकत्ता	२३०६५७	१२२०६४	२१२५५८	२४४७७०	२४४७६२	२३८७४२	२५८३६१
२–बम्बई	२१४५४४	११०८०६	२४३४७४	२१२२७६	२३०५२८	२३२४६४	२४८४०१
३–मद्रास	३०१३६६	२८६५२२	२६४७००	३५२७६६	३२८६८५	३५६६८६	४४४८४८
४–बैंगलोर	२६०७७	२३६१२	३४०८३	३१४१०	४४७०५	३८६२४	४८३७२
५–उत्तरीय भारत	२३६८००	२२२५१२	२३८३६६	१६६८३४	१८७५२०	१८५५६८	२१२३२१
६ पंजाब	६४६०५	७७७८६	६७५६०	८७६६४	६४४६२	१०७८४५	१०६५७०
७–बर्मा	१३४३५७	१०६६२३	११२०७७	१०४८२१	११५२५१	११३६२६	१०४१६०
मीज़ान	१२३८४३६	११४०२५८	१२३२८१८	१२३५८३४	१२५५४४३	१२७०७८८	१३८२०३३

ईसाई धर्मके इस महाप्रचारपरसे यदि जैनधर्मके अनुयायी कुछ शिक्षा ग्रहण करें और धर्मके प्रचारमें भले प्रकारसे संलग्न हो जायें तो संसारमें जैनधर्मके माननेवालोंकी कोई कमी न रहेगी। अभी संसार इसके महोपकारक, मैत्री प्रसारक, स्याद्वादमूलक, अहिंसा और कर्मसिद्धान्त आदि तत्त्वोंको जानता ही नहीं। जो विद्वान् कुछ जानने लगे हैं वे मुक्त कंठसे जैनधर्मकी प्रशंसा कर रहे हैं, जिससे स्पष्ट है कि यदि यह धर्म अधिकांश जनताके परिचयमें लाया जाय और इसके धर्मग्रन्थोंका बाइबिलके समान सर्व साधारणमें प्रचार किया जाय तो इसे जनताका भारी अभिनन्दन प्राप्त होगा इसमें जरा भी संदेह नहीं है। क्यों कि जनताके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेकी खूबी खुद इस धर्ममें मौजूद है, जरूरत है सहज प्रचारकी और प्रचारक समाजके उदार व्यवहारकी। आशा है जैनसमाजके उदार महानुभाव इस ओर विशेष ध्यान देंगे और लोकहित की दृष्टिसे जैनधर्म तथा उसके साहित्यके प्रचारमें अपना कर्तव्य समझते हुए शीघ्र सावधान होंगे।

———

वरांगचरित दिगम्बर है या श्वेताम्बर?

(लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

वरांगचरित एक प्राचीन संस्कृत काव्य है, जो माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईमें प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थका सम्पादन डा० ए० एन० उपाध्याय एम० ए० डी० लिट० कोल्हापुरद्वारा हुआ है, जिन्होंने अपनी महत्वपूर्ण प्रस्तावनामें ग्रन्थ और उसके कर्तृत्वादि विषयपर अच्छा प्रकाश डाला है और उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर ग्रंथके कर्ता जटिल, जटाचार्य अथवा जटासिंहनन्दीको ईसाकी ७ वीं शताब्दीका विद्वान सूचित किया है। यह ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायका प्रसिद्ध है, कितने ही दिगम्बर-ग्रंथकारोंने गौरवके साथ इसका उल्लेख भी किया है। परन्तु श्वेताम्बर मुनि दर्शनविजयजी, जो कुछ अर्से से इस धुनमें लगे हुए हैं कि उत्तमोत्तम दिगम्बर ग्रन्थोंको या तो श्वेताम्बर साहित्यकी नकल बतलाकर अपने उद्विग्न चित्तको शान्त किया जाय और या जैसे भी बने उन्हें श्वेताम्बर घोषित कर दिया जाय, अपने हालके एक लेखमें जो 'महापुराणका उद्गम' नामसे 'श्री जैन सत्यप्रकाश' मासिकके छठे वर्षके अंक ८-९ में मुद्रित हुआ है, यह घोषित करनेके बाद कि "वरांगचरित श्वेताम्बर ग्रंथ है और वह उस समयका श्रेष्ठ संस्कृत ग्रन्थ है, और साथ ही इस ग्रंथ की महत्ता विषयक उन प्रमाणोंको उद्धृत करनेके बाद जिन्हें ए० एन० उपाध्यायने अपनी प्रस्तावनामें दिया है, लिखते हैं—

"इस वरांगचरितको देखकर शोलापुरके पं० जिनदासने प्रश्न उठाया है कि—

जटिल कवि श्वेताम्बर थे या दिगम्बर? वरांगचरितमें हम देखते हैं कि वरदत्त गणधर एक पत्थरके पाटियेपर बैठकर धर्मोपदेश करते हैं। यह दिगम्बर सिद्धान्तके विरुद्ध है। उनके मतानुसार केवली समवसरण या गन्धकुटी में विराजमान रहते हैं। आगे स्वर्ग भी बारह ही बतलाए हैं, जबकि दिगम्बर समुदाय (सम्प्रदाय) में १६ स्वर्ग माने गये हैं।

—जैनदर्शन, वर्ष ४ अंक ६, पृष्ट २४६ का फुटनोट

इसके अलावा वरांगचरित्र, अध्याय १ में १६ (१५) वां श्लोक है कि—

मृत-चालनी[1]-महिष-हंस-शुक-स्वभावा,
मार्जार-कङ्क-मशका-ऽज-जलूक साम्याः।
सच्छिद्रकुम्भ-पशु-सर्प-शिलोपमाना-
स्तेश्रावका भुवि चतुर्दशधा भवन्ति॥१५॥

नन्दीसूत्रमें श्रोताओं (श्रावकों) के लक्षण स्पष्ट करनेके लिये 'सेलघण' इत्यादि दृष्टान्त दिये हैं। प्रत्युत श्लोक ठीक उसीका ही संस्कृत अनुवाद है। इससे भी आचार्य जटिल श्वेताम्बर सिद्ध होते हैं।"

मुनिजीकी इस विचित्र तर्कणापरसे प्रस्तुत वरांगचरितको श्वेताम्बर ग्रन्थ सिद्ध करनेके लिये जो युक्तियां फलित होती हैं वे इस प्रकार हैं:—

(१) चूँकि दिगम्बर पंडित जिनदासने दो बातोंको लेकर इस ग्रन्थ पर संदेहात्मक यह प्रश्न उठाया है कि इसके कर्ता जटिल कवि श्वेताम्बर थे या दिगम्बर? अतः यह श्वेताम्बर ग्रन्थ है।

(२) इस ग्रंथमें वरदत्त केवलीने पत्थरके पाटिये पर बैठकर धर्मोपदेश दिया ऐसा विधान है, जो दिगम्बर मान्यताके विरुद्ध है, इसलिये भी यह श्वेताम्बर ग्रन्थ है।

(३) चूँकि इस ग्रन्थमें बारह स्वर्गोंका उल्लेख है जो दिगम्बरोंकी १६ स्वर्गोंकी मान्यताके विरुद्ध और श्वेताम्बरीय मान्यताके अनुकूल है, इससे भी यह

[1] वरांगचरित्रमें 'सारिणी' पाठ दिया है। नहीं मालूम मुनिजीने उसे यहाँ बदलकर क्यों रक्खा है?

ग्रन्थ श्वेताम्बरीय है।

(४) वरांगचरितका 'मृतचालनी' आदि श्लोक श्वे० नन्दीसूत्रके 'सेलघण' आदि वाक्यका ही ठीक अनुवाद है। इससे भी आचार्य जटिल श्वेताम्बर सिद्ध होते हैं, और इसलिए यह ग्रन्थ श्वेताम्बरीय है।

अब मुनिजीकी इन युक्तियोंपर क्रमशः नीचे विचार किया जाता है:—

(१) पहली युक्ति बड़ी ही विलक्षण जान पड़ती है। किसी दिगम्बर विद्वान ने मालूमात कम होनेके कारण यदि कुछ विषयों परसे उस ग्रन्थके दिगम्बर या श्वेताम्बर होनेका संदेह किया है तो इतने मात्रसे वह ग्रन्थ श्वेताम्बर कैसे हो सकता है? किसीके संदेहमात्र परसे अपने अनुकूल फैसला कर लेना बड़ा ही विचित्र न्याय जान पड़ता है, जिसका किसी भी विचारकके द्वारा समर्थन नहीं हो सकता। पं० जिनदासजीने ग्रंथकी जिन दो बातोंको दिगम्बर मान्यताके विरुद्ध समझा है वे विरुद्ध नहीं हैं, यह बात अगली दो युक्तियोंके विचार परसे स्पष्ट हो जायगी और साथ ही यह भी स्पष्ट हो जायगा कि उन्हें मालूमातकी कमीके कारण ही उक्त भ्रम हुआ है।

(२) वरांगचरित्रके तृतीय सर्गमें जन्तु विवर्जित शिलातलपर बैठकर वरदत्त केवलीके उपदेश देनेका उल्लेख जरूर है, परन्तु इतने मात्रसे वह कथन दिगम्बर मान्यताके विरुद्ध कैसे हो गया? इसे न तो पं० जिनदासने और न उनकी बातको अपनाने वाले मुनिजीने ही कहीं स्पष्ट किया है। ऐसी हालतमें यद्यपि यह युक्ति बिल्कुल ही निर्मूल तथा बलहीन मालूम होती है, फिर भी मैं यहाँ पर इतना और भी बतला देना चाहता हूं कि दिगम्बर मान्यताके अनुसार केवली कई प्रकारके होते हैं* जिनमें एक प्रकार सामान्य केवलीका भी है जो केवलज्ञानी होते हुए भी गन्ध कुटी आदिसे रहित होते हैं†। जटिल कविकी मान्यतामें वरदत्त गणधर सामान्य केवली ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि ग्रन्थमें वरदत्तकी किसी भी बाह्य विभूतिका—समवसरण या गन्ध कुटी आदिका—कहींपर भी कोई उल्लेख नहीं किया गया है। इससे वरदत्त केवलीका शिलापट्टपर बैठकर उपदेश देना दिगम्बर मान्यताके कुछ भी विरुद्ध मालूम नहीं होता और इसलिये उसके आधारपर वरांगचरित्रको श्वेताम्बर बतलाना नितान्त भ्रम-मूलक है।

(३) दिगम्बर सम्प्रदायमें स्वर्गोंकी संख्या-विषयक दो मान्यताएँ उपलब्ध हैं। एक १६ स्वर्गोंकी और दूसरी १२ स्वर्गोंकी। और विवक्षाभेदको लिए हुए ये मान्यताएँ आजकी नहीं, किन्तु बहुत पुरानी हैं। ईसाकी ५वीं शताब्दीमें भी पूर्व होनेवाले दिगम्बर आचार्य यतिवृषभने भी अपने 'तिलोयपण्णत्ती' ग्रंथ में इनका उल्लेख किया है। इतना ही नहीं किन्तु स्वयं १२ स्वर्गोंकी मान्यताका अधिक मान देते हुए 'मण्णंते केइ आयरिया' इस वाक्यके साथ सोलह स्वर्गोंकी दूसरी मान्यताका भी उल्लेख किया है, जिससे स्पष्ट है कि ये दोनों ही दिगम्बर मान्यताएँ रही हैं। वे उल्लेख इस प्रकार हैं:—

> सोहम्मीसाण सणक्कुमार माहिंद बह्म लंतवया।
> महसुक्क सहस्सारा आणद पाणदए आरणच्चुदया॥
> एवं बारस कप्पा................। अधिकार ७ वां
> "सोहम्मो ईसाणो सणक्कुमारो तहेव माहिंदो।
> बह्मा-बह्मुत्तरयं लंतव-कापिट्ठ-सुक्कमह-सुक्का॥
> सदर-सहस्साराणदपाणद-आरणाय अच्चुदया।
> इय सोलस कप्पाणि मण्णंते केइ आयरिया॥
> —अधिकार ७

बारह और सोलह स्वर्गोंकी इन दो मान्यताओं में इन्द्रों और उनके अधिकृत प्रदेशोंके कारण जो विवक्षा-भेद है उसका स्पष्टीकरण 'त्रिलोकसार' की निम्न तीन गाथाओंसे भले प्रकार हो जाता है:—

*अरहंतदेव (केवली) तो सात प्रकारके हैं:—पंच-कल्याणयुक्त तीर्थंकर, तीन कल्याण संयुक्त तीर्थंकर, दो कल्याण संयुक्त तीर्थंकर, सातिशय केवली, सामान्यकेवली, अन्तकृत केवली, उपसर्ग केवली। —सत्तास्वरूप पृष्ठ २५

†देखो पं० भाग चंदकृत सत्तास्वरूप पृष्ठ २६

सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदगा हु कप्पा हु ।
बम्हबम्हुत्तरगो लांतव कापिट्ठगो छट्ठो ॥ ४५२ ॥
सुक्कमहासुक्कगदो सदर-सहस्सारगो दु तत्तो दु ।
आणद पाणद-आरण-अच्चुदया होंति कप्पा हु ॥४५३॥
मज्झिम-चउ जुगलाणं पुव्वावर जुम्मगेसु सेसेसु ।
सव्वत्थ होंति इंदा इदि बारस होंति कप्पा हु ॥४५४॥

इन गाथाओंमें स्वर्गोंके नाम निर्देशपूर्वक बतलाया है कि—सोलह स्वर्गों से प्रथम चार और अन्तके चार स्वर्गोंमें तो अलग अलग इन्द्र हैं, इससे आठ कल्प (स्वर्ग) तो ये हुए, शेष मध्यके चार युगल(८) स्वर्गोंमें प्रत्येक युगल स्वर्गका एक-एक इन्द्र है और इससे उन-स्वर्गोंकी चार कल्पोंमें परिगणना है, इस तरह कल्प अथवा स्वर्ग बारह होते हैं । ऐसी हालतमें बारह स्वर्गोंकी मान्यताको दिगम्बर मान्यताके विरुद्ध बतलाना कितना अज्ञानमूलक है और उसे हेतुरूपमें प्रयुक्त करके अनुचितरूपसे एक ग्रन्थको अपने संप्रदायका बतानेका प्रयत्न करना कितने अधिक दुःसाहस तथा व्यामोहका निदर्शक है, इसे बतलानेकी जरूरत नहीं रहती ।

(४) अब रही नन्दीसूत्रसे श्रोताओंके दृष्टांत लेने और उसकी गाथाका ठीक अनुवाद करनेकी बात, इसमें भी कुछ तथ्य मालूम नहीं होता । प्रथम तो श्रीधरसेनाचार्यने, जिनका समय वर्तमान नन्दीसूत्रके रचनाकालसे शताब्दियों पहले का है, 'कम्मपयडी पाहुड' का ज्ञान दूसरोंको देनेके अवसरपर जिन दो गाथाओंका चिन्तन किया था उनमें भी 'सेलघण' आदि रूपसे अपात्र-श्रोताओंका उल्लेख पाया जाता है । यथा :—

सेलघण'भग्गघट-अहि-चालिणी-महिसाऽवि जाहय-सुएहि ।
मट्टिय-मसय-समाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥ ६२ ॥
दढ-गारव-पडिबद्धो विसयामिस विस-वसेण घुम्मंतो ।
सो भट्ट-बोहि-लाहो भमइ चिरं भववणे मूढो ॥ ६३ ॥

दूसरे श्वेताम्बरीय नन्दीसूत्रके 'सेलघण' आदि जिस वाक्यमे (पात्र-अपात्र रूपसे) १४ श्रोताओंके दृष्टान्त बतलाये जाते हैं वह इस प्रकार है—

सेलघण कुडग चालिणि परिपूणग हंस महिस मेसे य ।
मसक जलूग बिराली जाहग गो भेरी आभीरी ॥ ४४ ॥

और वरांगचरितके जिस पद्यको इस गाथावाक्य का ठीक अनुवाद कहा जाता है वह अपने असली रूपमें निम्न प्रकार है :—

मृत्सारिणीमहिषहंसशुकस्वभावाः
मार्जारकङ्कमशकाऽजजलूकसाम्याः ।
सच्छिद्रकुम्भपशुसर्पशिलोपमाना-
स्ते श्रावका भुवि चतुर्दशधा भवन्ति ॥१५॥

नन्दीसूत्र और वरांगचरितके इन दोनों वाक्यों की तुलना करनेपर साधारणसे साधारण पाठक भी यह नहीं कह सकता कि वरांगचरितका श्लोक नन्दीसूत्रकी गाथाका ही अनुवाद है । ठीक अनुवादकी बात तो दूर रही, एक दूसरेका विषय भी पूर्णतया मिलता-जुलता नहीं है। नन्दीसूत्रमें परिपूणग, जाहक, भेरी और आभीरी नामके जिन चार श्रोताओंका उल्लेख है वे वरांगचरितमें नहीं पाये जाते; और वरांगचरितमें मृत्तिका, शुक, कङ्क और सर्प नामके जिन चार श्रावकों (श्रोताओं) का उल्लेख है वे नन्दीसूत्रमें उपलब्ध नहीं होते। ऐसी हालतमें वरांगचरित के उक्त पद्यको नन्दीसूत्रकी गाथाका ही अनुवाद बतलाना मुनिजीका अति साहस और उनके मुनिपद के सर्वथा विरुद्ध है । इस प्रकारकी असत्प्रवृत्तियों द्वारा सत्यपर पर्दा नहीं डाला जा सकता । यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि वरांगचरित्र

वर्णित मृत्तिका, शुक और सर्प नामके तीन श्रोताओं का उल्लेख उन अपात्र-श्रोताओंकी सूचक गाथामें भी पाया जाता है जिसका चिन्तन धरसेनाचार्यने किया था और जिसको ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। और इससे स्पष्ट है कि जटिल मुनिने इस विषयमें प्राचीन दिगम्बर परम्पराको ही अपनाया है—श्वेताम्बर परम्पराको नहीं।

ऊपरके इस सम्पूर्ण विवेचनपरसे स्पष्ट है कि मुनि दर्शनविजयजीने जिन युक्तियोंके आधारपर प्रकृतग्रन्थको श्वेताम्बर सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है उनमें कुछ भी तथ्य अथवा सार नहीं है और इस लिये उनके बलपर इस ग्रन्थको किसी तरह भी श्वेताम्बर नहीं कहा जा सकता—वैसा कहना निरा हास्यास्पद है।

अब मैं इस ग्रंथकी कुछ ऐसी विशेषताओंका थोड़ासा दिग्दर्शन करा देना चाहता हूँ जिनके बलपर यह भले प्रकार कहा जा सकता है कि प्रस्तुत वरांगचरित श्वेताम्बर ग्रन्थ न होकर एक दिगम्बर ग्रंथ है:—

(१) वरांगचरितके १५वें सर्गमें ग्रन्थकर्ताने, श्रावकोंके १२ व्रतोंका निर्देश करते हुए, शिक्षाव्रतके चार भेदोंमें सल्लेखनाको चतुर्थ शिक्षाव्रतके रूपमें निर्दिष्ट किया है; जैसा कि उसके निम्न पद्योंसे प्रकट है:—

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥१२२॥

मासे चत्वारि पर्वाणि तान्युपोष्याणि यत्नतः।
मनोवाक्कायसंगुप्त्या स प्रोषधविधिः स्मृतः ॥१२३॥

चतुर्विधो वराहारः संयतेभ्यः प्रदीयते।
श्रद्धादिगुणसंपत्त्या तत्स्यादतिथिपूजनम् ॥१२४॥

बाह्याभ्यन्तरनैःसंग्याद्गृहीत्वा तु महाव्रतम्।
मरणान्ते तनुत्यागः सल्लेखः स प्रकीर्त्यते ॥१२५॥

सल्लेखनाकी चतुर्थ शिक्षाव्रतके रूपमें जो एक मान्यता है वह दिगम्बर सम्प्रदायकी है, जिसका सबसे पुराना विधान आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्तपाहुडकी निम्न गाथामें पाया जाता है:—

सामाइयं च पढमं विदियं च तेहव पोसहं भणियं।
तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥२६॥

यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदायको इष्ट नहीं है। उनके उपलब्ध आगम-साहित्यमें भी वह नहीं पाई जाती, जैसा कि मुनि पुण्यविजयजीके एक पत्रके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

"श्वेताम्बर आगममें कहीं भी १२ बारह व्रतोंमें सल्लेखनाका समावेश शिक्षाव्रतके रूपमें नहीं किया गया है।"

(२) वरांगचरितके २५वें सर्गमें आप्तके जिन १८ दोषोंका अभाव बतलाया है उनमें क्षुधा, तृषा, जन्म, मरण, जरा (बुढ़ापा) व्याधि, विस्मय और स्वेद (पसीना) नामके दोषोंको भी शामिल किया है, जिन का केवलीके अभाव होना दिगम्बर सम्प्रदाय—सम्मत है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय—सम्मत नहीं। इस कथनके द्योतक पद्य निम्न प्रकार हैं:—

निद्राश्रमक्लेशविषादचिन्ताक्षुत्तृड्जराव्याधिभयैर्विहीनाः।
अविस्मयाः स्वेदमलैरपेता आप्ता भवन्त्यप्रतिमस्वभावाः ॥८७॥

द्वेषश्च रागश्च विमूढता च दोषाशयास्ते जगति प्ररूढाः।
न सन्ति तेषां गतकल्मषाणां तानर्हतस्त्वाप्ततमा वदन्ति ॥८८॥

इन पद्योंमें निर्दिष्ट १८ दोषोंकी मान्यतासे यह स्पष्ट जाना जाता है कि ग्रंथकर्ता जटिलमुनि दिगम्बर सम्प्रदायके थे। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें

१८ दोषोंकी जो दो मान्यताएँ हैं उनमेंसे किसीमें भी क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, व्याधि, विस्मय और स्वेद नामक दोषोंको शामिल नहीं किया गया है। जैसा कि श्वेताम्बरीय 'लोक-प्रकाश' ग्रन्थके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

"अन्तरायाः दान१ लाभ२ वीर्य३ भोगो४पभोगाः५ ।
हासो६रत्य७ रती८ भीति९ जुगुप्सा१० शोक एव च ॥
कामो१२ मिथ्यात्व१३ मज्ञानं१४ निद्रा१५ चाविरति१६स्तथा।
रागो१७ द्वेषश्च१८ नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी ॥"

"हिंसा१ ऽलीक२ मदत्तं च३ क्रीडा४ हास्या५ रती६ रतिः७ ।
शोका८भयं९क्रोध१०मानं११माया१२लोभा१३स्तथा मदः१४।
स्युः प्रेम१५ मत्सरा१६ ऽज्ञान१७ निद्रा१८ अष्टादशेत्यमी ॥"

यदि मुनिजी क्षुधादि दोषोंके अभाव रूप इस दिगम्बर सम्प्रदाय—सम्मत विशिष्ट कथनके रहते हुए भी प्रकृत ग्रन्थको श्वेताम्बर घोषित करनेका आग्रह करते हैं तो इससे उन्हें केवलीके कवलाहारका अभाव भी मानना पड़ेगा, जो कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके विरुद्ध है। और इस तरह उन्हें इस ग्रन्थके अपनानेमें लेने के देने पड़ जायँगे।

(३) वरांगचरितके २९ वें सर्गके कुछ पद्योंमें राजा वरांगकी जिनदीक्षाका वर्णन दिया है और बतलाया है कि उस विशालबुद्धि राजाने, धर्मतत्त्वको सुनकर बाह्य और आभ्यन्तर उभय परिग्रहोंका परित्यागकर, अन्य विषयी जीवोंके द्वारा अशक्य ऐसे जातरूपका—दिगम्बर मुद्राको—धारण किया। वे पद्य इस प्रकार हैं :—

विशालबुद्धिः श्रुतधर्मतत्त्वः प्रशान्तरागः स्थिरधीः प्रकृत्या ।
तत्याज निर्माल्यमिवात्मराज्यमन्तः पुरं नाटकमर्थसारम् ॥८५॥
विभूषणाच्छादनवाहनानि पुराकरग्राममडम्बखेडैः ।
आजीविताम्तात्प्रजहौ स बाह्यमभ्यन्तरांस्तांश्च परिग्रहाद्यान् ॥८६
अपास्य मिथ्यात्वकषायदोषान्प्रकृत्य क्षोभं स्वयमेव तत्र ।
जग्राह धीमानथ जातरूपमन्यैरशक्यं विषयेषु लोलैः ॥८७॥

इसके सिवाय ग्रन्थकारने इसी ग्रन्थके ३० वें सर्गमें वरांगके तपश्चरण और विहार आदिका वर्णन करते हुए वरांगमुनि और उनके साथी मुनियोंको स्पष्टतया 'दिगम्बर' घोषित किया है। यथा:—

विगूलतावेष्टन भूषिताङ्गाः प्रशान्त रागास्युपभोगशाङ्गाः ।
हेमन्तकाले धृतिबद्धकक्षा दिगम्बरा ह्यभ्रवकाशयोगाः ॥

विशेषताओंके इस दिग्दर्शनपरसे जब यहाँ तक भी स्पष्ट है कि कथानायक वरांगराजा दिगम्बर था और उसने तथा उसके साथी राजादिकोंने भी दिगम्बर दीक्षा ली थी, तब इस ग्रन्थके दिगम्बर ग्रन्थ होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता। और इस लिये मुनि दर्शनविजयजीने इसे श्वेताम्बर घोषित करनेकी जो चेष्टा की है वह उनकी दुश्चेष्टामात्र है। उनकी युक्तियोंमें कोई दम नहीं—वे सर्वथा निःसार हैं, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। ऐसी हालतमें इस ग्रन्थको दिगम्बर ग्रन्थ बतलाना सर्वथा युक्ति-युक्त जान पड़ता है। यहाँ पाठकोंको यह जान कर आश्चर्य होगा कि ऐसे ही प्रयत्नोंद्वारा मुनि दर्शनविजयजी भगवज्जिनसेनके महापुराणको श्वेताम्बर साहित्यकी सरासरी नकल सिद्ध करना चाहते हैं !!

—वीर सेवामंदिर सरसावा, ता० २६—१—१९४२

साहित्य-परिचय और समालोचन

न्यायकुमुदचन्द्र प्रथमभाग, द्वितीयभाग—लेखक प्रभाचन्द्राचार्य सम्पादक, पं० महेन्द्रकुमारजी जैन न्याय-शास्त्री, बनारस प्रकाशक, पं० नाथूराम प्रेमी, मंत्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई। बड़ा साइज़ पृष्ठसंख्या प्र० भा० ६०२ द्वि० भा० ६४०। मूल्य, सजिल्द प्रतिका क्रमशः ८) ८॥) रु०।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपने नामानुसार न्यायतत्त्वरूपी कुमुदोंको विकसित करनेके लिये चन्द्रमाके समान है। ग्रन्थकार प्रभाचन्द्रने, जो कि एक बहुश्रुत विद्वान थे, अकलंकदेवके लघीस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञ वृत्तिका यह बृहत् भाष्य किया है। इसमें अनेकान्त दृष्टिके द्वारा विविध दार्शनिकोंके मन्तव्योंकी गहरी आलोचना की गई है। साथ ही, जैनदर्शनकी मान्य तात्त्वोंको अबाधित एवं निर्दोष सिद्ध किया गया है। यह ग्रन्थ न्यायशास्त्रके जिज्ञासुओंके लिये बहुत उपयोगी है।

इस ग्रन्थके प्रथम भागकी प्रस्तावनाके लेखक हैं पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री। आपने अपनी १२६ पृष्ठकी प्रस्तावना में अकलंकदेवके समय तथा कर्तृत्वादिके विषयमें अच्छा अनुसन्धान किया है और उपलब्ध प्रमाणोंके आधारपर अकलंकदेवका समय विक्रमकी ७ वीं शताब्दी ही निश्चित किया है। अकलंकदेव और उनके सम-सामयिक विद्वानोंका भी संक्षिप्त परिचय दिया है। अकलंकदेवके ग्रन्थोंका परिचय और दूसरे दर्शनोंके ग्रंथोंसे उनकी तुलना भी की है। इसके सिवाय, न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्रके समयादिकपर भी कितना ही प्रकाश डाला है आपके विचारसे प्रभाचन्द्र का अस्तित्व समय ई० सन् ९५० से १०२० का मध्यवर्तीकाल है। यद्यपि इस समय सम्बन्धी निर्धारणामें अभी कुछ मत-भेद पाया जाता है फिर भी प्रस्तावना विद्वत्तापूर्ण है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है और वह ऐतिहासिक विद्वानों को विचारकी बहुत कुछ सामग्री प्रस्तुत करती है जिसके लिये विद्वान लेखक धन्यवादके पात्र हैं।

द्वितीयभागकी प्रस्तावनाके लेखक हैं न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री जो कि इस समूचे ग्रन्थके सम्पादक हैं। आपने ग्रन्थका सम्पादन बड़े ही परिश्रमके साथ किया है और आप उसे आठ वर्षमें सम्पन्न कर पाये हैं। आपने मूलग्रन्थके नीचे तुलनात्मक टिप्पणियां भी दी हैं, जिनसे अध्ययन करने वालोंके ज्ञानका कितना ही विस्तार होता है। परन्तु इस टिप्पण कार्यमें कहीं कहीं इस बातका कम ध्यान रक्खा गया मालूम होता है कि वे टिप्पणी वाक्य किस मूल-ग्रन्थके हैं। उदाहरणके तौरपर प्रथमभाग पृष्ठ ३ की दूसरी पंक्तिमें 'जीवादिवस्तुनो यथावस्थित स्वभावो वा' वाक्यके टिप्पणमें 'धम्मो वत्थुसहावो खमादि भावो य दसविहो धम्मो। चारित्त खलु धम्मो जीवाणं रक्खणो धम्मो' ॥ इस गाथाको षट् प्राभृत टीकामें उक्तं च रूपसे उद्धृत बतलाया है परंतु वह मूलमें किस ग्रन्थकी है इसे नहीं बतलाया गया। जबकि बतलाना यह चाहिये था कि वह स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ४७६ नं० की गाथा है।

द्वितीयभागके सम्पादनकी खास विशेषता यह है कि उसमें विषयानुक्रमके अतिरिक्त १२ उपयोगी परिशिष्ट लगाये गये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१ लघीयस्त्रयके कारिकार्धका अकाराद्यनुक्रम। २ लघीयस्त्रय और उसकी स्वविवृत्तिमें आए हुए अवतरण वाक्योंकी सूची, ३ लघीयस्त्रय और स्वविवृतिके विशेष शब्दोंकी सूची, ४ लघीयस्त्रयकी कारिकाएं अथवा विवृतिके अंश जिन दि० श्वे० आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत किये हैं या उन्हें अपने ग्रन्थोंमें शामिल किया है उन आचार्योंके ग्रन्थोंकी सूची। ५ न्यायकुमुदचन्द्रमें आए हुए ग्रन्थान्तरोंके अवतरणोंकी सूची। ६ न्याय कुमुदचन्द्र गत उपयुक्त न्यायोंकी सूची। ७ न्यायकुमुदचन्द्रगत प्रा० ऐतिहासिक पुरुषोंके नाम तथा भौगोलिक शब्दोंकी सूची। ८ न्यायकुमुदचन्द्रमें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंकी सूची। ९ न्यायकुमुदचन्द्रगत लाक्षणिक शब्दोंकी सूची, १० न्यायकुमुदचन्द्रके कुछ विशिष्ट शब्द। ११ न्यायकुमुदचन्द्रके दार्शनिक शब्दों की सूची। १२ टिप्पणीमें तथा मूल ग्रन्थमें आये हुए

अवतरणोंके मूलस्थल निर्देशक ग्रन्थ संस्करणों आदिका परिचय।

इन बारह परिशिष्टोंके लगानेसे ग्रन्थकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। द्वितीयभागकी प्रस्तावनामें प्रभाचन्द्रके समय सम्बन्धमें और भी कितना ही प्रकाश डाला गया है। तथा प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् ६८० से १०६५ तकका सूचित किया है, जो पं० कैलाशचंद्रजीके समय निर्णयमें एक तरफ ३० वर्ष और दूसरी तरफ ४५ वर्ष पश्चात्के समयको लिये हुए हैं। अभी इस विषयमें और भी अन्तिम निर्णय होना अवशिष्ट है ऐसा जान पड़ता है।

द्वितीय भागके शुरुमें 'प्रकाशककी ओरसे' इस शीर्षकके नीचे ग्रन्थमालाके मंत्री पं० नाथूरामजी प्रेमीने न्यायकुमुदके कर्ताको उन सभी टीका टिप्पणग्रन्थोंका कर्ता बतलाया है जिनका निर्देश ग्रन्थ सूचियोंमें पाया जाता है। जो ठीक नहीं है। कुछ टीका ग्रन्थ तो अपने भाषा साहित्यादिपरसे इन प्रभाचन्द्रके प्रनीत नहीं होते—वे किसी दूसरे ही प्रभाचन्द्रके जान पड़ते हैं। इस विषयमें विशेष अनुसंधानकी जरूरत है।

द्वितीयभागकी प्रस्तावनामें कुछ बातें आपत्तिके योग्य भी है जैसे कि स्वामी समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका विद्वान बतलाना, परन्तु वे स्वतंत्र लेखद्वारा आलोचनाका विषय हैं। अत: उनकी चर्चाको यहाँपर छोड़ा जाता है। अस्तु ग्रन्थकी छपाई, सफाई और कागज सब उत्तम है। ग्रन्थके इस उत्तम संस्करणके लिये सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं। समाजको चाहिये कि ऐसे उपयोगी महत्वके ग्रन्थोंको खरीदकर मन्दिरों, शास्त्रभंडारों तथा लायब्रेरियोंमें विराजमान करें जिससे ग्रन्थमालाके संचालकोंको प्रोत्साहन मिले और वे दूसरे महत्वके ग्रन्थोंके प्रकाशनमें समर्थ हो सकें।

सावयधम्मदोहा (हिन्दी अनुवाद सहित)—मू० ले०, आचार्य देवसेन। अनुवादक और सम्पादक, प्रो० हीरालाल जैन एम० ए० अमरावती। प्रकाशनस्थान, गोपालदास अम्बादास चवरे जैनपब्लीकेशन सोसाइटी, कारंजा (बरार)। पृष्ठ संख्या १६२, मूल्य सजिल्द प्रतिका २।।) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ कारंजासीरीजमें नं० २ पर प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय उसके नामसे ही स्पष्ट है। इस ग्रन्थमें २२४ दोहोंमें गृहस्थ धर्मकी आवश्यक क्रियाओंका विधान किया गया है। ग्रंथकी प्रस्तावना अनुसंधानपूर्वक लिखी गई है। और ग्रंथके कर्तृत्व आदिके विषयमें अच्छा प्रकाश डाला गया है। प्रस्तावनामें ग्रन्थकी भाषा और व्याकरणका भी अच्छा परिचय कराया गया है। टिप्पणी, शब्दकोष और दोहानुक्रम देनेसे ग्रंथकी उपयोगिता बढ़ गई है। श्रावकधर्मके अभ्यासियोंके लिये यह ग्रंथ उपयोगी है मूल्य कुछ अधिक है।

पाहुड दोहा (हिंदी अनुवाद सहित)—मूल लेखक, मुनी रामसिंह। अनुवादक और सम्पादक प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० अमरावती। प्रकाशक, गोपालदास अंबादास चवरे जैन पब्लीकेशन सोसाइटी कारंजा (बरार) पृष्ठ संख्या १७२। मूल्य, सजिल्द प्रति २।।) रुपया।

प्रस्तुत ग्रंथ अध्यात्मरससे परिपूर्ण है। ग्रंथकर्ताने २२२ दोहोंमें अध्यात्म तत्त्वका हृदयग्राही वर्णन दिया है। और प्रत्येक दोहेमें मानसिक दुर्बलताओं और उनसे छुटकारा पानेके उपायोंका चित्रण करते हुए आत्मज्ञानपूर्वक आत्म संयमके अभ्यासकी प्रेरणा है। इस ग्रंथपर मुग्ध होकर आचार्य क्षितिमोहनसेनने 'जैनधर्मकी देन' शीर्षक अपने लेखमें इस ग्रंथके कुछ दोहोंका परिचय कराते हुए जो गुणकीर्तन किया है उसपरसे इस ग्रंथकी महत्ता भले प्रकार स्पष्ट है। पाठक उस लेखको अनेकान्तकी गतकिरण नं० १० में देख सकते हैं। ग्रन्थकी एक विशेषता गूढ़वादके रहस्यको समझानेकी भी है, जिसका कितने ही दोहोंमें वर्णन दिया हुआ है। इसको समझनेके लिये कुछ तांत्रिक ग्रंथोंके अभ्यासकी आवश्यकता है—बिना तांत्रिक ग्रन्थोंके अभ्यास के यह विषय सरलतासे समझमें नहीं आसकता। सम्पादक जीने प्रस्तावनामें ग्रंथकी विशेषताओंका संक्षिप्त परिचय करा दिया है। मूल दोहोंके हिन्दी अनुवादके साथ, प्रस्तावना, शब्दकोष और टिप्पणी देकर ग्रंथको सर्वसाधारणके उपयोगी बना दिया है। इसके लिये सम्पादक महोदय धन्यवादके पात्र हैं। इस ग्रंथका मूल्य भी अधिक रक्खा गया है।

हिन्दी बृहत्स्वयंभूस्तोत्र—लेखक दीपचंद पाण्ड्या। प्रकाशक अर्हत्प्रवचन साहित्यमंदिर केकड़ी (अजमेर)। पृष्ठसंख्या, ४०। मूल्य, तीन आने।

प्रस्तुत पुस्तक आचार्य समन्तभद्रके सुप्रसिद्ध बृहत्स्वयम्भू-स्तोत्रका हिन्दी पद्यानुवाद है। पद्यानुवाद अनेक छन्दों में किया गया है। अनुवादके विषयमें स्वयं अनुवादकने भूमिकामें यह सूचित किया है कि—"इस पद्यानुवादको सुपाठ्य बनानेकी ओर मेरा खास प्रयत्न रहा है, अतएव स्वच्छंदतासे काफी काम लिया गया है; फिर भी मूलग्रंथके भावकी उपेक्षा नहीं की गई है।" और यह अनुवादपरसे ठीक जान पड़ता है। परंतु इतना होने पर भी अनुवादमें क्लिष्टता-कठिनता आगई है और न्यायविषक कुछ स्तुतियाँ दुरूह बन गई हैं, जिसे अनुवादकजीको अपनी भूमिकामें स्वीकार करना पड़ा है। इसका प्रधान कारण एक एक पद्यका एक एक ही पद्यमें अनुवाद करने का मोह जान पड़ता है। अच्छा होता यदि एक एक पद्यका अनुवाद कई कई पद्योंमें किया जाता और इस तरह मूलके भावको भले प्रकार स्पष्ट करनेकी चेष्टा की जाती, अथवा स्वच्छंदतासे काम न लेकर मूलकी स्पिरिटके अनुसार ही उसे सूत्ररूपमें लानेका प्रयत्न किया जाता, जिससे वह संस्कृतकी तरह हिन्दीका सूत्रपाठ हो जाता। वास्तवमें समन्तभद्रकी मूलकृति बहुत गूढ़ तथा गंभीर अर्थको लिये हुए है और उसका मर्म एक पद्यका एक पद्यमें ही अनुवाद करनेसे खुल नहीं सकता। फिर भी यह अनुवाद ब्र० शीतलप्रसादजीके पद्यानुवादसे बहुत अच्छा हुआ है और इसमें अनुवादगत कठिन शब्दोंका टिप्पणियों द्वारा अर्थ भी देदिया गया है, जिससे मूलके भाव को समझनेमें कुछ सरलता हो सके। पाण्ड्याजीका यह सब प्रयत्न प्रशंसनीय है और मूल स्तोत्रके प्रति उनकी भक्तिका परिचायक है। इसके साथमें संस्कृतका मूलपाठ भी यदि देदिया जाता तो अच्छा होता, जिसे कुछ अज्ञात कारणोंके वश आप नहीं देसके हैं। पुस्तक उपयोगी तथा संग्रहणीय है और उसकी छपाई सफाई भी सुन्दर हुई है।

—परमानंद जैन शास्त्री

विलम्बका कारण

प्रेस कर्मचारियोंकी बीमारी आदि कुछ कारणोंके वश अबकी बार 'अनेकान्त' की इस किरण के प्रकाशन में आशातीत विलम्ब हो गया है, जिसका हमें खेद है! पाठकोंको प्रतीक्षाजन्य जो कष्ट उठाना पड़ा है उसके लिए हम उनसे क्षमाप्रार्थी हैं। इस विलम्बके कारण ही यह किरण संयुक्तरूपमें निकाली जा रही है; परन्तु इससे पाठक अपनेको कुछ अलाभमें न समझें, क्योंकि ६ फार्म (४८ पेज) प्रति किरणका संकल्प करके भी 'अनेकान्त' उन्हें इस वर्ष ५६ पेज अधिक दे रहा है। फिर भी आगे इसका खयाल रक्खा जावेगा और 'अनेकान्त' को ठीक समयपर पहुँचानेका भरसक प्रयत्न किया जावेगा।

—प्रकाशक

सम्पादकीय

१ अनेकान्तकी वर्ष समाप्ति—

इस किरणके साथ 'अनेकान्तका' चौथा वर्ष समाप्त हो रहा है। इस वर्षमें अनेकान्तने अपने पाठकोंकी कितनी सेवा की, कितने नये उपयोगी साहित्यकी सृष्टि की, कितनी नई खोजें उपस्थित कीं, क्या कुछ विचार-जागृति उत्पन्न की और व्यर्थके सामाजिक झगड़े-टंटोंसे यह कितना अलग रह कर ठोस सेवा कार्य करता रहा, इन सब बातोंको बतलानेकी जरूरत नहीं—विज्ञ पाठकोंसे ये छिपी नहीं हैं। यहाँपर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि कुछ वर्षोंके अन्तरालके बाद अनेकान्तके दूसरे वर्षका प्रारम्भ करते हुए, मैंने यह संकल्प किया था कि अब इसे कमसे कम तीन वर्ष तो लगातार जरूर चलाया जाय; मेरा वह संकल्प आज पूर्ण हो रहा है, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता है। साथ ही, यह देख कर और भी प्रसन्नता है कि अनेकान्त जनता के हृदयमें अपना अच्छा स्थान बनाता हुआ, पूर्ण उत्साह के साथ पाँचवें वर्षमें कदम बढ़ानेके लिये कृतनिश्चय और बद्धपरिकर है। इसका सारा श्रेय अनेकान्तके सहायकों, सुलेखकों और प्रेमी पाठकोंको है। तृतीय वर्षकी १२ वीं किरण (पृ० ६६६) में प्रकाशित 'मेरी आन्तरिक इच्छा' और चतुर्थ वर्षके नववर्षाङ्क (पृ० ३६) में दिये हुए मेरे 'आवश्यक निवेदन' पर ध्यान देते हुए जिन सज्जनोंने अनेकांतके सहायक बनकर तथा सहायता भेजकर मुझे प्रोत्साहित किया है उन सबका मैं हृदयसे आभारी हूँ। यहाँ उन सहायक महानुभावोंके नाम देनेकी जरूरत नहीं जिनके नाम प्रत्येक किरणमें प्रकाशित हो रहे हैं अथवा समय समयपर उनकी आर्थिक सहायताके साथ प्रकाशित होते रहे हैं। यहाँ पर तो उन महानुभावोंके नाम खास तौर से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने अनेकान्तके नये ग्राहक ही नहीं किन्तु सहायक तक बनानेका स्तुत्य प्रयत्न किया है, और वे हैं बाबू छोटेलालजी जैन रईस कलकत्ता, तथा श्री दौलतरामजी 'मित्र', इंदौर। ये दोनों ही सज्जन खास तौरसे धन्यवादके पात्र हैं। और भी जिन सज्जनोंने इस दिशामें थोड़ा बहुत प्रयत्न किया है वे सब भी धन्यवादके पात्र हैं।

इसके सिवाय, जिन लेखकोंने महत्वके लेखोंद्वारा अनेकान्तकी सेवा की है और उसे इतना उन्नत, उपादेय तथा स्पृहणीय बनानेमें मेरा हाथ बटाया है तथा जिनके सहयोग के बिना मैं प्राय: कुछ भी नहीं कर सकता था, उन सबको धन्यवाद दिये बिना भी मैं नहीं रह सकता। इन सज्जनोंमें पं० नाथूरामजी प्रेमी, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, बा० जयभगवानजी वकील, बा० अजितप्रसादजी एडवोकेट, बा० अगरचंदजी नाहटा, श्री भगवत्स्वरूपजी, 'भगवत्', बा० कामताप्रसादजी, श्रीदौलतरामजी 'मित्र', पं० सुमेरचंदजी दिवाकर, पं० परमानंदजी शास्त्री, पं० रामप्रसादजी शास्त्री, पं० चंद्रशेखरजी शास्त्री, मुनि श्रीकांतिसागरजी, पं० काशीराम जी शर्मा 'प्रफुल्लित', पं० धरणीधरजी शास्त्री, न्यायाचार्य महेन्द्रकुमारजी, पं० न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया, पं० फूलचंदजी शास्त्री, पं० दीपचंदजी पाँड्या और विदुषी ललिताकुमारी पाटणीके नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। इनमें भी कवि श्रीभगवत्स्वरूपजी 'भगवत्' का मैं खासतौरसे आभारी हूं, जिन्होंने बिला नागा अनेकान्तकी प्रत्येक किरण में अपनी शिक्षाप्रद कहानी और कविता भेजकर उसे भूषित किया है और जिनकी कहानियाँ तथा कविताएँ पाठकोंको अच्छी रुचिकर जान पड़ी हैं। आशा है ये सब सज्जन आगेको और भी अधिक तत्परताके साथ अनेकान्तको अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करनेमें सावधान रहेंगे, और दूसरे सुलेखक भी आपका अनुकरण करते हुए उसे अपनी बहुमूल्य सेवाएँ अर्पण करेंगे।

इस वर्षके सम्पादन-कार्यमें मुझसे जो भूलें हुई हों अथवा सम्पादकीय-कर्तव्यके अनुरोध-वश किये गये मेरे किसी भी कार्य-व्यवहारसे या टीका-टिप्पणीसे किसी भाईको कुछ कष्ट पहुँचा हो तो उसके लिये मैं हृदयसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। क्योंकि मेरा लक्ष्य जानबूझकर किसीको भी व्यर्थ कष्ट पहुँचानेका नहीं रहा है और न सम्पादकीय कर्तव्यसे उपेक्षा धारण करना ही मुझे कभी इष्ट रहा है।

२ आवश्यक निवेदन—

'अनेकान्त' के चौथे वर्षका प्रारम्भ करते हुए मैंने उसके प्रेमी पाठकोंसे यह निवेदन किया था कि 'जो सज्जन अनेकान्तकी ठोस सेवाओंसे कुछ परिचित हैं—यह समझते हैं कि उसके द्वारा क्या कुछ सेवा कार्य हो रहा है—हो सकता है—,और साथ ही यह चाहते हैं कि यह पत्र अधिक ऊँचा उठे, घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर स्वावलम्बी बने, इसके द्वारा इतिहास तथा साहित्यके कार्योंको प्रोत्तेजन मिले—अनेक विद्वान उन कार्योंके करनेमें प्रवृत्त हों—, नई नई खोजें और नया नया साहित्य सामने आए, प्राचीन साहित्यका उद्धार हो, सच्चे इतिहासका निर्माण हो, धार्मिक सिद्धान्तोंकी गुत्थियाँ सुलझें, समाजकी उन्नतिका मार्ग प्रशस्तरूप धारण करे; और इस प्रकार यह पत्र जैनसमाज का एक आदर्श पत्र बने, समाज इसपर उचित गर्व कर सके और समाजके लिये यह गौरवकी तथा दूसरोंके लिये स्पृहाकी वस्तु बने, तो इसके लिये उन्हें इस पत्रके सहयोगमें अपनी शक्तिको केन्द्रित करना चाहिये।' साथ ही इसके लिये यथेष्ट पुरुषार्थकी आवश्यकता तथा पुरुषार्थकी शक्ति को बतलाते हुए यह प्रेरणा की थी कि वे पुरुषार्थ करके इस पत्रको समाजका अधिकसे अधिक सहयोग प्राप्त कराएँ और इसके संचालकोंके हाथोंको मजबूत बनाएँ, जिससे वे अभिमतरूपमें इस पत्रको ऊँचा उठाने तथा लोकप्रिय बनानेमें समर्थ हो सकें।' और अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग सुझाए थे, जो बादको भी अनेक किरणोंमें प्रकट होते रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि समाजने मेरे इस निवेदनपर कुछ ध्यान जरूर दिया है, परन्तु जितना चाहिये उतना ध्यान अभी तक नहीं दिया गया। इसीसे प्रथम-मार्गद्वारा सहायताके कुल १३५३) रु० के वचन मिले हैं, जिनमेंसे १०४०) रु० की अभी तक प्राप्ति हुई है; द्वितीय मार्गसे १०३॥) की और तृतीय मार्गसे ४२) रु० की ही सहायता प्राप्त हुई है। इसमें द्वितीयादि मार्गोंसे प्राप्त होने वाली सहायता तो बहुत ही नगण्य है। सहायताकी इस कमीके कारण ही पृष्ठसंख्यामें अधिक वृद्धि नहीं हो सकी और न किसी नये उपहार ग्रंथकी योजना ही बन सकी है। पिछले वर्ष रा० ब० सेठ हीरालालजी, इन्दौरने अपनी तरफसे १५० जैनेतर संस्थाओं-यूनिवर्सिटियों, कालेजों हाई स्कूलों और पबलिक लायब्रेरियोंको अनेकान्त फ्री भिजवाया था इस वर्ष वैसी सहायता प्राप्त न होनेसे उन्हें भी अनेकान्त नहीं भिजवाया जा सका है, और इससे कितने ही विद्याकेन्द्रोंमें अनेकान्त-साहित्यका प्रचार रुका रहा।

ऐसी हालतमें अनेकान्तके प्रेमी पाठकोंसे मेरा पुन: सानुरोध निवेदन है कि वे अब अनेकान्तको सब मार्गोंसे पूरी सहायता प्राप्त करानेका पूरा प्रयत्न करें, जिससे यह पत्र कागज आदिकी इस भारी महँगीके जमानेमें अपनी प्रतिष्ठाको कायम रखता हुआ समाजसेवा-कार्यमें भले प्रकार अग्रसर हो सके, और इसके सम्पादनादिमें समय तथा शक्ति का जो भारी व्यय किया जाता है वह सफल हो सके। इसके लिये प्रत्येक ग्राहकको दृढ संकल्प करके दो दो नये ग्राहक जरूर बना देने चाहियें तथा विवाहादि दानके अवसरोंपर 'अनेकान्त' को अधिकसे अधिक सहायता भिजवानेका पूरा खयाल रखना चाहिये और ऐसी कोशिश भी करनी चाहिये जिससे पाँचवें वर्षमें अनेकान्तके पाठकोंको कुछ उपहार-ग्रन्थोंके दिये जानेकी योजना हो सके। इसके सिवाय कुछ उदार महानुभावोंका यह भी कर्तव्य है कि वे इस वर्षकी अनेकान्तकी फाइलें अपनी ओरसे यूनिवर्सिटियों, कालिजों, हाईस्कूलों तथा पबलिक लायब्रेरियोंको भिजवाएँ, जिससे अनेकान्तमें जो गवेषणापूर्ण महत्वका ठोस साहित्य निकल रहा है वह अजैनोंके भी परिचयमें आए और अच्छा वातावरण पैदा करे। ऐसी १०० फाइलें इस काम लिये रिज़र्व हैं। आशा है कोई महानुभाव उन्हें योग्य क्षेत्रोंमें वितरण करके ज़रूर पुण्य तथा यशके भागी बनेंगे। यदि अनेकान्तके प्रेमियोंने अपना कर्तव्य पूरा किया तो यह पत्र अगले साल अपने पाठकोंकी और भी अधिक सेवा कर सकेगा।

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने 'अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाज सेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायक-श्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकों को प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रकम सहित इस प्रकार हैं—

* १२५) बा. छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता।
* १०१) बा. अजितप्रसादजी जैन एडवोकेट, लखनऊ।
* १०१) बा. बहादुरसिंहजी सिंघी, कलकत्ता।

१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर

* १००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर
* १००) बा. शांतिनाथ सुपुत्र बा. नंदलालजी जैन, कलकत्ता

१००) ला. तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली

* १००) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता

१००) बा. लालचंदजी जैन, एडवोकेट, रोहतक

१००) बा. जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान, पानीपत

* ५१) रा.ब.बा. उलफतरायजी जैन रि. इंजीनियर, मेरठ
* ५१) ला. दलीपसिंह कागज़ी और उनकी मार्फत देहली
* २५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर बम्बई।
* २५) ला. रूडामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
* २५) बा. रघुबरदयालजी, एम. ए. करौलबाग देहली।
* २५) सेठ गुलाबचंदजी जैन टोंग्या, इन्दौर।
* २५) ला. बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन, तिस्सा (मु.न.)

२५) मुंशी सुमतप्रसादजी जैन, रिटायर्ड अमीन सहारनपुर

* २५) ला० दीपचंदजी जैन रईस, देहरादून।
* २५) ला० प्रद्युम्नकुमारजी जैन रईस, सहारनपुर।
* २५) सवाई सिंघई धर्मदास भगवानदासजी जैन, सतना।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

नोट—जिन रकमोंके सामने * यह चिन्ह दिया है वे पूरी प्राप्त हो चुकी हैं।

व्यवस्थापक 'अनेकांत'
वीरसेवामंदिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनेकान्तको सहायता

गत ९ वीं किरणमें प्रकाशित सहायताके बाद अनेकान्तको निम्न लिखित १२) रु० की सहायता प्राप्त हुई है। जिसके लिये दाता महाशय धन्यवादके पात्र हैं :—

१०) ला० बारूमल कीर्तिप्रसादजी जैन मुजफ्फर-नगर और ला० अयोध्याप्रसादजी जैन, रायपुर (सी० पी०)। (चि० जगदीशप्रसादके विवाहमें निकाले हुए दानमेंसे)।

२) ला० रामशरणजी जैन मुनीम, मुरादाबाद (पर्यूषण पर्वकी सानन्द समाप्तिकी खुशीमें निकाले हुए दानमेंसे)।

वीरसेवामन्दिरको सहायता

श्रीमान ला० रेशमीलालजी सेठिया बघेरवाल जैन इन्दौरने हालमें वीरसेवामंदिरकी प्रकीर्णक पुस्तकमालाको २५) रु० की सहायता प्रदान की है, जिसके लिये आपको हार्दिक धन्यवाद है।

अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
सरसावा जि० सहारनपुर।

अनेकान्तकी फाइलें और फुटकर किरणें

अनेकान्तके प्रथम तीन वर्षोंकी बहुत ही थोड़ी फाइलें अवशिष्ट हैं, अर्थात् प्रथम वर्षकी २५, द्वितीय वर्षकी १०, और तृतीय वर्षकी १०, फाइलें निजी कोषमें प्रस्तुत हैं, जिन्हें आवश्यकता हो वे शीघ्र ही मँगा लेवें फिर इन फाइलोंका मिलना किसी भी मूल्य पर न हो सकेगा। मू० तीनोंका क्रमशः ४), ३), ३॥) रुपये है, डाक व रजिष्ट्री खर्च प्रत्येक फाइलका ।॥) बारह आना अलग होगा। इसके सिवाय, प्रथम वर्ष की पहली और तृतीय वर्षकी चौथी से ९ वीं तक किरणोंको छोड़कर शेष फुटकर किरणें भी कुछ स्टाक में मौजूद हैं, जो अर्ध मूल्यमें दी जाएँगी। पोस्टेज प्रत्येक किरणका एक आना, विशेषांकका दो आना होगा। चौथे वर्षकी फाइलों तथा फुटकर किरणोंपर पोस्टेज नहीं लिया जायगा।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

REGISTERED No. A-731.

चौथा भाग तैयार होगया !

श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्य उद्धारक फंड द्वारा

षट्खंडागम (धवलसिद्धांत)

का

चौथा भाग "क्षेत्र-स्पर्शन-कालानुगम" भी छपकर तैयार होगया है।

पूर्व पद्धति अनुसार यह भाग भी शुद्ध मूलपाठ, सुस्पष्ट हिन्दी अनुवाद तथा अनेक उपयोगी परिशिष्टोंके साथ छपाया गया है। एक एक गुणस्थान व मार्गणास्थानमें जीवोंके क्षेत्र, स्पर्शन और कालका विवेचन करना प्रस्तुत ग्रंथभागका विषय है। इस विषयपर लगभग ३४० शंकाएं उठाकर उनका समाधान किया गया है। प्राचीन गणितशास्त्रका यहां भी अद्वितीय निरूपण है। जिसे बड़े २ गणितज्ञोंकी सहायतासे अंकगणित व क्षेत्रगणितके ५२ उदाहरण देकर समझाया गया है। विषयके मर्मका उद्घाटन करनेवाले ६० विशेषार्थ लिखे गये हैं और ६२० से ऊपर टिप्पणियां लगाई गई हैं। क्षेत्र और स्पर्शन प्ररूपणाओंसे संबद्ध लोकके आकार व प्रमाण सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओंका जो अपूर्व विवेचन व जीवोंकी अवगाहनाओं तथा द्वीपसागर-संस्थानोंका विवरण मूलमें आया है उसका २१ चित्रोंद्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। प्रस्तावनामें सिद्धान्त अध्ययनका अधिकार, शंका-समाधान, विषय-परिचय व तत्सम्बन्धी मानचित्र आदिके द्वारा उक्त प्ररूपणाओंके गहन विषयको खूब सुबोध बनाया गया है। ग्रन्थका पूरा महत्त्व उसके अवलोकन करनेसे ही जाना जा सकेगा।

पुस्तकाकार १०) — मूल्य — शास्त्राकार १२)

[१] प्रथम भाग पुस्तकाकार १०) शास्त्राकार (अप्राप्य)
द्वितीय भाग पुस्तकाकार १०) शास्त्राकार १२)
तृतीय भाग पुस्तकाकार १०) शास्त्राकार १२)

[२] पेशगी मूल्य भेजनेसे डाक व रेल्वे व्यय नहीं लगेगा।

प्रार्थना— इस संस्थाके हाथमें द्रव्य बहुत थोड़ा और कार्य बहुत ही विशाल है, अतएव समस्त श्रीमानों, विद्वानों और संस्थाओंको उचित मूल्यपर प्रतियाँ खरीदकर कार्यकी प्रगतिको सुलभ बनाना चाहिये।

मन्त्री—
जैनसाहित्यउद्धारक फंड कार्यालय
किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती (बरार)

मुद्रक, प्रकाशक पं. परमानन्दशास्त्री वीरसेवामन्दिर, सरसावाके लिये श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तवद्वारा श्रीवास्तव प्रेस सहारनपुरमें मु